वर्ष ४१] * * * [अङ्क २

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,५०,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन २०२३, फरवरी १९६७

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ८.५० विदेशमें १५.६० (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत-चित-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ५० पै० विदेशमें ८० पै० (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीरामकी भक्त-वत्सलता

नारदका समाधान

[पृष्ठ १४३

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

अविरतभवभावनातिदूरं भवविमुखैर्मुनिभिः सदैव दृश्यम् ।
भवजलधिसुतारणाङ्घ्रिपोतं शरणमहं रघुनन्दनं प्रपद्ये ॥
रतिपतिशतकोटिसुन्दराङ्गं शतपथगोचरभावनाविदूरम् ।
यतिपतिहृदये सदा विभातं रघुपतिमार्तिहरं प्रभुं प्रपद्ये ॥

वर्ष ४१ } गोरखपुर, सौर फाल्गुन २०२३, फरवरी १९६७ { संख्या २ पूर्ण संख्या ४८३

श्रीरामकी भक्तवत्सलता

[देवर्षि नारदको उपदेश]

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा । भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी । जिमि बालक राखइ महतारी ॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई । तहँ राखइ जननी अरगाई ॥
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता । प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता ॥
मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी । बालक सुत सम दास अमानी ॥
जनहि मोर बल निज बल ताही । दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही ॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं । पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं ॥

—श्रीरामचरितमानस

याद रक्खो—मनुष्यकी एक बड़ी कमजोरी है उसका चिरस्थायी 'असंतोष'। इसीसे वह सदा दुखी रहता है। तृष्णाकी कोई सीमा नहीं है; जितना मिले, उतनी ही तृष्णा बढ़ती है। भोगोंकी प्राप्तिसे तृष्णाका अन्त नहीं होता—वरं ज्यों-ज्यों भोग प्राप्त होते हैं, त्यों-ही-त्यों तृष्णाका दायरा भी बढ़ता ही जाता है। भोग भोगनेकी शक्ति चाहे नष्ट हो जाय, परंतु तृष्णा नहीं नष्ट होती। तृष्णा बड़े-से-बड़े धनवान्, ऐश्वर्यवान्को भी सदा दरिद्र बनाये रखती है। उसमें कभी जीर्णता नहीं आती, उसका तारुण्य सदा ही बना रहता है।

याद रक्खो—जिसका मन प्रत्येक परिस्थितिमें संतुष्ट है, वही परम सुखी है। वस्तुतः संतोष ही वह परम धन है, जिसे पाकर मनुष्य सदा धनी बना रहता है। कोई भी अवस्था उसे दीन-दरिद्र नहीं बना सकती। संतोषसे प्राप्त होनेवाला जो महान् पद है, वह बड़े-बड़े सम्राट्के पदसे भी ऊँचा और महान् है।

याद रक्खो—संतोषसम्पन्न पुरुष ही वास्तविक साधु है। घर छोड़नेपर भी जिसको संतोष नहीं है, वह कभी साधु नहीं हो सकता। वह तो दिन-रात असंतोषकी आगमें जलता रहता है। संतोष ही वह परम शीतल पदार्थ है जो जलते जीवनको सुशीतल बना देता है। संतोष ही जीवनके अन्धकारसे अभिशप्त अङ्गोंको परमोज्ज्वल बनाता है।

याद रक्खो—जिसको संतोष नहीं है, उसकी वृत्ति कभी एकाग्र नहीं हो सकती। वह सदा ही क्षिप्त और चञ्चल बनी रहती है। असंतोष मनुष्यको चोर, ठग, डाकू और परहितहरण करनेवाला असुर बना देता है। असंतोषसे ही द्वेष, क्रोध, वैर और हिंसाको प्रोत्साहन मिलता है। शील, शान्ति, प्रेम, सेवा आदि सद्गुण असंतोषी मनुष्यके जीवनमें कभी नहीं आते। यदि इनमेंसे कोई कुछ क्षणोंके लिये आता है तो असंतोषकी आगसे झुलसकर नष्ट हो जाता है।

याद रक्खो—संतोष होता है जगत्की अनित्यता, दुःखमयता, असद्रूपताके निश्चयसे या श्रीभगवान्के मङ्गल विधानपर परम विश्वास होनेपर ही। जगत्की कोई भी स्थिति वास्तवमें या तो मायामात्र है, कुछ है नहीं, या विविध रसमयी भगवान्की लीला है। माया है तो असंतोषका कोई कारण नहीं है। लीला है तो प्रत्येक लीलामें लीलामयके मधुर-मङ्गल दर्शनका परमानन्द है। उसीमें चित्त रम जाता है।

याद रक्खो—जो लोग असंतोषकी आगमें जलते रहते हैं, वे ही दूसरोंके हृदयमें असंतोषकी आग सुलगाकर उन्हें संतप्त कर देते हैं। वे कहते हैं कि असंतोषके बिना उन्नति नहीं होती। उन्नतिकामीको असंतोषी होना चाहिये। पर यह उनकी असंतोष-वृत्तिसे उदित विकृत बुद्धिका विपरीत दर्शनमात्र है। बुद्धि जब तमसाच्छन्न होकर विकृत हो जाती है, तब मनुष्यको सब विपरीत दिखायी देता है। इसलिये वह सहज ही बुरेको भला मानकर स्वयं उसीको ग्रहण करता है और वही दूसरोंको भी समझाना—देना चाहता है।

याद रक्खो—संतुष्ट मनवाले पुरुषके अंदरसे जो सहज ही एक आनन्दकी लहर बाहर निकलती रहती है, वह आसपासके लोगोंको प्रभावितकर उन्हें भी आनन्द प्रदान करती है। संतोषी पुरुष ही शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वोंमें समभाव रखकर भगवान्का प्रिय भक्त हो सकता है और वही अपने शान्त जीवनके द्वारा भगवान्की यथार्थ पूजा कर सकता है।

याद रक्खो—अकर्मण्यता, आलस्य, प्रमाद आदिका नाम संतोष नहीं है। संतोषी पुरुष ही वस्तुतः व्यवस्थित चित्तसे सत्कर्म कर सकता है; क्योंकि उसका चित्त शान्त और उसकी बुद्धि शुद्ध, विवेकवती एवं यथार्थ निश्चय करनेवाली होती है।

'शिव'

श्रीरामस्तवन

[रामभुजङ्गप्रयातस्तोत्रम्]

(रचयिता—भगवान् श्रीआदिशंकराचार्य)

विशुद्धं परं सच्चिदानन्दरूपं
गुणाधारमाधारहीनं वरेण्यम् ।
महान्तं विभान्तं गुहान्तं गुणान्तं
सुखान्तं स्वयंधाम रामं प्रपद्ये ।।
शिवं नित्यमेकं विभुं तारकाख्यं
सुखाकारमाकारशून्यं सुमान्यम् ।
महेशं कलेशं सुरेशं परेशं
नरेशं निरीशं महीशं प्रपद्ये ।।
यदावर्णयत्कर्णमूलेऽन्तकाले
शिवो राम रामेति रामेति काश्याम् ।
तदेकं परं तारकब्रह्मरूपं
भजेऽहं भजेऽहं भजेऽहं भजेऽहम् ।।
महारत्नपीठे शुभे कल्पमूले
सुखासीनमादित्यकोटिप्रकाशम् ।
सदा जानकीलक्ष्मणोपेतमेकं
सदा रामचन्द्रं भजेऽहं भजेऽहम् ।।
क्वणद्रत्नमञ्जीरपादारविन्दं
लसन्मेखलाचारुपीताम्बराढ्यम् ।
महारत्नहारोल्लसत्कौस्तुभाङ्गं
नदच्चञ्चरीमञ्जरीलोलमालम् ।।
लसच्चन्द्रिकास्मेरशोणाधराभं
समुद्यत्पतङ्गेन्दुकोटिप्रकाशम् ।
नमद्ब्रह्मरुद्रादिकोटीररत्न-
स्फुरत्कान्तिनीराजनाराधिताङ्घ्रिम् ।।
पुरः प्राञ्जलीनाञ्जनेयादिभक्तान्
स्वचिन्मुद्रया भद्रया बोधयन्तम् ।
भजेऽहं भजेऽहं सदा रामचन्द्रं
त्वदन्यं न मन्ये न मन्ये न मन्ये ।।

यदा मत्समीपं कृतान्तः समेत्य
प्रचण्डप्रकोपैर्भटैर्भीषयेन्माम् ।
तदाऽऽविष्करोषि त्वदीयं स्वरूपं
सदाऽऽपत्प्रणाशं सकोदण्डबाणम् ।।
निजे मानसे मन्दिरे संनिधेहि
प्रसीद प्रसीद प्रभो रामचन्द्र ।
ससौमित्रिणा कैकयीनन्दनेन
स्वशक्त्यानुभक्त्या च संसेव्यमान ।।
स्वभक्ताग्रगण्यैः कपीशैर्महीशै-
रनीकैरनेकैश्च राम प्रसीद ।
नमस्ते नमोऽस्त्वीश राम प्रसीद
प्रशाधि प्रशाधि प्रकाशं प्रभो माम् ।।
त्वमेवासि दैवं परं मे यदेकं
सुचैतन्यमेतत्त्वदन्यं न मन्ये ।
यतोऽभूदमेयं वियद्वायुतेजो-
जलोर्व्यादिकार्यं चरं चाचरं च ।।
नमः सच्चिदानन्दरूपाय तस्मै
नमो देवदेवाय रामाय तुभ्यम् ।
नमो जानकीजीवितेशाय तुभ्यं
नमः पुण्डरीकायताक्षाय तुभ्यम् ।।
नमो भक्तियुक्तानुरक्ताय तुभ्यं
नमः पुण्यपुञ्जैकलभ्याय तुभ्यम् ।
नमो वेदवेद्याय चाद्याय पुंसे
नमः सुन्दरायेन्दिरावल्लभाय ।।
नमो विश्वकर्त्रे नमो विश्वहर्त्रे
नमो विश्वभोक्त्रे नमो विश्वमात्रे ।
नमो विश्वनेत्रे नमो विश्वजेत्रे
नमो विश्वपित्रे नमो विश्वमात्रे ।।

नमस्ते नमस्ते समस्तप्रपञ्च-
प्रभोगप्रयोगप्रमाणप्रवीण ।
मदीयं मनस्त्वत्पदद्वन्द्वसेवां
विधातुं प्रवृत्तं सुचैतन्यसिद्ध्यै ॥
शिलापि त्वदङ्घ्रिक्षमासङ्गिरेणु-
प्रसादाद्धि चैतन्यमाधत्त राम ।
नरस्त्वत्पदद्वन्द्वसेवाविधानात्
सुचैतन्यमेतीति किं चित्रमत्र ॥
पवित्रं चरित्रं विचित्रं त्वदीयं
नरा ये स्मरन्त्यन्वहं रामचन्द्र ।
भवन्तं भवान्तं भरन्तं भजन्तो
लभन्ते कृतान्तं न पश्यन्त्यतोऽन्ते ॥
स पुण्यः स गण्यः शरण्यो ममायं
नरो वेद यो देवचूडामणिं त्वाम् ।
सदाकारमेकं चिदानन्दरूपं
मनोवागगम्यं परं धाम राम ॥
प्रचण्डप्रतापप्रभावाभिभूत-
प्रभूतारिवीर प्रभो रामचन्द्र ।
बलं ते कथं वर्ण्यतेऽतीव बाल्ये
यतोऽखण्डि चण्डीशकोदण्डदण्डम् ॥
दशग्रीवमुग्रं सपुत्रं समित्रं
सरिद्दुर्गमध्यस्थरक्षोगणेशम् ।
भवन्तं विना राम वीरो नरो वा-
सुरो वामरो वा जयेत्कस्त्रिलोक्याम् ॥
सदा राम रामेति रामामृतं ते
सदा राममानन्दनिष्यन्दकंदम् ।
पिबन्तं नमन्तं सुदन्तं हसन्तं
हनूमन्तमन्तर्भजे तं नितान्तम् ॥
सदा राम रामेति रामामृतं ते
सदा राममानन्दनिष्यन्दकंदम् ।
पिबन्नन्वहं नन्वहं नैव मृत्यो-
र्बिभेमि प्रसादादसादात्तवैव ॥

असीतासमेतैरकोदण्डभूषै-
रसौमित्रिवन्द्यैरचण्डप्रतापैः ।
अलङ्केशकालैरसुग्रीवमित्रै-
ररामाभिधेयैरलं दैवतैर्नः ॥
अवीरासनस्थैरचिन्मुद्रिकाढ्यै-
रभक्ताञ्जनेयादितत्त्वप्रकाशैः ।
अमन्दारमूलैरमन्दारमालै-
ररामाभिधेयैरलं दैवतैर्नः ॥
असिन्धुप्रकोपैरवन्द्यप्रतापै-
रबन्धुप्रयाणैरमन्दस्मिताढ्यैः ।
अदण्डप्रवासैरखण्डप्रबोधै-
ररामाभिधेयैरलं दैवतैर्नः ॥
हरे राम सीतापते रावणारे
खरारे मुरारेऽसुरारे परेति ।
लपन्तं नयन्तं सदा कालमेवं
समालोकयालोकयाशेषबन्धो ॥
नमस्ते सुमित्रासुपुत्राभिवन्द्य
नमस्ते सदा कैकयीनन्दनेड्य ।
नमस्ते सदा वानराधीशवन्द्य
नमस्ते नमस्ते सदा रामचन्द्र ॥
प्रसीद प्रसीद प्रचण्डप्रताप
प्रसीद प्रसीद प्रचण्डारिकाल ।
प्रसीद प्रसीद प्रपन्नानुकम्पिन्
प्रसीद प्रसीद प्रभो रामचन्द्र ॥
भुजङ्गप्रयातं परं वेदसारं
मुदा रामचन्द्रस्य भक्त्या च नित्यम् ।
पठन् संततं चिन्तयन् स्वान्तरङ्गे
स एव स्वयं रामचन्द्रः स धन्यः ॥

विशुद्ध, श्रेष्ठ, सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, सत्त्व-रज-तम—तीनों गुणोंके आधार, स्वयं निराधार, वरणीय, महान्, विशेषरूपसे दीप्तिमान्, सबके हृदयमें निवास करनेवाले, गुणातीत, सुखपर्यङ्कशायी, स्वयम्प्रकाश

श्रीरामके मैं शरणापन्न हूँ। शिव-मङ्गल (स्वरूप), शाश्वत, अद्वय, विभु (सर्वव्यापी), संसारसे तारनेवाले तारक ब्रह्म, सुखस्वरूप, निराकार, परम माननीय, महेश्वर, कलाओंके स्वामी, सुरेश, परमात्मा, नरेश, पृथ्वीपति, स्वयं प्रभु श्रीराम-के मैं शरणापन्न हूँ। अन्तकालमें श्रीशंकरजी काशीपुरीमें प्रत्येक जीवके कानके समीप जिस 'राम-राम' का उच्चारण करते हैं, उसी एक तारक परब्रह्म श्रीरामको मैं भजता हूँ, मैं भजता हूँ, मैं भजता हूँ। कल्पवृक्षके मूलमें शुभ महारत्नपीठपर सुखसे बैठे हुए सदा श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीसे युक्त, कोटि सूर्यके समान प्रकाशमान श्रीरामचन्द्रजीको मैं भजता हूँ, मैं भजता हूँ। जिनके पादारविन्दमें रत्नमय नूपुर मधुर ध्वनि करते हैं, जो मेखलासे सुशोभित सुन्दर पीताम्बर धारण किये हैं, महान् रत्नोंके हारसे युक्त कौस्तुभ जिनके अङ्गपर सुशोभित है, गुञ्जायमान भ्रमरोंसे युक्त (तुलसी-) मञ्जरीकी माला गलेमें लटक रही है, चन्द्रिकाके समान मुस्कानसे युक्त लाल-लाल ओष्ठोंकी आभा विलसित हो रही है, कोटि-कोटि उदयकालीन सूर्य-चन्द्रके समान जो प्रकाशमान हैं, प्रणाम करते हुए ब्रह्मा-रुद्र आदि देवताओंके मुकुटोंमें जड़े हुए रत्नोंकी कान्तिसे जिनके चरणोंकी आरती उतारी जाती है तथा पदपद्म पूजित हैं, अपने सामने हाथ जोड़कर खड़े हुए हनूमान्‌जी आदि भक्तोंको अपनी कल्याणकारी चिन्मुद्रासे जो ज्ञान प्रदान करते रहते हैं, उन (आप) श्रीरामचन्द्रजीको मैं सदा भजता हूँ, सदा भजता हूँ। आपके अतिरिक्त किसी अन्यको मैं नहीं मानता, नहीं मानता, नहीं मानता। जब यमराज मेरे समीप आकर अत्यन्त क्रोधी अपने दूतोंके द्वारा मुझे त्रास दें, उस समय श्रीराम! आप धनुष-बाण धारण करके साधु-जनोंके दुःखोंको दूर करनेवाले अपने स्वरूपको प्रकट करें। हे प्रभु श्रीरामचन्द्रजी! कृपा करें, प्रसन्न हों; हमारे मानस-मन्दिरमें लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न तथा श्रीजानकी-जी एवं अपने भक्ताग्रगण्य हनूमान्-सुग्रीव आदि वानरेन्द्रों, विभीषण आदि राजाओं तथा अनेकों सेनाओंद्वारा भक्तिपूर्वक सेवित रहकर मुझपर प्रसन्न होइये। हे श्रीराम-चन्द्रजी! हे प्रभो! आपको नमस्कार, नमस्कार! मेरे ऊपर प्रसन्न होकर प्रभो! मुझे प्रत्यक्ष होकर उपदेश दें। प्रभो! आप ही एकमात्र मेरे परमदेव हैं, सुन्दर चैतन्यस्वरूप हैं, आपके सिवा मैं किसी दूसरेको नहीं मानता। आप ही वह तत्त्व हैं, जिससे यह अनन्त आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी आदि चर-अचर सारा प्रपञ्च उत्पन्न हुआ है। देवताओंके भी देवता (पूज्य) सच्चिदानन्दस्वरूप प्रभु आप श्रीरामको नमस्कार, नमस्कार! श्रीजानकीजीके प्राणपति! आपको नमस्कार! हे कमलके समान दीर्घ नेत्रवाले! आपको नमस्कार! भक्तोंपर अनुरक्त रहनेवाले आपको नमस्कार! एकमात्र पुण्यराशिसे प्राप्त होनेवाले आपको नमस्कार! वेदोंके द्वारा वेद्य आदिपुरुष आपको नमस्कार! सुन्दर भगवान् लक्ष्मीपतिको नमस्कार! विश्वके कर्ता और विश्वके हर्त्ताको नमस्कार, नमस्कार! विश्वके भोक्ता और विश्वको जाननेवाले प्रभुको नमस्कार, नमस्कार! विश्वके नेता प्रभुको नमस्कार, विश्व-विजेता प्रभुको नमस्कार, विश्वके पिता प्रभुको नमस्कार और विश्वकी मातारूप प्रभुको नमस्कार! सारे विश्व-प्रपञ्चके प्रकृष्ट भोग, उपयोग और प्रमाण (ज्ञान)-में प्रवीण श्रीराम! आपको नमस्कार, नमस्कार! प्रभो! आत्मचैतन्यकी सिद्धिके लिये मेरा मन आपके चरणकमलोंकी सेवा करनेमें प्रवृत्त हुआ है। श्रीराम! शिलारूपिणी अहल्या भी आपके पद-पङ्कजसे स्पर्शित भूमिकी धूलिके प्रसादसे चैतन्यताको प्राप्त हुई, तब फिर यदि मनुष्य भी आपके पदपङ्कजकी सेवासे चैतन्यताको प्राप्त करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? हे रामचन्द्रजी! आपके पवित्र और विचित्र (अलौकिक) चरित्रको—

लीलाओंको जो लोग प्रतिदिन स्मरण करते हैं, वे विश्वम्भर आपकी भक्ति करते हुए संसार-सागरको तर जाते हैं, जीवनके अन्तमें वे यमराजका मुख नहीं देखते। वह मनुष्य पुण्यवान् है, गण्य-मान्य है, जो देवाधिपति, सत्स्वरूप, एक, चिदानन्दस्वरूप, मन और वाणीके परे परमधामस्वरूप आपको अपना शरण्य जानता है। अपने प्रचण्ड प्रतापके प्रभावसे अनेकों शत्रु-वीरोंको पराभूत करनेवाले प्रभु श्रीराम! आपके परम पराक्रमकी कैसे प्रशंसा करें; क्योंकि आपने अत्यन्त बाल्यावस्थामें चण्डीपति भगवान् शंकरके धनुषको खण्ड-खण्ड कर दिया था। श्रीराम! आपके सिवा त्रिलोकीमें ऐसा वीर नर, देवता या असुर कौन है, जो समुद्ररूप दुर्गके मध्यस्थित राक्षसाधिपति उत्कट दशाननको पुत्र-पौत्र तथा बन्धु-बान्धवोंके साथ पराजित कर सकता था। हे राम! आनन्द-स्रोतके मूल आपके स्वरूपभूत रामनामरूप अमृतका सदा पान करनेवाले, आपको सदा नमस्कार करनेवाले तथा सुन्दर दन्तपङ्क्तिसे हँसनेवाले हनूमान्‌जीको मैं हृदयमें पूर्णरूपेण भजता हूँ। हे रामजी! आनन्दस्रोतके मूल आपके स्वरूपभूत श्रीरामनामरूपी अमृतका प्रतिदिन पान करता हुआ तुम्हारे अकथ प्रसादको प्राप्तकर मैं मृत्युसे भी नहीं डरता। जो सीताजीको साथ न लिये हो, धनुष-बाण धारण न किये हो, लक्ष्मणजीके द्वारा वन्दनीय न हो, प्रचण्ड प्रतापशाली न हो, रावणके लिये कालस्वरूप न बने, सुग्रीवका मित्र न हो तथा श्रीरामनामसे न पुकारा जाता हो, ऐसे किसी भी देवतासे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। जो वीरासनपर आसीन न हो, ज्ञान-मुद्रासे सुशोभित न हो, श्रीहनुमान् आदि भक्तोंको ज्ञानका प्रकाश न कर रहा हो, जो मन्दारके मूलमें स्थित न हो, जो मन्दारकी पुष्प-मालासे विभूषित न हो, जिसका श्रीराम नाम न हो, इस प्रकारके किसी देवतासे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। जिसने समुद्रके ऊपर कोप न किया हो, जिसका वन्दनीय प्रताप न हो, जिसने लक्ष्मण-जैसे बन्धुको साथमें लेकर प्रयाण न किया हो, जो सदा मन्द मुस्कानसे युक्त न हो, जिसने दण्डकारण्यमें प्रवास न किया हो, जिसका अखण्ड ज्ञान न हो, जिसका श्रीराम नाम न हो, इस प्रकारके किसी देवतासे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। 'हे राम, हे हरे, हे सीतापते, हे रावणारे, हे खरारे, हे मुरारे, हे असुरारे, हे परमात्मन्!'—इस प्रकार पुकारते हुए जो अपना सारा समय बिताता है, उस-पर हे सब प्राणियोंके बन्धु श्रीरघुनाथजी! आप पूर्णरूपसे कृपादृष्टि कीजिये। हे सुमित्राजीके सुपुत्र श्रीलक्ष्मणजीके द्वारा अभिवन्दित श्रीरामजी! आपको नमस्कार। हे कैकेयीनन्दन श्रीभरतजीके द्वारा सदा स्तुत्य श्रीरामजी! आपको नमस्कार! हे वानरोंके अधीश्वर श्रीसुग्रीवजीद्वारा सदा वन्दनीय श्रीरामजी! आपको सदा नमस्कार! हे श्रीरामचन्द्रजी! आपको सदा नमस्कार हो, नमस्कार हो। हे प्रचण्ड प्रतापवाले श्रीरामजी! कृपा कीजिये, कृपा कीजिये। हे शत्रुओंके लिये प्रचण्ड कालरूप श्रीरामजी! कृपा कीजिये, कृपा कीजिये। शरणागतोंपर अनुकम्पा करनेवाले प्रभु! कृपा कीजिये, कृपा कीजिये! हे प्रभो! हे श्रीरामचन्द्रजी! मुझपर कृपा कीजिये, कृपा कीजिये। जो नित्य प्रसन्नतापूर्वक रामभक्तिसे युक्त होकर वेदके साररूप इस भुजङ्गप्रयात छन्दमें लिखे श्रेष्ठ स्तोत्रको निरन्तर पाठ करते हुए अपने हृदयमें चिन्तन करता रहता है, वह स्वयं श्रीरामचन्द्ररूप हो जाता है, वह धन्य है!

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीरामभुजङ्गप्रयातस्तोत्रं सम्पूर्णम्।

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ

(लेखक—श्रद्धेय आचार्य अनन्तश्री अनिरुद्धाचार्यजी महाराज)

'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' मन्त्र शुक्लयजुर्वेदमें है। कृष्णयजुर्वेदमें 'ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च ते पत्न्यौ' पाठ है। मन्त्र विश्व-केन्द्रस्थ सूर्यके व्यापक रूपके वर्णनमें प्रवृत्त हुआ है। विश्वकेन्द्रस्थ सूर्यके—एक मण्डलात्मक एवं दूसरा महिमात्मक भेदसे दो रूप हैं। इनमें मण्डलात्मक रूप परिच्छिन्न एवं महिमात्मक रूप त्रैलोक्य-व्यापक है। इसी व्यापक महिमात्मक स्वरूपको ही कालमूर्ति अग्न्यात्मक संवत्सर भी कहते हैं।

पत्न्यौ

किसी भी तत्त्वके अर्धाकाशके पूरक तत्त्वकी वेदमें 'पत्नी' परिभाषा है। 'पत्नी'की इस वैदिक परिभाषाके नियमसे विश्वकेन्द्रस्थ सूर्यसे ऊर्ध्व अवस्थित स्वायम्भुव पारमेष्ठ्य श्रीभाग, तथा सूर्यसे अधःअवस्थित चान्द्र पार्थिव लक्ष्मी-भाग—दोनों इसके इस अर्धाकाशके पूरक बनते हैं, जिसके लिये **'सोऽयमाकाशः पत्न्या पूर्यत इव'** कहा गया है। अतः पूरक अर्थात् संवत्सरस्वरूप-सम्पादक अमृत और मर्त्यमय श्री तथा लक्ष्मीभाग इस संवत्सरादित्य पुरुष (भगवान् सूर्यनारायण) की 'पत्न्यौ' कहलायी हैं।

अहोरात्रे पार्श्वे

३६० अहःचितियाँ तथा ३६० रात्रिचितियाँ—सम्भूय ७२० इष्टकाचितियाँ (अग्नीषोमचितियाँ) ही इस संवत्सर-पुरुषके दक्षिण-उत्तर पार्श्व हैं। रात्रि-गर्भित अहःचितिसमष्टि आग्नेय दक्षिणपार्श्व है। अग्निगर्भित सोमचितिसमष्टि सौम्य वाम पार्श्व है।

नक्षत्राणि रूपम्

अम्बुगोलात्मक नक्षत्र ही इसके बाह्य भौतिक रूप-सौन्दर्यकी प्रतिमा हैं।

अश्विनौ व्यात्तम्

'अश्विनौ हि द्यावापृथिव्यौ इमे हीदं सर्व-मश्नुवाताम्'

—इत्यादि ब्राह्मण-श्रुतियाँ व्यापनशील द्यावापृथिवी-प्राणोंको अश्विनौ कहते हैं। अतः द्यावापृथिवी ही अश्विनी प्राण हैं। यही इस सौर संवत्सरका व्याप्ति-स्थान रूप मुखस्थान है।

ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ

तैत्तिरीय आरण्यकमें 'ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' पाठ है। 'ह्री'का लौकिक अर्थ लज्जा एवं शास्त्रीय अर्थ विनय है। विनय देवभाव-प्रधान है। विनय सदा ही श्रीरूप लक्ष्मीसे अनुप्राणित है। 'विद्या ददाति विनयम्' श्रीकी संनिधिसे विनय उत्पन्न होता है।

श्री और लक्ष्मी

'श्री' और 'लक्ष्मी' दोनों ही शब्द आजकल सर्व-साधारणमें अभिन्नार्थक ही प्रमाणित हो रहे हैं। किंतु वैदिक भाषामें तत्त्वदृष्ट्या दोनोंके स्वरूपमें महान् अन्तर माना गया है। अमृता लक्ष्मीका सांकेतिक नाम 'श्री' है। मर्त्या लक्ष्मीका सांकेतिक नाम 'लक्ष्मी' है। पुराणोंमें इन दोनोंका अमृता लक्ष्मी और मर्त्या लक्ष्मी नामोंसे उल्लेख है। अमृतरसप्रधाना लक्ष्मी ही 'श्री' है। मर्त्यबलप्रधाना लक्ष्मी ही 'लक्ष्मी' है। दोनों ही विष्णुमूर्ति भगवान् सूर्यनारायणकी अर्धाङ्गिनी हैं। महालक्ष्मीका अमृतलक्ष्मी रूप 'श्रीभाव' है। मर्त्यलक्ष्मी रूप 'लक्ष्मीभाव' है।

श्रीलक्षणा विद्यासम्पत्ति एवं लक्ष्मीलक्षणा भूतसम्पत्ति

वेदमें 'श्री'का अर्थ विद्या है। 'लक्ष्मी'का अर्थ 'भूत-सम्पत्ति' है। विद्या ही माता शारदा है। भूत-

सम्पत्ति ही माता लक्ष्मी है। शारदारूपा श्रीसे समन्विता भूतसम्पत्तिरूपा लक्ष्मी ही आर्योंकी 'लक्ष्मी'की मौलिक स्वरूप-व्याख्या है। श्रीसमन्विता लक्ष्मी ही यहाँ वास्तविक लक्ष्मी मानी गयी है। धर्म, ज्ञान, विराग एवं ऐश्वर्य नामकी 'भग'-सम्पत्तियाँ ही 'श्री' हैं। सरस्वती ही 'श्री' है। रसको ही वैदिक भाषामें 'श्री' कहा गया है—**'अथ या एतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः यो रस आसीत् तमूर्ध्वं समुदौहम्।'** (शतपथम्) **'ऋचः सामानि यजूंषि सा हि श्रीरमृता सताम्'** (तैत्तिरीयारण्यकम्)

श्रीसे समन्विता लक्ष्मीका ही स्वस्ति-शान्ति-प्रवर्तकत्व—

आत्मानुगत बौद्ध ज्ञान-विभूति ही 'श्रीरस' है, जिससे मानव ऐश्वर्यशाली बनता है। कदापि केवल भूत-सम्पत्तिका नाम 'ऐश्वर्य' नहीं है। भूत-सम्पत्ति तो वेदपरिभाषामें बहिर्वित्तरूप पशुभाव ही माना गया है मानवका, जो श्रीभावको ही मूल प्रतिष्ठा बनाकर यहाँ संग्राह्य बना करता है। इन्द्रियोंसे लक्ष्मीभूत बाह्य परिग्रहका ही नाम 'लक्ष्मी' है, जिसकी मूल प्रतिष्ठा 'श्री' ही मानी गयी है। श्रीविहीना लक्ष्मी कदापि निरापदरूपसे स्वस्ति-शान्तिपूर्वक भोग्या नहीं हो सकती।

सरस्वती-लक्ष्मीके साहचर्यमें ३००० वर्षोंसे भ्रान्ति

निरन्तर तीन सहस्र वर्षोंसे आर्य विद्वत्समाजमें यह अनार्ष काल्पनिक भ्रान्त धारणा दृढ़मूल हो गयी है कि 'जहाँ सरस्वतीका निवास है, वहाँ लक्ष्मी नहीं रहती एवं जहाँ लक्ष्मीका निवास है, वहाँ सरस्वती नहीं रहती।' परंतु उनकी इस भ्रान्त धारणाका उन्मूलन 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' मन्त्र ही कर रहा है।

श्रीसे विहीना लक्ष्मीका जडत्व एवं तदुपासक मानवोंकी रूक्षा, कर्कशा, मद-मान-दम्भान्विता अलक्ष्मीरूपा लक्ष्मी—

शारदाविहीना जडप्रज्ञा जडवाणीके द्वारा तो लक्ष्मीका पलायन ही हो जाता है। मूर्खोंकी सम्पत्तिका तो उपभोग शारदोपासक प्रज्ञाशील ही कर लिया करते हैं। कदापि मूर्खताके साथ विश्ववैभवरूपा लक्ष्मीका यत्किंचित् भी तो सम्बन्ध नहीं है। बिना श्री (सरस्वती) को आधार बनाये यदि मायाचारों (आसुरधर्मों) से तात्कालिकरूपेण भूतपरिग्रहरूपा लक्ष्मीका आगमन घुणाक्षरन्यायेन हो भी जाता है तो मूर्खताके वातावरणमें समागता वह लक्ष्मी कैसी लगती है, जिस प्रकार क्रव्याद अग्निसे दग्ध, क्षत-विक्षत श्मशानालयोंके फल, पुष्प, मञ्जरी एवं पर्णादिसे हीन रूक्ष शुष्क वृक्ष श्मशान-परिग्रहोंसे वेष्टित होकर अधिकाधिकरूपेण भयावह, उद्वेगकर, अमङ्गल, अशुचि एवं अभद्र प्रतीत होते हैं। एवमेव शारदा-श्रीसे विहीन क्षेत्रोंसे समागता लक्ष्मी रूक्षा, कर्कशा, मदमानदम्भान्विता, उद्वेगकारिणी ही प्रमाणित होती है, मनसा-वाचा-कर्मणा अलक्ष्मी-रूपमें ही परिणत हो जाती है। आर्योंके मतमें शारदा (श्री)-विहीना लक्ष्मी लक्ष्मी ही नहीं मानी गयी है।

अमृतरूपा श्री (शारदा) से समन्वित देव सदा अमर बने रहते हैं। उन्होंने अङ्गिरारूपा सरस्वतीको अपनी मूलप्रतिष्ठा बना रक्खा है। आपोमय वारुण असुर आपोमयी विमोहिनी वैष्णवी मायासे विमोहित, सरस्वती (श्री)-वञ्चित होकर जडात्मक भूतलक्ष्मीके अनुग्रहके साथ-साथ सोमामृत-प्राप्तिसे सदा वञ्चित रहते हैं।

महालक्ष्मीका अमृताभिषेक और दिग्गज

द्रोणकलशोंके माध्यमसे ऐरावत, वामन एवं अञ्जन आदि आठ दिग्गज सोमामृतरससे अभिषेक करते रहते हैं। कौन हैं वे हस्ती ? क्या स्वरूप है उन द्रोणकलशों एवं उस सोमामृतरसका ? इसके उत्तरमें पुराणोंका आवेदन है कि सौम्यवायुविशेष ही ऐरावत, सार्वभौम आदि आठ दिग्गज हैं। सोम ही अमृत-रस है। आकाशके भाग ही द्रोणकलश हैं। सौम्य वायु ही दिग्रूपा परिधियोंसे समन्वित होनेके कारण दिग्गज

हैं। वेदोंमें इस वायुको ही एमूषवराह अथवा भू-वराह कहा गया है। इसका नामान्तर 'मातरिश्वा' भी है। एक ही ज्योतिर्मय ऐरावत (सौम्य वायु) दिग्-भेदसे ४, ८ अथवा १० रूपोंमें परिणत हो गया है। ज्योतिर्मय होनेसे ऐरावत श्वेत है।

भूतसम्पत्तिरूपा महालक्ष्मीके साथ प्राणैश्वर्यरूपा श्रीका सम्बन्ध आवश्यक

भूतसम्पत्तिरूपा महालक्ष्मीके साथ प्राणैश्वर्यरूपा महासरस्वतीको समन्वित कर देना आवश्यक है। समन्वय-पर ही लक्ष्मी समृद्धि, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, ऋद्धि, वृद्धि, विभूति, सम्भूति भावोंकी संग्राहिका बन सकेगी। श्री (शारदा) विना लक्ष्मी कदापि अपने सहज चाञ्चल्यवश स्थिर धर्मप्रयोजिका नहीं बन सकती। श्रीविहीना लक्ष्मी अपने भूतनिबन्धन आसुर भावोंसे समाविष्ट होती हुई समुद्रोत्पन्न गन्धर्व, वारुणी एवं अप्सरा आदि-आदि आसुर भावोंकी अनुगामिनी बन जाया करती है। लक्ष्मी 'पद्मासना' एवं श्री 'पद्मालया' है।

प्रागविभूति ही पद्मालया श्री है, जिसका मानवके आत्मबुद्धिरूप सूक्ष्म जगत्से सम्बन्ध है। भूत-विभूति ही पद्मासना लक्ष्मी है, जिसका मानवके मनःशरीररूप स्थूल जगत्से सम्बन्ध है।

परलोक और इहलोक

आत्मबुद्धिसमन्वित सूक्ष्म जगत् ही मानवका पारिभाषिक 'परलोक' है। इस आध्यात्मिक परलोकका आधिदैविक परलोकसे सम्बन्ध माना गया है।

मनःशरीरसमन्वित स्थूल जगत् ही मानवका पारिभाषिक 'इहलोक' है। इसका इहलोक (भूत-लोक) से सम्बन्ध है। उभयलोक-समन्वय ही मानवका वह पूर्णस्वरूप है, जिसमें आमुष्मिक और ऐहिक भाव समन्वित रहते हैं।

भारतका दुर्भाग्य

उभय-समन्वयात्मिका मानवकी परिपूर्णताके बोधसे वञ्चित मानवके दुर्भाग्यवश वैसे दो विभिन्न वर्ग आज भारत राष्ट्रमें उत्पन्न हो गये हैं, जो क्रमशः वेदान्त-मतानुयायी विद्वान् तथा यथाजात मनोवशवर्ती लोकमानव (लोकायत) नामोंसे व्यवहृत किये जा सकते हैं।

आत्मग्रहग्रस्त जगन्मिथ्यात्ववादी वेदान्तियोंके काल्पनिक निःश्रेयस एवं शून्यवादग्रहग्रस्त शून्यवादी लोकायतोंके काल्पनिक निर्वाण तथा उभयसमन्वयभावसे भारत राष्ट्रका पतन

वेदान्तनिष्ठ विद्वानोंकी दृष्टिमें आत्मबुद्धिरूप आत्म-जगत् तो बना हुआ है सत्य, एवं मनःशरीररूप भूत-जगत् बना हुआ है मिथ्या। जगन्मिथ्यात्ववादी इन आत्मवादी विद्वानोंने ही केवल सरस्वती (श्री) का उद्घोषमात्र करते हुए लोक-लक्ष्मीसे राष्ट्रको सर्वथा ही वञ्चित कर दिया है। इनकी इस लक्ष्मीविहीना आत्मभावनाने ही राष्ट्रको निर्ऋति (अलक्ष्मी) देवीका निवास बना दिया है।

लोकनिष्ठ मानवकी दृष्टिमें मनःशरीररूप लोक-जगत् तो बना हुआ है सत्य, परंतु आत्मबुद्धिरूप आत्म-जगत् बना हुआ है कल्पित। केवल लोक-सत्यवादी इन भूतवादी लोक-मानवोंने ही केवल लक्ष्मीका उद्घोष करते हुए आत्मश्रीसे राष्ट्रको सर्वथा ही वञ्चित कर दिया है।

इनकी इस श्रीविहीना लोकभूतभावनाने ही राष्ट्रको उस दम्भ, मान, मद, छल-कपट, ईर्ष्या, द्रोह, असूया, कलह, मायाचार आदि-आदि भावनाओंके माध्यमसे वैसी लक्ष्मीका आवास बना दिया है, जो लक्ष्मी आसुर-भावानुगा—वारुणी, कामलिप्सा, लोकैषणा, मानस-उपलालन-प्रधान गीत, नृत्य एवं वाद्य आदि वैतालभावोंसे सर्वथा अलक्ष्मी रूपमें ही सदा परिणत रहा करती है।

इस प्रकार एक केवल पुरुषवादी (आत्मवादी) रूपसे 'शून्यं शून्यं' प्रमाणित हो रहे हैं। दूसरे केवल जड प्रकृतिवादी (भूतवादी) रूपसे 'शून्यं-शून्यं' 'दुःखं-दुःखं' के रूपमें परिणत हो रहे हैं।

मानवने 'तत्तु समन्वयात्'—प्रकृति-पुरुषके दाम्पत्य-रूप गृहस्थाश्रम-लक्षण आश्रम-जीवनकी उपेक्षा करके

अपना परलोक एवं इह लोक दोनों ही दूषित कर लिये हैं। मानवकी मूल प्रतिष्ठा इस प्रकृति-पुरुषात्मक समन्वयका प्रतिपादन करनेवाले निगमागमरूप संस्कारोंके बोधसे तथा तन्मूला आचारपद्धतिसे सर्वथैव पराङ्मुख बननेवाला आजका भारतीय मानव वस्तुगत्या सर्वथैव भ्रष्ट प्रमाणित हो गया है। अपनी काल्पनिक मानवता, सत्य, अहिंसा, दम, दया एवं सहअस्तित्व जैसी श्रीलक्ष्मीविहीन शून्य उद्घोषणाओंके माध्यमसे अनुदिन वर्धमान दुःख, क्षोभ, अशान्ति, दीनता एवं परावलम्बनपरायणताके वारुण पाशोंसे सर्वात्मना 'आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः' आबद्ध बनता जा रहा है। अतः स्वस्ति, शान्ति, सुख एवं अभ्युदयकी आकाङ्क्षा रखनेवालों—इहलोक और परलोक दोनोंके साधकोंके लिये श्री अथवा ह्री और लक्ष्मी दोनोंकी समन्वय रूपमें उपासना करनी आवश्यक है।

लक्ष्मी और श्रीका ध्यान

व्यष्टि और समष्टिकी उन्नतिके लिये श्री और लक्ष्मीका समन्वय नितान्त आवश्यक है, यह इन दोनोंके ध्यान-श्लोकोंसे भी विदित हो रहा है।

लक्ष्मीका ध्यान

कान्त्या काञ्चनसंनिभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजै-
र्हस्तोत्क्षिप्तहिरण्मयामृतघटैरासिच्यमानां श्रियम्।
बिभ्राणां वरमब्जयुग्ममभयं हस्तैः किरीटोज्ज्वलां
क्षौमाबद्धनितम्बबिम्बवलितां वन्देऽरविन्दस्थिताम्॥

महालक्ष्मीके नैदानिक स्वरूपका समन्वय

आम्भृणीवाक्रूपा अर्थात् अर्थशक्तिरूपा महालक्ष्मीके लोकात्मक भौतिक शरीरकी कान्ति सुवर्ण-सदृशी है। अतः वह **'कान्त्या काञ्चनसंनिभा'** है। उसका चार दिशाओंमें विद्यमान सौम्य प्राणरूप ऐरावतादि चार दिग्गजोंके शुण्डादण्डोंसे उत्क्षिप्त सोमरसामृतसे परिपूर्ण आकाशात्मक कलशोंसे निरन्तर अभिषेक होता रहता है, अतः वह **'हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजैः आसिच्यमाना'** है। वरमुद्रा, कमलद्वय एवं अभयमुद्रा आदि महालक्ष्मीके नैदानिक आयुध हैं। कमलद्वय ऐहिक तथा आमुष्मिक दोनों ऐश्वर्योंका संकेत है। अभयमुद्रा भीतोंके आश्वासनका संकेत है। वरमुद्रा सकल कामनाओंका निदान है। सप्त वर्णात्मक अतएव श्वेत वर्णात्मक सूर्यबिम्ब-लक्षण ज्योतिःपुञ्ज तथा चान्द्रज्योतिःपुञ्ज ही महालक्ष्मीके उज्ज्वल किरीट हैं। अतः वह 'किरीटोज्ज्वला' है। सौर हिरण्मयाभ तेजःपुञ्ज ही महालक्ष्मीका पीत पट है। भूमिरूप पद्मपर महालक्ष्मी विराजती हैं, अतः वह 'अरविन्दस्थिता' है। पाञ्चरात्रागममें इसीको 'भूदेवी' कहते हैं। 'भूति' भी इसका नामान्तर है।

श्रीका ध्यान

महालक्ष्मी अर्थशक्ति है अथवा अर्थरूपा है। श्री प्राणशक्ति अथवा ज्ञानशक्तिरूपा है। श्रीका ध्यान आगमोंमें इस रूपमें उपलब्ध होता है—

शुक्लां ब्रह्मविचारसारपरमामाद्यां जगद्व्यापिनीं
वीणापुस्तकधारिणीमभयदां जाड्यान्धकारापहाम्।
हस्ते स्फाटिकमालिकां विदधतीं पद्मासने संस्थितां
वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम्॥

ध्यानगत वीणा श्रुतिवाक्का निदान है। जैमिनीय ब्राह्मणमें बहुविध वाणियोंका वर्णन है। नादवाक्, स्वरवाक्, वर्णवाक् एवं श्रुतिवाक् आदि भेदोंसे वाक् बहुविधा होती है। श्वेत पद्म, श्वेत वस्त्र एवं तुषारहार आदि सत्त्वगुणके संकेत हैं।

इष्टं मनिषाण, अमुं मनिषाण, सर्वं मनिषाण।

ऋषिका आदेश है कि—जो मानवसमाज ज्ञानशक्ति, प्राणशक्ति और अर्थशक्तिसे विशिष्ट परमात्माकी उपासना करता है अर्थात् इन तीनों शक्तियोंका समन्वय साधता है, वही इष्ट (सुख), अमुक फल एवं सर्वकामनाओंकी प्राप्ति कर सकता है। केवल ज्ञानशक्ति अथवा केवल अर्थशक्तिका ही उपासक उक्त फलोंसे सदा वञ्चित ही रहता है। अतः श्री और लक्ष्मीका समन्वय आवश्यक है। पाञ्चरात्रागममें ज्ञान, प्राण और अर्थशक्तियोंके ही नीलादेवी, श्रीदेवी और भूदेवी नाम हैं।

श्रीरामोपासना-योग

उपासना-योगके नौ अङ्ग हैं। प्रथम अङ्ग है—श्रद्धा, विश्वास और भक्ति। दूसरा अङ्ग है—शुद्धि। शुद्धि दो प्रकारकी होती है—बहिःशुद्धि और अन्तःशुद्धि।

बहिःशुद्धिके तीन प्रकार हैं—देह-शुद्धि, स्थान-शुद्धि और दिशा-शुद्धि। देह-शुद्धि स्नान करनेसे होती है। स्थान-शुद्धिका अर्थ है वट, पीपल, आँवला, बेल आदि किसी वृक्षके नीचे बैठना, गोबरसे लिपी हुई भूमिपर बैठना, तीर्थस्थानमें, मन्दिरमें या घरके देव-मन्दिरमें अथवा एकान्त शान्त स्थानमें मन्त्रसे आसन-शुद्धि करके बैठना। दिशा-शुद्धिका अर्थ है दिनमें पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके बैठे तथा रातमें उत्तरकी ओर मुँह करके बैठें।

अन्तःशुद्धि दैवी सम्पद्‌के अभ्याससे होती है। इन्द्रिय-संयम, निर्भयता, भगवद्विश्वास, स्वाध्याय, दान, यज्ञ, सरलता, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अक्रोध, लोभ-त्याग, अहंकार-त्याग, कुत्सित कर्म तथा चाञ्चल्यका त्याग एवं धैर्य, क्षमा, शान्ति आदिके द्वारा अन्तःशुद्धि होती है।

उपासना-योगका तीसरा अङ्ग है—आसन। मनकी एकाग्रताका एक मुख्य आधार आसन है। आसन अनेक हैं, उनमें स्वस्तिकासन और पद्मासन मुख्य हैं। इन आसनोंसे बैठकर ध्यान करनेसे शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। पवित्र स्थानमें बैठकर स्थिर आसन लगाये। कुशासन या मृगछाला-पर कम्बल या रेशमी वस्त्रका आसन बिछाकर, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखकर उस आसनपर बैठे। शरीर, पीठ, गर्दन और मस्तकको सीधा रक्खे। नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि रखकर जप करे या ध्यान करे। इधर-उधर दृष्टि न डाले।

उपासनाका चौथा अङ्ग है—पञ्चाङ्गसेवन। अपने इष्टदेवके अनुसार स्वाध्याय (सहस्रनामस्तोत्र, स्तुति, कवच, हृदय आदिका पाठ), संध्या-तर्पण, बलि-वैश्वदेव, इष्टदेवकी पूजा और अतिथि-सत्कार—इन पाँच यज्ञोंको नित्य करना।

उपासना-योगका पाँचवाँ अङ्ग है—सदाचार। सदाचारका अर्थ है—मन, वाणी और कर्मसे सत्त्वगुणका सेवन करना, आचार-विचारको शुद्ध रखना। सदाचारी पुरुषकी साधनामें सिद्धि अवश्य और शीघ्र प्राप्त होती है।

उपासनाका छठा अङ्ग है—धारणा। यह विषय गम्भीर और अनुभवगम्य है। क्रियायोगमें धारणाका महत्त्वपूर्ण स्थान है। धारणाके ऊपर ही ध्यान निर्भर करता है। योगदर्शनमें लिखा है—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

निरन्तर चञ्चल चित्तको किसी लक्ष्यविशेष, किसी देव-मूर्ति अथवा किसी अभिमत वस्तुमें स्थिर करनेका नाम धारणा है। धारणा दो प्रकारकी होती है, बहिर्धारणा और अन्तर्धारणा।

बहिर्धारणाके लिये शुक्राचार्यने आसनसिद्धिके साथ-साथ निस्सङ्ग होकर प्राण और इन्द्रियोंको वशमें करनेका उपदेश दिया है। इसके बिना धारणामें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। तत्पश्चात् भगवान्‌के विराट् स्वरूपकी धारणा करे। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भगवान्‌का ही स्वरूप है। इसी भावको प्रकट करते हुए श्रुति कहती है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥

वह पुरुष सहस्रों (अनन्त) सिरवाला है, सहस्रों आँखोंवाला है, सहस्रों पैरवाला है। वह पृथ्वीको सब ओरसे व्याप्त करके उसके परे भी स्थित है।

इस बहिर्धारणाके द्वारा साधकको भगवान्‌की महानता और अपनी लघुताका बोध होता है। अहंकार दूर होता है।

अन्तर्धारणाका अर्थ है—अपने हृदयमें भगवान्‌की मूर्तिके ऊपर चित्तको जमाना। किसी पवित्र स्थानमें आसन लगा-कर बैठे और हृदयमें भगवान्‌के चरणकमलकी भावना करके उसका अवलोकन करते हुए मनको उसमें लीन करनेका या तदाकार करनेका अभ्यास करे, अथवा भगवान्‌की श्रीराम-मूर्तिकी धारणा करे। इस धारणाके अभ्याससे चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होगा और भगवत्सांनिध्य प्राप्त होगा।

उपासना योगका सातवाँ अङ्ग है—ध्यान। ध्यान दो प्रकारका है, ईश्वरके निराकार स्वरूपका ध्यान और साकार स्वरूपका ध्यान। योगदर्शनमें लिखा है—'तत्र प्रत्ययैक-तानता ध्यानम्।' सारांश यह है कि भगवान्‌के निराकार या साकार—जिस रूपकी हृदयमें धारणा हो रही है, उसमें चित्तको निरन्तर अविच्छिन्न तैलधारावत् लगाये रखनेसे जब चित्त तल्लीन हो जाता है और ध्येयाकार वृत्ति हो जाती है, तब उसे ध्यान कहते हैं। ध्यानकी साधनामें साधकको निरन्तर जागरूक रहना पड़ता है। अन्यथा विघ्नका भय उपस्थित होता है, जो अनर्थकारी होता है।

उपासना योगका आठवाँ अङ्ग है—यन्त्र। उपासना-योगमें यन्त्रकी बड़ी महिमा है। धारणा-ध्यानकी साधनामें

यन्त्रसे बड़ा लाभ होता है। यही नहीं, पूजन, हवन, तर्पण आदि सारी क्रियाओंमें यन्त्र आधाररूप है। यन्त्रके बनानेकी विधि तन्त्र-शास्त्रोंमें वर्णित है। साधारणतः पूजन करनेवालोंको चार अंगुल प्रमाणके वर्गमें सोने, चाँदी, ताँबे या भोजपत्रपर यन्त्र बनाना चाहिये। मन्त्रके अक्षर और अङ्क स्पष्ट खुदे हुए होने चाहिये। भोजपत्रपर यन्त्र बनाये तो अष्टगन्धसे उसकी रचना करे और जबतक विसर्जन न हो, तबतक यन्त्रको जमीनसे स्पर्श न होने दे। यन्त्रको इष्टदेवका स्वरूप मानकर पूजा जाता है।

उपासना-योगका नवाँ अङ्ग है—पूजन, याग, तर्पण और बलि। पूजन दो प्रकारका होता है—मानस और उपचारात्मक। अन्तःकरणमें इष्टदेवका ध्यान करके मनसे आवाहन आदि सब उपचारोंसे पूजा की जाती है। उपचारात्मक पूजा पञ्चोपचार, षोडशोपचार आदि अनेक प्रकारकी होती है। षोडशोपचार पूजामें आवाहन, आसन, पाद्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, आरती, मन्त्र-पुष्पाञ्जलि तथा प्रदक्षिणा-नमस्कार है।

याग दो प्रकारके होते हैं—होमात्मक याग और उपयाग। वैश्वदेवसे लेकर विष्णुयागपर्यन्त होमात्मक यागके अनेक प्रकार हैं। जिज्ञासु पुरुषको इस विषयको किसी कर्मकाण्डी याज्ञिक विद्वान्से जाननेका प्रयत्न करना चाहिये। उपयाग तीन प्रकारका होता है—स्वाध्याय, जप और जीवदया। देवपूजा समाप्त करनेके बाद स्वाध्यायका विधान है, जपयज्ञके विषयमें आगे लिखा जायगा। तर्पण इन चारका होता है—देव, ऋषि, पितृ और मनुष्य। इससे देवता प्रसन्न होते हैं और ऋषियों तथा पितरोंका आशीर्वाद प्राप्त होता है। अपने इष्टदेवको हिंसारहित बलि समर्पण करनेसे आत्मकल्याण होता है।

उपासनाका दसवाँ अङ्ग है—मन्त्रजप—माला और संस्कार। उपासना-योगमें सर्वापेक्षा मन्त्रकी ही प्रधानता है। अतएव मन्त्र-प्रक्रिया जाने बिना साधनामें सिद्धि नहीं प्राप्त होती। मन्त्रके द्वारा ही साधककी प्रसुप्त चेतना जाग्रत् और ज्वलंत बनती है। साधकको दैवीशक्ति मन्त्र ही प्रदान करता है।

दीक्षा—ॐकार सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है। यह ईश्वरका वाचक है, दोनोंमें अभिन्नता है। योगदर्शनमें लिखा है—

'तस्य वाचकः प्रणवः।' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्।'

ॐ अर्थात् प्रणव ईश्वरका वाचक है। ॐकारके अर्थकी भावना करते हुए इसका जप करें। ॐकारके पश्चात् सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है गायत्री। गायत्रीकी दीक्षा बाल्यावस्थामें गुरुके द्वारा होती है, इसीसे बालक द्विज बनता है। विभिन्न सम्प्रदायोंके विभिन्न प्रकारके मन्त्र होते हैं और गुरुके मुखसे सुनकर उनको हृदयंगम करनेका नाम है दीक्षा।

अपनी साधनाके अनुसार नारायण, राम, कृष्ण आदि नाम भी उपर्युक्त मन्त्रके सदृश ही जप करनेयोग्य हैं। नित्यकर्मसे निवृत्त होकर आचमन-प्राणायाम आदि करके इष्टदेवका ध्यान करके मन्त्रजप करना चाहिये। प्रतिदिन नियमपूर्वक एक निश्चित संख्यामें मन्त्र-जप करे। संख्याके नियमका पालन अवश्य करे।

बाहर तथा भीतर प्रत्येक अङ्गमें इष्टदेवता तथा मन्त्रकी स्थापनाका नाम है—न्यास। हमारा स्थूल शरीर अपवित्रतासे भरा हुआ है। जबतक यह दिव्य और शुद्ध न हो जाय, तबतक देवपूजा या मन्त्र-जपका अधिकार नहीं होता। इसके लिये सर्वश्रेष्ठ उपाय है—न्यास। न्यासका उद्देश्य है, शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें सुप्त क्रियाशक्तिको तथा अन्तःकरणमें स्थित भावनाशक्तिको उठाना। न्यासके चार प्रकार हैं—करन्यास, अङ्गन्यास, मन्त्रन्यास और ऋष्यादिन्यास। न्यासके द्वारा मस्तकमें ऋषि, मुखमें छन्द तथा हृदयमें देवताकी स्थापना की जाती है। इससे स्थूल शरीरके रोम-रोममें दिव्यता और माधुर्यका संचार होता है। इससे मनमें भी दिव्यता आ जाती है, चिन्मयताका बोध होता है। न्यासके द्वारा ही साधक देवरूप होकर देवताकी पूजा करता है। न्यासके उपरान्त मन्त्रको चैतन्य करनेमें सुविधा होती है। मन्त्र चैतन्य करनेके दो प्रकार हैं। एक तो क्लीं श्रीं ह्रीं (कामबीज, श्रीबीज और शक्तिबीज) से सम्पुटित करके मन्त्रकी एक माला जप करे। इससे मन्त्र चैतन्य होता है। दूसरे सूर्यमण्डलका ध्यान करके उसके भीतर मन्त्रके अक्षरोंका ध्यान करे तथा गुरु और देवताका उस मन्त्रकी शक्तिके रूपमें ध्यान करता हुआ मन्त्रकी एक माला जप करे।

मन्त्र देवतास्वरूप होता है। 'मननात् त्रायते इति मन्त्रः।' मन्त्रके उच्चारणके साथ-साथ देवताका सांनिध्य प्राप्त होता है और देवता उसकी रक्षा करता है। यही मन्त्रकी महिमा है। मन्त्र और देवता दोनों अभिन्न हैं। 'रां रामाय नमः।'

इस राम-मन्त्रका बीज रां है। जप प्रारम्भ करनेके पहले रां बीजका दस बार जप करके जिह्वाशुद्धि कर लेनी चाहिये। तत्पश्चात् माला-संस्कार करे।

जपमालाको गङ्गाजल या पञ्चगव्यसे निम्नलिखित मन्त्र-द्वारा प्रक्षालन करना चाहिये—

नमस्ते रामभद्राय जगतामृद्धिहेतवे।
रामादिपुण्यनामानि जपतां पापहारिणे॥

फिर इस राम-गायत्री मन्त्रसे गन्ध-लेपन करे—

ॐ दशरथाय विद्महे, सीतावल्लभाय धीमहि। तन्नो रामः प्रचोदयात्।

इसके बाद—

माले माले महामाये सर्वतत्त्वस्वरूपिणि।
चतुर्वर्गस्त्वयि न्यस्तस्तस्मान्मे सिद्धिदा भव॥

—इस मन्त्रसे प्रार्थना करके १०८ बार इष्टमन्त्रका जप करे। इससे मालाशुद्धि होती है। मालाका इस प्रकार शुद्धि-संस्कार करके मन्त्र-जप करनेसे जपसिद्धि प्राप्त होती है।

॥ षड्वर्णात्मकश्रीराममन्त्रयन्त्रम् ॥
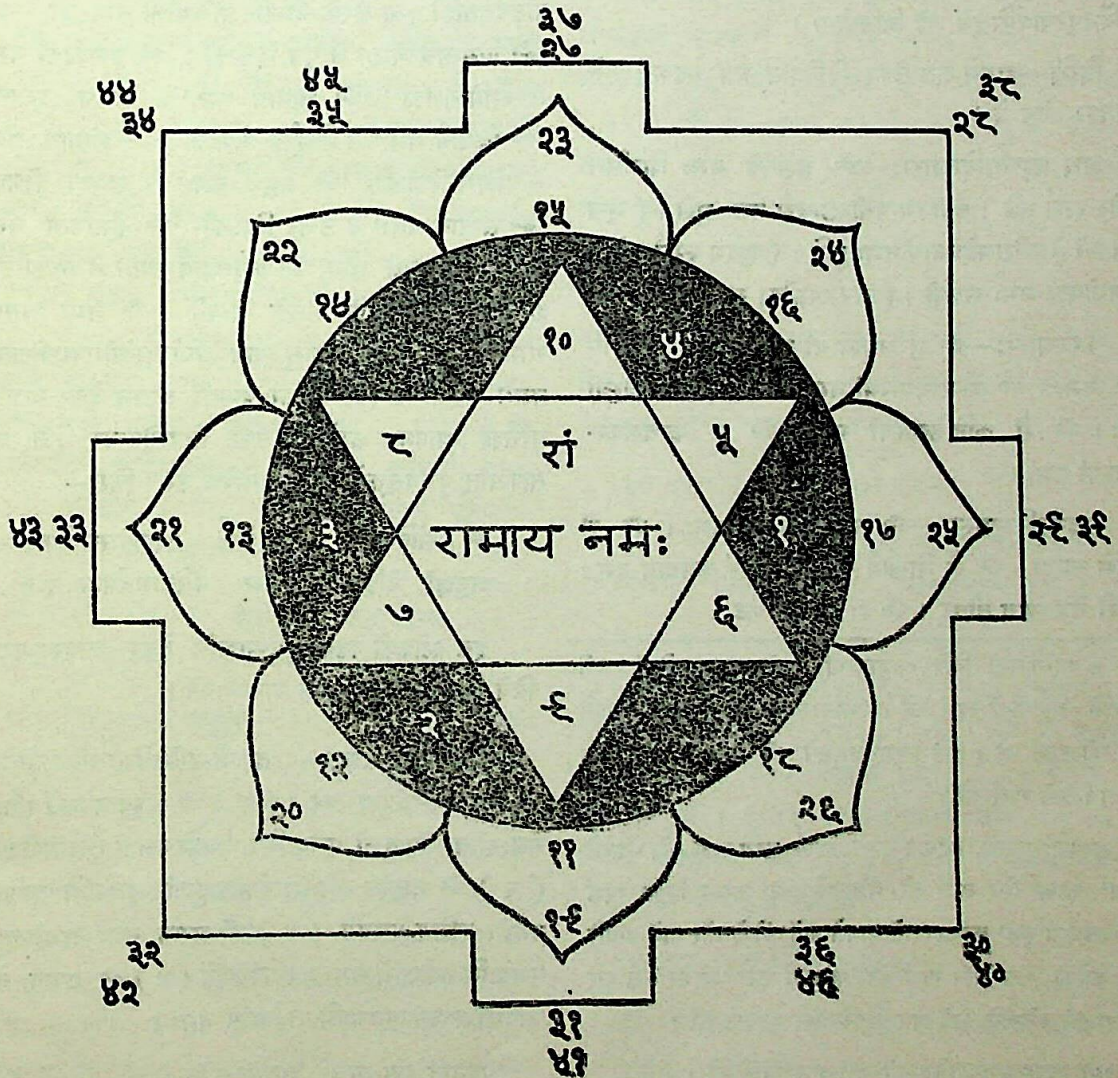
श्रीराममन्त्रके छः प्रकारके रूप हैं। यथा—

मन्त्र	ऋषि	छन्द	देवता
१–रां रामाय नमः	ब्रह्मा	गायत्री	श्रीराम
२–क्लीं रामाय नमः	सम्मोहन विश्वामित्र	,,	,,
३–ह्रीं रामाय नमः	शक्ति	,,	,,
४–ऐं रामाय नमः	दक्षिणामूर्त्ति	,,	,,
५–श्रीं रामाय नमः	अगस्ति	,,	,,
६–ॐ रामाय नमः	शिव	,,	,,

इनमें 'रां रामाय नमः' मन्त्र ही अधिक प्रचलित है। यह षडक्षर मन्त्र है।

विनियोग—अस्य मन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः। गायत्री छन्दः। श्रीरामो देवता। रां बीजम्। नमः शक्तिः। चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धये जपे विनियोगः।

विधि—हाथमें जल लेकर विनियोग-मन्त्र पढ़कर उसे जमीनपर छोड़ दे।

अथ ऋष्यादिन्यासः—ॐ ब्रह्मर्षये नमः शिरसि। (सिर स्पर्श करे) दैवी गायत्रीच्छन्दसे नमः मुखे। (मुख स्पर्श करे) श्रीरामदेवतायै नमः हृदि। (हृदय स्पर्श करे) विनियोगाय नमः सर्वाङ्गे। (सब अङ्गोंका स्पर्श करे)।

करन्यासः—ॐ रां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ रीं तर्जनीभ्यां नमः। ॐ रूँ मध्यमाभ्यां नमः। ॐ रैं अनामिकाभ्यां नमः। ॐ रौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ रः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः। *

हृदयादिन्यासः—ॐ रां हृदयाय नमः। ॐ रीं शिरसे स्वाहा। ॐ रूँ शिखायै वषट्। ॐ रैं कवचाय हुम्। ॐ रौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ रः अस्त्राय फट्।

मन्त्रवर्णन्यासः—ॐ ॐ नमः ब्रह्मरन्ध्रे। ॐ रां नमः भ्रुवोर्मध्ये। ॐ मां नमः हृदि। ॐ यं नमः नाभौ। ॐ नं नमः लिङ्गे। (इसके बाद हाथ धोकर) ॐ मं नमः पादयोः।

इस प्रकार न्यास करके इस श्लोकसे देवताका ध्यान करे—

नीलाम्भोधरकान्तिकान्तमनिशं वीरासनाध्यासिनं
मुद्रां ज्ञानमयीं दधानमपरं हस्ताम्बुजं जानुनि।
सीतां पार्श्वगतां सरोरुहकरां विद्युन्निभां राघवं
पश्यन्तीं मुकुटाङ्गदादिविविधाकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे॥

इस प्रकार ध्यान करके सर्वतोभद्रमण्डलमें—'ॐ मं मण्डुकादिपरतत्त्वान्तपीठदेवताभ्यो नमः'—इस मन्त्रसे पीठदेवताकी पूजा करके नौ पीठशक्तियोंकी पूजा करे—यथा 'ॐ विमलायै नमः' से पूर्व दिशाकी। 'ॐ उत्कर्षिण्यै नमः' से अग्निकोणकी। 'ॐ ज्ञानायै नमः' से दक्षिण दिशाकी, 'ॐ क्रियायै नमः' से नैर्ऋत्य कोणकी, 'ॐ योगायै नमः' से पश्चिम दिशाकी, 'ॐ प्रह्व्यै नमः' से वायव्य कोणकी, 'ॐ सत्यायै नमः' से उत्तर दिशाकी, 'ॐ ईशानायै नमः' से ईशान कोणकी तथा 'ॐ अनुग्रहायै नमः' से मध्यपीठकी शक्तिकी पूजा करके पीठके मध्यमें—'ॐ नमो भगवते रामाय सर्वभूतात्मने वासुदेवाय सर्वात्मसंयोगपद्मपीठात्मने नमः'—इस मन्त्रको पढ़कर पुष्पादि आसन देकर यन्त्र या मूर्त्तिकी स्थापना करके उसकी षोडशोपचार पूजा करे, तत्पश्चात् पुरुषसूक्तके द्वारा अभिषेक करे। फिर—

ॐ संविन्मयः परो देवः परामृतरसप्रिय।
अनुज्ञां देहि मे राम परिवारार्चनाय ते॥

इस श्लोकको पढ़कर पुष्पाञ्जलि देकर आवरण-पूजाके लिये आज्ञा प्राप्तकर पूजन प्रारम्भ करे।

अथ प्रथमावरणम्—(तन्त्रमें उल्लिखित संख्याको देखकर तदनुसार पूजा करे) (१) ॐ देववामपार्श्वे सीतायै नमः सीताश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः। (अग्निकोणमें) (२) ॐ शार्ङ्गाय नमः शार्ङ्गश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः। दक्षिण पार्श्वमें, (३) ॐ शराय नमः शरश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः। वामपार्श्वमें (४) ॐ चापाय नमः चापश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

पश्चात् इस मन्त्रसे प्रार्थना करे—

---

* करन्यासकी विधि—'अङ्गुष्ठाभ्यां नमः' कहकर दोनों हाथमें तर्जनीसे अङ्गुष्ठको स्पर्श करे। 'तर्जनीभ्यां नमः' कहकर अङ्गुष्ठसे तर्जनीको स्पर्श करे। इसी प्रकार अङ्गुष्ठसे ही मध्यमा, अनामिका और तर्जनीको स्पर्श करे।

हृदयादिन्यासमें 'हृदयाय नमः' कहकर हृदय स्पर्श करे, 'शिरसे स्वाहा' कहकर सिर स्पर्श करे, 'शिखायै वषट्' कहकर शिखा स्पर्श करे, 'कवचाय हुम्' कहकर दायें हाथसे बायें कंधेको और बायें हाथसे दायें कंधेको एक साथ स्पर्श करे, 'अस्त्राय फट्' कहकर एक बार दायें हाथकी हथेलीसे बायें हाथकी हथेलीपर आघात करे।

इसी प्रकार मन्त्र-वर्णन्यासमें यथास्थान स्पर्श करे।

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल ।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं प्रथमावरणार्चनम् ॥

अथ द्वितीयावरणपूजा—तत्पश्चात् षट्कोण-केसरमें पूजा करे। (५) अग्निकोणमें ॐ रां हृदयाय नमः, (६) नैर्ऋत्यकोणमें ॐ रीं शिरसे स्वाहा, (७) वायव्य-कोणमें ॐ रूं शिखायै वषट्, (८) ईशानकोणमें ॐ रैं कवचाय हुम्, (९) पूज्य और पूजकके बीचमें ॐ रौं नेत्रत्रयाय वौषट्, (१०) देवताके पश्चिममें ॐ रः अस्त्राय फट्—आदि मन्त्रोंसे यथास्थान पूजा करे। तत्पश्चात् इस मन्त्रसे प्रार्थना करे—

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल ।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं द्वितीयावरणार्चनम् ॥

अथ तृतीयावरणपूजा—उससे बाह्य अष्टदलमें पूज्य-पूजकके बीच प्राची दिशाकी कल्पना करके पूजा करे—(११) ॐ हनुमते नमः, हनुमच्छ्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (१२) ॐ सुग्रीवाय नमः, सुग्रीवश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (१३) ॐ भरताय नमः, भरतश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (१४) ॐ विभीषणाय नमः, विभीषणश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (१५) ॐ लक्ष्मणाय नमः, लक्ष्मणश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (१६) ॐ अङ्गदाय नमः, अङ्गदश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (१७) ॐ शत्रुघ्नाय नमः, शत्रुघ्नश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (१८) श्रीजाम्बवते नमः, जाम्बवच्छ्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः। तत्पश्चात् प्रार्थना करे—

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल ।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं तृतीयावरणार्चनम् ॥

अथ चतुर्थावरणपूजा—तत्र अष्टदलकी अग्र-कर्णिकामें—(१९) ॐ स्रष्ट्रे नमः, स्रष्टृश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (२०) ॐ जयन्ताय नमः, जयन्त-श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (२१) ॐ विजयाय नमः, विजयश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (२२) ॐ सुराष्ट्राय नमः, सुराष्ट्रश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (२३) ॐ राष्ट्रवर्धनाय नमः, राष्ट्रवर्धनश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (२४) ॐ अकोपाय नमः, अकोपश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (२५) ॐ धर्मपालाय नमः, धर्मपालश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (२६) ॐ सुमन्त्राय नमः, सुमन्त्रश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः। इस प्रकार पूजा करके प्रार्थना करे—

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल ।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं चतुर्थावरणार्चनम् ॥

अथ पञ्चमावरणपूजा—पश्चात् भूपुरमें पूर्वादि क्रमसे पूजा करे। (२७) ॐ लं इन्द्राय नमः, इन्द्र-श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः। (२८) ॐ रं अग्नये नमः, अग्निश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (२९) ॐ यं यमाय नमः, यमश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (३०) ॐ क्षं निर्ऋतये नमः, निर्ऋति-श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (३१) ॐ वं वरुणाय नमः, वरुणश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (३२) ॐ यं वायवे नमः, वायुश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (३३) ॐ कुं कुबेराय नमः, कुबेर-श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (३४) ॐ हं ईशानाय नमः, ईशानश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (३५) (इन्द्र और ईशानके बीच), ॐ आं ब्रह्मणे नमः ब्रह्मश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, (३६) (वरुण और निर्ऋतिके बीच) ॐ ह्रीं अनन्ताय नमः, अनन्तश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

इस प्रकार पूजा करके स्तुति करे—

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल ।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं पञ्चमावरणार्चनम् ॥

अथ षष्ठावरणपूजा—उसके बाहर पूर्वादि क्रमसे, (३७) ॐ वं वज्राय नमः। (३८) ॐ शं शक्तये नमः। (३९) ॐ दं दण्डाय नमः। (४०) ॐ खं खड्गाय नमः। (४१) ॐ पं पाशाय नमः। (४२) ॐ अं अङ्कुशाय नमः। (४३) ॐ गं गदायै नमः। (४४) ॐ त्रिं त्रिशूलाय नमः। (४५) ॐ पं पद्माय नमः। (४६) ॐ चं चक्राय नमः।

इस प्रकार पूजा करके स्तुति करे—

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल ।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं षष्ठावरणार्चनम् ॥

आवरण-पूजाके उपरान्त निम्नलिखित श्लोकोंसे प्रार्थना करे—

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥
श्रीराम राम रघुनन्दन राम राम
श्रीराम राम भरताग्रज राम राम ।
श्रीराम राम रणकर्कश राम राम
श्रीराम राम शरणं भव राम राम ॥
श्रीरामचन्द्रचरणौ मनसा स्मरामि
श्रीरामचन्द्रचरणौ वचसा गृणामि ।
श्रीरामचन्द्रचरणौ शिरसा नमामि
श्रीरामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये ॥

इस मन्त्रका पुरश्चरण छः लाख जप है। उसका दशमांश होम, होमका दशमांश तर्पण, तर्पणका दशमांश मार्जन और मार्जनका दशमांश ब्राह्मण-भोजन है। इस प्रकारके साङ्गोपाङ्ग पूजनसे मन्त्र सिद्ध होता है।

[ज्योतिर्विद्भूषण पं० श्रीस्वरूपचन्द्रजी शास्त्रीने लिखा है कि उक्त मन्त्रका पुरश्चरण यदि निष्काम भावसे किया जाय तब तो कहना ही क्या है। सकाम भाव हो तो सिद्धिप्राप्तिके लिये निम्नलिखित विधानानुसार करना नितान्त आवश्यक है—

जगत्-वश्य हेतु—नीलोत्पलसे हवन।

राज-वश्य हेतु—चमेली एवं चन्दनका हवन।

धन-धान्य-प्राप्ति हेतु—कमलके पुष्पोंसे हवन।

लक्ष्मीप्राप्ति हेतु—बिल्वफलसे हवन।

दीर्घायुप्राप्ति हेतु—दूर्वासे हवन।

मेधावृद्धि हेतु—पलाशपुष्प।

कवित्व-शक्ति-प्राप्ति हेतु—केवल मन्त्रसे अभिमन्त्रित जल पान करना।

नीरोगता-प्राप्ति हेतु—केवल मन्त्रसे अभिमन्त्रित भोजन करना।

पूजा-क्रम समझकर ठीक उसीके अनुसार पूजा करनी चाहिये। —सम्पादक]

ध्यान १

कालाम्भोधरकान्तं च वीरासनसमास्थितम्।
ज्ञानमुद्रां दक्षहस्ते दधतं जानुनीतरम् ॥
सरोरुहकरां सीतां विद्युद्भाभां च पार्श्वगाम्।
पश्यन्तीं रामवक्त्राब्जं विविधाकल्पभूषिताम् ॥
(नारद० पूर्व० ७३ । १०–१२)

'भगवान् श्रीरामकी अङ्गकान्ति मेघकी काली घटाके समान श्याम है। वे वीरासन लगाकर बैठे हैं। दाहिने हाथमें ज्ञानमुद्रा धारण करके उन्होंने अपने बायें हाथको बायें घुटनेपर रख छोड़ा है। उनके वामपार्श्वमें विद्युत्के समान कान्तिमती और नाना प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे विभूषित सीतादेवी विराजमान हैं। उनके हाथमें कमल है और वे अपने प्राणवल्लभ श्रीरामचन्द्रजीका मुखारविन्द निहार रही हैं।' मन्त्र है—'रां रामाय नमः।'

इस प्रकार ध्यान करके मन्त्रोपासक छः लाख जप करे और कमलोंद्वारा प्रज्वलित अग्निमें दशांश होम करे। तत्पश्चात् ब्राह्मण-भोजन कराये ।

ध्यान २

ध्यायेत्कल्पतरोर्मूले सुवर्णमयमण्डपे । पुष्पकाख्यविमानान्तःसिंहासनपरिच्छदे ॥
पद्मे वसुदले देवमिन्द्रनीलसमप्रभम् । वीरासनसमासीनं ज्ञानमुद्रोपशोभितम् ॥
वामोरुन्यस्ततद्धस्तं सीतालक्ष्मणसेवितम् । रत्नाकल्पं विभुं ध्यात्वा वर्णलक्षं जपेन्मनुम् ॥
यद्वा स्मरादिमन्त्राणां जयाभं च हरिं स्मरेत् । (५९-६२)

भगवान्‌का इस प्रकार ध्यान करे—कल्पवृक्षके नीचे एक सुवर्णका विशाल मण्डप बना हुआ है। उसके भीतर पुष्पक विमान है, उस विमानमें एक दिव्य सिंहासन बिछा हुआ है। उसपर अष्टदल कमलका आसन है, जिसके ऊपर इन्द्रनील मणिके समान श्याम कान्तिवाले भगवान् श्रीरामचन्द्र वीरासनसे बैठे हुए हैं। उनका दाहिना हाथ ज्ञान-मुद्रासे सुशोभित है और बायें हाथको उन्होंने बायीं जाँघपर रख छोड़ा है। भगवती सीता तथा सेवाव्रती लक्ष्मण उनकी सेवामें जुटे हुए हैं। वे सर्वव्यापी भगवान् रत्नमय आभूषणोंसे विभूषित हैं। इस प्रकार ध्यान करके छः अक्षरोंकी संख्याके अनुसार छः लाख मन्त्र जप करे अथवा क्लीं आदिसे युक्त मन्त्रोंके साधनमें जयाभ श्रीहरिका चिन्तन करे।

ध्यान ३

अयोध्यानगरे रत्नचित्रसौवर्णमण्डपे।
मन्दारपुष्पैराबद्धविताने तोरणान्विते॥
सिंहासनसमासीनं पुष्पकोपरि राघवम्।
रक्षोभिर्हरिभिर्देवैः सुविमानगतैः शुभैः॥
संस्तूयमानं मुनिभिः प्रह्वैश्च परिसेवितम्।
सीतालंकृतवामाङ्गं लक्ष्मणेनोपशोभितम्॥
श्यामं प्रसन्नवदनं सर्वाभरणभूषितम्।
(६८–७१)
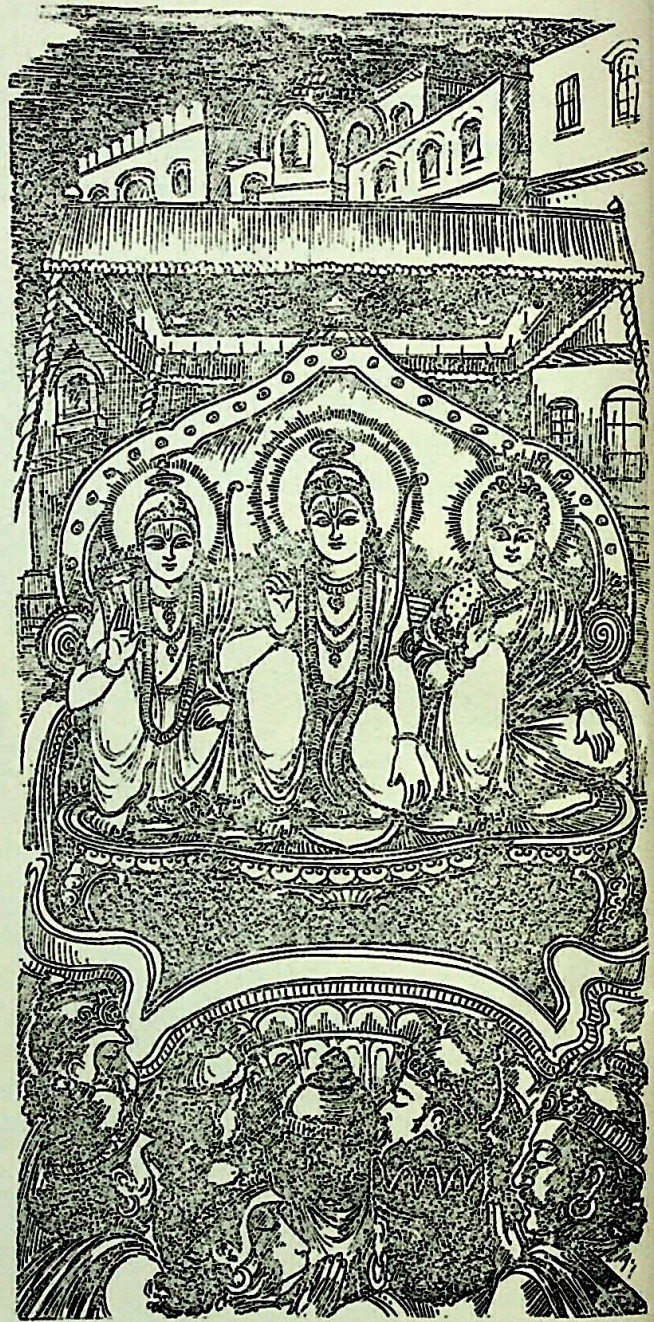
दिव्य अयोध्या-नगरमें रत्नोंसे चित्र-विचित्र एक सुवर्णमय मण्डप है, जिसमें मन्दारके फूलोंसे चँदोवा बनाया गया है। उसमें तोरण लगे हुए हैं, उसके भीतर पुष्पक विमानपर एक दिव्य सिंहासनके ऊपर राघवेन्द्र श्रीराम विराजमान हैं। उस सुन्दर विमानमें एकत्र हो शुभस्वरूप देवता, वानर, राक्षस और विनीत महर्षिगण भगवान्‌की स्तुति और परिचर्या

करते हैं। श्रीराघवेन्द्रके वाम भागमें भगवती सीता विराजमान हो उस वामाङ्गकी शोभा बढ़ाती हैं। भगवान्‌का दाहिना भाग लक्ष्मणजीसे सुशोभित है। श्रीरघुनाथजीकी कान्ति श्याम है, उनका मुख प्रसन्न है तथा वे समस्त आभूषणोंसे विभूषित हैं।

ध्यान ४

निःशाणभेरीपटहशङ्खतुर्यादिनिःस्वनैः ॥
प्रवृत्तनृत्ये परितो जयमङ्गलभाषिते।
चन्दनागुरुकस्तूरीकर्पूरादिसुवासिते ॥
सिंहासने समासीनं पुष्पकोपरि राघवम्।
सौमित्रिसीतासहितं जटामुकुटशोभितम् ॥
चापबाणधरं श्यामं ससुग्रीवविभीषणम्।
हत्वा रावणमायान्तं कृतत्रैलोक्यरक्षणम् ॥

भगवान् राघवेन्द्र रावणको मारकर त्रिलोकीकी रक्षा करके लौट रहे हैं। वे सीता और लक्ष्मणके साथ पुष्पक-विमानमें सिंहासनपर बैठे हैं। उनका मस्तक जटाओंके मुकुटसे सुशोभित है। उनका वर्ण श्याम है और उन्होंने धनुष-बाण धारण कर रक्खा है। उनकी विजयके उपलक्ष्में निशान, भेरी, पटह, शङ्ख और तुरही आदिकी ध्वनियोंके साथ-साथ नृत्य आरम्भ हो गया है। चारों ओर जय-जयकार तथा मङ्गल-पाठ हो रहा है। चन्दन, अगुरु, कस्तूरी और कपूर आदिकी मधुर गन्ध छा रही है।

उपर्युक्त प्रकारसे ध्यान करके मन्त्रोपासक निम्नाङ्कित मन्त्रकी अक्षर-संख्या १८ के अनुसार अठारह लाख जप करे।

'ॐ नमो भगवते रामाय महापुरुषाय नमः'

ध्यान ५

सरयूतीरमन्दारवेदिकापङ्कजासने ॥
श्यामं वीरासनासीनं ज्ञानमुद्रोपशोभितम्।
वामोरुन्यस्ततद्धस्तं सीतालक्ष्मणसंयुतम् ॥
अवेक्षमाणमात्मानं मन्मथामिततेजसम्।
शुद्धस्फटिकसंकाशं केवलं मोक्षकाङ्क्षया ॥
चिन्तयेत् परमात्मानमृतुलक्षं जपेन्मनुम्।

सरयूके तटपर मन्दार (कल्पवृक्ष) के नीचे एक वेदिका बनी हुई है और उसके ऊपर एक कमलका आसन है, जिसपर श्यामवर्णवाले भगवान् श्रीराम वीरासनसे बैठे हैं। उनका दाहिना हाथ ज्ञानमुद्रासे सुशोभित है। उन्होंने अपने बायें ऊरुपर बायाँ हाथ रख छोड़ा है। उनके वामभागमें सीता हैं और लक्ष्मणजी छत्र लिये पीछे खड़े हैं। भगवान् श्रीरामका अमित तेज कामदेवसे भी अत्यधिक सुन्दर है। वे शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल तथा अद्वितीय आत्माका ध्यानद्वारा साक्षात्कार कर रहे हैं। ऐसे परमात्मा श्रीरामका केवल मोक्षकी इच्छासे चिन्तन करे और 'रामभद्राय स्वाहा' मन्त्रका छः लाख जप करे।

[ऊपर पाँच ध्यान लिखे गये हैं। ये नारद-पुराणसे लिये गये हैं। विशेष देखना हो तो नारद-पुराण या 'कल्याण' के 'नारद-विष्णु-पुराणाङ्क'में पृष्ठ ३६८ से ३७२ तक देखना चाहिये।]

अथ राम-नाम-लेखन-विधि—

आनन्दरामायणके मनोहरकाण्डमें लिखा है—

शृणुष्व विष्णुदास त्वं यत्तेऽहं प्रवदामि च।
तुष्ट्यर्थं रामचन्द्रस्य नित्यं पत्रे तु मानवैः॥
लेखनीयं राम नाम शतानि नव प्रत्यहम्।
अथवाष्टोत्तरशतं पूजनीयं सविस्तरम्॥
एवं कोटिमितं लेख्यं लक्षं वास्तु ततः परम्।
हवनो हि दशांशेन कर्त्तव्यो विधिपूर्वकम्॥
इदं विष्णुरिति ऋचा तिलाज्यैः पायसेन वा।
नवान्नेनाथवा कार्यो राघवं परिपूज्य च॥
× × × राज्यप्राप्तिर्भविष्यति।
अन्ते च परमं स्थानं गमिष्यति मनोर्बलम्॥

अर्थात् हे भगवान् विष्णुके दास, वैष्णव! सुनो। मैं तुमसे श्रीरामनाम लिखनेकी विधि कहता हूँ। श्रीरामचन्द्रजीकी प्रसन्नताके लिये प्रतिदिन नौ सौ राम-नाम लिखने चाहिये अथवा १०८नाम पत्तेपर लिखकर विधिपूर्वक पूजन करे। इस प्रकार एक करोड़ या एक लाख नामकी पूजा हो जानेके बाद इस संख्याका दशांश—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे॥

—इस मन्त्रसे तिल-घीसे या पायस(खीर)से होम करे अथवा नवान्नसे करे।

इस प्रकार करनेसे राजलक्ष्मीकी प्राप्ति होगी और अभीष्ट-की सिद्धि होकर अन्तमें परम गति प्राप्त होगी।

श्रीरामकी मानसी पूजा

(लेखक—श्रीरामलालजी)

भारतीय अध्यात्म-वाङ्मयमें मानसी पूजाका अमित महत्त्व स्वीकार किया गया है। बाह्य उपचारों और सामग्रियोंके अभावमें भी मानसी पूजाके द्वारा भगवत्प्रीतिकी प्राप्ति सर्वथा सहज और सुगम है। श्रीरामकी मानसी पूजाकी विधि श्रीसुतीक्ष्णजीने दण्डकवनमें अपने गुरु अगस्त्य ऋषिसे पूछी थी। अगस्त्यजीने इस प्रसङ्गपर विस्तारसे प्रकाश डाला है। आनन्दरामायणके मनोहरकाण्डके तीसरे सर्गमें ५६वें श्लोकसे १२३वें श्लोकतक इसका यथेष्ट विवरण मिलता है।

अगस्त्यजीने बतलाया कि श्रीरामकी मानसी पूजा करनेवाला अपने राग-द्वेषादिसे अपवित्र चित्तको वैराग्यके अभ्याससे निर्मल कर ले। शौचादि कर्मसे प्रातःकाल निवृत्त होकर एकान्त स्थानमें समस्थित होकर भवपाशसे मुक्त होनेके लिये साधकको श्रीरामका ध्यान और पूजन करना चाहिये। अपने हृदयमें श्रीरामका ध्यान करना चाहिये। अगस्त्यजीका कथन है—

रामं पद्मविशालाक्षं कालाम्बुदसमप्रभम्।
स्मितवक्त्रं सुखासीनं चिन्तयेच्चित्तपुष्करे॥

(आनन्दरामायण, मनोहरकाण्ड ३। ५६)

'साधकके हृदयकमलपर श्रीराम सुखपूर्वक सहज आसनसे विराजमान हैं, उनके नेत्रकमल विशाल हैं, वे श्याम मेघके समान नीले वर्णवाले हैं तथा मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं।'

साधकको चाहिये कि वह नाभिकुण्डसे निकले हुए कदलीपुष्पके समान आठ दलोंवाले स्निग्ध वर्णवाले हृदयरूपी कमलका ध्यान करे; उस कमलको रामनामसे विकसित कर बीचमें सूर्य, सोम और अग्निमण्डलसे भी अधिक प्रकाशवाले तेजका ध्यान करे; उसपर रत्नमय उज्ज्वल पीठिका—चौकीकी भावना करके उसके बीचो-बीच कोटि-कोटि सूर्यकी प्रभाके समान सम्पूर्ण प्रकाशित श्रीरामका ध्यान करे।

ध्यान

इन्दीवरनिभं शान्तं विशालाक्षं सुवक्षसम्।
उद्यद्दीधितिमद्भास्वत्कुण्डलाभ्यां विराजितम्॥
सुनासं सुकिरीटं च सुकपोलं शुचिस्मितम्।
विज्ञानमुद्रं द्विभुजं कम्बुग्रीवं सुकुन्तलम्॥
नानारत्नमयैर्दिव्यहारैर्भूषितमव्ययम्।
विद्युत्पुञ्जप्रतीकाशं वस्त्रयुग्मधरं हरिम्॥
वीरासनस्थं संतानतरुमूलनिवासिनम्।
महासुगन्धलिप्ताङ्गं वनमालाविराजितम्॥
वामपार्श्वे स्थितां सीतां चामीकरसमप्रभाम्।
लीलापद्मधरां देवीं चारुहासां शुभाननाम्॥
पश्यन्तीं स्निग्धया दृष्ट्या दिव्या कल्पविराजिताम्।
छत्रचामरहस्तेन लक्ष्मणेन सुसेवितम्॥
हनुमत्प्रमुखैर्नित्यं वानरैः परिवारितम्।
स्तूयमानमृषिगणैः सेवितं भरतादिभिः॥
सनन्दनादिभिश्चान्यैर्योगिवृन्दैः स्तुतं सदा।
सर्वशास्त्रार्थकुशलं योगज्ञं योगसिद्धिदम्॥

(आनन्दरामायण, मनोहरकाण्ड ३। ६२—६९)

'श्रीराम नीले कमलकी आभासे युक्त एवं विशाल नेत्रोंसे सुशोभित हैं, शान्त हैं, सुवक्षवाले हैं; सुन्दर किरणोंकी दीप्तिसे प्रकाशित कुण्डलोंसे उनके कान समलंकृत हैं, उनकी नासिका सुन्दर है, कपोल मनोहर हैं, निर्मल अमृतमयी मुसकान है उनकी, उन्होंने सुन्दर मुकुट धारण किया है, विज्ञानमुद्रा धारण की है, वे दो भुजावाले हैं, शङ्खके समान उनकी ग्रीवा है, काले-काले सुन्दर केश हैं उनके; अनेक रत्नोंसे गुँथे दिव्य हार उन्होंने धारण किये हैं, वे अव्यय—अविनाशी हैं, उन्होंने विद्युत्प्रकाशपुञ्जकी आभावाले युगल पीत वस्त्र धारण कर रखे हैं, हरि—श्रीराम वीरासनसे स्थित हैं, वे कल्पवृक्षके नीचे विराजमान हैं, उनके अङ्गमें उत्तम सुगन्धित चन्दन-अङ्गराग आदिका लेप है, वे वनमालासे विभूषित हैं उनके वामभागमें स्वर्ण-आभामयी श्रीसीताजी विराजित हैं जिनके हाथमें लीलापद्म हैं, जिनकी मुसकान मनको मोहित कर लेनेवाली है तथा मुख बड़ा सुन्दर है, जो स्निग्ध स्नेहमयी दृष्टिसे श्रीरामकी ओर निरन्तर देख रही हैं, जो दिव्य हैं और दिव्य आभूषणोंसे अलंकृत हैं; वे श्रीलक्ष्मणजीके द्वारा सुसेवित हैं, जिनके हाथमें छत्र और चँवर हैं—श्रीलक्ष्मणजी हाथमें छत्र और चँवर लेकर उनकी सेवा कर रहे हैं। वे हनुमान् आदि वानरोंसे

नित्य घिरे हुए—परिसेवित हैं। ऋषिगण उनका स्तवन कर रहे हैं, सनन्दन आदि योगी उनकी स्तुतिमें तल्लीन हैं, भरत आदि उनकी सेवामें रत हैं, उन्हें सारे शास्त्रोंका पूर्ण ज्ञान है, वे परम योगी हैं तथा समस्त योग-सिद्धियोंको प्रदान करनेवाले हैं।'

'कौस्तुभमणि तथा चिन्तामणिसे विभूषित श्रीरामका हृदयमें पूजन करके उनका आवाहन करना चाहिये।'

आवाहन

आवाहयामि विश्वेशं जानकीवल्लभं विभुम्।
कौसल्यातनयं विष्णुं श्रीरामं प्रकृतेः परम्॥

'मैं प्रकृतिसे परे—दिव्य विष्णुस्वरूप कौसल्यानन्दन जानकीवल्लभ, जगदीश्वर, सर्वव्यापक—विभु भगवान् श्रीरामका आवाहन करता हूँ।'

आसन

राजाधिराज राजेन्द्र रामचन्द्र महीपते।
रत्नसिंहासनं तुभ्यं दास्यामि स्वीकुरु प्रभो॥
श्रीरामागच्छ भगवन् रघुवीर रघूत्तम।
जानक्या सह राजेन्द्र सुस्थिरो भव सर्वदा॥
रामचन्द्र महेष्वास रावणान्तक राघव।
यावत्पूजां समाप्येऽहं तावत्त्वं संनिधौ भव॥
रघुनन्दन राजर्षे राम राजीवलोचन।
रघुवंशज मे देव श्रीरामाभिमुखो भव॥
प्रसीद जानकीनाथ सुप्रसिद्ध सुरेश्वर।
प्रसन्नो भव मे राजन् सर्वेश मधुसूदन॥
शरणं मे जगन्नाथ शरणं भक्तवत्सल।
वरदो भव मे राजन् शरणं मे रघूत्तम॥

'हे राजाधिराज राजेन्द्र पृथ्वीनाथ श्रीरामचन्द्र! मैं आपको रत्नसिंहासन प्रदान करता हूँ—उसे आप स्वीकार कीजिये।

हे राजेन्द्र! हे रघुवीर, रघुश्रेष्ठ भगवान् राम! जानकीके साथ पधारकर आप इस आसनपर सदा विराजमान रहें।

'हे महाधनुष धारण करनेवाले, श्रीरामचन्द्र! रावणका अन्त करनेवाले राघव! जबतक मैं पूजा समाप्त नहीं कर लेता, तबतक आप मेरे पास ही निवास कीजिये।

'हे रघुनन्दन! राजर्षे, कमलनयन राम, रघुके वंशमें जन्म लेनेवाले देव! आप मेरे सम्मुख होनेकी कृपा कीजिये।

'हे जानकीनाथ, परम प्रसिद्ध देवेश्वर! हे सर्वेश्वर, मधुसूदन, राजन्! आप मुझपर प्रसन्न हो जाइये, प्रसन्न हो जाइये।

'हे जगन्नाथ, भक्तवत्सल, रघुश्रेष्ठ राजन्! आप मेरे रक्षक हैं; आप मुझे वरदान दीजिये, मेरी रक्षा कीजिये।'

पाद्य

त्रैलोक्यपावनानन्त नमस्ते रघुनायक।
पाद्यं गृहाण राजर्षे नमो राजीवलोचन॥

'हे अनन्त, तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाले, रघुनायक, राजर्षे, कमलनयन! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप इस पाद्य—पादप्रक्षालनार्थ जलको स्वीकार कीजिये।' (उपर्युक्त मन्त्र पढ़कर श्रीरामके चरणकमलको मानस जलसे धोकर उसे (जलको) अपने मस्तकपर धारण करनेकी भावना करनी चाहिये।)

अर्घ्य

परिपूर्ण परानन्द नमो रामाय वेधसे।
गृहाणार्घ्यं मया दत्तं कृष्ण विष्णो जनार्दन॥

'मैं परिपूर्ण परमानन्द विधाता रामको प्रणाम करता हूँ। हे कृष्ण, जनार्दन, विष्णो! आप मेरे द्वारा दिये गये अर्घ्य—गन्धपुष्पाक्षतसहित जलको ग्रहण कीजिये।' (श्रीरामके करकमलमें पवित्र जल छोड़नेकी भावना करनी चाहिये।)

मधुपर्क

ॐ नमो रामाय भद्राय तत्त्वज्ञानस्वरूपिणे।
मधुपर्कं गृहाणेमं राजराजाय ते नमः॥

हे राजराजेश्वर कल्याणमय, तत्त्वज्ञानस्वरूप, ॐकारवाच्य श्रीराम! आपको नमस्कार है। इस मधुपर्क—दही, घी और मधुके योगसे बने पदार्थको ग्रहण करनेकी कृपा कीजिये।'

आचमनीय

नमः सत्याय शुद्धाय बुध्याय ज्ञानरूपिणे।
गृहाणाचमनं देव सर्वलोकैकनायक॥

'सत्यस्वरूप, शुद्ध, शिवरूप, ज्ञानरूप भगवान् श्रीरामको प्रणाम है। हे देव, समस्त लोकोंके एकच्छत्र स्वामी! आप इस आचमनीय—सुगन्धमय निर्मल जलको स्वीकार कीजिये।'

स्नान

ब्रह्माण्डोदरमध्यस्थैस्तीर्थैश्च रघुनन्दन।
स्नापयिष्याम्यहं भक्त्या त्वं गृहाण जनार्दन॥

'हे रघुनन्दन ! ब्रह्माण्डमें स्थित समस्त तीर्थोंके जलसे मैं आपको स्नान कराता हूँ । हे जनार्दन ! भक्तिपूर्वक मेरे द्वारा कराये गये इस कर्म—स्नानको आप स्वीकार कीजिये ।'

वस्त्र

संतप्तकाञ्चनप्रख्यं पीताम्बरमिमं हरे ।
संगृहाण जगन्नाथ रामभद्र नमोऽस्तु ते ॥

'हे जगन्नाथ रामभद्र ! आपको नमस्कार है । अच्छी तरह तपाये गये स्वर्णके समान दमकते हुए इस पीताम्बरको आप स्वीकार कीजिये ।'

यज्ञोपवीत

श्रीरामाच्युत यज्ञेश श्रीधरानन्द राघव ।
ब्रह्मसूत्रं सोत्तरीयं गृहाण रघुनायक ॥

'हे श्रीराम, अच्युत, यज्ञेश, श्रीधर, आनन्दरूप, राघव, रघुनायक ! उत्तरीय वस्त्रके सहित समर्पित इस यज्ञोपवीतको स्वीकार कीजिये ।'

आभूषण

किरीटहारकेयूररत्नकुण्डलमेखलाः ।
ग्रैवेयकौस्तुभं हारं रत्नकङ्कणनूपुरान् ॥
एवमादीनि सर्वाणि भूषणानि रघूत्तम ।
अहं दास्यामि ते भक्त्या संगृहाण जनार्दन ॥

'हे रघुश्रेष्ठ श्रीराम ! मुकुट, हार, केयूर (बाजूबंद), रत्नोंके बने कुण्डल, मेखला, गलेमें पहननेके लिये कौस्तुभ, मुक्तामाला, रत्नोंके कड़े, नूपुर आदि सब आभूषण बड़ी भक्तिसे समर्पित करता हूँ । हे जनार्दन ! इन्हें आप स्वीकार कीजिये ।'

गन्ध

कुङ्कुमागुरुकस्तूरीकर्पूरोन्मिश्रचन्दनम् ।
तुभ्यं दास्यामि विश्वेश श्रीराम स्वीकुरु प्रभो ॥

'हे श्रीराम ! विश्वेश्वर ! प्रभो ! मैं आपको केसर, अगर, कस्तूरी और कपूरसे मिश्रित चन्दन समर्पित करता हूँ, स्वीकार कीजिये !'

तुलसीदल-पुष्पादि

तुलसीकुन्दमन्दारजातिपुन्नागचम्पकैः ।
कदम्बकरवीरैश्च कुसुमैः शतपत्रकैः ॥
नीलाम्बुजैर्बिल्वदलैः पुष्पमाल्यैश्च राघव ।
पूजयिष्याम्यहं भक्त्या संगृहाण नमोऽस्तु ते ॥

'हे राघव ! भक्तिपूर्वक तुलसीपत्र, कुन्द, मन्दार, जूही, पुंनाग, चम्पक, कदम्ब, करवीर, कमल, नीले कमल, बिल्वपत्र और फूलकी मालाओंसे मैं आपका पूजन करता हूँ । आप स्वीकार कीजिये । आपको नमस्कार है ।'

धूप

वनस्पतिरसैर्दिव्यैर्गन्धाढ्यैः सुमनोहरैः ।
रामचन्द्र महीपाल धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥

'हे राजा रामचन्द्र ! वनस्पतिके दिव्य रसों और अत्यन्त मनोहर गन्धसे सम्पन्न यह धूप ग्रहण कीजिये ।'

दीप

ज्योतिषां पतये तुभ्यं नमो रामाय वेधसे ।
गृहाण दीपकं राजंस्त्रैलोक्यतिमिरापहम् ॥

'हे समस्त ज्योतियोंके पति, विधाता, राम ! आपको नमस्कार है । हे राजन् ! तीनों लोकका अन्धकार नष्ट करनेवाले इस दीपको स्वीकार कीजिये ।'

नैवेद्य

इदं दिव्यान्नममृतं रसैः षड्भिर्विराजितम् ।
श्रीराम राजराजेन्द्र नैवेद्यं प्रतिगृह्यताम् ॥

'हे श्रीराम, राजाओंके राजा ! छः रसोंसे युक्त यह अमृतके समान दिव्य अन्न प्रस्तुत है । इस नैवेद्यको आप स्वीकार कीजिये ।'

ताम्बूल

नागवल्लिदलैर्युक्तं पूगीफलसमन्वितम् ।
ताम्बूलं गृह्यतां राम कर्पूरादिसमन्वितम् ॥

'हे श्रीराम ! नागरबेलके पत्तोंसे युक्त सुपारी, कपूर आदि मसालोंसे तैयार किये गये ताम्बूल—बीड़ेको ग्रहण कीजिये ।'

आरती

मङ्गलार्थं महीपाल नीराजनमिदं हरे ।
संगृहाण जगन्नाथ रामचन्द्र नमोऽस्तु ते ॥

'हे हरे ! राम ! हे राजन् ! हे जगन्नाथ भगवान् रामचन्द्र ! मङ्गल—कल्याणके लिये समर्पित इस नीराजन—आरतीको आप स्वीकार कीजिये, आपको नमस्कार है ।'

अष्ट-नमस्कार-पुष्पाञ्जलि

ॐ नमो भगवते श्रीरामाय परमात्मने ।
सर्वभूतान्तरस्थाय ससीताय नमो नमः ॥
ॐ नमो भगवते श्रीरामचन्द्राय वेधसे ।
सर्ववेदान्तवेद्याय ससीताय नमो नमः ॥

ॐ नमो भगवते श्रीविष्णवे परमात्मने ।
परात्पराय रामाय ससीताय नमो नमः ॥
ॐ नमो भगवते श्रीरघुनाथाय शार्ङ्गिणे ।
चिन्मयानन्दरूपाय ससीताय नमो नमः ॥
ॐ नमो भगवते श्रीरामकृष्णाय चक्रिणे ।
विशुद्धज्ञानदेहाय ससीताय नमो नमः ॥
ॐ नमो भगवते श्रीवासुदेवाय विष्णवे ।
पूर्णानन्दैकरूपाय ससीताय नमो नमः ॥
ॐ नमो भगवते श्रीरामभद्राय वेधसे ।
सर्वलोकशरण्याय ससीताय नमो नमः ॥
ॐ नमो भगवते श्रीरामायामिततेजसे ।
ब्रह्मानन्दैकरूपाय ससीताय नमो नमः ॥

'ॐकारस्वरूप, भगवान्, परमात्मा, सब प्राणियोंके भीतर निवास करनेवाले सीतासहित श्रीरामको नमस्कार है ।

'श्रीसीतासहित भगवान् सर्ववेदान्तवेद्य विधाता श्रीरामको नमस्कार है ।

'श्रीसीतासहित परात्पर परमात्मा भगवान् विष्णुरूपधारी श्रीरामको नमस्कार है ।

'श्रीसीतासहित चिन्मयानन्दरूप शार्ङ्गधनुषधारी भगवान् श्रीरघुनाथजीको नमस्कार है ।

'श्रीसीतासहित चक्रधारी श्रीरामकृष्ण, विशुद्ध ज्ञानमूर्ति भगवान्‌को नमस्कार है ।

'श्रीसीतासहित एकमात्र पूर्णानन्दस्वरूप भगवान् वासुदेव श्रीविष्णुको नमस्कार है ।

'समस्त लोकको शरण देनेवाले—समस्त लोकोंके रक्षक श्रीसीतासहित परब्रह्म श्रीरामभद्रको नमस्कार है ।

'श्रीसीतासहित एकमात्र ब्रह्मानन्दस्वरूप, अपार तेजस्वी भगवान् श्रीरामको नमस्कार है ।'

नृत्यगीतादिवाद्यादिपुराणपठनादिभिः ।
राजोपचारैरखिलैः संतुष्टो भव राघव ॥

'हे राघव ! मेरे नृत्य, गीत, वाद्य तथा पुराणपाठ आदि समस्त राजोपचारोंसे आप संतुष्ट होनेकी कृपा कीजिये ।'

प्रार्थना

विशुद्धज्ञानदेहाय रघुनाथाय विष्णवे ।
अन्तःकरणसंशुद्धिं देहि मे रघुनन्दन ॥
नमो नारायणानन्त श्रीराम करुणानिधे ।
मामुद्धर जगन्नाथ घोरात् संसारसागरात् ॥
रामचन्द्र महेष्वास शरणागततत्पर ।
त्राहि मां सर्वलोकेश तापत्रयमहानलात् ॥
श्रीकृष्ण श्रीकर श्रीश श्रीराम श्रीनिधे हरे ।
श्रीनाथ श्रीमहाविष्णो श्रीनृसिंह कृपानिधे ॥
गर्भजन्मजराव्याधिघोरसंसारसागरात् ।
मामुद्धर जगन्नाथ कृष्ण विष्णो जनार्दन ॥

'हे निर्मल ज्ञानविग्रह विष्णो ! आपको नमस्कार है । हे रघुनन्दन ! आप मुझे अन्तःकरणकी शुद्धि प्रदान कीजिये । हे अनन्त ! नारायण, करुणासागर श्रीराम ! आपको नमस्कार है । हे जगन्नाथ ! इस घोर संसारसागरसे आप मेरा उद्धार कीजिये ।

'हे समस्त लोकोंके परमेश्वर, शरणागतकी रक्षामें तत्पर रहनेवाले, विशाल धनुषधारी रामचन्द्र ! भौतिक, दैहिक और दैविक—तीनों तापोंकी महाज्वालासे मेरी रक्षा कीजिये ।

'हे श्रीनाथ, महाविष्णो, नृसिंह, कृपासागर, श्रीनिधे, लक्ष्मीपति, श्रीकर, जगन्नाथ, कृष्ण, विष्णो, जनार्दन ! आप गर्भ, जन्म, जरा और व्याधिरूपी घोर—विषम संसार-सागरसे मेरा उद्धार कर दीजिये ।'

श्रीराम गोविन्द मुकुन्द कृष्ण
श्रीनाथ विष्णो भगवन्नमस्ते ।
प्रौढारिषड्वर्गमहाभयेभ्यो
मां त्राहि नारायण विश्वमूर्ते ॥

हे श्रीराम, गोविन्द, मुकुन्द, कृष्ण, श्रीनाथ, विष्णो, भगवन् ! आपको नमस्कार है । हे विश्वमूर्ति—विश्वरूप नारायण ! आप काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ और मत्सररूपी प्रबल शत्रुओंके भीषण भयसे मेरी रक्षा कीजिये ।

श्रीरामाच्युत यज्ञेश श्रीधरानन्द राघव ।
श्रीगोविन्द हरे विष्णो नमस्ते जानकीपते ॥
ब्रह्मानन्दैकविज्ञानं त्वन्नामस्मरणं नृणाम् ।
त्वत्पदाम्बुजसद्भक्तिं देहि मे रघुवल्लभ ॥

हे श्रीराम, अच्युत, यज्ञेश, श्रीधर, आनन्दरूप राघव, श्रीगोविन्द, हरे, विष्णो, जानकीके पति ! आपको नमस्कार है। आपका नामस्मरण मनुष्योंके लिये ब्रह्मानन्दके एकमात्र विज्ञानका मूलाधार है । हे रघुवल्लभ ! आप मुझे अपने चरणकमलकी सच्ची भक्ति प्रदान कीजिये ।

नमोऽस्तु नारायण विश्वमूर्ते
नमोऽस्तु ते शाश्वत विश्वयोने ।
त्वमेव विश्वं सचराचरं च
त्वामेव सर्वं प्रवदन्ति सन्तः ॥
नमोऽस्तु ते कारणकारणाय
नमोऽस्तु कैवल्यफलप्रदाय ।
नमो नमस्तेऽस्तु जगन्मयाय
वेदान्तवेद्याय नमो नमस्ते ॥
नमो नमस्ते भरताग्रजाय
नमोऽस्तु यज्ञप्रतिपालनाय ।
अनन्त यज्ञेश हरे मुकुन्द
गोविन्द विष्णो भगवन्मुरारे ॥
श्रीवल्लभानन्त जगन्निवास
श्रीराम राजेन्द्र नमो नमस्ते ।
श्रीजानकीकान्त विशालनेत्र
राजाधिराज त्वयि मेऽस्तु भक्तिः ॥

'हे विश्वमूर्ते, विश्वके मूल सनातन नारायण ! आपको नमस्कार है। आप ही विश्वरूप हैं। संतजन आपको ही सब कुछ सचराचर बतलाते हैं।

'आप कारणोंके भी कारण हैं, कैवल्यफल—परम मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं। हे प्रभो ! आपको बार-बार नमस्कार है। हे जगन्मय, वेदान्तवेद्य ! आपको नमस्कार है, नमस्कार है।

'हे भरतके अग्रज—श्रीराम ! (विश्वामित्रके) यज्ञकी रक्षा करनेवाले आपको नमस्कार है।

'हे भगवान् अनन्त, यज्ञेश, मुकुन्द, हरे, विष्णो, गोविन्द, मुरारे, श्रीवल्लभ, अनन्त, जगन्निवास, श्रीराम, राजेन्द्र ! आपको नमस्कार है, नमस्कार है।

'हे जानकीकान्त, बड़े-बड़े नेत्रोंवाले राजाधिराज ! आपके प्रति मेरी भक्ति हो।'

तप्तजाम्बूनदेनैव निर्मितं रत्नभूषितम् ।
स्वर्णपुष्पं रघुश्रेष्ठ दास्यामि स्वीकुरु प्रभो ॥
हृत्पद्मकर्णिकामध्ये सीतया सह राघव ।
निवस त्वं रघुश्रेष्ठ सर्वैरावरणैः सह ॥
मनोवाक्कायजनितं कर्म यद् वा शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं प्रीतये भूयान्नमो रामाय शार्ङ्गिणे ॥
अपराधसहस्राणि क्रियन्तेऽहर्निशं मया ।
दासोऽहमिति मां मत्वा क्षमस्व रघुपुंगव ॥
नमस्ते जानकीनाथ रामचन्द्र महीपते ।
पूर्णानन्दैकरूप त्वं गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते ॥

'हे रघुश्रेष्ठ ! प्रभो !! तपाये हुए सोनेसे बनाये गये तथा रत्नोंसे विभूषित स्वर्णपुष्प मैं आपको समर्पित करता हूँ, स्वीकार करनेकी कृपा कीजिये। हृदय-कमलकी कर्णिकाके मध्यमें समस्त आवरणोंसे युक्त श्रीसीताजीके साथ, हे रघुश्रेष्ठ, राघव ! आप निवास कीजिये।

'हे शार्ङ्ग धनुषधारी राम ! आपको नमस्कार है। मेरे द्वारा मन, वचन और शरीरसे किये गये शुभ-अशुभ कर्म आपकी प्रसन्नताका कारण बनें।

'मेरेद्वारा रात-दिन हजारों अपराध किये जाते हैं। हे रघुश्रेष्ठ ! मुझे अपना दास समझकर क्षमा कर दीजिये।

'हे पृथ्वीके स्वामी, रामचन्द्र, जानकीनाथ ! आपको नमस्कार है। आप एकमात्र पूर्णानन्दस्वरूप हैं, मेरे अर्घ्यको ग्रहण करनेकी कृपा कीजिये, आपको नमस्कार है।'

[आनन्दरामायण, मनोहरकाण्ड ३ । ७१-१२०]

इस तरह महर्षि अगस्त्यने अपने शिष्य सुतीक्ष्णके पूछनेपर श्रीरामकी मानसी पूजाकी विधि साङ्गोपाङ्ग निरूपित कर दी।

पाठ

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

मैं आज यह विवरण लिखने बैठा हूँ। क्यों बैठा हूँ? इसका एक ही उत्तर है कि यह उस महाशक्तिके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापनका एक प्रयत्न है, जिसने मुझे इस योग्य बनाया है कि मैं आज यह विवरण लिख सकता हूँ। अन्यथा इस विवरणको लिखनेका कोई प्रयोजन मुझे दीख नहीं रहा है—न अपने लिये, न किसी औरके लिये।

एक ग्रामीण कृषकका पुत्र। आप उसे अशिक्षित भले न कहें, सुशिक्षित वह नहीं था। अवश्य ही जन-गणना अधिकारी शिक्षावाले कोष्ठकमें उसके नामके सम्मुख भी कुछ लिख सकते थे, मात्र इतना ही। कोई प्रमाणपत्र उसके समीप किसी परीक्षामें उत्तीर्ण होनेका नहीं। मातृभाषाकी प्रारम्भिक शिक्षाको शिक्षा कहनेसे आपका संतोष होता हो तो आप संतुष्ट अवश्य हो सकते हैं।

बात आजकी नहीं है। वैसे आज भी कंगालकी संतति न शिक्षा पानेकी अधिकारिणी है और न ठीक रीतिसे चिकित्सा प्राप्त करनेकी। रसरहित शिलाओंके मध्य भी कुछ तृण-तरुओंको बढ़ते-पनपते मैंने देखा है। विधाताका विधान जिसे जीवन-पोषण देना चाहता है, झंझाके प्रचण्ड थपेड़े भी उसका उन्मूलन नहीं कर पाते। केवल वृक्ष-तृण-वीरुधोंके लिये ही यह सत्य नहीं है, यह सत्य सभी प्राणियोंके लिये है। वह स्वयं इस सत्यके प्रतीकरूपमें ही जीवित था। अन्यथा निर्धन, एकाकी, अनाश्रित और उसपर भी जिसने झुकना न सीखा हो, संसारके निष्ठुर थपेड़े उसे अवश्य तोड़ फेंकते।

धन नहीं, स्वजन नहीं, उपार्जन नहीं और गर्व—भले कोई उसे आत्माभिमान कह ले, अन्यका आश्रय लेने नहीं दे तो क्या होगा? वही सब जो ऐसी अवस्थामें सम्भाव्य है, हुआ।

'तुम मुझे नहीं पढ़ाते? अच्छी बात! मैं तुम्हें पढ़ाकर दिखा दूँगा!' इस चर्चामें जो उद्धत गर्व है, उसे आप स्पष्ट देख सकते हैं।

पढ़नेकी बहुत रुचि। किंतु साधन तो नहीं ही थे, समझ भी नहीं थी—यही कहना चाहिये; क्योंकि कोई प्रारम्भिक शिक्षा भी प्राप्त न किये हो और उस विषयका उच्चतम ग्रन्थ ही पढ़ना चाहे तो उसमें समझ है, ऐसा आप मानेंगे?

उसने महाग्रन्थ पढ़नेकी अभिलाषा की थी। एक विद्वान्से मित्रता थी। कहना यह चाहिये कि वे उसपर अनुकम्पा करते थे। स्वाभाविक था कि पढ़ानेकी प्रार्थनापर विद्वान् यही सम्मति देते—'शिक्षाका प्रारम्भ व्याकरणकी सामान्य पुस्तकसे कीजिये! धीरे-धीरे कुछ समयके श्रमके पश्चात् यह ग्रन्थ भी आप पढ़ सकेंगे।'

'मुझे तो यही पढ़ना है।' कोई बालक ऐसा हठ करे, आपके समीप क्या उपाय है? किसी विज्ञानकी आठवीं कक्षाके विद्यार्थीको आप परमाणु-विज्ञान अथवा आइन्स्टीन-सिद्धान्त पढ़ा सकेंगे?

'अभी तो यह ग्रन्थ मैं नहीं पढ़ा पाऊँगा।' इस उत्तरमें कहीं अशिष्टता, उपेक्षा दीखती है आपको? कहा तो यह जाना चाहिये था कि 'तुम अभी इसे पढ़ने-समझने योग्य नहीं हो।'

उसका उद्धत 'अहं' वह अत्यन्त शिष्ट अस्वीकृति भी सहन करनेको प्रस्तुत नहीं था। उसकी उत्तेजना—एक साधन एवं समझसे रहितकी उत्तेजनाका क्या अर्थ है? उसकी उत्तेजनापर लोग हँस दें, इसके अतिरिक्त और हो भी क्या सकता है।

× × ×

बात समाप्त नहीं हुई। बात समाप्त ही हो गयी होती तो यह विवरण ही क्यों लिखा जाता। सामान्यतः असमर्थ, साधनहीनकी उत्तेजनापर लोग हँस देते हैं और बात समाप्त हो जाती है। वह कुछ दूसरी धातुसे बना है। कुछ ऐसी धातुसे, जिससे वे पौधे बनते हैं जो मरुस्थलमें चट्टानोंके—तपती चट्टानोंके मध्य उगकर भी बढ़ते ही जाते हैं। जो लूमें झुलसते नहीं और अंधड़में टूटते नहीं।

'मैं तुम्हें इसका पाठ सुनाऊँगा। तुम मुझे इसे पढ़ा देना।' किसीसे पूछना-सीखना तो उसके स्वभावमें ही

नहीं। मनमानी विधि और उससे मनमाना फल चाहना—सर्वथा असंगत बात है; किंतु किसीका यह स्वभाव ही हो गया हो तो आप उसका क्या कर लेंगे ? आप उसकी सफलता-असफलताके कोई ठेकेदार हैं ?

कहींसे वह एक छोटा-सा चित्र ले आया था। चित्र श्रीकृष्णका था और वह उस चित्रमें जो चित्रित था, उससे—निश्चय ही उससे एक अनुबन्ध कर रहा था। चित्रसे अनुबन्ध नहीं किया जा सकता, इतनी समझ उसमें थी। अब आप पूछें कि चित्रमें जो चित्रित था, उसने ऐसे किसी अनुबन्धकी इच्छा की थी ? उसे ऐसे किसी सौदेकी आवश्यकता थी ? उसने स्वीकृति दी इस अनुबन्धको ? इस सबकी उसने आवश्यकता ही नहीं समझी। उसने अनुबन्ध सुनाया और मान लिया कि वह पक्का हो गया।

आप बुद्धिमान् हैं, विद्वान् हैं, शास्त्रज्ञ हैं। आपसे कोई ऐसा अनुबन्ध करने आये तो उसे फटकारकर भगा देंगे, यह ठीक है। आप ऐसे अनुबन्धकी एकपक्षीयताके कारण उसे सर्वथा अनुचित मान लें, यह योग्य ही है। किंतु आप कदाचित् नहीं जानते कि गोपका बालक इतना चतुर, इतना विद्वान् नहीं हुआ करता। बाबा नन्दका लड़का इस सम्बन्धमें बहुत भोला है। उससे कोई अनुबन्ध—नहीं, वह कहाँ मिलेगा कि आप उससे अनुबन्ध करेंगे। उसको देखा किसने है कि उसका वास्तविक चित्र या मूर्ति बनेगी। किसी चित्र, किसी मूर्तिको आपका मन मान ले कि वह उसका चित्र या मूर्ति है—वह झट 'हाँ' कर देगा। आप कहिये—'यह तू है।' वह यशोदाका लाड़ला इतना सरल है कि झट कह देगा—'हाँ, यह मैं हूँ।'

अनुबन्धकी बात—उस भोले बालकसे अनुबन्ध कर लेना क्या कठिन है। किसी चित्र-मूर्तिके साथ आप अनुबन्ध कर लें। आपका मन पक्का तो अनुबन्ध पक्का।

'यह अनुबन्ध मैंने किया तेरे साथ। स्वीकार है तुझे ?'

यह भी पूछनेकी आवश्यकता कहाँ है। आपने स्वीकार किया तो उसे लगता है कि उसको स्वीकार करना ही पड़ेगा। अस्वीकार करना उसे केवल तब आता है, जब अस्वीकृतिमें आपका सिर हिलता है। कहा न कि वह बालक है—बहुत भोला गोप-बालक, अतः उसे तो केवल अनुकृति आती है। वह आपका अनुकरणमात्र करता है।

उसने उस चित्रमें जो चित्रित था, उससे अनुबन्ध कर लिया। उसने अनुबन्ध कर लिया। अतः अनुबन्ध तो हो गया। पक्का था वह, अतः अनुबन्ध भी पक्का। उसे आवश्यकता थी पढ़नेकी, पाठ सुननेवालेको आवश्यकता थी सुननेकी या नहीं, यह उसने नहीं सोचा। क्या यह सोचना अनावश्यक नहीं है ?

महाग्रन्थका पाठ—एक अध्यायको सामान्य स्वरसे, शीघ्रगतिसे चार-छः मिनटमें पढ़कर सुना देना उसने प्रारम्भ किया उस दिनसे। बस, पढ़कर सुना देना—सुना देनेका ही तो उसने अनुबन्ध किया था। पढ़ा देनेका काम तो पाठ सुननेवालेका था। दूसरेके कर्तव्यका भार वह अपने सिर क्यों ले ? उसने पाठ किया और ग्रन्थ बंद करके धर दिया। वह अर्थ समझकर पाठ करे, पीछे टीका, व्याख्या देखे, पीछे समझनेका प्रयत्न करे—क्यों करे यह सब ? यही सब वह करे तो पढ़ानेवाला क्या करेगा ? उसने यह सब कभी नहीं किया।

आपको कोई ऐसा छात्र मिल जाय तो ? डरिये मत ! ऐसा छात्र अपने योग्य शिक्षक ढूँढ़ लेता है। जैसा गर्विष्ठ, अनुत्तरदायी छात्र, वैसा ही निपट सरल शिक्षक। वह पाठ तो अब भी सुनाता ही जाता है।

'मैं पाठ कहाँ करता हूँ। एक बार किसीने उससे उसके नित्य पाठका प्रयोजन-फल तथा पाठ करनेकी विधि पूछी तो बोला—'मुझे पाठ करनेकी विधि क्यों चाहिये ? मैं तो पाठ सुनाता हूँ। पाठको कोई विधि है तो सुननेवाला उसे कर लिया करेगा।'

उसके पाठ सुननेवालेके लिये कोई विधि कहीं आपको मिली है ?

× × ×

पाठ स्थिर बैठकर, बिना सिर या शरीर हिलाये, स्पष्टोच्चारणपूर्वक किया जाना चाहिये। मौन पाठ, गाकर पाठ, सिर हिलाकर पाठ, अर्थ न समझकर पाठ, अशुद्ध पाठ, आतुरतापूर्वक या उपेक्षासे पाठ—ये दोष हैं पाठ करनेके। ये बातें उसे बहुत पीछे ज्ञात हुईं। वैसे वह पाठ सुनाता है, अतः स्थिर बैठकर, स्पष्ट उचारण करके सुनाता है। मौन पाठ करेगा तो सुनायेगा कैसे ? गायन उसे आता नहीं और पाठ सुनाना है तो शुद्ध पढ़ना चाहिये। अवश्य अर्थ समझनेकी

उसने चिन्ता नहीं की । अर्थ पाठ सुननेवाला समझ ले, यह क्या पर्याप्त नहीं है ?

'मेरे आचार्यजी यह ग्रन्थ पढ़ा नहीं पाते । आप क्या पढ़ा देंगे मुझे ?' एक दिन एक विद्यार्थी आ गया उसके समीप । उच्च कक्षाका एक ग्रन्थ था उसके हाथमें । पता नहीं क्यों विद्यार्थीने उसे विद्वान् समझ लिया था ।

'कलसे आइये । पढ़ा दूँगा ।' बिना हिचके उसने विद्यार्थीको समय दे दिया । जो ग्रन्थ आचार्य नहीं पढ़ा पाते, उसे वह कैसे पढ़ा देगा ? उसने तो उस देवभाषाका कभी श्रीगणेश भी नहीं जाना । किंतु यह सब उसने सोचना आवश्यक नहीं समझा ।

'मैं तुझे वर्षभरसे पाठ सुना रहा हूँ और तू मुझे इतना भी नहीं पढ़ा सका कि यह जरा-सी पुस्तक मैं इसे पढ़ा दूँ ?' बड़ी झल्लाहट—बड़ा क्रोध अन्तरमें उबला ।

जिसे परीक्षा देना था, वह विद्यार्थी तो पढ़ने आता ही । पुस्तक लेकर वह समयसे कुछ पहले आ धमका था । पुस्तक हाथमें ली और खोलकर देखी । कुछ समझमें नहीं आया तो वह झल्ला उठा । नेत्र बंद करके वह मन-ही-मन बिगड़ा—यह कोई बात है कि वह वर्ष भरसे एक अनुबन्धका दृढ़तासे पालन कर रहा है और दूसरा उसके अपने अंशका पालन न करे ! उसका क्रोध अनुचित था, यह कोई कह कैसे देगा ।

'अरे !' उसने दो क्षणमें नेत्र खोले । उसी झल्लाहटमें ही उस पुस्तकके खुले पृष्ठपर दृष्टि गयी और वह चौंक गया। उसने जिससे अनुबन्ध किया है, उसने अपने कर्तव्य-पालनमें तो कहीं भी शिथिलता नहीं की है । व्यर्थ ही उसपर रुष्ट हो रहा था । यह पुस्तक तो वह बड़ी सरलतासे पढ़ा सकता है। पुस्तक पढ़ानेमें जुट गया वह । मत कहिये कि उसने पढ़ा नहीं । उसको पढ़ानेवाला अद्भुत है, केवल यह आप कह सकते हैं ।

× × ×

'रामायण, गीता, भागवत तो कल्पवृक्ष हैं ! एक महापुरुषने एक बार कहा—'ये ग्रन्थ नहीं हैं । ये तो भगवान्‌के साक्षात् स्वरूप हैं ! उनका वाङ्मय श्रीविग्रह इन रूपोंमें है । जो जिस इच्छासे इनका आश्रय लेता है, उसकी वह इच्छा इनसे पूर्ण होती है ।'

इस विवरणके संदर्भमें महापुरुषका यह वाक्य सहज स्मरण हो आया । कल्पवृक्षका आश्रय—अच्छा, उसने कल्पवृक्षका आश्रय लिया तो आपके लिये भी तो वह कल्पवृक्ष अलभ्य नहीं है ।

मनको प्रबोध

मन करि ले साहिब से प्रीत ।
सरन आये सो सब ही उबरे, ऐसी उन की रीत ॥
सुंदर देह देखि मत भूलो, जैसे तृन पर सीत ।
काँची देह गिरै आखिर को, ज्यों बारू की भीत ॥
ऐसो जन्म बहुरि नहिं पैहौ, जात उमिरि सब बीत ।
दास कबीर चढ़े गढ़ ऊपर, देव नगारा जीत ॥

—संत कबीर

हिंदूधर्म उपयोगी जीवन-तत्त्वोंको महत्त्व देता है !

(लेखक—डॉक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

हिंदूधर्ममें उपयोगी कर्मोंको स्थान दिया गया है !

संसारमें सैकड़ों धर्म हैं । उनके भिन्न-भिन्न आधार और पृथक्-पृथक् मान्यताएँ हैं । जब हम इन धर्मोंकी तुलना सनातन हिंदूधर्मकी विविध मान्यताओंसे करते हैं तो एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात पाते हैं । वह यह है कि हिंदूधर्म उपयोगितावादके आधारपर खड़ा किया गया है । प्राचीन हिंदू विचारकों, चिन्तकों, विद्वानों और आचार्योंने अपना-अपना दीर्घ अनुभव, गहन अध्ययन, सूक्ष्म अवलोकन और मौलिक उपयोगी चिन्तन हिंदूधर्ममें भर दिया है, केवल लाभदायक और कल्याणकारी बातोंको धर्ममें स्थान दिया है ।

जहाँ और धर्मोंके तत्त्वों, मान्यताओं और रीति-रिवाजोंका अर्थ और अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता, वहाँ हिंदू धार्मिक मान्यताओंका कोई-न-कोई उपयोगी तात्पर्य है । उसमें कोई-न-कोई लाभदायक तत्त्व छिपा हुआ है ।

यह धर्म केवल बाह्य ढकोसलों और मिथ्या प्रदर्शनको कोई महत्त्व नहीं देता; इसमें सर्वत्र बुद्धि और स्वस्थ चिन्तनकी प्रधानता रही है । ऐसी-ऐसी उपयोगी सूक्तियाँ और लाभदायक श्लोक भरे पड़े हैं, जिनसे स्वच्छ मन, स्वस्थ शरीर और समुन्नत समाज बनता है । हमारी प्राचीन पुस्तकों, विशेषतः वेदोंमें परमात्मा और उनकी उपासना, आत्मशक्तिका विकास, चरित्र-निर्माण, सदाचार, मनोनिग्रह, सत्सङ्ग-जैसे वैयक्तिक साधनाके लिये उपयोगी विषयोंसे लेकर समाज और राष्ट्रकी सर्वाङ्गीण उन्नतिको भी ध्यानमें रखा गया है । विवाह, सुखी गृहस्थजीवन, नारी-गौरव, दोष-निवारण, स्वास्थ्य और आरोग्य, दुर्गुणोंका निषेध आदि अनेक ऐसे उपयोगी तत्त्वोंको धर्ममें सम्मिलित किया गया है, जिनसे लाभ-ही-लाभ हैं ।

हिंदूधर्म हर प्रकार फायदेमन्द जीवन-पद्धति है !

हिंदू मनीषियोंकी यही इच्छा रही है कि वे तत्त्व, कर्म, पूजा-पद्धतियाँ, प्रार्थनाएँ, व्यायाम, रीति-रिवाज, मान्यताएँ, विचारधाराएँ धर्ममें शामिल की जायँ, जिनसे व्यक्ति और समाजकी सामाजिक, वैयक्तिक, आरोग्यसम्बन्धी और आध्यात्मिक—हर प्रकारकी उन्नति जीवनके अन्त० तक होती रहे । हिंदूलोग हर दृष्टिसे संसारमें स्वस्थ, दीर्घजीवी, संयमी, समुन्नत और प्रगतिशील रहें । जो बात उन्हें मानवजीवन और समाजके लिये उपयोगी और फायदेमन्द जान पड़ी, उसीको धर्मके अंदर स्थान दे दिया गया, जिससे हिंदूमात्र उसे निश्चयरूपसे अपना लें और लाभ उठाते रहें । हिंदूधर्मके आचार, सोलह संस्कार, विविध पर्व-त्योहारोंमें कुछ-न-कुछ वैज्ञानिक लाभका दृष्टिकोण ही प्रधान रहा है । देवमूर्तियोंमें प्रतीकपद्धतिसे काम लिया गया है । प्रत्येक देवताका कुछ गूढ़ सांकेतिक मतलब रखा गया है । अवतारोंका भी सांकेतिक अर्थ छिपा हुआ है ।

प्राचीन कालमें हिंदूपूजापद्धति, वेदोंकी सूक्तियों, ऋचाओं, देवी-देवताओं, त्योहारों, मूर्तियों और धर्म-ग्रन्थोंको प्रबुद्ध जनता समझती थी, वैदिक मन्त्र जनताकी जबानपर थे, संस्कृत-जैसी देववाणी हमारी मातृभाषा थी । खेद है कि आज संस्कृत न समझ सकनेसे हमारा सब धार्मिक ज्ञान कुछ इने-गिने विद्वानोंकी ही वस्तु बन गया है । जनता संस्कृतको समझ नहीं पाती । इसलिये व्यर्थके अन्धविश्वास, गलत धारणाएँ, मूढ़ताएँ और मूर्खताएँ धर्मके क्षेत्रमें घुस बैठी हैं, जिन्हें जन-मनसे निकालनेकी बड़ी आवश्यकता है ।

हमारा धर्म उपयोगिता और फायदेकी दृष्टिसे क्या-क्या कहता है? किस कर्मकाण्डसे क्या फायदा है? यह बड़ा लंबा विषय है। यहाँ केवल कुछ आचार, संस्कार और त्योहारोंकी उपयोगितापर विचार किया जा सकता है।

हिंदूधर्ममें स्वास्थ्य-सम्बन्धी उपयोगी तत्त्व

हिंदूधर्म स्वस्थ शरीरको समस्त धर्मका जड़, आधार मानकर चलता है। स्वस्थ शरीरवाला व्यक्ति ही सही रूपमें धर्मनिष्ठ जीवन व्यतीतकर पूरी आयुका सुख भोग ले सकता और समाजको उससे पूरा लाभ दे सकता है। निर्बल, रोगी, विकृत और अस्वस्थ शरीरवाला व्यक्ति धर्मके निगूढ़ मर्मको क्या समझेगा।

इसलिये हमारे यहाँ मनुष्य-जीवनकी सौ वर्षकी मर्यादा बाँध दी गयी है।

जीवनशक्तिको सम्हालकर खर्च करो—

शतं जीव शरदो वर्धमानः।

(अथर्ववेद ३।११।४)

अर्थात् हिंदुओ! सौ वर्षोंतक उन्नतिशील समृद्धिपूर्ण जीवन जीओ। यह जीवनशक्ति बड़ी सावधानीसे खर्च करनेके लिये आपको दी गयी है। अपनी जीवन-शक्तिको ऐसे संयम और विवेकसे खर्च करो कि पूरे सौ वर्षोंतक जी सको। इस अवधिसे पूर्व तुम्हें निर्बल नहीं होना चाहिये।

शरीरको सुदृढ़ बनाओ

स्वयं तन्वं वर्धस्व।

(ऋग्वेद ७।८।५)

अर्थात् अपने शरीरको निरन्तर बलवान् बनाओ। शक्तिमान् शरीरमें ही बलवान् आत्मा निवास करती है। उसीसे समस्त धर्म-कर्म पूर्ण हो सकते हैं। यदि शरीर बलवान् नहीं है तो वास्तवमें कुछ भी नहीं है। उन्नतिशील जीवनके लिये शारीरिक शक्ति भी बढ़ानेकी अतीव आवश्यकता है, यह कभी न भूलो।

अश्मानं तन्वं कृधि।

(अथर्ववेद १।२।२)

अर्थात् अपने शरीरको पत्थर-जैसा सुदृढ़ बनाओ। मजबूत शरीर ही धर्मके कठोर जीवनको निभा सकता है। जो निर्बल और निर्वीर्य है, अशक्त और कमजोर है, वह धर्मके मार्गपर गिर पड़ता है। श्रम और तितिक्षासे ही शरीर धर्मके लिये मजबूत बनता है।

वर्च आ धेहि मे तन्वां सह ओजो वयो बलम्।

(अथर्ववेद १९।३७।२)

अर्थात् धर्म चाहते हो, उद्धार और शान्ति चाहते हो, जिंदगीको सफल करना चाहते हो तो अपने शरीरमें तेज, साहस, ओज, आयुष्य और बलकी वृद्धि करते रहो।

शरीर ईश्वरका मन्दिर है

आपकी यह देह हाड़-मांसका लोथड़ा नहीं, हेय या घृणाकी वस्तु नहीं, उपेक्षाकी चीज नहीं, प्रत्युत ईश्वरका पवित्र मन्दिर है। आत्माके रूपमें स्वयं ईश्वर इसमें निवास करते हैं। ईश्वरका निवास होनेसे यह परम पवित्र है। इसके पूरे ध्यान और देख-भालकी आवश्यकता है। अपने शरीरको भगवान्का पवित्र मन्दिर समझकर उसकी पूर्ण सार-सँभाल, देख-भाल और रक्षाका ध्यान रक्खो। शरीरकी सुरक्षा हमारे धर्मका प्रथम अङ्ग है।

कुछ लोग केवल शरीरकी ही देख-भाल और शक्ति बढ़ानेमें सदा लगे रहते हैं। यह ठीक नहीं है। केवल शरीर ही बढ़ता रहे, मन-आत्मा और ज्ञानका ध्यान न रहे तो उद्दण्डता आती है। यह उद्दण्डता त्याग देनी चाहिये। इस ओर सावधान करते हुए लिखा गया है—

दृंहस्व मा ह्वाः। (यजुर्वेद १।९)

अर्थात् सुदृढ़ तो बनो, पर उद्दण्ड कदापि नहीं। स्वास्थ्यको सुधारो, पर अपनी शारीरिक शक्तिसे निर्बलोंको न सताओ। पापमें प्रवृत्त न हो जाओ, यह ध्यान रक्खो।

खान-पानमें सावधानियाँ रखिये

हिंदूधर्ममें भक्ष्य-अभक्ष्यका सर्वाधिक ध्यान रक्खा गया है। अभक्ष्य पदार्थों (जैसे मांसाहार, शराब, धूम्रपान, बासी पदार्थ, गरिष्ठ, तामसी भोजन, नशेबाजी, मादक पदार्थ, चटोरापन) का पूर्ण निषेध है। कहा है—

विश्वं समत्रिणं दह। (ऋग्वेद १। ३६। १४)

सर्वभक्षी (भक्ष्य-अभक्ष्यका विवेक न करनेवाले) लोग रोगोंकी अग्निमें जलते हैं। पृथ्वीपर ही नरकका दुःख भोगते हैं। भक्ष्य-अभक्ष्यका ध्यान न रखनेवाले मूर्ख लोग बीमार और अल्पायु पाते हैं।

स्वादो पितो मधो पितो वयं त्वा ववृमहे अस्माकमविता भव॥

(ऋग्वेद १। १८७। २)

अर्थात् हिंदूको ऐसा आहार करना चाहिये जो मधुर रसयुक्त स्वादिष्ट अन्नसे आयुर्वेदकी रीतिसे बनाया गया हो। उन्नतिशील व्यक्तिको वही शाकाहार करना चाहिये, जो रोग नष्टकर आयुबलकी रक्षा करता हो। तीखे, कसैले, बासी-बुसा और मांस आदिका प्रयोग घृणित होता है।

हमारा आहार ऐसा हो, जिससे हमारी बुद्धि, अवस्था और बलमें निरन्तर वृद्धि होती रहे।

सूर्य और वायु भी देवता-तुल्य

हमारे यहाँ ब्राह्म मुहूर्तमें शय्या त्यागकर शौचादिसे निवृत्त हो सूर्यको अर्घ्य देना धर्मका अङ्ग माना गया है। स्वास्थ्य और दीर्घ जीवनके लिये यह अतीव उपकारी काम है। कहा है—

यदद्य सूर उदितोऽनागा मित्रो अर्यमा सुवाति सविता भगः॥

(सामवेद १३। ५१)

प्रातःकालीन प्राणदायिनी वायु सूर्योदयके पूर्वतक निर्दोष रहती है। अतः प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर प्राणप्रद वायुका सेवन करना धर्मका अङ्ग है। इससे उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त होता है और आरोग्य स्थिर रहता है। धनकी प्राप्ति होती है।

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा स नो जीवातवे कृधि॥

(सामवेद १८। ४१)

वायु जीवन है, आरोग्यदाता है। अतः प्रातःकाल उठकर प्राणदायक वायु नियमित सेवन करें। यह पिता, भाई और मित्रके समान सुख देता है।

ब्रह्मचर्यका अत्यधिक महत्त्व रखा गया है

ऋजीते परि वृङ्धि नोऽश्मा भवतु नस्तनूः।
सोमोऽअधि ब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु॥

(यजुर्वेद २९। ४९)

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य पृथ्वीमें अपना घर बनाकर निवास करता है, उसी प्रकार शरीर भी जीवात्माका घर है। अतः इसे ब्रह्मचर्य, सात्त्विक अन्न, पथ्य और संयमद्वारा सदैव स्वस्थ एवं नीरोग रक्खे। शरीरको स्वस्थ रखना धर्म है।

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरोऽअर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन॥

(यजुर्वेद ३५। १५)

परमात्माने मनुष्यकी आयु सौ वर्षोंसे भी अधिक बनायी है। इसलिये मनुष्य संयम और ब्रह्मचर्यसे रहे और अकालमें ही मृत्युको प्राप्त न हो।

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा।
विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे॥

(अथर्ववेद २। ४। ४)

मैं व्यायामके द्वारा रक्त-शोषण करनेवाले सभी रोगोंके कीटाणुओंको और बुरे विचारोंको दूर रक्खूँ और ब्रह्मचर्यके द्वारा अपनी शक्तियोंको अपने शरीरमें बनाये रक्खूँ। स्वास्थ्य-रक्षाके लिये ब्रह्मचर्य और व्यायाम दोनोंका ही पालन करता रहूँ।

ब्रह्मचर्यसे वीर्य-रक्षा होती है। यह वीर्य ही जीवन है, वीर्यनाश ही मृत्यु है। एक संतान प्राप्त हो जानेके बाद विवाहितोंके लिये भी ब्रह्मचर्यका पालन करना उचित माना गया है। वीर्य-रक्षण ही धर्म है। इससे समस्त इन्द्रियाँ वशमें रहती हैं।

प्रातःस्नानका विज्ञान

शरीर-शुद्धिसे मन और आत्माकी शुद्धि होती है। मन ईश्वरमें लगता है। जलके शरीरपर डालनेसे भीतर शान्ति और संतुलन उत्पन्न होता है। भीतर और बाहरके हानिकारक कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप तेज, बल, शौच, आयु, आरोग्य, लोभहीनता, दुःस्वप्ननाश, तप, मेधा—इन दस गुणोंका लाभ होता है। स्नानको हिंदुओंने सर्वाधिक महत्त्व दिया है। यह वाह्य शुद्धिका साधन है। हमारे यहाँ गङ्गाजी, यमुनाजी, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु, कावेरी इत्यादिमें स्नान करना धर्मका अङ्ग है। स्नान करते हुए हिंदू भक्त इन सब नदियोंका स्मरण करता है। ये नदियाँ भारतके चारों कोनोंपर हैं। इस तरह भारतकी अखण्डता और भावात्मक एकताको भी कायम रखनेकी कोशिश की गयी है। इन नदियोंके जलमें रासायनिक गुण भरे पड़े हैं, जिनसे स्वास्थ्य और दीर्घजीवन प्राप्त होता है, वाह्य और अन्तरकी शुद्धि होती है।

तीर्थ-स्थानका विज्ञान

भारतमें अनेक हिंदू तीर्थोंका विधान है। ये तीर्थ हिंदुस्थानके चारों किनारोंपर रक्खे गये हैं। कुछ तीर्थ पर्वतीय स्थानोंपर हैं। वहाँ प्रकृतिका बड़ा ही मनोरम और स्वास्थ्यप्रद वातावरण है। इन पर्वतोंमें लाभदायक ओषधियाँ और शुद्ध वायु है। सूर्यकी किरणोंसे यहाँ पवित्रता आती है। हमारे तीर्थ गङ्गा-यमुना आदि सरिताओंके तटपर हैं। गङ्गाजलमें अनेक रासायनिक तत्त्वोंका गुणकारी सम्मिश्रण है। यह शरीर और स्वास्थ्यके लिये लाभदायक है। इन तीर्थोंपर सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रोंकी गुणकारी किरणें भी रासायनिक प्रभाव डालती हैं। वृद्धावस्थामें तीर्थोंमें घूमने-फिरनेसे खूब टहलना होता है, शुद्ध वायु मिलती है और हल्का व्यायाम भी हो जाता है। वृद्धका जीवन सौ वर्षोंका हो जाता है। उसे रहनेको आध्यात्मिक वातावरण मिलता है।

तुलसीपत्रकी पवित्रता

तुलसीके वृक्षमें स्वास्थ्यरक्षा, बीमारियोंको दूर करने और विषैले कृमियोंके प्रभावको नष्ट करनेके रासायनिक गुण हैं। मलेरिया ज्वरमें यह दूषित कृमियोंको नष्ट करता है। आस-पासका वातावरण शुद्ध करता है। उसकी गन्धसे बीमारियाँ पास नहीं आतीं। मरणकी निकटतामें तुलसी-मिश्रित गङ्गाजल पिलाया जाता है। इससे मृत्यु-बाधा दूर होनेका विश्वास है। आजके वैज्ञानिक तुलसीके रासायनिक गुणोंपर पर्याप्त खोज कर रहे हैं। डाक्टरोंका निष्कर्ष है कि इस अमृतोपम पौधेके उपयोगसे कफ हटता है, मूत्रावरोध दूर होता है, पाचन-क्रिया दुरुस्त होती है, रक्तशुद्धि होती है। श्वास, निमोनिया, शीत-ज्वर, मूत्र-विकारमें तुलसी अतीव गुणकारी है। इन गुणोंसे जनताको लाभान्वित करनेके लिये चतुर हिंदुओंने इस पौधेको धर्ममें स्थान दिया है।

श्रीगङ्गाजलकी वैज्ञानिकता

हिंदूजातिने विशेष पर्वोंपर गङ्गा-स्नानके लिये जाना आत्मिक शुद्धिका साधन माना है, पर आयुर्वेद और वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे प्रतीत हुआ है कि यह स्वच्छ और

निर्मल जल, जो ऊँचे-ऊँचे पर्वतोंसे आता है, शरीर-पोषणके लिये बड़ा उपयोगी है। गङ्गा-जलमें शारीरिक शक्ति-वृद्धिकी अद्भुत शक्ति है, रोगियोंके लिये टानिक-जैसा फायदेमन्द है। यह बर्फीला जल पीने और स्नान करनेसे शरीरमें ताकत आती है, अजीर्ण रोग, ज्वर, संग्रहणी, तपेदिक, दमा इत्यादि रोग नष्ट हो जाते हैं। मस्तकके समस्त रोगों तथा चर्मरोगोंका नाश होता है। गङ्गाजल चाहे कितने ही दिनों रक्खा रहे, दूषित नहीं होता, उसमें कीड़े नहीं पड़ते।

हिंदूधर्म एक उपयोगी धर्म है

ऊपर कुछ मान्यताएँ दिखायी गयी हैं, जिनसे हिंदूधर्मकी वैज्ञानिकता स्पष्ट हो जाती है। एक नहीं, अनेकों ऐसी मान्यताएँ हैं, जो विशुद्ध वैज्ञानिकतापर आधारित हैं तथा जिनसे आध्यात्मिक लाभके अलावा अनेक स्वास्थ्य, यौवन और सांसारिक प्रत्यक्ष लाभ हैं। प्रातःसे सायंतकके निश्चित वैज्ञानिक आचार हैं, जिनके पालन करनेमें फायदा-ही-फायदा है। आहारशुद्धि, मौन-विज्ञान, बाजारू अन्न खानेका निषेध, उपवास एवं एकादशी-व्रत, विशेष तिथियोंमें उपवास, गायका दूध पीनेसे लाभ, घृतदीपक-विज्ञान, शयनके समय दिशाका विचार, परलोक-वाद, अस्पृश्यता-विज्ञान आदि हमारे समग्र विश्वास और मान्यताएँ विशुद्ध वैज्ञानिकता-पर आधारित हैं। हमें चाहिये कि पूरे विश्वास और उत्साहके साथ इनका फायदा देखते हुए पालन करें। इनके पालनसे धार्मिक लाभ तो होगा ही, प्रत्यक्ष स्वास्थ्य और सांसारिक लाभ भी अनुभव करेंगे।

श्रीरामके आदर्श उपदेश और चरित्र

(लेखक—श्रीबल्लभदासजी बिन्नानी 'ब्रजेश', साहित्यरत्न, साहित्यालंकार)

मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने नरावतार धारणकर जो मर्यादा स्थापित की, वह सबके लिये अनुकरणीय है। आज हम उन्हीं सर्वेश्वरके लौकिक चरित्रोंसे तुलसीकृत रामायणकी चौपाइयोंद्वारा पाठकोंको शिक्षा ग्रहण करनेके लिये अनुरोध करते हैं।

मातृपितृ-भक्ति—जब रघुनाथजी कैकेयीके सम्मुख गये हैं, तब उनकी नम्रता और मातृ-स्नेहका सच्चा आदर्श सामने आ जाता है। यद्यपि कैकेयीके भाव कुभाव थे और वह विमाता भी थी; तथापि रामचन्द्रके ये मधुर वचन—

चारि पदारथ करतल ताकें। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें॥
सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥

—पूर्ण मातृभक्तिके द्योतक हैं। भगवान्ने माता-पिताका आज्ञापालन करनेके लिये ही हर्षपूर्वक वनवास किया था।

नम्रता—परशुरामजीके क्रोधके सामने आपने कहा है—

कर कुठारु आगें यह सीसा॥ छमहु बिप्र अपराध हमारे॥
जेहिं रिस जाइ करिअ सोइ स्वामी। मोहि जानिअ आपन अनुगामी॥

भ्रातृ-प्रेम—की तो आप साक्षात् मूर्ति थे। सप्रेम बाल्य-क्रीडा, भरत-मिलाप, लक्ष्मणके साथ बर्ताव और—

'भयउ न भुवन भरत सम भाई।' 'मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता॥'

—अनुकरणीय हैं।

सेवा-प्रतिफल—ही के कारण अगणित अधम पामर रामलोकका आनन्द उपभोग करते हैं। आजकलके कलियुगी धनिकोंकी तरह 'गदहा-घोड़ा' एक दर करके कृतघ्नता नहीं करते थे। आपने यथायोग्य सेवाका फल दिया है और देते हैं। हनुमान्‌जीकी सेवासे प्रसन्न हो भगवान् कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥

यही कारण है कि हनुमान्‌जीकी मूर्ति प्रत्येक राम-मन्दिरमें अवश्य विराजमान होती है।

नीति-कुशल और दृढ-प्रतिज्ञ—बने, इसीलिये आपने सीताका परित्याग करके समुद्रपर शिला-सेतु रच, अङ्गदको राज्य दे, वालीको बाण मार, प्रबल राक्षसोंका हनन करके, भूभार उतारनेके और भी अनेकों उदाहरण दिखलाये हैं।

जौं अनीति कछु भाखौं भाई। तौ मोहि बरजेहु भय बिसराई ॥

मित्रता—कैसी मित्रता करनी चाहिये—इसका प्रमाण सुग्रीव है। कहा है—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी ॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्र क दुख रज मेरु समाना ॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा ॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई ॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा ॥
आगें कह मृदु बचन बनाई। पाछें अनहित मन कुटिलाई ॥
जा कर चित अहि गति सम भाई। अस कुमित्र परिहरेहिं भलाई ॥
सेवक सठ नृप कृपन कुनारी। कपटी मित्र सूल सम चारी ॥

व्यभिचार—न बढ़े, इसके लिये आपने बालीको सम्बोधन करके—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ ए कन्या सम चारी ॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधें कछु पाप न होई ॥

इस रूपमें जो उपदेश दिया है, वह स्वर्णाक्षरोंमें लिखने योग्य है।

शरणागत-रक्षा—करना तो आपका काम ही है। विभीषण शत्रुपक्षका राक्षस था; पर जब वह शरणमें चला आया तब भगवान्‌ने उसे विमुख नहीं किया। कहा—

मम पन सरनागत भय हारी ॥
जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं ॥
कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू ॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥
पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ ॥
जौं पै दुष्टहृदय सोइ होई। मोरें सनमुख आव कि सोई ॥
निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥
जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही ॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना ॥
जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं ॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धन जैसें ॥

दो०—सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पावँर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि ॥

सुलोचनाने जब मेघनादके सिरकी याचना की, तब श्रीरामने शत्रुकी पत्नी है—यह सोचकर उसे विमुख नहीं किया, किंतु प्रसन्न हो अपना व्रत पालनेके लिये बोले—

देउ जिवाय तोर पति आजू। करहु लंक कलपसत राजू ॥

वीरता—के सम्बन्धमें तो कहना ही व्यर्थ है। क्षत्रियोंके लिये—

छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुल कलंक तेहिं पावँर आना ॥
कहउँ सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी ॥

सत्य और वचन-पालन—के आपके यह वाक्य—

प्रान जाहिं बरु बचन न जाहीं ॥
धरम न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना ॥

—यह आदर्श शिक्षा हृदयमें रखने योग्य है।

आदर्श प्रजापालन—में तो रामराज्यकी लोकोक्ति ही अलम् है।

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥

स्त्रियोंके धर्मसम्बन्धमें आप कहते हैं—

एहि ते अधिक धर्म नहिं दूजा। सादर सासु ससुर पद पूजा ॥
मन क्रम वचन पतिहि सेवकाई। तिय हित यहि सम अस न उपाई ॥
अस जियँ जानि करहिं पति सेवा। तिन्ह पर सानुकूल मुनि देवा ॥

धर्म-पालन—करनेमें कोई आलस्य न करे, इसलिये आप उदाहरण देते हैं—

सिवि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धर्म हित कोटि कलेसा ॥
रंति देव बलि भूप सुजाना। धर्म धरेहु सहि संकट नाना ॥

'परोपकाराय सतां विभूतयः'

परोपकार करना ही मनुष्यत्व और धर्म है। कहते हैं—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहउँ तात जानहिं कोबिद नर ॥
नर सरीर धरि जो पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भवभीरा ॥

इन उपदेशोंके सिवा शिलापर बैठे भगवान् लक्ष्मणके तुलसीकृत रामायणके किष्किन्धाकाण्डमें ऋतु-वर्णन, अरण्यकाण्डमें संतोंके गुणकथन, उत्तरकाण्डमें संत-असंतोंके लक्षण और उपदेश अवश्य मनन करने योग्य हैं।

आशा है कि 'श्रीरामनामामृत' के पाठक भगवान्‌के उपदेशामृतका पान कर अपनेको धन्य और अमर बनायेंगे।

श्रीरामनाम-विवेचन—अनेकों नाम हैं। चाहे आप जिस नामका जप करें, कल्याण ही होगा। राम, सीताराम, रघुनाथ, सियाराम, श्रीराम, श्रीराम, राम, राम, श्रीसीताराम सीताराम—जिसकी जैसी प्रीति है कहते हैं। अयोध्यावासी सीताराम इसलिये कहते हैं कि युगल जोड़ीका स्मरण करना चाहिये। हम भी सीतासहित नाम जपनेके पक्षपाती हैं। इसीसे रामके पहले श्री 'अर्थात् सीतायुक्त श्रीराम' नाम छापा है। सदाशिवसंहिता २०वें अध्यायमें आये—

रामनाम्नि स्थितो रेफो जानकी तेन कथ्यते।
रकारेण तु विज्ञेयः श्रीरामः पुरुषोत्तमः॥
अकारेण तु विज्ञेयो भरतो विश्वपालकः।
व्यञ्जनेन मकारेण लक्ष्मणेन निगद्यते॥
ह्रस्वाकारेण निगमैः शत्रुघ्नः समुदाहृतः।

नृसिंहपुराणमें नारदजी याज्ञवल्क्यजीसे कहते हैं—

रामनामार्थमध्ये तु साक्षात् सीतापदं प्रियम्।
विज्ञानागोचरं नित्यं मुने श्रीरामवैभवम्॥

—प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि 'श्रीराम' इस नाममें सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्नका समावेश है। अतएव मनुष्यको निस्संकोच श्रीराम-नामका जप एवं प्रचार करके जीवन सफल करना चाहिये।

समाजका प्रबन्धकर्ता कौन हो ?

(लेखक—श्रीसीताशरणजी, बी० एस-सी०)

यदि किसी शराबी, पागल अथवा अज्ञानीके हाथमें एक बंदूक दे दी जाय, तब कौन-सा दृश्य नजर आयेगा ? वह किसी बातकी परवा किये बिना ही अपने इलाकेकी शान्ति बिगाड़ देगा। लोगोंका राह चलना बंद हो जायगा। कोई घरसे न निकल सकेगा। जो समाजका रास्ता है, बाजार है, उसपर वह शराबी ऐसा बेहोश घूमेगा कि किसीको भी न बाजार जानेकी हिम्मत होगी न बच्चोंको स्कूल भेजनेकी। यदि इस बंदूकको लेकर वह किसीके घरमें घुस जाय और घरके रहनेवालोंसे उनकी चीज जबरदस्ती लेने लगे, उनके साथ बुरा व्यवहार करने लगे, तब !

क्या आपने कभी सुना है कि वास्तवमें एक पिता अपने बच्चोंको, मा अपनी संतानको, बराबर नजरसे न देखती हो ? माके पास जो भी होता है, अपने बच्चोंको समान भावसे बराबर-बराबर बाँटती है। मापर बच्चोंका समान हक होता है, उसी प्रकार भारतमातापर प्रत्येक व्यक्तिका समान हक है।

यदि आपके घरकी रखवालीके लिये एक कुत्ता है, वह अपना हक भोजन लेता है, बदलेमें रात-दिन आपकी चौकीदारी करता है। चौकीदारी क्या करता है ? कोई चोर-अजनबी आपके घर घूमता है, तब वह भूँककर आपको चौकन्ना कर देता है। कोई बाहरी जानवर आपके घरमें घुस जाता है और बगियाकी मकईको नष्ट करता है, तब वही कुत्ता जानवरसे आपके सामानकी रक्षा करता है। यह कितना बढ़िया काम है !

गाँवकी रखवाली भी चौकीदार करता है। यदि यह चौकीदार भ्रष्ट, दुश्चरित्र, चोर, खूनी, लोभी हो जाय, तब क्या होगा ? वह आपके और आपके सामानोंका रक्षकके बदले भक्षक बन जायगा। यदि चौकीदारका दिमाग खराब हो जाय, तब क्या कीजियेगा ? क्या आपके रक्षकको सच्चरित्र, शुद्ध, विश्वासी और सेवक नहीं होना चाहिये ? क्या आप कभी चाहेंगे कि चौकीदार बेहोश, शराबी, जुआरी, बदमाश, गुंडा हो ? नहीं। आप चाहेंगे कि चौकीदार अच्छा तथा नेक आदमी हो। जैसे आप अपने घरकी रक्षामें लगे उसी कुत्तेको अच्छा कहेंगे, जो दूसरेका फेंका मांस लालचवश न खाकर पहरेपर डटा रहे। क्या आप उस कुत्तेको कभी अच्छा मानेंगे, जो चोरके फेंके हुए मांसमें उलझ जाय और अपनी चौकीदारी भूल जाय ?

इसी भाँति किसी पंचायतका चौकीदार भी तो सबके लिये है। गाँवमें चौदह सौ जनता है; तब चौकीदारका कर्तव्य क्या है ? चौदह सौकी रक्षा करना। उस समय आप यह नहीं कहते कि चौकीदार इस जातिकी रक्षा करे, उस जातिकी नहीं।

जब आपके गाँवमें बाढ़ या अकालका प्रकोप होता है, तब प्रकृतिकी माया किसको छोड़ती है और किसको नहीं छोड़ती ? किसी जाति-विशेषके प्रति वह कृपालु नहीं होती। प्रकृति, ईश्वर, भाग्य, मृत्यु, जीवन, राज्य, संसार, समाज एवं सरकारके सम्मुख सभी बराबर हैं। फिर इस

पृथ्वीपर भी सभी मनुष्योंको बराबर मौका मिलना चाहिये। क्या चौकीदार भी कहीं पक्षपात करता है ?

घरके भीतर पिताजीको कौन-सा स्थान है ? वे बच्चोंके हितमें उनकी रक्षा ही तो करते हैं। वे भोजन, वस्त्र, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा घरकी यथायोग्य ठीक व्यवस्था करते हैं। वे ही तो घरके भीतरका झगड़ा सलटाते हैं तथा सबको आशीर्वाद देते हैं। क्या वे पक्षपात करते हैं ? प्रत्येक माता-पिता अपने घरमें न्याय करते हैं; तभी तो आप उन्हें गार्जियन भी कहते हैं।

पंचायतमें आप सभी पंचायतवासी एक ऐसे प्रबन्धकर्ता (इंतजाम करनेवाले) को चुनते हैं, जो पंचायतकी देख-भाल, न्याय, व्यवस्था—खासकर अन्न, तेल, पानी, उद्योग, कर्ज, मदद, यातायातकी ठीक व्यवस्था करे। प्रत्येक नागरिक, पंचायतवासी, जो बालिग है, उनको चुननेका या वोट देनेका अधिकार दिया गया है। पंचायतवासी अपनी पंचायतकी देखभाल करनेके लिये एक मुखिया चुनते हैं। मुखिया कौन हो ? 'मुखिया मुख सो चाहिऐ, खान पान कहुँ एक।' मुखिया भी तो 'गार्जियन' है, चौकीदार है। क्या आप मानते हैं कि उनके हाथमें तराजू होना चाहिये अर्थात् न्याय ? समदृष्टि ? क्या उन्हें प्रत्येक पंचायतवासीके हितमें सोचना है ?

आपके हाथमें कुछ अधिकार है। आप अपने घरके लिये पहरेदार अपने मनसे चुन सकते हैं। क्या आप कभी एक अयोग्य, दुश्चरित्र, ऐयाश, चोर या खूनीको अपना पहरेदार बनायेंगे ? यदि आप ऐसा निश्चय अपने हाथों करेंगे तो यह एक प्रकारसे अपनी आत्महत्या करना होगा। इस अवस्थामें आप आत्महन्ता कहे जायँगे। कारण, जब आप सोये रहेंगे, तब यह पहरेदार आपके सामानोंको चुरा ले, आपकी गैयाको, बच्चोंको उड़ाकर पार कर दे अथवा आपके घरपर हक जमानेके लिये आपको ही समाप्त कर डाले। इसलिये आप अपने चौकीदार, मुखिया अथवा सामाजिक गार्जियनको बहुत सोच-समझकर चुनिये। घरके पहरेदारको घरके सभी निवासियोंकी रक्षा करनी है। गाँवके पहरेदारको गाँवके सभी निवासियोंकी, पंचायतके चौकीदार और मुखियाको पंचायतके सभी निवासियोंकी तथा राष्ट्रके पहरेदार अथवा देशके नेताको राष्ट्रके प्रत्येक निवासीकी रक्षा करनी है। किंतु क्या पहरेदार, चौकीदार, मुखिया अथवा गार्जियन ही आपकी रक्षा करेंगे ? क्या आपको अपनी सँभाल, रक्षा और सुख-सुविधाके लिये स्वयं कुछ भी कर्तव्य नहीं करना है ? भोजनके लिये स्वयं कर्म करना है, खेतीकी पैदावार स्वयं बढ़ानी है, स्वयंको सुशिक्षित बनना है तथा बच्चोंको शिक्षित बनाना है तथा अपने मकान, वस्त्र तथा स्वास्थ्यकी रक्षाके लिये खुदको परिश्रमी बनना है। चौकीदार तो आपकी उपलब्धियोंकी रक्षाके लिये है। हाँ, आपको जब अपने उचित लक्ष्योंकी प्राप्तिके मार्गमें बाधाएँ आती हैं, तब 'गार्जियन' या नेताका काम है, वह आपके मार्गकी बाधाओंको हटानेमें सहायता करे।

बाधाओंको हटानेके लिये ही प्रबन्धकर्ता—व्यवस्थापक (इंतजाम करनेवाले) की आवश्यकता है। पहरेदार चाहिये, गार्जियन चाहिये, मुखिया चाहिये, सरकार चाहिये तथा नेता चाहिये। इन महान् पदाधिकारियोंको सभीपर समान ध्यान देना होगा। सूर्य सम्पूर्ण पृथ्वीकी ठिठुरण हटाता है, धरतीपरके सभी प्राणी, जाति एवं देशको समान भावसे प्रकाश देता है। नेताको पूरे राष्ट्र अथवा क्षेत्रपर समान दृष्टि रखनी है। आपको चुनावके समय ही देख लेना है कि कौन न्यायप्रिय है, समदृष्टि है, योग्य है, चरित्रवान् है एवं पवित्र है। यदि आप ऐसा नहीं करेंगे तो आप अपने हाथों ही अपने पैरपर कुल्हाड़ी मार लेंगे।

अब इस प्रकार हम भारतवासियोंको सोचना है कि हमारे हाथ हमें मतदानका अधिकार मिला है। उसके माध्यमसे हम अपने पंचायतके नेता, मुखिया, गाँवके नेता, प्रखण्डके संचालक और राष्ट्रके नेताको किस आधारपर चुनें ? चौकीदार, मुखिया, गार्जियन किस दृष्टिकोणके हों ? क्या अपने रक्षकको चुनते समय हमें यह ध्यान नहीं देना है कि हमारे द्वारा चुने गये प्रतिनिधि न्यायप्रिय हों, सामाजिक न्याय करें, मानवतावादी हों, चरित्रवान् हों, घूस न लें, सर्वहितकारी हों, भगवान्‌में विश्वास रक्खें, सबको मातृरूपा गौकी रक्षा करनेमें तत्पर हों। जब वे ईश्वरसे डरेंगे तभी ईश्वरकी सभी प्रजापर समदृष्टि करेंगे। प्रत्येक सामाजिक राजनीतिक व्यवस्थापक—प्रबन्धकर्तामें ये गुण तो अवश्य होने चाहिये। शिक्षा, योग्यता, सर्वहितैषिता और मानववादी निरपेक्ष दृष्टिकोण परमावश्यक है।

अतः प्रबन्धकर्ताके चुनावमें सावधानीसे काम लें। अपने हाथों अपनी हत्या न करें। भक्षकोंको रक्षक न

बनायें। चोर, ऐयाश, ठग एवं शराबियोंको 'गार्जियन'का पद न दें। यदि सुयोग्य पुरुषोंको नेता नहीं बनाया जायगा, तब ये चौकीदारी अथवा रक्षा कैसे करेंगे ? प्रवन्धकर्ता जब पंचायत, प्रखण्ड, जिला, प्रान्त एवं राष्ट्रमें ठीक रहेंगे, तभी देशकी आन्तरिक व्यवस्थामें शान्ति रहेगी। उत्पादन बढ़ेगा, विदेशी आक्रमणकारियोंसे देशके जान-मालकी रक्षा हो सकेगी। अपने-अपने क्षेत्रमें लगे विद्यार्थी, अधिकारी, व्यापारी, डाक्टर, किसान एवं मजदूर—सभी अपने-अपने कर्मके द्वारा ईश्वर-भक्ति, सच्ची मानवसेवा कर पायेंगे। यदि इलाकेका प्रवन्ध सुयोग्य व्यक्ति करनेवाला होगा, समयपर अन्न, पानी, कपड़ा, दवा एवं शिक्षा आदिकी समुचित व्यवस्था करनेवाला गार्जियन, चौकीदार आदि रहेगा, तभी आप निश्चिन्त होकर अपना कर्तव्य पालन कर सकेंगे, अन्यथा नहीं। अतः प्रवन्धकर्ताके चुनावमें सावधानी बरतें। सब प्रकारसे सुयोग्य पुरुषके हाथमें ही प्रवन्ध—व्यवस्था करनेका भार सौंपें। प्रवन्धकर्ताके क्षेत्रमें प्रत्येक व्यक्ति एवं परिवारका विकास हो और प्रत्येकके पथकी बाधा दूर हो। यदि आपका चुना हुआ प्रतिनिधि इस प्रकार न हो, तब यह आपका ही उत्तरदायित्व है कि आप समझ-सोचकर सुयोग्य पुरुषको ही प्रवन्धकर्ता बनायें।

आप सभी ईश्वरके पुत्र और पुत्री हैं। केवल एक ही सच्चा 'मालिक' है और वह है 'सम्पूर्ण सृष्टिका स्वामी' अर्थात् 'परमात्मा'। सभी मानव बराबर हैं। सभी कार्यकर्ता हैं। सभीके जिम्मे उन-उनकी योग्यताके अनुसार कर्तव्य निर्धारित है। 'स्वकर्म ही भगवान्की पूजा है' 'जागो, उठो और रुको नहीं—जबतक तुम्हारा उद्देश्य पूर्ण न हो।' रचनात्मक मानस क्रियाशील पुरुष ही परमात्माका वास्तविक पुजारी अथवा भक्त हैं। सभी मजदूर हैं, बिना मेहनतके भोजन कभी मीठा और सुस्वादु नहीं लगता। पसीनेकी कमाई ही वास्तविक सुखकी कुंजी है।

यह समाज भी क्या है ?—कार्यकर्ताओंकी टोली। सरकार भी तो आपके लिये ही है। आप कर्मठ रहते हैं, पवित्र रहते हैं, न्यायप्रिय और मिलनसार रहते हैं, ज्ञानी तथा समदर्शी रहते हैं तथा अपने-अपने कर्मद्वारा सर्वभूतस्थित भगवान्की सेवा करना चाहते हैं, तभी तो सुख प्राप्त करते हैं। आपका प्रतिनिधि भी इन गुणोंसे विभूषित होना चाहिये। आपका हित तो सर्वोदयवादी रामराज्यकी कल्पनावाला, पुरुषार्थी, उदार तथा कुरीति, अन्याय एवं क्षुद्र सीमित स्वार्थका विरोधी ही कर सकता है। इसलिये आप ऐसा ही प्रवन्धकर्ता बनाइये।

आप संकुचित व्यक्तिके पीछे न दौड़ें। कामुक, क्रोधी, लोभी तथा स्वार्थीके गुलाम न बनें। आप विकसित हों, आपका हृदय एवं मानस सागरकी तरह गहरा हो, प्रशान्त रहे, उसमें भगवान्का प्रकाश फैला हो, सूरजके गुणोंकी आभा हो, वह सत्यवादी हो, अहिंसक रहे, पद्मपत्रकी तरह बने। प्रत्येक प्राणीको जीनेका अधिकार है। अतएव सबको जीवनमें सुख-सुविधा मिले—सबकी रक्षा हो। इस प्रकारके चरित्रसे सम्पन्न आपको आदर्श नागरिक बनना है। यह कैसे होगा ? इसपर विचार करना आवश्यक है। आपकी दुनिया छोटी नहीं है, आपके सहायक थोड़े नहीं हैं। जितने प्राणी साँस लेते हैं, सभी आपके हैं। आप सबका कल्याण सोचें तथा उन सबके हितको ध्यानमें रखकर अपना कर्तव्य निर्धारण करें, कर्तव्य-पालन करें, तदर्थ उपयुक्त परिश्रम करें। बिना परिश्रमके कुछ भी सम्भव नहीं।

आप नकल न करें। आत्मनिर्भर हों। आपको भगवान्ने दो हाथ, दो नेत्र, दो पाँव, मस्तिष्क तथा हृदय—सभी तो दिये हैं। फिर आपमें यह निराशा कैसी ? आप स्वयं सत्कर्म करें। दूसरेपर निर्भर न रहें। स्वदेशका विकास तभी होगा, जब आपका विकास होगा।

आप अपने मनकी दुनियापर भी गौर करें। परमात्माने आपको सोचने-विचारने तथा निश्चय करनेके लिये विवेक दिया है, बुद्धि दी है। सोच-विचारकर अपनी आत्माकी बातपर गौर करें। आप जिस क्षेत्रमें हैं, वहीं अँधेरा दूर करें, प्रकाश फैलायें; स्वयं उदाहरण बनें, आदर्श बनें। आपमें प्राण है न ! सभी भारतवासियोंमें ये शक्तियाँ हैं, सभी आपके भाई-बन्धु हैं। आप उदार बनें। आपमें चेतना है। जिसमें भी चेतना है, वह आपका अपना है। सभी उसी परमात्माकी किरण हैं जिसकी आप हैं। आप सोये मत रहें ! बुद्धिवादी बनें। सतत मनुष्य, समाज, ब्रह्माण्ड, भूत, भविष्यत् एवं वर्तमानके बारेमें पढ़ें, सोचें, बोलें एवं लिखा करें—जो आप उचित समझें। कभी किसी आदमीका कठपुतला न बनें। नैतिक बनने तथा चरित्रके विकास एवं संरक्षणके लिये अकेला भी रहना पड़े तो घबरायें नहीं; क्योंकि सर्वशक्तिमान्, सहज-सुहृद् परमात्मा सदा आपके

साथ हैं। ऐसी स्थितिमें प्रबन्धकर्ताके चुनावमें सावधानीसे काम लें। बृहत् समाज, उदार समाज, प्राणियोंका समाज, मानवसमाज, साँस लेनेवालोंके पुरुषार्थ समाजका कार्य-भार अनैतिक, संकुचित, अविश्वासी, चरित्रहीन, क्षुद्रस्वार्थके दास, इन्द्रियोंके गुलाम, अज्ञानी एवं घूसखोरोंके हाथमें मत जाने दें। केवल मानववादी, धार्मिक, निःस्वार्थी, प्रभुके पुजारी, चरित्रवान्, संयमी, सर्वभूतहितैषी, श्रद्धेय, सुयोग्य एवं न्यायप्रिय पुरुषोंके द्वारा चौकीदारी, पहरेदारी, पंचायती, मुखिया तथा प्रतिनिधित्वका कार्य करायें। आप अपनी आत्माका हनन कभी न होने ''।

गार्जियन, नेता, चौकीदार और प्रबन्धकर्ताके आदर्श गुण एक ही प्रकारके होते हैं।

कामके पत्र

प्रेममें आत्मसुख-कामनाको स्थान नहीं

आपका पत्र मिला। प्रेमकी परिभाषा शब्दोंमें नहीं होती। अनुभूतिके लिये शब्द है ही नहीं। परंतु जो प्रेम चाहते हैं, उनको कम-से-कम निजसुख-कामनाका त्याग सर्वथा और सर्वदा कर देना ही होगा। जैसे प्रकाशके साथ अन्धकार नहीं रह सकता, इसी प्रकार 'प्रेम'के साथ 'काम' नहीं रह सकता।

तुलसी कबहुँ कि रहि सकै, रबि रजनी इक ठाम।

प्रेम चाहनेवालोंको पहले अपना मन देख लेना चाहिये। उसमें निज-सुखकी, अपनी इच्छापूर्तिकी, मान-सत्कारकी चाह है या नहीं। इन्द्रियोंका सुख चाहिये तो इन्द्रिय-विषयोंका सेवन कीजिये; पद-अधिकार चाहिये तो पद-अधिकार-प्राप्तिके साधनमें लगिये और मान-सत्कार चाहिये तो लोगोंको अपना कृतज्ञ बनाइये धन-मान-सेवा आदिके द्वारा। प्रेमके राज्यमें मानकी इच्छा, धनकी इच्छा, पद-अधिकारकी इच्छा, आत्मेन्द्रिय-सुखकी इच्छा नहीं रह सकती। वहाँ तो प्रेमास्पदके या प्रेमदेवताके प्रति सर्वसमर्पण हो जाता है। प्रेमास्पदका प्रत्येक भाव, उसकी प्रत्येक चेष्टा अनुकूल बन जाती है। उसका दुःख देना, डाँटना, खीझना, गरजना या पत्थर बरसाना, सारे स्वार्थोंका नाश कर देना, अपमान-तिरस्कार करना, निन्दा करना और अपनेसे दूर हटा देना—सभी कुछ सुन्दर और सुखदायक अनुभूत होता है।

उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥
पबि पाहन दामिनि गरज झरि झकोर खरि खीझि।
रोष न प्रीतम दोष लखि तुलसी रागहि रीझि॥

'मेघ गरज-गरजकर बड़ी रूखी और कर्कश ध्वनि करता हुआ कठोर पत्थर तो बरसाता ही है, साथ ही बड़ी डाँट-डपटके साथ गरजकर-तड़पकर वज्र भी गिराता है। फिर भी, क्या चातक अपने प्रियतम मेघके सिवा कभी किसी दूसरेकी ओर ताकता है? इतना ही नहीं—मेघ बिजली गिराकर, ओले बरसाकर, बिजली चमकाकर, गरजकर, वर्षाकी झड़ी लगाकर और आँधीके प्रबल झोंके देकर अपनी सच्ची खीझ देता है, मानो वह कहता है कि मैं तुम्हारा प्रियतम नहीं, पूरा शत्रु हूँ। इतने प्रत्यक्ष दोषोंको देखकर भी चातकको अपने प्रियतमकी तरफ देखकर तनिक भी रोष नहीं होता। उसे अपने प्रियतमके दोष दीखते ही नहीं, वरं उसको मेघके इन कृत्योंमें अपने प्रति उसका अनुराग ही दिखायी देता है और वह उसीपर रीझ जाता है।' क्योंकि—

चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
'तुलसी' प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख॥

'उस प्रेमी चातकके चित्तमें अपने प्रेमी—प्रियतम मेघके दोष कभी चढ़ते ही नहीं, उसका चित्त सभी अवस्थाओंमें प्रियतमके गुण देखता है; क्योंकि चातक

प्रेमका समुद्र है, अतएव उसमें माप-तौल, लेन-देनका व्यवहार है ही नहीं।'

बस, चातककी उपर्युक्त स्थितिपर विचार करके जो व्यक्ति अपनेको इस प्रकारका बना सकता हो, वही प्रेमका अधिकारी है। प्रेम करना और बदला पाना, यह लेन-देन तो व्यापारी-जगत्की चीज है, त्यागपूर्ण पवित्र प्रेम-राज्यकी वस्तु नहीं है। नहीं तो, प्रेमके नामपर आत्मसुख-कामनाका सेवन किया जायगा और उसका फल होगा—दुःख, आत्माका पतन, आत्म-मरण अथवा कलंक।

'कहीं मृत्यु-फल फलता उसमें, कहीं कलङ्क-लाभ केवल।'

सुनै सदा चाहे न कछु, सहै सबै जो होय।
रहै एक-रस एक-मन, प्रेम कहावत सोय॥
प्रेम-पंथ अतिही कठिन सब पै निबहत नाहिं।
चढ़ि कै मोम तुरंग पै चलिबौ पावक माहिं॥
चाखा चाहै प्रेम रस, राखा चाहै मान।
एक म्यानमें द्वै खडग देखे सुने न कान॥

यह सत्य है कि अपमान तथा प्रतिकूलताका सहन करना बड़ा ही कठिन है। पर प्रेम-साधनामें यही तो तप है। केवल सहन नहीं करना है, इन्हें सुख मानकर वरण करना है। जिन्हें जागतिक मान तथा जागतिक अनुकूलताकी चाह है, उन्हें प्रेमके त्यागपूर्ण पवित्र, किंतु अत्यन्त कठोर मार्गपर पैर नहीं रखना चाहिये।

फिर 'मान' तो बहुत ही नीची चीज है। मान देनेवाले कई श्रेणीके लोग होते हैं, जो विभिन्न कारणोंसे सम्मान देते हैं।

(१) हानि पहुँचाने, ठगने, नाश करने या दुःख पहुँचानेकी बुरी नीयतसे सम्मान करना।

(२) मनमें सम्मान-भाव न होनेपर भी केवल स्वार्थ-साधनके लिये दिखौआ सम्मान करना।

(३) केवल सभ्यता या व्यवहारकी दृष्टिसे सम्मान करना।

(४) पवित्र श्रद्धाके भावसे सम्मान करना आदि।

पवित्र प्रेमदान करनेवाले प्रेमास्पदमें—भगवान्में सम्मान देकर भुलानेका भाव नहीं रहता। वे तो विशुद्ध निर्मल प्रेमदान देते हैं और देते हैं—स्वाभाविक प्रेममय होनेके कारण ही। प्रेम सबसे ऊँची वस्तु है। प्रेम चाहनेवाला आकाङ्क्षाकी सर्वोपरि सर्वोत्तम वस्तु मुक्तिकी चाह भी नहीं करता। इन सब बातोंपर आप गम्भीरताके साथ विचार करके अपने लिये साधन-मार्ग निश्चय करें। सर्वोत्तम है—किसी भी प्रकारसे भगवान्के नामका रटना, जप या स्मरण करना।

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

शेष भगवत्कृपा।

(२)

जिसका अन्त सुधरा, वही सफल-जीवन है

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारे प्रश्नका उत्तर निम्नलिखित है। मनुष्यके आभ्यन्तरिक मनकी वस्तुतः क्या स्थिति है, उसमें किस प्रकारके कौन-से संस्कार छिपे हैं, इसका पता बाहरी आचरणोंसे नहीं लगता। बाह्यमनसे भी वे संस्कार छिपे रहते हैं। स्वप्न, संनिपात अथवा उन्मादकी अवस्थामें कहीं-कहीं न्यूनाधिक रूपमें मनुष्यके भीतरी मनके संस्कार प्रकट हुआ करते हैं।

किसी परिस्थितिमें पड़कर एक मनुष्य चोरी करता था। परंतु उसके भीतरी मनमें चोरीसे घृणा थी। अतएव वह जब-जब चोरी करता, तभी तब उसके भीतरी मनपर अज्ञातरूपसे ऐसा आघात लगता कि उसको ज्वर हो जाता। फिर उसके मनमें आता—चोरीसे आयी हुई चीज जिसकी है, उसे वापस कर दी जाय। वह वापस करता, तब उसे चैन पड़ता—उसका बुखार उतरता।

एक हमारे परिचित मित्र थे। अब उनका देहान्त हो गया। वे एक प्रसिद्ध आश्रममें रहते। थे सच्चे आदमी। आश्रमके सारे नियमोंका वे पालन करते।

पर उनके भीतरी मनमें कामवासना थी । वह समय-समयपर जब प्रकट होती, तब वे अकेलेमें ही अश्लील शब्दोंका उच्चारण करने लगते ।

एक आदमीके भीतरी मनसे एक साधुके प्रति बुरा भाव हो गया था और बार-बार उसके मनमें आता कि इसको मार दिया जाय । साधु बहुत अच्छे आदमी थे । उनके द्वारा हजारों-हजारों लोगोंको सन्मार्ग और प्रकाश मिलता था । उस आदमीकी भी साधुके सद्भावके प्रति भक्ति थी । वह उनकी सेवा भी करना चाहता । उसने सोचा—मैं इनका शिष्य हो जाऊँ और सेवा किया करूँ । वह शिष्य होकर सेवा करने लगा । इसमें जरा भी बनावट नहीं थी । वह सच्चे हृदयसे ही शिष्य बनकर सेवा करता था; पर जब-जब वह अकेलेमें साधुजीकी सेवा करता, उसके भीतरी मनका वैर-भाव बाहर प्रकट हो जाता और उसके मनमें आता—मैं इन्हें अभी मार डालूँ । इसी मानसिक अवस्थामें वह एक दिन कहींसे एक कुल्हाड़ी ले आया और दूसरे ही दिन सचमुच उसने साधुको कुल्हाड़ीसे मार डाला ।

एक सज्जन बड़े अच्छे आचरणके थे । लगातार कई वर्षोंसे साधन-भजन करते थे । घर छोड़ दिया था । सच्चे थे । रुपया-पैसा—कुटुम्ब-परिवारसे कोई सम्बन्ध नहीं रक्खा था । वास्तवमें ही साधन करना चाहते थे । परंतु उनके भीतरी मनमें अहंकार था, लोकैषणा थी, द्वेष था और रुपये-पैसेके प्रति राग था । मृत्युके कुछ समय पूर्व उनका दिमाग खराब हो गया । उन्मादके लक्षण प्रकट हो गये । उस उन्मादावस्थामें उनके मुँहसे अहंकार, कीर्तिकी कामना, यश न मिलनेपर दुःख, बात न माननेवालोंके प्रति घोर क्रोध तथा वैर और रुपयोंकी स्मृतिसे भरे शब्द निकलने लगे । उसी उन्मादावस्थामें उनकी मृत्यु हो गयी ।

अतएव अपनेको बाहरी आचरणोंसे मत तौलो । बाहरी चेष्टाओंका कभी गर्व-अभिमान भी मत करो । बाहरी आचरण भी अवश्य ही परम पवित्र रहने चाहिये । परंतु भीतरी मनमें सदा-सर्वदा पवित्र भाव, पवित्र संस्कार, पवित्र विचार, सात्त्विक दैवी गुण, सच्ची ईश्वर-निष्ठा, यथार्थ वैराग्य आदिको भरने-बढ़ानेकी सतत चेष्टा रक्खो ।

एक मनुष्य बड़े संसारी मालूम होते थे । सत्सङ्ग-भजन छिपकर करते हों तो पता नहीं, पर बाहरसे वे बहुत ही कम सत्सङ्ग करते दिखायी दिये । भगवान्‌की बात भी बहुत कम कहते-सुनते थे । परंतु मृत्युसे कुछ ही दिनों पूर्व उनके भीतरी मनकी चीजें बाहर आ गयीं । वे भजन करने लगे । संसारका मोह-ममत्व मानो सारा छूट गया । घरवालोंमें, घरकी चीजोंमें ममता नहीं रह गयी । बड़ी शान्तिके साथ भगवान्‌का चिन्तन करते-करते उन्होंने सहज भावसे प्राणोंका परित्याग कर दिया । उनका अन्त सुधर गया ।

दूसरोंके दोष मत देखो—उनसे बचो—उनके सङ्गसे बचो—पर उनके दोष देखकर उनके प्रति घृणा मत करो । उनसे द्वेष मत करो । पता नहीं, तुम्हारे भीतरी मनमें उनसे भी अधिक भयानक दूषित भाव भरे हों और कभी उनके प्रकट हो जानेपर तुम उनसे भी अधिक दूषित आचरण करनेवाले दिखायी दो ।

निरन्तर अपनेको उठाते रहो । सच्चे मनसे बाहर सात्त्विक श्रेष्ठ आचरण करो । मनके भीतर सदा यथा-साध्य श्रेष्ठतम विचारोंको भरते रहो । आलस्य-प्रमादवश या कामना-आसक्तिवश कभी श्रेष्ठका तिरस्कार और निकृष्ट (दूषित) का आदर मत करो । भगवान्‌की कृपापर विश्वास रक्खो तथा भगवान्‌से प्रार्थना करते रहो । स्वप्नमें भी कभी बुरे विचार न आयें, बुरी चेष्टा न हो, सद्विचार आयें, सत् चेष्टा हो, तब समझो कि भीतरी मन पवित्र हो रहा है और जिसका भीतरी मन पवित्र है, वही पवित्रजीवन पुरुष धन्य है । जिसका अन्त सुधर गया—अन्तिम क्षणमें जिसका मन भगवान्‌में लगा रह गया, उसीका जीवन सफल है ।

दक्षिण भारतकी तीर्थयात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसादजी श्रीवास्तव)

[गतवर्ष संख्या १२, पृष्ठ १३८४ से आगे]

पक्षितीर्थ हमलोग लगभग दस बजे पहुँच गये। दक्षिणके अन्य तीर्थोंकी भाँति पक्षितीर्थ भी हमलोगोंका एक प्रधान आकर्षण था। इसका एक कारण भी था। बचपनमें ही जिस प्रकार भारतके पवित्र धामोंमें उत्तरके श्रीयमुनोत्तरी, गङ्गोत्तरी, केदारनाथ और बदरीनाथ तथा दक्षिणके श्रीरामेश्वरम् और धनुष्कोटिके तीर्थ-माहात्म्यके साथ अनेकानेक कौतूहलपूर्ण और आश्चर्यभरी कथाएँ हम अपने बड़े-बूढ़ोंसे सुनते आये थे, उसी प्रकार पक्षितीर्थके विषयमें भी। गोविन्ददासके कुटुम्बसे उनके ताऊ दीवानबहादुर सेठ वल्लभदासजीकी माताजीने अनेक तीर्थयात्राएँ की थीं। वह पचास-साठ वर्ष पहलेकी बात है। इन यात्राओंमें वे रामेश्वरम् भी आयी थीं और रामेश्वरम्-यात्राके समय पक्षितीर्थ भी। गोविन्ददासको पचास-पचपन वर्ष पहले उनकी दादीजीका पक्षितीर्थके सम्बन्धमें कहा गया वृत्त पक्षितीर्थ पहुँचते ही स्मरण हो आया। गोविन्ददासद्वारा पक्षितीर्थके सम्बन्धमें अपनी दादीजीसे सुनी बातें हमें ज्ञात हुईं और हमलोग इस निष्कर्षपर पहुँचे कि यह तो कम-से-कम सत्य ही है कि पचास-साठ वर्ष पूर्व जब गोविन्ददासकी दादीने पक्षितीर्थकी यात्रा की थी, उस समय भी उसी प्रकार ये पक्षी इस तीर्थमें आते थे, जिस प्रकार आज उनके दर्शनको हम जा रहे थे। पक्षितीर्थके सम्बन्धमें पक्षियोंकी कथा सुननेसे हमारी उत्सुकता बढ़ी और हमलोग अपने बस-स्टैंडसे पाँव-पयादे ही उस ओर बढ़ चले, जहाँ पक्षितीर्थका यह मन्दिर है। फिर हमने तो सुन रक्खा था कि सैकड़ों वर्षोंसे बिना किसी नागाके ये पक्षी नियत समय और नित्य ही बराबर यहाँ आते हैं और मन्दिरका प्रसाद पाकर वापस चले जाते हैं। दूरदर्शिताके लिये तो गृध्र-दृष्टि प्रसिद्ध ही है, फिर दूरदर्शी गिद्धकी आयु भी हजार वर्षकी होती है—यह हमारे यहाँ एक मान्यता है। गिद्ध बड़ी लंबी आयुका होता है, यह वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं।

एक ऊँचे देवगिरि नामक पर्वतपर देवगिरीश्वर महादेवका मन्दिर है। कहते हैं यहाँ ब्रह्माजीने शिवजीका पूजन किया था। मन्दिरमें पार्वतीजीकी मूर्ति भी प्रतिष्ठित है। पार्वतीदेवीकी इस मूर्तिका नाम है—'तिरुमल सुकम्मा।' मन्दिरके सामने जलका एक पक्का कुण्ड है, जिसे 'हंसतीर्थ' कहते हैं। इसमें प्रत्येक बारह वर्षमें एक शङ्ख आप-से-आप निकलकर सीढ़ियोंपर आ जाता है।

पक्षितीर्थमें आनेवाले इन दो पक्षियोंका नाम है—'पुरुषविजाता'। ये जटायुके पुत्र माने जाते हैं।

हमलोग पक्षितीर्थमें देवगिरीश्वर महादेवके दर्शन करके मन्दिरके बायीं ओरके मैदानमें पक्षितीर्थके कौतूहल-जनक पक्षियोंके आगमनकी प्रतीक्षामें एक बड़े जन-समुदायके साथ एकत्र हो गये। पक्षियोंके आगमनका समय निश्चित रहता है। ग्यारह बजेसे पुरुषविजाता पक्षी इस मैदानमें आकर यात्रियोंको दर्शन देते हैं और खिचड़ीका भोग पाकर अपने स्थानको लौट जाते हैं।

समय हो रहा था। सभी लोग बड़ी उत्सुकतासे इन पक्षियोंकी बाट जोहने लगे। अजीब दृश्य था, उपस्थित जनसमुदाय पुरुष और महिलाएँ आतुरतासे आकाशकी ओर टकटकी लगाये ऐसे देख रहे थे, मानो आज आकाशकी आराधना कर रहे हों। कोई किसी ओर, कोई किसी ओर। चतुर्दिक् आकाशसे लोगोंने अपनी आँखें अड़ा दी थीं। इतनेमें कुछ चहल-पहल बढ़ी और हमारे दलके एक साथीने देवगिरीश्वर महादेव-मन्दिरके कलशपर बैठे हुए एक पक्षीकी ओर संकेत किया। हम सबका ध्यान उस ओर गया। पक्षी पलमें पंख मार हमलोगोंके सामने आकर एक शिलापर, जहाँ खिचड़ीका घट लिये एक ब्राह्मण उपस्थित था, बैठ गया। उपस्थित जनसमूह पक्षि-दर्शनके लिये निकट ही एक निश्चित जगहपर सिमटकर एकत्रित हो गया। ब्राह्मण आसन लगाये एक चट्टानपर बैठा था। उसके निकट खिचड़ीका घट और सामने 'पुरुषविजाता' पक्षी। ब्राह्मण अपने दाहिने हाथकी अञ्जलिमें खिचड़ी ले पक्षीके सामने हाथ पसारता और पक्षी प्रेमपूर्वक उसे खाता जाता। पक्षीकी क्षुधा-तृप्तिका अनुभव करके ब्राह्मणने उसे पानी पिलाया और एक स्वच्छ तौलियासे उसकी चोंच पोंछी। तदुपरान्त पक्षी पीछे लौट कुछ दूर पाँव

याँव बढ़ ंख पसार उड़ गया। लगभग दस मिनटतक यह दृश्य हमलोग देखते रहे। कुछ ही देर बाद उसी प्रकार उसी आकार और वर्णका एक दूसरा पक्षी ब्राह्मणके सामने आ बैठा। उसे भी पूर्व पक्षीकी भाँति खिचड़ीका भोग खिलाया गया, पानी पिलाया गया और तौलियासे मुँह पोंछ विदा किया। उपस्थित जन-समूहने बड़ी श्रद्धा और भक्तिसे पक्षितीर्थमें इन पुरुषविजाता पक्षियोंके दर्शन करके अपनेको कृतकृत्य किया।

इस अवसरपर हमारे साथियोंमेंसे जहाँ एक ओर महिला-वर्ग पूर्ण आस्तिक भावसे पक्षितीर्थके इस माहात्म्यसे पुलकित और गर्वित था, वहाँ दूसरी ओर पुरुषवर्गमेंसे कुछके मनमें कुछ संदेहात्मक बातें भी उठीं। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

संशयात्मा विनश्यति।

हम अपनेको संशयात्मा नहीं मानते, परंतु साथ ही अन्धविश्वासी भी नहीं। पक्षितीर्थमें हमने जो कुछ देखा और सुना, उससे हम इन पक्षियोंके सम्बन्धमें कुछ भी निश्चय-पूर्वक कहनेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं। पक्षियोंके सम्बन्धमें प्रायः दो प्रकारकी बातें हमें यहाँ सुनायी दीं। एक आधुनिक कालके पढ़े-लिखे अविश्वासी लोगोंकी और दूसरे पुराने ढंगके उन लोगोंकी, जिन्हें आजकलके पढ़े-लिखे लोग 'अन्धविश्वासी' और 'दकियानूसी' विशेषणोंसे विभूषित किया करते हैं। प्रथम प्रकारके लोग कहते हैं, ये पक्षी पालतू पक्षी हैं। एक निश्चित समय और निश्चित स्थानपर आना इन्हें सिखाया गया है। दूसरे प्रकारके लोग इन पक्षियोंको पूर्वजन्मका ऋषि मानते हैं। इन लोगोंका कहना है कि ये पक्षी नित्य वाराणसीसे यहाँ आते हैं। यहाँसे रामेश्वरम् जाकर पुनः वाराणसी लौट जाते हैं। पक्षी बहुत तेज चालसे उड़ते भी हैं। अतः यह असम्भव नहीं कहा जा सकता। परंतु हमने इन पक्षियोंको उत्तरसे उड़कर आते हुए नहीं देखा। एक गिद्ध वहाँके मन्दिरके शिखरपर दिखायी दिया। वहाँसे वह उस स्थानपर आया, जहाँ पुजारी उसे भोजन देता है। भोजन देते समय हमने देखा कि पुजारी उसे पालतू पक्षीके सदृश संकेतसे बुला रहा है। दूसरा पक्षी कुछ देर बाद आया। भोजनके बाद भी हमने इन पक्षियोंको उड़कर दक्षिणकी ओर जाते हुए नहीं देखा। भोजन करके ये पक्षी आकाशकी ऊँचाईको न जाकर कहीं नीचेकी ओर विलुप्त हो गये। जो लोग इन पक्षियोंके उपर्युक्त रूपसे सहमत नहीं हैं, उनका कथन है कि ये पक्षी पालतू पक्षी हैं। ठीक समयपर नित्य छोड़ दिये जाते हैं और खाकर फिर अपने स्थानपर चले जाते हैं। परंतु यदि ये पक्षी पालतू हैं तो ये किस स्थानपर रहते हैं, यह कोई हमें नहीं बता सका। ये पक्षी गिद्ध हैं। नित्य ग्यारह और बारह बजेके बीचमें आते हैं। दो ही पक्षी आते हैं, कभी भी न कम न अधिक। शुक्रवारको कहते हैं दोनों साथ आते हैं। किंतु कबसे आते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। तमिळ भाषा हजारों वर्ष पुरानी भाषा है। कुछ विद्वानोंके मतानुसार तमिळ संस्कृत भाषाकी समकालीन भाषा है। तमिळ भाषाका व्याकरण 'तोलकापिय्यम्' ईसाके कम-से-कम दो हजार वर्ष पूर्व लिखा गया था। पक्षितीर्थका नाम तमिळभाषामें 'थिरुकल्लुकुन्रम्' है, जिसका अर्थ होता है गिद्धोंका पवित्र पर्वत। यह नाम प्राचीन तमिळ भाषाका है। कितना पुराना है, यह आज नहीं कहा जा सकता। इन गिद्धोंके इस प्रकार नित्य आगमनका वर्णन भी तमिळ भाषाके सैकड़ों वर्ष पुराने कवियोंने किया है। इस स्थितिमें इन पक्षियोंके सम्बन्धमें हमारा किसी निष्कर्षपर पहुँचना सम्भव नहीं है। यदि एक ओर ये गिद्ध पालतू हैं और इसी पर्वतपर कहीं रहते हैं तो कोई भी पशु-पक्षी इतना ज्ञानवान् तो नहीं देखा और सुना गया जो केवल मध्याह्नके समय बीस मिनटके लिये एक विशिष्ट स्थानपर दिखायी दे, अन्य किसी भी समय नहीं। दूसरी ओर एक ही स्थानपर भोजन-पानी पानेके प्रलोभनसे क्षुधा-तृषासे पीड़ित किसी पालतू पशु-पक्षीका इस प्रकार नित्य नियमपूर्वक एक निश्चित समय और निश्चित स्थानपर आना कोई असम्भव बात भी नहीं। उदाहरणके लिये नगरोंके व्यस्त चौराहोंपर, फुटपाथोंपर हम एक छोटे पिंजरेमें सगुन चिड़िया लिये जो व्यक्ति बैठा रहता है, उसे लें। ज्यों ही वह पिंजरेका द्वार खोलता है कि झट चिड़िया बाहर आ सामने पंक्तिमें पड़े कागजके पटोंमेंसे किसी भी एक पटको अपनी चोंचमें दबा पंक्तिसे पृथक् कर देती है। चिड़ियाका पालक पोथीकी तरह खोलकर उसका पाठ करता है और इस पाठमें जो एक खास तरहका फलाफल भविष्य-निर्देश छपा रहता है, वह प्रश्नार्थीको बता देता है। जितने बार चिड़िया पिंजरेसे बाहर आती है, उतनी ही बार उसका पालक उसे चून डालता है, वह उस चूनको चोंचमें दबा

पिंजरेके भीतर हो जाती है। स्पष्ट है, चिड़ियाके पिंजरेसे इस प्रकार बाहर आने और पुनः अपने पिंजरेमें जानेका प्रधान कारण उसे प्राप्त होनेवाले चून (भोज्य) का मिलना है। यही उसका एक आकर्षण है, जिसके कारण वह इस प्रकार पिंजरेसे बाहर आ पंक्तिमें रखे किसी भी एक कागज-पटको चोंचसे अलगकर तथा अपनी चोंचमें चून दबा पुनः पिंजरेमें जानेकी अभ्यस्त बन चुकी है। इसी प्रकार हम रीछ और मदारीके तमाशे, बंदर, बकरी और नादिया (बैल) तथा घोड़े, हाथी और कुत्तों आदिके विविध खेल-कूद एवं कौतूहलपूर्ण कार्य आये दिनों यहाँ-वहाँ देखते रहते हैं। इन सबका सर्वाङ्गसुन्दर अभिनय तो हमें सर्कसमें भी देखनेमें मिल जाता है। फिर, आजकल कुत्ते तो गुप्तचर (सी० आई० डी०) पुलिसतकका काम ऐसी सफलता और मुस्तैदीसे करते हैं कि कोई मानव गुप्तचर क्या करेगा। किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि ये पशु-पक्षी कोई दैवी जीव होते हैं या पूर्वजन्मके कोई ऋषि-मुनि अथवा कोई बड़े प्रतिभावान् हैं। सीधी-सी बात है, अनेक बातोंमें जो कार्य मानव स्वयं नहीं कर पाता, वह उन्हें भिन्न-भिन्न माध्यमसे कराता है। उदाहरणके लिये रेल, मोटर, हवाईजहाज अथवा पानीके जहाज लीजिये। बहुसंख्यक लोगोंके आवागमनकी सुविधाकी दृष्टिसे मानवने शरीरसे जब उनकी सहायता करनेमें अपनेको असमर्थ पाया, तब अपना मस्तिष्क दौड़ाया और उसके मस्तिष्ककी इस दौड़ने आज दुनियाकी इतनी बड़ी समस्या हल कर दी। यानी आदमी भले ही अपनी पीठपर किसी दूसरे आदमीको लादकर दूरतक न ले जा सके, अधिक दूरतक पानीमें न तैर सके अथवा आकाशमें न उड़ सके; किंतु अपनी बुद्धिके द्वारा उसने इस समस्याका ऐसा उचित समाधान किया है, जिसपर देवता भी ईर्ष्या कर सकते हैं। इसी प्रकार अन्य काम हैं, जिन्हें मनुष्य स्वयं नहीं कर सकता; उन्हें वह दूसरोंसे कराता है, उन्हें बताता है, सिखाता है, पढ़ाता है और अपने उद्देश्य-साधनके अनुकूल बना लेता है। जहाँ उसे पशुकी सहायताकी आवश्यकता होती है, पक्षीकी सहायताकी जरूरत होती है, वहाँ वह पशु-पक्षी बननेसे तो रहा, अतः झट उस पशु-पक्षीमें कुछ मानवी प्राणतत्त्व डालकर उसे अपने अनुकूल बना लेता है। अनेक बार मानव पशु भी बन जाता है; किंतु उसके इस पशुत्व-ग्रहणका समाजहितकी दृष्टिसे कोई उपयोग नहीं, उपयोग है उसके मानवीय तत्त्वोंके विकास, प्रयोग और अभिनवीकरणके प्रत्यक्ष परिणामोंका। मानवके इन प्रयोगोंसे—जो समाजके आर्थिक, आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रमें निरन्तर होते रहते हैं, समाजका स्तर ऊपर उठता है, किंतु कभी-कभी किसी गलत, भ्रममूलक अथवा आडम्बरपूर्ण प्रयोगसे, जो धर्मके आवरणमें अधर्मपूर्ण होता है, समाजको और उसके विविध अङ्गोंको गहरा धक्का भी लग जाता है। अतः सामाजिक जीवनके भीतरी और बाहरी शुद्धिकरणके लिये गोस्वामी तुलसीदासजीके निम्न दोहे—

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

—के अनुसार हमें अपने विवेकको सतत जाग्रत् रखना चाहिये, जिसमें हम अपने आदर्शोंके प्रति पूर्णरूपसे आस्तिक रहते हुए भी अन्धविश्वास अथवा अन्धश्रद्धाके दोषी न बनें। पक्षितीर्थका मामला हमारे इस आदर्शकी एक समस्या है। यदि ये पक्षी यथार्थमें पक्षितीर्थके पुण्य-माहात्म्यके प्रतीक हैं और जैसा कि इनकी कथाओंमें वर्णन मिलता है, उसके अनुसार ही ये नित्य वाराणसीसे आकार कुछ देर यहाँ ठहरकर रामेश्वरम् जाते हैं तो यह हमारे परम सौभाग्यकी बात है कि इस प्रकारके दैवी पक्षियोंके हम दर्शन कर सके। किंतु इस तथ्यकी पुष्टिके विपरीत यदि यह कोई आडम्बर है तो अन्धविश्वासके इस स्थायी रूपकी, जो न जाने कितने समयसे चला आ रहा है, समुचित जाँच की जानी चाहिये। अनेक बार अन्धविश्वासके बुरे-से-बुरे परिणाम हमने देखे हैं। फिर किसी अवसर-विशेषपर आप-से-आप अथवा किसी कारण-विशेषसे जब इस अन्धविश्वासका अन्त होता है, तब हमारे आस्तिक जगत्पर इसका विपरीत प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। गत पिछले कुछ वर्षपूर्व संभलपुरमें अंगुल महाराज नामसे एक अवतारीका प्रादुर्भाव होना और लाखोंकी संख्यामें उनके दर्शनार्थ जनताका जाना तथा बादमें हैजेके प्रकोपसे सहस्रों नर-नारियोंका मरना और अंगुल महाराजका स्वयं बीमार हो रायपुरके अस्पतालमें भर्ती होना आदि बातें इस बातके जीते-जागते प्रमाण हैं। अतः उचित हो, तिरुकली कुण्डरम्‌में पक्षियोंके इस प्रकार आने-जानेके सम्बन्धमें आन्ध्र-प्रदेशकी सरकार समुचित जाँच करके इस बातका पता लगाकर पक्षितीर्थके इस महत्त्व-माहात्म्यको विज्ञापित करें। यदि वास्तवमें वर्णित कथाओंके अनुसार ही इन पक्षियोंके यहाँ दर्शन होते हैं तो सरकारद्वारा इस तीर्थके विज्ञापित

किये जानेके बाद इस तीर्थका महत्त्व-माहात्म्य और बढ़ जायगा तथा यह तीर्थ आस्तिक जगत्का एक अभूतपूर्व आकर्षण-स्थल बन जायगा। अस्तु,

पक्षितीर्थमें कुछ जलपान करके दिनाङ्क १३ सितम्बरके एक बजेकी मोटर बससे हमलोग दक्षिण भारतके प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थल महाबलीपुरम्के लिये रवाना हुए। पक्षितीर्थसे केवल नौ मीलकी वह यात्रा लगभग आधा घंटेमें समाप्तकर हम महाबलीपुरम् पहुँच गये और बस-स्टैंडके निकटके एक प्रवास-गृहमें अपना बोरिया-बिस्तर रख चिलचिलाती धूपमें ही महाबलीपुरम्की शोभा देखने चल पड़े।

दक्षिण भारतकी यात्रामें मद्रासके बाद 'महाबलीपुरम्' अपनी कतिपय ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओंके कारण पर्यटकोंकी रुचिको सहज ही आकर्षित कर लेता है। यह मद्राससे कुल ३५ मील दूर बंगालकी खाड़ीके तटपर स्थित है। मोटर-बोटद्वारा बकिंघम नहरके मार्गसे यहाँ आसानीसे पहुँचा जा सकता है। मद्राससे एक सड़क भी महाबलीपुरम् जाती है, जिसपर पर्यटक निजी कार या बसों-द्वारा दो घंटेमें यहाँ पहुँच सकते हैं। महाबलीपुरम्में लोक-कर्म-विभागका एक आवासगृह और एक शासकीय अतिथि-गृह भी है, जिसमें पर्यटक चिंगलपुरके कलक्टरकी स्वीकृति लेकर ठहर सकते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, महाबलीपुरम्की कुछ अपनी ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक विशेषताएँ हैं, जो इसे दक्षिण भारतके एक महत्त्वपूर्ण नगरका रूप प्रदान करती हैं। पहले हम इसके ऐतिहासिक पक्षको लें।

पल्लव राजाओंने तीसरीसे ९ वीं शताब्दीतक दक्षिण भारतपर राज्य किया। कांचीपुरम् उनकी राजधानी थी और महाबलीपुरम् प्रधान बंदरगाह। हिंदू संस्कृतिके प्रचार-प्रसारके उनके प्रयत्न महाबलीपुरम्से ही प्रारम्भ हुए। इस नगरके अनेक मन्दिर आज भी इसके साक्षी हैं। बंदरगाह होनेके कारण इस नगरने हिंदू संस्कृतिकी विशेषताओं एवं हिंदू-धर्मके संदेशको समुद्र पारके देशोंमें भी पहुँचानेका कार्य किया।

पल्लव-राजा धर्मप्राण होनेके साथ-साथ कलाप्रेमी भी थे। महेन्द्र वर्मन, नरसिंह वर्मन प्रथम और नरसिंह वर्मन द्वितीयने अपने राज्यकालमें मन्दिर और कलात्मक प्रतिमाओंकी स्थापनाके लिये महाबलीपुरम्को ही चुना। इन मन्दिरों तथा प्रतिमाओंमें तत्कालीन भारतीय शिल्पकलाकी पराकाष्ठा देखी जा सकती है।

नरसिंह वर्मन प्रथम पल्लव-वंशका एक सुयोग्य राजा था, जिसने युद्ध और शान्ति दोनों कालोंमें अपना कौशल दिखाया। उसके युगकी बहुत-सी घटनाएँ महाबलीपुरम्के साथ जुड़ी हैं। तत्कालीन चालुक्य बादशाह पुलाकसिन द्वितीयने अपने पिता महेन्द्र वर्मनको हराकर उसके राज्यका कुछ भाग छीन लिया था। नरसिंह वर्मनने सत्तारूढ़ होते ही श्रीलङ्काके पदच्युत राजा मानवर्मनकी सहायतासे पुलाकसिनको हराकर अपने पिताके अपमानका बदला लिया। बादमें उसने मान-वर्मनकी सहायताके लिये एक बहुत बड़ा जहाजी बेड़ा श्रीलङ्का भेजा। अनुमान किया जाता है कि महाबलीपुरम्के बहुत-से मन्दिर तथा भवन नरसिंहवर्मनके राज्यकालसे सम्बन्धित हैं।

नरसिंह वर्मनका उपनाम 'मामल्ल' था और कुछ विद्वानोंके मतानुसार महाबलीपुरम्का नाम भी इसी उपनामके आधारपर हुआ। नरसिंह वर्मन प्रथमके बाद नरसिंह वर्मन द्वितीय और नान्दी वर्मनने पल्लव-साम्राज्यकी परम्पराओंको जारी रखा, किंतु उनके बाद अयोग्य एवं निर्बल उत्तराधि-कारियोंके आ जानेसे यह साम्राज्य अधिक देरतक स्थिर न रह सका और ९ वीं शताब्दीमें चोलवंशने इसे बिल्कुल नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

महाबलीपुरम्के ऐतिहासिक महत्त्वके बाद हम इसकी कलात्मक और सांस्कृतिक विशेषताओंकी ओर आते हैं। यहाँके मन्दिरोंमें हमें तत्कालीन भारतीय संस्कृति और कलाके साथ-साथ दर्शन होते हैं। प्रतिमाएँ और पत्थरोंपर खुदी कलाकृतियाँ तत्कालीन शिल्पकलाके उत्कर्षका आज भी सजीव परिचय देती हैं।

महाबलीपुरम्के अधिकांश मन्दिर पत्थरकी चट्टानें काटकर बनाये गये हैं। कुछ मन्दिर रथोंके रूपमें हैं और कुछ गुफाओंकी आकृतिमें। इसके अतिरिक्त कुछ कलाकृतियाँ पत्थरकी दीवारोंपर अङ्कित हैं। इनमेंसे कुछ मन्दिर, जो पर्यटकोंके मनपर एक अमिट छाप छोड़ देते हैं, उल्लेखनीय हैं। पाँच रथोंके रूपमें बने यहाँके पाँच मन्दिर महाभारतके

पाँच पाण्डव पात्रोंसे सम्बन्धित हैं। इन मन्दिरोंकी बाह्य दीवारोंपर बहुत-सी घटनाएँ चित्रोंके रूपमें अङ्कित हैं।

'महिषासुर-मण्डप' यहाँके सुन्दरतम और शिल्पकलाकी बहुत-सी विशेषताओंका प्रतिनिधित्व करनेके कारण उल्लेखनीय है। यह एक गुफाके रूपमें है और इसमें विष्णुशयन और महिषासुर-दलनके दृश्योंका सजीव चित्रण किया गया है। भगवान् विष्णु शेषनागपर शयन कर रहे हैं और देवी दुर्गा महिषासुरका वध करके अपने सिंहपर आरूढ़ दिखायी गयी हैं। गोवर्धनमण्डप तथा पशुमण्डप भी इसी प्रकारके गुफा-मन्दिर हैं।

'कृष्णमण्डप' भी नगरके प्रतिनिधि मन्दिरोंमें गिना जाता है। इसकी दीवारोंपर भगवान् श्रीकृष्णके जीवनकी घटनाओंसे सम्बन्धित बहुत-से दृश्य अत्यन्त सुन्दर रूपमें अङ्कित हैं, जिनमेंसे कला झाँकती हुई प्रतीत होती है।

इस प्रकार महाबलीपुरम्‌का सारा महत्त्व उसके इन्हीं ऐतिहासिक तथ्यों एवं सांस्कृतिक और कलात्मक विशेषताओंमें निहित है। महाबलीपुरम्‌की शिल्पकला और मन्दिरोंके सौन्दर्यका वर्णन ऊपर किया जा चुका है; किंतु इसकी कहानी तबतक अपूर्ण ही रहेगी, जबतक इसके तटवर्ती मन्दिरोंका वर्णन न किया जाय।

महाबलीपुरम् समुद्रतटपर स्थित है और यह सम्पूर्ण तट मन्दिरोंसे आवृत है। बंगालकी खाड़ीकी चञ्चल लहरें अबतक न जाने कितनी बार इन मन्दिरोंके चरण-स्पर्श कर हिंदू-जनताकी आस्था एवं निष्ठासे युक्त धार्मिक भावनाके प्रति अपना सम्मान व्यक्त कर चुकी हैं। पल्लव राजा राजसिंहद्वारा सातवीं सदीमें निर्मित एक मन्दिर अभी भी समुद्रतटपर खड़ा अपनी गौरवपूर्ण गाथा कह रहा है। किंतु कुछ मन्दिर ऐसे भी हैं, जिनकी अब केवल याद ही शेष रह गयी है, जो अपना जीवनकाल समाप्त होनेपर समुद्रके विशाल गर्भमें समा चुके हैं। महाबलीपुरम्-वासियोंसे सुनी कथाओंके अनुसार अबतक ऐसे सात तटवर्ती मन्दिरोंको समुद्रकी लहरें समेटकर ले जा चुकी हैं।

दक्षिणके इस रमणीय नगर महाबलीपुरम्‌के रमणीय दृश्यों, देवमन्दिरोंको देखते-देखते संध्या हो चली। हमलोग भी दोपहरकी चिलचिलाती धूपके तापसे तर हो इस सुहावनी संध्याकी प्रतीक्षामें ही थे। देखा, समुद्रकी शोभा अपूर्व हो उठी है। ऊपर नीलाकाश, नीचे नीलिमा लिये लहराता नील-सिन्धु। एक एकदम निश्चल, निस्पन्द, निष्प्राण, नीरव, निःशब्द और निस्तेज तो दूसरा पल-पल अपनी पलरियोंमें मचलता गतिशील, गगनसे स्पर्द्धा-सी करता, गड़गड़ाता, शब्द करता, प्रवेग वायुमें एक ओरसे दूसरी ओर अपनी ऊर्मियोंमें उठता, सिमटता, बहता, सुदूर अपने आँचलसे उठ रही रविरश्मियोंके बिखरे हुए आलोकमें रजत-सा चमचमाता शोभायमान हो रहा था। नीलाकाश और नीलसिन्धुके इस नयनाभिराम और निराले दृश्यको निर्निमेष दृष्टिसे जाने कितनी देरतक देखते-देखते हम थकित-तन, थकित-मन और थकित-नयन उदधिके उस विस्तीर्ण वालुका-तटसे विदा हुए।

इन ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक विशेषताओंकी दृष्टिसे महाबलीपुरम् मद्रासके समकक्ष ठहरता है; किंतु इतना सब होनेपर भी दोनोंमें पर्याप्त अन्तर है। मद्रासकी गणना भारतके आधुनिकतम नगरोंमें होती है, जब कि महाबलीपुरम् एक मनोरम ग्रामसे अधिक नहीं है। हाँ, पर्यटकोंकी सुविधाकी दृष्टिसे सरकारने इसकी शोभा बढ़ानेका प्रयत्न अवश्य किया है। मद्राससे यहाँतक जो सड़क बनायी गयी है, जिसके दोनों ओर नारियल तथा आमके पेड़ लगा दिये गये हैं। मद्राससे सहस्रों देशी, विदेशी पर्यटक प्रतिवर्ष इस मार्गसे महाबलीपुरम् पहुँचते हैं। नियमित बसें प्रतिदिन जाती हैं और रविवार तथा छुट्टीके दिनोंपर राज्य-सरकारकी ओरसे विशेष बसोंकी व्यवस्था है।

दिनाङ्क १३ सितम्बरकी संध्याको महाबलीपुरम्‌से विदा ले हमलोग मोटर बससे ही मद्रासके लिये रवाना हुए और लगभग साढ़े सात बजे हमारी बस मद्रासके मोटर स्टैंडपर जा लगी। मद्रासमें हमलोगोंने गोविन्ददासके भानजे भगवानदासके निवास-स्थानपर रात्रि सुखपूर्वक बितायी। दूसरे दिन हमलोगोंने अपना मुकाम मद्रास ही रक्खा। दिनभर आराम करनेके बाद रात्रिमें साढ़े नौ बजे रेलद्वारा हम मद्राससे त्रिचनापल्लीके लिये रवाना हुए। दिनाङ्क १५ के प्रातःकाल हम त्रिचनापल्ली पहुँचे।

(क्रमशः)

अशान्ति और हिंसात्मक प्रवृत्तियोंका उत्तरदायित्व प्रशासन-नीतिपर

(लेखक—श्रीइन्द्रलालजी शास्त्री, जैन)

भारतमें स्वतन्त्रताके बाद जो सुख-शान्ति अपेक्षित थी, वह सर्वथा धूमिल और क्षीण हो गयी, जिसका प्रधान कारण है—भारतकी परम भौतिकतापरक राजनीति ! जब भौतिकतापर आध्यात्मिकताका अङ्कुश हट जाता है, तब वह भौतिकता स्वच्छन्द हो जाती है। आज भारत-प्रशासनका ध्येय केवल धन-भोग-मैथुनरूप भौतिकता है और उसकी शिक्षा-दीक्षा लेता है वह पाश्चात्त्य देशोंसे। इसीका कुफल है कि आज भारतके किसी वर्गमें शान्तिका लेश भी नहीं है।

प्रशासक-वर्गमें भौतिक साधनोंकी अविकल प्राप्तिसे शान्तिका आभास अवश्य होता है; परंतु आगे अधिकाधिक भौतिक साधन समुपलब्ध हों, यह असीम तृष्णा है और साथ ही, जो छात्रादिके उपद्रवोंसे अशान्ति हो रही है, उससे भी वे कुछ संतप्त हैं। छात्रोंद्वारा जो यत्र-तत्र घोर उपद्रव, तोड़-फोड़, हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ सुनी जाती हैं, उसमें शाखा-पत्ररूपसे कौन दोषी हैं, यह तो नहीं कहा जा सकता। परंतु मूल दोष तो प्रशासन-नीतिका ही है—यह कहा जा सकता है। छात्रोंमें ऐसी बुद्धिका निर्माण करनेमें प्रशासनका ही पूर्ण उत्तरदायित्व है।

शिक्षा प्रशासनके हाथमें है। दीक्षा भी अधिकांश उसीके हाथमें है। वर्तमान शिक्षा-दीक्षामें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहका कहीं नामनिशान भी नहीं है, प्रत्युत सारे विचार और साधन इनके विरुद्ध हैं। भारत-सरकारने सम्प्रदायोंमें प्रचलित रूढियोंको धर्म मान लिया है और उसीसे निरपेक्ष होनेकी जगह वह स्वयं वास्तविक धर्म, जो सच्चारित्र्यस्वरूप है, उससे सर्वथा निरपेक्ष (रहित) हो गयी है।

अहिंसा-सत्यादिको जीवनचर्या और दैनिक व्यवहारमें लेनेको चाहे हम नैतिकता कहें या धर्म, परंतु धर्मके नामसे आज चिढ़ पैदा हो गयी है। धर्मके नामपर नाक-भौंह सिकोड़े जाते हैं। उसीसे सारा देश आज नैतिक पतनके गर्तमें पड़ गया है। इस नैतिकताको धार्मिकताका रूप जीवनचर्यामें अनिवार्यताके लिये ही दिया गया था। इनके जो साधन निरामिषाहार, शराब-बंदी, मछली-अंडे न खाना, परस्त्रीको माता-बहनके समान देखना आदि हैं, वे सभी नैतिक कार्य हैं; परंतु ये धार्मिक रूपमें इसीलिये माने जाते हैं कि इनमें अनिवार्यता और स्थिरता रहे। परंतु भारत-सरकार धर्मके नामपर तो चिढ़ती ही है, साथ ही उसका नामान्तर नैतिकता करके उसपर भी कठोर प्रहार कर रही है।

गाय-बैलको आप धार्मिक पशु मत मानिये; परंतु इनसे होनेवाले आर्थिक, स्वास्थ्यरक्षक लाभोंकी उपेक्षा की जाकर गोहत्या जारी ही रक्खी जाय, यह कौन-सी नैतिकता अथवा प्रशासन-नीति है। कहा जाता है कि बूढ़े और दूध देनेमें असमर्थ गाय-बैलोंको मारनेमें क्या हानि है ? परंतु नैतिकतापर गहरी चोट क्या कम हानि है ? जिन गाय-बैलोंने जन्मभर केवल घास-फूस खाकर मानव-सेवा की, उनको बुढ़ापेमें मार डालना और उनका मांस खानेका प्रचार करना क्या नैतिकतापर भयानक घातक चोट नहीं है ? यदि नहीं है—तो बतलाइये फिर नैतिकताकी व्याख्या क्या है ? बूढ़े निरुपयोगी पशुओंको मार डालना क्या बूढ़े माता-पिताओंको भी मार डालनेकी शिक्षा नहीं देता ?

गो-रक्षा चाहनेवाले बेचारे गोहत्या-बंदीके लिये ही तो कहते हैं। सरकार नहीं मानती तो वे सत्याग्रह-अनशनादि करते हैं। इन लोगोंको जेलोंमें ठूँसकर यातनाएँ दी जाती हैं, क्या यह नैतिकता है ? जिसकी रक्षाके लिये बड़े-बड़े नारे लगाये और आयोजन किये जाते हैं, उस नैतिकताकी रक्षा करनेके लिये कहनेवालोंको दण्ड देनेवाली सरकार क्या स्वयं नैतिक हो सकती है ? और क्या वह स्वयं अनैतिक नहीं है ? किसी प्राणीकी रक्षा करनेकी बात कहनेवालेको सरकार दण्ड दे, यह उसकी अनैतिकताकी पराकाष्ठा है। सरकारको चाहिये था कि जिस दिन उसने स्वतन्त्र भारतका शासन हाथमें लिया था, उसी दिन वह समस्त कसाईखाने बंद कर देती और मनुष्य-हत्याके समान पशु-हत्याको भी कानूनन घोर अपराध घोषित कर देती; परंतु भारत-सरकारके संचालक नेता पाश्चात्त्य-भौतिकतासे प्रभावित हैं। वे स्वयं वैसी शिक्षा-दीक्षा और वातावरणमें पले हुए हैं। अतः उनमें यथार्थ धार्मिकता (नैतिकता) का अंश भी नहीं है।

भारत-नेता दक्षिणमार्गी न होकर वाममार्गी बन गये हैं। वाममार्गका यह सिद्धान्त है कि मदिरा, मांस, मछली, मुद्रा (रुपया) और मैथुन—ये पाँच मकार मुक्तिदाता हैं।

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
एते पञ्चमकाराः स्युः सर्वदा मोक्षदायिनः॥

भारतसरकार स्वयं इन पाँच मकारोंके प्रचारमें परम प्रगतिशील है। मानो यही उसका पञ्चशील है। मांस खाने-खिलानेके लिये साहित्य-प्रचार होता है। बड़े-बड़े मांसोद्योग चल रहे हैं और नये-नये चलाये जानेकी योजना है। आगराके पास हजरतपुरमें जनताके प्रबल विरोधपर भी सरकार एक कसाईखाना खोल रही है, जिसमें बत्तीस करोड़ रुपये लगाकर ५,००० पशु एक दिनमें काटनेकी योजना है। गाय-बैलोंको भी काट रही है। मदिराकी कमाईसे राजकीय व्यय चलाती है। आज मदिराका प्रचार अंग्रेजी कालसे भी अधिक बढ़ गया है। पशु-हत्या अंग्रेजी राज्यकी अपेक्षा कई गुना अधिक बढ़ गयी है। मछलियोंको खिलानेकी परिपाटी भी प्रगतिशील है। राजस्थानमें एक करोड़ मछलियाँ आयी हैं। इनको तालाबोंमें डालकर संख्या-वृद्धि की जायगी। इन्हें खाया-खिलाया जा रहा है। बड़े-बड़े मुर्गा-पालन कारखाने, अंडे-पालनके कारखानेके नामसे खोले जाकर, जिन्हें पालना उन्हींको खा डालना—इस अनैतिक नैतिकताका प्रचार-प्रसार किया जा रहा है। मुद्रा-स्फीति भी बढ़ती जा रही है और इसके लोभसे तो प्रायः कोई अछूता रह ही नहीं गया है। मैथुनके लिये सहशिक्षा, सहसेवा, स्त्री-समानाधिकार, परिवार-नियोजन आदिको प्रोत्साहन देनेमें एड़ीसे चोटीतक पसीना बहाया जा रहा है। शायद वेश्यालयोंको इसीलिये उठाया जा रहा है कि उपर्युक्त व्यभिचार-वर्धक प्रणालियोंके कारण वेश्यालयोंकी आवश्यकता ही समाप्त हो चुकी है। इस प्रकार सरकार चाहे विरोधियों—कम्यूनिस्टोंको वाममार्गी कहे परंतु वस्तुतः वह स्वयं वाममार्गी है। जो काम कम्यूनिस्ट करना चाहते या करते हैं, उन्हें यह स्वयं करती है। देशमें आज जो कम्यूनिस्टदल प्रगतिपर हैं, वह भी प्रशासक-नीतिकी ही देन है।

जब भौतिकता निरङ्कुश और अनर्गल हो जाती है, तब जिन उपद्रवोंसे भारत-सरकार भयभीत है, वे रुक नहीं सकते। वे लाठी-गोली-अश्रुगैससे चाहे कुछ कालके लिये दब जायँ, परंतु निर्मूल नष्ट नहीं हो सकते, उसपर भी जब कि शिक्षा-दीक्षा भी वैसी ही प्रचलित रहे। सारे साधन तो लगातार जुटाये जायँ जनताको हिंसा, असत्य, व्यभिचारादिकी भट्ठीमें झोंकनेके और आशा यह की जाय कि हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ जाग्रत् न हों—यह असम्भव है। हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ तभी रुक सकती हैं, जब शासन-नीतिमें अहिंसा, सत्यादिरूप नैतिकताको, जिसका दूसरा नाम धार्मिकताका है, सर्वोच्च स्थान दिया जाय। प्रचलित जनतन्त्रकी दूषित प्रणालीसे सुख-शान्तिका स्वप्न भी बना रहेगा, यह भी असम्भव है। फिर परम अनर्गल भौतिकतासे ही मार्गदर्शन प्राप्त किया जाय और उसका आदर्श माना जाय उन घोर भौतिकवादी पाश्चात्त्य देशोंको। इस अवस्थामें कभी भी सुख-शान्ति सम्भव नहीं है। शासन बदल भी जाय और जनतन्त्र-प्रणाली यही रहे, तो भी कोई वास्तविक लाभ नहीं होगा। वर्तमान दूषित प्रणालीको बदले बिना और भौतिकतापर त्यागका अंकुश लगाये बिना सदैव असीमित अशान्तिका ही वातावरण बना रहेगा, यह निस्संदेह है।

साम्यवादमें समताका मापदण्ड नहीं, समाजवादकी कोई परिभाषा नहीं। इसी प्रकार नैतिकताकी भी कोई परिभाषा नहीं है। मोरैलिटी (Morality) का अनुवाद नैतिकता किया गया है। मोरैलिटीका जैसा अर्थ विदेशोंमें किया जाता है, वैसा ही यहाँ भी अभिप्रेत है। वहाँ हिंसा-व्यभिचारादि मोरैलिटीके क्षेत्रसे बाहर हैं, अतः यहाँ भी चलें तो क्या आश्चर्य है ?

शिक्षा-पुस्तकोंमें कहीं भी हिंसा-व्यभिचारादिके विरुद्ध पाठ नहीं होते। अध्यापकोंमें भी जिस प्रकार परीक्षोत्तीर्णता, श्रेणी आदिकी योग्यता देखी जाती है, नैतिकता-सदाचारकी योग्यता नहीं देखी जाती। स्कूल-कालेजोंके अतिरिक्त दूसरे शिक्षालय सिनेमा होते हैं; उनमें अश्लील चित्र, अश्लील काण्ड, अश्लील गाने सिखाये जाते हैं। छात्रोंको सिनेमा देखनेके लिये आधा शुल्क करके भी प्रेरित किया जाता है। हमारे घर भी नैतिकताके प्रतिकूल बनते जा रहे हैं—ऐसी स्थितिमें छात्र हिंसक प्रवृत्तियाँ करें तो इसमें अधिकांश दोष प्रशासन-नीतिका ही हो सकता है।

विद्यासे 'विनय' आनी चाहिये, परंतु आजकलकी शिक्षा-दीक्षासे अविनीतताको ही प्रोत्साहन मिलता है। जबतक हमारी नीति भारतीय-संस्कृतिपर आधारित न होगी, देशकी आन्तरिक स्थिति पतनोन्मुख ही होती रहेगी। भारतकी नीति नैतिक हो, यह आशा भी धूमिल ही प्रतीत होती है।

हे राम ! तुम्हारा ध्यान रहे

(रचयिता—पं० श्रीसूरजचंदजी डाँगी 'सत्यप्रेमी')

सन्मर्यादाका मान रहे।
हे राम ! तुम्हारा ध्यान रहे॥
जग-जीवनकी इस लीलामें, रोते-हँसते सब खेल करें।
निर्लिप्त रहें, निष्काम रहें, संन्यास-कर्मका मेल करें॥
सच्चिदानन्दका ज्ञान रहे।
हे राम ! तुम्हारा ध्यान रहे॥ १ ॥

कर्तव्य न भूल सकें अपना, समभाव हृदयको सिखलायें।
सुखमें न कभी अभिमान रहे, दुखमें न दीनता दिखलायें॥
मुखमें मीठी मुस्कान रहे।
हे राम ! तुम्हारा ध्यान रहे॥ २ ॥

दुनियाके सुन्दर उपवनमें, सब निरख-निरखकर हरा-हरा।
मनमें मस्ती, तनमें चुस्ती, चितवनमें हो उत्साह भरा॥
पर भले-बुरेका भान रहे।
हे राम ! तुम्हारा ध्यान रहे॥ ३ ॥

कुल-जाति-पाँतिका गर्व न हो, हम सत्य-प्रेमका मान करें।
शबरीके मीठे बेर खाय, केवटके घर जलपान करें॥
यों मानवताकी शान रहे।
हे राम ! तुम्हारा ध्यान रहे॥ ४ ॥

चाहे केवट हो, वानर हो, हम बान्धव-सा सत्कार करें।
यदि मिले विभीषण राक्षस भी, तो मित्र बनाकर प्यार करें॥
राक्षसताकी सुविधा न रहे।
हे राम ! तुम्हारा ध्यान रहे॥ ५ ॥

अबला-अनाथ-असहायोंपर अत्याचारोंको सह न सकें।
कामी सम्राटोंके प्रचण्ड आतङ्क-वेगमें बह न सकें॥
निश्छल दृढ़ताकी बान रहे।
हे राम ! तुम्हारा ध्यान रहे॥ ६ ॥

सेवा अञ्जनिके नन्दन-सी, उत्साह सुमित्रा-नन्दन-सा।
कैकयी-नन्दन-सा भ्रातृभाव, वात्सल्य रहे अज-नन्दन-सा॥
भू-नन्दिनि-सा ईमान रहे।
हे राम ! तुम्हारा ध्यान रहे॥ ७ ॥

पुरुषोत्तम-सा आदर्श रहे, रामायण-सा रस-पान रहे।
चमकें जबतक ये सूर्यचन्द्र, घर-घर प्रभुका गुणगान रहे॥
हरि-भक्तोंका अहसान रहे।
हे राम ! तुम्हारा ध्यान रहे॥ ८ ॥

गोहत्या-बंदीका प्रयत्न चालू है

सम्पूर्ण रूपसे सारे देशमें गोवंशकी हत्या कानूनसे बंद हो जाय, इसके लिये प्रयत्न अभी चल रहा है। आचार्य तथा अन्य महात्माओंके अनशन भी चल रहे हैं। पर अबतक कोई खास सफलता नहीं मिली। सरकारकी बुद्धिमें परिवर्तन नहीं हुआ। अवश्य ही देशभरमें इस समय गोहत्याके लिये एक महान् चिन्ताका तथा गोरक्षाकी प्रबल आकाङ्क्षाका वातावरण बन गया है। लोग उत्साह-पूर्वक गोमाताकी रक्षाके लिये त्याग करनेको प्रस्तुत हैं और त्याग कर रहे हैं। यह शुभ लक्षण है।

सबसे अधिक आदरके पात्र हैं—वे सहस्र-सहस्र साधु-संत, गृहस्थ पुरुष और महिलाएँ, जिन्होंने केवल गोमाताके प्राणोंकी रक्षाके पवित्र तथा महान् उद्देश्यसे त्याग-बलिदानके यज्ञमें सत्याग्रही बनकर अपनी आहुति दी है। ऐसी सूचना है कि अबतक लगभग ३५ से ४० हजार नर-नारी पकड़े जा चुके हैं और चौदह-पंद्रह हजार अभी दिल्ली, आगरा, रोहतक, भिवानी आदि नगरोंकी जेलोंमें बंद हैं। इस भयानक शीतकालमें भजन-साधनमें लगे हुए साधु-संत, बड़े-बड़े आचार्य, श्रद्धास्पद विद्वान्, लोकनायक, अपने-अपने कार्योंमें व्यस्त गृहस्थ, व्यापारी, पण्डित, तरुण विद्यार्थी, बूढ़ी दादियाँ और माताएँ, तरुणी देवियाँ, जिनकी गोदमें छोटे-छोटे बच्चे हैं—(एक वीर जननी तो तीन दिनके नवजात बच्चेको लेकर कारागारमें पहुँची हैं।) ये सभी स्वेच्छासे पवित्र गोभक्तिके कारण सत्याग्रह करके कारागारमें पहुँचनेके लिये ही अपने-अपने काम छोड़कर तथा अपने-अपने स्थानोंसे चलकर दिल्ली आये हैं। इन लोगोंको न कहींसे पैसे मिले, न मान मिला, न जमीन-जायदाद मिली और न कहीं मन्त्रि-पदकी ही इन्हें आशा है। इन्हें तो मिले हैं—कष्ट—तथा हवालातों और कारागारोंकी कठिन यातनाएँ। पर साथ ही मिला है गोरक्षाके लिये किये गये तपसे समुत्पन्न महान् पुण्य। जेलोंमें स्थानका अभाव हो गया है। बहुत-से लोग तंबुओंमें हैं, कुछ पेड़ोंके नीचे पड़े हैं, कुछ खुले मैदानमें हैं। न इनके पास ओढ़नेको पूरे वस्त्र हैं, न खानेको पूरा भोजन। दिल्लीकी जेलमें तो कुछ ठीक बर्ताव होता है; पर सुना गया है कि अन्यान्य जेलोंमें तो इन लोगोंको बहुत कष्ट दिया जाता है। फिर भी ये उसे सह रहे हैं और जत्थे-पर-जत्थे आ-आकर जेल जा रहे हैं। धन्य है।

गत ७ नवम्बरको गोली-लाठी लगनेसे जिन पुरुषोंकी मृत्यु हो गयी या जिनके अङ्ग-भङ्ग हो गये, वे सभी परम श्रद्धाभाजन हैं और उनके इस बलिदानका बड़ा मङ्गल परिणाम होगा।

अनशन करनेवालोंमें ब्रह्मचारी श्रीऋषिस्वरूपजी, मिर्जापुरके श्रीबद्री महाराज, दृढ़प्रतिज्ञ त्यागी परम गोभक्त श्रीमेहरचन्दजी पाहुजा और श्रीकिशनलालजी गोरक्षार्थ देह त्यागकर अमर हो चुके हैं। मृत्यु एक दिन सभीको अपना ग्रास बनाती है, पर गोमाताकी रक्षाके लिये मरनेवाले ये लोग तो मरकर एक आदर्श स्थापित कर गये हैं। इनके अतिरिक्त हजारों-लाखों नर-नारी गोमाताकी रक्षाके लिये अपनी-अपनी मान्यता तथा श्रद्धाके अनुसार भगवदाराधन तथा देवाराधन कर रहे हैं।

गोमाताके लिये त्याग करनेवाले उपर्युक्त तपस्वी नर-नारियोंकी तपस्या और श्रद्धालु स्त्री-पुरुषोंकी आराधना व्यर्थ नहीं जायगी। उसका महान् अदृष्ट फल तो है ही, होगा ही। भारतमें गोहत्या भी पूर्णतया बंद होगी। तदनन्तर गोपालन और गो-संवर्धनका पुण्य कार्य भी सम्पन्न होगा।

वर्तमान कांग्रेस सरकार इस कामको करके श्रेय ले लेती तो सर्वोत्तम था। उसके कर्णधार पुण्य और यशके भागी तथा विशाल जनताके अत्यन्त स्नेहभाजन बनते; परंतु पता नहीं, किस दुर्भाग्यसे इनकी बुद्धि विपरीत हो गयी।

अभी हालमें श्रीपाटिल महोदयने सरकारकी ओरसे दिये जानेवाले एक वक्तव्यका एक मसविदा बनाया था। माँग पूरी न होनेपर भी सर्वदलीय समितिने उसे मान लिया था। उन्होंने पूर्ण आशा व्यक्त की थी कि सरकार इसे स्वीकार अवश्य कर लेगी। परंतु अभी समाचार मिला है कि सरकारने उसे स्वीकार न करके कोई दूसरा मसविदा दिया है जो समितिकी दृष्टिमें कुछ भी महत्त्व नहीं रखता। अतः आन्दोलनको जारी रखना ही उचित समझा गया। आगे चलकर सम्पूर्ण गोवंशकी हत्या तो बंद होगी ही, इस सरकारके सिरपर सदाके लिये कलङ्कका टीका लग जायगा और जो पाप होगा—उसका फल तो बाध्य होकर इसके कर्णधारोंको भोगना ही पड़ेगा। समितिके संचालक यदि शिथिल होकर तपस्या छोड़ देंगे तो वे भी कर्तव्यच्युत ही होंगे। मङ्गलमय भगवान् सबको सद्बुद्धि दें—सबका मङ्गल करें। २२। १। ६७

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

सम्पूर्ण गोवध-बंदी क्यों ?

(लेखक—श्रीराधाकृष्णजी बजाज)

गोवध-बंदी सम्पूर्ण होनी चाहिये। आंशिक (Partial) या उपयोगी (Useful) तक सीमित रखनेसे काम नहीं चलेगा। भारतीय संस्कृतिका गोरक्षा एवं सम्पूर्ण गोवध-बंदी एक अपरिहार्य अङ्ग है। भारत कभी गोवधको सह नहीं सकेगा। गौसे मेरा मतलब सम्पूर्ण गोवंशसे है; जो भावना गोवंशके लिये है, वह एकमात्र गोवंशके लिये ही है। उसमें भैंस आदि पशु नहीं आते। उपयोगी पशुओंकी रक्षाकी दृष्टिसे भैंस, घोड़े आदि अन्य उपयोगी पशुओंका कत्ल बंद करनेके लिये स्वतन्त्र कानून बनाना पड़े तो बना सकते हैं। भारतीय संस्कृतिकी यह विशेषता है कि वह गोवधको रोकती है। विश्वशान्तिके लिये यह आवश्यक है कि स्वार्थपरायणता घटे, कृतज्ञता एवं सेवापरायणता बढ़े। गोरक्षाके द्वारा भारतीय संस्कृतिने इस ओर ले जानेका प्रयत्न किया है। गोवध बंद करना मानवताकी रक्षा करना है। माताने केवल सालभर दूध पिलाया है, लेकिन गोमाता जन्मभर पिलाती है। 'बैल' यह ऐसा एंजिन है, जो बिना तेलके स्थानीय घासपर चलता है, बिना लोहे तथा कारखानेके बनता है। गाय ऐसा खाद देती है, जिसने हजारों वर्षोंसे हमारी भूमिकी उपजाऊ शक्ति कायम रखी है। ऐसी परोपकारी गायको हम कम-से-कम मान दें तो भी माँसे कम नहीं मान सकते; गाय जीवनभर हमें उत्पादन देती है। जिसने अपने जीवनमें हजारोंका लाभ दिया है, वह बुढ़ापेमें साल-दो-साल बैठकर अपनी मौत मरना चाहती है—उस समय भी वह खाद तो देती ही रहेगी। फिर भी उस अर्सेमें सौ-दो-सौ रुपया खर्चा होगा। उसीकी कमाईमेंसे होनेवाले इस खर्चेको बचानेके लोभसे उसका कत्ल करनेका विचार करना मानवताको गिराना है। मनुष्य केवल अर्थके बलपर नहीं जीता। भावनाका उसके जीवनपर भारी असर होता है। भावनाके लिये मनुष्य ही नहीं, राष्ट्र-के-राष्ट्र मर मिटते हैं। गोवध-बंदीके लिये भावनाका होना पर्याप्त कारण मानना चाहिये।

× × × ×

हम देखते हैं कि कई विशेषज्ञ गायके हितमें ही गोवध जारी रखना चाहते हैं। वे समझते हैं कि गोवध चालू रहा तो गायकी हालत अच्छी रहेगी और गोवध बंद होनेसे हालत एकदम बिगड़ जायगी। उनकी सद्भावनाकी हम कदर करते हैं। फिर भी वे सोचें कि आज १५० सालसे बराबर अनिर्बन्ध गोवध जारी है। गायकी हालत सुधरी या बिगड़ी ? १५० वर्ष गोवध कायम रखके भी गायकी हालत बिगड़ती गयी तो अब गोवध बंद करके देशकी भावनाको तो संतोष दीजिये। इतनी हालत बिगड़ी है, उसमें और थोड़ी बिगड़ जायगी, ज्यादा क्या होना है ? वास्तवमें देखा जाय तो गायकी हालत सुधरने, न सुधरनेका आधार केवल गोवध या गोवध-बंदी नहीं है, उसका आधार गोपालनके विधायक तरीके हैं। देशकी भावनाकी कदर करके हमें सम्पूर्ण गोवध बंद करना चाहिये और उससे पैदा हुई सद्भावनाको बटोरकर विधायक गोपालनसे गायकी एवं भारतकी दशा सुधारनी चाहिये।

खर्च

गोसदनके खर्चके लिये आम जनतापर गो-टैक्स या गाय-भैंसवालोंपर पशु-सेस (Cess) नहीं बैठाना चाहिये। ऐसा करनेमें गायके प्रति एक विरोधी भावना तैयार होगी। जहाँतक बने, वहाँतक गायको स्वावलम्बी बनाना चाहिये। अनुत्पादक पशु कमसे कम पैदा हों, नस्ल-उत्पादन-नीति (ब्रीडिंग-पालिसी) के द्वारा इसपर नियन्त्रण करना चाहिये। जो हैं, उनसे काम लेना चाहिये। फिर भी कुछ खर्च तो होगा ही। कई जगह व्यापारी मंडियोंमें गोशालाओंके लिये 'लागबाग' चालू है। उसीको कानूनी बनाकर सब मंडियोंपर लागू कर दिया जाय। जहाँ स्थानीय गोरक्षण-संस्था हो, आधी लाग उसे दी जाय और आधी गोसदनके लिये रखी जाय। जहाँ स्थानीय गोरक्षण-संस्था न हो वहाँकी पूरी आमदनी गोसदनके लिये रहे।

गोरक्षण-संस्थाके मुख्य दो काम होने चाहिये—

(१) अपंग पशुओंका पालन।

(२) अच्छे साँड़ोंका निर्माण।

अच्छे साँड़ोंका प्रचार करके अनुत्पादक पशुओंकी वृद्धि रोकनी चाहिये। इस नीतिसे बराबर काम होता रहा तो एक समय ऐसा आ सकता है, जब गाय पूर्ण स्वावलम्बी हो जाय। इतना ही नहीं, बचत भी देने लगेगी। ऐसा समय आनेपर अधिकांश लोग बूढ़ी गायोंको गोसदन न भेजकर घरपर ही पाल लेंगे। केवल खादहीके लिये हमारे मध्यप्रदेशमें गायें

रखी जाती हैं। भारतके किसानोंको बूढ़ी और जवान, सब मिलाकर खर्चसे थोड़ी अधिक आमदनी होती रही तो वह अधिक मुनाफेके लिये बूढ़ी गायोंको गोसदन नहीं भेजेंगे।

राष्ट्रीय अर्थशास्त्रमें खादकी कीमत बाजार दरसे न लगाकर खादके डालनेसे जितने वर्षोंतक जितनी पैदावार अधिक हो, उसपरसे लगाना चाहिये।

हमारा यह विश्वास है कि आज भी गाय भारतके राष्ट्रीय अर्थशास्त्रमें स्वावलम्बी है। छोटेसे लेकर बूढ़ेतक जितना खर्च राष्ट्रका गोवंशपर होता है, उससे अधिक उत्पादन राष्ट्रको वह देती है। कत्ल बंद करनेपर भी वह खर्चसे अधिक उत्पादन देगी। नस्ल-सुधार होनेपर तो वह बहुत बड़ी बचत देगी। लेकिन हमें व्यक्तिगत अर्थशास्त्र और राष्ट्रीय अर्थशास्त्रमें भेद समझना चाहिये। व्यक्तिगत अर्थशास्त्र माँग और पूर्ति (Demand and Supply) पर आधारित होता है। वह केवल 'अनर्थ-शास्त्र' है। राष्ट्रीय अर्थशास्त्र यह है कि राष्ट्रको कितना धन पोषणमें खर्च करना पड़ा और कितना वापस मिला। इसका हिसाब मेहनत, वस्तु आदिके रूपमें लगाना होता है, पैसेके रूपमें नहीं।

× × × ×

नस्ल-सुधार

गो-नस्ल-सुधारका काम आरम्भ करनेके पहले यह तय करना होगा कि नस्ल-सुधार कहें किसे। आज दुनियाभरमें गायसे दूध और मांस, ये दो लाभ लिये जाते हैं। इस तरह उनका नस्ल-सुधार दूध और मांस बढ़ानेकी दृष्टिसे होता है। भारतमें गायसे दूध और खेती, ये दो काम लिये जाते हैं। इसलिये हमारे नस्ल-सुधारका लक्ष्य दूध और बैल-शक्ति बढ़ाना होना चाहिये। गोपालनपर विचार करनेवाले हमलोग अधिकांश शहरोंके निवासी होते हैं। हमें अनाज तो कहींसे मिल ही जाता है। हम सोचते हैं कि गायका प्रश्न यानी दूधका प्रश्न। वास्तविक हिंदुस्तानमें खेतीका यानी बैल-शक्तिका प्रश्न सबसे अधिक महत्त्वका है। मनुष्य दूध बिना निभा सकता है; लेकिन अनाज बिना नहीं निभा सकता। आज बैलकी जननीके नाते ही भारतमें गाय जिंदा है। इसलिये गो-नस्ल-सुधारकी हमारी नीति तय होनी चाहिये, ताकि बैल-शक्ति बढ़ाते हुए दूध बढ़ाया जा सके।

दूसरा महत्त्वका प्रश्न यह है कि हम गोपालन गोरक्षणके आधारपर करेंगे या गोभक्षणके आधारपर। विदेशोंमें गोभक्षणके आधारपर गोसंवर्द्धन होता है। भारतमें सम्पूर्ण गोवध-बंदीका लक्ष्य रखकर गोसंवर्द्धनकी नीति बनानी होगी। बेकाम पशु न बढ़ें, इसकी चिन्ता रखनी होगी। इसका नियन्त्रण, संवर्द्धनकी नीति (Breeding Policy) से करना होगा। कत्ल करनेवालोंको उसकी अधिक चिन्ता नहीं रहती। गोवध-बंदीका निर्णय होनेसे देशकी गोसंवर्द्धनकी नीति स्थिर हो सकेगी। कम-से-कम २५ वर्ष एक ही नीतिसे काम हो, तब कहीं संवर्द्धनके लाभ नजर आते हैं। हमलोग गोसंवर्द्धनकी इस नीतिको सर्वाङ्गीकी नीति कहते हैं।

हमें यह भी तय करना चाहिये कि जिस स्थानकी खेतीमें जो बैल अधिक काम देते हैं, उस स्थानमें उन्हीं स्थानीय गायोंकी तरक्की की जाय, चाहे उन गायोंको किसी नस्लका नाम हो या न हो।

× × × ×

बैल और ट्रैक्टर

बैलके बजाय ट्रैक्टर्स (Tractors) से काम लेनेके विषयमें हमारी पहली राय है कि आज यह बात अनेक वर्षोंतक भारतकी स्थितिमें सम्भव नहीं है; इसके पीछे शक्ति खर्च की जाय तो बैल-शक्तिकी उपेक्षा होगी और ट्रैक्टर बढ़ेंगे नहीं; दोनों तरहसे देशका विनाश होगा, महायुद्धोंके समय बाहरका तेल मिलना बंद होनेपर ट्रैक्टर सब बंद हो जायँगे; उनपर हमारा आधार रहा तो हम बे-मौत मरेंगे। इसलिये हमें अपनी पूरी ताकत बैल-शक्तिको बढ़ानेमें लगानी चाहिये।

दुनियामें आज साम्यवाद और साम्ययोग—ये दो विचारधाराएँ चल रही हैं। सर्वोदय-समाज-रचनाको पू० विनोबाजीने साम्ययोग नाम दिया है। साम्यवाद केन्द्रीकरणके पक्षमें है, साम्ययोग विकेन्द्रीकरण चाहता है। विकेन्द्रीकरणकी मुख्य चालक-शक्ति पशु-शक्ति यानी यहाँ बैल-शक्ति है। आज भारतमें गाय बैलकी जननीके नाते जिंदा है। दूधका स्थान तो भैंसने ही ले लिया है; जिस दिन ट्रैक्टर युग आयेगा, उस दिन भारतसे गाय खतम हो जायगी, भारतकी गोप्रधान-संस्कृति खतम हो जायगी। उस दिन गोभक्षणपर आधारित गोसंवर्द्धन चलने लगेगा, अहिंसाकी बात छोड़नी होगी। यह एक मनुष्य-जीवनका महत्त्वपूर्ण सवाल है, उसे किस रास्ते जाना है, यह तय करनेकी बात है।

गोहत्यापर प्रतिबन्ध क्यों ?

(लेखक—श्रीओंकारनाथजी बजाज)

"मेरे नजदीक गो-रक्षाका प्रश्न स्वराज्यके प्रश्नसे भी बड़ा है। मैं गो-विहीन भारतकी कल्पना भी नहीं कर सकता। मैं गोवध और मनुष्यवधको बराबर मानता हूँ।"

—महात्मा गांधी

आज सारे भारत देशमें गोहत्यापर प्रतिबन्ध लगानेकी माँगको लेकर महान् हिंदू जातिके सनातनी, आर्यसमाजी, जैन, बौद्ध, सिख आदि विभिन्न सम्प्रदायोंके नेता एक मञ्चपर एकत्रित होकर प्रचण्ड प्रदर्शन एवं आन्दोलन कर रहे हैं। देशके लाखों साधु, संत एवं धर्माचार्य गोरक्षाके महान् प्रश्नपर बलिदान होनेके लिये आगे आये हैं। साधु-समाजका एक ठोस सामाजिक कार्यके लिये अग्रसर होना शुभ लक्षण है। भारतके ४३ करोड़ हिंदुओंकी धार्मिक भावनाओंकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कांग्रेस सरकारको हठधर्मी त्यागकर गोहत्यापर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाना ही होगा।

परंतु एक प्रश्न है, जो गैर हिंदुओंके ही नहीं, हिंदुओंके मनमें भी एक शङ्काके रूपमें बना हुआ है। एक पशुके लिये हम क्यों इतनी भाग-दौड़ कर रहे हैं? एक जानवरको बचानेके लिये मानवका बलिदान क्या उचित है? राकेटके युगमें, अपने पूर्वजोंकी भाँति, गौको माता कहना और उसकी रक्षाके लिये चीखना, कहीं हमारी मूर्खताका प्रदर्शन तो नहीं? सभी हिंदू गौको माता मानते हैं। उसका मांस नहीं खाते, गो-रक्षाकी आवाजमें आवाज मिलाकर नारे भी लगाते हैं; परंतु पूर्ण श्रद्धा उन सभीके मनमें नजर नहीं आती। गौके प्रति जो कट्टर भावना होनी चाहिये, उसकी कमी हो गयी है और उसका मुख्य कारण यही है कि हम उसकी महत्ता और उपयोगिताको समझे नहीं हैं। गौ-हत्यारोंके कुतर्कोंसे हम प्रभावित हैं। केवल हिंदू होनेके नाते हम लकीर पीट रहे हैं। यह शङ्कामय स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण है। पूर्ण श्रद्धा और विश्वासके अभावमें कोई भी कार्य फलदायक नहीं होता।

अब हम गो-हत्याके समर्थकोंके सामान्य प्रश्नों और तर्कोंका उत्तर दे रहे हैं। हमारी प्रार्थना है कि पक्षपात तथा कुतर्कोंको त्यागकर इसे शुद्ध और निःस्वार्थ भावसे समझा जाय और गोहत्यापर प्रतिबन्ध लगवानेके लिये एकमत होकर प्रयत्न किया जाय।

शङ्का-समाधान

शङ्का—ये पुराणखण्डी गोभक्त कितने पिछड़े हुए हैं! आजके ऐटमी युगमें भी ये लोग एक पशुको माता कहते हैं और उसके लिये स्वयं बलिदान होनेको तत्पर हैं!

समाधान—जिस युगमें गौको माताकी पदवी दी गयी थी, उस समय यहाँ विज्ञान अपनी चरम सीमापर चमक रहा था। आजके वैज्ञानिक तो हमारे पूर्वजोंकी उन वैज्ञानिक उपलब्धियोंमेंसे कुछ तनिक-सी ढूँढ़ पाये हैं।

गौ पशु है; परंतु मनुष्य भी तो एक पशु ही है। बहुत-से अंशोंमें तो हम पशुसे भी नीचे हैं। इस सृष्टिके असंख्य पशु-पक्षियोंको छोड़कर हमारे पूर्वजोंने गायको ही माताका दर्जा क्यों दिया है, इस प्रश्नका उत्तर स्वयं सिद्ध है। केवल हठधर्मी और स्वार्थ त्यागकर समझनेकी आवश्यकता है। गायकी सर्वाङ्गीण उपयोगिता, पवित्रता, गुण, सादगी तथा मानव-जातिके ऊपर उसके अनन्त उपकारोंके कारण ही हमने उसे माता कहा है, उसको अपने परिवारका सदस्य माना है और उसकी रक्षाके लिये हम बलिदानी भावना रखते हैं। किसी पशुतकके उपकारोंका कृतज्ञ होना और उसका बदला प्राण देकर भी चुकाना पिछड़ेपनका नहीं, विकसित सभ्यताका द्योतक है। हमको अपनी इस मानवीय भावनापर शर्म नहीं, गर्व है।

शङ्का—भैंस गायसे अधिक दूध देती है और उसके दूधमें चिकनाई भी अधिक है; फिर गायको ही इतनी मान्यता क्यों?

समाधान—गाय और भैंसके दूधके गुणोंमें दिन और रातका अन्तर है। यह बात वैद्यकशास्त्रके द्वारा सिद्ध है।

रोगी, वृद्ध और बालकोंको भैंसका दूध नहीं दिया जाता, गायका दिया जाता है। भैंसके दूधमें उन समस्त गुणोंका अभाव है, जो गौके दूधमें होते हैं। इसके अतिरिक्त पवित्रता, सीधापन, सुन्दरता, कार्यक्षमता आदिमें गोवंशका मुकाबला भैंस और भैंसेसे नहीं किया जा सकता। अच्छी नस्लकी गायें भैंससे अधिक दूध देती हैं। गायका दूध पृथ्वीपर अमृत है।

शङ्का—गायके अतिरिक्त जो अन्य पशु-पक्षी हैं, उनकी हत्यापर आपलोग चुप क्यों हैं? वे भी तो प्राणवान् हैं, उन्हें भी बचाइये। गोवंशसे ही इतना प्रेम क्यों है?

समाधान—गोवंशसे विशेष प्रेमके कारण उसके दूधके अमृतोपम गुण और मानव-जातिके प्रति उसके अनन्त उपकार ही मुख्य हैं। जहाँतक अन्य पशु-पक्षियोंको बचानेका प्रश्न है, शाकाहारी लोग उन्हें भी बचानेका शक्तिभर प्रयत्न करते ही हैं। हम तो उस धर्मके अनुयायी हैं, जहाँ चींटियोंको दाना, पक्षियोंको चुगा और साँपोंतकको दूध पिलानेका विधान है। जीवित ही नहीं, हम तो मृतकों-तकको पोषण देनेका अनुष्ठान करते हैं। देशके दुर्भाग्यसे स्वतन्त्र भारतमें, वह धर्मविहीन सरकार बनी है, जो धर्म-निरपेक्षताकी आड़में मद्य और मांसको प्रोत्साहन दे रही है। हम उन मूक पशु-पक्षियोंकी हत्यापर, बेपरवाह नहीं, विवश हैं। अहिंसक बापूकी हिंसक सरकारसे, यदि हम गौ ही बचा सकें तो बड़ी बात होगी।

शङ्का—गोहत्यानिरोधक कानून बन जानेसे ही क्या हो जायगा? कानूनसे कहीं कोई बुराई रुकती है? आपलोग गोहत्यारोंको समझाकर रोकिये।

समाधान—कानून और दण्ड अपनी जगहपर अति आवश्यक हैं। बिना कानूनके किसीको अपने अधिकार और कर्तव्यका बोध नहीं होता। आजकी घोर अराजकतामें भी अभी जो कुछ व्यवस्था बाकी है, वह कानून और दण्डके डरसे है। बुराइयोंके न रुकनेका कारण कानूनोंपर ईमानदारी तथा कठोरतासे अमल न होना है। क्या आप चोर, डाकू, कातिल तथा सभी अनैतिक कार्य करनेवालोंके लिये जो दण्ड-विधान है, उसे हटाकर उन्हें समझाकर राहपर ला सकते हैं? क्या रिश्वतखोरों, चोरबाजारुओं तथा तस्कर-व्यापारियोंको समझाकर ये बुराइयाँ छुड़ायी जा सकती हैं? यदि नहीं तो गोहत्या रोकनेमें यह दलील क्यों? बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और केरलके विशाल कट्टीखाने, जहाँ लगभग ३०,००० गोवंशी प्राणी नित्य विशाल मशीनों-द्वारा काटे जाते हैं, क्या उनके कर्मचारियोंको समझानेसे बंद हो सकते हैं? बिना कानून और कठोर दण्ड-व्यवस्थाके कोई भी बुराई नहीं रुक सकती। बिना इसके गोहत्या-बंदीके प्रयास धूलमें लट्ठ मारनेके समान निष्फल हैं। समझानेसे समझदार मानते हैं। स्वार्थी और राक्षस-प्रवृत्तिके लोगोंके लिये दण्ड ही एक तरीका है।

शङ्का—देशके कई प्रान्तोंमें गोहत्या कानूनन बंद है, केवल चार-छः प्रान्तोंमें खुली है, उससे क्या होता है? और फिर सारे देशमें भी बंद हो जाय तो पड़ोसीराज्योंमें जाकर गौएँ कटेंगी, उसे कौन रोकेगा?

समाधान—ऐसी बात सोचने और कहनेवालोंकी बुद्धिपर तरस आता है। यह तो ऐसी बात है जैसे कोई कहे कि दूधकी भरी बाल्टीमें १४ छेद हैं, उनमेंसे ८ बंद कर दिये हैं बाकी ६ खुले रहें तो क्या फर्क पड़ता है? छः प्रान्त तो बहुत हैं, एक छोटा-सा गाँव भी छूट जाय तो वहाँ ही सारी गाएँ कट जायँगी। कुछ प्रान्तोंमें मद्य-निषेध है, कुछमें नहीं। नतीजा यह है कि पीनेवाले एक कदम बढ़ाकर, सीमा पार होकर पीते और लौट आते हैं। क्या ये जनताको मूर्ख बनानेवाली बातें नहीं हैं? मुहम्मद तुगलककी सरकारके सब काम औंधे हैं। और फिर जिन प्रान्तोंमें गो-हत्यानिरोधक कानून बने हैं, वे भी अधूरे हैं तथा प्रभावी नहीं हैं। (वहाँ सुप्रीमकोर्टके फैसलेके अनुसार बैल काटे जाते हैं) पुलिसको अपनी ओरसे गो-हत्यारोंका चालान करनेका अधिकार नहीं है और यदि कहीं गोहत्यारे पकड़े भी जाते हैं तो मामूली जुर्मानेकी सजा देकर छोड़ दिये जाते हैं। यह कानून नहीं, खानापूरी है, जिससे उद्देश्य पूरा नहीं होता। देशके बाहर जाकर कटनेकी बात कुतर्क है। यह शेखचिल्लीकी तरह सोचना है, इस तरह तो कोई भी काम कभी पूरा नहीं होगा।

शङ्का—दुधारू और जवान गायें कहीं नहीं कटती। ठल्ल और बूढ़े पशु ही काटे जाते हैं।

समाधान—ऐसा कहनेवाले वस्तुस्थितिसे परिचित नहीं। कलकत्ते आदिमें हरियाना आदि प्रान्तोंकी लाखों दूध देनेवाली गौएँ रोज काटी जाती हैं। फिर वे नहीं जानते कि बढ़िया क्रूरम (chrome leather) जवान गायसे प्राप्त होता है,

बूढ़ीसे नहीं। बढ़िया कॉफ लेदर तो छोटे-छोटे बछड़ोंसे मिलता है। यहाँतक कि गर्भस्थ शिशुका चमड़ा सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। फैशनेबिल लोगोंकी फैशनेबिल चीजें उसीसे बनती हैं।

आज बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा केरलके विशाल कट्टीखानोंमें आधुनिक विदेशी मशीनोंद्वारा लगभग ३०,००० जवान गोवंशी नित्यप्रति काटे जाते हैं और बापूकी अहिंसक और धर्मनिरपेक्ष सरकार, उनकी खालों, हड्डियों, आँतों, सींगों तथा खून आदिका विदेशोंमें निर्यात करके गोमाताके खूनसे सने डॉलर कमाती है। इन कट्टीखानोंमें इन मूक पशुओंको जिस निर्मम तरीकेसे कत्ल करके उनका चमड़ा उतारा जाता है, उसे देख-सुनकर हर विचारशील सहृदय मनुष्यको मर्मान्तक पीड़ा होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनेको सभ्य कहनेवाला मानव आज खूँखार भेड़ियेसे भी कहीं बदतर हो गया है।

× × ×

चमड़ेकी जो बढ़िया चीजें लाल या ब्राउन रंगकी होती हैं, वे खूनसे रँगी होती हैं। उनका रंग पक्का होता है। खून निकालनेकी मशीनोंद्वारा उन मूक पशुओंका खून खींच लिया जाता है और वह पशु तड़प-तड़प कर मर जाता है।

शङ्का—गौके मांस, चमड़े तथा अन्य अङ्गोंका हमारे देशमें भारी व्यापार है। लाखों आदमी इस व्यापारमें लगे हैं। चमड़ेसे देशकी जूते-चप्पलकी आवश्यकता पूरी होती है तथा विदेशोंसे डॉलर प्राप्त होते हैं। भला, ऐसा लाभदायक व्यापार सरकार कैसे छोड़ सकती है।

समाधान—गौको हमने केवल एक पशु नहीं समझा है, माता माना है और माँके शरीरका व्यापार छोड़ना ही होगा। देशके कोटि-कोटि हिंदुओंके श्रद्धा-केन्द्र गौके अङ्गोंका व्यापार नहीं किया जा सकता। यह सर्वथा अनैतिक है। जिस प्रकार जेबकटी, चोरी, डकैती, तस्करी, वेश्यावृत्ति आदि कार्य अनैतिक हैं और कानून उन्हें इस कारण वैध नहीं माना जा सकता कि उससे लाखों आदमी रोटी कमाते हैं, ठीक उसी प्रकार गो-मांसपर पलनेवाले व्यापारी भी जितनी जल्दी माताके खूनसे सनी रोटियाँ छोड़ दें, उतना ही अच्छा रहेगा। ब्रिटिशकालमें विदेशी वस्तुओंका बहिष्कार करके क्या काँग्रेसने लाखों व्यापारियोंके व्यापारको नहीं छीना था? यदि आज गोरक्षाके लिये कुछ हजार लोग कुछ हानि सहते हैं, तो इस महान् कार्यके लिये इतना त्याग तो करना ही पड़ेगा। फिर रोजगार छिननेका यहाँ खतरा नहीं है। जूते-चप्पल तो बनेंगे, बिकेंगे और लोग पहिनेंगे। गौके चमड़े के नहीं, कपड़ेके, प्लास्टिकके, रबरके या किसी अन्य चीजके होंगे। प्रश्न केवल चमड़ेकी जगह बदलनेका है। मरी खालके देशी जूते पहले बनते थे और सभी लोग उन्हें पहनते थे, क्या उस समय बढ़िया क्रुरुम और काफ लेदरके अभावमें लोग भूखों मर जाते थे? यदि नहीं, तो आज भी क्यों मरेंगे? क्या इन पशुओंको मारनेपर ही हमारे व्यापार चलेंगे? इन्हें जीवित रखकर क्या इनसे हमारे रोजगार नहीं चल सकते? हम इनके चमड़ा, हड्डी, मांस और खूनकी जगह इनके घी, दूध, छाछ, मक्खन, पनीर और सहस्रों प्रकारके स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ बनाकर क्या रोजगार नहीं पा सकते? क्या आज भी लाखों परिवार इसपर नहीं पल रहे? इस व्यापारमें बड़ी गुंजाइश और मुनाफा है।

एक गाय अपने जीवनकालमें कितना दूध, घी, मक्खन आदि देती है, उसके बछड़े हमारे खेतोंमें कितना अन्न उपजाते हैं, उसकी संतति हमारी क्या-क्या सेवा करती है और वह सब अपने जीवनमें कितना खाती है—ये सब आँकड़े महर्षि दयानन्दरचित 'गोकरुणानिधि'में विस्तारसे दिये हैं। गोवंशसे इस दिशामें पूरा लाभ न उठाकर, उसे काटकर खाने और बेचनेवाले उस मूर्खकी तरह हैं, जिसने सोनेका एक अंडा रोज देनेवाली अपनी मुर्गीको काटकर खा डाला था।

डॉलरकी लालची इस धर्मविहीन सरकारको भी हम सुझाव देते हैं कि यदि तुम्हें भी व्यापार ही करना है तो गायके खूनका नहीं, दूधका करो। उसके मांसका नहीं, मक्खनका करो। उसके चमड़ेका नहीं, उसकी स्वर्ण-खादका करो। स्थान-स्थानपर डेरियाँ खोलो, गोशालाएँ बनाओ। नस्ल सुधारनेके केन्द्र बनाओ। बढ़िया बछड़े और बैल तैयार करके सारे संसारमें निर्यात करो। घी, दूध और डॉलरकी वर्षा होने लगेगी। कृषि-प्रधान भारतमें गोवंशके बिना काम नहीं चल सकता। ट्रैक्टरोंके चक्करसे निकलकर हल-बैलको अपनाओ, वही अमेरिकन और आस्ट्रेलियन रोटियोंसे मुक्ति दिलायेगा। देश-विदेशके विशेषज्ञोंने कहा है कि भारतकी अर्थ-व्यवस्था गोवंशपर निर्भर है। गोवंशकी रक्षा किये बिना हमारी स्वतन्त्रताकी रक्षा नहीं हो सकती। ट्रैक्टर, उसके पुर्जे, उसके टैक्नीशियन, उसके

लिये डीजल तथा अन्य चीजोंमें हम जितना धन खर्च करते हैं, उतना हम गौकी खालसे कमाते नहीं। हमारे बच्चे, बीमार, बूढ़े और युवक घी-दूधके अभावमें सूख रहे हैं; क्या डॉलर हमारे स्वास्थ्यसे भी अधिक मूल्यवान् है ?

शङ्का—हम यह मानते हैं कि जवान और दुधारू पशु किसी मूल्यपर भी नहीं कटने चाहिये परंतु बूढ़े और ठल्ल गोवंशको बैठाकर खिलाना कौन समझदारी है ? देशमें इतना चारा कहाँ है जो इन बेकार पशुओंको खिलाया जाय ?

समाधान—पशुओंके लिये चारा मनुष्य पैदा नहीं करता, प्रकृति करती है। हमारे लिये अनाजके दानेकी बाल ६ इंच लंबी होती हैं और उसमें भी थोड़े-से दाने निकलते हैं, जबकि उसी पौधेमें पशुओंके लिये ६ फुट लंबी बाल होती है। हमारे हर खाद्यके साथ, जो खेतमें होता है, पशुके लिये पहले भोजन आता है। यदि हम अपने लिये अन्न उगायेंगे तो पशुके लिये स्वतः ही उग आयेगा। घास, फूस तो स्थान-स्थानपर स्वयं ही उगता है, उसे तो कोई भी नहीं उगाता। इसलिये गोवंशके खाद्यकी हमें चिन्ता नहीं करनी है। इसके अतिरिक्त बेकार गाय-बैल अपने गोबर और मूत्रकी खादके रूपमें हमें अपने खाद्यकी कीमत मृत्यु-पर्यन्त अदा करते रहेंगे। गोवंश कभी भी अनुपयोगी नहीं। फिर संसारमें हर वस्तुका महत्त्व पैसा और उपयोगिताकी दृष्टिसे ही नहीं आँका जाता। मानवीय भावनाएँ भी मानव-जीवनमें एक स्थान रखती हैं। क्या हम अपने बूढ़े और बेकार माता, पिता तथा अन्य सम्बन्धियोंका इसीलिये वध कर दें कि वे बेकार और अनुपयोगी हो गये हैं ?

संसारमें लाखों ही नहीं, करोड़ोंकी संख्यामें वृद्ध, दुःखी, रोगी, अशक्त और जिंदगीसे निराश व्यक्ति भरे पड़े हैं; परंतु समाज उन्हें पालता है, काटता नहीं। क्यों ? केवल मानवीय भावनाके कारण। हम पहले कह चुके हैं कि गो-वंशको पशु नहीं, मनुष्यके समकक्ष समझकर सोचना होगा। पशु समझनेसे यह तर्क समझमें नहीं आयेगा। हर बातमें उपयोगिता और डॉलर देखनेवाले आधुनिक सभ्य निश्चित रूपसे एक दिन इन सब बेकार आदमियोंको भी कटवा देनेकी सलाह देनेमें संकोच नहीं करेंगे।

मानव-जीवनमें भावनाका महत्त्वपूर्ण स्थान है। भावनाके बिना मनुष्य और पशुमें कोई अन्तर नहीं। पत्थरकी मूर्तिमें क्या है, जिसे हिंदूमात्र सिर झुकाता है और उसकी रक्षाके लिये बलिदान हो जाता है ? केवल ईश्वरकी भावना ही तो हमने उसमें भरी है। राष्ट्रध्वजके रूपमें उस हाथभरके कपड़ेके टुकड़ेमें क्या है, जिसकी आनपर युगोंसे हम बलिदान होते आ रहे हैं और आगे भी होते रहेंगे। भारतमाताकी कल्पित मूर्तिको मानस-पटलपर अङ्कित करके जिन राष्ट्र-भक्तों-ने जेलोंकी कालकोठरियोंमें अपनी जवानियाँ गला दीं, फाँसीके तख्तेपर चढ़कर अपने-आपको बलिदान कर दिया, क्या वे पागल थे ? वह क्या चीज थी, जो उन्हें कठोर जीवन व्यतीत करनेकी प्रेरणा देती थी ? भावना ही तो थी। मृतक शरीरके साथ मनों चन्दन, घी, मूल्यवान् वस्त्र आदि सभी कौमोंमें जलाकर या गाड़कर नष्ट कर दिये जाते हैं। मृत्युके बाद भी अनेक कर्म-काण्डोंमें भारी खर्च किये जाते हैं, यह सब क्यों ? मरनेवालेको इन सब बातोंसे क्या प्रयोजन ? केवल उस मृतक सम्बन्धीके प्रति हमारा प्रेम और श्रद्धाभावना ही तो है, जिसके कारण हम इतना व्यय करते हैं। माता, बहिन, बेटी और पत्नीके शरीरोंमें क्या फर्क है ? नारीकी सतीत्व-रक्षाके लिये समय-समयपर बड़े-बड़े भयंकर युद्ध हुए हैं, जिनमें लाखों मनुष्योंने बलिदान दे दिये हैं और असंख्य धन नष्ट हुआ है। क्यों ? केवल भावनाके कारण।

गोवंशका प्रश्न भी भावनाका प्रश्न है, जिसके पीछे केवल अन्ध-परम्परा नहीं, ठोस विचारधारा है। हमने युगोंपूर्व उसे माताकी पदवीसे विभूषित करके अपने परिवारका सदस्य मान लिया है; अतएव हमारा यह पावन कर्तव्य है कि हम उसकी वृद्धावस्थामें उसका पालन करें। जरा सोचिये—जिसने जीवनपर्यन्त हमें माताके समान अमृततुल्य दूध पिलाया, जिसके घी और मक्खनसे हमारे शरीर और स्वास्थ्य बने, जिसके दूधसे निर्मित भोज्य-पदार्थोंसे हम तृप्त हुए, जिसके बछड़ोंने बड़े होकर हमारे हलोंको अपने कंधोंपर रखकर धरतीकी छातीसे हमारे लिये अनाज उत्पन्न किये, जिसने हमारे बोझोंको ढोया, कुओंसे पानी निकालकर खेतोंको सींचा, जिसने जीवनभर हमारी सेवामें अपने-आपको थका डाला, जिसके गोबर और मूत्रने हमारे खेतोंको उत्तम खाद देकर उर्वर किया, जिसने घरोंमें श्रेष्ठ ईंधन दिया और मृत्यु-उपरान्त भी जिसका शरीर हमारे अनेक काम आता है, उस गोवंशको वृद्ध होनेपर हम कुछ समयतक बैठाकर नहीं खिला

सकते, जब कि वह मरते-मरते भी ईंधन और खाद तो देता ही रहेगा। हम अपने नौकरोंको पेंशन देते हैं; क्या हमारे ये मूक सेवक, जिन्होंने ईमानदारी और प्रेमके साथ जीवनभर हमारी निर्विकार सेवा की है, पेंशनके अधिकारी नहीं? यदि हम इनके उपकारोंका बदला नहीं चुका सकते तो हम घोर स्वार्थी हैं, मानवके रूपमें राक्षस हैं और हम मनुष्य कहलानेके अधिकारी नहीं!

शङ्का—अनुपयोगी गाय-बैलको खिलाना राष्ट्रीय सम्पत्तिका अपव्यय है। कोई भी समझदार सरकार यह अपव्यय सहन न करेगी।

समाधान—समझदार सरकार जब आयेगी, तब देखा जायगा। आजकी अपव्ययी और फिजूल-खर्च सरकारकी अमलदारीमें यह तर्क व्यर्थ है। आज अपव्यय कहाँ-कहाँ नहीं हो रहा है? शासकों, अफसरों और कर्मचारियोंकी अयोग्यता और स्वार्थलिप्साके कारण देशमें चारों ओर हर क्षेत्रमें अपव्यय-ही-अपव्यय है।

आज हमने अरबों-खरबों रुपये कर्ज लेकर आपसमें बंदर-बाँट कर लिया है। हम सारी दुनियाके कर्जदार हैं। बाँध बन रहे हैं और चटक रहे हैं, उनसे न बाढ़ोंका नियन्त्रण किया जा सका है न सूखाको। नहरोंमें पानी नहीं, ट्यूबवेलोंको बिजली नहीं, खेतोंमें बोनेको अच्छा बीज नहीं, बढ़िया खाद नहीं। लाखों एकड़ कृषियोग्य भूमि बेकार पड़ी है। टनों अन्न सड़कर फिंक जाता है। लाखों बोरी सीमेंट जमकर पत्थर बन जाता है। आये दिन ट्रेन-दुर्घटनाओंमें सम्पत्ति और जन-शक्तिका भारी नुकसान हो रहा है; विदेशोंसे आयात होनेवाली चीजोंमें स्वार्थियोंके थोड़े-से कमीशनके कारण देशको भारी हानि सहनी पड़ रही है। विकासके नामपर अच्छी-अच्छी मजबूत इमारतें तोड़कर रेत और मिट्टीमें नवनिर्माण हो रहा है। फाइलोंपर कुएँ खुद रहे हैं, स्कूल बन रहे हैं, मास्टरोंका वेतन बँट रहा है, सरकारी ग्रांट मिल रही है; परंतु न स्कूल है न मास्टर। यह सब क्या राष्ट्रीय धनका सदुपयोग है? सौन्दर्यप्रसाधनकी अनेक वस्तुएँ विदेशोंसे आयात होती हैं और बेशुमार धन फैशन-परस्तीके नामपर विदेशोंमें चला जा रहा है!

शङ्का—बैलोंसे खेती करवाने, गाड़ी खिंचवाने और कुओंसे पानी निकलवानेका युग बीत गया। आज तो ट्रैक्टर, ट्रक, ट्यूबवेलका जमाना है। रेलगाड़ीके युगमें बैलगाड़ी क्या काम!

समाधान—कोई भी जमाना आ जाय; जिस प्र मनुष्यकी महत्तामें अन्तर नहीं पड़ता, गो-वंशकी महत्ता कम नहीं हो सकती। कृषिप्रधान भारतमें गौ और बैल हमारे सच्चे साथी रहेंगे, इसमें दो राय नहीं। अनादि का हम हल-बैलसे खेती करते आये हैं और अपनी आवश्यक पूरी करके अन्नका निर्यात करते रहे हैं। ट्रैक्टरके विचारमा ही यहाँ अन्नका आयात शुरू हो गया और आज हम तरह विदेशी अनाजके दानोंपर आश्रित हैं। ट्यूबवेलों उपयोगिता सर्वविदित है। अधिकांश टूटे पड़े हैं; जो ठीक उनमें बिजली नहीं। बैलगाड़ी आज भी माल ढोनेका मु साधन है। ट्रैक्टर और मशीनें कम आबादी और अधि धरतीवाले देशके लिये ठीक है, यहाँ तो स्थिति दूसरी है।

ट्रैक्टरों तथा अन्य मशीनोंकी खरीदारीमें हमपर अर रुपया विदेशोंका कर्ज हो गया है। उनके पुर्जे, तेल त विशेषज्ञोंके लिये हमारा बेशुमार धन बाहर जाता है। आ दिन वे खराब होते हैं। ये सब खर्च और झंझट हम सीधा-सादा किसान बर्दाश्त नहीं कर सकता। उसके लिये स्वयं ही पैदा होनेवाले, उसके खेतोंमें अपने-आप उग होनेवाले घास-चाराको खाकर दूध-घी देने और उसके स कार्य निबटानेवाले गो-वंश ही ठीक हैं। रेलगाड़ीके युगमें भ उसकी बैलगाड़ी ही उसका माल ढोनेका सर्वश्रेष्ठ साधन है।

शङ्का—हमारा देश धर्मनिरपेक्ष है, यहाँ हिंदुओं अतिरिक्त ईसाई और मुसल्मान भी रहते हैं। सरकारको उनक भी भावनाएँ समझनी होंगी।

समाधान—अवश्य समझिये, कौन रोकता है? पर बहुमतकी भावना सबसे पहले समझनी होगी। जो सरका बहुमतको ठुकराकर अल्पमतको प्रोत्साहन देती है, व स्वार्थी, अन्यायी और अयोग्य है।

जहाँतक गोरक्षाका प्रश्न है, भारतका कोई भी अल्पम उसके विरोधमें नहीं है। हर विचारशील अहिंदू गोहत्या बं होनेके पक्षमें है। भारतके अनेक मुस्लिम नेताओंने गोवध निरोधक आन्दोलनका समर्थन किया है। गोरक्षा हिंदुओं धार्मिक कर्तव्य है, जबकि गोहत्या किसी भी गैर-हिंदुओं मजहबी हक नहीं है। मुसल्मान या ईसाईकी किसी भी धर्म

पुस्तकमें गायकी कुर्बानीका आदेश नहीं है। गौका प्रश्न हिंदू-मुसल्मानोंको लड़ाते रहकर इस देशमें निरङ्कुश शासन करनेके उद्देश्यसे अंग्रेज सरकारद्वारा पैदा किया गया था। विदेशी सरकारके हाथमें इस देशमें हुकूमत करनेका यह एक कामयाब हथियार था। परंतु आश्चर्यका विषय है कि स्वतन्त्र भारतकी अपनी सरकार भी इसे आज वोट पानेका साधन बनाये हुए है। उसे कौन समझाये कि आज यह हथियार बिल्कुल भोथरा हो गया है!

भारतके अनेक मुस्लिम बादशाहोंने हिंदुओंकी भावनाओंका आदर करते हुए गोवधपर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाया था। इतिहास इसका साक्षी है।

मुगल सम्राट् बाबरने अपने पुत्र हुमायूँसे कहा था कि 'यह मुल्क हिंदुओंका है; अगर यहाँ हुकूमत करना चाहते हो तो उनके धार्मिक जजबातका ख्याल रखना और गौकुशी न होने देना।'

हुमायूँने अपने पुत्र अकबरको यही आदेश दिया था और अकबरने गोहत्या करनेवालेके हाथ काट देनेकी दण्ड-व्यवस्था की थी।

हिंदुओंसे द्वेष करनेवाले औरंगजेब बादशाहने भी गोवधपर पाबंदी लगायी थी।

निजामके हैदराबादमें गोहत्यापर सख्त पाबंदी थी।

(१) नाशियाते हादीमें लिखा है—'गायका दूध और घी तंदुरुस्तीके लिये बहुत जरूरी है, उसका गोश्त नुकसानदेह है।'

(२) सम्राट् बहादुरशाहके खास पीर मौलवी कुतुबुद्दीन साहबने कहा था कि हदीस-शरीफमें लिखा है 'हरा पेड़ काटनेवाले, आदमीको बेचनेवाले, गायको मारनेवाले तथा दूसरेकी औरतसे कु-कर्म करनेवाले कभी नहीं बख्शे जायँगे।'

(३) 'जब्वर' (वा ब—४६-५०) में खुदाबंदका फरमान है—'जो बैलको मारता है, वह उस आदमीकी तरह है जो आदमीको मारता है।'

(४) ई० एच० पामर, एस० बी० ई० के कुरान-शरीफके अनुवादमें लिखा है—'खुदाने चौपाया इसलिये पैदा किया है, वह तुम्हारा बोझा ढोये। तुम्हारी खुराकके लिये उस परवरदिगारने तरह-तरहके अनाज, फल और तरकारियाँ पैदा की हैं।'

(५) सुरात ऐ० हजमें लिखा है—'खुदा तुम्हारी कुर्बानीमें जानवरका मांस और लोहू नहीं चाहता, वह सिर्फ तुम्हारी पवित्रता चाहता है।'

(६) हकीम अजमल खाँ साहबने फरमाया है कि 'न तो कुरान और न अरबकी प्रथा ही गायकी कुर्बानीका समर्थन करती है।'

(७) हकीम इब्राहीम साहब जयपुरीने लिखा है—'अजरूपे तिब्ब गायका गोश्त-जुकाम, कोढ़, दिमागी मराज, पागलपन, जहालत वगैरह बीमारियाँ पैदा करता है।'

रबका शुक्र अदा कर भाई, जिसने मेरी गाय बनाई।
उस अल्लाहको क्यों न पुकारें, जिसने पिलाईं दूधकी धारें॥

—इसाइल

इस तरहके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि मुसल्मान गोहत्याके हिमायती नहीं हैं।

आज गोहत्यापर प्रतिबंध लगानेमें थोड़े-से उन्हीं लोगोंको आपत्ति है, जिनके या तो रोजगारपर आँच आती है या जिनका इसमें निजी स्वार्थ है। या वे वह लोग हैं, जो गोवंशके महत्त्वको बिना समझे व्यर्थका विवाद करते हैं। बाकी देशकी समस्त जनता गोरक्षाके लिये एकमत है।

यहाँ हम यह बात कहना अनुचित नहीं समझते कि यह अच्छा ही है जो गैरहिंदुओंको इसमें कोई मजहबी आपत्ति नहीं है; अन्यथा इस प्रश्नपर हमें दूसरी प्रकारसे सोचना होता। भारत मूलतः हिंदुओंका देश है। पाकिस्तान बननेके बाद तो इसमें तर्ककी भी गुंजायश नहीं रह गयी। अल्पसंख्यकोंकी रक्षा यहाँ हर कीमतपर की जायगी, उनके नागरिक अधिकार तथा धार्मिक विश्वास कभी नहीं कुचले जायँगे। परंतु बहुसंख्यक हिंदुओंकी धार्मिक भावनाओं और हितोंकी कुर्बानी देकर यहाँ किसीको किसी भी कीमतपर प्रोत्साहन नहीं दिया जा सकता। यहाँ वही किया जायगा, जिसमें भारत और भारतीयोंका हित है।

शङ्का—विदेशोंमें भारी संख्यामें गायें कटती हैं, फिर भी वहाँ दूधकी कमी नहीं। यहाँपर गायें कटनेसे कमी कैसे हो जायगी?

समाधान—यह एक नितान्त मूर्खतापूर्ण तर्क है और विदेशियोंकी देन है। हमारे विदेशी शत्रुओंका हित इसीमें है कि यहाँपर कोई ठोस उन्नति न हो और उसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये वे लोग हमारे हितैषी बनकर हमारे शासकोंके कानमें मन्त्र फूँका करते हैं और ये बुद्धिके दिवालिये नेता उनकी बातोंको वेद-वाक्य मानकर बैठ जाते हैं।

प्रत्यक्षको प्रमाण क्या! क्या यह सत्य भी आँकड़ोंसे साबित करना पड़ेगा कि हमारे देशमें दूध-घीकी कमी है? क्या ग्यारह रुपये किलोमें बिकनेवाला अशुद्ध घी और १।।) लीटरमें बिकनेवाला मिलावटी दूध दूध-घीकी भारी कमीका परिचायक नहीं? आज हमारे देशमें औसतन एक तोला प्रति व्यक्ति दूध भी नहीं पड़ता, जब कि शरीर-विज्ञानके अनुसार इसे स्वस्थ और दीर्घायु बनानेके लिये एक सेर दूध और एक छटाँक मक्खन प्रतिदिन प्रति व्यक्ति चाहिये। विदेशोंमें आबादीके अनुपातसे दुधारू पशु यथेष्ट हैं, जब कि हमारे देशमें उनकी भारी कमी है। वे लोग काटते हैं, तो पालते भी हैं, उनकी संख्या बढ़ा रहे हैं, नस्ल सुधार रहे हैं। वे देश दूध और उससे निर्मित वस्तुओंका भारी मात्रामें निर्यात करते हैं। हालैंड, स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क आदि अनेक देशोंमें वास्तवमें दूधकी नहरें बहती हैं। उनके यहाँ एक-एक गाय ६० पौंड तक दूध प्रतिदिन देती है। हमारे देशमें भी हालैंडके साँडोंसे उत्पन्न गायें, जो कि पिलानी-फार्ममें हैं, एक मन तक दूध दे रही हैं।

५० करोड़की आबादीवाले इस विशाल देशमें कितने दुधारू पशुओंकी आवश्यकता है? क्या हमने उनकी संख्या बढ़ाने और नस्ल सुधारनेकी ओर ध्यान दिया है? खून और मांसका व्यापार करनेवाली इस हिंसक सरकारसे क्या आशा है कि वह इस सात्त्विक पशुके महत्त्वको समझकर इससे लाभ उठायेगी? यदि देशकी जनता और सरकार इसके चमड़ेकी ओर न देखकर उसके थनोंपर ध्यान केन्द्रित करे और पूरी शक्ति उसके पालनपर लगाये तो इस देशसे खाद्य-समस्या-की विभीषिका सदैवको समाप्त हो जायगी—इसमें संशय नहीं। विदेशियोंकी सलाहपर चलनेसे हमारा कल्याण नहीं होगा। हम परतन्त्र हो जायँगे।

शङ्का—कुछ संवैधानिक अड़चनोंके कारण सम्पूर्ण देशमें गोवधपर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता।

समाधान—यह एक लचर दलील है। भारतके संविधानमें दुधारू पशुओं और गोहत्याको रोकनेके लिये कानून बनानेकी बात साफ लिखी है, फिर क्या वैधानिक बाधा है? भारतीय संविधान केन्द्रीय विधान है, सारे देश-का विधान है, किसी एक प्रान्तका नहीं। फिर गोहत्याके प्रश्नको केन्द्रीय न मानकर प्रान्तीय क्यों माना जा रहा है? केन्द्रीय सरकार क्यों नहीं अपने किये हुए वायदेको पूरा करती? संविधानकी अवहेलना क्यों की जा रही है? और फिर यदि कोई कानूनी बाधा है भी, तो जब १९ बार संविधानमें संशोधन किया जा चुका है तो बीसवाँ और सही, उससे ही क्या प्रलय होनेवाली है? कानून हमने बनाये हैं, हमको कानूनोंने नहीं बनाया। देश और देश-वासियोंके हितमें कानूनोंमें परिवर्तन किया जाना कोई पाप नहीं है, वरं उचित और आवश्यक है।

शङ्का—जबतक सब लोग गोचर्मसे बनी वस्तुओंका उपयोग करना नहीं छोड़ेंगे, तबतक कानून बन जानेसे भी क्या लाभ होगा? गोभक्तोंको गो-चर्मका उपयोग और व्यापार छोड़ना चाहिये और अपने-अपने घरोंमें एक-एक गाय पालनी चाहिये।

समाधान—यह बात शत-प्रतिशत सही है कि गोहत्या रोकनेवालोंको सर्वप्रथम स्वयं गोचर्म त्यागना चाहिये। परंतु मानवस्वभावकी यह कमजोरी है कि सुख और सुविधाके आगे वह आदर्श भूल जाता है। यदि यह बात न होती तो यह संसार अत्यन्त ही सुखमय होता। अधिकांश लोगोंका स्वभाव बचकाना होता है। यह समझदारोंका काम है कि उनके स्वभावके अनुसार बरतें। बच्चेको न खिलौना दिखाओ न वह मचले। बच्चोंकी जेबमें जहरकी पुड़िया रखकर यह समझानेवाले कि 'बेटा! इसे खोलकर खाना नहीं।' महामूर्ख हैं। वे बाल-मनोविज्ञान-को नहीं समझते। यही बात सामान्य जनतापर भी लागू होती है। वह पेड़ ही काट दो, जिसपर उल्लू बैठता है। विषवृक्षके पत्ते काटनेसे क्या होगा। आप क्यों नहीं इसको जड़से काटकर फेंकते? गौ नहीं कटेगी तो, न तो मारी हुई गौका चमड़ा मिलेगा, न उसकी चीजें बनेंगी, न लोग इस्तेमाल करेंगे।

जहाँतक गोपालनका सवाल है, प्रत्येक गोभक्त एक

नहीं, दो-दो गाय, बल्कि उससे भी अधिक गायें पालना चाहता है; परंतु वह साधनहीन है। उसके पास महँगी गाय खरीदनेको धन नहीं। उसको खिलानेको पैसा नहीं। उसके रखनेको स्थान नहीं। वह बेबस है, क्या करे? जो अपने दुधमुँहे बच्चों, बूढ़े माता-पिता तथा बीमार सम्बन्धी-को बाजारसे खरीदकर दो छटाँक दूध नहीं पिला सकते, जो घीके अभावमें सूखी रोटियाँ खाकर अपने तथा अपने बच्चोंके पेट भरते हों, उन गरीब गोभक्तोंको गाय पालने-का ताना देना, उनकी गोभक्तिपर नहीं, निर्धनतापर व्यंग है। यह एक अन्यायपूर्ण बात है। यह तो वैसे ही है, जैसे किसी भूखेको अनाजकी बोरी और फुटपाथपर निवास करनेवाले गरीबको अपना मकान बनवाकर रहनेकी सलाह देना। उन गरीब गोभक्तोंको क्या गोरक्षाका नारा लगानेका भी अधिकार नहीं?

हमारा कार्य केवल गोहत्यापर प्रतिबन्ध लगवाकर समाप्त नहीं होता; यह तो पहली स्टेज है। हमको दुधारू गायों और हृष्ट-पुष्ट बैलोंकी संख्या बढ़ाकर घर-घरमें गाय पहुँचानी है। छः व्यक्तियोंके परिवारमें कम-से-कम एक दुधारू गाय होनी चाहिये। हर खेतिहर किसानके पास बैलोंकी जोड़ी होनी ही चाहिये। यह निश्चय अव्यावहारिक नहीं, बशर्ते कि विवादको त्यागकर देशका प्रत्येक नागरिक तथा सरकार सच्चे हृदयसे इस महान् यज्ञमें हार्दिक सहयोग दे।

उन्नीसवीं और बीसवीं सदीके गोभक्त

गोरक्षाका प्रश्न जितना पुरातन है, उतना ही नवीन भी है। सत्ययुग, त्रेता और द्वापरमें ही नहीं, कलियुगमें भी गौकी महत्ता कम नहीं हो सकी है। प्रातःस्मरणीय महाराणा प्रताप, वीर शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह-जैसे अनेक राष्ट्रनिर्माताओंने गौकी रक्षामें पूर्ण योग दिया है। दुर्दान्त औरंगजेबी शासनमें एक कसाईके द्वारा गोवध होते देखकर शिवाजीको इतना क्रोध आया कि दरबारमें शिकायत न करके उन्होंने स्वयं ही उस कसाईका वध कर डाला था। तैमूरलंग जब किसी प्रकार भी राजपूतोंको पीछे न हटा सका, तब किसी भारतीयकी ही सलाहसे उसने अपनी सेनाके आगे गायोंकी पंक्ति खड़ी करके राजपूतोंपर आक्रमण किया। राजपूतोंने गायोंके मरनेके डरसे प्रत्याक्रमण नहीं किया और हार गये। राजपूतोंने युद्ध-भूमिमें यह गलत किया या सही, इसपर हम यहाँ कुछ नहीं कहते; परंतु इतिहासकी इस घटनासे उस समयकी गोभक्तिपर प्रकाश पड़ता है।

सन् १८५७ के भारतीय स्वतन्त्रता-संग्रामकी पृष्ठभूमिमें भी हम गोभक्तिको प्रत्यक्ष देख रहे हैं। अंग्रेज सरकारने बंदूकोंकी कारतूसकी टोपीको चिकनानेमें गौकी चर्बीका प्रयोग किया था। कारतूसको लगाते समय उसकी टोपी दाँतोंसे हटानी पड़ती थी। सैनिकोंको जब यह बात मालूम हुई तो उनमें घोर असंतोष फैल गया। अंग्रेजोंके प्रति उनमें घृणाकी भावना व्याप्त हो गयी और गो-चर्बीकी वह धार्मिक भावनाकी चिनगारी ब्रिटिश तख्तको जलाकर खाक कर गयी। नामधारी सिखोंका विद्रोह कूका भारतीय इतिहासमें प्रसिद्ध है, जिसमें बाबा रामसिंह कूकाके नेतृत्वमें सैकड़ों सिख गौ-माताकी रक्षाके लिये बलिदान हो गये। अंग्रेजोंने गोहत्या करनेवाले कसाइयोंका वध करनेके आरोपमें उन गोभक्त सिखोंको तोपके मुँहपर खड़ा करके उड़वा दिया था। एक सोलहवर्षीय किशोर बालकपर दया करके जब अंग्रेज अधिकारीने उससे क्षमा माँगकर छूट जानेके लिये कहा, तब उस गोभक्त सिख बालकने जो कुछ कहा, वे शब्द भारतीय इतिहासमें अमर रहेंगे। उसने कहा था कि 'गौ-माता हमारी सभ्यता और संस्कृतिका प्रतीक है, वह हमारी श्रद्धा है; उसकी रक्षाके लिये एक क्या, लाखों भारतीय बालक बलिदान देनेमें संकोच न करेंगे।'

बीसवीं सदीके महान् सुधारक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीने 'गौ-करुणानिधि' नामक पुस्तकमें गौकी महत्तापर पर्याप्त प्रकाश डाला। उन्होंने गौको भारतीय जनताके स्वास्थ्य और कृषिकी आधारशिला माना है।

स्वामी विवेकानन्द, ला० लाजपतराय, लोकमान्य तिलक, पं० मदनमोहन मालवीय प्रभृति नेताओंने गौको भारतीय संस्कृतिका प्रतीक और कृषिके लिये अत्यन्त उपयोगी कहा है। देशके सभी विचारवान् नेताओंने गौको केवल धार्मिक दृष्टिसे ही नहीं, वैज्ञानिक और आर्थिक तुलाओंमें तोलकर उसको महत्ता प्रदान की है।

बीसवीं सदीके महामानव, कांग्रेसके कर्णधार, इस सरकार-के आदर्श पूज्य महात्मा गाँधीजीने तो गौको मनुष्यके समान माना है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि 'मैं गोविहीन स्वतन्त्रताकी कल्पना भी नहीं कर सकता, मेरे नजदीक गोरक्षाका सवाल स्वराज्यसे भी बड़ा है।'

उन्होंने गोवधको मनुष्य-वध मानते हुए कहा था कि गोवध मनुष्य-वध-जैसा घोर पाप है।

आश्चर्यकी बात है कि बापूकी अहिंसक सरकार आज गोहत्या करके उसके चमड़े, मांस और खूनका व्यापार कर रही है और गोभक्त साधुओंपर लाठी-गोली चलाकर उन्हें जेलोंमें ठूँस रही है।

दूध देनेवाली मशीन

यदि कोई वैज्ञानिक एक ऐसी मशीन ईजाद करे, जिसमें एक तरफ कुछ घास, फूस, पत्ते डालकर दूसरी तरफसे दूध प्राप्त हो जाय तो यह सरकार उस मशीनको खरीदनेके लिये भारी आर्डर देगी; परंतु प्रकृतिप्रदत्त इस सुन्दर, सस्ती और उपयोगी मशीन गायकी वह कद्र नहीं करती—जिसके खरीदनेमें विदेशी मुद्राकी जरूरत नहीं, जिसमें जलानेको तेल और ईंधनकी आवश्यकता नहीं, जिसके पुर्जे बदलनेका झंझट नहीं, जिसकी देखभालके लिये विदेशी एक्सपर्टसकी दरकार नहीं, जो एकमेंसे दूसरी, दूसरीसे तीसरी स्वयं ही बनती चली जाती है, जिसका दूध अमृत है, जो एक परिवारको पूरा भोजन देनेमें समर्थ है, जिसका गोबर और मूत्र भी दवा है, सोना है, खेतोंके लिये संजीवनी है और जिसका भोजन घास, फूस और पत्ते हैं और वे भी स्वतः ही पृथ्वीसे मनुष्यके भोजनके साथ निकल आते हैं, उन्हें उगाना नहीं पड़ता और मरनेपर भी जिसके शरीरका प्रत्येक अङ्ग काम आता है। ऐसी उपकारी वस्तुको हम न पहचानें और उससे यथेष्ट लाभ न उठा सकें, तो यह हमारी बुद्धिका दिवालियापन नहीं तो और क्या है ?

स्वतन्त्र भारतमें भी गोहत्या

गोरक्षाका प्रश्न किसी एक वर्ग, जाति, सम्प्रदाय या पार्टीका प्रश्न नहीं है। यह अखिल-भारतीय प्रश्न है, भारतकी ४४ करोड़ हिंदू जनताकी भावनाओंका प्रश्न है; इसे टाला नहीं जा सकता। भारतकी कोई भी सरकार, जिसे शासन चलाना है, इस प्रश्नको टाल नहीं सकती। ईमानदारीका तकाजा तो यह था कि स्वतन्त्र भारतकी अपनी सरकार सबसे पहले गोहत्यापर प्रतिबन्ध लगाकर भारतीयताका परिचय देती; परंतु आज १८ वर्षोंकी स्वतन्त्रताके बाद भी इस ज्वलंत समस्याको टाला जा रहा है और आन्दोलनकारी गोभक्तोंपर अमानुषिक अत्याचार किये जा रहे हैं। इससे तो ऐसा लगता है कि गोरे गये नहीं हैं, केवल अपना मुँह काला करके भारतीय सिंहासनपर बैठे हुए हैं। इतना अत्याचार तो उन्होंने भी नहीं किया था। ७ नवम्बरकी दिल्लीकी निर्मम घटनाने जिसमें १० लाख गोभक्तोंके शान्त प्रदर्शनपर कांग्रेसी राज्यकी निकम्मी पुलिसने अंधाधुंध गोलियाँ चलाकर सैकड़ों माताओंकी गोद सूनी कर दी, बहिनोंके भाई छीन लिये, पत्नियोंके सुहाग-सिन्दूर पोंछ दिये। और यह सब कुछ स्वतन्त्र भारतमें केवल गोहत्याको रोकनेकी माँगपर हमारी अपनी सरकारद्वारा हुआ। इस हत्याकाण्डने तो अंग्रेजोंके जाँलियावाले बागके हत्याकाण्डको भी मात दे दी। भारतकी वर्तमान पीढ़ी और आनेवाली संतानें कांग्रेसशासनकी इस निर्मम तानाशाहीको कभी भी भूल नहीं सकेंगी। करोड़ों हिंदुओंके पूजनीय, संसारसे विरक्त, महापुरुषोंकी गिरफ्तारियाँ जनताकी रोषाग्निमें घी डालने-जैसा कार्य है। गौकी हत्या बंद करनेका नारा लगानेवाले गोभक्तोंपर इतना अत्याचार तो मुसलमान या ईसाई सरकार भी न करती।

सरकारने मोरको राष्ट्रीय पक्षी मानकर उसके वधपर रोक लगायी है। क्या उचित नहीं होगा कि गायको भी राष्ट्रीय पशु मान लिया जाय और उसकी हत्याको अवैध घोषित कर दिया जाय ?

अभी समय है, कुछ नहीं बिगड़ा है। सरकार हठधर्मी त्यागकर समझदारीसे काम ले और अविलम्ब सारे देशमें गोहत्यापर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाकर गो-हत्यारेको कठोर दण्डकी व्यवस्था करके गोभक्तोंके आमरण अनशनोंको तुड़वाये। यदि कहीं इनमेंसे कोई भी इस पवित्र कार्यमें मृत्युको प्राप्त हो गया तो उसका क्या परिणाम होगा, कुछ भी कहा नहीं जा सकता। आनेवाली संतानें आजकी पीढ़ीको कभी क्षमा न करेंगी।

सरकारके कर्णधारों तथा सभी विचारशील जनतासे अनुरोध है कि वे एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट न करके इस शुभ कार्यमें अपना योग दें। कांग्रेसका दो बैलोंकी जोड़ीका चिह्न तभी सार्थक होगा। 'जय गौ माता !'

'सर्वदलीय गोरक्षा-महाभियान-समिति' का चुनावसे सम्बन्ध नहीं

बहुत-से सज्जन पूछते हैं कि आगामी चुनावमें किसको वोट दिये जायँ एवं 'सर्वदलीय गोरक्षा-महाभियान-समिति'का चुनावसे कोई सम्बन्ध है या नहीं ? मैं अपना मत गतवर्ष कल्याणके १२ वें अङ्कमें और विशेषाङ्क पृष्ठ ६९८ में स्पष्ट कर चुका हूँ। मेरा किसी भी राजनीतिक दलसे कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव मैं किसीका भी न तो समर्थक हूँ, न विरोधी।

'सर्वदलीय गोरक्षा-महाभियान-समिति'का चुनावसे कोई सम्बन्ध नहीं है। समितिकी ओरसे किसीसे किसी भी पार्टीको वोट देने या न देनेके सम्बन्धमें न तो अभीतक कुछ कहा ही गया है, न आगे कहा ही जाना चाहिये। पर यह सब कुछ जानते हुए भी यदि कोई इसका यह अर्थ करें कि हिंदूके नाते 'गोरक्षा-महाभियान-समिति'में सम्मिलित होने और सत्याग्रह आदि करनेवाले लोग व्यक्तिगतरूपमें चुनावसे अलग ही रहेंगे या वे अपनी राजनीतिक संस्था कांग्रेस, जनसंघ, हिंदू-महासभा या रामराज्यपरिषद् आदिको छोड़ देंगे अथवा जिन संस्थाओंके सदस्य 'गोरक्षा-महाभियान-समिति'में सम्मिलित हुए हैं, वे संस्थाएँ ही चुनावसे अलग हो जायँगी या गोरक्षाके नामपर वोट देनेकी बात किसीसे नहीं कहेंगी—तो यह सर्वथा भ्रमोत्पादक तथा प्रमादपूर्ण है।

हाँ, कांग्रेस सरकार यदि बुद्धिमानीके साथ मानवताका एवं विशुद्ध विशाल जनमतका आदर करके सम्पूर्णरूपसे पूरे गोवंशकी हत्यापर कानूनी प्रतिबन्ध लगा देती तो अवश्य कांग्रेसके उम्मेदवार यह कह सकते कि वे 'गोहत्याके विरोधी ही नहीं हैं, गोरक्षक भी हैं।'

पर वर्तमान परिस्थितिमें तो हिंदूमात्रके सम्मान्य आचार्यों, साधु-महात्माओंको महीनों भूखों मरने और इस अति शीतकालमें हजारों-हजारों देशवासी नर-नारियोंको कारागारमें डालनेका पाप करनेवाले तथा उनके समर्थक लोग उन्हीं लोगोंसे वोटकी आशा कर सकेंगे जो केवल नामके भारतीय हिंदू हैं, जो अपने पूर्वजोंकी आचारनिष्ठाका परित्याग कर केवल अर्थ और अधिकारकी लोलुपतासे निम्न-श्रेणीका स्वार्थ-साधन करनेमें संलग्न हैं—अथवा जो अत्यन्त भोलेभाले या डरपोक हैं।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

मेरे बापने नमक खाया था

'मोडसिंह नौजवान है। आजकल बहुत बुरा पेशा करता है। हमीरमलके घरसे लोहेकी अलमारीमें रक्खे हुए मुकदमेके कागजातकी एटेची चुराकर या जबरदस्ती छीनकर ला देगा और पाँच हजार रुपये ले लेगा।' इस शर्तपर वह हमीरमलके घर रात्रिके समय पहुँचा। कमरेके अंदर घुसा। हमीरमल सोया हुआ था। मोडसिंहने आलमारी खोली, एटेची निकाली और उसे लेकर ज्यों ही वह बाहर निकलने लगा कि हमीरमलकी आँखें खुल गयीं और उसने झपटकर एटेची पकड़ ली। मोडसिंहने जोर लगाया, पर हमीरमल भी नौजवान था। मोडसिंहने जेबसे तेज छूरा निकाला और ज्यों ही छूरा चलाने लगा कि उसकी दृष्टि दीवालपर टँगे हमीरमलके पिता हजारीमलके छाया-चित्रपर पड़ी। सहसा छूरेवाला हाथ रुक गया और मोडसिंह बड़े गौरसे फोटोकी ओर आँखें गड़ाकर देखने लगा। कुछ ही क्षणों बाद उसने पूछा—'यह चित्र किसका है ?' हमीरमलने कहा—'मेरे स्वर्गीय पिता श्रीहजारीमलजीका है।' मोडसिंहने कहा—'लो, अपनी एटेची, मैं जाता हूँ।' हमीरमलने पूछा—'क्यों आये थे, क्यों एटेची निकाली, क्यों लिये जा रहे थे और एटेची पकड़नेपर क्यों तुमने मुझे मारनेको छूरा निकाला था तथा अब क्यों बिना ही कुछ किये-कराये लौटे जा रहे हो ?'

मोडसिंहने कहा—'किसी मुकदमेमें मुझको मत घसीटना। मैं बता रहा हूँ। मैं ठाकर स्योदानसिंहजीका लड़का हूँ। आठवीं जमात तक पढ़ा हूँ। मेरे पिताजीसे शत्रुता रखनेवाले एक राजपूत अफसरके द्वारा चोरीके झूठे मुकदमेमें मैं फँसा दिया गया था और मुझे एक वर्षकी कैदकी सजा मिली ! मेरा कोई पिछले पापका भोग था। कैदखानेसे छूटकर आनेपर कहीं कोई नौकरी नहीं मिली। मेरे पिताजीने सात वर्षतक इन सेठ हजारीमलजीके यहाँ पहरेदारकी नौकरी की थी। तबीअत खराब होनेसे वे नौकरी छोड़कर घर चले आये थे। आते समय सेठजीने तीन हजार रुपये इनामके दिये थे और मेरे पिताजीके माँगनेपर अपना एक फोटो दिया था जो अबतक हमारे घरमें टँगा है। पिताजी नौकरी छोड़कर आये थे, उस समय मैं दस वर्षका था। मैं तब कैदमें था।

पीछेसे पिताजीका देहान्त हो गया। माताजीका देहान्त पहले ही हो चुका था। सेठजी हजारीमलजीके यहाँ नौकरी करने तथा फोटो इनाम पानेकी बात पिताजी बार-बार कृतज्ञताके साथ सुनाया करते थे। मुझे पता नहीं था कि सेठजीके कौन पुत्र हैं, कहाँ रहते हैं। मैं कामकी खोजमें जहाँ-तहाँ गया, पर काम न मिलनेसे आखिर पेटकी भूख मिटानेको चोरी, छोटी-मोटी डकैतीका पेशा करने लगा। अब······ आपके यहाँ······का भेजा हुआ एटेची चुराने आया था। एटेची ले जाकर उन्हें दे देनेपर वे मुझे पाँच हजार रुपये देंगे—यह तय हुआ था। मैं एटेची निकालकर लौट रहा था। आपने जागकर एटेची पकड़ ली। मैंने छूरा निकाला, मैं निश्चय ही छूरा मारकर एटेची ले जाता, पर भगवान्‌की कृपासे मेरी नजर फोटोपर चली गयी। मुझे पहचाना चेहरा मालूम हुआ। पूछनेपर आपने सेठजीका फोटो और अपनेको उनका पुत्र बतलाया। अब भला, मेरा छूरा कैसे चलता। जिसके बापने जिनके पिता श्री···के यहाँ सात वर्षोंतक रहकर सेवा की, जिनका लगातार नमक खाया। उनपर मैं छूरा चलानेका महापाप कैसे करता। भगवान्‌ने फोटो दिखाकर मुझे इस महापापसे बचा लिया। यह उनकी बड़ी कृपा हुई। आप मेरी ओरसे अब निश्चिन्त रहिये।······आपके शत्रु हैं, उनसे सावधान रहना चाहिये। मुझे आजकी घटनाको लेकर किसी मुकदमे-मामलेमें गवाह आदि मत बनाइयेगा। इतना ही निवेदन है।'

सेठ हमीरमल मोडसिंहकी नमकहलालीका यह जीता-जागता आदर्श देखकर चकित रह गया। हमीरमलने मोडसिंहको बड़े प्रेमसे बैठाया, जलपान कराया, तब विदा किया। (इस घटनामें नाम बदलकर लिखे गये हैं— घटना सत्य है।)

—सुमेरमल जैन

(२)

त्याग-प्रधान भारतीय संस्कृतिकी सजीव मूर्ति

मैं साबरकांठाके एक गाँवमें घूम रहा था। संध्याके समय एक बुढ़िया मेरे पास आयी। शरीरपर फटी साड़ी लिपटी थी। चेहरेपर सिकन पड़ी थी। दरिद्रताकी अवतार-सरीखी दीख पड़ती थीं वह बुढ़िया माई।

मुझे लगा, यह बहिन मेरे पास कुछ माँगने आयी होगी। पर वह तो अपना सभी कुछ देने आयी थीं। उनकी बातोंसे मुझे यह पता लगा और मैं आश्चर्यचकित हो गया।

गद्‌गद वाणीसे उन बहनने कहा—'महाराज! मैं गरीब आदमी, मैं क्या दूँ।'

दो मिनिट मैं कुछ नहीं बोला, वह भी नहीं बोलीं। मैं उनके सामने देखता रहा।

बहिनने फिर कहा—'आपको देने लायक तो मेरे पास कुछ नहीं है। ये दस बकरियाँ हैं। इनमेंसे एक दूध देती बकरी दूँ तो आप ले लेंगे ?'

मैंने कहा—'क्यों नहीं ? हम तो बकरीका दान भी स्वीकार करते हैं। पर मैं न तो यहाँ रहूँगा और न बकरी साथ ले जाऊँगा। अतः बकरी यहीं किसी योग्य आदमीको दे दूँगा। तुम बताओ, उसीको दे दूँ।'

कुछ देर विचार करके बुढ़िया माईने कहा—'महाराज! हमारे गाँवमें एक भंगीका लड़का रहता है। अकेला है बेचारा, उसे दे दें तो ?'

मैंने उस भंगीके लड़केको बुलाया और उससे कहा—'ये माँजी तुझे एक बकरी देती हैं, तू उसे पालेगा न ?'

उसने खुशीसे स्वीकार किया। बकरी उसे दे दी गयी। उसके आनन्दका पार नहीं था।

दूसरे दिन भोजनके बाद मैं कात रहा था कि वही बुढ़िया माई फिर आयीं, बोलीं—'महाराज! मैं अकेली हूँ पर मेरे घर दो हैं। एकमें मैं रहती हूँ और दूसरेमें बकरियोंको रखती हूँ। बकरी तो बाड़ेमें ही रह सकती हैं, तो यह मेरा जो दूसरा घर है, इसे भी आप दानमें ले लें।'

कुछ देर तो मैं बुढ़ियाकी ओर ताकता ही रह गया। दूसरेके लिये त्यागकी इस वृत्तिको देखकर मुझे बड़ा आनन्द मिला। फिर मैंने उनसे कहा—'माँजी! तुम्हारे गाँवमें कोई बिना घरका आदमी है ?'

कुछ देर विचार करके बुढ़िया बोलीं—'हाँ महाराज! एक रैबारी है, आप यदि उसे दे देंगे तो वह बहुत प्रसन्न होगा।'

मैंने रैबारीको बुलवाया और उससे पूछा—'तेरे पास घर नहीं है ?'

'नहीं है महाराज !' उसने कहा ।

'तो बनाता क्यों नहीं ?'

'बनाऊँ तो सही, पर महाराज ! कोई जमीन नहीं देता ।'

'ये बुढ़िया माई तुझे रहनेको घर दें तो तू ले लेगा ?'

'क्यों नहीं ?' उसने बहुत खुश होकर कहा ।

'पर घरको जरा मरम्मत करवाना होगा ।'

'यह तो मैं करवा लूँगा बापजी ।'

'परंतु देख, एक शर्त है । ये बुढ़िया जीती रहेंगी, तबतक तुझे इनकी सेवा करनी पड़ेगी ।'

मैंने हँसते-हँसते कहा ।

सेवा करनेकी बात सुनते ही पास बैठी हुई बुढ़िया माई तुरंत बोल उठीं—'नहीं, नहीं, महाराज ! मैं सेवा करानेके लिये इसको घर नहीं दे रही हूँ । इसके पास घर नहीं है और मेरे पास एक ज्यादा है, इसीसे दे रही हूँ । मुझे इससे सेवा नहीं करवानी है । मेरी तो आपसे इतनी विनती है कि इसे ऐसा कुछ लिख दीजिये, जिससे मेरे मरनेके बाद इस घरको इससे कोई छीन न सके ।'

बुढ़िया माईकी सच्ची दान-भावना और सम्पूर्णताने मेरे हृदयपर गहरा असर किया । बुढ़िया माईके सामने मैंने दोनों हाथ जोड़े ।

फिर तो नियमितरूपसे कागजात बनाकर रैबारीको बुढ़िया माईका घर दान कर दिया गया । बुढ़ियाने रैबारीके कपालपर कुंकुमका टीका करके उसका घरमें प्रवेश कराया ।

मैंने गाँव छोड़ा, उस समय उन बुढ़िया माईका सिकनें पड़ा हुआ चेहरा मेरी आँखोंके सामने तैर रहा था । मुझे ये बुढ़िया माई हजारों वर्ष पुरानी त्याग-प्रधान भारतीय संस्कृतिकी सजीव मूर्ति दीख रही थीं । (अखण्ड आनन्द)

—रविशंकर महाराज

(३)

गाय मेरी माँ

मैं छोटा-सा था, तभीसे मेरे अब्बा (पिता) ने मेरे लिये एक गाय ला रखी थी । मेरी माँकी मृत्यु हो चुकी थी । मेरी नयी माँ (गाय) मुझसे उतना ही प्रेम करती, जितना असली माँ । वह दूध देती थी, मैं पी लेता था । मैं जब कभी उसके पास बैठता, वह प्रेमसे मेरे हाथ, पैर, कमर और सिरको चाटती थी । मैं उसको पुचकारा करता था । वह बड़ी प्यारभरी निगाहसे मुख उठाकर मेरी तरफ देखा करती थी ।

एक बार मुहल्लेका एक कुत्ता पागल हो गया । मैं अपनी माँ गायके साथ धूप खा रहा था । इतनेमें शोर मचा, 'बचो अब्दुल ! पागल कुत्ता आया ।' मैं सटपटा गया, डर गया और रोने लगा । कुत्ता मेरी तरफ झपटा, परंतु मेरी माँने मुझे बचा लिया । अपने सींगोंसे उसने कुत्तेको अधमरा कर दिया और फिर आकर मुझे चाटने लगी । उस दिन गायके अंदर मैंने माँका रूप देखा । इसके पाँच साल बाद मेरी माँ बीमार पड़ी, न मालूम क्या हो गया । मैंने बहुत दौड़-धूप की, मगर कुछ न हो सका । परंतु आखिरी साँसमें भी वह मेरी गोदमें सिर रखे, प्रेमभरी दृष्टिसे मुझे देखती हुई अन्तिम बार सिर और मुखको चाटकर चल बसी ।

उसी दिनसे मुझे गायमें विश्वास हो गया । मैं जहाँ जाता हूँ वहाँ हिंदू-मुसल्मान, सबको गो-प्रेमका पाठ पढ़ाता हूँ । (भूदानयज्ञ)

—एक फकीर

(४)

जैसी करनी वैसा फल

शिवराम गरीब है । पैंसठ रुपये मासिककी नौकरी करता है । लड़की बाईस सालकी हो गयी, उसके विवाहकी बड़ी चिन्ता है । उसने तीन वर्षमें बड़ा परिश्रम करके—नौकरीके समयके पश्चात् रात्रिको तथा प्रातःकाल एक व्यापारीके उलझे हिसाबके खातेपत्र लिखकर उसका तलपट ठीक किया । तीन सालतक प्रतिदिन पाँच घंटे अतिरिक्त काम करके उसने पंद्रह सौ रुपये कमाये । बड़ी परेशानी, दौड़-धूपके बाद एक सुशील पढ़ा-लिखा लड़का मिला और उससे लड़कीके सम्बन्धकी बात पक्की हुई । एक महीने बाद अक्षयतृतीयाको विवाह-संस्कार होना निश्चित हो गया । परंतु विधाताका विधान कुछ और ही था और था शिवरामकी परदुःख-कातरताके परम आदर्शके प्रकट होनेका सुअवसर ।

शिवरामके पड़ोसमें ही धनीसिंह नामक भले घरका गृहस्थ रहता था । उसपर एक झूठा मुकदमा लगा । वहींके एक बदमाश पैसेवालेकी धनीसिंहकी पत्नीके प्रति बुरी नीयत हो गयी । धनीसिंह अत्यन्त गरीब था; पर था बड़ा बलवान् तथा

बहादुर। अतएव उस पैसेवाले दुराचारीने पुलिस तथा कुछ और लोगोंको मिलाकर धनीसिंहपर झूठा मुकदमा चलवा दिया। उसकी इच्छा थी धनीसिंहको जेल भिजवा दिया जाय और उसकी अनुपस्थितिमें धनीसिंहकी पत्नीपर कब्जा किया जाय। हमारा नैतिक स्तर सभी जगह गिरा हुआ है। रुपये खर्च करके उसने धनीसिंहपर बारह सौ रुपयेकी डिग्री करवा ली और एक फौजदारी केसमें तीन सौ रुपये जुर्माने तथा जुर्माना न देनेपर छः महीनेका कारावासकी सजा दिलवा दी। बारह सौ रुपयेकी डिग्रीकी अदायगीके लिये इस आशयका कुर्कीका वारन्ट निकल गया कि रकम-वसूल न हो तो धनीसिंहको जेल भेज दिया जाय। रकम-वसूलीका कोई सवाल ही नहीं था। धनीसिंहकी इतनी निर्धनता थी कि उसके घरमें दो दिनका अन्न भी नहीं था और जुर्मानेकी रकम तो भरनेको थी ही नहीं। इस प्रकार धनीसिंहको जेल भिजवानेकी दुरभिसन्धिपूर्ण कुव्यवस्था हो गयी।

धनीसिंहकी सुन्दरी पत्नी बड़ी सुशीला थी। वह बेचारी इस भीषण षड्यन्त्र तथा कोर्टके अन्यायपूर्ण फैसलोंकी बात सुनकर घबरा गयी। उसने वेदनाभरे हृदयसे अपनी पड़ोसिन शिवरामकी पत्नी चन्दनीके पास आकर अपना सारा दुःख सुनाया और सलाह पूछी। वह जानती थी कि शिवराम भी गरीब हैं। उसे शिवरामके द्वारा इधर पंद्रह सौ रुपये कमानेकी बात मालूम नहीं थी। वह तो अपनी सहृदय पड़ोसिनको अपना दुखड़ा सुनाकर केवल सलाह पूछने गयी थी।

आँसू बहाती धनीसिंहकी पत्नीकी सारी बातें सुनकर चन्दनीका हृदय द्रवित हो गया। उसके नेत्रोंसे भी आँसू बह चले। पराये दुःखसे दुखी होनेपर निकलनेवाले आँसू बड़े पवित्र होते हैं। उसने शिवरामकी पत्नीको कुछ आश्वासन देकर बैठनेको कहा। फिर अपने पतिके पास जाकर धनीसिंहकी पत्नीकी कही हुई सारी बातें सुनाकर वह बोली—'अपनी लड़कीके विवाहमें तो अभी एक महीनेकी देर है। तबतक भगवान्‌की कृपा होगी तो कोई दूसरी व्यवस्था हो जायगी। नहीं तो—छः-बारह महीने बाद भी उसका विवाह हो सकता है; पर इसका काम तो आज ही करना है। यह बहुत ही आवश्यक है। अपने पंद्रह सौ रुपये जो विवाहके लिये आपने कमाये हैं—देकर इनको कष्टसे छुड़ा देना चाहिये।'

शिवराम एक बार तो कुछ सकपकाये—पर तुरंत ही उनके हृदयमें भी सहानुभूतिकी बाढ़ आ गयी। अतः उन्होंने बड़े उल्लासके साथ चन्दनीसे कहा—'तुम्हारा विचार बहुत सुन्दर है। यह काम अवश्य आज ही करना है। तुम उस बहिनको आश्वासन देकर भेज दो। मैं स्वयं भाई धनीसिंहजीके पास जाकर रुपये दे आता हूँ।' यह सुनकर चन्दनीको बड़ा सुख मिला। अपना सब कुछ देकर दूसरेके दुःख-निवारणकी जो चेष्टा होती है, वह बड़ी ही पवित्र है; ऐसी चेष्टामें जिसको आनन्दकी प्राप्ति होती है, वह वास्तवमें बड़ा भाग्यवान् है। चन्दनीको यह सौभाग्य प्राप्त था। उसने अपनी कन्याके विवाहकी बात भुला दी और शीघ्र-से-शीघ्र धनीसिंहजीको कष्टमुक्त देखनेकी इच्छा की।

चन्दनीने बड़े नम्र शब्दोंमें आदरसहित श्रीधनीसिंहजीकी पत्नीको आश्वासन दिया। वह बेचारी बहुत सकुचायी। पर चन्दनीने समझाकर उसके संकोचको किसी अंशमें दूर कर दिया। उसे बड़ा ही सुख मिला।

इधर कुछ ही देर बाद पंद्रह सौ रुपये लेकर शिवराम भाई धनीसिंहके पास पहुँचे और चुपके-से उन्हें समझाकर रुपये दे दिये। उन्होंने लिये तो बड़े ही संकोचसे, पर उनके हृदयमें जिस आनन्दकी अनुभूति हुई, वह अवर्णनीय है।

यद्यपि मुकदमा झूठा था। रुपये देने नहीं थे। फौजदारी मामला भी मिथ्या था; परंतु किसी प्रारब्ध-दोषसे रुपये लगने थे। अतएव बारह सौ और तीन सौ रुपये—कुल पंद्रह सौ रुपये भर दिये गये। बदमाशकी बुरी वासना सर्वथा निराशामें परिणत हो गयी!

भगवान्‌का न्याय देरसे फल देता है—ऐसा सुना जाता है, पर यहाँ तो फल भी हाथों हाथ ही मिला। आश्चर्यरूपसे दो हजार रुपयेकी कमाई शिवरामको तुरंत हो गयी। एक शेयरोंके व्यापारी सज्जनने शिवरामके लिये कुछ शेयर खरीद दिये और महीने भरके अंदर ही उसे दो हजार रुपये मिल गये। भगवान्‌की कृपासे कन्याका विवाह निश्चित तिथिपर ही सानन्द सम्पन्न हो गया और उस बदमाश पैसेवालेकी मोटर-दुर्घटनामें दाहिनी टाँग टूट गयी। जैसी करनी वैसा फल।

—साधुशरण गुप्त
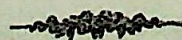
श्रीमद्भगवद्गीता (गीता-तत्त्वविवेचनी टीकासहित)

टीकाकार—ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दका

सरल हिंदी भाषामें २५१५ प्रश्न और उनके उत्तरके रूपमें गीताकी एक महत्त्वपूर्ण टीका। आकार २०×३० आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ६८४, सुन्दर तिरंगे चार चित्र, मू० ४.००, डाकखर्च २.१०। नवाँ संस्करण २५,०००

अठारहवें अध्यायके एक श्लोकके अर्थका पूरा नमूना।

सम्बन्ध—इस प्रकार गीतोक्त उपदेशके अनधिकारीके लक्षण बतलाकर अब भगवान् दो श्लोकोंद्वारा अपने भक्तोंमें इस उपदेशके वर्णनका फल और माहात्म्य बतलाते हैं—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥ ६८॥

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है॥ ६८॥

प्रश्न—'इमम्' पद किसका वाचक है तथा उसके साथ 'परमम्' और 'गुह्यम्'—इन दो विशेषणोंके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—'इमम्' पद यहाँ गीतोक्त समस्त उपदेशका वाचक है। उसके साथ 'परमम्' और 'गुह्यम्' विशेषण देकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि यह उपदेश मनुष्यको संसारबन्धनसे छुड़ाकर साक्षात् मुझ परमेश्वरकी प्राप्ति करानेवाला होनेसे अत्यन्त ही श्रेष्ठ और गुप्त रखने योग्य है।

प्रश्न—'मद्भक्तेषु' पद किनका वाचक है और इसका प्रयोग करके यहाँ क्या भाव दिखलाया गया है?

उत्तर—जिनकी भगवान्में श्रद्धा है; जो भगवान्को समस्त जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और पालन करनेवाले, सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर समझकर उनमें प्रेम करते हैं; जिनके चित्तमें भगवान्के गुण, प्रभाव, लीला और तत्त्वकी बातें सुननेकी उत्सुकता रहती है और सुनकर प्रसन्नता होती है—उनका वाचक यहाँ 'मद्भक्तेषु' पद है। इसका प्रयोग करके यहाँ गीताके अधिकारीका निर्णय किया गया है। अभिप्राय यह है कि जो मेरा भक्त होता है, उसमें पूर्वश्लोकमें वर्णित चारों दोषोंका अभाव अपने-आप हो जाता है। इसलिये जो मेरा भक्त है, वही इसका अधिकारी है तथा सभी मनुष्य—चाहे किसी भी वर्ण और जातिके क्यों न हों—मेरे भक्त बन सकते हैं (९। ३२); अतः वर्ण और जाति आदिके कारण इसका कोई भी अनधिकारी नहीं है।

प्रश्न—भगवान्में परम प्रेम करके भगवान्के भक्तोंमें इस उपदेशका कथन करना क्या है?

उत्तर—स्वयं भगवान्में या उनके वचनोंमें अतिशय श्रद्धायुक्त होकर एवं भगवान्के नाम, गुण, लीला, प्रभाव और स्वरूपकी स्मृतिसे उसके प्रेममें विह्वल होकर केवल भगवान्की प्रसन्नताके ही लिये निष्कामभावसे उपर्युक्त भगवद्भक्तोंमें इस गीताशास्त्रका वर्णन करना अर्थात् भगवान्के भक्तोंको इसके मूल श्लोकोंका अध्ययन कराना, उनकी व्याख्या करके अर्थ समझाना, शुद्ध पाठ करवाना, उनके भावोंको भलीभाँति प्रकट करना और समझाना, श्रोताओंकी शङ्काओंका समाधान करके गीताके उपदेशको उनके हृदयमें जमा देना और गीताके उपदेशानुसार चलनेकी उनमें दृढ़ भावना उत्पन्न कर देना आदि सभी क्रियाएँ भगवान्में परम प्रेम करके भगवान्के भक्तोंमें गीताका उपदेश कथन करनेके अन्तर्गत आ जाती हैं।

प्रश्न—वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है, इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार जो भक्त केवल मेरी भक्तिके ही उद्देश्यसे निष्कामभावसे मेरे भावोंका अधिकारी पुरुषोंमें विस्तार करता है, वह मुझे प्राप्त होता है—इसमें किञ्चिन्मात्र भी संदेह नहीं है—अर्थात् यह मेरी प्राप्तिका ऐकान्तिक उपाय है; इसलिये मेरी प्राप्ति चाहनेवाले अधिकारी भक्तोंको इस गीताशास्त्रके कथन तथा प्रचारका कार्य अवश्य करना चाहिये।

गीताप्रेसकी निजी दूकानें तथा स्टेशन-स्टाल

निम्नलिखित स्थानोंपर गीताप्रेसकी निजी दूकानें हैं, जहाँ 'कल्याण', 'कल्याण-कल्पतरु'के ग्राहक भी बनाये जाते है

कलकत्ता—श्रीगोविन्दभवन-कार्यालय; पता—नं० १५१, महात्मा गाँधी रोड ।

दिल्ली—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—२६०९, नयी सड़क ।

पटना—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—अशोक-राजपथ, बड़े अस्पतालके सदर फाटकके सा

कानपुर—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—नं० २४/५५, बिरहाना रोड ।

वाराणसी—गीताप्रेस, कागज-एजेंसी; पता—५९/९, नीचीबाग ।

हरिद्वार—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—सब्जीमंडी, मोतीबाजार ।

ऋषिकेश—गीताभवन; पता—गङ्गापार, स्वर्गाश्रम ।

दिल्ली, कानपुर, गोरखपुर, हरिद्वार, वाराणसी—इन पाँच जगहोंपर हमारे स्टेशन-स्टाल भी

☞ पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेके पहले अपने शहरके पुस्तक-विक्रेताओंसे प्राप्त करनेका प्र करना चाहिये । विक्रेतागण प्रायः हमारी पुस्तकोंपर छपे हुए दामोंपर ही पुस्तकें बेचते हैं; क्योंकि कमीशन, यथाधिकार विशेष कमीशन तथा रेलभाड़ा यहाँसे दिया जाता है । अतः उनके यहाँसे ले आपको भारी डाकखर्च एवं समयकी बचत हो सकती है ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपु

The Kalyana-Kalpataru

Old monthly issues for sale at a highly reduced price, *viz.* Rs. 8.00 o instead of Rs. 21.70 as under (Postage Free):—

				Original Price Rs.
VOL. 1	Issues	Nos.	2 to 12	3.41
VOL. 13	"	Nos.	2 to 12	3.41
VOL. 14	"	Nos.	2 to 12	3.41
VOL. 26	"	Nos.	1 to 11	3.41
VOL. 27	"	Nos.	1 to 11	3.41
VOL. 28	"	Nos.	1 to 11	3.41
VOL. 24	"	Nos.	1, 2	.62
VOL. 29	"	Nos.	1, 2	.62
			Total	Rs. 21.70

In all 70 issues containing 2416 pages of printed matter and 81 Tri-colou pictures of Lords Viṣṇu, Rāma, Kṛṣṇa and Śiva, as well as of Śakti, Rādhā etc.

Manager—KALYANA-KALPATARU, P. O. Gita Press (Gorakhp

वर्ष ४१] * * * [अङ्क ३

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,५०,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र २०२३, मार्च १९६७

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य
भारतमें ८.५०
विदेशमें १५.६०
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत-चित-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्र[illegible]
भारतमें ५०[illegible]
विदेशमें ८०[illegible]
(१० पैस[illegible]

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

मीराँका प्रेमनृत्य

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

अविरतभवभावनातिदूरं भवविमुखैर्मुनिभिः सदैव दृश्यम् ।
भवजलधिसुतारणाङ्घ्रिपोतं शरणमहं रघुनन्दनं प्रपद्ये ॥
रतिपतिशतकोटिसुन्दराङ्गं शतपथगोचरभावनाविदूरम् ।
यतिपतिहृदये सदा विभातं रघुपतिमार्तिहरं प्रभुं प्रपद्ये ॥

वर्ष ४१ } गोरखपुर, सौर चैत्र २०२३, मार्च १९६७ { संख्या ३
पूर्ण संख्या ४८४

मीराँका प्रेम-नृत्य

पग बाँध घुँघरु मीराँ नाची रे ॥
उदै भई उर बिच प्रीतम-पद-प्रीति पावनी साँची रे ।
बिसरे निज-पर, काम-धाम सब स्याम-रंग सुचि राँची रे ॥
निरतत ताल अंग भये टेढ़े, टेढ़ी भई कल काँची रे ।
पियत प्रेमरस-सुधा प्रगट प्रच्छन्न पीय बिनु भाँची रे ॥

याद रक्खो—संसारमें जितने भी जड-चेतन जीव हैं—सभीमें भगवान् भरे हैं, सभी भगवान्के ही रूप हैं या सभी आत्मरूप हैं—यह समझकर जिन प्राणियोंसे भी सम्पर्क प्राप्त हो, उनके रूप तथा वेशके अनुसार मन, वाणी, शरीरसे दान, सम्मान देकर उनका पूजन या उन्हें सुख-दान करना चाहिये। किसी भी कार्यकी बात सोचते तथा किसी भी कार्यको करते समय यह पूरा ध्यान रखना चाहिये कि इससे किसी भी प्राणीका किसी प्रकारका कोई अहित तो नहीं होगा और केवल मेरा ही नहीं, दूसरोंका भी इससे हित होगा या नहीं।

याद रक्खो—'स्व' जितना ही सीमित होता है, उतना ही 'स्वार्थ' परिणाममें हानिकारक, अशान्तिदायक, दुःखप्रद और गंदा होता है। 'स्व' जितना ही बृहद्—विशाल होता है, उतना ही 'स्वार्थ' भी पवित्र, परिणाममें लाभकारक, शान्तिदायक तथा सुखप्रद होता है। जो केवल अपने व्यक्तिगत अथवा कुटुम्बतकके लाभके लिये ही सोचता करता है—इसीको स्वार्थ समझता है, वह व्यक्तिगत लाभके लिये चराचर जीवों तथा विश्वमानवोंकी तो कभी बात सोचता ही नहीं, देशको भी भूल जाता है। उसकी ईश्वरभक्ति, देशभक्ति, जनसेवा—सीमित स्वार्थके निम्नस्तरमें उतरकर ईश्वरद्रोह और देशद्रोह तथा जनसंतापतकमें परिणत हो जाती है। ऐसा 'ईश्वरभक्त', 'देशभक्त' तथा 'सेवक' कहलानेवाला वास्तवमें साधारण मनुष्यकी अपेक्षा भी बहुत अधिक खतरनाक होता है—समाजके लिये, देशके लिये, विश्वके लिये। क्योंकि वह अपने नीच स्वार्थभरे आचरणसे ईश्वर, देश तथा सेवाके पवित्र नामको बदनाम करता है, उनके स्वरूपको लोकदृष्टिमें गिराता है और आदर्शको नष्ट करता है।

याद रक्खो—सेवक, देशभक्त और ईश्वरभक्त पदका अधिकारी वही होता है जिसका 'स्व' छोटी सीमासे निकलकर उत्तरोत्तर बड़ी-से-बड़ी सीमामें पहुँचता हुआ अन्तमें असीममें जा मिलता है। जिसका 'स्व' सर्वभूतमय है, वही सबका सच्चा सेवक बन सकता है, जिसका 'स्व' देशके 'स्व' में मिलकर 'देशात्मबोध'की अनुभूति करा देता है वही 'देशभक्त' होता है और जिसका 'स्व' असीम अनन्त सर्वात्मा भगवान्के साथ एकात्मताको प्राप्त कर सर्वात्मरूप हो जाता है, जो प्रत्येक चराचर प्राणीमें सदा-सर्वदा भगवान्के ही मङ्गलमय दर्शन करता है, वही ईश्वरभक्त है। ऐसे लोगोंके जीवनमें उत्तरोत्तर 'त्याग'की वृद्धि होकर वह सदा असीमकी ओर अग्रसर होता रहता है। जितना-जितना त्याग बढ़ता है उतना-उतना 'स्व' का विस्तार तथा 'स्वार्थ' पवित्र होता है।

याद रक्खो—जो इन्द्रिय-भोगासक्त है, जो नाम-रूपके मिथ्या सुखका आकांक्षी है, जो प्रत्येक कार्यका भौतिक-भोगफल चाहता है, वह कभी यथार्थ त्याग नहीं कर सकता। उसमें कहीं त्याग दिखायी देगा भी तो वह वस्तुतः भोगके साधनरूपमें होगा। विशुद्ध त्यागका उदय उसमें नहीं होगा और त्यागके बिना कभी न सच्ची सेवा हो सकती है, न भक्ति और न प्रेम ही।

याद रक्खो—निज भोगसुखके लिये जो विचार तथा कर्म होते हैं, उनमें पर-हित तथा पर-सुखका खयाल नहीं रहता, वरं अवहेलनासे और नीच स्वार्थवश तमसाच्छन्न विपरीत बुद्धि हो जानेके कारण आगे चलकर दूसरोंके दुःख तथा अहितकी चेष्टा तथा प्रयत्न भी होने लगते हैं और यह निश्चित है कि जिस कार्यसे दूसरोंका परिणाममें असुख और अहित होता है उससे हमारा परिणाममें कभी हित हो ही नहीं सकता। अतएव परिणाममें अपना सुख तथा हित चाहनेवाले बुद्धिमान् पुरुषका यह कर्तव्य होता है कि वह अपने 'स्व' को सीमित न रखकर विस्तृत करे और ऐसे ही विचार तथा कर्म करे जिनसे परिणाममें विश्वके प्राणिमात्रका सुख तथा हित-साधन हो।

'शिव'

परमात्मापर एक सरल दृष्टिकोण

(लेखक—अज्ञात)

आइये शवका अवलोकन करें; उसके सब-के-सब अवयव ज्यों-के-त्यों हैं, पर वह निष्क्रिय पड़ा है। उसके कान हैं, फिर वह सुनता क्यों नहीं ? उसके आँखें हैं, फिर वह देखता क्यों नहीं ? उसके मुख है, फिर वह बोलता क्यों नहीं ? आदि-आदि सारा जगत् वैसे-का-वैसा ही बना हुआ है, पर उसके लिये इसका कोई अस्तित्व नहीं। सूर्य-चन्द्रादि सभी ज्योतियाँ हैं, परंतु इनका भी उसके लिये कोई अस्तित्व नहीं। अब जरा डाल दीजिये उसमें वह तत्त्व जो कि निकल गया था, आँखें देखने लगती हैं, कान सुनने लगते हैं, हाथ चलने लगते हैं आदि-आदि। सूर्य-चन्द्र और समस्त जगत्का भास होने लगता है। इस शरीरको समस्त प्रकारके अस्तित्व भासनेके लिये उस तत्त्वका होना आवश्यक है, मानो शरीरके नाते वही जगत् और सूर्य-चन्द्रादिका कारण हो, उनका पिता हो; क्योंकि उसीके प्रकाशमें शरीरको ये भासते हैं, शरीरके नाते वही सूर्योंका सूर्य, चन्द्रोंका चन्द्र, चक्षुओंका चक्षु, श्रोत्रोंका श्रोत्र आदि-आदि हो। सुविधाके लिये इस तत्त्वको शक्तिके नामसे पुकारिये। शक्तिकी उपस्थितिमें शव क्रियाशील बनता है और शक्तिके न होनेपर शव ही है।

शक्तिका स्वरूप सबमें एक-जैसा है, आप इसको विज्ञानके आधारपर समझनेका प्रयत्न करें। मोटर-सायकिल, मोटर, रेलवे इंजिन, विमानादि सबमें चालन करनेवाली जो शक्ति है उसका रूप और गुण एक ही होता है। बढ़ती-घटती है उसकी मात्रा, जिसे 'हार्सपावर' के नामसे पुकारते हैं, किसीमें हार्सपावर कम, किसीमें ज्यादा, परंतु शक्ति सबमें एक ही है। इसी प्रकार चाहे चींटी हो चाहे हाथी, चाहे गिलगिलिया हो या शुतुर्मुग, चाहे मेंढक हो या ह्वेल, चाहे सीकिया हो या गामा—सभीमें शक्ति एक ही गुण-रूपवाली मिलेगी। यह शक्ति प्रत्येक प्राणीके भीतर निहित है, इसी कारण इसे 'आत्मा' कहते हैं (आत्म=अंदर, अंदर बसती है जो सो है आत्मा); क्योंकि यही समस्त चराचर सृष्टिमें निहित है, इसीसे इसके व्यापक बृहत् रूपको 'परमात्मा' कहते हैं। इसी व्यापकताके कारण कहा गया है कि समस्त प्राणी इसमें ऐसे पिरोये हुए हैं जैसे मालामें गुरिये। मालाका सूत्र शक्ति है और गुरिये प्राणी हैं।

प्रत्येक प्राणीका जो अहंकार है जो सुख-दुःख, शीत-उष्ण, अपने-बिराने आदिका भास कराता है, उसे जीव कहते हैं। मैं दुखी हूँ, मैं सुखी हूँ, यह मेरा है, यह मेरा नहीं है, मुझे उन्नति करना है, मैं दुनियामें नाम करूँगा—यह जो 'मैं-पन' है इसीको अहंकार कहते हैं, 'मैं-पन'के होते हुए प्राणी 'जीव' कहलाता है और जब 'मैं-पन' नहीं रहा तो वही प्राणी परमात्मा हो जाता है, अर्थात् तब जीव और आत्माका अन्तर मिट जाता है।

जीवके विचार करनेके तन्त्रको 'मन' कहते हैं। अन्तःकरणकी जितनी उथल-पुथल है उसका कारण मन ही है। यह मन अपना एक अनोखा अन्तर्जगत् बनाया करता है, उस अन्तर्जगत्पर निर्धारित जो प्रक्रियाएँ हुआ करती हैं, उन्हींको बाह्यजगत्में प्राणीका 'मैं-पना' सदा कार्यान्वित किया करता है, मनुष्य यदि इतना भर समझ ले कि बाह्यजगत्के हमारे समस्त प्रयास मनोजगत्की प्रेरणासे हमारे अहंकारको सक्रिय करनेका ही परिणाम है, तो एक बहुत बड़ी बात हो गयी। इतना भास होते ही, वह मन और अहंकारके तमाशेको समझने लगता है, जब मन और अहंकारके तमाशेको

समझने लगता है, तब सिद्ध है कि वह अपनेको मन और अहंकारसे भिन्न समझता है। यह भिन्नताका भाव ही महत्त्वका है। देखिये, वह तत्त्व जो हमारे अंदर बैठा है कि जिसके न रहनेसे हम शव कहलाते हैं और जिसके रहनेसे हम प्राणी कहलाते हैं, क्या उस तत्त्वमें हम दुखी हैं, हम सुखी हैं? हमारा बेटा मर गया, हमको लाखों मिल गया—इनसे कोई हलचल मचती है? क्या वह शक्ति इन सभी दशाओंमें शरीरका चालन समान दशामें नहीं करती? क्या सुखमें वह शरीरमें आ जाती है और दुःखमें शरीरसे भाग जाती है? वस्तुतः यह शक्ति भी मन और अहंकारके तमाशेसे सदा अप्रभावित रहकर अपना काम किया करती है। इससे सिद्ध है कि जब हम अपनेको मन और अहंकारसे पृथक् करनेकी क्षमता प्राप्त कर लेते हैं, तो उसी तत्त्वके निकट पहुँच जाते हैं जिसे हम आत्मा कह आये हैं और जिसके बृहत् रूपको परमात्मा कह आये हैं।

भगवान् श्रीरामका घोष

(लेखक—पं० श्रीरामचन्द्रजी शर्मा एम्० ए०, साहित्यरत्न)

जो रन हमहि पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ॥

इस चौपाईमें भगवान् श्रीरामकी युद्धनीति सूत्ररूपमें कही गयी है। साक्षात् काल भी सामने हो तो भी एक बार तो उससे भी लड़ेंगे। तो क्या विवशता है लड़नेकी? कदापि नहीं, विवशता और भयका तो प्रश्न ही नहीं है। वहाँ तो सुखपूर्वक लड़नेकी बात कही गयी है। तो क्या हम युद्ध-पिपासु हैं? इसका उत्तर श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज पहले ही दे चुके हैं, 'जो रन हमहि पचारै कोऊ' द्वारा। इस प्रकारका भीषण युद्ध भारत तभी करता है जब कोई पहलेसे युद्धके लिये हमें ललकारे। प्रस्तुत लेखमें हम भगवान्के इसी युद्ध-घोषपर विचार करेंगे।

सुखनिधान, करुणाभवन भगवान् श्रीरामका मङ्गलमय अवतार सबको सुख देनेके लिये हुआ—'राम जनम जग मंगल हेतू।' वे शैशवावस्थासे ही ऐसे कार्य करते थे, जिनसे पुरवासी तथा परिवारके लोग सुख पावें—

जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा।
करहिं कृपानिधि सोइ संयोगा॥

यही कारण था कि जिन वीथियोंमें भगवान् विचरण करते थे, सब स्त्री-पुरुष निर्निमेष नेत्रोंसे उस मङ्गलमयी रूपमाधुरीको निहारते-निहारते थकित हो जाते थे। इस प्रसङ्गमें यह कहना असङ्गत न होगा कि वे इस धरा-धामपर सुख और आनन्दका भण्डार कहीं अन्यत्रसे लेकर अवतरित नहीं हुए; अपितु उन्होंने अपने चरित्र और कर्तृत्वद्वारा इस धरतीपर ही स्वर्ग-तुल्य स्थिति उत्पन्न कर दी थी। इसी कारण आजतक रामराज्यकी कल्पना आदर्श सुखमय राज्यके लिये की जाती है।

उन्होंने अपने विचारोंके प्रचार एवं तदनुकूल आचरण करानेके लिये किसीपर शक्तिका प्रयोग नहीं किया, कभी युद्धका सहारा नहीं लिया। उनके चरित्रकी छाप उनके सम्पर्कमें आनेवाले व्यक्तियोंपर अनिवार्यतः पड़ती थी। आज भी जब साधारण राजकुमारके उज्ज्वल आदर्श चरित्रका प्रजाजनोंपर अनुकरणात्मक प्रभाव पड़ सकता है तो फिर सर्वथा अलौकिक परम दिव्य राजकुमारके परम पावन चरित्रबलसे लोग क्यों न प्रभावित होते? वन्य जातियोंके लोग कोल, किरात आदि जो चोरी, लूट-खसोट तथा हिंसाद्वारा अपना पेट पालन करते थे, उनसे अधिक असभ्य व्यक्तिकी

क्या कल्पना की जा सकती है । परंतु भगवान् रामके सम्पर्कमें आनेपर वे भी उच्च कोटिके आदर्श नागरिक बन गये । श्रीभरतजीको जैसे ही देखा, वे लोग तुरंत स्वागत-सत्कारके लिये दौड़ पड़े, नाना प्रकारके कंद, मूल, वन्य-फल आदि भेंटको ले आये और प्रार्थना करने लगे कि हमें कृतार्थ करनेके लिये फल, तृन, अङ्कुर स्वीकार कीजिये । इन कोल-किरातोंने दैन्य और अनुरागका अनूठा उदाहरण प्रस्तुत किया । कहने लगे, 'प्रभो ! हम सेवा करने योग्य हैं ही नहीं, आपको भेंटके लिये भी हम कुछ नहीं दे सकते । हमारे पास क्या है, हम तो भूखे-नंगे रहते हैं, निशि-दिन पापाचार करते हैं । किंबहुना, हमारी तो यही बड़ी भारी सेवा है कि आपका टाट-कमंडल नहीं उठा लिया । जो कुछ लाये हैं, आपको रामकी शपथ है जो इसे स्वीकार न करें—

भरि भरि परन पुटीं रचि रूरी । कंद मूल फल अंकुर जूरी ॥
सबहि देहिं करि बिनय प्रनामा। कहि कहि स्वाद भेद गुन नामा॥
देहिं लोग बहु मोल न लेहीं । फेरत राम दोहाई देहीं ॥
देब काह हम तुम्हहि गोसाँई। ईंधनु पात किरात मिताई ॥
पाप करत निसि बासर जाहीं । नहिं कटि पट नहिं पेट अघाहीं ॥
यह हमारि अति बड़ि सेवकाई । लेहिं न बासन बसन चोराई ॥

श्रीभरतजी तथा उनके दलके अन्य लोगोंको इस व्यवहारसे अत्यन्त आश्चर्य होना स्वाभाविक था। अतः कोल-किरात स्वयं ही उनके समाधान हेतु उत्तर देने लगे कि हममें यह सभ्यता कहाँसे आ गयी—

सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ । यह रघुनंदन दरस प्रभाऊ ॥

यह था भगवान् रामका चरित्र-बल ।

कई बार युद्धका प्रसङ्ग आ गया । युद्धका वातावरण होनेपर भी भगवान् श्रीरामने अपनी विशिष्ट शिष्टता, सौम्यता एवं शालीनताद्वारा स्थितिको युद्धसे रोका । श्रीलक्ष्मणजी एवं परशुरामजीमें युद्ध होनेमें क्या देर रह गयी थी ? इधर परशुरामजीने परशु निकालकर सुधार किया था—

सुनि कटु बचन कुठार सुधारा । हाय हाय सब सभा पुकारा ॥

तो उधर लक्ष्मणजी भी तैयार थे—

भृगुबर परसु दिखावहु मोही । बिप्र बिचारि बचउँ नृप द्रोही ॥

यहाँतक कि लोग चिल्ला पड़े—

अनुचित कहि सब लोग पुकारे ।

किंतु—

रघुपति सयनहिं लखनु निवारे ।

बस, युद्ध टल गया । परंतु यह सब होते हुए भी रामको युद्धमें कूदना पड़ा, युद्ध-नीति बनानी पड़ी । यही हमारा मूल विषय है कि भगवान् रामकी युद्ध-नीति क्या थी और उन्होंने युद्धका क्या आदर्श रक्खा ।

क्रमिक युद्ध खर और दूषणके युद्धसे ही माना जायगा; क्योंकि ताड़का, सुबाहु और मारीच आदिके युद्ध तो भगवान्के खेल मात्र बनकर रह गये । एक-एक बाणमें ही काम चल गया और फिर कुछ समयतक युद्धका नाम भी सुननेमें नहीं आता । अस्तु, युद्धका आरम्भ खर-दूषणके युद्धसे ही समझना चाहिये ।

शूर्पणखाद्वारा प्रेरित खर-दूषण विशाल सेना लेकर युद्धके लिये मैदानमें आ गये । योद्धाओंके झुंड-के-झुंड चारों ओरसे युद्धके नारे लगाने लगे । दशा यह थी—

धाए निसिचर निकर बरूथा । जनु सपच्छ कज्जल गिरि जूथा ॥
नाना बाहन नानाकारा । नानायुध धर घोर अपारा ॥
गर्जहिं तर्जहिं गगन उड़ाहीं । देखि कटकु भट अति हरषाहीं ॥
कोउ कह जिअत धरहु दोउ भाई । धरि मारहु तिय लेहु छड़ाई॥

इस प्रकार धनुर्धर श्रीरामने देखा कि चारों ओर युद्धका वातावरण उत्पन्न कर दिया गया है और बिना युद्ध किये शान्ति सम्भव नहीं । अतः अब युद्ध टाला नहीं जा सकता । तुरंत निश्चित कर लिया कि आह्वान-का स्वागत करना चाहिये । बस, चुनौती स्वीकार कर ली और—

देखि राम रिपु दल चलि आवा। बिहसि कठिन कोदंड चढ़ावा॥

हँसकर धनुषपर बाण चढ़ा लिया और शत्रु-दलकी ओर ऐसे देखा जैसे हाथियोंके झुंडको सिंह देखता है। धन्य है भगवान् रामका शौर्य—

चितवत मनहुँ मृगराज प्रभु गजराज घटा निहारि कै।

राक्षसोंने श्रीरामजीको ऐसे घेर लिया जैसे बाल रविको दनुज घेर लेते हैं। भगवान्के सौन्दर्य-सुधा-समुद्रस्वरूपको देखकर शत्रुओंका हृदय भी विचलित हो गया और वे शत्रुताका भाव छोड़कर सन्धिका प्रस्ताव करने लगे। कहने लगे कि यद्यपि इन्होंने हमारी बहिन-को कुरूप कर दिया है परंतु फिर भी नरभूषण ये अनुपम नृप-बालक वध्य नहीं हैं। इनसे कह दो कि अपनी स्त्रीको तुरंत कहीं छिपा दें और दोनों भाई सकुशल अपने घर चले जायँ। दूतोंद्वारा यह प्रस्ताव श्रीरामजीके पास आया। वे मुस्कराये और अपनी युद्ध-नीति बताने लगे कि हम क्षत्रिय हैं, मृगया-विहार हमारा सहज धर्म है। घर क्यों चले जायँ? हम तो तुम-जैसे खल-मृगोंको मारनेके लिये ही आये हैं। शत्रु कितना ही बलवान् हो, हम डरते नहीं और एक बार तो कालसे भी लड़ते हैं—

हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं॥
रिपु बलवंत देखि नहिं डरहीं। एक बार कालहु सन लरहीं॥

इस युद्धमें क्या हुआ, सर्वविदित है। मेघनाद, कुम्भकर्ण एवं रावण आदि महाभटोंसे भी युद्ध किया और विजयश्रीने भगवान्का वरण किया।

चीन तथा पाकिस्तानने भारतका सिद्धान्त समझनेमें भूल की। भगवान् राम-कृष्णके देश भारतने युद्धके माध्यमद्वारा कीर्ति अर्जित करनेका विचार कभी नहीं किया। उसकी कीर्तिपताका फहरानेका मुख्य कारण है उसकी सत्यपर आधारित निष्पक्ष नीति। आज जब उसे युद्धके लिये ललकारा गया तो भारतकी सोयी हुई आत्मा जाग पड़ी और युयुत्सुओंके प्रति अपना कर्तव्य-पालन करनेके लिये फड़फड़ा उठी। मृत-देहमें भी प्राण-संचार करनेवाला भगवान् रामका घोष—

जो रन हमहि पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ॥

—हमारा मन्त्र है, राष्ट्रीय चेतना हमारा पाथेय है और विजयश्री हमें वरण करेगी—यह ध्रुव है। जब हम युद्धमें घसीटे ही जा चुके हैं तो कोई चिन्ता नहीं—

शत्रु पाक नापाक सामने अथवा होवे बर्बर चीन।
विजय हेतु निशि दिन तत्पर हैं भारत वीरों की संगीन॥

हाँ, हमें भगवान् रामकी नीतिका सहारा लेना होगा—

रन चढ़ि करिअ कपट चतुराई। रिपु पर कृपा परम कदराई॥

अस्तु, भगवान् रामका जय-घोष आपको, हमको तथा सम्पूर्ण राष्ट्रको विजय प्रदान करे।

भगवान्का स्वभाव

सब प्रकारसे मलिन दीन अति हीन निराश्रय।
दुराचार-दुर्गुण-रत जड पूरित विषाद-भय॥
ऐसा भी, यदि मान मुझे ही अनन्य आश्रय।
हो मेरे शरणागत, कर दूँ सबसे निर्भय॥
यह मेरा व्रत है, मेरा स्वभाव यह निश्चय।
मुझे न कोई शरणागत-सेवक सम अति प्रिय॥

अनारम्भ

(लेखक—श्रीपरमेश्वरीशरणजी वर्मा)

श्रीमद्भगवद्गीताके बारहवें अध्यायमें भक्तोंके लक्षण दिये हैं। उन लक्षणोंमें एक लक्षण 'अनारम्भ' भी है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
(गीता १२।१६)

श्रीरामचरितमानसमें भी भक्तोंके लक्षण बताते हुए प्रभुने कहा है—

अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥

प्रायः यह समझा जाता है कि अनारम्भका अर्थ निष्क्रिय होना है। यह ठीक है कि 'अनारम्भ'के लक्षणवाला भक्त सांसारिक विषयोंमें कोई रुचि नहीं लेता है और वह कोई कार्य स्वयं आरम्भ नहीं करना चाहता है, किसी उद्यमकी चेष्टा नहीं करता है, पर ऐसा करनेके पीछे उसकी कोई तामसी प्रवृत्ति नहीं छिपी है। वह प्रमादी या आलसी नहीं है। उसके अंदर किसी भी परिस्थितिमें उचित कार्य करनेका विश्वास है। उसके अंदर किसी भी परिस्थितिका सामना करनेकी क्षमता है। जो प्रतिकूल परिस्थितिको भी अपने अनुकूल कर सके और उसका अपने उद्देश्य-पूर्तिमें प्रयोग कर सके, वही भक्त 'अनारम्भ' है। यह क्षमता—यह पौरुष केवल भगवत्-कृपासे प्रभुके चरणोंमें तन-मनके अर्पण करनेसे ही प्राप्त होती है।

भगवान् श्रीरामने 'अनारम्भ'का उदाहरण अपने जीवनमें चरितार्थ करके दिखाया। उनका सारा जीवन 'अनारम्भ'का ज्वलन्त उदाहरण है।

जब गुरु वसिष्ठसे शिक्षा लेकर राम पिताके पास आये और वह समय आया कि अपने पिताके राज-कार्यमें हाथ बँटायें, उसी समय विश्वामित्र उनकी याचना करने राजा दशरथके पास आये। क्या उस समयतक राजा दशरथको पता नहीं था कि राक्षस मुनियोंको सताते हैं? उनको पता हो या न हो, रामको तो पता था ही; क्योंकि उनका जन्म ही इसीलिये हुआ था। फिर भी उन्होंने राक्षसोंको मारनेकी, उनको नष्ट करनेकी कोई योजना नहीं बनायी और न तो विश्वामित्रके साथ जानेकी कोई उत्सुकता दिखलायी। राजा दशरथने पहले तो राम-लक्ष्मणको भेजनेमें आनाकानी की पर वसिष्ठके कहनेसे तैयार हो गये।

वनमें जाकर उन्होंने ताड़काको देखा और उसका वध किया। फिर सुबाहुको मारा। मारीचको बाण मारा जो उसको शतयोजन पार ले गया। उन्होंने इस बातकी चिन्ता नहीं की कि यह घायल राक्षस लौटकर दूने वेगसे मुनियोंको सता सकता है, लाओ, इसकी खोज कर लें और इसका पूर्ण अन्त कर डालें। उन्होंने मुनियोंके यज्ञकी वर्तमान बाधाओंको हटा दिया। आगे जो भी परिस्थिति आवे, उसके बारेमें वे पूर्ण निश्चिन्त थे कि उचित समाधान करनेमें वे पूर्ण समर्थ हैं।

यहाँसे उनको अयोध्या लौट जाना चाहिये था, पर इस विषयमें भी उन्होंने कोई उत्सुकता नहीं दिखायी। विश्वामित्रने कहा कि जनकपुर चलो तो वे वहाँ चल दिये। जनकपुरमें पुष्पवाटिकामें जानकीजीको देखा। मनका उधर रुझान भी हुआ। इस स्थानपर तुलसीकी कलाका चमत्कार मिलता है।

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन रामु हृदयँ गुनि॥
तात जनकतनया यह सोई।
धनुष जग्य जेहि कारन होई॥

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा।
सहज पुनीत मोर मन छोभा॥
सो सबु कारन जान बिधाता।
फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता॥
रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ।
मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी।
जेहिं सपनेहुँ पर नारि न हेरी॥

मन तो क्षुब्ध हुआ, पर उसका उपाय कुछ नहीं किया। न तो विश्वामित्रसे ही कुछ कहा, न धनुषको उठानेका ही प्रयास किया। माना कि वे उस स्वयंवरमें आदिसे आमन्त्रित नहीं थे पर जनकपुरीमें प्रवेश करनेके बाद वे राजा जनकके विशेष आमन्त्रित जन हो गये थे। स्वयंवर-भूमिमें उनके लिये विशेष मञ्चका प्रबन्ध था।

सब मंचन्ह तें मंचु एक सुंदर बिसद बिसाल।
मुनि समेत दोउ बंधु तहँ बैठारे महिपाल॥
(रा० बा० २४४)

यदि आरम्भमें धनुष उठानेमें कोई संकोच था तो जब सब राजा हार गये और धनुष नहीं उठा तब तो धनुष उठानेमें कोई संकोच नहीं रहना चाहिये। राजा जनकने तो यहाँतक कहा—

अब जनि कोउ माखै भट मानी।
बीर बिहीन मही मैं जानी॥

तब भी वह 'अनारम्भ' ही रहे। लक्ष्मण तो अपना संतुलन खो बैठे।

रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई।
तेहिं समाज अस कहइ न कोई॥
कही जनक जसि अनुचित बानी।
बिद्यमान रघुकुल मनि जानी॥

पर रामके मनमें न तो कोई रोष उठा, न उन्होंने यह ज्ञात होने दिया कि वे धनुष तोड़ सकते हैं। वे और न सही, रघुवंशियोंका बल दिखानेके लिये ही धनुषको तोड़ते। जब विश्वामित्रने ही उनसे कहा—

उठहु राम भंजहु भव चापा।
मेटहु तात जनक परितापा॥

तब वे विश्वामित्रको प्रणाम करके खड़े हो गये उसमें भी कोई आतुरता नहीं, कोई शीघ्रता नहीं।

ठाढ़े भए उठि सहज सुभाएँ।
ठवनि जुबा मृगराजु लजाएँ॥

उनको अपनी शक्तिपर पूर्ण विश्वास था। उ[न्होंने] कमल-डंडीकी तरह धनुष तोड़ दिया। दूतोंने रा[जा] दशरथको उस दृश्यका कितना सुन्दर वर्णन सुनाया है—

सीय स्वयंबर भूप अनेका।
समिटे सुभट एक तें एका॥
संभु सरासनु काहुँ न टारा।
हारे सकल बीर बरिआरा॥
तीनि लोक महँ जे भट मानी।
सभ कै सकति संभु धनु भानी॥
सकइ उठाइ सरासुर मेरू।
सोउ हियँ हारि गयउ करि फेरू॥
जेहिं कौतुक सिवसैलु उठावा।
सोउ तेहि सभाँ पराभव पावा॥
तहाँ राम रघुबंस मनि सुनिअ महा महिपाल।
भंजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गज पंकज नाल॥
(रा० बा० २९२)

यह अनारम्भका जाग्रत् रूप है।

जब घर लौट आये और राज्यकी जगह वनव[ास] मिला, तब भी वही विश्वासप्रेरित उदासीनता। [को]ई चिन्ता नहीं कि घरके स्थानपर वन मिला, कोई चि[न्ता] नहीं कि वनमें कहाँ रहेंगे, क्या भोजन होगा, क[हाँ] विश्राम होगा—कुछ नहीं। तभी तो गोस्वामीजी[ने] वन्दनामें लिखा—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकत-
स्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे
सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा॥

वनमें पहुँच गये । भरतको वापस कर दिया और अधिक दक्षिणमें चले गये । दण्डक वनमें जाकर मनुष्य-की हड्डियोंका ढेर देखा । जब पता चला कि यह राक्षसोंद्वारा खाये हुए मुनियोंकी हड्डियाँ हैं तो—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह ।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥
(रा० अ० ९)

'पन' तो किया, पर पृथ्वीको राक्षसोंसे विहीन करने-का उपाय क्या किया; कोई प्रयत्न इस बातको जाननेका नहीं किया कि ये राक्षस कहाँ रहते हैं और इनके नाशमें कौन-कौन सहायता कर सकते हैं । कोई तो योजना बनाते । पर उन्होंने कुछ नहीं किया । पंचवटीमें रहते थे । गोदावरीका पानी पीते थे । लक्ष्मण कन्द-मूल-फल ले आते थे, वे खाते थे और सीता और लक्ष्मणके साथ ज्ञानचर्चा करते थे । यहाँतक कि शूर्पणखाकी नाक-कान काटकर रणभेरी तो बजा दी गयी, पर स्वयं युद्ध आरम्भ न करके अपनी कुटीमें ही राक्षसोंकी सेनाकी प्रतीक्षा करते रहे । जो-जो वहाँ आया, मारा गया । पर इसके आगे कुछ भी नहीं । इस बातका पता लगानेका कोई प्रयत्न नहीं किया कि और राक्षस कहाँ रहते हैं और वे क्या कर सकते हैं ?

सीताहरण हो गया । अब तो कुछ उपाय करते । पर अब भी वही अनारम्भकी दशा । सीताको खोजते-खोजते वे केवल संयोगसे वहाँ पहुँच गये जहाँ घरसे निकाला हुआ भाईसे भयभीत सुग्रीव रहता था । क्या वह सीताकी खोजमें मदद कर सकता था ? पर रामको तो अपनेपर विश्वास था कि वे प्रतिकूल परिस्थितिको भी अपने अनुकूल बना सकते हैं । अतएव उन्होंने सुग्रीवसे ही मित्रता कर ली और वाली-जैसे महाबलीको मारकर सुग्रीवको ही किष्किन्धाका राजा बना दिया ।

अब भी उनकी ओरसे रावण-वधकी योजना नहीं बनी । वे तो केवल सीताको वापस चाहते थे । पहले हनुमान्‌के द्वारा, फिर अंगदके द्वारा इस बातका प्रयास किया कि युद्ध न हो और सीता वापस आ जाय । यह संदेह करनेका स्थान नहीं है कि उन्हें रावणको मार सकनेमें अपने ऊपर विश्वास नहीं था, न यह कि वे युद्धसे भयभीत थे । केवल अनारम्भकी भावना कि युद्धके आरम्भ करनेका उत्तरदायित्व रावणपर हो, अपनी ओर-से कोई कार्य आरम्भ न करके प्रत्येक परिस्थितिका सामना करनेकी और उसको अपने अनुकूल बना सकने-की क्षमता ही इस कार्यशैलीका रहस्य था ।

जीवनमें बहुत कम ऐसा होता है कि हमारे मनके अनुकूल परिस्थिति हमारे सामने आये । जब हम कोई कार्य नहीं कर पाते हैं तो विधाताको दूषण देते हैं कि क्या करें हमको उचित परिस्थिति मिलती तो हम यह कर लेते, ऐसे कर लेते, पर वास्तवमें यह बात हमारी अपनी अकर्मण्यतापर पर्दा डालना मात्र है । सच पूछिये तो हम ऐसे प्रयास करते रहते हैं कि जिनसे हमारी शक्ति क्षीण होती रहती है और इसलिये जब उचित कार्यके लिये शक्तिकी आवश्यकता होती है तो वहाँ हम अपनेको अशक्त पाते हैं । इसीलिये 'अनारम्भ'की इतनी महिमा है । व्यर्थके प्रयास आरम्भ करना तो केवल शक्तिका ह्रास करना है । निरन्तर प्रयास तो शक्ति-संग्रहका, उचित शिक्षा-दीक्षाका होना चाहिये । जब समय आवे तो उन संचित शक्तियोंका उचित प्रयोग किया जाय । लक्ष्मणके द्वारा गुप्तजीने भी पंचवटीमें कहलाया है—

मेरे मत में तो विपदाएँ,
हैं प्राकृतिक परीक्षाएँ ।
उनसे वही डरें कच्ची हो,
जिनकी शिक्षा दीक्षाएँ ॥

जो भी कार्य या परिस्थिति हमारे सौभाग्य या

दुर्भाग्यसे सामने आ जाय, उसका प्रभु-चरणोंमें मन दृढ़ करके समस्त शक्तिसे सामना किया जाय, इस आशासे नहीं कि फल हमारे अनुकूल होगा। फल कुछ भी हो, अपनी शक्ति भर प्रयास करना चाहिये, जो भी फल निकले वह प्रभु-चरणोंमें अर्पित कर दे। यही 'सर्वारम्भ-परित्यागी'का तात्पर्य है।

मनुष्यकी कामनाएँ

(लेखक—पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र काव्य-व्याकरण-सांख्य-स्मृतितीर्थ)

प्रतिदिन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको संध्या तीनों समय—प्रातः, मध्याह्न और सायंकालमें करनेका शास्त्रोंमें विधान है। गृहस्थको तीनों संध्या करनेमें असुविधा हो तो कम-से-कम सायंकाल और प्रातःकाल तो संध्या करनी ही चाहिये; क्योंकि संध्या करनेसे लौकिक और आध्यात्मिक दोनों तरहके बल प्राप्त होते हैं। संध्या न करनेसे उक्त दोनों तरहके बल क्षीण हो जाते हैं, जिससे मनुष्य-जन्मको सफल बनानेमें वह सदा असफल रहता है।

इसीलिये श्रुतिमें लिखा है **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'** अर्थात् जिन्हें बल नहीं है, उन्हें आत्माकी प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि अन्तःशुद्धि और बाह्यशुद्धिसे अन्तःकरण (मन) और बाह्यकरण (इन्द्रियाँ) बलिष्ठ होनेपर ब्रह्मज्ञानका अधिकार प्राप्त होता है।

शुक्ल यजुर्वेदीय संध्याकी पुस्तकमें सूर्यार्घ्य देनेके पश्चात् सूर्यकी प्रार्थनाके चार मन्त्र हैं। जिनमें अन्तिम मन्त्र है—

ॐ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतम्, जीवेम शरदः शतम्, शृणुयाम शरदः शतम्, प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।

इसका अभिप्राय यह है, संध्या करनेवाला प्राणी ईश्वरसे प्रार्थना करता है कि 'हे देव (परमात्मा)! वह चक्षुस्वरूप प्रकाशमान ज्योति हमारे अन्तःकरणको प्रकाशित करे। उस प्रकाशसे हम सौ वर्षतक देखें, सौ वर्षतक जीवित रहें, सौ वर्षतक सुनें, सौ वर्षतक बोलें, अर्थात् बोलनेकी शक्ति बनी रहे, जिससे हम अपने मनके भावको प्रकट करनेमें असमर्थ न हों। एवं अपने सौ वर्षके जीवनमें कभी अभावग्रस्त न रहें।' ये हैं मनुष्यकी कामनाएँ। मनुष्यका स्वभाव है कि वह अपने वचनकी पटुतासे दूसरेको अपना आज्ञाकारी बनाना चाहता है। अतः ब्रू धातुके पहले 'प्र' उपसर्ग लगा है। और क्रियाओंमें उपसर्ग नहीं है। प्रब्रवाम, अर्थात् वाक्-शक्ति हमारी कभी न घटे। वाक्-शक्ति इन सब शक्तियोंमें प्रधान है; क्योंकि हृदयगत अनुभवको प्रकाशित करनेका एकमात्र वचन ही साधन है। भगवान्‌की स्तुति करनेका अथवा ब्रह्मका उपदेश देकर दूसरेको ब्रह्मप्राप्ति करानेका साधन वाक्-शक्ति ही है।

ऐतरेयोपनिषद्‌के शान्तिपाठके मन्त्रोंमें मन और वचनके एक होनेकी प्रार्थना ईश्वरसे की गयी है। यथा—

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्, आविराविर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः, अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु, तद् वक्तारमवतु, अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्।

इस शान्तिपाठमें वचनको मनमें और मनको वचनमें स्थित होनेकी प्रार्थना है। तात्पर्य यह है कि मन और वचन दोनों एक होनेसे जो कुछ हम बोलें वह सत्य होगा; क्योंकि मनमें कुछ और वचनमें कुछ दुर्जनोंका हुआ करता है, मन और वचन दोनोंमें एकता सज्जनोंके वचनमें होती है। जैसा कि लिखा है—

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥

अतः वाक्-शक्तिकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वती है । जो ज्ञानस्वरूप है । इसकी उपासनाके विना मनुष्यका जीवन निष्फल हो जाता है । उपर्युक्त शान्तिपाठ यही बतलाता है कि मेरे मन और वचन दोनों एकमें मिल जायँ, जिससे हम दूसरेको धोखा देनेके लिये झूठे व्यवहार न करें । इन दोनोंके एक होनेमें ज्ञानकी आवश्यकता है, अतः उपासक कहता है कि हे आविः ! प्रकाशस्वरूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप ईश्वर मुझमें एधि रहो । मतलब यह है हममें सदा ज्ञान और विवेक-शक्ति रहे, जिससे हम भले-बुरेको सोच सकें । ऐसे वचन न बोलें जिससे इस भवसागरमें ही गोते लगाते रहना पड़े । अतः उपासक मन और वचनसे प्रार्थना करता है कि तुम दोनों वेदविहित शुभ कर्मोंको ही लानेवाले बनो । जिससे मैं वेदविरुद्ध किसी बातको न सोचूँ और न किसी दूसरेको ऐसा उपदेश करूँ जिससे उसके कल्याणमें बाधा हो । मैंने आजतक गुरुसे जो कुछ सुना है, अर्थात् आचरण करनेके लिये सुना है वह मुझको छोड़ न दे, तात्पर्य यह है कि गुरुप्राप्त जो ज्ञान है, उसको मैं भूल न जाऊँ और इस अध्ययनसे मैं रात और दिनको मिला दूँ । निरन्तर दिन-रात मैं उस ज्योतिस्वरूप ब्रह्मका चिन्तन करूँ, रात्रिमें भी मैं निद्राकी स्थितिमें ब्रह्मका ही स्वप्न देखूँ और जब जग जाऊँ तो फिर उसीके चिन्तनमें लग जाऊँ, जिससे ब्रह्मज्ञानसे कभी वियुक्त न होऊँ । इससे फल क्या मिलेगा कि ऋतं वदिष्यामि, अर्थात् श्रेष्ठ शब्दोंको ही बोलूँगा । श्रेष्ठ शब्द वे ही हैं, जिनसे सर्वसाधारणको लाभ हो, किसीकी हानि न हो और किसीको भी अप्रिय न हो । एवं मैं सत्य बोलूँगा । सत्य ईश्वर है, उसीका प्रतिपादन करूँगा । झूठ जो माया है, उसके फंदेमें स्वयं नहीं फँसूँगा और सत्य उपदेशके द्वारा दूसरेकी भी उससे रक्षा करूँगा । वह ब्रह्म मेरी रक्षा करे और मुझे शिक्षा देनेवाले मेरे गुरुकी भी रक्षा करे ।

प्रश्नोपनिषद्के शान्तिपाठमें लिखा है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

अर्थात् हे देवगण ! हमलोग अपने कानोंसे सदैव कल्याणकी ही बातें सुनें । कानोंसे कभी मानसिक कष्ट देनेवाले अपवित्र शब्दोंको न सुनें, देखें भी तो केवल कल्याण करनेवाली वस्तुओंको, अर्थात् भगवान्के विग्रह आदिको या शास्त्रोंको देखें । अपने दृढ़ अङ्गोंसे उस परब्रह्मका यजन करते हुए, जितनी हमारी आयु है, सम्पूर्ण अपनी आयुको हम देव (ब्रह्म) की सेवा करते हुए भोगें ।

भगवान्की स्तुति करते हुए एक भक्तने भी कहा है—

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥

इसीके अनुवादस्वरूप महात्मा तुलसीदासजीने भी अपनी स्तुतिमें लिखा है—

मूक होइ बाचाल पंगु चढ़इ गिरिबर गहन ।
जासु कृपा सो दयाल द्रवउ सकल कलिमल दहन ॥

इसका अर्थ स्पष्ट है कि जिसकी कृपासे गूँगा मनुष्य भी वक्ता हो जाता है और लँगड़ा आदमी पर्वतको पार कर जाता है, ऐसे परम आनन्दस्वरूप माधव भगवान् अर्थात् विष्णुको मैं प्रणाम करता हूँ ।

इसमें एक विचारणीय विषय है कि भगवत्कृपासे जिस वस्तुकी प्राप्ति होती है, वह हर तरहसे स्वच्छ और सर्वथा निर्दोष होती है, फिर भी कविने मूकको वाचाल होनेको क्यों कहा; क्योंकि वाच् शब्दसे आलच् प्रत्ययसे वाचाल शब्द बनता है । इसका नियम है— 'आलजाटचौबहुभाषिणि' साथ ही वार्तिककारने लिखा

है—'कुत्सित इति वक्तव्यम्' बहुत कुत्सित—निन्दनीय शब्दोंको बोलनेवालेको वाचाल कहते हैं। उसी स्थानपर यह भी लिखा है कि **'यस्तु सम्यग् बहु भाषते तत्र वाग्मी इत्येव'**। अतः **'मूकं करोति वागीशम्'** यदि कवि कहते तो अच्छा होता। यद्यपि भक्त कविने भगवत्कृपाकी उत्कृष्टता बतानेके विचारसे ऐसा लिखा है; क्योंकि जो बिल्कुल गूँगा है, एक शब्द भी नहीं बोल सकता, वह बहुत बोलने लगे, तो भगवान्‌की कृपामें असम्भवको सम्भव करनेकी शक्ति है, इस बातको प्रकाशित किया है।

मनुष्य-जन्म और शरीरस्थ इन्द्रियोंकी सार्थकता भगवान्‌की सेवामें समर्पित होना ही है। श्रीमद्भागवतमें वेदव्यासजीने लिखा है—

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये
न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगायगाथाः॥
भारः परं पट्टकिरीटजुष्ट-
मप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां
हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा॥
बर्हायिते ते नयने नराणां
लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षितो ये।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ
क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ॥
जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं
न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः
श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम्॥
(२।३।२०–२३)

मनुष्य अपनी इन्द्रियोंको केवल सांसारिक विषयोपभोगका उपकरण मानते हैं; परंतु इनका यथार्थ उपयोग भगवान्‌की सेवामें ही है।

और यह भी समझना चाहिये कि कामनाओंका अन्त नहीं होता। एक कामनाके सिद्ध हो जानेपर दूसरी कामना उत्पन्न होती है। यदि हम प्रार्थनाके बलसे सक्षम इन्द्रियोंके साथ दीर्घ आयु प्राप्त कर लेते हैं तो मन बलपूर्वक इन्द्रियोंको सांसारिक विषयोपभोगकी ओर आकृष्ट कर लेता है और यदि उसके वशीभूत होकर हम विषयभोगमें लिप्त हो जाते हैं, तो न हमारी तृष्णा शान्त होगी, न हम आत्मशान्ति ही प्राप्त कर सकेंगे। इसी बातको सोचकर मनुस्मृतिमें भगवान् मनुने कहा है—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥
(२।२)

अर्थात् कामनाके साथ किसी कर्मको नहीं करना चाहिये। फिर उन्होंने ही यह भी कहा कि बिना कामनाके कर्म करना सम्भव नहीं है; क्योंकि अवश्य कर्तव्यरूपसे विहित वेदाध्ययन भी तो काम्यकर्म ही है। कर्तव्यपालनरूप फलकी आकाङ्क्षा उसमें भी है एवं वेद-विहित यज्ञादिक कर्म भी फल-प्राप्तिकी अभिलाषासे ही करनेको लिखा है। फिर मनुष्य निष्काम कैसे हो सकता है? इसलिये गीतामें भगवान्‌ने उपदेश देते हुए अर्जुनसे कहा है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥
(२।४५-४६)

अर्थात् वेदोंमें यज्ञादिके जो विधान सकाम कर्मके रूपमें कहे गये हैं, वे त्रिगुणात्मक हैं। तुम इन तीनों गुणोंके प्रभावसे ऊपर हो जाओ। यह सुख-दुःखादि द्वन्द्व तो उनके लिये है जो मायामें फँसे हुए हैं। तुम इससे ऊपर उठ जाओ। त्रिगुणमें रहनेसे तुमको सुख-दुःखादिका अनुभव होता है। अर्थात् रजोगुण और तमोगुणके प्रभावसे अज्ञान होता है और अज्ञान ही

सुख-दुःखादिके अनुभवका कारण है। अतः वेदोंमें स्वर्ग और नरककी प्राप्तिकी बात जो लिखी है, वह फल-प्राप्तिकी आशासे कर्म करनेवालोंके लिये ही है। तुम केवल सत्यनिष्ठ हो जाओ। अर्थात् कर्त्तव्य समझकर कर्म करो, फलकी आशा न रक्खो। सिद्धि और असिद्धि—दोनोंको एक समान समझो, न सिद्धि होनेपर प्रसन्न होओ और न असिद्धिसे दुखी होओ।

इसी बातको भगवान्‌ने योगशब्दसे गीतामें कहा है। यथा—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

इसलिये अपनी वासनाकी तृप्तिके विचारसे जितने कर्म किये जाते हैं, उनसे दुःख होता है और भगवत्प्रीत्यर्थ जितने कर्म किये जाते हैं उनसे सुख-प्राप्ति होती है। स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये जो यज्ञादिका अनुष्ठान किया जाता है, उससे आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'** अर्थात् पुण्यका प्रभाव जबतक रहता है, तभीतक स्वर्गमें निवास रहता है, पुण्यका फल जब नष्ट हो जाता है तब पुनः इसी दुःखालय मर्त्यलोकमें आना पड़ता है।

अतः यदि ऊपर लिखी हुई जो कामनाएँ हैं वे यदि भगवत्सेवार्थ की जायँ तो उनसे आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि कामनाएँ बन्धनमें कारण नहीं, बल्कि अपनी इच्छाकी पूर्तिके लिये कामना करना बन्धनमें हेतु हैं। इसी स्वार्थ-बुद्धिका नाम आसक्ति है। आसक्तिपूर्ण कर्म करनेसे भवसागरकी तरङ्गोंमें डूबते-उतराते रहना पड़ता है।

भारतीय संस्कृतिकी ये विशेषताएँ अपने चरित्रमें उत्पन्न कीजिये

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

प्रत्येक व्यक्तिकी आन्तरिक इच्छा यही होती है कि वह सुख-शान्तिसे रहे, अधिक-से-अधिक जीवनका आनन्द लेकर दीर्घकाल तक आन्तरिक शान्ति और संतोषका रस लूटता रहे। हिंदू विद्वानों और तत्त्वदर्शियोंने समय-समयपर इसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये ऐसे विचार तथा कार्यके रूप स्थिर किये हैं, जिनके अनुसार आचरण करनेसे समस्त सांसारिक और आध्यात्मिक सुख-साधन प्राप्त हो सकते हैं; व्यक्ति और समाज आनन्दित रह सकते हैं और पृथ्वीपर स्वर्गकी सृष्टि हो सकती है। यदि हिंदूधर्मके इन विचारोंके अनुसार जीवन ढाल लिया जाय तो मनुष्यका जीवन मधुर तथा सफल बन सकता है और हमारे समाजमें देवत्वका विकास हो सकता है।

हिंदूधर्म महान् उपयोगी मानवधर्म है। यह अति व्यापक दृष्टिकोणवाला है तथा समस्त मानव मात्रके लिये कल्याणकारी है। हिंदू दर्शन और भारतीय संस्कृति मनुष्यमें ऐसे भाव और विचार जाग्रत् करती है, जिनपर आचरण करनेसे हमारा समाज स्थायी रूपसे सुख और शान्तिका अमृत घूँट पी सकता है। हिंदू संस्कृतिमें जिन उपयोगी तत्त्वों-का समावेश है, उसमें तत्त्वज्ञान और अनुभवके वे मूल सिद्धान्त रक्खे गये हैं, जिनको जीवनमें ढालनेसे आदमी सच्चे अर्थोंमें 'मनुष्य' बन सकता है।

आप भारतीय संस्कृतिकी इन विशेषताओंको अपने जीवनमें उतारें

भारतीय संस्कृतिके अनुसार आपका दृष्टिकोण क्षुद्र सांसारिक बातोंसे बहुत ऊँचा उठना चाहिये। हिंदूधर्ममें संस्कृतिको प्रधानता दी गयी है। हिंदू तत्त्वदर्शियोंने संसारकी व्यवहार वस्तुओं, व्यक्तिगत जीवन-यापनके ढंग और मूलभूत सिद्धान्तोंमें पारमार्थिक दृष्टिकोणको ही महत्त्व दिया है। आपको भी क्षुद्र सांसारिक सुखोपभोगकी बातोंसे ऊपर उठकर, वासनाजन्य इन्द्रियोंसे सम्बन्धित साधारण सुखोंसे ऊपर उठकर आत्मभाव विकसित करना है। हमारे यहाँ नैतिकताकी रक्षाके लिये सदा यही प्रयत्न किया गया है।

भारतीय विचारकोंने हिंदूसंस्कृतिका सूक्ष्म आधार जिन मान्यताओंपर रक्खा है, वे संक्षेपमें इस प्रकार हैं—

१-सुखका केन्द्र—आन्तरिक श्रेष्ठता

भारतीय ऋषि खोज और अनुभवके आधारपर इस निष्कर्षपर पहुँचे थे कि मनुष्यकी चिरन्तन अभिलाषा, सुख-शान्तिकी उपलब्धि इस बाह्य संसार या प्रकृतिकी भौतिक सामग्री या इन्द्रियोंके क्षुद्र विषयोंको तृप्त करनेकी नहीं हो सकती। पार्थिव आकर्षण हमारी तृष्णाओंको बढ़ानेवाला है।

एक वासनाकी पूर्ति दूसरी नयी वासनाको जन्म देती है। मनुष्य धनके पीछे, उसे सुखका साधन समझ, पागलोंकी तरह दौड़ता है, अपार धनसंग्रह करता है, अनियन्त्रित काम-क्रीड़ामें सुख ढूँढ़ता है; लूट-खसोट और क्षुद्र स्वार्थ-साधनके लिये दूसरोंको ठगता है। धोखाधड़ी, छल-प्रपञ्च नाना प्रकारके षड्यन्त्र करता है; विलासिता, नशेबाजी, ईर्ष्या-द्वेषमें प्रवृत्त होता है, पर स्थायी सुख और आनन्द नहीं पाता।

हिंदू तत्त्ववेत्ताओंने उपर्युक्त त्रुटियोंको देखकर ही यह निष्कर्ष निकाला था कि स्वार्थपरता और सांसारिक भोग कदापि स्थायी आनन्द नहीं दे सकते। हमारे स्थायी सुखोंका केन्द्र भौतिक सुख-सामग्री न होकर आन्तरिक श्रेष्ठता है। इस आन्तरिक शुद्धिके लिये हमारे यहाँ नाना विधानोंका क्रम रक्खा गया है। त्याग, बलिदान, संयम और उपवास—वे अमोघ उपाय हैं, जिनसे आन्तरिक शुद्धिमें प्रचुर सहायता मिलती है।

२-अपने साथ कड़ाई और दूसरोंके साथ उदारता

भारतीय संस्कृतिमें अपनी इन्द्रियोंके ऊपर कठोर नियन्त्रणका विधान है। जो व्यक्ति अपनी वासनाओं और इन्द्रियोंके ऊपर नियन्त्रण कर सकेगा, वही वास्तवमें दूसरोंके सेवा-कार्यमें हाथ बँटा सकता है। जिससे खुद अपना शरीर, अपनी इच्छाएँ, अपनी पशु-प्रकृति, वासनाएँ और आदतें ही नहीं सँभलतीं, वह क्या तो अपना हित करेगा और क्या लोकहित! इन्द्रियोंके मायाजालसे सावधान रहिये—

'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति'

(श्रीमद्भागवत ९। १९। १७)

अर्थात् सावधान, ये इन्द्रियाँ बहुत बलवान् हैं। ये समझदार आदमी तकको अपनी तरफ खींच लेती हैं।

अतः भारतीय संस्कृतिने सदा अपनी कुप्रवृत्तियों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, वासना, ईर्ष्या, द्वेष) को दबानेमें कड़ाईकी व्यवस्था की है। यदि हम अपनी कुप्रवृत्तियोंको नियन्त्रित न करेंगे तो हमारी बहुत-सी उपयोगी शक्तियोंका इन्हींकी पूर्त्तिमें अपव्यय हो जायगा।

आदर्श भारतीय वह है, जो दम, दान एवं दया (ब्रह्माजीने द द दसे दमन, दान तथा दयाका ही उपदेश किया था—) इन तीनोंका पालन करता है। इन तीनोंमें भी विशेषतः दम (अर्थात् इन्द्रियदमन) भारतीय तत्त्वदर्शी पुरुषोंका सनातन धर्म है। इन्द्रिय-दमन आदमीके आत्मतेज और पुरुषार्थको बढ़ानेवाला है। अपनेको संयमित करना परम पवित्र और उत्तम है। गंदगीसे रोकना मनुष्यको ऊँची चीजोंकी ओर बढ़ाता है। अपनी आध्यात्मिक और नैतिक शक्तियाँ बढ़ाकर ही हिंदू पाप-रहित और तेजस्वी, शूरवीर और वीर्यवान् बनता है।

संसारमें जो कुछ नियम, धर्म, शुभ कर्म अथवा सम्पूर्ण यज्ञोंके फल हैं, उन सबकी अपेक्षा दमका महत्त्व अधिक है। दमके बिना दानरूपी क्रियाकी यथावत् शुद्धि नहीं हो सकती। अतः इन्द्रिय-दमनसे ही उन्नतिका प्रारम्भ मानना चाहिये।

भारतीय संस्कृति जहाँ एक ओर इन्द्रिय-संयमका उपदेश देती है, वहीं दूसरोंके प्रति अधिक-से-अधिक उदार होकर सेवा-सहायता और सहयोग करनेका आग्रह करती है। सच्चे भारतीयको सदैव दूसरोंका कार्य पूर्ण करने और जो बन पड़े सेवा करनेके लिये सदा तैयार रहना चाहिये—

आत्मोत्कर्षं न मार्गेत परेषां परिनिन्दया।
स्वगुणैरेव मार्गेत विप्रकर्षं पृथग् जनात्॥

अर्थात् दूसरोंकी निन्दासे अपनी उन्नतिको कभी न देखे। अपने सद्गुणोंसे ही दूसरे मनुष्योंकी जो उन्नति चाहे, वही सच्चा भारतीय है। भारतीय संस्कृतिके उपासक सदा निर्बलों, अपनी शरणमें आये हुए और अतिथियोंके सहायक होते हैं।

भारतमें सदा दूसरोंके साथ उदारताका व्यवहार रहा है। जो लोग बाहरसे मारनेके लिये आये, जिन्होंने विष दिया, जिन्होंने आगमें जलवाया, जिन्होंने हाथियोंसे रौंदवाया और जिन्होंने साँपोंसे डँसवाया, उन सबके प्रति भी भारतीय संस्कृति उदार रही है। हमने सबमें भगवान्‌को देखा है।

हाथीमें विष्णु, सर्पमें विष्णु, जलमें विष्णु और अग्नि तकमें भगवान् विष्णुको देखा है, तो फिर मनुष्योंकी तो बहुत ही ऊँची बात है। हम जीवमात्रको प्यार करनेवाले उदार जाति रहे हैं।

दूसरोंको दुःखग्रस्त देखकर हृदयका द्रवित हो जाना और उनके दुःखको अपना ही दुःख मानकर उसे मिटानेकी सहज चेष्टाका नाम दया है। दयाहीन मानव तो राक्षस है।

३—सद्भावोंका विकास

मनुष्यकी अन्तरात्मामें दबे पड़े हुए सद्विचार और सद्भावोंको दूसरोंके साथ अधिकाधिक विकसित एवं चरितार्थ करना भारतीय संस्कृतिका एक तत्त्व है।

भारतीय संस्कृति मनुष्यकी अन्तरात्मामें संनिहित सद्भावोंके विकासपर अधिक जोर देती है। 'शीलं हि शरणं सौम्य' (अश्वघोष) सत्-स्वभाव ही मनुष्यका रक्षक है। उसीसे अच्छे समाज और अच्छे नागरिकका निर्माण होता है। हमारे चरित्र और स्वभावमें बड़े-बड़े गुण भरे पड़े हैं। हमारे यहाँ कहा गया है—

तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचिः।

(म० भा० शा० प० १९३। १)

'सब तीर्थोंमें हृदय (हमारी यह अन्तरात्मा) ही परम तीर्थ है। सब पवित्रताओंमें अन्तरात्माकी पवित्रता ही मुख्य है।'

हम यह मानकर चलें कि जो कुछ महत्त्वपूर्ण है, देवत्व है, उन्नतिशील तत्त्व हैं, वे सब हमारी अन्तरात्मामें, हमारे गुप्त मनमें, हमारे स्वभावमें शुरूसे ही मौजूद हैं। हमारे अंदर साक्षात् भगवान्का निवास है—

शास्ता विष्णुरशेषस्य जगतो यो हृदि स्थितः।
तमृते परमात्मानं तात कः केन शास्यते॥

(विष्णुपुराण १। १७। २०)

'हृदयमें स्थित भगवान् विष्णु ही तो सम्पूर्ण जगत्के उपदेशक हैं। उन परमात्माको छोड़कर और कौन किसीको कुछ सिखा सकता है।'

भारतीय संस्कृति हमें दूसरोंके प्रति उदारताका व्यवहार करनेपर जोर देती है। हम मनुष्यकी पूजा करें। मनुष्यको मनुष्य नहीं, ईश्वरका रूप मानें; सभी बन्धु-बान्धवोंको मनुष्य नहीं, ईश्वरका रूप मानें; सभीको ईश्वररूप, परमात्मा-का अंश समझें। इस सद्व्यवहारसे हम ईश्वरकी उपासना ही करते हैं। अपने अंदरसे हमें अमृतका प्रवाह बहाना चाहिये, जिससे दूसरे भी अपने व्यक्तित्वको अधिकाधिक विकसित करें और आगे बढ़ते रहें। दूसरोंको आगे बढ़नेमें सहायता करना भी धर्मका एक अङ्ग है।

४—व्यक्तिगत आवश्यकताएँ घटाकर विश्वहितकी ओर ध्यान

अपनी स्वयंकी जरूरतोंको कम करके, अपने स्वार्थसे समय बचाकर, अपनी निजी आवश्यकताओंको घटाते रहना और अपना अधिक समय, शक्ति तथा योग्यता विश्व-हितमें लगाना हमारा आदर्श रहा है।

खुद कम-से-कम खा-पहिनकर दूसरोंकी, पीड़ित और दुखी जनताकी अधिक-से-अधिक सेवा करना, स्वादके लोभसे अधिक भोजन न करना और विलास तथा दिखावेके लोभसे विलासिताके वस्त्र न पहिनना हमारे देशकी पुरातन परिपाटी रही है।

भोजन इसलिये किया जाता है कि शरीर स्वस्थ रहे और उस शरीरसे अधिक-से-अधिक विश्वकी सेवा की जाती रहे। भारतीय संस्कृतिके पुजारीके लिये यह जरूरी है कि उसके वस्त्र सादे और स्वच्छ हों और उनमें किसी प्रकारका दिखावटीपन न हो। वह कम-से-कम सोये और सांसारिक दिखावेसे अपनेको अलिप्त रक्खे। अपनी आवश्यकताओंसे समय निकालकर ही आदमी दूसरोंकी सेवा कर सकता है। जिसे अपनी जरूरतें पूरी करनेसे ही फुरसत नहीं है, वह दूसरेका क्या भला करेगा ?

हमारे गृहस्थ भी ऐसे-ऐसे हुए हैं, जो पूरे राज्यका संचालन करते हुए भी उनसे सर्वथा अनासक्त रहे हैं। उन देव-तुल्य आत्माओंने अपने शरीरतकका मोह नहीं किया था।

महाराज जनक इसीलिये विदेह कहे जाते थे; क्योंकि वे राजा होते हुए भी उसमें लिप्त नहीं थे। विरक्तशिरोमणि श्रीशुकदेवजी, जिन्हें गुरु बनाकर ज्ञानोपदेश लेने गये, उस परम ज्ञानीके सम्बन्धमें क्या कहा जाय ?

तुलाधार वैश्य थे। अपनी व्यक्तिगत जरूरतें घटाकर वे सदा अपने ग्राहकका अधिक-से-अधिक हित देखा करते थे। महर्षि याज्ञवल्क्यने एक कौपीन और जलपात्रके अतिरिक्त अपने पास कभी कुछ नहीं रक्खा था।

श्रीशुकदेवजी तथा श्रीशंकराचार्यजी-जैसे विरक्त भारतीय

संत और विद्वान् सदा लोकहितका काम करते रहे थे। दूसरोंका अधिक-से-अधिक भला कर जायँ, यही उनके जीवनका स्वभाव था। इस प्रकारके अनेक भारतीय ज्ञानियोंने निष्काम भावसे परोपकार और प्राणिमात्रकी सेवाको अपने जीवनका ध्येय बनाया था। आप भी यह मनोवृत्ति अपने स्वभावमें विकसित करें और जितना बन पड़े जनताकी सेवा करें।

भारतीय संस्कृति आपसे कह रही है—

'हे मनुष्यो! अपने हृदयमें विश्वप्रेमकी ज्योति जला दो। दीन, हीन, रोगी, दुखी—सबसे प्रेम करो। अपनी भुजाएँ पसारकर प्राणिमात्रको प्रेमके पाशमें बाँध लो। विश्वके कण-कणको अपने प्रेमकी सरितासे सींच दो।

'विश्वप्रेम वह रहस्यमय दिव्य रस है, जो एक हृदयको दूसरेसे जोड़ता है। यह एक अलौकिक शक्तिसम्पन्न जादू-भरा मरहम है, जिसे लगाते ही सब घाव भर जाते हैं, सारे रोग दूर हो जाते हैं।

'सच्चा जीना आदर्श और महत् उद्देश्यके लिये जीना है। जबतक जीना है, विश्व-हितके लिये जिओ।

'अपने परमपिता परमात्माकी सम्पत्ति (दूसरोंके अधिकाधिक भले) को सम्हालो। यह सब तुम्हारी है। तुम्हें दूसरोंकी अधिकाधिक सहायता करते रहना चाहिये।

'सबको अपना समझो और अपनी चीज़की तरह विश्वकी समस्त वस्तुओंको अपने प्रेमकी छायामें रक्खो। सबको आत्मभाव और आत्म-दृष्टिसे देखो।'

५—शुद्ध कमाईका ही उपयोग करें

भारतीय संस्कृति अपने परिश्रम और अनुशासनसे प्राप्त ईमानदारीकी कमाईपर ही जोर देती है। हम खुद मेहनत करें, हाथ-पाँव चलाते रहें, दूसरोंके टुकड़ोंपर न पलें। जीवनभर अपने पसीनेकी रोज़ी खाते रहें—यह हमारा आदर्श है।

अपमित्य धान्यं यज्जघसाहमिदं।

(अथर्ववेद ६।११७।१)

अर्थात् ऋण लेना एक प्रकारकी चोरी है। (हमें उतनेमें ही अपना खर्च चलाना चाहिये जितना हम कमाते हैं।) हम अपनी सात्त्विक कमाईसे अधिक खर्च न करें। पापकी कमाई जन्म-जन्मतक दुःखरूपी नरकमें पड़े रहनेकी तैयारी है।

रमतां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्।

(अथर्ववेद ७।११५।४)

अर्थात् पुण्यसे कमाया हुआ धन ही सुख देता है। जो पापयुक्त धन है, उसका मैं नाश करनेवाला बनूँ।

सच्चे परिश्रम, उचित साधनों और ईमानदारीसे जो कुछ भी प्राप्त हो जाय उसीपर जोर दिया गया है।

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥

(मनुस्मृति ५।१०६)

'सब शुद्धियोंमें धनकी पवित्रता ही श्रेष्ठ है। जो ईमानदारीसे कमाकर खाता है, वही व्यक्ति धनकी दृष्टिसे शुद्ध कहा जा सकता है। मिट्टी या जलकी शुद्धि, सच्ची शुद्धि नहीं कही जा सकती।'

तात्पर्य यह है कि जो पराया धन नहीं हरता और न्यायसे धन कमाता है, वह शुद्ध है। जो अन्यायसे द्रव्य हरता है, किंतु मिट्टी लगाकर जलसे स्नान करता है; वह केवल शुद्धता और स्वच्छताका दिखावा मात्र करता है।

हमारे यहाँ कहा गया है—

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि।

(अथर्ववेद ७।११५।१)

अर्थात् पापकी कमाई छोड़ दो। अपने श्रमसे, पसीनेकी कमाईसे ही मनुष्य सुखी बनता है।

याद रखिये, धन उन्हींके पास ठहरता है, जो सद्गुणी होते हैं। दुर्गुणीकी विपुल सम्पदा भी स्वल्पकालमें नष्ट हो जाती है।

रयिं दानाय चोदय।

(अथर्ववेद ३।२०।५)

दान देनेके लिये धन कमाइये। संग्रह करने या विलासिताके लिये धन नहीं कमाना चाहिये।

अपनेको एकाकी नहीं, विश्व-मानवकी महान् मशीनका एक पुर्जा मानना और अपने संकुचित स्वार्थको परमार्थ (परोपकार) में भुला देना

आप यह मानिये कि समस्त विश्वमें ही हमारा प्राण बिखरा पड़ा है। सब प्राणिमात्रमें आत्मा समष्टिरूपसे फैला हुआ है। वहाँ सब समान हैं। हम सब एक ही विराट् मशीनके कल-पुर्जे हैं। अतएव सबको समान रूपसे प्यार-दुलार देना चाहिये। हिंदू मानता है कि वह शरीर

नहीं आत्मा है। महान् विश्वात्माका एक अंश है। एक ही प्राण सबमें व्याप्त है; एक ही विराट् आत्माका सबमें प्रकाश है। एक ही सूर्यका प्रतिबिम्ब सर्वत्र जगमगा रहा है। हमारा सम्पूर्ण समाज एक बड़ा शरीर है और हम सब उसके अङ्ग मात्र हैं। नर-नारायण, जनता-जनार्दन, विराट्-पुरुष आदि शब्दोंमें यही भाव भरा हुआ है। हमें अपना आत्मभाव सबमें विस्तृत कर देना चाहिये। प्रेमका दायरा अधिक-से-अधिक बड़ा रखना चाहिये।

भारतीय शास्त्र कहते हैं—

ये पायवो मामतेयं ते अग्ने पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन्।
ररक्ष तान्त्सुकृतो विश्ववेदा दिप्सन्त इद्रिपवो नाह देभुः॥
(ऋग्वेद १। १४७। ३)

अर्थात् परोपकार और परमार्थके कार्योंमें निन्दा, लाञ्छन, उपहास आदिका भय नहीं करना चाहिये। ऐसे परोपकारी और उदार मनुष्योंकी रक्षा स्वयं परमात्मा करता है। अतः उत्तम पुरुषको व्यर्थके क्षुद्र सांसारिक कार्य छोड़कर लोक-कल्याणमें लगे रहना चाहिये।

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन॥
(ऋग्वेद १०। १८। ४)

याद रखिये, यह मनुष्यका जीवन बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसे व्यर्थके नीचतापूर्ण कामोंमें नष्ट करना ठीक नहीं है। इसलिये पुरुषार्थी बनकर सौ वर्ष जियें; अर्थात् दुराचार त्यागकर सदाचारी हों। इससे मनुष्य पूर्ण आयु प्राप्त करता है।

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि।
पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि संरभामहे॥
(ऋग्वेद १०। १३४। ७)

अर्थात् इस मानव-समाजमें हिंसा और फूट अवनतिके कारण हैं। इसलिये उत्तम व्यक्तिको चाहिये कि दुनियाके, समाज और परिवारके प्रत्येक छोटे-से-छोटे कार्यमें भी एक दूसरेको भरपूर यथाशक्ति सहायता और सहयोग दिया करें।

हम आदर्श मानव बननेके लिये इन विशेषताओंको धारण और उत्तरोत्तर विकसित करें।

जीवनका प्रयोजन

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥'
(श्रीमद्भा० १। २। १०)

'अमर वस्तुतः अमर हैं क्या?' ऋषि-पुत्र शुक्लवीतिके अन्तरमें अचानक प्रश्न उठा। प्रश्न अचानक ही उठा करते हैं और वे धन्य हैं, जिनके अन्तरमें प्रश्न उठते हैं; क्योंकि प्रश्नोत्थान विवेकके प्रबोधका लक्षण है। प्रश्न या तो पूर्ण-पुरुष—आप्तकाम महापुरुषके मनमें नहीं उठते या पामरके मनमें।

'शक्रकी कितनी आयु है?' ऋषि-पुत्र अल्पवयस्क सही, जन्मसे इतने शुद्धान्तःकरण थे कि अर्थ-काम-सम्बन्धी प्रश्न उन्होंने शैशवमें भी नहीं पूछे। लौकिक वस्तुओंके सम्बन्धमें उन्हें कोई कुतूहल नहीं था। उपनयनके पश्चात् पिताने उन्हें महर्षि जैमिनिके समीप अध्ययनके लिये भेज दिया था। अब तो उन्होंने पूर्व-मीमांसाके उन आचार्यसे कर्मका रहस्य समझना प्रारम्भ कर दिया था। वेदोंकी मन्त्र-संहिताएँ उन्हें सस्वर कण्ठस्थ हो गयी थीं। अपने गुरुदेवके अतिरिक्त वे किससे प्रश्नका समाधान कराने जाते।

'एक महायुग अर्थात् एक चतुर्युगीका परिमाण तुम जानते हो।' महर्षिने अभी प्रश्नको गम्भीर भावमें लिया नहीं था। उन्होंने सामान्य उत्तर दिया—'एक कल्पमें सहस्र महायुग होते हैं और उसमें चौदह मन्वन्तर व्यतीत होते हैं। एक मन्वन्तरका एक इन्द्र होता है।'

'इसका अर्थ कि अमराधिप भी वस्तुतः अमर नहीं हैं। देवता भला कैसे अमर हो सकते हैं!' शुक्लवीतिके स्वरमें क्लान्ति थी।

'वत्स! अमरत्वका अर्थ दीर्घायुमात्र है!' महर्षिने अब शिष्यकी ओर ध्यान दिया। 'कालका अतिक्रमण कोई व्यक्तित्व नहीं कर सकता। जगत्स्रष्टाकी आयु ही जब दो परार्ध है, उनकी सृष्टिका कोई प्राणी नित्य अमर कैसे हो सकता है? देवत्व कर्म प्राप्य है और कर्मका वेग जिसका भी निर्माण करेगा—शाश्वत नहीं होगा वह, कर्मका वेग समाप्त होनेपर उस कर्मसे जो निर्मित हुआ, उसका विशीर्ण हो जाना

सहज स्वाभाविक है। इसीलिये कर्म ही गुरु है। कर्म ही महान् है। कर्म ही ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति-स्थितिका हेतु है।'

कर्ममीमांसाके महाचार्य सम्भवतः और कुछ कहते; किंतु उन्होंने देखा कि उनका शिष्य इस समय कुछ अधिक सुननेकी स्थितिमें नहीं है। वह अन्तर्मुख न भी हो गया हो, उसके नेत्र यज्ञीय कुण्डसे उठते सुरभित धूम्रपर स्थिर हो गये हैं। जैसे वह उस धूम्रकी कुण्डलियोंमें अपने प्रश्नका उत्तर ढूँढ़ रहा हो।

शान्त—अतर्क्य आनन्दसे पूर्ण शान्तिसे परिपूत तपोवन। स्वच्छ गोमयोपलिप्त भूमि है दूरतक। मध्यमें एक विशाल यज्ञ-मण्डप है और उससे थोड़ा हटकर कुछ पर्णशालाएँ हैं। एक पर्याप्त विशद पर्णकुटी है उनमें। सम्भवतः वह महर्षिका आवास है।

प्रातःकालीन हवन समाप्त करके छात्र कुश, समिधाएँ, फलादि संग्रह करने जा चुके हैं। दो-तीन, जो आश्रममें हैं भी, वे आश्रम-धेनुओंकी सेवामें लगे हैं अथवा नीवार-परिशोधनका कार्य कर रहे हैं। यज्ञशालामें वेदिकाओंपर इस समय कोई सामग्री नहीं है। अवश्य ही क्रमबद्ध मृगचर्म आस्तृत हैं और कुश-प्रकीर्ण है लगभग पूरा यज्ञमण्डप। आश्रममें मृग, धेनु, वृषभोंके साथ वृक्षोंके नीचे एक सिंह-युगल भी आ बैठा है और उसके तीनों शावक मृग-शिशुओंके साथ क्रीड़ा कर रहे हैं।

यज्ञमण्डपमें दो-तीन बछड़े एवं एक-दो मृग-शावक आ गये हैं। वे क्रीडापूर्वक आस्तीर्ण कुशोंको सूँघते हैं, मुखमें लेते हैं और स्वच्छन्द फुदकते हैं। इस समय उन्हें स्नेहसे रोकनेवाला भी कोई नहीं है। वे जानते हैं कि शुक्लवीति तो उन्हें तब भी नहीं रोकेगा, जब वे उसकी जटाएँ मुखमें लेकर तृणके समान खींचनेका यत्न करेंगे। वह तो केवल देख लेगा उनकी ओर और बहुत हुआ तो हँस देगा।

महर्षि—द्वितीय अग्निके समान यज्ञीय कुण्डके समीप वेदिकापर आस्तीर्ण मृगचर्मपर पद्मासनासीन तेजोमय वपु महर्षि तो आश्रमके कुलपति हैं। पशु ही नहीं, नन्हे पशु-शावक भी समझते हैं कि महर्षि पिता हैं, श्रद्धेय हैं। उनके समीप पहुँचकर कोई बछड़ा भी चपलता नहीं करता। उनके चरणोंको सूँघ लेनेमात्रकी धृष्टता—इससे अधिक अविनय किसी मृग-शिशुने कभी नहीं किया। केवल शावक: गिलहरी-जैसे कुछ पशु हैं जो यदा-कदा महर्षिकी गोदमें आ बैठते हैं।

शुक्लवीति इधर अधिक अन्तर्मुख रहने लगा है। महर्षिने ही आज्ञा दे दी है कि वह आश्रम-सेवामें योग देनेसे विरत रहे। उसे अपनी अन्तर्मुखताको महत्त्व देना चाहिये। आज वह गुरुदेवके चरणोंके समीप आ बैठा है नित्य-हवनके पश्चात्, किंतु इस समय तो उसकी दृष्टि हवन-कुण्डसे उठते धूम्रकी कुण्डलियोंपर स्थिर है।

'आहुतिरूप कर्मका वेग धूम्रकी कुण्डलियाँ उठाता है। ये धूम्र-कुण्डलियाँ कुछ आकृतियाँ बनाती हैं।' वह अपने-आप कुछ कह चला है। 'धूम्रकी आकृतियोंमें स्थिरता क्या। कर्मका वेग कितनी स्थिरता देगा? अमरत्व भी धूम्राकृति धूसर—मरण-परिवेष्टित ही है।'

× × ×

'देखने-सुनने, छूने-सूँघने और चखनेमें मेरी कोई रुचि नहीं है।' ऋषि-पुत्र शुक्लवीति विषयी नहीं थे। पामर तो उस युगमें मानव-कुलमें उत्पन्न ही नहीं होते थे। उन्हें दानव-राक्षसकुलमें ही उत्पन्न होना पड़ता था। उस दिन जब महर्षि जैमिनि यज्ञशालासे उठ गये, स्वयं देवराज इन्द्र प्रकट हुए। उन महास्वर्युके सम्मुख आनेमें शतक्रतुको भी लज्जाका बोध होता था। ध्यानस्थप्राय शुक्लवीतिसे देवराजने प्रस्ताव किया कि वे सशरीर कुछ दिन अमरावतीमें रहें। प्रत्यक्ष स्वर्गका अनुभव करके तब कोई निर्णय करें; किंतु उन्हें उत्तर मिला—'स्वर्गमें क्या कोई और विशेषता उपलब्ध होगी?'

देवराज जैसे प्रकट हुए थे, अदृश्य हो गये। स्वर्गमें भोगातिशय भले कल्पनातीत हो, है ऐन्द्रियक भोग ही। जिसे ऐन्द्रियक भोगमें कोई अभिरुचि ही न हो, उसे स्वर्ग ले जाकर अमरपुरको साधनाश्रम तो उन्हें बनाना नहीं था।

'तुम्हें महर्षि पतञ्जलिका आश्रय लेना चाहिये।' कर्ममीमांसाके प्रणेता महर्षि जैमिनिने कुछ सोचकर ही शिष्यको अपने गुरु भगवान् व्यासके यहाँ नहीं भेजा होगा। सम्भवतः वे उसके लिये योगकी साधना पहले आवश्यक मानते होंगे।

'तुम्हें योग ही तो करना है!' गुरुदेवकी आज्ञा स्वीकार करके शुक्लवीतिने हिमालयकी ओर प्रस्थान किया था। मार्गमें उसे मिल गये लक्ष्ययोगके आचार्य महाकात्यायन। उन्होंने

प्रेरणा दी—'थोड़े समय यहाँ निवास करो। सामान्य श्रमसे भी समाधि सिद्ध हो सकती है। अष्टाङ्गयोगकी श्रम-साध्य साधना आवश्यक नहीं है।'

शुक्लवीतिको वैसे भी चातुर्मास्य करना था। यात्रा अवरुद्ध ही होती है तो इस अवरोधका उपयोग क्यों न कर लिया जाय। हिमालयका शैवालिक अञ्चल वह अपनी सौम्य सुरम्यतामें अद्वितीय था। उसे यहाँ उटजके स्थानपर पर्वतीय गुहा मिल गयी आवासके लिये।

'नाद—स्वर ही तो है वह।' शुक्लवीतिको अनहदनादमें भी कोई महत्त्व नहीं जान पड़ा। उसे कहाँ सहस्रारका वैभव या 'धुरधाम' का चमत्कार चकित कर सकता था। वह कह रहा था—'नाद अन्तरमें श्रवण गोचर हो या बाह्य जगत्में, इन्द्रियका ही विषय है। वीणा, वंशी, शंख या मेघगर्जन—श्रोत्रेन्द्रिय-प्रत्यक्ष ही होता है। वह इन्द्रियगोलकके माध्यमसे हो अथवा गोलकके माध्यमके बिना हो। वह विषय है, अतः कर्म-साध्य है और कर्मसाध्य है तो नश्वर है। कर्मका नाम कोई साधन दे ले, क्या अन्तर पड़ता है। कर्म-साध्य तथ्य अविनाशी हो नहीं सकता।'

आचार्य महाकात्यायन आरम्भमें बहुत उत्साहित हुए। शुक्लवीति उत्थित-जाग्रत् कुण्डलिनी-साधक मिला था उन्हें। मणिपूर-अनाहत चक्रोंका वेध प्रारम्भमें ही हो गया। मेरुदण्डमें महास्फोट नाद, कम्प एवं गतिका अनुभव सहज बात थी। आज्ञा-चक्र अर्थात् त्रिपुटीका भंग, विन्दुवेध बङ्कनाल, भ्रमरगुहा आदिका अतिक्रमण करके कुण्डलिनीने सहस्रारके महाह्रदमें स्नान किया और अमृत-निर्झरसे उठकर वह दिव्यालोक पीठपर आसीन हो गयी। नित्य धामकी प्राप्ति—उस दिन आचार्यने सोल्लास कहा और तभी शुक्लवीतिने उन्हें निराश कर दिया।

'नित्यधाम कैसे हो सकता है वह?' उस प्रबुद्धप्रज्ञको कोई कल्पित मानसिक अवस्था संतुष्ट करके अपनेमें उलझानेमें असमर्थ थी। 'किसी नादके अश्रवण, किसी रूपके अदर्शनके कारण जीव बन्धनमें नहीं पड़ा है। जीवका बन्धन, उसके सुख-दुःखका कारण है राग-द्वेष एवं देहासक्ति। इनकी निवृत्ति हुए बिना जन्म-मरणसे जीव छूट गया—किसी भी मानसिक अनुभवको लेकर ऐसा मान लेना तो प्रत्यवाय होगा। यह तो स्वयंको धोखा देना है।'

खेचरी—जो अनहद-श्रवणसे भी संतुष्ट नहीं हुआ, उसे अस्पर्शयोग, गन्धयोग, ज्योतिर्दर्शन अथवा शाम्भवी मुद्राकी सिद्धिसे अमृतास्वादनमें संतुष्टि प्राप्त हो जायगी, इसकी आशा आचार्य महाकात्यायन नहीं कर सकते थे। उन्होंने चातुर्मास्यके अन्तमें उसे सस्नेह विदा किया।

यम और नियम ऋषि-कुमारके लिये स्वभावसिद्ध आचरण होते हैं। जो आहवनीय अग्निके समीप बैठकर अहर्निश अग्नि-सेवा कर चुका हो, आसन-सिद्धिकी बात उससे कोई क्या करेगा? धारणा और ध्यानका आलम्बन भले परिवर्तित किया जाय, अनहदोत्थान पर्यन्त ध्यान-सिद्ध तो वह था ही।

देवराज इन्द्र जिसे सशरीर स्वर्ग ले जाने पधार चुके हों, उस तपस्वी कुमारको न हिमालयका शीत बाधा देता था और न किन्नर-प्रदेशका संगीत-सौन्दर्य आकृष्ट करनेमें समर्थ था। हरित उपत्यकाएँ और शुभ्र हिमशृंग केवल अन्तर्मुख होनेकी सात्त्विक प्रेरणामात्र देते थे उसे। जनपदमें जानेसे सहज अरुचि थी और उस युगमें तपस्वीका आतिथ्य करके तो अधिदेवता भी अपनेको कृतकृत्य मानते थे। दिनचर्याकी पूर्तिके लिये कन्द, फलकी प्राप्ति जैसे कठिन नहीं हुई, शुद्ध समिधाएँ भी उपलब्ध होती रहीं।

शुक्लवीतिको हिमालयके कुल-क्षेत्रसे भी ऊपर (व्यास नदीके उद्गमसे आगे) श्रीशुकदेवजीके स्थानपर पहुँचकर कहीं महर्षि पतञ्जलिके वर्तमान स्थलका पता लगा। आहवनीय अग्नि लिये ही वे उन परमयोगाचार्यकी मानव-अगम्य गुहा-द्वारपर उपस्थित हुए थे।

'सिद्धकामो भव!' अधिकारीकी उपस्थिति सर्वज्ञ गुरुको अज्ञात नहीं थी। समाधिसे उसी समय महर्षि उठे थे। अपने पदोंमें प्रणिपात करते शुक्लवीतिको उन्होंने उठा लिया। उसी दिन एक गुहा इस नवीन योगीकी साधनस्थली बन गयी।

× × ×

'भगवन्! समाधि कालावच्छिन्न अवस्था नहीं है क्या?' अनेक मासके अनन्तर शुक्लवीति अपनी गुहासे महर्षिके श्रीचरणोंमें प्रणाम करने आये थे। उनका मुख

तेजोदीप्त हो रहा था। सुदीर्घ लोचनोंमें अबतक ध्यानस्थ होनेकी अरुणिमा थी। अभिवादनके पश्चात् उन्होंने अञ्जलि बाँधकर प्रश्न किया—'यह भी प्रयत्नसाध्य स्थिति है। प्रयत्न कितना भी विशुद्ध, निर्बीज हो चुका हो, कर्म ही है।'

'कर्मसाध्य स्थिति अविनश्वर नहीं होती।' महर्षिने स्वयं वह बात कही जो शुक्लवीति कहना चाहते थे। 'इसीसे समाधिसे व्युत्थान होता है।'

'जीव अविनाशी है। शाश्वत है। निरपवाद अमर है। काल उसे परिच्छिन्न नहीं करता।' शुक्लवीतिने जिज्ञासा की। 'तब जीवको अपने सहज स्वरूपकी नित्य प्राप्ति क्यों सम्भव नहीं है? क्यों उसके समस्त प्रयत्न काल-परिच्छिन्न—मृत्युके ग्रास होकर रह जाते हैं?'

सविकल्प-निर्विकल्प, सबीज-निर्बीज समाधियोंकी अवस्थाओंको पार करता जो परम सिद्ध योगी हो चुका है, उसका वह प्रश्न सामान्य व्यक्तिकी समझमें न आवे, यह स्वाभाविक है। महर्षि पतञ्जलिने भी दो क्षण नेत्र बंद कर लिये। उन्होंने गम्भीर स्वरमें कहा—'प्रत्येक साधन अधिकारीविशेषके लिये होता है। महर्षि जैमिनिकी सेवाने—धर्माचरणने तुम्हारे अन्तःकरणको शुद्ध कर दिया और यहाँ आकर तुम चित्तके विक्षेपसे मुक्त हो गये। व्यक्तित्वकी परिशुद्धिकी यह सीमा है। प्रकृति और प्राकृत प्रपञ्चसे पृथक्, कालसे अपरिच्छिन्न चेतन सत्ता—जीवनका अनुभव और उस अपने द्रष्टा स्वरूपमें अवस्थिति तुम प्राप्त कर चुके।'

'यह अवस्थिति बनी नहीं रहती प्रभु!' शुक्लवीतिके स्वरमें वेदना थी। 'जीवनका क्या यही परम प्राप्य है?'

'कर्मसे प्राप्त होनेवाली कोई स्थिति, कोई भोग, कोई अवस्था अविनाशी नहीं है।' महर्षिने शान्त स्वरमें समझाया। 'जो अविनाशी है, उसका प्राप्य विनाशी नहीं हो सकता। अतः जीवनका परम प्रयोजन किसी भी कर्म-प्राप्य भोग अथवा स्थितिकी उपलब्धि नहीं है।'

'तब?' शुक्लवीतिने यह शब्द मुखमें नहीं कहे। उसके नेत्रोंमें ही यह प्रश्न साकार हुआ।

'वत्स! प्रत्येककी अपनी सीमा है। शरीर और अन्तःकरण असीम शक्ति एवं संस्कारमुक्त नहीं हुआ करते।' महर्षिने सस्नेह समझाया उसे। 'तुम्हें भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनके श्रीचरणोंका आश्रय लेना चाहिये। वे यहाँसे दूर नहीं हैं।'

× × ×

आपने यदि हिमालयका मानचित्र देखा हो—प्रसिद्ध तीर्थस्थलोंमें वास्तविक दूरी अधिक नहीं है। उत्तुंग हिमशिखरोंके कारण साधारण यात्रीको बहुत घूमकर यात्रा करनी पड़ती है; किंतु योगसिद्ध पुरुषोंके लिये तो वे शृंग-शिखर बाधक नहीं बना करते। कुलक्षेत्रसे इलावर्तको दाहिने छोड़ते, यमुनोद्गमकी प्रदक्षिणा करके, उसी दिन शुक्लवीतिने भगवती भागीरथीके उद्गममें स्नान किया। दूसरे दिन दिव्य कैलाशको दक्षिण करते वे अलकनन्दामें मिलनेवाली उदीची सरस्वतीके तटपर शम्याप्रासमें भगवान् व्यासके आश्रममें पहुँच गये थे।

'तुम कौन हो—यह जान लेना ही पर्याप्त नहीं है वत्स!' भगवान् व्यासने समझाया उस दिन। 'यह दृश्य जगत् क्या है? यह जिसे तुम नश्वर, दुःखद कहते हो, यह कहाँसे आया? तुम स्वयं इस जगत्में क्यों आये? यह जिज्ञासाकी पूर्तिमें ही तुम्हारे जीवनका प्रयोजन पूर्ण होता है।'

'यह नाशवान् जगत्!' चौंका शुक्लवीति। इसके सम्बन्धमें उसे अबतक जिज्ञासा क्यों नहीं हुई? वह क्यों अपने आपमें इतना लीन रहा कि इस दृश्यपर ध्यान ही नहीं दे सका।

'प्रश्न नहीं; क्योंकि शब्दकी गति वहाँ नहीं है।' भगवान् व्यासने उसे बोलने नहीं दिया। 'तुम विशुद्धचित्त हो। मल-विक्षेप विनष्ट हो चुके हैं। तुम जानते हो कि ज्ञान प्रकाशस्वरूप और नित्य है। जिज्ञासाका जो प्राप्य है, वह शाश्वत है। जीवनका परम प्रयोजन इसीलिये जिज्ञासा है। तुम जिज्ञासा करो—मनन करो! जिसे तुम्हें जानना है, श्रुति कहती है—'तत्त्वमसि।'

सहज सुखका मार्ग

(लेखक—प्रोफेसर पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीने अपनी बैठकमें यह आर्षविचार (मोटो) लिख रक्खा है—'ऐसा लोग कहते हैं, जैसा वे कहते हैं, कहने दो' (So they say, what they, let them say) एक बहुत ही चिन्तनशील अंग्रेज लेखकने कहा है कि हमें अपनी प्रसन्नताको दूसरोंके सिरमें जमा नहीं कर देना चाहिये। इससे बड़ी और कोई मूर्खता नहीं है।

संसारमें मनुष्य इसीलिये दुखी होता है कि वह सोचता रहता है कि दूसरे लोग उसके बारेमें क्या कहते हैं। यह अच्छा भी है और बुरा भी है। दूसरे प्रतिष्ठित व्यक्तियोंकी अपने विषयमें राय अच्छी बनानेके लिये मनुष्य अनेक प्रकारके भले काम करता है। इस प्रकारका विचार मनुष्यको असाधारण पुरुषार्थ करनेके लिये प्रेरणा देता है। जब कोई व्यक्ति यह सोचने लगता है कि समाजके लोग उसे विद्वान्, धनवान्, उदार, बहादुर तथा चरित्रवान् मानते हैं एवं अपनी ख्याति बचाये रखनेके लिये ऐसा काम नहीं करता जिससे उसकी सुख्यातिका विनाश हो जाय। इतना ही नहीं, यह सुख्यातिका विचार उससे ऐसे अनेक प्रकारके काम करवाता रहता है, जिससे वह और भी बढ़ जाय। परंतु जब मनुष्य अपने हर समयके चिन्तनमें केवल यही सोचता रहता है कि उसके मित्र अथवा समाजके लोग उसके बारेमें क्या सोचते रहते हैं तो वह अपनेको विक्षिप्त बना लेता है। जो व्यक्ति किसी एक ही मित्रके विचारको अपने कार्योंका नियन्त्रक बना लेता है, उसके समान दुखी और कोई नहीं। एक व्यक्ति अपने दृष्टिकोणसे सही बातें सोचता है। एक ही व्यक्तिके विचारसे यदि हम सोचने लग जायँ तो हमारे प्रतिदिनके व्यवहार अजनवी बन जायँगे। उनमें न तो तर्कशीलता रहेगी और न व्यावहारिक औचित्य। अच्छा और सच्चा विचार वह है जो अनेक लोगोंके विचारों-की तुलना करनेके बाद हम स्वयं निर्णय करके प्राप्त करते हैं। एक व्यक्तिके विचारको सर्वथा सत्य मान लेना उससे सम्मोहित होना है। सम्मोहनकी अवस्था स्वयं पागलपन है। इसमें मानसिक विभाजन उपस्थित रहता है। जो व्यक्ति विवेकशीलतामें जितना कम रहता है वह उतनी ही जल्दी सम्मोहित हो जाता है। स्त्री, बच्चे और अनपढ़ लोग शीघ्रतासे सम्मोहित हो जाते हैं। दूसरोंके विचारोंके सम्मोहनसे अपनेको बचा सकना यह मानसिक प्रौढ़ताकी कसौटी है।

सामान्यतया संसारके लोग अपने स्वार्थवश ही हमारे बारेमें अच्छी या बुरी धारणा बनाते हैं। जब उनके स्वार्थकी सिद्धि नहीं होती तब वे भले-से-भले आदमीके बारेमें बुरी धारणा बना लेते हैं। यदि हमें इस प्रकारकी बुरी धारणाओं-के प्रति भय हो जाय तो हम या तो पागल हो जाते हैं या मृत्युके मुँहमें चले जाते हैं। पारानोमियाके रोगसे पीड़ित व्यक्ति सदा यह सोचता रहता है कि दूसरे लोग उसके विरुद्ध षड्यन्त्र करते रहते हैं। काशीविश्वविद्यालयके प्रथम श्रेणीके फिजिक्सके एम्० एस्-सी० के एक विद्यार्थीको यह धारणा हो गयी थी कि कुछ लोगोंने उसके मस्तिष्कमें ऐसा यन्त्र लगा रक्खा है कि उसके गुप्त विचार उन्हें मालूम हो जाते हैं। एक दूसरे व्यक्तिको यह भ्रम रहता था कि उसके एक बड़े आफिसर उसके विरुद्ध योगिनियाँ भेजते रहते हैं। अपनी सुख्यातिके प्रति अति लिप्सा रखनेवाले व्यक्ति सहजमें ही यह सोचने लगते हैं कि उनके मित्र उनके शत्रु बन गये हैं। अपने सम्मानको सुरक्षित रखनेकी भावना उनके मनमें अनेक ऐसे विचारोंको जन्म देती रहती है कि जिनके कारण उनका जीवन भाररूप हो जाता है।

काशीके एक प्रतिष्ठित नागरिक, जो एक समय विधान-सभाके सदस्य रह चुके थे, इसी भ्रमसे पीड़ित होकर मर गये कि समाजके सभी प्रतिष्ठित लोग उनकी निन्दा करते हैं। इस भ्रमको हटानेके लिये उन्हें राँचीके मानसिक चिकित्सालयमें ले जाया गया। वहाँ उन्हें बिजलीके झटके लगाये गये; परंतु सुधार कुछ भी नहीं हुआ। अपने दुःखदायी विचारोंसे परीशान होकर उनका शरीरान्त ही हो गया।

भारतवर्षके एक समयके प्रतिष्ठित नेता श्रीभूलाभाई देसाईका देहान्त भी इसी प्रकारकी दुर्भावनाओंके कारण ही हुआ। उन्होंने पाकिस्तान बननेके विषयमें सरकारसे समझौता किया था। इसमें श्रीराजगोपालाचारीजीने उनका

साथ दिया था। कहा जाता है कि इस समझौतेके परिणाम-स्वरूप ही १९४६में सभी कांग्रेस-नेता जेलसे मुक्त किये गये। कांग्रेसके कुछ शीर्षस्थ नेताओंको यह समझौता जहरके प्यालेके समान लगा। श्रीभूलाभाई देसाईको चुनावके लिये कांग्रेस-टिकट ही नहीं दी गयी। वे पार्लियामेंट्री बोर्डके प्रेसिडेंट थे। पर उनका कांग्रेसमें कोई स्थान ही नहीं रह गया था। मरनेके पूर्व उन्होंने अपने मित्रके पुत्र श्रीसहगलको लाहौरसे बम्बई बुलाया और उसे राजनीतिक कार्योंमें भाग लेनेके खतरेसे यह कहकर आगाह किया कि ये लोग तुम्हारी शक्तिको नारंगीके रसके समान निचोड़ लेंगे और सिठीको फेंक देंगे।

वास्तवमें समाज हमें तभीतक सम्मान देता है, जबतक हम उसके मनोभावोंके अनुसार काम करते रहते हैं। जब हम समाजके हितका साधन नहीं करते हैं, तो वह हमें व्यर्थ अथवा निकम्मा मानकर फेंक देता है। एक-दो मित्रोंकी बात तो दूसरी ही है।

हमारे पुराने ऋषियोंने तीन प्रकारकी एषणाओंको दुःखका कारण बताया है—वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा। इनमें लोकैषणाका प्रभाव सबसे सूक्ष्म तथा देर-तक ठहरनेवाला होता है। यही दूसरोंकी राय सदा अनुकूल बनाये रखनेके लिये हमें प्रेरणा देती है, पर सभी लोगोंको सब समय तो प्रसन्न रक्खा नहीं जा सकता और जिस व्यक्तिके कुछ मौलिक सिद्धान्त हैं, उससे एक समय उसके विश्वसनीय और समीपस्थ व्यक्ति भी अप्रसन्न हो जाते हैं।

वास्तवमें हमारी इस प्रकारकी अनुभूति हमें एक ऐसे तत्त्वकी खोज करनेकी प्रेरणा देती है जो सभी समयमें हमारा साथ दे और जिसके विषयमें हमारा विश्वास है कि दुनियाके सभी लोग छोड़ देंगे, तब भी वह हमें नहीं छोड़ेगा। इस तरहकी धारणा ही मनुष्यको अचल और निष्पक्ष सदा सुखमय पदार्थकी खोज कराती है। हमारा सतत विवेकशील विचार इस निष्कर्षपर आता है कि हमारे अन्तिम मूल्य हमारी अन्तरात्मामें ही वर्तमान हैं। दूसरे व्यक्ति हमें तभीतक आदर करते हैं जबतक हम स्वयंका निरादर नहीं करते अर्थात् जबतक हम अपनी अन्तरात्मासे एकत्व स्थापित किये हुए हैं। यह अन्तरात्मासे एकत्वका भाव तब टूट जाता है जब हम भावावेशमें आकर किसी भी पदार्थको अनुचित प्रेम देने लगते हैं और जिसके कारण उसके मूल्याङ्कनमें गलती करते हैं। इस प्रकारकी मनःस्थितिसे बचनेके लिये भगवान् बुद्धने अपने ही विचारोंके प्रति जागरूकताका अभ्यास नितान्त आवश्यक बताया है।

प्रत्येक विवेकशील व्यक्तिको अपने मनके दरवाजेके सामने एक पहरुआ रखना चाहिये। उसका यह काम होगा कि बिना छानबीन किये वह किसी प्रकारके विचारको मनमें घुसने न दे। जो भी भाव अथवा विचार हमें दूसरोंके वशमें कर देता है, वह हमारा मित्र नहीं अपितु शत्रु है। सद्विचार वह है जिससे हम अपनी मानसिक स्वाधीनताकी रक्षा कर सकते हैं और दूसरे लोगोंके मनोभावोंमें हम स्वयंको इतना नहीं बहा देते कि अपने स्वत्वका कहीं ठिकाना ही नहीं रहे। सुखी मनुष्य वह है जो समाजकी सब प्रकारकी सेवा करके आवश्यकता पड़नेपर स्वयंको समाजसे अलग रख सकता है। इमर्सन महाशयका कहना है कि सहानुभूतिमें हमें सबके साथ रहना चाहिये और विचारमें स्वतन्त्र रहना चाहिये। ऐसा ही जीवन सफल जीवन है।

शुभ भावना

सद्विचार हों उदित सर्वदा, प्रभुमें रहे सुदृढ़ विश्वास।
होता रहे नित्य जीवनमें सदाचारका विमल विकास॥
शुचि सत्कर्मोंमें प्रवृत्ति हो, बढ़े सदा दैवी सम्पत्ति।
धर्म सुरक्षित रहे, पड़े चाहे कितनी ही घोर विपत्ति॥
बनता रहे सहज ही तन-मन-वाणीसे सबका हित नित्य।
नित्य सत्य प्रिय प्रभुमें रति हो, मिटे जगत्-कल्पना अनित्य॥

ज्ञान-दान

(लेखक—श्रीश्रीरामजी शर्मा 'राम')

पण्डित सालिगरामजी विद्वान् थे और पूजा-पाठ भी पर्याप्त करते थे। एक दिन वे मन्दिरमें पूजासे निवृत्त होकर, मन्दिरकी सीढ़ियोंपर रखी खड़ाऊँ पहन रहे थे कि गाँवका गङ्गाराम वहाँ आया और अत्यन्त विनीत भावमें पण्डितजीको पालागन करके बोला—'मैं आपके ही पास आया था, महाराज !'

पण्डित सालिगरामने उसकी ओर देखा और दो पग पीछे हटते हुए उपेक्षाभावसे कहा—'रे, क्या बात है, गङ्गाराम !'

गङ्गारामने कहा—'घर चलो, तो बताऊँ।' और वह बोला—'पण्डितजी ! बीस रुपयोंकी जरूरत है। यह चीज…'

पण्डित सालिगरामने गङ्गारामके हाथमें चाँदीके दो कड़े देखे और कहा—'अच्छा, अच्छा, घर चल !' और तभी वे बोले—'इन दो कड़ोंमें लेगा, बीस रुपये ? मूर्ख ! इनमें गिलट मिला है। काँसा उठा लाया है, कहींसे ! और यह नहीं समझता आजकल रुपयेका मोल कितना है ! बता तो, कितने वजनके होंगे, ये कड़े। थोते भी होंगे। अंदर लाख भरा होगा। बस, दो-तीन तोलेसे अधिकके नहीं होंगे ?' उन्होंने कहा—'मैं ऐसा घाटेका सौदा नहीं करता, गङ्गाराम ! लाला धनपतरायके पास जा। वे इन्हें रखकर रुपये दे देंगे।'

इतनी बात करते पण्डितजीका घर आ गया। अपने द्वारपर खड़े होकर पण्डितजीने कहा—'तू तो पैसा देनेवालेको मूर्ख बनाता है। ये कड़े उठा लाया और मेरे पैसेको कंकड़-पत्थर समझ रहा है।'

लेकिन दिखता था कि गङ्गाराम किसी विशेष जरूरतसे ही पण्डितजीके पास आया था। वह अतिशय करुण और दीन बना था। पण्डित सालिगरामकी बात सुनकर बोला—'महाराज ! लड़का बीमार पड़ा है। मेरे पास और तो कुछ है नहीं, मेहतरानीने जाने कब-कबके सहेजकर रखे ये कड़े निकालकर दे दिये। वह भी विवश थी। लड़केकी दवा-दारू तो करनी थी। वही घरका सहारा है। दया करें और इन्हें रखकर रुपये दे दें।'

तभी पण्डित सालिगराम कुटिल भावसे मुसकराये। बोले—'दस रुपये मिलेंगे इन कड़ोंके। रुपये लेने हों, तो दे। एक महीने इन्तजार करूँगा। वापिस लेने न आया, तो इन्हें किसीको दे दूँगा। मैं घरमें रखकर इनका क्या अचार डालूँगा !'

लेकिन गङ्गाराम उस समय सचमुच परीशान था। उसने आसमानकी ओर देखते हुए कहा—'पण्डितजी ! ये कड़े पचास रुपयेसे कमके नहीं होंगे। लड़का बीमार न होता, तो क्या मैं इन्हें इतने सस्तेमें रखता ! आप तो भगवान्के भगत हैं, ज्ञानी-ध्यानी हैं, जरा रहमसे काम लो। मेरी मुसीबत समझो।'

पण्डित सालिगरामने कुछ क्षुब्ध बनकर कहा—'उपदेश मत दे ! व्यवहारकी बात है, उसे समझ ले। मैं इन कड़ोंके पंद्रह रुपयेसे अधिक नहीं दे सकता।'

बरबस, गङ्गारामके मुँहसे निकला—'जैसी आपकी इच्छा।'

पण्डितजीने कागजपर रसीद लिखी, अंगूठा लगवाया और कड़े लेकर आलमारीसे निकालकर पंद्रह रुपये गङ्गारामके हाथपर रख दिये। जब वह चला गया, तो पण्डितने अपने-आप कहा—'कम्बख्त, सुबह-ही-सुबह आ गया।' उन्होंने बहीके पन्ने उलटने आरम्भ किये और उन कड़ोंको हाथमें लेकर अंदाज करते हुए कहा, 'पंद्रह तोलेसे कमके नहीं होंगे। बाजारमें जाओ, तो साठ रुपयेसे कममें नहीं मिलेंगे ऐसे कड़े। ये ठोस भी होंगे।' और तभी अपना मुँह पिचकाकर बोले, 'इस गङ्गारामने ही कौन खरीदे होंगे। किसी जिजमानने दे दिये होंगे—हाँ, आजकी तरह तो कल्का समय नहीं था। तब तो जिसे देखो, वही चाँदीसे लदा दीखता था और इन भंगियोंको तो शौक ही चाँदीका था।'

संयोगसे उसी समय वहाँ पण्डितजीकी पत्नी आ गयी। पत्नीको कड़े दिखाकर पण्डितने कहा—'सौदा अच्छा है न, पंद्रह रुपये दिये हैं, उस गङ्गारामको।'

पत्नीने कहा—'जब तुम मन्दिरपर थे, वह यहाँ भी आया था। सुना, उसका लड़का बीमार है। हिरिया मेहतरानी कहती थी कि लड़का मौतके मुँहमें पड़ा है। भगवान् ही उसे बचा सकता है।'

पण्डित सालिगरामने बात सुनी, तो ध्यान नहीं दिया। उनके मस्तिष्कमें तब भी कड़ोंकी बात थी और वे सोच रहे थे, आज सुबह ही, कम-से-कम चालीस रुपयेका लाभ कमा लिया। आज किसी अच्छेका ही मुँह देखा था।

किंतु उसी समय पत्नीने फिर कहा—'गङ्गाराम दुखी होगा। उसका मानस रो रहा होगा। बेचारा, अपनी यह आखिरी चीज भी यहाँ रख गया।' वह बोली—'तुमसे यह भी नहीं हुआ, इस मुसीबतमें उसे दस-पाँच दे देते। कड़े रखकर क्या बड़ा धन कमा लिया। तुमने तो व्यर्थ ही पूजा-पाठ करनेका ढोंग रच रक्खा है।'

पत्नीसे इतनी बात सुननी थी कि पण्डित सालिगरामका पारा चढ़ गया। तुरंत कहा—'देवीजी! मैं ऐसे दया-धर्म करता फिरूँ, तो फिर भूखों मरूँगा। तुम जो यह सोना लादे फिरती हो, फिर मुझे भी इस गङ्गारामकी तरह, इन्हीं सबको उतरवाकर किसी बनियेके पास जाना पड़ेगा। यह दुनिया है, दुनिया! यहाँ पूजा-पोथी पढ़नेका यह अर्थ नहीं लगाया जाता कि संसारके व्यवहारको भी ताकमें उठाकर रख दिया जाय। गङ्गाराम जरूरतमन्द था, तभी आया। नहीं तो, वह मेरी परछाईंसे भी दूर भागता है। मुझे पता है, वह मेरे पूजा-पाठ और माथेपर लगे तिलक-चन्दनका उपहास करता है। यह भंगी बड़ा बदजात है।'

लेकिन पतिसे इतनी बात सुनकर भी पत्नीको संतोष नहीं हुआ। उसे पतिका वह व्यवहार क्रूर लगा, जैसे अमानुषीय पाप। गङ्गाराम जो कुछ सोचता है, वह संगत लगा।

उसी समय पण्डित बोले—'अब ये कड़े इसको दूँगा भी नहीं। यह साठ रुपयेका माल मैं यों ही न खो दूँगा। कुछ मैं भी तो कमाऊँगा।'

पत्नी सूखे भावसे हँसी—'तुम्हें तो किसी बनियेके घरमें जन्म लेना था, ब्राह्मणके घरमें नहीं। और जब यह काम करना है, तो इन बड़े-बड़े पोथोंको आलमारीमें बंद कर दो। धर्मका अर्थ है दया करना, सो वह तुम्हारे पास है नहीं।' वह बोली—'गङ्गाराम कल रुपये लेकर आये और तुम उसे कड़े न दो, तो क्या यह बेईमानी न होगी। और देखती हूँ इस ब्याज-सूदके चक्करमें तुमने लाला धनपतरायकी भी नाक काट ली। यह मत भूलो, लक्ष्मी किसी एक जगह नहीं रहती। यह तो धूप-छाँहकी तरह आती-जाती है।'

स्वयं पत्नीसे ऐसी बात सुनकर, पण्डित सालिगरामका विवेक विकृत बन गया। माथा झनझना गया। तुरंत कहा—'मैं नहीं समझता था कि देवीजी दयाकी अवतार हैं। आज मुझे धर्मका उपदेश देने चली हैं। मूर्ख बता रही हैं और कह रही हैं, यह तो पाप है, क्रूरता है···ऊँह!'

किंतु पत्नी फिर भी सरल भावमें बोली—'मैं उपदेश नहीं देती। पर कहती हूँ, तुम जो कुछ हो, वही रहो; अपनेसे छलावा मत करो। समाजको भी मत ठगो।'

सुनते ही, एकाएक पण्डित सालिगराम लाल पड़ गये। वे क्षुब्ध बनकर बोले—'बस, बस, चुप रहो! आगे मत बढ़ो। अच्छा खानेको मिल जाता है, तो दिमाग भी चलता है। कल कुछ न रहे, तो पता चले।'

तब, बलात् पत्नी भी तमतमा गयी। बोली—'तो तुम्हीं मुझे रोटी देते हो? मैं अपने भाग्यका खाती हूँ। क्या भूल गये, जब इस घरमें आयी, तो शऊरसे चार बर्तन भी नहीं थे। महाराजका खानेका भी ठौर नहीं था।' उसने कहा—'मैं सत्य और धर्मका पल्ला पकड़कर भूखी भी रह लूँगी। पर यह मेरी छातीमें काँटेकी तरह चुभता है कि तुम आज इतने हृदयहीन बनते जा रहे हो। गंदे पैसेके पीछे पड़े हो!'

एकाएक पण्डित सालिगराम चीख उठे—'पार्वती!'

पार्वतीने कहा—'मैं सत्यको नहीं छिपाऊँगी। आज तुमने अधर्म किया है। उस गङ्गारामका लड़का मौतके मुँहमें पड़ा है और तुमने उसीको ठग लिया। अपनी झूठी पण्डिताईका प्रभाव तुम दूसरेपर डाल सकते हो, मुझपर नहीं। ऐसा आदमी तो कसाई है, धर्म-ग्रन्थोंका पाठ करने वाला नहीं।' वह बोली—'आज तुम्हें अवसर मिला था दुखीकी आत्माका आशीष पानेके लिये। पर तुम्हारी आँखोंपर तो मायाका चश्मा चढ़ा है, न तुमने गङ्गारामके आँसू देखे, न उसके मनकी पीड़ा। मैं कहती हूँ आज भगवान् तुम्हारे द्वारपर आया था और वह माथा ठोंकता लौट गया। जिस लाला धनपतरायके पास हजारों रुपया है उसे कौन गाँवमें अच्छा आदमी कहता है। पिछले दिनों जब उसके घर डाका पड़ा, तो गाँवका एक आदमी भी बाहर नहीं निकला। इस धरतीपर तो 'लो' और 'दो'का व्यापार चलता है। जब तुम नहीं दोगे, तो तुम्हारे पास कौन आयेगा। और सुना नहीं, लोग कहने लगे हैं, पण्डितने अपना पेशा छोड़कर बनियेका धंधा अपना लिया···कौन

चला हंसकी चाल !' यह कहकर रोषसे भरी पार्वती वहाँसे उठ गयी। वह घरमें जा बैठी। उस समय उसकी आँखें भी छलछला आयीं।

× × × ×

देर हो गयी कि पण्डित सालिगराम एकाएक ही उदास बन गये। उनके मनमें कम्पन आ गया। पार्वतीने एक साथ ही जितनी बात कही, मानो उनके जीवनका लेखा-जोखा ही खोलकर रख दिया। वह इतनी निर्मम बनी कि एक पलको नहीं सोचा, पतिसे क्या कहना है और क्या नहीं कहना। और यह बात सर्वसिद्ध थी कि पार्वतीके आनेपर ही पण्डित सालिगरामका घर फला-फूला। पैसा आया, प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। यह बात पार्वतीने तो उसी समय कही, पर उन्होंने गाँवमें अनेक व्यक्तियों और औरतोंसे सुनी, पण्डित तेरी औरत साक्षात् लक्ष्मी है। तेरे घरमें आयी तो अपने साथ बासन्ती बहार भी ले आयी।

यों दिन चला गया। रात आ गयी। घोर काली-काली। पार्वती देरको सो गयी। लेकिन पण्डित सालिगराम-की आँखोंमें नींद नहीं थी। वे बार-बार करवट बदलते। कभी आँख खोलते, कभी बंद करते। उनके मनमें जैसे कोई तोतेकी तरह चोंच मार रहा था। पीड़ा हो रही थी हृदयमें। जिस प्रकारकी हलचल आज उनके प्राणोंमें हो रही थी, कदाचित् वैसी कभी नहीं हुई। पिछले दिनों जब उनका छोटा भाई मरा, तो उस समय पण्डितजीकी अवस्था खराब थी। पैसा नहीं था। भाईका इलाज ठीकसे नहीं हुआ, तो मर गया। लालासे पचास रुपये माँगे, वह मुकर गया। और पण्डित सालिगरामके सामने थी पार्वतीकी बात। उन्होंने प्रातः गङ्गारामके साथ जो कुछ किया, अच्छा नहीं किया। निकृष्ट और घृण्य व्यवहार किया। भगवान्‌की पूजा करके भी उसे व्यवहारमें नहीं लाया गया। मनुष्य-जीवन सार्थक नहीं किया।

संध्या-समय ही उन्हें किसीने बताया था कि अपने घरके दरवाजेपर बैठा बूढ़ा गङ्गाराम रो रहा था। डाक्टर आया और कह गया, लड़केका बचना आसान नहीं। उसी समय जब गाँव सो गया, कुत्ते भौंकने लगे, तो पण्डित सालिगरामने आलमारीसे कड़े निकाले और कुछ रुपये। सभी कुरतेकी जेबमें रख लिये। वे हाथमें लाठी लिये मेहतरोंके टोलेमें पहुँचे। गङ्गारामके मकानके सामने जैसे ही पहुँचे, तो उन्होंने बाहर अँधेरेमें खड़े होकर ही देखा कि गङ्गाराम और उसकी औरत बीमार बेटेकी चारपाईके पास बैठे हैं। वे उदास हैं, खिन्न हैं। गङ्गारामकी औरत जैसे सुबक-सी रही है।

यह देख, पण्डितजीने आवाज दी—'गङ्गाराम !'

गङ्गारामने सुना, तो उठ खड़ा हुआ। बाहर आया। उसे देखते ही पण्डितने पूछा—'क्या हाल है, लड़केका ?'

उदास और पीड़ित स्वरमें गङ्गाराम बोला—'महाराज ! हाल बुरा है !' और उसे अचरज हुआ कि यह जाति-धर्मको माननेवाला पण्डित इस भरी रातमें यहाँ कैसे आ गया। क्या कड़े वापिस करने आया ? अपने रुपये लेने ?

लेकिन तभी पण्डित सालिगरामने कहा—'गङ्गाराम ! जीवन और मृत्यु तो भगवान्‌के हाथ है। कह तो मैं देख लूँ, तेरे लड़केको !'

गङ्गाराम जैसे आकाशमें उड़ गया। तुरंत बोला—'महाराज ! आपके पैर इस म्लेच्छके घरमें पड़ें, ऐसा मेरा भाग्य कहाँ !'

किंतु पण्डित सालिगराम अंदर चल दिये। देखा, लड़का सचमुच ही बुरी अवस्थामें है। जवान है। खाटसे लगा है। तभी उन्होंने जेबसे कड़े निकाले और पचास रुपये। बोले—'गङ्गाराम ! आज मेरे मनमें कोई बोलता है। मुझे धिक्कारता है। ये अपने कड़े रख। ये पचास रुपये भी। लड़केका इलाज करा। भगवान् भला करेगा।'

उसी समय गाँवकी परम्पराको भूलकर गङ्गाराम और उसकी औरतने पण्डितके पैर पकड़ लिये, वे दोनों रो पड़े। लेकिन उस समय पण्डित सालिगरामकी भी मनःस्थिति दुर्बल थी, जैसे निस्तेज बनी थी, वे स्वयं भी उद्विग्न बन गये। बोले—'गङ्गाराम ! हम सब एक ही रास्तेके पथिक हैं। चिन्ता न कर !' और वे तभी अपनी भरी आँखोंको लिये तेजीके साथ घरकी ओर लौट पड़े। वे जैसे ही फिर अपनी चारपाईपर जाकर पड़े, तो तभी, पार्वती उठ आयी और बोली—'आज जी चाहता है तुम्हारे पैरोंको धोकर पी लूँ। तुम्हें सिरपर उठा लूँ ! औरत भी अपने आदमीपर गर्व करती है और वही तो आज मैं अपने अंदर पा रही हूँ। तुम गये, तो मैं भी पीछे नहीं रही, सभी बातें सुन आयी

और तुम्हारे साथ-ही-साथ लौटकर आयी हूँ। अब आराम करो। रात बहुत हो गयी है।'

× × × ×

प्रातः हुआ, पण्डित सालिगराम मन्दिर गये। वहाँ प्रतिदिनकी तरह पूजा-पाठ की और लौट आये। उन्हें देखते ही पार्वती बोली—'तुम्हारा आशीष फल गया। गङ्गाराम-का लड़का बच गया। मैं गयी और देख आयी।'

प्रसन्नभावमें पण्डितजीने कहा—'तुमने बड़े पुण्यका काम किया, पार्वती! तुमने मुझे भी ज्ञान-दानकर कृतार्थ किया।'

और तब मुसकराती हुई पार्वती अपने पतिकी उन हर्षित आँखोंपर एकाएक ही टिक गयी। वह उसी भावनामें खो गयी।

गोस्वामी तुलसीदासजीका सांस्कृतिक व्यक्तित्व

(लेखक—डा० श्रीरघुराजशरणजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

सबसे प्रथम प्रश्न यह उठता है कि सांस्कृतिक व्यक्तित्व-से अभिप्राय क्या है? किसी व्यक्तिकी सांस्कृतिक उच्चताके निर्धारणके क्या मापदण्ड हैं? मानवने अपने सांस्कृतिक विकासमें कुछ मूल मानवीय गुणों एवं मूल्योंकी प्रतिष्ठा की है। एक व्यक्ति उसी सीमातक सुसंस्कृत कहा जा सकता है, जहाँ-तक वह मूल मानवीय गुणोंके अनुसार जीवनमें निर्वैयक्तिक ढंगसे जीवन-यापन करता है। निर्वैयक्तिकताका अर्थ व्यक्तित्वका अतिक्रमण एवं शून्य होना नहीं है, वरं व्यक्तिगत संकीर्ण स्वार्थोंसे ऊपर उठकर उन जीवन-मूल्योंको ग्रहण करना है जो सार्वदेशीय, सार्वकालिक और सर्वमङ्गलकारी हैं। तब ही प्राणीमात्रसे तादात्म्यकी भावना उत्पन्न होती है।

जड-चेतनमें तादात्म्यकी भावना

गोस्वामीजीमें तादात्म्यकी भावना—

सीय राममय सब जग जानी।

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।

—आदि वाक्योंसे स्पष्टरूपमें प्रकट होती है। अपने संकुचित 'स्व' को सर्वव्यापी विश्वात्मा राममें लीन करके उन्हीं सार्वभौम भावनाओंको अपने काव्यमें चित्रित करना गोस्वामीजीकी निर्वैयक्तिकता है। इसी कारण उनके 'स्वान्तः-सुखाय' ने उन्हें भी संतोष दिया और 'सर्वजनसुखाय' होकर मानवमात्रका भी कल्याण किया। यही मानव-संस्कृति-का उच्चतम स्तर है।

उच्चकोटिकी सांस्कृतिक नम्रता

मानस-जैसे महाकाव्यके प्रणेता होकर भी उनके हृदयमें उच्चकोटिकी सांस्कृतिक नम्रता और विनय है। वे कवि और चतुर दोनों ही होना अस्वीकार करते हैं।[1]

गोस्वामीजीके मनमें यही संकोच है कि जिस कथाको वाल्मीकि, व्यास-जैसे महामनीषियोंने वर्णन किया है, उसे मुझ-जैसा साधारण बुद्धिका व्यक्ति कैसे वर्णन कर सकता है।[2] परंतु उन्हें आत्मविश्वास भी है और अपने उन महर्षि पूर्वजोंके प्रदर्शित मार्गपर भी विश्वास है, जिसका अनुसरण करके वे अपना कार्य पूर्ण कर सकेंगे। महर्षि वाल्मीकिने उनके मार्गको प्रशस्त कर दिया है।[3] जिस सेतुका निर्माण महापुरुष करते हैं उसपर चढ़कर तुलसी-जैसी लघु पिपीलिका भी पार हो सकती है।[4]

उनकी इस सांस्कृतिक एवं साहित्यिक नम्रताको देखकर महाकवि कालिदासके ये शब्द बरबस स्मरण आ जाते हैं—

मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥

महाकवि कालिदास अपनेको बौना कहते हैं, गोस्वामीजी

१. कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ॥
(मानस, बालकाण्ड)

२. ब्यास आदि कबि पुंगव नाना। जिन सादर हरिचरित बखाना॥
(मानस, बालकाण्ड)

३. मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥
(मानस, बालकाण्ड)

४. अति अपार जे सरितबर जौं नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं॥
(मानस, बालकाण्ड)

अपनेको लघु चींटी मानते हैं। यह है भारतके महाकवियोंकी उच्चकोटिकी सांस्कृतिक एवं साहित्यिक शिष्टता एवं नम्रता, जिससे भारतके ये दोनों महाकवि ओतप्रोत हैं।

निर्भीकता

निर्भीकता गोस्वामीजीके व्यक्तित्वकी एक बड़ी विशेषता है।[1] लौकिक हानि, लाभ, यश, अपयशसे भयभीत होनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं है, गोस्वामीजीको कालसे भी कोई भय नहीं है; क्योंकि जानकीनाथ उनके रक्षक हैं। समस्त तृष्णाओंसे मुक्त होकर गोस्वामीजी जीवन्मुक्त हैं, क्योंकि जैसा महात्मा बुद्धने कहा—सब दुःखोंका मूल तन्हा (तृष्णा) है।

आत्मसमर्पणकी भावना

गोस्वामीजीकी अपने इष्टदेव राममें सम्पूर्ण आत्मसमर्पण-की भावना है। अपने इष्टदेवकी शपथ लेकर वे अपना सर्वस्व रामनामको ही मानते हैं।[2] उनकी एक ही आशा, एक ही भरोसा और एक ही विश्वास है और वह अपने इष्टदेवमें ही केन्द्रित है। वे उन्हें ही अपना माता, पिता, बन्धु, सुजन, गुरु, पूज्य, परमहितैषी, सखा, सहायक सब कुछ मानते हैं।[3]

'सर्वभूतहिते रताः'की भावना

मनुष्यत्व और पशुत्वका भेद करते हुए हम मानवताके साथ बुद्धि, विवेक, स्नेह, सहानुभूति, दया आदि गुणोंका समावेश करते हैं और पशुतामें अविवेक, क्रूरता और कठोरता आदि अवगुणोंको संयुक्त करते हैं। अंग्रेजीमें प्रयुक्त होनेवाले शब्द 'ह्यूमेनिटी' भी इन्हीं भावोंका द्योतक है। 'सर्वभूतहिते रताः' की भावना इसकी आधारभूत भावना है। यह मोक्षका मार्ग भी है; क्योंकि इसी भावनामें रत होकर इष्टदेवकी प्राप्ति की जाती है।[1] गोस्वामीजीने भी मानवताकी इस आधारभूत भावनाकी स्थल-स्थलपर घोषणा की है।[2] उनका स्पष्ट मत है कि परहितके समान कोई धर्म नहीं है और पर-पीड़नके समान कोई अधर्म नहीं है। जिनका मन परहितमें लगा हुआ है उनके लिये इस विश्वमें कुछ दुर्लभ नहीं है। इसीलिये वे मानवशरीर धारण करनेकी सार्थकता परोपकार-वृत्ति धारण करने और जन-कल्याण-साधना करनेमें ही मानते हैं[3]; क्योंकि संतोंका सहज-स्वभाव ही होता है कि वे मन, वचन और शरीरसे परोपकारमें लगे रहते हैं।[4]

गोस्वामीजीके सांस्कृतिक व्यक्तित्वका आदर्श—संत-स्वभाव

संत और संत-स्वभाव गोस्वामीजीके सांस्कृतिक व्यक्तित्व-के आदर्श हैं और उनके समस्त समन्वित-गुण गोस्वामीजीके आदर्श गुण हैं। संतजनोंकी रहनि (जीवन-शैली) क्या है? गोस्वामीजीके मतमें शीलका ग्रहण, मानापमानकी भावनासे ऊपर उठकर सबसे मृदुल और कठोर व्यवहारोंको समानरूपसे सहना और मुख तथा हृदयसे सदैव राम-नामका स्मरण करना—यही संतोंकी जीवन-शैली[5] है। गीतामें मानवका परमोत्कर्ष 'स्थितप्रज्ञ' होनेमें माना गया है। ऊपर संतके जिन गुणोंका कथन किया गया है वही स्थितप्रज्ञके भी लक्षण हैं।[6]

गुण-संस्कृतिका विवेचन भारतीय साहित्यिक मनीषियोंकी पुरानी परम्परा है, जो आदिकवि वाल्मीकिसे प्रारम्भ होकर

---

१. तुलसी यह जानि हिएँ अपने सपने नहिं कालहु ते डरिहै।
कुनयाँ कछु हानि न औरन की जो पै जानकीनाथ मया करिहै॥

२. रामकी सपथ, सरबस मेरे राम नाम,
कामधेनु कामतरु मोसे छीन-छाम को।
(कवितावली, उत्तर० छंद-संख्या १७८)

३. राम मातु, पितु, बंधु, सुजनु, गुरु, पूज्य परमहित।
साहेबु, सखा, सहाय, नेह नाते, पुनीत चित॥
(कवितावली ११०)

---

१. ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः। (गीता १२। ४)

२. परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
(मानस, उत्तर०)

३. लाभ कहा मानुष तन पाये।
काय-बचन-मन सपनेहुँ कबहुँक घटत न काज पराये॥
(विनय० पद २०१)

४. पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥
(मा० उत्तर०)

५. सील गहनि सबकी सहनि, कहनि हीय मुख राम।
तुलसी रहिए एहि रहनि, संत जनन कौ काम॥
(वैराग्यस० १७)

६. प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
(गीता २। ५५)

अविच्छिन्न गतिसे निरन्तर चलती रही है। महाकवि महर्षि वाल्मीकि और महर्षि नारदका संवाद ही रामके गुण-संस्कृति-विवेचनसे प्रारम्भ होता है। महाकवि वाल्मीकि महर्षि नारदसे प्रश्न करते हैं कि इस लोकमें गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवादी, दृढ़व्रत, प्राणीमात्रका हितैषी, धैर्यवान्, तेजस्वी, ईर्ष्याशून्य आदि गुणोंसे सम्पन्न कौन व्यक्ति है ?[1]

महर्षि वाल्मीकि विस्तारपूर्वक रामके गुणोंकी चर्चा करके अपना निष्कर्ष 'स च सर्वगुणोपेतः कौशल्यानन्दवर्धनः' देते हैं और महर्षि विविध चरित्रोंके द्वारा उन्हींकी गुण-संस्कृतिका वर्णन करते हैं।

महाकवि कालिदासको भी रघुवंशियोंके गुणोंने रघुवंश महाकाव्य रचनेकी प्रेरणा दी।[2] गोस्वामीजीने भी इसी गुण-संस्कृति-विवेचन-परम्पराका अनुसरण किया। गोस्वामीजीके समस्त साहित्यमें मर्यादा-पुरुषोत्तम और उनके आदर्श परिवारकी गुण-संस्कृतिका ही विवेचन है।

गुण-संस्कृति-विवेचनका लक्ष्य व्यक्ति एवं समाजके सामुख ऐसे गुणों और आदर्शोंको रखना होता है जो उनके तदनुकूल जीवन-निर्माण करके व्यक्तिगत एवं सामाजिक मङ्गल-साधना करानेमें सहायक हों। इस गुण-संस्कृति-विवेचनमें कविका अपना व्यक्तित्व भी झलकता ही है। गोस्वामीजीका सांस्कृतिक व्यक्तित्व उनकी सांस्कृतिक निधियोंसे समन्वित रचनाओंमें प्रत्यक्ष प्रतिबिम्बित होता है।

प्राचीन भारतमें गौका महत्त्व और पालन

(लेखक—श्रीसुरेशचन्द्रजी वेदालंकार, एम्० ए०, एल्० टी०)

आज भारतके ग्राम-ग्राममें, नगर-नगरमें 'गोवध बंद हो' 'गौ हमारी माता है' का नारा सुनायी दे रहा है। अनेक महानुभाव गौके लिये अपने प्राण समर्पित कर चुके हैं। हिंदूमात्र सभी एकमत और एकस्वरसे आज गौकी हत्या बंद करवानेके लिये सरकारसे प्रार्थना कर रहे हैं। पर, दूसरी ओर सरकार केवल संतोष और आश्वासन देनेके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कर रही है। हमारा राष्ट्र धर्मनिरपेक्ष है। वह मन्दिरों, मस्जिदों और गिर्जाघरोंको तोड़ना अपराध मानता है। किसी धर्मके ऊपर दूसरे धर्म या व्यक्तिके प्रहार करनेपर उसे दण्ड दिया जा सकता है, यह उसकी नीति है। परंतु आश्चर्य है कि 'गौ'के विषयमें वही सरकार क्यों निरपेक्षता धारण कर लेती है। आज एक-दो नहीं, करोड़ों भारतवासियोंके लिये 'गाय' मन्दिर है, गाय पूजाका स्थान है, गाय उनके लिये धर्मस्थान है। जिस व्यक्तिके खूँटेमें बँधी गाय मर जाती है उसे कितना पश्चात्ताप और अनुष्ठान करने होते हैं, यह सर्वविदित तथ्य है। ऐसी दशामें गोहत्या बंद करनेका कानून क्यों नहीं बनता—यह एक रहस्य है।

आर्य जातिमें सदासे गौकी प्रतिष्ठा और पूजा होती आयी है। इसका नाम ही 'अघ्न्या' रख दिया गया है। कहा जाता है 'अघ्न्या' इति गवां नाम क एना हन्तुमर्हसि' अर्थात् गोजातिका नाम ही अघ्न्या है; इसे कौन मार सकता है ? शायद उन्हें यह मालूम न था कि स्वतन्त्र भारतकी सरकार इसे मार सकती है। शायद उन आर्योंको यह ज्ञान नहीं था कि गोहत्या जारी रहनेपर स्वतन्त्रता और स्वराज्यको अधूरा माननेवाली गाँधीकी नाम लेवा यह सरकार गौओंकी हत्याके लिये कारखाने और वधशालाएँ खुलवायेगी ? पर प्राचीन कालमें गाय 'अघ्न्या' ही मानी जाती थी। इसका इतना महत्त्व इसलिये था कि गौओंके बिना आर्योंका यज्ञ नहीं हो सकता था। 'गावो यज्ञस्य हि फलं गोषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः' अर्थात् यज्ञफलका कारण गौएँ हैं; गौओंमें ही यज्ञ प्रतिष्ठित है। हविष्यके बिना यज्ञ नहीं हो सकता और गोदुग्धके बिना हविष्य बन नहीं सकता। इसलिये गायका एक नाम 'हविर्दुघा' भी रक्खा गया है। बिना गोबरके यज्ञवेदी पोती नहीं जा सकती और बिना कंडोंके यज्ञाग्नि प्रज्वलित नहीं की जा सकती है। गोघृतके बिना यज्ञमें आहुति नहीं डाली जा सकती। इतना ही नहीं, गीतामें कहा है—

---

१. को न्वस्मिन्साम्प्रतं लोके गुणवान्कश्च वीर्यवान्। आदि (देखिये वाल्मीकिरामायण बाल० २-३)

२. रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्। आदि (रघुवंश प्रथम सर्ग श्लोक ९ देखिये)

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
(३ । १४)

इसका भाव यह है कि यज्ञधूमसे मेघ बनते हैं, मेघ जल बरसाते हैं, जलसे अन्न और तृण होते हैं और अन्न-तृणसे प्राणियोंका प्रतिपालन तथा जीवन धारण होता है, इसलिये समस्त विश्वका आधार गौएँ हैं । बिना गौओंके सारा विश्व नष्ट हो सकता है । इसलिये आर्योंका मत है 'एतद् वै विश्वरूपं, सर्वरूपं, विश्वरूपम्' अर्थात् सम्पूर्ण विश्वरूप गायें हैं—विश्वमें जो कुछ है सब गोरूप है ।' हमारी यह मान्यता है कि वह ग्रन्थ सद्ग्रन्थ नहीं जिसमें गोजातिकी महत्ताका वर्णन न हो; वह देश पवित्र देश नहीं, जिसमें गोवंश स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण न करता हो, वह घर घर नहीं, जिसमें गौका निवास न हो—

यस्मिन् क्वापि गृहे नास्ति धेनुर्वत्सानुचारिणी ।
मङ्गलानि कुतस्तस्य कुतस्तस्य तमःक्षयः ॥
यत्र वेदध्वनिध्वान्तं यन्न गोभिरलंकृतम् ।
यन्न बालैः परिवृतं श्मशानं त्वेव तद् गृहम् ॥

प्राचीन साहित्यमें आया है—

धनं च गोधनं धान्यं स्वर्णाद्यो वृथैव हि ।

गोधनके सामने और सब धन व्यर्थ-से हैं ।

अग्निपुराणमें गौके महत्त्वका प्रतिपादन करते हुए यहाँतक लिखा है—

गावः स्वर्गस्य सोपानं गावो माङ्गल्यमुत्तमम् ।
गावः पवित्रं परमं गावो धन्याः सनातनाः ॥
नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च ।
नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः ॥

अर्थात् गौएँ स्वर्गका सोपान हैं, गौएँ उत्तम मङ्गलकारिणी हैं, गौएँ परम पवित्र और सनातन हैं, इन ऐश्वर्यसम्पन्न गायोंको नमस्कार हो, ब्रह्मसुता इन गायोंको नमस्कार हो, पवित्रतमा इन गायोंको नमस्कार हो ।

गौकी इतनी पवित्रताके पीछे उसकी अत्यधिक उपयोगिता ही प्रधान कारण थी । शायद कुछ व्यक्ति यह आपत्ति कर सकते हैं कि गायके प्रति ऋषि-मुनियोंने अनुचित पूजाकी भावना हममें उत्पन्न की है । ऐसी पशु-पूजा वैज्ञानिक नहीं है । परंतु हम जैसे उपयोगकी दृष्टिसे विचार करते हैं, वैसे ही ऋषि-मुनियोंने विचार किया और उन्होंने भारतवर्षके लिये इसकी उपयोगिता बतलायी । अतः हमें गायका पूर्णरूपसे उपयोग करना चाहिये । वेदका वचन है—

'सहस्रधारा पयसा मही गौः'

'ऐसी गाय जिससे कि हजार धाराएँ रोज पैदा होती हों' आप समझ सकते हैं कि दूधकी एक धारा कितनी होती है ? स्वामी दयानन्दने अपनी पुस्तक 'गोकरुणानिधि' और 'सत्यार्थप्रकाश' में भी गौकी उपयोगिताका प्रतिपादन किया है । प्रायः लोग यह कहते सुने जाते हैं कि शरीरको हृष्ट-पुष्ट करनेके लिये दूधकी अपेक्षा घीकी आवश्यकता होती है और घी तो मैंससे ही प्राप्त हो सकता है; लेकिन हमारे वेदमें आया है—

यूयं गावो मेदयथा कृशाश्चित्…………………।

हे गायो ! जिसका शरीर (स्नेहके अभावसे) सूख गया हो, उसे तुम अपने मेद (चर्बीसे) भर देती हो । यहाँ 'मेदयथा' यानी 'मेदती का प्रयोग किया गया है । मेद कहते हैं चरबीको, स्नेहको, जिसे हम आजकल 'फैट' कहते हैं । इसका तात्पर्य है कि दुबले-पतलेको मोटा-ताजा बनाने लायक चर्बी गायके दूधमें पर्याप्त मात्रामें विद्यमान है । यही कारण है कि आगे कहा गया है—

अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम् ।

जो शरीर अश्रीर है, उसे गाय श्रीर बनाती है । 'श्रीर' का अर्थ शोभन है और 'अश्रीर' का अर्थ 'शोभाहीन' । इसलिये 'गोरक्षा' 'गोसेवा' का जो पाठ प्राचीन वैदिक ऋषियोंने हमें पढ़ाया, वह केवल अनुचित पूजाकी भावनासे नहीं पढ़ाया । उसमें वैज्ञानिकता थी । उसमें उपयोगिता थी । जो वस्तु हमारे लिये उपयोगी है, उसकी सेवा और रक्षा भी उतनी ही आवश्यक है । अर्थात् हमें उपयोगी जानवरको अधिकाधिक उपयोगी बनाना है ।

गोदुग्धसे बने पदार्थोंमें अनेक गुण रहते हैं । शास्त्रोंमें गोदुग्धरहित भोजनको कुभोजनकी श्रेणीमें रक्खा है । कहा है

'गव्यहीनं कुभोजनम्' गव्यहीन भोजन कुभोजन है। गौकी छाछ (मट्ठा) के विषयमें आयुर्वेदमें लिखा है—

'सर्वरोगहरं तक्रम्'
न तक्रसेवी व्यथते कदाचिन्-
न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति रोगाः।
यथा सुराणाममृतं सुखाय
तथा नराणां भुवि तक्रमाहुः॥

अर्थात् मट्ठा पीनेसे सब रोग नष्ट हो जाते हैं। मट्ठा पीनेवाला कभी अस्वस्थ नहीं होता। जिस तरह देवताओंके लिये अमृत सुखदायक है उसी तरह भूलोकमें मनुष्योंके लिये (गायका) मट्ठा उपयोगी है।

बृहद्धर्मपुराण उत्तरखण्डमें गौके गोबरकी उपयोगिताका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

गवां मूत्रं पुरीषं च पवित्रं परमं मतम्।

गौका गोबर हिंदुओंके यहाँ शुद्धि-कार्यमें प्रयोग होता है। यह फिनाइलका काम देता है। गोबरसे लिपे हुए स्थानमें मक्खियाँ बहुत कम आती हैं। यह दुर्गन्धनाशक तथा रोगोत्पादक कीटाणुओंको नष्ट करनेवाला है। गोबरमें फास्फोरिक एसिड, चूना, मैगनेशिया और सेलिका इत्यादि पदार्थ पाये जाते हैं। गोबरसे अति उत्कृष्ट खाद बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त गोमूत्रके लिये आयुर्वेदमें लिखा है कि—

गोमूत्रं कटु तीक्ष्णोष्णं क्षारं तिक्तं कषायकम्।
लघ्वग्निदीपकं मेध्यं पित्तकृत् कफवातहृत्॥

गोमूत्रमें फास्फेट, पोटाश, लवण और नाइट्रोजन नामक पदार्थ होते हैं। गोमूत्रसे नित्य आँखोंको धोते रहनेसे बुढ़ापेतक ज्योति नहीं बिगड़ती। कोढ़ीके लिये गोमूत्र अत्यन्त हितकर है। कोढ़के अतिरिक्त अन्य भी रोगोंके लिये इसे आयुर्वेदमें उपयोगी बताया है। इस प्रकार गव्य पदार्थ अत्यन्त गुणप्रद और पवित्र होनेके कारण ही गौ जातिको 'माता' नामसे पुकारा गया है। और माताकी रक्षा और सेवा मनुष्यका परम कर्तव्य है। यही कारण है कि भारतमें राजातक गोसेवा किया करते थे। दिलीपका उदाहरण हमारे सामने है। महाराज दिलीप ऋषिके आश्रममें रहनेको आता है। ऋषि उसे गायकी सेवाका काम देते हैं। वह गोसेवाका कार्य अत्यन्त लगन और परिश्रमसे करता है। उसका चित्र रघुवंशमें कालिदासने इस प्रकार खींचा है—

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां
निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां
छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥

शरीरकी छायाकी तरह राजा गायका अनुचर बन गया था। जब वह गाय खड़ी होती थी, तब वह भी खड़ा हो जाता था। जब वह चलती थी तो वह भी चलता, वह बैठ जाती तब वह बैठता, वह पानी पीती, तभी वह भी पानी पीता, गायको खिलाये-पिलाये बिना वह स्वयं नहीं खाता पीता था।

इसलिये प्राचीन आर्योंने गौको इतना महत्त्व दिया था। ऋग्वेदमें दो गो-सूक्त अत्यन्त प्रख्यात हैं। एक छठे मण्डलका अट्ठाईसवाँ सूक्त और दूसरा है दशम मण्डलका १६९ सूक्त। इसके अतिरिक्त अन्य वेदोंमें भी गौका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। अथर्ववेद १०। १०। ३४ गायकी उपयोगिता मनुष्यमात्रके लिये है, इसका बोध कराते हुए आया है—

वशां देवा उपजीवन्ति वशां मनुष्या उत।
वशेदं सर्वमभवत् यावत्सूर्यो विपश्यति।

जहाँतक सूर्यका प्रकाश जाता है, गाय ही सब कुछ बनती है। देव, मनुष्य, राक्षस—सभी गोदुग्धसे लाभ उठाते हैं।

ऋग्वेदके ८। १०१। १५ मन्त्रमें गोहत्या न करनेकी अपील करते हुए कहा गया है—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥

जो गौ रुद्रोंकी माता, वसुओंकी पुत्री, आदित्योंकी भगिनी और दुग्धका निवासस्थान है, मनुष्यो! उस निरपराध और अदितिरूपिणी गोदेवीका वध नहीं करना।

इस प्रकार भारतीयोंकी संस्कृतिके अनुसार गोहत्या बंद होना अत्यावश्यक है और सरकारको इस दिशामें अविलम्ब कदम उठाना चाहिये ही; क्योंकि मन्दिर, मस्जिद, गिर्जा-घरकी तरह गाय भी एक धार्मिक भावनाकी जीती-जागती प्रतीक है; इसलिये जहाँ गायोंकी हत्या बंद होनी चाहिये वहाँ सरकार तथा जनताको भी गायोंकी रक्षाका प्रयत्न करना चाहिये। गोहत्या बंद हो जानेके बाद यदि शहरों और गाँवोंमें गौएँ दूकानोंके बाहर फेंके कागज, गंदे कपड़े और दूसरी खराब वस्तुएँ खाती रहें, उन्हें भरपेट भोजन और स्वास्थ्यवर्धक वस्तुएँ खानेको न मिलें, उनके बैठने, सोने और जुगाली करनेके लिये स्थान न हो तो गोहत्या न होनेके पीछे गोरक्षाकी जो मूल भावना है, उसका पालन न हो सकेगा। वेदोंमें लिखा है—

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धाः अयः सुप्रपाणे पिबन्तीः। मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु।

(अथर्व० ४।२१।७)

अर्थात् उन गायोंका दूध आदि सेवन करना योग्य है जो बछड़ोंवाली हैं अर्थात् जिनके बछड़े मरते नहीं हैं, जो उत्तम घास आदि पदार्थ खाती हैं। उत्तम जलस्थानमें ही शुद्ध जल पीती हैं। अर्थात् जिनके बछड़े मरते हैं, जो शुद्ध अन्न नहीं खाती, जो उत्तम शुद्ध जल पीती नहीं ऐसी गायोंका दूध पीना योग्य नहीं।

ऋग्वेद १०।१६९।१ मन्त्रमें कहा है—

मयोभूर्वातो अभिवातूस्रा ऊर्जस्वतीरोषधीरा रिशंताम्। पीवस्वतीर्जीवधन्याः पिवन्त्ववसाय पद्वते रुद्र. मृळ॥

अर्थात् गौएँ उत्तम वायुमें घूमती रहें, वह उत्तम ओषधियाँ खाकर पुष्ट हों। गाय ही जीवोंकी सच्ची माता है। गौएँ स्वच्छ पानी पीयें। रोगके कीटाणुओंसे गायोंको बचाया जाय और उनको खुश रक्खा जाये, क्योंकि गौएँ ही जीवोंको बचानेवाली हैं।

अथर्ववेद अध्याय ३।१४ के मन्त्रका भाव है कि गोशालामें स्थान ऐसा हो कि जहाँ किसी प्रकारका भय गौओंको न हो। गौओंसे प्रेमके साथ बरतना चाहिये। भयभीत और क्रोधित गौओंका दूध हानिकारक होता है। गौएँ अमृत रस धारण करती हैं। परंतु अपवित्र स्थानमें रहनेसे वही अमृत विषमय होकर रोग उत्पन्न करता है। इसलिये सावधानी रखकर पूर्ण स्वच्छतायुक्त स्थानमें गौओंको रखना चाहिये।

एक मन्त्रमें कहा है—

गौएँ हृष्ट-पुष्ट होनी चाहिये। उनको खूब पुष्टिकारक और ताजा भोजन देना चाहिये। बछड़े भी उत्तम होने चाहिये तथा मालिकका प्रेम गौओंपर और गौओंका मालिकपर होना चाहिये।

इसी अथर्ववेदके ३।१४।५ मन्त्रमें कहा गया है—

गोशालाको अत्यन्त पवित्र और सुन्दर रखना चाहिये। गौओंको हृष्ट-पुष्ट रखना चाहिये। बछड़े भी प्रसन्न रहें तथा अपने साथ गौओंको भ्रमणादिके लिये खुला छोड़ना चाहिये।

ऋग्वेदके दशम मण्डलके १६९वें सूक्तके प्रथम मन्त्रमें कहा है—

सुखकर वायु गायोंकी ओर बहे। गायें बलकारक तृण, पत्र आदिका आस्वादन करें। ये प्रभूत और प्राण-तृप्तिकारक जलपान करें। रुद्रदेव, चरणयुक्त और अन्नस्वरूपिणी गायोंको स्वच्छन्दतासे रक्खो।

इस प्रकार आर्यलोग गोहत्याके पूर्णतः विरोधी थे। माताकी हत्यासे बढ़कर संसारमें कोई पाप नहीं और गायको वे माता मानते थे। आज भी आर्य और हिंदू ही नहीं विश्वके प्रत्येक व्यक्तिको लाभ पहुँचानेवाली इस गायकी हत्या-पर सरकारको तत्काल प्रतिबन्ध लगाना चाहिये। पर हमारा विचार है कि जहाँ एक ओर प्रतिबन्ध लगे, वहाँ दूसरी ओर उसकी रक्षा और भोजनकी जिम्मेवारी भी सरकार और साथ ही गोभक्त हिंदुओंको अपने कंधोंपर लेनी चाहिये। गोहत्या बंद होनेके साथ-साथ गोरक्षा भी परम आवश्यक है।

गोवधपर केवल केन्द्रीय शासन ही प्रतिबन्ध लगा सकता है ।*

(लेखिका—श्रीमती उर्मिला जोशी)

गोवधका प्रतिषेध भारतीय संविधानके उन महत्त्वपूर्ण लक्ष्य और उद्देश्योंमेंसे एक है जो राज्यकी नीतिके निदेशिक तत्त्वोंमें सम्मिलित किये गये हैं; क्योंकि उनको तत्काल सम्पादित नहीं किया जा सकता था । इन मूल अधिकारों और निदेशिक तत्त्वोंमें अन्तर यह है कि जहाँ मूल अधिकार व्यक्तिके विरुद्ध कार्यवाहीमें राज्यपर बन्धन लगाते हैं, वहाँ निदेशिक तत्त्व जनताके लिये कुछ उद्देश्योंको पूरा करनेके लिये राज्यको कुछ कार्य करनेका निदेश देते हैं ।

अनुच्छेद ४८में तीन बातें हैं

निदेशिक तत्त्वोंका महत्त्व इसलिये भी है कि जिन विषयोंको उनमें सम्मिलित किया गया है उनके सम्बन्धमें संविधानद्वारा ही नीति निर्धारित की गयी है । इन तत्त्वों और नीतियोंपर तबतक पुनः कोई विचार नहीं किया जा सकता जबतक कि उनमें कोई दोष अथवा कोई बुराई बतानेकी नियत न हो और संविधानमें संशोधन करनेकी आवश्यकता प्रतीत हो ।

इसमें संदेह नहीं कि राज्य इन निदेशोंको लागू करनेमें विलम्ब कर सकता है, लेकिन यह नहीं हो सकता कि उन्हें कार्यान्वित करना अस्वीकर कर दे । इसके अतिरिक्त राज्य—जिसमें केन्द्रीय सरकार, संसद्, राज्य सरकारें और विधान-सभाएँ भी सम्मिलित हैं—के पास किसी निदेशिक तत्त्वको कार्यान्वित न करनेके लिये पर्याप्त कारण होने चाहिये । यद्यपि इस सम्बन्धमें न्यायालयोंमें कोई सुनवाई नहीं की जा सकती, फिर भी एक उचित अवधिके पश्चात् नागरिकोंको इसको कार्यान्वित करनेकी माँग करनेका पूर्ण अधिकार है । इन निदेशिक तत्त्वोंमें गोवधका प्रतिषेध भी सम्मिलित है । जब संविधानमें गोवधके प्रतिषेधकी आवश्यकताको स्वीकार किया जा चुका है, तो अब इस सिद्धान्तकी आवश्यकताको सिद्ध करनेके लिये किसी तरहके विवादकी जरूरत नहीं रह जाती । प्रश्न तो अब केवल यह है कि निदेशिक तत्त्वका पालन किया जाय ।

केन्द्रीय सरकारका कहना है कि गोवधका प्रति[illegible] राज्य-विषय है और कुछ राज्य-सरकारोंने गोवधपर प्रति[illegible] लगा दिया है, शेषको ऐसा करनेका निवेदन किया [illegible] रहा है । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, निदेशिक त[illegible] राज्योंके सभी अभिकरणोंके लिये अनुदेशके रूपमें है[illegible]

निदेशिक तत्त्वोंके अन्तर्गत अनुच्छेद ३६ में लिखा है[illegible]

'यदि प्रसंगसे दूसरा अर्थ अपेक्षित न हो तो इ[illegible] भागमें 'राज्य' का वही अर्थ है जो इस संविधानके भाग [illegible] में है ।' भाग ३—मूल अधिकार—अनुच्छेद १२[illegible] लिखा है:—

''यदि प्रसंगसे दूसरा अर्थ उपेक्षित न हो तो इ[illegible] भागमें 'राज्य' के अन्तर्गत भारतकी सरकार और सं[illegible] तथा प्रत्येक राज्यकी सरकार और उनके विधानमण्ड[illegible] तथा भारतके राज्यक्षेत्रके भीतर अथवा भारत सरकार[illegible] नियन्त्रणके अधीन सब स्थानीय और अन्य प्राधिक[illegible] भी हैं ।''

ऊपरकी बातोंको पढ़कर एक साधारण व्यक्ति [illegible] कह सकता है कि केन्द्रिय सरकारका कहना गलत है । फि[illegible] भी यह इतना सरल विषय नहीं है । केन्द्रिय सरक[illegible] और राज्य सरकारोंके बीच कई विषय बँटे हुए हैं औ[illegible] विषयोंकी एक समवर्ती सूची भी है । यह समझनेवा[illegible] बात है कि संविधानमें 'गाय' का इन विषयोंके वितरण[illegible] किस प्रकार उल्लेख किया गया है । पहले सम्बन्धि[illegible] निदेशपर एक दृष्टिपात किया जाय:—

संविधानका अनुच्छेद ४८—

''राज्य कृषि और पशुपालनको आधुनिक और वैज्ञानि[illegible] प्रणालियोंसे संघटित करनेका प्रयास करेगा और विशेष[illegible] गायों और बछड़ों तथा अन्य दुधारू और वाहक ढोरों[illegible] नस्लके परिरक्षण और सुधारनेके लिये तथा उनके वध[illegible] प्रतिषेध (निरोध) करनेके लिये अग्रसर होगा ।''

---

* (क) साप्ताहिक अंग्रेजी 'आर्गेनाइजर' दिनाङ्क २९ जनवरी, १९६७, पृष्ठ ६ में प्रकाशित निबन्धका हिंदी अनुवाद

(ख) इस निबन्धमें संविधानके सरकारी हिंदी अनुवादमें व्यवहृत शब्दावलीका ही प्रयोग किया गया है ।

इस अनुच्छेदमें कई बातोंका उल्लेख है और वधका प्रतिषेध तो स्पष्टरूपसे बताया गया है। इन सब बातोंका स्पष्ट अर्थ यह है कि राज्यः—

(१) कृषि और पशुपालनको आधुनिक और वैज्ञानिक प्रणालियोंसे संघटित करनेका प्रयास करेगा, तथा

(२) विशेषतः गायों और बछड़ों तथा अन्य दुधारू और वाहक ढोरोंकी नस्लके परिरक्षण और सुधारके लिये अग्रसर होगा, और

(३) गायों और बछड़ों तथा अन्य दुधारू और वाहक ढोरोंके वधका प्रतिषेध करनेके लिये अग्रसर होगा।

पशुओंके प्रति निर्दयताके निवारणका विषय भी समवर्ती सूचीमें है—

अन्य बातोंके अतिरिक्त यह निदेश न केवल गायों और बछड़ोंके परंतु अन्य दुधारू और वाहक पशुओंके वधके प्रतिषेधके पक्षमें है।

इतना ही नहीं। अब हमें संविधानकी सातवीं अनुसूचीमें विषयोंके वितरणको भी देखना है। राज्योंसे सम्बन्धित दूसरी सूचीकी संख्या १५में—'नस्लका परिरक्षण, संरक्षण और उन्नति तथा पशुओंके रोगोंका निवारण, शालिहोत्री प्रशिक्षण और व्यवसाय'का उल्लेख है। यह उल्लेख विषय अनुसूचीमें ४८ के उपर्युक्त (१) (२) में चर्चित विषयोंको समा लेता है और वधके प्रतिषेधवाले भागको छोड़ देता है। 'संरक्षण' शब्दका अर्थ यहाँ 'वध'का प्रतिषेध नहीं लगाया जा सकता; क्योंकि इसे परिरक्षणके साथ ही पढ़ा जाना चाहिये, जिसमें संरक्षण भी सम्मिलित है। निदेशक तत्त्व जहाँ 'परिरक्षण' का निदेश देता है वहाँ उसमें वधके प्रतिषेधका अलगसे उल्लेख किया गया है। इसका महत्त्व यह है कि वधके प्रतिषेधके लिये अलगसे प्रबन्ध न होनेके कारण, वंश (न कि किसी एक पशु) के परिरक्षण और संरक्षण मात्रके लिये यदि आवश्यक हो तो राज्य कसाइयोंकी वृत्तिके मूल अधिकारपर आघात किये बिना वधका परिषेध कर सकता है। राज्यकी सूचीमें वधके परिषेधका उल्लेख नहीं है।

एक दूसरा पक्ष भी है। परिरक्षण और संरक्षण तो राज्यके लिये निश्चित कर्तव्य है, लेकिन वध-प्रतिषेध व्यक्तियोंके लिये निषेधात्मक कर्म है जिसकी अवहेलना करनेवालेको दण्ड मिल सकता है। यह बात और भी स्पष्ट रूपसे समझमें आ जायगी। यदि यह जान लिया जाय कि 'पशुके प्रति निर्दयताके निवारण' का विषय, जो नस्लके परिरक्षण और संरक्षणमें ही सम्मिलित है, समवर्ती सूचीका अङ्ग है न कि राज्यसूचीका। इसलिये यह तथ्य कि गोवध-प्रतिषेध निदेशक तत्त्वमें विशेष रूपसे सम्मिलित होते हुए भी राज्य-सूचीमें नहीं है, विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है। लेकिन समवर्ती सूचीमें भी यह सम्मिलित नहीं किया गया है। इससे यही परिणाम निकलता है कि यह केन्द्रीय विषय है। अनुच्छेद २४८ (१) में लिखा है।

''संसद्को ऐसे किसी विषयके बारेमें, जो 'समवर्ती सूची' अथवा 'राज्यसूची'में प्रगणित नहीं है, विधि बनानेकी अनन्य क्षमता है।''

ऊपरकी बातसे यह भी स्पष्ट है कि कोई भी राज्य किसी भी पशुके वधपर पूर्ण प्रतिषेध क्यों नहीं लगा सकता। वह केवल समवर्ती सूची और राज्यसूचीके अन्तर्गत उद्देश्योंकी पूर्ति मात्रके लिये आवश्यक प्रतिबन्ध लगा सकता है। पूर्ण प्रतिषेध तो केवल संसद्-अधिनियमद्वारा ही लगाया जा सकता है।

कुछ विद्वानोंद्वारा संदेह प्रकट किया गया है कि क्या संसद् गोवधपर पूर्ण प्रतिषेध लगा सकती है ! इस संदेहके कारण हैं—(१) इस विषयपर कुछ राज्योंकी विधियोंपर उच्चतम न्यायालयका निर्णय, (२) संविधानद्वारा संरक्षित मूल अधिकार; क्योंकि अभीतक संसद्द्वारा ऐसी कोई विधि नहीं बनायी गयी है, इसलिये उसपर न्यायालयके निर्णयकी बात केवल अटकल मात्र ही है। यदि केन्द्र और राज्योंके बीच विषयों और शक्तियोंके अन्तरको समझ लिया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि राज्य-विधिपर न्यायालयका निर्णय केन्द्र-विधिपर पूरे-के-पूरे रूपमें नहीं दोहराया जा सकता।

कसाइयोंकी वृत्ति निरंकुश अधिकार नहीं है

अब मूल अधिकारों (fundamental rights) का प्रश्न उठता है। यह सच है कि जब कभी भी किसी मूल अधिकार और निदेशक तत्त्वमें असंगति होगी, तो मूल अधिकार ही प्रबल माना जायगा। इसलिये कुछ व्यक्तियोंको यह भय है कि गोवधपर पूर्ण प्रतिषेध कसाइयोंकी वृत्तिके मूल अधिकारोंका अतिलङ्घन करेगा, इसलिये संसद्-विधि भी

शून्य (प्रवृत्तिहीन) हो जायगी । वास्तवमें ऐसे व्यक्ति यह मान बैठे हैं कि 'कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने'का अधिकार निरंकुश अधिकार है । किंतु ऐसी बात नहीं है । अनुच्छेद १९ (खण्ड ६) द्वारा यह अधिकार निर्बन्धित है, जिसमें उल्लिखित है कि—

'उक्त अधिकारके प्रयोगपर साधारण जनताके हितोंमें युक्तियुक्त निर्बन्धन जहाँतक कोई वर्तमान विधि लगाती हो, वहाँतक उसके प्रवर्तनपर प्रभाव, अथवा वैसे निर्बन्धन लगानेवाली कोई विधि बनानेमें राज्यके लिये रुकावट न डालेगी ।'

इसलिये हमारे समक्ष केवल दो प्रश्न हैं—(१) क्या गोवधपर पूर्ण प्रतिषेध साधारण जनताके हितमें होगा, और (२) क्या इस कसाई-वृत्तिके मूल अधिकारपर निर्बन्ध लगाना युक्तिसंगत होगा ? दोनों प्रश्नोंका उत्तर है—'हाँ' ।

स्वयं संविधान जब गोवधपर प्रतिषेध लगाना चाहता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि यह साधारण जनताके हितमें नहीं है । और किसी राज्यद्वारा एक निदेशक तत्त्वको कार्यान्वित करनेके लिये निर्बन्ध लगाना युक्तिविरुद्ध नहीं कहा जा सकता । कुछ अधिनियमोंको, विशेषकर भूमिसुधार-सम्बन्धी—जो कुछ मूल अधिकारोंपर निर्बन्ध लगानेवाले प्रतीत होते थे—इन आधारोंपर मान्यता मिल चुकी है ।

उक्त विश्लेषणसे स्पष्ट हो जाता है कि (१) संविधानमें विद्यमान उपबन्ध संसद्को (न कि राज्य-विधानमण्डलोंको) गायों, बछड़ों और अन्य दुधारू और वाहक ढोरों या इनमेंसे किसीके भी वधपर प्रतिषेध लगानेकी क्षमता देते हैं, और (२) इस कार्यके लिये संविधानमें संशोधन करनेकी आवश्यकता नहीं है । फिर भी यदि कोई संशय शेष रह जाता हो, तो संविधानमें ही उसे दूर करनेका उपाय भी है । अनुच्छेद २४३ (१) के अन्तर्गत राष्ट्रपति इन तथ्यों और अन्य सम्बन्धित मामलोंको उच्चतम न्यायालयकी सम्मति प्राप्त करनेके लिये भेज सकते हैं और उसकी सम्मतिके अनुसार संसद् विधि बना सकती है या संविधानमें संशोधन कर सकती है । केरल शिक्षा-विधेयकके सम्बन्धमें भी यही नियम अपनाया गया था जब कि केरलके राज्यपालने उसपर अपनी स्वीकृति प्रदान करनेसे पहले उसे राष्ट्रपतिके विचारार्थ भेजा था ।

हिंदी और गायके विषयमें कांग्रेसकी नीयतमें खराबी—

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि अपने सभी संसाधनों और विधि-विशेषज्ञोंके होनेपर भी क्या केन्द्रीय शासन इन संवैधानिक उपबन्धोंसे अनभिज्ञ है ? मेरा विश्वास है कि वह अनभिज्ञ नहीं है, लेकिन वह गोवधपर पूर्ण प्रतिषेध लगाना नहीं चाहती । अपने-अपने क्षेत्रोंमें राज्य गोवधपर आंशिक प्रतिषेध लगानेके लिये, जैसा कि मैंने ऊपर समझाया है, विधि बना सकते हैं । मेरा अनुमान है कि इसी पृष्ठभूमिके आधारपर शासनके प्रवक्ता कहते हैं कि गोवधपर प्रतिषेध राज्यका विषय है । मौलिक संविधानके प्रारूपमें गाय आदिके वधपर प्रतिषेध लगानेके लिये कोई उपबन्ध नहीं था और जब यह कहा गया कि यह होना चाहिये तो शासनकी ओरसे उत्तर मिला कि 'गाय, बछड़ों आदिके परिरक्षण, संरक्षण और उनकी नस्लकी उन्नति'के अन्तर्गत यह भी किया जा सकता है । लेकिन क्योंकि श्रीपुरुषोत्तमदास टण्डन तथा कुछ अन्य व्यक्ति इस उत्तरसे संतुष्ट नहीं हुए, इसलिये 'वधपर प्रतिषेध' शब्द जोड़ दिये गये । इन शब्दोंको जोड़े बिना वर्तमान संविधानके लागू होनेसे पहले, भारत सरकार अधिनियम १९३५ के अन्तर्गत यह पहलेसे ही राज्यका विषय था । प्रारम्भमें सरकारका यह क्या रवैया था—यह इससे स्पष्ट हो जाता है और उस रवैयेमें अब भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है ।

संघकी राज्यभाषा हिंदीके भाग्यके साथ इस विषयकी समतुलना भी समझनेवाली बात है । ऐसा प्रतीत होता है कि हिंदी और गोरक्षा—दोनोंके लिये विशेष संवैधानिक उपबन्धोंको खटाईमें डाले रखनेके लिये नियमित रूपसे सम्मिलित चेष्टाएँ परदेकी आड़में होती रहती हैं ।

संकटकालीन उपबन्ध

उपर्युक्त परिस्थिति साधारण रूपसे शान्तिकालके लिये है । आजकी राष्ट्रीय संकटकालीन स्थितिमें राज्य-सूचीके किसी भी विषयपर संसद्को विधि बनानेकी क्षमता है और जब संसद्का अधिवेशन न हो रहा हो तो अनुच्छेद २५० और १२३के अन्तर्गत राष्ट्रपति अध्यादेश घोषित कर सकते हैं । इसके अतिरिक्त जबतक संकटकालीन स्थिति

है अनुच्छेद १९के अन्तर्गत मूल अधिकार (जिनमें वृत्तिका अधिकार भी सम्मिलित है) स्वतः स्थगित हो जाते हैं और अन्य सभी मूल अधिकार या उनमेंसे कोई भी अनुच्छेद ३५८ और ३५९ के अन्तर्गत राष्ट्रपतिके आदेशसे स्थगित हो सकते हैं। कुछ व्यक्तियोंने यह सुझाव दिया है कि यदि राज्य-सभा विशेष बहुमतसे यह संकल्प पारित कर दे कि किसी राज्यसूचीके विषयपर संसद्द्वारा विधि बनाना राष्ट्रीय हितमें होगा तो संसद् उस विषयपर विधि बना सकती है। लेकिन ऐसी कोई विधि केवल एक वर्षके लिये वैध होगी जिसके बाद राज्यसभाको पुनः उस संकल्पको पारित करना होगा (अनुच्छेद २४९के अन्तर्गत)। यह स्पष्ट है कि विशेष उपबन्धोंसे सदाके लिये समस्या नहीं सुलझ सकती। ये तो केवल राष्ट्रीय संकटकालीन स्थितिमें या फिर विशेष परिस्थितियोंका सामना करनेके लिये ही काममें लाये जा सकते हैं, जिनकी समाप्तिपर सामान्य उपबन्ध फिर लागू हो जायँगे।

दक्षिण भारतकी तीर्थयात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसादजी श्रीवास्तव)

[गताङ्क पृष्ठ ७४९ से आगे]

त्रिचनापल्ली श्रीरंगम्‌से चार मीलकी दूरी कावेरीके तटपर बसा है। इसका प्राचीन संस्कृत नाम त्रिशिरःपुरम् है। कहते हैं कि रावणके शिवभक्त भाई त्रिशिराने इसे बसाया था। यही त्रिशिरःपुरम् जैन तीर्थंकरोंके आनेपर तिरुसिनःपल्ली और फिर त्रिचनापल्ली कहलाने लगा। इस नगरके मध्यमें २५० फुट ऊँची एक चट्टान दर्शनीय है, जिसे कैलासका एक प्रस्तर खण्ड माना जाता है। शिखरपर गणेशजीका एक छोटा-सा मन्दिर है, जहाँतक पहुँचनेके लिये सीढ़ियाँ बनी हैं।

श्रीरंगम्‌का महत्त्व अनेक ऐतिहासिक तथा धार्मिक ग्रन्थोंमें अङ्कित है। अनेक आचार्योंने यहाँ अपनी कृतियोंका सृजन कर इस नगरीकी गौरव-गरिमाको बढ़ानेमें सहयोग प्रदान किया है। वल्लभसम्प्रदायके आचार्य श्रीवल्लभाचार्य-का जीवन इसी नगरसे सम्बद्ध है।

श्रीरंगम्‌की धार्मिक महत्ता एक पौराणिक आख्यानपर आधारित है। कहते हैं कि एक बार श्रीरंगनाथजी चोल देश एवं चोल राजाओंके आराध्यदेव बनकर कावेरीके मध्य-में विराजित हो गये। कावेरीके तटपर एक नगर बस गया, जिसे श्रीरंगम् कहने लगे। एक बार कावेरी नदीमें बहुत बड़ी बाढ़ आयी और श्रीरंगम्‌का समस्त क्षेत्र बालूके ढेरसे दब गया। उसी समय चोल राज्यका एक नरेश शिकार खेलने जंगल गया। थककर जब वह एक सघन वृक्षकी छायामें आराम करने लगा तो वृक्षपर बैठे एक तोतेसे उसे ज्ञात हुआ कि श्रीरंगक्षेत्र नीचे बालूसे दबा है। राजाने प्रयत्न कर मन्दिरका उद्धार किया। यही नरेश 'किलिकण्ड चोलन' के नामसे विख्यात हुए। आगे चलकर राजा महेन्द्र चोलने भी श्रीरंगजीको अपना आराध्यदेव माना और उक्त स्थानपर अनेक भग्नावशेषोंकी मरम्मत करायी।

इस सम्बन्धमें एक और जनश्रुति प्रचलित है। धर्मवर्माके वंशज नन्द चोलने भी श्रीरंगजीकी भक्ति की। वे निःसंतान थे। एक दिन उन्हें कमलिनीसे एक अत्यन्त सुन्दर कन्या मिली। उन्होंने उसका पुत्रीवत् पालन-पोषण किया। उसका नाम कमलवल्ली रक्खा गया। एक दिन जब वह अपनी वाटिकामें फूल चुन रही थी तो उसकी दृष्टि एक अश्वारोही राजकुमारपर पड़ी। कहते हैं कि भगवान् श्रीरंगजी स्वयं तरुण राजकुमारका वेष धरकर आये थे। कमलवल्लीने मुग्ध होकर मन-ही-मन उनका पतिके रूपमें वरण कर लिया। तदनन्तर वह उसी विरहाग्निमें तपने लगी। राजाको उसके मनकी बात ज्ञात हो गयी और उसका विवाह उसी तरुण युवकसे कर दिया गया। विवाहके बाद जब कमलवल्ली अपने पतिके साथ मन्दिरमें प्रविष्ट हुई तो दोनों ही भगवत्-ज्योतिमें अन्तर्निहित हो गये। राजाने वहाँ एक बड़े मन्दिरका निर्माण कराया और उसमें अनेक मण्डप, प्राचीरें, गोपुरम् और पुष्पवाटिकाएँ आदि बनवा दीं। उसके बाद प्रतिवर्ष कमलवल्लीका विवाहोत्सव मनाया जाने लगा। यह उत्सव आजकल भी फाल्गुनके महीनेमें सम्पन्न होता है।

इसके बाद भी अनेक नरेश अपने अतुल ऐश्वर्यमें

श्रीरंगम् मन्दिरका परिवर्द्धन एवं शोभावृद्धि करते रहे; किंतु मुगलकालमें इस मन्दिरको पर्याप्त क्षति उठानी पड़ी। भगवान् श्रीरंगकी मूर्ति मुसल्मान शासकोंद्वारा दिल्ली पहुँचा दी गयी। तदनन्तर वैष्णव आचार्योंके अथक परिश्रमसे मन्दिरमें पुनः भगवान्‌की मूर्ति स्थापित की गयी।

यह भी कहा जाता है कि दिल्लीमें मुसल्मान शासककी पुत्री श्रीरंगजीपर मुग्ध हो गयी। वह श्रीरंगजीसे मिलकर एक हो गयी। आज भी उस मुसल्मान स्त्रीका एक मन्दिर है, जिसमें श्रीरंगजीके समान ही पूजा हुआ करती है।

आगे चलकर विजयनगर साम्राज्यके नायक शासकोंने भी मन्दिरकी समृद्धिमें पर्याप्त रुचि ली। बहुमूल्य रत्नोंके आभरणोंसे भगवान्‌को अलंकृत किया। विजयरंग चोक्कनाथ नायकने कई मण्डप बनवाये। आजकल मन्दिरमें स्वर्ण और रजतकी जो पूजाके पात्र, सामग्री आदि पाये जाते हैं वह सब विजयनगरके शासकोंकी देन है।

श्रीरंगकी पौराणिक तथा ऐतिहासिक महत्तापर विचार कर लेनेके बाद इस नगर और मन्दिरकी स्थितिका परिचय भी आवश्यक है। कावेरी नदीकी दो धाराओंके मध्य बसा श्रीरंगम् नगर लगभग १८ मील लम्बा तथा चार मील चौड़ा है। कावेरीकी उत्तरी धारा 'कोलरून' तथा दक्षिणी धारा कावेरी कहलाती है। श्रीरंगम् मन्दिरसे लगभग १० मील ऊपर दोनों धाराएँ पृथक् होती हैं और मन्दिरसे लगभग १२ मील आगे जाकर दोनों धाराएँ एक हो जाती हैं। इन दोनों धाराओंके मध्यमें अवस्थित श्रीरंगम् नगरकी जनसंख्या लगभग सत्तर हजार है। श्रीरंगम् मन्दिरका विस्तार तीन मीलतक है। नगरका सारा प्रदेश मन्दिरके घेरेके भीतर आ जाता है। इतना विशाल मन्दिर भारतमें शायद ही कोई हो।

मन्दिर सात प्राचीरोंमें समाया है। जिसमें छोटे-बड़े कुल मिलाकर २१ गोपुर हैं। इनमें वेल्ले गोपुर (श्वेत गोपुर) सबसे बड़ा लगभग १७० फुट ऊँचा है। मन्दिरके सातों प्राचीर भू-लोक, भुवर्लोक आदि सप्तलोकोंके परिचायक माने जाते हैं। आधुनिक खोजके अनुसार यह मन्दिर लगभग पाँच हजार वर्ष पुराना है।

इस मन्दिरकी पहली, दूसरी और तीसरी परिक्रमामें पण्डों और ब्राह्मणोंके घर हैं। आचार्यगणोंके महल तथा मठ भी हैं। चौथे घेरेमें सहस्र-स्रोत-मण्डप, श्रीरामानुजाचार्यजीका मन्दिर, भगवान् सुदर्शनका मन्दिर और देवी रंगनायकी (लक्ष्मीजी) का मन्दिर उल्लेखनीय है। पाँचवें घेरेमें दक्षिणी गोपुरके सामने गरुड़मण्डप है, जिसमें गरुडजीकी एक विशाल भव्य मूर्ति है। इसी घरके ईशानकोणमें चन्द्र-पुष्करिणीका गोलाकार सरोवर है जिसके तटपर अनन्त पीठ, प्राचीनतम पुन्नाग वृक्ष, श्रीरामचन्द्रजी एवं वैकुण्ठनाथजीका मन्दिर है। छठे घेरेके भीतरी भागमें भगवान्‌के सामने स्वर्णमण्डित ध्वज-स्तम्भ है तथा अन्यत्र चारों ओर अनेक मण्डप हैं।

सातवें घेरेमें भगवान् श्रीरंगजीका मन्दिर है जिसका द्वार दक्षिणाभिमुखी है। मन्दिरका विमान स्वर्ण-मण्डित है जो ओं (ॐ) कारकी आकृतिमें है। चार वेदोंके परिचायक विमानमें चार कलश हैं। विमानमें भगवान् श्रीवासुदेवजीकी भव्य मूर्ति है।

गायत्री महामण्डपके मध्य शेषशय्यापर शयन किये श्याम वर्णकी विशाल दक्षिणाभिमुखी द्विभुजमूर्तिके माध्यमसे श्रीरंगजीके दर्शन होते हैं। मूर्तिके मस्तकपर अपने फणोंके छत्रसे शेषनागजी शोभायमान हो रहे हैं। बहुमूल्य रत्नाभरणोंसे विभूषित यह देवोपम मूर्ति अपनी भव्यतासे सहज ही दर्शकोंको एकाग्र कर देती है। निकट ही उत्सवमूर्ति, श्रीदेवी और भूदेवी समेत नम्पेरुमाल स्थित हैं।

श्रीरंग-मन्दिरकी इन परिक्रमाओं, मण्डपों और गोपुरोंका निर्माण समय-समयपर विभिन्न राजाओंके द्वारा सम्पन्न हुआ है, इनमें कुलशेखरन, आर्यभटाल, परकालन, विक्रमचोल, श्रीसुन्दर पाँडियन, विक्रमन आदि चोल राजाओंके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मन्दिरके निर्माणकार्यके अतिरिक्त वाहन, बर्तन, जिनमें स्वर्ण और चाँदीके पात्र तथा आभूषण आदि शामिल हैं, आदिकी भेंटद्वारा उक्त राजा लोग मन्दिरकी समय-समयपर समृद्धि करते रहे हैं।

इस प्रकार सात विस्तीर्ण परकोटों, इक्कीस द्वारों और चौबीस गोपुरोंसे युक्त श्रीरंगनाथजीका यह मन्दिर चार स्क्वायर वर्गमीलके क्षेत्रमें फैला हुआ है। मन्दिर चौखुटा है तथा प्रथम तीन परिक्रमाओंमें बस्ती है। इन तीन परिक्रमाओंमें लगभग दस हजार आदमी रहते हैं। इन्हीं परिक्रमाओंमें बाजार है, जिसमें हर प्रकारकी सामग्री मिलती है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण मन्दिर है जम्बुकेश्वर महादेवका। इसकी परिक्रमामें श्रीपार्वतीजीका मन्दिर है। इसके पाँच परकोटे हैं, सोलह गोपुर हैं तथा दो परिक्रमाओंमें बस्ती हैं, जिनमें लगभग पाँच हजार आदमी निवास करते हैं।

श्रीरंगम् श्रीरामानुजाचार्यके श्रीवैष्णव सम्प्रदायका भारतवर्षका सबसे प्रमुख मन्दिर है। श्रीवैष्णव सम्प्रदायके भारतमें जो अन्य प्रमुख मन्दिर हैं, दृष्टान्तके लिये वृन्दावनका श्रीरंगजीका मन्दिर आदि वे सब इसी मन्दिरके अनुकरण हैं। श्रीरंगनाथजीकी मूर्ति कितनी पुरानी है, इस सम्बन्धमें तो कुछ कहना कठिन है; किंतु श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके उत्तरार्द्ध के ७९वें अध्यायके १४ वें श्लोकमें जहाँ बलरामकी तीर्थयात्राका वर्णन है, वहाँ बलरामके श्रीरंगम् आने और इस मूर्तिके दर्शन करनेका उल्लेख हुआ है—

कामकोष्णीं पुरीं काञ्चीं कावेरीं च सरिद्वराम्।
श्रीरङ्गाख्यं महापुण्यं यत्र संनिहितो हरिः॥

उस समय श्रीरङ्गनाथजीके मन्दिरका क्या रूप था। यह आज कहना कठिन है।

श्रीरंगनाथके वर्तमान मन्दिरका निर्माण श्रीतिरुमंगै आलवारने कराया। दक्षिण भारतमें आलवार वैष्णवोंका एक बहुत पुराना सम्प्रदाय है। आलवारोंके कथनानुसार इस सम्प्रदायके संत द्वापरयुगसे होते आये हैं। इनमें तिरुमंगै आलवार एक प्रधान संत हुए।

तिरुमंगै आलवारका जन्म ईसापूर्व आठवीं शताब्दीमें हुआ था। वे परम भक्त थे। बचपनसे ही तीर्थयात्राओंपर जाना और देवी-देवताओंके दर्शन करना उन्हें बहुत प्रिय था। वे एक प्रतिभाशाली व्यक्ति और महान् कवि थे। उनकी यात्राओंके दौरानमें उनके गौरवशाली व्यक्तित्वसे प्रभावित होकर ४ सिद्ध एवं असाधारण गुणोंसे सम्पन्न व्यक्तियोंने उनकी शिष्यता ग्रहण कर ली और उनके साथ दूर-दूरतक यात्राएँ करने लगे। पहले शिष्यका नाम 'तोला वलाक्कन' था। इस नामका अर्थ है 'अजेय वक्ता' और उसका यह नाम इसलिये पड़ा था कि उसे कोई शास्त्रार्थमें नहीं हरा सकता था। दूसरे शिष्यका नाम 'तालुधवन' था—जिसका अर्थ है 'द्वार खोलनेवाला'। वह बिना किसी चाबीकी सहायतासे अपनी एक साँससे ही कोई भी ताला खोल सकता था। तीसरे शिष्यका नाम 'निललै मिथिप्पन' था, जिसका अर्थ है 'छायाको पकड़नेवाला'। वह जिस किसीकी परछाँईको अपने पैरसे छू लेता था, उसकी चेतना चली जाती थी। चौथे शिष्यका नाम 'नीर्मल नडाप्पन' था, जिसका अर्थ है 'जलपर चलनेवाला'। वह पानीपर उसी प्रकार चल लेता था, जिस प्रकार जमीनपर।

अपने चार शिष्योंसहित अनेक तीर्थोंके दर्शन करनेके बाद तिरुमंगै रंगनाथजीके मन्दिरपर पहुँचा, जो कावेरीके मध्य एक छोटेसे टापूपर स्थित है। इस समय यह मन्दिर बहुत छोटा था और चमगादड़ोंका आश्रयस्थल बना हुआ था। वह ध्वस्त अवस्थामें था और चारों ओर वनसे घिरा था। दिन ढलनेसे पूर्व एक बार पुजारी वहाँ आता था और प्रतिमापर कुछ पुष्प तथा थोड़ा-सा जल चढ़ाकर लकड़बग्घों तथा गीदड़ोंके भयसे भाग जाता था। श्रीरंगनाथकी यह दुर्दशा देखकर तिरुमंगैको यहाँ एक उपयुक्त भवन निर्माण करानेकी तीव्र इच्छा जाग्रत् हुई। यह इच्छा शीघ्र ही उत्कट अभिलाषामें परिणत हो गयी। वह स्वयं धनहीन था और नहीं जानता था कि इसके लिये आवश्यक धनराशि कहाँसे प्राप्त हो। अपने चारों शिष्योंसे परामर्शके बाद उसने देशके विभिन्न भागोंमें रहनेवाले धनिकोंसे भीख माँगनेका निश्चय किया। जब भी उसे किसी धनी व्यक्तिका नाम ज्ञात होता, वह तत्काल उसके पास पहुँच जाता, अपना उद्देश्य स्पष्ट करता और इसके लिये धन माँगता। किंतु इन धनिकोंमेंसे एकने उसे फूटी कौड़ी भी नहीं दी और उल्टे उसे चोर बताकर अपनी नास्तिकता व्यक्त की।

तिरुमंगै परम भक्त था। इस दुर्व्यवहारपर वह जरा भी उद्विग्न नहीं हुआ। किंतु जंगलमें भगवान्‌को इस प्रकार पूजारहित देखकर और मन्दिरको लकड़बग्घों तथा गीदड़ोंसे घिरा पाकर उसे बहुत क्षोभ और दुःख होता था। जिस प्रकार कोमल मिट्टीसे बना बर्तन अग्निके स्पर्शसे सख्त हो जाता है, उसी प्रकार उसका सुकोमल हृदय रोषसे भरकर तड़ित (बादलोंकी बिजली) के समान मचल उठा। वह अन्तमें अपने चारों शिष्योंके समक्ष फूट पड़ा और कहा—'मेरे बच्चो! क्या तुमने भगवान्‌के प्रति इन धनिकोंकी भक्ति नहीं देख ली। ये सदा नास्तिक और पाखण्डी ही बने रहेंगे। तब हमारा क्या कर्तव्य है? क्या हम इन पिशाचोंके पैर पड़कर श्रीरंगनाथजीको इस दुर्दशामें रक्खें या हम

जगत्स्रष्टा भगवान्का अभूतपूर्व भव्यताका मन्दिर बनाकर इन दुर्जनोंको लज्जित करें ।'—शिष्योंने उत्तर दिया 'हमारा कर्तव्य भगवान्की सेवा है, इन दुष्टोंकी खुशामद करना नहीं।' गुरुने कहा—'तब तैयार हो जाओ और आजसे देखो कि इन लालची लोगोंका सारा धन मन्दिरके निर्माणपर व्यय हो। ये धनी लोग स्वभावमें बड़े निर्मम होते हैं और गरीबोंका खून चूसते रहते हैं, जो कठोर परिश्रमके बाद भी भूखे रह जाते हैं। तब आओ, हम इन धनियोंको लूटें और इनकी सम्पत्ति मन्दिरके निर्माण और गरीबोंकी सेवापर व्यय करें।' शिष्य अपने गुरुके आदेशका पालन करनेके लिये तत्काल तैयार हो गये।

तोला बलाक्कनने कहा—'परम आदरणीय! आजतक कोई मुझे बहसमें नहीं हरा सका। जब मैं किसी धनी व्यक्ति और उसके कर्मचारियोंको वाद-विवादमें उलझा दूँ और वे शेष सब बातें भूल जायँ तो आप अपने लोगोंके साथ उसका सारा धन लेकर भाग सकते हैं।

तालुधवननें कहा—'परम पूज्य! केवल अपनी एक साँससे ही मैं कोई भी द्वार खोल सकता हूँ, चाहे वह कितनी भी मजबूतीसे बंद क्यों न किया गया हो। धनियोंकी तिजोरियाँ मैं आसानीसे खोल सकता हूँ।'

नीललै मिथिप्पनने कहा—'परम माननीय! जिस किसीकी परछाईंको मैं अपने पैरोंसे छू लेता हूँ, वह तत्काल अपनी चेतना खो बैठता है। अतः आजसे धनी राहगीरोंका धन आप आसानीसे ले सकते हैं।'

नीर्मल नडाप्पनने कहा—'परमश्रेष्ठ गुरु! खाइयोंसे घिरे शाही किलोंमें घुसना मेरे लिये बहुत सरल है; क्योंकि मैं पानीपर आसानीसे चल सकता हूँ। अतः आजसे राजाओंके सब खजाने आपके हैं।'

इन असाधारण गुणोंसे युक्त अपने शिष्योंकी सहायतासे तिरुमंगै शीघ्र ही एक बड़े दस्यु-दलका नेता बन गया और अपरिमित धन द्वीपमें एक गुप्त स्थानपर जमा किया जाने लगा।

तिरुमंगैने भारी राशियाँ व्यय करके देशके विभिन्न भागोंसे शिल्पकारों (भवन निर्माण करनेवालों) को बुलवाया और एक विशेष समारोहमें मन्दिरकी आधारशिला रक्खी गयी।

इस पवित्र स्थलपर पहली दीवार और उसके ऊपर एक ऊँचे गुम्बदका निर्माण-कार्य पहले दो वर्षमें पूर्ण हो गया। हजारों शिल्पकारोंने दो वर्षतक दिन-रात काम करके आन्तरिक भागका निर्माण पूर्ण किया। तब बाह्य भागपर कार्य शुरू हुआ। ४ वर्षतक दिन और रात परिश्रमके बाद पहले भागका निर्माण पूर्ण हुआ। इस प्रकार १ लाख शिल्पकारोंने दूसरा भाग ६ वर्षमें, तीसरा ८ वर्षमें, चौथा १० वर्षमें, पाँचवाँ १२ वर्षमें और छठा भाग १८ वर्षमें बनाकर पूर्ण किया। सारे मन्दिरका निर्माण पूर्ण होनेमें कुल ६० वर्ष लग गये। अबतक तिरुमंगै अपने जीवनके ८०वें वर्षमें प्रवेश कर चुका था और उसके चारों शिष्योंकी आयुमें भी एक-एक दो-दो वर्षका ही अन्तर था।

जब आन्तरिक कमरोंका निर्माण पूर्ण हो गया तो राजा लोग स्वेच्छासे धन भेजने लगे और अपने शिल्पकारोंकी सेवाएँ अर्पित करने लगे। उन्हें विश्वास हो गया कि तिरुमंगै सच्चा भक्त है। इसके साथ ही वह १००० से अधिक डाकुओंके दलका नेता भी था। कोई भी राजा या धनी उसके आतङ्कसे अछूता न था, इससे पूर्व कि तिरुमंगै उनका सर्वस्व लूटकर ले जाय, वे स्वेच्छासे ही धन एवं अन्य प्रकारकी सहायता भेजना अधिक अच्छा समझते थे। तिरुमंगै अपने शिल्पकारोंको नियमित रूपसे पारिश्रमिक देकर उन्हें संतुष्ट रखता था। अपनी प्रसिद्धि तथा शक्तिके कारण वह अपने जमानेका सबसे बड़ा शासक बन गया और राजा उसके अधीन एवं आश्रितके समान थे। इसपर भी तिरुमंगैकी आदतें और व्यवहार अत्यन्त सरल थे। दिन ढलनेपर वह अपना भोजन भिक्षामें मिले अनाजसे स्वयं बनाता था। जैसा संयम और इच्छाओंपर नियन्त्रण तिरुमंगैको था, उतना बहुत कम लोगोंको होता है। उसकी भगवद्भक्ति इतनी प्रबल थी कि कभी भी अश्रु उसकी आँखोंसे झरने लग जाते। उसके क्षेत्रमें रहनेवाला कोई भी व्यक्ति निर्धनतासे पीड़ित नहीं था। केवल धनी व्यक्ति ही उससे आतङ्कित रहते थे।

सात दीवारोंके इस अति भव्य मन्दिरका निर्माण अब पूर्ण हो चुका था। तिरुमंगैने अपने शिल्पकारोंको उदारतापूर्वक पुरस्कार दिया। यहाँतक कि उसके पास एक पैसा भी नहीं बचा। इसी बीच लगभग १००० लुटेरे, जिन्होंने डकैतीमें उसका साथ दिया था, उससे धनकी माँग करने

लगे। वह बहुत देरतक सोचता रहा किंतु उनकी माँग पूर्ण करनेका उसे कोई भी उपाय नहीं सूझा। सहसा उसने नीर्मल नडाप्पनको एक ओर बुलाया और उसके कानमें कुछ कहा। नडाप्पन कावेरीके उत्तरी तटपर एक विशाल नाव ले आया। इसका प्रयोग मन्दिरके लिये बड़े-बड़े पत्थर लानेमें होता था। नडाप्पन इस नावमें प्रवेश कर गया और इसमें दो घंटेतक रहा। लौटकर उसने अपने गुरुको कुछ बताया। इसी बीच लुटेरोंने तिरुमंगैको दिवालिया समझकर उसे मार डालनेका षड्यन्त्र रच डाला था। इसी समय नडाप्पन नावमें प्रविष्ट हुआ और उन लुटेरोंको सम्बोधित करके ऊँचे स्वरसे कहने लगा—'प्यारे भाइयो! यहाँ नजदीक ही कावेरीके उत्तरी तटपर हमारे मालिकका एक बड़ा खजाना है। आओ, हम सब वहाँ चलें और उस खजानेका सारा धन आपसमें बाँट लें। नाव तैयार है। मैं तुम्हें वहाँ ले जाऊँगा और तुम्हें वह स्थल दिखाऊँगा जहाँ खजाना छिपा है। तुम जैसे चाहोगे, वैसे इसे बाँट लिया जायगा। जो कुछ तुम हमें देना चाहोगे, हम ले लेंगे। हम इस देशमें ६० वर्षतक लूटमार करते रहे। अब लोगोंके पास कुछ नहीं बचा है। आओ, हम बचा-खुचा खजाना आपसमें बाँटकर अपने शेष दिन आरामसे गुजारें।' सब लोग इस प्रस्तावसे सहमत होकर और अपने नेताको मारनेका विचार छोड़कर नडाप्पनके पीछे हो गये।

सब लोग नावपर सवार हो गये। यह वर्षाऋतु थी। कावेरीकी गहरी धारा, जो अब एक मीलतक फैल गयी थी, तीव्र गति और भयानक आवाजके साथ बह रही थी। यह शामका समय था किंतु आकाशमें काले बादलोंके कारण मध्यरात्रि-सी लग रही थी। जहाज इस समय नदीके बीचोंबीच चल रहा था। अपने तीनों शिष्यों-सहित तिरुमंगै नदीके दक्षिणी तटपर खड़ा हुआ जहाजकी ओर देख रहा था। अचानक एक भीषण गर्जनपूर्ण ध्वनि हुई और कावेरीके धरातलसे हृदयविदारक आवाज आयी। कुछ ही क्षणोंमें सब शान्त हो गया। नाव अब दिखायी नहीं दे रही थी। कुछ ही समय बाद एक व्यक्ति पानीके ऊपर धीरे-धीरे चलता हुआ आया और इस परमभक्त और भूतपूर्व दस्यु-नेताके चरणोंपर झुक गया। यह व्यक्ति कोई अन्य नहीं, वरं चौथा शिष्य नीर्मल नडाप्पन ही था। तिरुमंगैने एक गहरी साँस भरी और कहा—'उठो वत्स! श्रीरंगनाथने निश्चयपूर्वक अपने बच्चोंको अपनी गोदमें ले लिया है। तुम उसकी चिन्ता मत करो। इस पृथ्वीको छोड़कर वे सब वैकुण्ठ चले गये हैं। मुझे बताओ, क्या लुटेरोंका जीवन बितानेसे यह अच्छा नहीं है। आओ, हम अपना शेष जीवन श्रीरंगनाथकी सेवामें बितायें। जिस उद्देश्यसे हमने डकैतीका पेशा अपनाया था, वह अब पूर्ण हो गया है। अब भगवान्‌की सेवाके सिवा हमारा अन्य कोई कार्य नहीं है।'

इस प्रकार तिरुमंगै और उसके ४ प्रिय शिष्योंने अपना जीवन पूर्ण कर विष्णुपद प्राप्त किया।

कावेरीकी उत्तरी शाखा, जहाँ हजार लुटेरोंकी मृत्यु हुई थी, अब भी 'कौल्लिडम'के नामसे पुकारा जाता है, जिसका अर्थ है 'हत्यास्थल'।

यह भी कहा जाता है कि एक बार एक राजाके महल-पर धावा बोलनेके बाद तिरुमंगै अंदर एक मन्दिरमें घुसा। इस मन्दिरमें श्रीमन्नारायणकी मूर्त्ति प्रतिष्ठित थी। इस मूर्त्तिपर बहुमूल्य हीरे-जवाहरातसे युक्त कई आभूषण थे। तिरुमंगैने ये सब आभूषण उतार लिये किंतु एक अंगूठी वह नहीं निकाल पाया। यह अंगूठी उँगलीपर इतनी मजबूतीसे सटी हुई थी कि वह काफी जोर लगाकर भी इसे नहीं निकाल पाया। अन्तमें उसने इसे निकालनेके लिये दाँतोंकी सहायता ली। जैसे ही उसके दाँत भगवान्‌की उँगलीसे छुए, तिरुमंगैमें तत्काल दैवी ज्ञान उत्पन्न हो गया। भगवान्‌के प्रेममें पागल होकर उसने भगव-त्प्रशस्तिमें एक हजार श्लोक गाये। आज भी ये श्लोक 'तिरुमोली' अर्थात् पवित्र वाक्यके नामसे पुकारे जाते हैं।

इसके बाद आलवार संतोंमें ही ईसाकी दसवीं शताब्दीमें एक श्रीयमुनाचार्य नामक महान् संत हुए! (क्रमशः)

कामके पत्र

(१)

हम जो चाहते हैं, पहले हमें वही देना चाहिये

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका पत्र मिल गया था। उसके पश्चात् दूसरा पत्र भी मिला, पर मैं पत्र नहीं लिख सका, क्षमा कीजियेगा। आपके लंबे पत्रका थोड़ेमें ही उत्तर लिख रहा हूँ। यह सृष्टि त्रिगुणात्मक है। जहाँ सत्त्व है, वहाँ तम भी किसी अंशमें रहता है। तमोगुण बढ़ जानेपर मनुष्य प्रमाद कर बैठता है। वस्तुतः अपना भविष्य बिगाड़ना कोई नहीं चाहता, पर तमोगुणके आवेशमें भविष्यपर विचार करनेकी शक्ति निष्क्रिय हो जाती है। अतएव मनुष्य अपना ही भविष्य अपने हाथों नष्ट कर देनेवाला कार्य करने लगता है। ऐसा मनुष्य क्रोधका पात्र नहीं, क्षमाका—दयाका पात्र है। एक बात सदा याद रखनी चाहिये कि हमारा बुरा हमारे बुरे प्रारब्धके बिना कोई कर ही नहीं सकता, चाहे वह कितना ही प्रयत्न करे। जहाँ भी अपना अनिष्ट होता है अपने ही कर्मके फलरूपमें होता है। वह दूसरा व्यक्ति तो मूर्खतावश निमित्त बनकर अपना बुरा करता है। अतएव आपके साथ जिस भाईका व्यवहार अनुचित हुआ अथवा जिसके द्वारा आप अपनी हानि हुई मानते हैं, उस भाईने तो यथार्थमें आपकी हानि करने जाकर अपनी ही हानि की है। अतएव उससे बदला लेनेकी भावना जरा भी मनमें न रखकर भगवान्‌से यह प्रार्थना कीजिये कि भगवान् उसकी बुद्धिको तमोगुणके आच्छादनसे मुक्त करके शुद्ध कर दें।

यह भी स्मरण रखनेकी बात है जो दूसरेकी बुराई करनेकी बात सोचता है या दूसरेकी बुराई करनेमें निमित्त बनता है, वह दूसरेकी बुराई तो अगर उसके प्रारब्धमें नहीं है तो कर ही नहीं सकता है, अपनी बुराई अवश्य कर बैठता है। इसलिये भी, बदलेमें बुराई करनेकी बात सोचना अपनी ही बुराईको निमन्त्रण देकर बुलाना है।

हम जो चाहते हैं, पहले हमें वही देना चाहिये, वैसे ही, जैसे गेहूँ चाहनेवालेको गेहूँका बीज बोना चाहिये। हम जो देंगे—जो बोयेंगे वही अनन्तगुण होकर हमें वापिस मिल जायगा। इसलिये हमें सदा सबका हित सोचना और करना चाहिये। सबको सुख पहुँचाना चाहिये, सबका सम्मान और आदर करना चाहिये, सबकी सेवा-सहायता करनी चाहिये; क्योंकि हम सभीसे यही सब चाहते हैं।

फिर असली बात तो यह है कि जितने भी प्राणी हैं सभीमें भगवान् परिपूर्ण है, प्रत्येक शरीर भगवान्‌का मन्दिर है। हम किससे वैर-विरोध करें, किसको शत्रु मानें। हमारे तो सभी आराध्य हैं।

> उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
> निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध॥

शेष भगवत्कृपा।

(२)

जगत्‌को भगवत्-रूप देखनेका प्रयत्न कीजिये

आपका कृपापत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि न तो सबकी प्रकृति एक-सी है, न रुचि और न बुद्धि ही। लोगोंकी कार्यपद्धति भी भिन्न-भिन्न होती है। अतएव सब लोग एक-सा ही काम एक ही प्रणालीसे करें, यह सम्भव नहीं है। वस्तुतः कर्ममें कोई ऊँचा-नीचापन है भी नहीं। ब्राह्मण यज्ञ करता है, किसान खेती करता है। दोनों ही अपने-अपने स्थानमें महत्त्व रखते हैं। जैसे नाटकके पात्र राजासे लेकर

भंगीतक अपना-अपना सफल अभिनय करते हैं। पर वे करते हैं—अहंता, आसक्ति, ममता, कामनासे रहित होकर केवल नाटकके स्वामीकी प्रसन्नताके लिये अपने-अपने स्वाँगके अनुसार। इसी प्रकार इस जगन्नाटकमें हम सभी पात्र हैं, सबको अपने-अपने जिम्मेका अभिनय करना है भलीभाँति, सुचारुरूपसे। हमें चाहिये कि हम अपनी प्रकृति, रुचि तथा स्वाँगके अनुसार आसक्ति, ममता, कर्माग्रह, कामना आदि न रखते हुए प्राप्त कर्मको कर्तव्यबुद्धिसे करते रहें—उत्साहके साथ, शान्तिपूर्वक, हर्ष-शोकरहित होकर सम्यक् प्रकारसे केवल भगवदर्थ—

'तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।'
(गीता ३। ९)

न तो कर्म पूर्ण होनेकी चिन्ता रखनी चाहिये और न उसके फलकी कामना। कर्म करनेमें प्रमाद नहीं करना चाहिये। भगवान् जैसी बुद्धि दें, उसके अनुसार किसीमें भी राग-द्वेष न रखते हुए कर्म करना चाहिये।

यह निश्चय रखना चाहिये कि भगवान् सबमें हैं—सर्वत्र व्यापक हैं, भगवान्में ही सब कुछ है। भगवान् ही सब कुछ हैं। एक ही सत्यको इन तीन रूपोंसे समझना चाहिये। जब भगवान् ही सब कुछ हैं, तब 'जगत्' नामक दूसरी वस्तु कोई रहती ही नहीं; जब भगवान् ही सर्वत्र हैं तो जगत् नामक दूसरी वस्तु रहती किस जगह है? और जब भगवान् ही सब कुछ हैं, तब जगत् भी भगवान्में ही समाया है—इन सारी बातोंपर गहराईसे विचार करनेपर माळूम होगा कि जगत्-रूपमें भगवान् ही अभिव्यक्त हैं, प्रकट हैं या वर्तमान हैं। एक भगवान् ही विभिन्न रूपोंमें विभिन्न प्रकारसे लीलायमान हैं।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं जो मुझको (भगवान्को) सर्वत्र देखता है और सबको मुझ भगवान्में देखता है, उससे मैं (भगवान्) कभी अलग नहीं होता और वह भी मुझ (भगवान्) से कभी अलग नहीं होता।

यों समझ लेनेपर जितने भी व्यवहार होते हैं, सब भगवान्में ही भगवान्से ही होते हैं। भक्तकी ललित भाषामें सब उन लीलामयकी अभिन्नस्वरूपा अनन्त विचित्र रसमयी लीला ही होती है।

यही परम सत्य है। इस सत्यका अनुभव ही परम ज्ञान है और इस अनुभवका प्रयत्न ही ज्ञानकी या भक्तिकी ऊँची साधना है। एक भगवान्के सिवा और कुछ है ही नहीं।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

भगवान्ने कहा—'अर्जुन! मेरे अतिरिक्त अन्य किञ्चित् भी कुछ भी है ही नहीं। जैसे सूतमें सूतकी मणियाँ गुँथी होती हैं, ऐसे ही यह सब कुछ मुझमें मुझसे ही गुँथा है।'

हमारे कर्म साधन तभी बनते हैं, जब वे आसक्ति-कामना, ममता-अहंता-शून्य होकर केवल कर्तव्यरूप अथवा भगवत्पूजारूप होते हैं। ऐसे कर्मोंकी कसौटी यह है कि उनके प्रेरक राग-द्वेष, काम-लोभ आदि दोष नहीं होते। वे कर्म समाहित तथा शान्तचित्तसे होते हैं। उनसे किसी भी प्राणीका कभी अहित नहीं होता और उनकी पूर्णता-अपूर्णता तथा सिद्धि-असिद्धिमें—अनुकूल या प्रतिकूल फलमें समता रहती है।

यह आपके प्रश्नोंके संक्षिप्त उत्तर हैं, पर यह तत्त्व केवल लिखने-पढ़नेसे ठीक समझमें नहीं आता। बुद्धि सत्त्व-प्रधान होनेपर कुछ समझ तो लेती है, पर अनुभव नहीं होता। अतएव भगवान्का भजन करते

हुए संसारसे चित्तको उपरत करना चाहिये । विभिन्न रूपमें भासनेवाले जगत्को एक भगवान्में ही—भगवत्स्वरूप ही देखनेका सदा प्रयत्न करना चाहिये । शेष भगवत्कृपा ।

(३)

शान्ति-सुख कहाँ है ?

प्रिय महोदय ! सादर प्रणाम । आपका कृपापत्र मिल गया था । उत्तरमें निवेदन है कि शान्ति कहीं बाहरसे नहीं आती । या तो कामना-स्पृहा, अहंता-ममता, आसक्ति-अभिमानके नष्ट होनेपर शान्ति मिलती है, या भगवान्के प्रत्येक विधानकी निश्चित मङ्गलमयतापर विश्वास होनेपर । दोनों ही कार्य आपके अपने अधीन हैं । बाहरका कोई व्यक्ति आपको कुछ समझा-बता सकता है; पर कामना आदिका त्याग या भगवान्के विधानकी मङ्गलमयतापर विश्वास तो आपको ही करना पड़ेगा । भगवान्ने कहा है—**'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति'** भगवान् समस्त प्राणियोंके सुहृद् हैं—वे जिसके लिये जो कुछ विधान करते हैं, कल्याणकारी ही करते हैं; क्योंकि सुहृद् हैं, यह जान लेनेपर—इसपर विश्वास हो जानेपर शान्ति मिल जाती है । हम भोगोंपर विश्वास करते हैं, कहीं-कहीं अनाचार-दुराचार—पापकी मिथ्या मङ्गल-मयता मान लेते हैं; पर भगवान्पर विश्वास नहीं करते ! इसीलिये भोगोंकी चाह करते रहते हैं तथा मिलनेपर अधिक मिलनेकी कामनासे, न मिलनेपर कामनापर आघात लगनेसे तथा मिली हुई वस्तुके चले जानेपर उसके शोकसे सदा जलते रहते हैं । शान्ति कभी मिलती ही नहीं और अशान्त मनुष्यको सुख नहीं होता—**'अशान्तस्य कुतः सुखम् ।'** अतएव शान्तिका सीधा उपाय है—भगवान्की अहैतुकी कृपापर, उनके सहज सौहार्दपर विश्वास करके जीवनमें उनके अनुकूल आचरण करना ।

जहाँतक बने, संसारमें अनासक्त होकर रहनेका अभ्यास करना चाहिये । आसक्ति-ममता करनी हो तो भगवान्में करें । संसारमें कुछ भी न नित्य है, न सुखरूप है, न अपनी वस्तु है । सब अनित्य है, सब दुःखरूप है, सभी कुछ प्रकृतिका है । इनमें ममता करना, इन्हें सदा रहनेवाली वस्तु मानकर इनसे सुखकी आशा करना मूर्खता है । इस मूर्खताका त्याग करनेपर ही वस्तुतः सच्चे सुखके दर्शन प्रारम्भ होंगे । शेष भगवत्कृपा ।

(४)

बुरा करनेवालोंका भी भला करो

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण । पत्र मिला । मेरा तो यही निवेदन है कि आप ऐसी ही चेष्टा करें जिसमें उन भाइयोंमें परस्पर प्रेम हो जाय । एक दूसरेके सामने एक दूसरेकी वही बातें कहें जो खाई पाटनेवाली या घाव भरनेवाली हों—खाई चौड़ी करने तथा घाव हरा करनेवाली कोई बात किसी भाईके मुँहसे कभी निकली हो तो उसे किसीसे न कहें । जहाँतक हो अमृत ही ग्रहण करना तथा अमृतका ही वितरण करना चाहिये ।

आपके प्रति जो भाई कुछ नाराज हैं, उनके साथ आपको विशेष प्रेमका व्यवहार करना चाहिये । उन्हें दिखाकर नहीं—चुपचाप, जिसका उनके जीवनपर गहरा असर हो । उनमें जो गुण हों, उनकी सच्ची तारीफ करनी चाहिये । इससे भी प्रेम बढ़ता है । साधुस्वभाव तो बुरा करनेवालेके साथ भी भला करना ही सिखाता है ।

व्रज-जनताकी पुकार !

[सम्मान्या श्रीइन्दिराजीके नाम 'पशुरक्षिणी सभा'के मन्त्री महोदयका एक पत्र 'आर्योदय' (१५-१-६७के अङ्क) में छपा है । उसका अन्तिम अंश नीचे दिया जा रहा है । —सम्पादक]

इस देशमें भुखमरी, कंगाली और महँगाईका मूल कारण है—पशुहिंसा तथा पशुओंकी कमी । इस देशका मुख्य धन था पशुधन, जिसे सदियोंसे लूटा-खसोटा तथा नष्ट किया गया और कम होते-होते केवल इतना रह गया कि किसी प्रकार किफायतसे देशका काम चल रहा था । किंतु द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़नेपर अमेरिकन तथा British फौजोंके लिये बढ़िया-से-बढ़िया नस्लकी गायें, बैल, बछड़े काट डाले गये । चमड़ेके लिये भैंसें काट डाले गये । Calf leather के लिये बछड़े-बछिया नष्ट किये गये और सन् १९४५ तकके कालमें इतना अधिक पशुधन नष्ट किया गया कि खेतीके लिये बढ़िया बैल तथा भैंसे तथा दूधके लिये गाय एवं भैंस तथा बकरियाँ समाप्त हो गयीं । भेड़ोंके काटे जानेसे ऊन तथा खेतोंकी खाद समाप्त हो गयीं । जब पशु देशमें अत्यन्त कम हो गये तो खेतोंको प्राकृतिक खाद नहीं मिली, जिससे उनकी उर्वरा-शक्ति एकदम कम हो गयी । बनावटी खाद लादी गयी, पर उससे जो कुफल निकले, वे किसीसे छिपे नहीं । खेतोंकी उर्वरा-शक्ति उससे नष्ट हो रही है और वह खाद महँगी भी पड़ती है । जो अनाज उस बनावटी खादसे तैयार होता है, उसके खानेमें कोई स्वाद नहीं । अतः मिठास तथा स्वाभाविक सुगन्धि उपजकी नष्ट हो जाती है ।

अब संक्षेपमें यह लिखना है कि कितने प्रकारसे पशुधन नष्ट किया गया और अब उसका संरक्षण किस प्रकार हो, जिससे देशका सच्चा हित हो ।

पशुधन नष्ट होनेके प्रकार

१—स्वतन्त्रता-प्राप्तिके पश्चात् कसाइयों तथा पशुओंके रोजगारियोंका एक बहुत बड़ा दल इस कार्यमें लग गया कि भारतवर्षसे बढ़िया-से-बढ़िया नस्लके पशु अधिक-से-अधिक संख्यामें पाकिस्तानको रुपये लेकर खदेड़ दिये गये तथा खदेड़े जा रहे हैं । आगराकी पक्की सराय तथा शहरके कितने ही व्यक्ति यह कार्य बड़ी तत्परतासे अब भी कर रहे हैं ।

२—प्रत्येक बड़े शहरमें सरकारी बूचड़खानोंमें नियमित रूपसे पशु बड़ी भारी संख्यामें नित्य कट रहे हैं । उनका वर्ष-भरका हिसाब आप लगवा लें ।

३—विदेशोंको जूतेकी सप्लाई और मांस तथा पशुओंके शरीरसे प्राप्त अन्य सामान कितनी भारी संख्यामें जा रहे हैं, यह आपका निर्यात (Export) विभाग यदि सही आँकड़े देनेकी कृपा करे तो पता चल जायगा और विचारशील देशभक्तकी रूह काँप जायगी ।

४—देशमें मांसाहार इतना बढ़ गया है कि कोई बड़ा होटल तथा छोटा होटल बिना मांस एवं अण्डेके चल नहीं सकता । सुरक्षा मिनिस्टरीके प्रतिनिधि केन्द्रीय सुरक्षा अधिकारी श्रीरघुरमैया हजरतपुर कट्टीखानेके विषयमें जब पधारे दि० १७ नवम्बरको तो उन्होंने बताया था कि अकेले दिल्लीके निवासियोंके लिये १० हजार पशु रोजाना काटे जाते हैं । अब आप इसीसे अंदाजा लगायें कि सारे भारतवर्षमें कितने पशु नित्य कट रहे हैं जब कि पालनेवालोंकी संख्या नित्य घट रही है । पटवारियों (लेखपालों) से जो पशु-गणनाके आँकड़े माँगे गये थे, उन्होंने कोई परिश्रम नहीं किया, न वे गाँव-गाँव पशुओंकी गणना करने गये, घर बैठे-बैठे प्रत्येक काश्तकारके नाम मनचीते पशु लिखकर करोड़ोंकी संख्याका योग लगाकर भेज दिया । जब कि दशा यह है कि गाँवोंमें प्रातःकालके-से नक्षत्र—पशु जहाँ-तहाँ दिखायी देते हैं । जो बकरी ५) की कभी थी, आज २००) उसका मूल्य है । अच्छे कहे जानेवाले बैलोंका जोड़ा २०००) से कममें नहीं । एक-एक भैंस ८००) की आ रही है; पर अभी कसाईकी छुरी खूब चल रही है, मशीनोंसे पशु कट रहे हैं ।

५—मशीनोंके अधिक चल जानेसे पशुओंके पालनेकी अनावश्यकता समझकर उदासीनता ।

६—जमीदारियाँ एवं रियासतें चली जानेसे बड़े तथा धनाढ्य पुरुषोंद्वारा पशु-पालन समाप्त करना ।

७—जंगल कट जानेसे तथा चरागाह जुत जानेसे पशुओंके पालनेमें असुविधा ।

८—खाद न मिलनेसे खेतोंमें चारा कम पैदा होनेसे चारे तथा गन्नेकी महँगाई । इससे गरीब व्यक्ति पशु नहीं पाल सकता ।

९—वेजीटेबलके लिये मूँगफलीकी अधिक काश्त होनेसे सब प्रकारके मोटे अनाज, मक्का, बाजरा, ज्वार तथा दालें कम होने लगीं, जिससे चारे, गन्ने तथा दालोंकी कमीसे पशु-पालनमें असुविधा ।

१०—पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृतिका व्यामोह बढ़ जानेसे शिक्षित कहे जानेवाले लोगोंकी पशुओंके प्रति उदासीनता आदि अनेक कारणोंसे आज पशुधन नष्ट हो गया है ।

उपर्युक्त कारणोंसे इस कृषिप्रधान देशका पशुधन नष्ट हुआ, उपज कम होनेसे खाद्य-संकट सामने आया, अन्नकी भीख विदेशमें माँगनी पड़ी। अब भी दूध देनेवाली गायें कटकर विदेश जा रही हैं; डिब्बोंमें मक्खन निकले दूधका पाउडर गरीब बच्चोंमें बाँटकर, जो विदेशोंसे आता है, उन बच्चोंका वजन किया जाता है कि एक महीनेमें कितना वजन बढ़ गया। इस दशाको प्राप्त हो जानेपर भी अभी पशुहिंसकोंकी आँखें बंद हैं। नये-नये बूचड़खाने कभी रोजगारके नामपर, कभी जनतामें मांस-सप्लाईके लिये, तो कभी फौज-मांस-सप्लाईके लिये खोले जा रहे हैं, जिनमें करोड़ों रुपये खर्च किये जाते हैं। इस समय भी आगरासे लगभग ३१ मीलकी दूरीपर टूंडला एतमादपुरके समीप एक विशाल बूचड़खाना निर्मित हो रहा है, जिसके लिये सुना गया है कि कई करोड़ रुपयोंकी मशीनरी डेनमार्कसे मँगायी जा रही है। इस विशाल बूचड़खानेमें ५,००० उपयोगी पशु नित्य काटनेकी योजना है। जबसे यह बूचड़खाना बनना आरम्भ हुआ है, पवित्र व्रजभूमिकी भोली जनता अत्यन्त दुखी तथा बेचैन है। आज भी पशुओंके अभावमें एक-एक बूँद तथा अन्नकी कमीसे बच्चे, युवा, बूढ़े भूखों मर रहे हैं, स्वास्थ्य निरन्तर गिर रहा है। जब यह बूचड़खाना चालू हो जायगा, जिसे काँग्रेसी सरकार चुनावके पश्चात् चालू करना चाहती है तो क्या उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश तथा राजस्थानका कोई पशु इससे बच सकेगा ? पशुओंको खरीद करके जनताकी गाढ़ी कमाईके पैसेसे ही जनताका धन, पशुधन नष्ट—अतिशीघ्र नष्ट कर दिया जायगा। आज एक बकरी गरीब आदमी नहीं पाल सकता; क्योंकि एक बकरी २००) में आती है। विचार कीजिये, जब ५,००० भेड़-बकरियाँ दूध, खाद तथा ऊन देनेवाली इस बूचड़खानेमें नित्य मारी जायँगी तो देशकी क्या दशा होगी। जहाँ हजरतपुरमें यह बूचड़खाना बन रहा है, वहाँकी निरामिष भोली कृषक जनताने यह जमीन किसी समय उत्तरप्रदेश सरकारको इस हेतु दी थी कि वर्षा न होनेके कारण जो रेगिस्तान आगरा, मथुराकी ओर बढ़ता चला आ रहा है, उसमें ऊँचे-ऊँचे विशाल वृक्ष लगाकर नरसरी-द्वारा हरा-भरा बनाकर वर्षा अधिक लायी जाय और बढ़ते हुए रेगिस्तानको किसी प्रकार रोककर कृषि-अन्न-उत्पादन एवं पशुपालन करके जनताको सुखी तथा समृद्धिशाली बनाया जाय। उत्तरप्रदेश सरकारने कई लाख रुपया व्यय करके नरसरी लगायी, वृक्षारोपण हुआ, किंतु उस सबको नष्ट-भ्रष्ट करके देशके सुरक्षा-मन्त्रालयद्वारा वहाँ यह परम विनाशकारी, भगवान् श्रीकृष्णजीकी व्रजभूमि—उनकी लीलाधाममें, पशु-संहारकारी बूचड़खाना रात-दिन बड़ी तेजीसे बन रहा है। वहाँ आगराकी तथा सारे व्रजमण्डलकी जनता भारी विरोध कर रही है, पर सुनते हैं कि कोई उसके बननेमें कोई विघ्न न डाल सके, इसलिये फौज तथा पुलिसका पहरा लगा दिया गया है, पर बनना बंद नहीं, न गरीब जनताकी कोई सुनवायी है। जनता अपने नेताओंसे पूछना चाहती है कि क्या प्रजातन्त्रका यही नमूना है ! इसी सरकार अपने दुराग्रहपर डटी हुई है !

इसलिये इन्दिराजी ! आपसे व्रजमण्डल तथा समस्त भारतकी जनता आग्रह करती है कि यदि आप तथा आपकी सरकार सच्चे रूपमें इस देशको सुखी, समृद्धिशाली, स्वावलम्बी तथा आत्मनिर्भर देखना तथा करना चाहते हैं तो विनाशकारी पशुवधको तत्काल बंद करें। हजरतपुर बूचड़खानेकी योजनाको फल तथा सब्जी-संरक्षण-कारखाना (fruit and vegetable preservation factory) के रूपमें बदल दें और देशभरके सब बूचड़खाने बंद करके, स्थान-स्थानपर गो-सदन बनायें, जिनमें सभी प्रकारके पशु पाले जायँ। सीमाओंपर फौजको कड़े आदेश दिये जायँ कि कोई पशु पाकिस्तानकी सीमाके पार नहीं जायगा। तीन मीलका क्षेत्र पहलेसे ही वर्जित हो। जो इस आदेशको नहीं मानेगा, उसे कठोर दण्ड दिया जायगा। सारे देशमें गो-हत्या तथा गो-वंशविनाशको रोकनेके लिये राष्ट्रपतिका अविलम्ब अध्यादेश लागू हो, फिर विशेष बैठक सदनकी बुलाकर न केवल गायके अपितु गो-वंशके साथ-साथ पशुमात्रके वधपर प्रतिबन्ध लगे, कसाईको किसान बना दिया जाय, तभी यह देश पनपेगा। भारतवर्षमें जीवहिंसाको कोई स्थान नहीं। आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक चतुर्दिक् उन्नतिका शोर है; पर पालतू तथा पशु-पक्षियोंकी रक्षाका अन्य कोई उपाय नहीं।

मन्त्री, पशुरक्षिणी सभा, आगरा

गोहत्या-निरोध

गोरक्षा-आन्दोलन चल रहा है, यद्यपि उसमें अभी सफलता नहीं मिली है। भगवान्‌की कृपासे इस बार समस्त देशमें जो महान् जागृति हुई, गोमाताकी रक्षाके लिये देश-भरके नर-नारियोंमें त्याग-तपस्याकी जो महान् तीव्र धारा बह चली, वह सर्वथा आदर्श तथा आदरणीय है। इस विषयमें 'कल्याण'में प्रकाशित लेखों तथा अपीलोंको पढ़कर हमारे 'कल्याण'के सम्मान्य पाठक-पाठिकाओंने बहुत बड़ा कार्य किया और वे अब भी कर रहे हैं। हजारों-लाखों नर-नारियोंने भगवान्‌की आराधना-प्रार्थना की, अपने-अपने विश्वास तथा रुचिके अनुसार देवाराधन किया। वैदिक यज्ञ, वेदपारायण, रुद्राभिषेक, गायत्री-पुरश्चरण, दुर्गा-अनुष्ठान, वाल्मीकि-रामायण-पारायण, मानस-पारायण, विष्णु-आराधन, शिवा-राधन, अखण्ड नामकीर्तन, करोड़ों अरबोंकी संख्यामें भगवन्नाम-जप, सामूहिक यज्ञ-यागादि, विभिन्न धर्मानुसार विविध अनुष्ठान आदि हुए तथा अब भी हो रहे हैं। लाखों-लाखों हस्ताक्षर गोहत्या-बंदीके लिये कराये गये। हजारों सभाएँ हुईं। संभ्रान्त घरोंकी ऐसी महिलाएँ, जिनका कभी किसी राजनीतिसे सम्बन्ध नहीं रहा, जिन्होंने जेलकी कल्पना भी नहीं की, गोमाताकी रक्षाके लिये प्रसन्नताके साथ जेल गयीं। हजारों साधु-महात्मा—विभिन्न सम्प्रदायोंके वैष्णव, शैव, वैरागी और सद्गृहस्थ जेलोंमें गये तथा अब भी जा रहे हैं। जगह-जगह समितियाँ बनीं। दिल्लीमें दस लाख नर-नारियोंकी अपूर्व ऐतिहासिक शोभायात्रा निकली—यद्यपि उसे बदनाम करनेके लिये जान-बूझकर उपद्रव कराये गये; बहुत-से निर्दोष लोगोंके प्राण गये, कितने ही घायल हुए तथा बहुत-से लोग मुकदमोंमें फँसाये गये। कवियों तथा लेखकोंने गोमाताकी रक्षाके लिये कविता और लेख लिखे, वक्ताओंने भाषण दिये और अपनी-अपनी हैसियतके अनुसार लोगोंने पैसे दिये। हमारे पास इतने अधिक पत्र आये तथा आ रहे हैं कि हम चाहनेपर भी उन सबके उत्तर नहीं लिख सके, इसके लिये हम उन सबसे हाथ जोड़कर क्षमा-प्रार्थना करते हैं।

'कल्याण'की प्रार्थना तथा प्रेरणापर लाखों-लाखों देश-वासियोंने जो विलक्षण कार्य किया है, उसे हम भगवान्‌की कृपा समझते हैं और समझते हैं उन देशवासियोंका हमारे प्रति अनन्त उपकार। इसके लिये हम उन सबके हृदयसे कृतज्ञ हैं। वास्तवमें 'कल्याण'के सारे पाठक-पाठिकागण भगवान्‌की सेवाके लिये ही एक स्वयंनिर्मित 'कल्याण-परिवार' के ही सदस्य हैं; जो इस प्रकार समय-समयपर धर्मसेवाके द्वारा भगवत्सेवाके पवित्र कार्यमें सहर्ष सहयोग देते-दिलाते हैं। यह बड़े ही गौरव तथा संतोषका विषय है।

आन्दोलनका क्या हो रहा है तथा क्या हुआ, इस सम्बन्धमें नीचे मैं अपने **सम्मान्य मित्र श्रीव्रजलालजी बियाणीके** महत्त्वपूर्ण विचारोंको उद्धृत कर रहा हूँ। सम्मान्य बियाणीजी पुराने प्रख्यात काँग्रेसी नेता और सच्चे देशसेवक हैं। इनका **'गोरक्षा-आन्दोलनपर एक दृष्टि'** शीर्षक एक विचारपूर्ण निवन्ध हिंदुस्तानमें छपा है। श्रीबियाणीजीका विवेचन बड़ा ही गम्भीर, युक्तियुक्त, सत्य तथा पक्षपातरहित है। उससे सरकारकी मनोवृत्ति तथा आन्दोलनकी वर्तमान परिस्थितिका कुछ पता लग जाता है।

इसमें पूज्यपाद जगद्गुरु अनन्तश्री शंकराचार्यजी तथा पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजीके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा गया है, वह यथार्थ है। मनुष्य बिना मृत्युकालके मरता नहीं और मृत्युकाल आनेपर बचता नहीं। यदि किसीकी मृत्युमें निमित्त महान् गौरवयुक्त हो, धर्मयुक्त हो, भगवदर्थ, धर्मरक्षार्थ किसीके प्राण विसर्जित होते हों तो वह बहुत बड़ा सौभाग्य है तथा आदर्श तो है ही। मेरा परम पूज्य आचार्यजी तथा ब्रह्मचारीजीके जीवनसे मोह है तथा मैं इनके जीवनसे देश तथा धर्मका बड़ा लाभ मानता हूँ, इससे मैं निश्चय ही यह चाहता था कि इनके जीवनकी रक्षा हो। ये जब अनशन-व्रत करनेको प्रस्तुत हुए थे, उस समय भी मेरा मन सर्वथा अनुकूल नहीं था। पर जब व्रत ले लिया गया, तब इनकी जीवन-रक्षाके साथ ही इनके जीवनके व्रतकी रक्षाका प्रश्न जीवनरक्षाके प्रश्नसे भी अधिक महत्त्वकी वस्तु हो गया। इसीसे मैं चाहता था कि इनकी जीवन-रक्षा तो हो, पर वह हो इनके वचनानुसार सरकारके द्वारा सम्पूर्ण गोवंशकी रक्षा होनेपर ही—कम-से-कम सम्पूर्ण गोवंशकी रक्षाके लिये कानून बनाने या सिद्धान्तको मान लेनेका पूर्ण आश्वासन मिलनेपर ही। दुःखकी बात है कि वैसा नहीं हुआ। ये महात्मा हैं, संत-हृदय हैं, शुद्ध मानस हैं, राजनीतिके दावपेच भला क्यों जानने लगे? राजनीतिज्ञोंकी कूटनीति सफल

हो गयी। इन्हें समझा दिया गया कि 'जो कुछ सरकारने लिखा है, उससे अधिक सरकार लिख नहीं सकती, इसमें आंशिक आश्वासन है ही। आपका उद्देश्य सफल हो रहा है' आदि-आदि। और इनके द्वारा—समितिके आदेशसे अनशन-व्रत स्थगित हो गया। इसमें भी मैं किन्हींकी नीयतपर दोषारोपण नहीं करता। उस समय जिनको जैसी बुद्धि उपजी, अच्छी नीयतसे उनके द्वारा वैसा ही कार्य किया गया। पर इससे एक बार देशपर बहुत बुरा असर पड़ा। मेरे पास बहुत पत्र इस आशयके आये हैं। पर हुआ वही, जो होना था। पूज्यपाद जगद्गुरु महाराजका मन अब भी वैसा ही है। ऐसा सुना गया है कि उन्होंने बड़ी कठिनतासे अनशन स्थगित करना स्वीकार किया था और अब भी बड़े उत्साहके साथ वे हर तरहसे गोमाताकी रक्षाके लिये प्रयत्न करनेको प्रस्तुत हैं। अभी बम्बईमें उनके बहुत ही उत्साह तथा आशापूर्ण प्रवचन हुए हैं। सत्याग्रह भी चल ही रहा है। महीनोंसे चल रहे इस सत्याग्रहमें सभीने उत्साहसे भाग लिया है। भारतके विभिन्न सम्प्रदायके साधु सत्याग्रहमें आये और आ रहे हैं। वैष्णव-सम्प्रदायके भक्तगण आ रहे हैं। श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके पूज्य आचार्य तथा श्रीवल्लभ-सम्प्रदायके पूज्य आचार्य महोदयोंने बड़े उत्साहसे सब प्रकारसे योगदान देनेकी इच्छा प्रकट की है और वे बहुत दिनोंसे हजारों-हजारों भक्तोंके साथ प्रस्तुत हैं। सनातनधर्म-प्रतिनिधि-सभाके पूज्य स्वामी श्रीगणेशानन्दजी महाराजके लोग साथ हैं। राष्ट्रीय स्वयं-सेवक-संघ, जनसंघ तथा आर्यसमाजने बड़ी सहायता की है तथा कर रहे हैं, हिंदू-महासभा, जैन-समाज भी साथ हैं। और भी जगह-जगहसे ऐसे समाचार मिले हैं तथा मिल रहे हैं जो बड़े ही उत्साहप्रद हैं। इसलिये जनतामें शिथिलता आनेकी बात सोचना वस्तुतः भूल है। हम लोग अपने मनकी शिथिलता जनतापर लादकर आन्दोलनमें शिथिलता ला दें—यह दूसरी बात है।

फिर, एक प्रश्न यह भी है कि लाखों देशवासियोंने जो त्याग-तपस्या की है, भगवदाराधन और देवाराधन किया है तथा वे अब भी जो कर रहे हैं, क्या वह निष्फल होगा? प्रत्येक कर्मका अदृष्ट फल तो होता ही है। दृष्ट भी होगा। हमें ऐसा विश्वास करना चाहिये कि सम्पूर्ण गोवंशकी हत्या कानूनसे बंद होगी, गोपालन तथा गोरक्षणकी भी समुचित व्यवस्था होगी। और इस विश्वासके साथ-साथ दोनों ही कार्योंके लिये हमें यथाशक्ति यथासाध्य प्रयत्नशील बने रहना चाहिये।

यह सत्य है कि सरकारने न तो गोहत्यापर सम्पूर्ण प्रतिबन्ध लगानेके सिद्धान्तको स्वीकार किया है, न संविधान-में परिवर्तनकी बातको माना है, न किसी प्रकार भी वह कहीं वचनबद्ध ही हुई है; पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि भविष्यकी सरकारका भी यही दुराग्रह रहेगा। भगवान् सबको सुबुद्धि दें। हमें आशा करनी चाहिये कि अगली सरकार सम्पूर्ण गोवंशकी हत्या पूर्णतया बंद करनेके लिये कानून बनायेगी तथा गो-पालन एवं गोरक्षण-गोसंवर्धनकी भी समुचित व्यवस्था होगी।

फिर असल बात तो यह है कि हमें पल-पलमें फलका अनुसंधान न करते हुए प्रतिपल कर्तव्य-पालनके द्वारा भगवत्पूजनमें लगे रहना है। हमें तो फल मिल ही गया यदि हमारे द्वारा सचमुच शुभ स्वकर्म-सम्पादनरूप भगवत्पूजा हो गयी। अतएव अहंकार, ममता, कामना तथा राग-द्वेषसे बचते हुए भगवत्पूजाके भावसे प्राप्तकर्तव्यका पालन करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यही परम फल है। गोरक्षा तो वस्तुतः भगवान् ही करेंगे। हम तो निमित्तमात्र भले ही हों। अब नीचे श्रीवियाणीजीका लेख पढ़िये—

आन्दोलनके विरुद्ध पाँच बातें

"कुछ माह पूर्वसे गोवध-बंदीके आन्दोलनमें तीव्रता और व्यापकता आयी। इस प्रश्नको लेकर व्यापक प्रचार हुआ। हमने गो-रक्षा और गो-वधबंदीके विषयमें अनेक बार अपने विचार लिखे हैं। हमारा मत है कि जबतक मनुष्यके लिये गायका दूध आवश्यक है, तबतक गाय अमर रहेगी। गायकी रक्षा मानवकी अपनी रक्षाके लिये आवश्यक है। अतः उसका नाश वर्तमान कालमें तो असंभव प्रतीत होता है।

इस आन्दोलनके विरुद्ध अनेक बातें कही गयी हैं; पर पाँच बातें मुख्यतः कही गयीं और कही जा सकती हैं—

(१) यह धार्मिक आन्दोलन है,
(२) अंग्रेजी राज्यके समय यह अन्दोलन नहीं हुआ,
(३) चुनावके समय आन्दोलन असामयिक कार्य है,
(४) यह राजनीतिक प्रश्न है और
(५) अनशन अनुपयोगी है।

परन्तु धार्मिक आन्दोलन धार्मिक है और हमारी राज्य-सत्ता धर्मनिरपेक्ष है, इसलिये धार्मिक आन्दोलनोंका हमारे यहाँ स्थान नहीं हो सकता, इस दलीलसे हम सहमत नहीं हैं।

धार्मिक आन्दोलन

हमारी राज्यसत्ता धर्म-निरपेक्ष है, इसका अर्थ यही है कि सब धर्मोंकी समान रूपसे रक्षा की जायगी, सबको समान रूपसे देखा जायगा। किसी एक धर्मको विशेष महत्त्व नहीं दिया जायगा; पर धार्मिक विषयोंको लेकर आन्दोलन नहीं होगा, यह धर्म-निरपेक्ष राज्य-सत्ताका अर्थ नहीं है। यदि राज्यसत्ता किसीके धर्ममें हस्तक्षेप करेगी तो उस धर्मके अनुयायियोंको आन्दोलन करनेका अधिकार है। हिंदुओंको एक समय एक ही पत्नी रखनेका अधिकार है और मुसलमानोंको चार पत्नियाँ। यदि शासनकी ओरसे वह अधिकार छीननेका प्रयास हो तो मुसलमान धर्मके नामपर आन्दोलन करनेके अधिकारी होंगे। हमारे देशमें शवके अन्त्येष्टिकी भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ हैं। शवको जलाया जाता है, गाड़ा जाता है, कूएँमें डाला जाता है। जिन धर्मोंमें शवको गाड़ने या कूएँमें डालनेकी प्रथा है, उनके अनुयायियोंको बाध्य किया जाय कि वे भी अपने शवका दहन करें, कारण यह उत्तम और वैज्ञानिक प्रथा है, तो उनको इसके प्रतिकूल आन्दोलन करनेका अधिकार होगा।

इस प्रकार धार्मिक प्रथाओंके लिये या अधिकारोंके लिये आन्दोलन करना अनुचित नहीं होगा, इसलिये जब हिंदू जनता गायको माताकी दृष्टिसे देखती है, पूज्य समझती है, उसकी हत्या अनुचित मानती है तब उसको भी अधिकार है कि वह इसके लिये आन्दोलन करे।

अंग्रेजोंके समय

कुछ व्यक्तियोंने और हमारी प्रधान मन्त्रीने भी कहा है कि अंग्रेजोंके समय यह आन्दोलन नहीं होता था। हमारे खयालसे अंग्रेजोंके समय भी यह आन्दोलन हुआ है। जबसे भारतमें अपने अधिकारोंकी प्राप्तिकी लहर आयी और हर क्षेत्रमें वह दिखायी दी, तबसे ही गो-रक्षाका आन्दोलन भी आरम्भ हुआ। हमारे खयालसे गो-रक्षाका आंदोलन कांग्रेसकी स्थापनाके समयसे तो है ही, पर इसके पूर्व भी कुछ अंशमें होता था।

अंग्रेजी राज्यमें गो-वध होता था, इससे हिंदू जनता असंतुष्ट थी, यह निर्विवाद है। पर वह राजकीय दृष्टिसे गुलाम हो गयी थी। अतः उसकी शक्ति निर्बल हो गयी थी; तथापि दो बातें तो अवश्य हुई—(१) स्थान-स्थानपर गो-रक्षण-संस्थाएँ खुलीं, जिनके द्वारा यह कोशिश हुई कि कसाइयोंके पास गायें न जायँ। गोरक्षण-संस्थाएँ लूली, लँगड़ी और बेकार गायोंकी रक्षा करें तो कसाइयोंके पास गायें न जायँगी। इस उद्देश्यसे आरम्भमें गोरक्षण-संस्थाएँ खुलीं। उन संस्थाओंसे पूरा कार्य नहीं हुआ और गायका कटना बंद न हुआ तथापि यह हिंदू जनताकी भावनाका द्योतक है, यह तो निःसंदेह है। (२) अनेक स्थानोंपर गौके कारण दंगे हुए, अनेकोंकी जानें गयीं। अतः यह कहना कि अंग्रेजोंके समय यह आंदोलन नहीं था, सही नहीं है।

एक बात और—अंग्रेजोंके समय यह आंदोलन नहीं था, अतः स्वराज्यके बाद भी न हो, यह कहना उचित नहीं है। स्वराज्यके बाद परिस्थितिमें आमूल परिवर्तन हो गया है। जनताके अधिकार व्यापक हो गये हैं। अतः अनेक आंदोलन, जो स्वराज्यके पहले नहीं हुए, वे भी हो रहे हैं। इस परिस्थितिमें यदि आज जनता गोवध-बंदीके लिये आंदोलन करती है तो वह गलत नहीं है। ब्रिटिश शासनका हवाला आजकी परिस्थितिमें योग्य नहीं है।

असामयिक कार्य

इस आंदोलनका व्यापक रूपमें चुनावके समय अवलम्ब किया गया, अतः कुछ लोगोंकी दृष्टिसे वह अनुचित है। हमारे खयालसे यह भी उचित ही है। जिस समय जो आंदोलन करनेसे, उसकी सफलताकी आशा हो, उस समय वह आंदोलन किया जाता है। आंदोलनकी सफलताके लिये उचित समयका खयाल रखना ही पड़ता है। जब अंग्रेज युद्धमें लगे हुए थे, तब हमने 'करो या मरो'का व्यापक आंदोलन शुरू किया था। महात्माजी यद्यपि कहते थे कि अंग्रेजोंकी कठिन स्थितिका लाभ नहीं उठायेंगे, तथापि व्यवहारमें हुआ यही। अंग्रेज भयंकर लड़ाईमें लगे थे और हमने अपना आंदोलन किया।

राजनीतिक दलोंका योग

यह आंदोलन मूलतः यद्यपि गो-रक्षा महाभियान

समितिका है, इसमें साधुओंका प्रभावी योग था, पर उसी समय इस आंदोलनमें जनसंघने भी अपना योग दिया। इसलिये यह आंदोलन राजकीय हो गया है, यह बात अनेक बार कही गयी। यों कहकर यह आंदोलन अनुचित है—यह भावना जनतामें पैदा करनेका प्रयास किया गया।

हमारी मान्यतानुसार देशमें हर राजकीय दलके कुछ सिद्धान्त हैं। उनके अनुसार वे अपना कार्य करते हैं। किसी राजकीय दलकी मान्यता है कि गो-वधपर प्रतिबन्ध होना चाहिये, उस दलके लिये तदनुसार कार्य करनेमें कोई अनुचित बात नहीं है। जिन दलोंकी भावना गो-वध बंदीके अनुकूल नहीं, उनको भी अधिकार है कि वे अपनी मान्यतानुसार कार्य करें। यदि उन दलोंका, जो गो-वध-बंदीके पक्षमें हैं, इस सम्बन्धमें कार्य करना या बात करना उचित नहीं, तो जो दल गो-वध बंदीके प्रतिकूल बात करते हैं, उनको भी उपदेश दिया जाना चाहिये कि वे गो-वध-बंदीके सवालपर चर्चा न करें।

देशमें आजकी परिस्थितिमें हर सवाल राजनैतिक रूप धारण कर लेता है। खाना, पीना, व्यापार आदि सब बातें राजकीय सीमामें आती हैं। गो-वध-बंदीके सम्बन्धमें यदि संविधानमें व्यवस्था है तो उसका राजनैतिक अधिकार निर्माण होना उचित है।

अनशनकी अनुपयोगिता

अनेक लोगोंने यह बात भी कही है कि अनशनके तरीकोंका अवलंबन न्याय नहीं है। राष्ट्रपतिने हालमें ही कहा कि अनशनके जरिये किसी अधिकारको प्राप्त करनेके लिये कार्य करना लोकतन्त्रके हितमें नहीं है। हमारे ध्यानसे यह कहना भी अनुचित है। हमारा अपना वर्तमान राजकीय इतिहास देखें तो दिखायी देगा कि महात्मा गांधीके पश्चात् अनशन राजकीय, सामाजिक और व्यक्तिगत क्षेत्रोंका एक प्रभावी शस्त्र हो गया है। महात्मा गांधीने समय-समयपर उपवासोंका अवलंबन किया और जब अंग्रेजी राज्यने हरिजनों-को हिंदुओंसे अलग करनेका प्रस्ताव किया, तब महात्मा-गांधीने आमरण उपवास किया। उसका परिणाम हुआ कि अंग्रेजी राज्यको अपना निर्णय बदलना पड़ा। महात्मा गाँधीके जीवनका इतिहास उपवासोंसे भरा पड़ा है और हमारी मान्यता है कि जब किसी अन्य मार्गसे महात्माजी उद्देश्य सफल न होता देखते थे तो संकटमें अनशनका सहारा लेते थे। इस परिस्थितिमें आज यह कहना कि अनशनसे कोई बात मनवानेका तरीका उचित नहीं है, समझमें नहीं आता।

महात्मा गाँधीके पश्चात् तो अनशन प्रभावी शस्त्र हो गया है और उसके अवलंबसे कार्य होते हैं—यह बात दिखायी देती है। पं० नेहरूके समय पोट्टी श्रीरामुलुने आन्ध्रनिर्माणके लिये आमरण अनशन किया, अपना जीवन इस कार्यके लिये दे दिया, तब आन्ध्र प्रदेशका निर्माण हुआ। अनशनसे कार्य होते हैं, आन्दोलनसे कार्य होते हैं, हिंसासे कार्य होते हैं, यह भावना देशमें बलवान् होती गयी। जनताकी वृत्ति इन कामोंको करनेकी ओर आकृष्ट हुई और होती जा रही है।

संक्षेपमें इस आन्दोलनके प्रतिकूल जो बातें कही गयी हैं और कही जा सकती हैं, उनका इस प्रकार समाधान किया जा सकता है।

देशकी वर्तमान परिस्थितिमें किसी भी माँगको प्रभावी करनेके लिये अन्य उपायोंके साथ अनशनका भी अवलंबन किया जाता है। अनशनमें शक्ति है; पर उस शक्तिका प्रभाव अनशनकर्ताकी प्रतिष्ठा, उसकी जनसेवा और माँगकी जन-उपयोगिता तथा भावनापर निर्भर है। हर अनशनमें वह शक्ति नहीं होती जो प्रभावी व्यक्तिके अनशनमें होती है। इस आन्दोलनको लेकर अनेकोंने उपवास किये, पर उनका कोई खास परिणाम नहीं हुआ। केवल दो उपवास परिणाम-की दृष्टिसे हुए—प्रभुदत्त ब्रह्मचारीका और पुरीके शंकरा-चार्यका।

पुरीके शंकराचार्यका उपवास अधिक प्रभावी हुआ। कारण, उनकी जनतामें अधिक प्रतिष्ठा है। वे हिंदू-धर्मके एक बड़े व्यक्ति माने जाते हैं। उनके जीवनका कार्य भी कुछ अंशमें प्रभावी था। प्रभुदत्तजीका अनशन भी प्रभाव रखता था।

कुछ दिन पहले श्री एस० के० पाटिलने कहा था कि 'यदि शंकराचार्यकी मृत्यु हो गयी तो वह हिंदू धर्मपर एक बहुत भारी कलंक होगा।' शंकराचार्यकी मृत्यु नहीं हुई, उनका अनशन टूट गया। पर हम श्रीपाटिलकी बातसे

सहमत नहीं हैं। शंकराचार्यकी मृत्यु होती तो वह हिंदू-धर्मपर कलंक नहीं होता, प्रत्युत वर्तमान राज्य-सत्तापर कलंक होता, जिसके कारण शंकराचार्यकी मृत्यु होती। साथ ही मृत्यु होती तो, हिंदू-धर्म कलंकित नहीं होता, वरं होता प्रतिष्ठित, जिसके अनुयायियोंमें अपनी माँगके लिये आत्म-समर्पण करनेकी इतनी विशाल शक्ति है, वह तो धर्मके प्रभावका द्योतक होता, न कि कलंकका। शंकराचार्यका जीवनकार्य भी अमर और प्रभावी हो जाता।

केन्द्र एवं राज्योंका कार्य

हमारे संविधानमें इस प्रश्नको लेकर ४८ वीं धारा है, जिसमें गो-रक्षाकी बातका उल्लेख है, पर इससे भी आगे संविधानमें राज्य और केन्द्रके कार्योंकी सूची है। उसमें राज्यसूचीकी १५ वीं धारामें व्यवस्था है। पशुकी नस्लका परिरक्षण, संरक्षण और उन्नति तथा पशुओंके रोगोंका निवारण होगा। साथ ही राज्य और केन्द्रके कार्योंकी सम्मिलित सूचीमें धारा १७में दोनोंको अधिकार दिया गया है—'पशुओंके प्रति निर्दयताका निवारण करें।'

इस मानेमें गो-वध-बंदीका प्रश्न दोनोंके अधिकारमें है। निश्चय ही गो-वध निर्दयताका प्रश्न है। इसके निवारणके लिये कानून बनाना राज्यके अधिकारमें तो है ही; पर केन्द्रको भी उसके अनुसार कानून बनानेका अधिकार है, यही संविधानका निदर्शन है।

माँग पूरी नहीं हुई

परंतु हमारे खयालसे प्रभुदत्तजी और शंकराचार्यजीका अनशन टूट जानेसे आन्दोलनका अब कोई विशेष परिणाम नहीं होगा। गो-रक्षा और गो-वधके प्रश्नको लेकर सत्याग्रह पहले भी हुए थे, पर वे सब असफल हुए। इस बारका आन्दोलन पहलेकी अपेक्षा बहुत प्रभावी हुआ, सारे देशमें इसके अनुकूल हवा बही; पर अन्तमें उपवासोंका अन्त किया गया। इसका परिणाम अच्छा हो, यह आशा सब करते हैं, पर हमको संदेह है कि गोवध-बंदीकी माँग पूर्णतया स्वीकार होगी।

उपवास छोड़नेके सम्बन्धमें जो चर्चाएँ हुईं, जो आश्वासन दिये गये उनमें कहीं भी गो-वध-बंदीकी माँगको पूर्णतया स्वीकार नहीं किया गया, प्रत्युत सरकारकी ओरसे यह बात कही गयी है कि 'गो-वंशके वधपर सम्पूर्ण प्रतिबन्धके समर्थनमें व्यापक भावनाके प्रति राज्य सरकारोंकी जागरूकता व्यक्त हुई है।' पर साथ ही उसके सम्पूर्ण प्रतिबन्धकी माँगको स्वीकार करनेके लिये सरकार वचनबद्ध नहीं है, इसपर समितिने बल दिया था। केन्द्र-शासनने यह स्वीकार नहीं किया, पर उपवासका त्याग हो गया। यह कह दें तो अनुचित नहीं होगा कि उपवासोंमें जो माँग की गयी थी वह पूरी होनेके पूर्व ही अनशन समाप्त हो गया। दो महान् व्यक्तियोंके जीवनकी रक्षा हो गयी। पर उनकी जो माँग थी वह स्वीकृत नहीं हुई। हमारे ध्यानसे कुछ अंशमें उनके जीवनकी उच्चता कम हुई। यदि हमारी धारणा गलत हुई और उनकी माँग पूरी हुई तो हमें आनन्द ही होगा, पर आशा कम है।

× × ×

देखें, एक ओर शासन है, जो अपनी शक्ति रखता है। इसकी ओर धर्मगुरुओं और धार्मिक भावना रखनेवाली जनताकी शक्ति है। क्या परिणाम होता है, किसकी विजय होती है यह भविष्य बतायेगा।

परिस्थिति देखते श्रीबियाणीजीको माँग पूरी होनेकी आशा कम है, सो इस दृष्टिसे तो वस्तुतः ऐसी ही बात है। पर भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं। उनकी कृपासे सबमें सद्बुद्धि उदय हो जाय तो निश्चय ही भारतवर्षसे गोवंशके वधका पाप सर्वथा दूर हो सकता है, साथ ही गोरक्षाका समुचित प्रबन्ध भी। कानूनके द्वारा सम्पूर्ण गोवंशकी हत्याकी सर्वथा बंदी चाहनेवाले लोग भगवान्पर भरोसा रखते तथा सबका भला चाहते हुए अपने शान्ति एवं अहिंसापूर्ण प्रयत्नोंको सतत चालू रक्खें। न कभी उत्साहमें शिथिलता आने दें, न प्रयत्नमें। सचाईके साथ साधनामें संलग्न रहें। फल तो भगवान्के हाथ है। यह विनीत निवेदन है।

२२। २। ६७ —हनुमानप्रसाद पोद्दार

जनतन्त्र या असुरतन्त्र

मानव-सृष्टिमें प्रधानतया दो प्रकृतियोंके मनुष्य हैं—'दैवी सम्पदायुक्त' और 'आसुरी सम्पदायुक्त।' दैवी-सम्पदा बन्धनसे छुटकारा दिलाती है और आसुरी सम्पदा बन्धनमें डालती है—'दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।' (गीता १६ । ५) दैवी सम्पदायुक्त मानव भगवत्परायण रहकर सद्विचार और सत्कर्म करता है और आसुरी सम्पदायुक्त असद्विचार, असत्कर्ममें ही प्रवृत्त रहता है। दैवी सम्पत्तिवालेका लक्ष्य होता है—भगवत्प्राप्ति या मोक्ष एवं आसुरी सम्पत्तिवालेका लक्ष्य होता है—कामोपभोग। 'कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।'

जिसका लक्ष्य 'मोक्ष या भगवत्प्राप्ति' है, वह दैव-मानव 'त्याग' और 'कर्तव्य'का ध्यान रखकर सब काम करता है और जिसका लक्ष्य 'कामोपभोग' है, वह हर चेष्टामें केवल 'अर्थ' और 'अधिकार'का अनुसंधान करता है। इस प्रकार मानव-जीवन जब केवल 'अर्थ' और 'अधिकार'-परायण हो जाता है, तब क्रमशः उसकी न्यूनाधिकरूपमें अर्थपैशाचिकता और अधिकारोन्मत्तता बढ़ने लगती है। तब वह मानवतासे गिरकर दानव, असुर, राक्षसके रूपमें परिणत होकर काम, लोभ तथा क्रोधको जीवनका संबल मान लेता है। इसीसे आसुरी सम्पदाके तीन नाम हैं—'मोहिनी' (कामग्रस्त पुरुषमें प्रधानरूपमें रहनेवाली), 'आसुरी' (लोभग्रस्तमें प्रधानरूपसे रहनेवाली) और 'राक्षसी' (क्रोधग्रस्तमें प्रधानतासे रहनेवाली)। ये काम, क्रोध और लोभ—तीनों ही नरकके द्वार हैं और आत्माका पतन करनेवाले हैं 'नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः' और इन तीनोंके त्यागकी भगवान्‌ने आज्ञा दी है—

'तस्माद् एतत् त्रयं त्यजेत्।'

पर आसुर-मानव इन तीनोंको ही जीवनमें ग्रहण किये रहता है और 'अर्थ' तथा 'अधिकार'के लिये अपवित्र उग्र कर्मोंमें लगा रहता है। दिन-रात चिन्ता तथा द्वेषकी आगमें जलता रहता है, अभिमानमें चूर, वह अन्याय तथा असत्यका आश्रय लेकर विपक्षी, प्रतिपक्षी या भिन्न मतावलम्बी लोगोंको व्यर्थ ही अपना शत्रु मानकर उनको हानि पहुँचाने, उनका अपमान करने, उन्हें गिराने या मारनेकी चिन्ता तथा चेष्टामें प्रवृत्त रहता है। ऐसा अशान्तचित्त पुरुष मृत्युके अन्तिम समयतक यहाँ दिन-रात चिन्ताग्रस्त रहता है, मरनेके बाद अशुचि नरकोंमें पड़ता है और भावी संततिके लिये बुरा आदर्श छोड़ जाता है। यह दशा आसुर-मानवकी निश्चित होती है।

जितना-जितना ही मनुष्यमें 'त्याग' और 'कर्तव्य'का भाव बढ़ता है, उतना-उतना ही उसका जीवन पवित्र होता है और वह दैव-मानव बनता है। क्रमशः वह भगवत्प्राप्तिकी ओर बढ़ता है एवं उससे केवल उसके निकटस्थ रहनेवाले प्राणियोंका ही नहीं, देशवासियोंका—अखिल विश्वका उसकी अर्जित दैवी शक्ति-सामर्थ्यके अनुसार कल्याण-साधन होता है और इसके विपरीत जितना-जितना ही अर्थ तथा 'अधिकार'की लिप्सा बढ़ती है, उतना-उतना ही जीवन अपवित्र होता है और वह आसुर-मानव बनता जाता है एवं दुःख-यातना, चिन्ता और नरकयन्त्रणाकी ओर बढ़ता है तथा उससे उसके निकटस्थ प्राणियोंका तो अकल्याण होता ही है, वह विश्व-प्राणियोंके अकल्याण और दुःखमें भी न्यूनाधिक रूपसे कारण बनता है।

अभी-अभी देशमें जो आम चुनाव हुआ है, उसमें जो कुछ भी काण्ड हुए, उनसे पता लगता है कि त्याग-प्रधान ऋषियोंका देश 'अर्थ' और 'अधिकार'के लिये अन्धा-सा होकर किधर दौड़ा जा रहा है! कौन कितने जीते, कितने हारे, यह प्रश्न नहीं है। प्रश्न है—'त्याग' तथा 'कर्तव्य'पर कितना ध्यान है, सत्य तथा न्यायपर कितनी दृष्टि है और देश तथा देशवासियोंकी कितनी चिन्ता है और व्यक्तिगत 'अर्थ' तथा 'अधिकार'की प्राप्तिके लिये असत्य-अन्यायका कितना ग्रहण है तथा देशकी कितनी विस्मृति है। प्रथम तो सबको मत देनेके अधिकार तथा बहुमतसे चुनावकी पद्धति ही गलत है; क्योंकि जनसमूहका मत कभी गम्भीर विचारपूर्ण तथा गहरी समझदारीका नहीं हुआ करता। जनसमूहका विचार तो बनाया जाता है और जिधरकी हवा जोरकी चलती है, उधर ही समूह चल पड़ता है। इसीसे जनसमूहके मतका कोई नियत मूल्य नहीं आँका जाता। इसीलिये मनुमहाराजने कहा है—

> एकोऽपि वेदविद् धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
> स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥
> (१२ । ११३)

'वेदका ज्ञाता एक भी ब्राह्मण जिसको धर्म निश्चित कर दे, उसीको श्रेष्ठ धर्म समझना चाहिये, दस सहस्र मूर्खोंके द्वारा कहा हुआ धर्म नहीं है।'

अतएव बहुमतकी पद्धति यथार्थ प्रतिनिधिका चुनाव करनेमें समर्थ नहीं होती। फिर यहाँ तो बहुमत भी किसको समझा जाय और किनको बहुमतसे निर्वाचित प्रतिनिधि माना जाय। मान लीजिये कहीं एक हजार मत हैं—उनमें एक ओर ५०१ मत हैं और विपक्षमें ४९९ हैं, बराबर मत-में सिर्फ एक मतका अन्तर है, तो क्या एक मत अधिक होनेसे वे वास्तवमें एक हजारकी पूर्ण जनताके प्रतिनिधि हैं? आजकल और भी गड़बड़ी है। मान लें एक हजार मत हैं और छः प्रत्याशी हैं। पाँच प्रत्याशी १५०। १५० या कुछ कम-ज्यादा—कुल मिलाकर ७५० मत प्राप्त करते हैं, एकको २५० मत मिल जाते हैं और चूँकि वे पाँचों ही २५०से कम मत प्राप्त करते हैं। इससे २५० वाले चुन लिये जाते हैं। पर वस्तुतः क्या वे बहुमतसे चुने गये हैं। तीन चतुर्थांश मत उनके विरुद्ध हैं, केवल एक चतुर्थांश उनके पक्षमें हैं। इसपर भी वे वहाँकी प्रजाके बहुमतसे चुने हुए प्रतिनिधि माने जाते हैं। यह यथार्थ प्रतिनिधित्व है या प्रतिनिधित्वका उपहास? विचारणीय विषय है। यह तो मतोंकी बात हुई, अब अन्यान्य विषयोंपर विचार कीजिये।

कहा जाता है कि इस बारके चुनावमें सब मिलाकर ६१ करोड़से अधिक रुपये खर्च होंगे। कुछ लोगोंका अनुमान है कि यह रकम भी कम है, इससे कहीं अधिक व्यय होगा। नौ करोड़ रुपये तो शायद सरकारी अनुमान है। प्रत्येक प्रत्याशी अमुक सहस्र संख्यासे अधिक खर्च दिखा नहीं सकता, चाहे वह कितना ही बड़ा हो और ऐसा सुना गया है कि जितना दिखाया जायगा उससे कई गुना अधिक तो सैकड़ों प्रत्याशियोंके खर्च लगेगा और कुछके तो एकसे पचीस-पचास लाखोंतक वरं करोड़ोंतक रुपये खर्च होंगे। एक तरफ सूखा तथा अकालके कारण त्राहि-त्राहि मची हुई है, करोड़ों हम-जैसे ही मानव नर-नारी बच्चे भूखके मारे छटपटा रहे हैं और दूसरी ओर इतना भयानक अपव्यय—सो भी चोरी असत्यके आधारपर।

मान लीजिये—किन्हीं प्रत्याशीको दस-बीस हजार या दस-बीस लाखकी जरूरत है, वे अपनी आवश्यकता-पूर्तिके लिये जाते हैं उनके पास या उन्हें बुलाकर कहते हैं जिनके पास रुपये हैं और चोरीके रुपये हैं जो बिना किसी खातेमें दर्ज किये उन्हें दे सकते हैं। उनसे यह जानते-समझते हुए वे रुपये लेते हैं कि ये रुपये ईमानदारीके नहीं हैं। वे ही पहले सम्भवतः कहीं मिनिस्टर हैं और आगे बननेवाली सरकारमें भी कहीं मिनिस्टर होंगे; पर वे उन व्यापारी महोदयको चोरीसे रुपये कमाते कैसे रोकेंगे? वरं उन्हें सुविधा प्रदान करनेका सौजन्य दिखानेमें भी शायद बाध्य कैसे नहीं होंगे? यों हजारों-लाखों रुपये चुनावके लिये देने-वाले धनी लोग दान तो देते ही नहीं वे तो इन्वेस्ट करते हैं या एक सट्टा खेलते हैं, बहुत अधिक प्राप्त करनेके लिये। इतनी रिस्क तो वे उठाते ही हैं कि कलको ये मिनिस्टर न बने तो शायद हमारे इस इन्वेस्टमेंटका फल तुरंत नहीं मिलेगा। कहीं-कहीं पूरी रकम डूबनेका भय भी रहता ही है!

कुछ प्रत्याशी जिनको धनियोंसे रुपये नहीं मिलते अतः वे ऋण लेकर चुनाव लड़ते हैं। वे भी इसी आशापर कि यदि जीत गये तो बहुत कमा लेंगे। उनके सामने अमुक-अमुकके उदाहरण हैं कि जो पहले अत्यन्त अभावग्रस्त थे, पर विधान-सभा या संसद्के सदस्य चुने जानेके बाद पैसेवाले हो गये। कइयोंके मकान बन गये। जिस सूत्रसे उनके पास पैसे आये, उन्हीं सूत्रोंसे ये भी अर्थप्राप्तिकी आशा रखते हैं। यह सब क्या है? असत्य, चोरी और बेईमानीको सीधा प्रोत्साहन है? या नहीं?

इस बार जगह-जगह हिंसापूर्ण उपद्रव हुए हैं। शायद कोई पार्टी बची हो जिसके सदस्यों या समर्थकोंने चोट न की हो या चोट न खायी हो। पत्थर, ईंट बरसाना साधारण-सी बात हो गयी। प्रधानमन्त्री श्रीइन्दिराजीपर पत्थरोंकी वर्षा हुई, श्रीमधु लिमयेपर घातक प्रहार हुआ और बहुत जगह पत्थर-ईंट फेंके गये, छूरे भोंके गये। लाठियाँ चलीं, गोलियोंकी बौछार हुई, कई जगह घर फूँक दिये गये, पोलिंगके खीमेमें आग लगा दी गयी। गंदे नारे लगाना, गालियाँ बकना तो आम बात थी। तामसिकताका यह ताण्डव नृत्य, जनतन्त्र या लोकतन्त्रके नामपर हुआ। बड़ी ही लज्जाकी—डूब मरनेकी बात है। भारतका पुराना अहिंसावाद तो कभीका भुला दिया गया था। गाँधीजीका ताजा अहिंसावाद भी दफनाया गया—इतनी जल्दी।

अब 'सत्य' पर आइये। भारतीय संस्कृतिके अनुसार तो अपने मुँहसे अपनी सच्ची प्रशंसा करना आत्महत्याके सदृश है तथा दूसरोंकी सच्ची निन्दा करना भी उनकी हत्या करना है। फिर अपने मुँहसे अपनी मिथ्या प्रशंसा और प्रतिपक्षी

व्यक्ति अथवा दलके सारे गुणोंमें दोषारोपण करके उनकी मिथ्या निन्दा करना तो सचमुच सत्यका नाश करनेके साथ ही एक बड़ा अपराध है और आजके हमारे इस जनतन्त्रके चुनावकी तो आधारशिला ही यह है। लिख-लिखकर—गला फाड़-फाड़ कर, छपवा-छपवाकर अपनी सर्वथा मिथ्या प्रशंसाके पुल बाँधना और प्रतिपक्षीकी सर्वथा मिथ्या निन्दाकी मूसलाधार झड़ी लगा देना और कोई कुछ बोले तो मार-पीटके लिये तैयार रहना। किसलिये ?—देशके लिये ? राष्ट्रके लिये, गरीब जनताके लिये ? या अपने लिये ? 'अर्थ' और 'अधिकार' की पिशाचिनी पिपासाको उत्तरोत्तर बढ़ानेके लिये ! इसका उत्तर अपने ही मनमें प्रत्येक प्रत्याशी अपनी आभ्यन्तरिक परिस्थिति देखकर अपने-आप ही दे लें। मेरा विश्वास है कि सभी दलोंमें ऐसे सज्जन महानुभाव हैं—जो सच्चे हैं, जिनके हृदयमें देशभक्तिकी सच्ची लगन है, जो देशका सचमुच कल्याण चाहते हैं और देशकी सेवाकी पवित्र भावनासे ही चुनाव क्षेत्रमें उतरे हैं। पर उनमेंसे भी अधिकांशका चुनावकी पद्धतिके दोषोंसे बचना असम्भव नहीं तो, बहुत कठिन अवश्य है। उस दिन मेरे एक प्रेमी सज्जन, जो स्वयं चुनावसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते, मेरे पास आये हुए थे। मैंने पद्धतिकी एक बात सुनी थी, जो मेरी समझमें गलत थी, मैंने उनसे कहा—'यह नहीं करना चाहिये।' इसपर वे कुछ सकुचाते हुए-से बोले—'काँटेसे ही काँटा निकालना चाहिये।' मैंने उनसे कहा—'भाई ! मैं तो चाहता हूँ कि शूलके बदले भी फूल दिये जायँ।'

मतदानमें भी बहुत प्रकारकी अवाञ्छनीय बातें हुईं। मरे हुए लोगोंके मत दिये गये, एकके बदले दूसरेने मत दिया, स्त्रीके वेषमें पुरुषने तथा पुरुषके वेषमें स्त्रीने मतदान किया। मतदान करनेवालोंको लानेके लिये गुंडे तैनात किये गये। मतदाताओंको रुपये बाँटे गये, अन्यान्य प्रकारसे उन्हें लालच-रिश्वत दी गयी। शराब बाँटी गयी, नाच दिखाये गये। प्रत्येक वोटपर अमुक संख्यामें रुपयेके हिसाबसे गुंडोंके द्वारा नकली मतदाता लाये गये। एक जगह एक लड़की दूसरेके नामपर मतदान करते पकड़ी गयी, बेचारी इतनी लजा गयी कि उसने आत्महत्या कर ली। इसके अतिरिक्त मत प्राप्त करनेके अन्य बहुत प्रकारके जघन्य साधनोंके समाचार मिले हैं। यदि यह सब सत्य है तो कहना ही पड़ेगा कि हमारा घोर पतन हो गया है और हम उत्तरोत्तर और भी पतनके गर्तमें गहरे गिरे जा रहे हैं। यह सब हो रहा है देश-सेवाके पवित्र नामपर और जनतन्त्रके नामपर ! गीताके सोलहवें अध्यायमें वर्णित आसुरी-सम्पदाके लक्षणोंका वर्णन पढ़ा जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो वह वर्णन हमारे वर्तमान विकास (या विनाश) की ओर द्रुत गतिसे जाते हुए समाजको लक्ष्य करके ही लिखा गया है। पूरे-पूरे मिलते हैं असुर-मानवके लक्षण। फिर स्वाभाविक ही यह प्रश्न उठता है कि इसे जनतन्त्र (डेमाक्रेसी) कहा जाय या असुरतन्त्र (डेमोनोक्रेसी) ? चुनावके बाद नयी सरकारें बनेंगी। उसमें भी हमारे मनोंमें व्यवस्थित राग-द्वेषका प्रभाव रहेगा ही और पता नहीं, उसका क्या परिणाम होगा, क्योंकि परिपंथी राग-द्वेष तो अध्यात्म-धन—दैवी सम्पदाको लूटेंगे ही। भगवान् सबको सुबुद्धि दें।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

राग-द्वेषसे हानि

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३। ३४)

प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें राग-द्वेष स्थित हैं। उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों कल्याण-धनको लूटनेवाले बटमार शत्रु हैं।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्। आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

(गीता २। ६४-६५)

जिसका अन्तःकरण अपने अधीन है, ऐसा पुरुष अपने वशमें की हुई राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता है तो उसे अन्तःकरणकी प्रसन्नता—निर्मलता प्राप्त होती है और उस प्रसन्नता या निर्मलतासे सब दुःखोंका नाश हो जाता है।

अध्यात्म-हलके बैल—विवेक-वैराग्य

(लेखक—श्रीहरिकिशनदास अग्रवाल)

हलके बिना कोई भी खेती नहीं होती । हलको चलानेके लिये बैल परमावश्यक हैं । 'आत्मोपलब्धि' भी एक खेती है । इसके लिये भी इसके-जैसे ही बैल आवश्यक होते हैं ।

इस खेतीके बैल—'विवेक' और 'वैराग्य' होते हैं, जिनसे यह खेती की जाती है । विवेक—विवेकका मतलब सच्चा विवेचन या निश्चित निर्दोष पारमार्थिक विचार है । जिससे मानव मायाके गहन अज्ञानान्धकारमें भी सच्चा मार्ग देख लेता है । तभी मोहकी गहन अन्धकारकी गलियोंको पार कर सकता है और रास्तेके भयंकर तामस, राजस-वृत्तिरूपी जीव-जन्तुओंसे बच सकता है । संसारमें विवेकसे काम लेनेवाला मनुष्य कभी असफल नहीं होता । पर विवेकहीन मनुष्य अपने कामको आप विफल ही नहीं बना देता, किंतु दूसरोंसे भी झगड़ा मोल लेता है । जो पुरुष विवेकसे आगे देखता है और चलता भी आगे है, वह जीवित है । पर जो मनुष्य देखता पीछे है और चलता आगे है—वह मुर्दार है; क्योंकि शवको जब अर्थीपर डालकर ले जाते हैं तो उसका सिर पीछेको किया हुआ होता है । सिर पीछे होने या करनेके कारण उसकी आँखें भी पीछे होती हैं ।

जीवन अनमोल है; इसका कोई मूल्य नहीं चुकाया जा सकता । सड़कपर बैठकर पैसा-पैसा भीख माँगनेवाले भिखारीको भी यदि कोई कहे कि भीख माँगनेके बजाय हम तुम्हें एक करोड़ रुपये देते हैं, तुम अपनी दो आँखें निकालकर हमें दे दो । पर एक करोड़ तो क्या अगर दुनियाकी सारी दौलत भी उसे दे दी जाय तो भी वह अपनी दो आँखें देनेके लिये कभी तैयार नहीं होगा । आप सोचें कि जब दो आँखोंकी कीमत सारे जहानकी दौलत भी नहीं चुका सकती तो सारे शरीरकी कीमत क्या होगी ? क्या वह कीमत चुकायी जा सकती है ? नहीं, उसे कोई नहीं चुका सकता । न उसे कोई किसीको दे ही सकता है । महान् पुरुषोंसे सुना है कि शरीरके अंदर ७२ करोड़ नाड़ियाँ हैं । कोई धनवान् ७२ करोड़का धनी हो और उसकी एक नाड़ीमें पीड़ाके कारण उथल-पुथल हो जाय, जिससे उसको एक क्षण भी चैन न पड़े, ऐसे समयमें उससे कोई कहे कि तुम्हें अपना सारा धन त्यागना पड़ेगा तो तुम्हारी नाड़ीकी पीड़ा ठीक होगी । पीड़ा-निवारणके लिये वह अपना सर्वस्व त्यागनेके लिये भी तैयार हो जायगा । इसी कारण महान् पुरुषोंने इस देहको अनमोल रत्न बतलाया है; क्योंकि यह देह पुनः कोई नहीं प्राप्त कर सकता । देहको पाकर ही मनुष्य अपने लक्ष्यकी प्राप्ति कर सकता है । यही एक साधन है जिसका विवेकके साथ उपयोग करनेपर हम लक्ष्यकी प्राप्ति कर सकते हैं । साधन तो ईश्वरने हमें बहुत बढ़िया दिया । उसमें भी दो-दो आँख, नाक, कान, हाथ आदि सभी क्रियाशील दिये हैं । यदि वह एक-एक देता तो मानवका किसी प्रकार काम चल सकता था, किंतु वह परम कृपालु इतना उदार है कि उसने हमें हमारी दोनों जेबें भरकर संसारमें भेजा है । जिससे साधनाद्वारा लक्ष्य-प्राप्तिमें सफलता मिल सके । किंतु यदि हम विवेकहीन हो जाते हैं तो हमें भले-बुरेका ज्ञान नहीं रह जाता । सत्-असत्की पहचान नहीं रहती । जिससे आगे चलकर हम विषयोंके एक ऐसे गढ़ेमें गिर जाते हैं कि फिर निकलना बड़ा कठिन हो जाता है ।

जिस प्रकार हल भूमिको कुरेदता हुआ भूमिसे अलग रहता है—उसी प्रकार वैराग्यवान् मनुष्य संसारमें रहता हुआ एवं संसारके काम-धंधे करता हुआ भी उनमें अनासक्त रहता है । जब मनुष्य संसारके विषयोंमें आसक्त हो जाता है, तो उसका हृदय सख्त हो जाता है । उसकी आत्मीय सहज कोमलता तिरोहित हो जाती है । वह कोमलता, सहज दयालुता, तत्त्व-ग्राहकता संसारके विषयोंमें रत होनेपर नहीं रहती जो कि स्वरूप-सिद्धिमें परम आवश्यक है । इसीसे वह अपने-आपको भी खो बैठता है ।

विवेक और वैराग्य—मनुष्यकी आध्यात्मिक उन्नतिके उसी प्रकार मुख्य साधन हैं, जैसे कि दो बैलोंका हल खेती करनेमें मुख्य साधन होता है ।

यह भूमि जब विवेक-वैराग्यके हलके द्वारा जोतकर नरम हो जाती है एवं रामनामके बीजके उपजनेके लायक कर ली जाती है तो उसमें राम-नामका बीज विधिपूर्वक बोते हैं तथा ऊपरसे सत्संगरूपी वर्षा होनेपर वह खेती हरिको मिलनेवाली हरी-भरी हो जाती है । इसके साथ एक बात यह भी है कि जो अपने जीवनमें ही 'राम-राम' कहता है, उसको कभी फिर 'मरा-मरा' नहीं कहना पड़ता; क्योंकि आत्मा अजर-अमर है । आत्माकी अमरताको जान लेनेपर फिर

मरना बाकी नहीं रह जाता। जिन्होंने अपने जीवनमें रामको सत् करके नहीं जाना, उसके मरनेपर उसके शवको राम-नाम सत्य है, सुनाया जाता है। राम-नामका वास्तविक लाभ तो तभी होगा, जब कि जीवन-कालमें ही राम-रामको सत् करके जान लिया जाता।

आकाशमें छाये हुए मेघोंके भीतर भी आकाश व्याप्त है, उसको वेदान्तकी परिभाषामें मेघाकाश कहा जाता है। आकाशमें बादल आ जानेसे एवं इसके दायरेमें आकाश तथा उसका जल, जलके अंदर प्रतिबिम्ब तथा उसके दायरेमें आया आकाश—ये सब सर्वव्यापक मेघाकाशसे भिन्न नहीं। आकाश सभी बादलोंमें एवं सर्वत्र एक ही है। बादलों आदिकी विभिन्नतासे व्यापक आकाशकी विभिन्नता नहीं हो सकती। इसी प्रकार जीवोंकी विभिन्नतासे आत्माकी विभिन्नता नहीं हो सकती। आत्मा सर्वत्र एक एवं अद्वितीय ही है। उपाधिभेदसे आत्माका भेद नहीं होता। हलके अंदर फौलादका टुकड़ा जिसे फाल या पाट भी कहते हैं—लगा रहता है। यह कठोर भूमिको उखाड़कर भूमिके अन्तरकी उर्वराशक्तिको बाहर विकसित करता है। उसी प्रकार जिसके अंदर जब फौलाद-जैसी तत्त्वभरी मजबूत गुरु... हृदयकी कठोरताको निकाल उर्वरा-जैसा बना देती है, ... उसमें कोमलता तथा ज्ञानके ग्रहणकी शक्ति आ जाती है, ... वह जीवन-संग्राममें लड़ता हुआ अपने अन्तरकी आध्या... शक्तिका विकास कर लेता है। जिसके फलस्वरूप उसे आ... प्राप्ति हो जाती है।

पति-पत्नी शरीर दो होनेपर भी जब उनके विचार ए... हो जाते हैं, तो वे अपने जीवनको परमार्थकी ओर झुका... उसमें राम-नामका बीज बोते हैं। जिससे वे आध्यात्मि... उन्नतिको प्राप्त कर लेते हैं। जहाँ पति और पत्नीके परस्प... विचार नहीं मिलते तो वहाँ घर-कलह होकर घरका घरना... जाता है। उनके गृहस्थमें कोई आनन्द अवशिष्ट नहीं रह जाता।

जहाँ विवेक और वैराग्यके दो बैल हों, बीज राम-नामका और वर्षा सत्संगकी हो, वहाँ मानव अपने जीवनरूपी खेत... परमानन्दकी उपजको प्राप्त करता है।

गौ और गोपालके भक्त श्रीपाहुजा

(लेखक—श्रीराधेश्यामजी बंका)

बलिदानोंकी गाथाएँ प्रेरणाका अविरल स्रोत हैं। देशकी, धर्मकी, सत्यकी रक्षाके लिये प्रत्येक प्राणोत्सर्ग समाजमें चेतनाकी सृष्टि और वृद्धि करता है। श्रीपाहुजाके बलिदानकी गाथा भी ऐसी ही है।

एक अत्यधिक साधारण स्तरके व्यक्ति श्रीपाहुजामें इतनी आस्तिकता, इतनी दृढ़ता, इतना त्याग होगा, यह किसे कल्पना थी? श्रीपाहुजाकी उम्र थी ५१ वर्षकी। पूरा नाम था श्रीमेहरचन्दजी पाहुजा। मूल निवासी हैं फतेहपुर कुरेशीवाला, बहावलपुर रियासत (अब पाकिस्तान) के, किंतु भारत-विभाजनके बादसे दिल्लीमें ही रह रहे थे। पाकिस्तानमें पेशा था कपड़ेका व्यापार और तब थे भी बड़े सम्पन्न, किंतु दिल्लीमें एक साधारण-सी नौकरी करते थे जिससे परिवारका भरण-पोषण कठिनतासे हो पाता था।

सं० २०२३, कार्तिक कृष्ण ९ सोमवार, (७ नवम्बर, ६६) को 'सर्वदलीय गोरक्षा-महाभियान-समिति' द्वारा संगठित महाविराट-प्रदर्शन दिल्लीमें होनेवाला था। इसके एक दिन पूर्व साधारण सभामें भाषण देते हुए पूज्य श्रीब्रह्मचारीजीने कहा था कि प्राणोंका उत्सर्ग किये बिना भारतका कलंक गोवध बंद नहीं होगा। जबतक गोवध बंद न हो जाय, तबतक जो व्यक्ति आमरण अनशन कर सकें, वे हाथ उठावें। अनेक हाथ उठाने वालोंमें श्रीपाहुजा भी थे। तभी उन्होंने निश्चय कर लिया कि 'यदि गोवध बंद नहीं हुआ तो आगामी गोपाष्टमीसे आमरण अनशन आरम्भ कर दूँगा।' महाविराट प्रदर्शनमें गोलीकाण्ड हुआ, गोभक्तोंके सिर झूठा दोष मढ़ा गया और सरकारने गोवधके रोकनेके लिये कोई कदम नहीं उठाया। फलस्वरूप जगद्गुरु पुरी-शंकराचार्य पूज्य स्वामी श्रीनिरंजनदेव तीर्थजीने तथा पूज्य श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीने अपनी पूर्व-घोषणानुसार गोपाष्टमी, २०२३ (२० नवम्बर, ६६) से आमरण अनशन आरम्भ कर दिया। पूज्य ब्रह्मचारीजीके साथ उनके आश्रम संकीर्तन भवन, वंशीवट, वृन्दावनमें ही श्रीपाहुजाजीने भी अपना आमरण अनशन-व्रत आरम्भ कर दिया। उनके साथ अन्य अनेक लोगोंने भी अनशन-व्रत आरम्भ किया।

यह न समझा जाय कि श्रीपाहुजाकी गोभक्ति पूज्य श्रीब्रह्मचारीजीके आह्वानपर उमड़ पड़ी। यह गोभक्ति तो उनके नस-नसमें समायी हुई थी। भारत-विभाजनके पूर्व जब वे अपने मूल-स्थान पाकिस्तानमें रहते थे, जब घर सुख-सुविधासे सम्पन्न था, उस समय यदि इनको संदेह हो जाता कि कोई व्यक्ति, फिर चाहे वह मुसल्मान हो या अन्य, गायको कष्ट देनेके लिये अथवा वध करनेके लिये ले जाता है तो ये उस गायको खरीदकर गोशालामें दे दिया करते थे। जैसी उनकी गोभक्ति थी, वैसी ही उनकी गीताभक्ति थी। भगवद्गीताका नित्य पाठ किया करते थे। गीताके सिद्धान्तोंको अपने जीवनमें उतारनेकी सतत चेष्टा किया करते थे। आमरण अनशनके दिनोंमें मालापर उनका जप हमेशा चलता रहता था। श्रीपाहुजाकी सत्य-निष्ठा और वचन-पालन एक आदर्श वस्तु है। पाकिस्तानसे आकर दिल्लीमें उन्होंने मनियारीकी दूकान खोली, पर वह नहीं चली। फिर गीताप्रेसकी धार्मिक पुस्तकोंकी दूकान खोली; पर उसमें भी घाटा लग गया। तब नौकरी करनेका निश्चय किया। जिस दूकानको श्रीपाहुजा छोड़नेवाले थे, उस दूकानको लेनेके लिये लोगोंने छः-सात हजार रुपये पगड़ी देनेका प्रस्ताव सामने रक्खा; परंतु श्रीपाहुजाको पगड़ीके रुपये लेना पापकर्म लगा। गरीबी थी, फिर भी सत्यकी टेक मनमें थी। पगड़ी नहीं ली और दूकान सरकारको दे दी, सरकार चाहे जिसे दे। नौकरी करते समय भी वही नेकनीयती, वही ईमानदारी। जिस दूकानमें काम करते, उसका मालिक एक सेर चीनीके १७ पैकेट बनाता। इस प्रकार हर पैकेटमें छटाँकसे कम चीनी होती। पर ग्राहकद्वारा छटाँक चीनी माँगनेपर मालिक एक पैकेट दे देता। श्रीपाहुजाने स्पष्ट अस्वीकार कर दिया कि वह ग्राहकोंको यह पैकेट नहीं देगा। श्रीपाहुजाजीने तौलमें कभी बेईमानी की ही नहीं।

श्रीपाहुजाजीके आमरण अनशनके दिन-पर-दिन निकलने लगे; किंतु मनमें वही उमंग थी, वही निश्चय था और वही उत्साह था। अपने पुत्रको भी अपने अनशनकी सूचना नहीं दी। अपने मित्रसे सूचना पाकर उनका पुत्र उनके पास आया। उनकी पत्नी दिल्लीसे उनके पास वृन्दावन आयी। मोहाविष्ट परिवारने अनशनव्रतके परित्यागके लिये अनुरोध किया, पर यह एक विफल प्रयास था। फिर परिवारवालोंने पूज्य श्रीब्रह्मचारीजीसे कहा कि 'आप अनशन तोड़नेके लिये कह दें। आपकी आज्ञा वे अवश्य ही मान लेंगे।' परिवारके अत्यधिक अनुरोधपर पूज्य ब्रह्मचारीजीने श्रीपाहुजाको व्रत तोड़नेके लिये कहा। इसपर श्रीपाहुजाने पूज्य श्रीब्रह्मचारीजीसे पूछा, 'आपने ६ नवम्बरको मुझसे गोवध-निषेधके उद्देश्यसे आमरण अनशनके लिये हाथ उठवाया था। क्या गोवध बंद हो गया? यदि आप जबरदस्ती मेरा व्रत-भंग करवा देंगे तो मैं पागल हो जाऊँगा।' इसी अवसरपर श्रीपाहुजाजीने पूज्य श्रीब्रह्मचारीजीको भगवद्गीताका अमर श्लोक दिखाया—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

पूज्य ब्रह्मचारीजीके पास कोई उत्तर नहीं था। पूज्य ब्रह्मचारीजीका अन्तर श्रीपाहुजाके उस निश्चयपर निछावर हो गया।

उनकी पत्नीको घरकी भी चिन्ता रहा करती थी। उनकी पत्नीने कहा—'मैं आपके व्रतको भंग नहीं करवाऊँगी। परंतु आप अपने घर दिल्ली चलें। आपको अनशन करना है तो वहीं करें। वहाँ मैं आपकी कुछ सेवा भी कर सकूँगी।' इसपर श्रीपाहुजाजीने कहा—'दिल्ली तो पापका घर है। मैं वहाँ नहीं जाऊँगा। और भला यह स्थान कैसे छोड़ूँ, जहाँ यमुनाजीका किनारा है, अखण्ड हरिनाम-संकीर्तन है, संतोंका सतत दर्शन है और गोपालक साँवरे गोपालकी भूमि है।' श्रीपाहुजाजी अपने परिवारवालोंको अपने पास नहीं बैठने दिया करते थे। उनको भय था कि ये परिवारवाले उनके अनशन-व्रतको तुड़वानेका प्रयत्न करेंगे और कहीं यह मन मोहग्रस्त न हो जाय। इन दिनों श्रीभीमसेनजी चोपड़ाने श्रीपाहुजाकी बड़ी सेवा की।

श्रीपाहुजाने श्रीचोपड़ाजीसे कहा—'आप मेरी सहायता कीजिये। मेरा परिवार मोहवश अनशन-व्रत भंग करनेके लिये कह रहा है। आप सबको समझा दीजिये कि मेरी सद्गतिसे उन सबका मस्तक ऊँचा उठ जायगा। व्रतसे गिर जानेपर हम किसीको मुँह दिखलाने लायक भी नहीं रहेंगे।'

दर्शनके लिये आनेवाले सज्जन पूछते—'क्या कोई तकलीफ है?' आश्रमवासी पूछते—'क्या कोई परेशानी है?' प्रेस-रिपोर्टर, स्वजन, सहानुभूति दिखानेवाले सभी श्रीपाहुजाजीसे उनकी तकलीफ-परेशानी जाननेके लिये भाँति-भाँतिके प्रश्न करते; किंतु श्रीपाहुजाजी सबको एक यही उत्तर देते—'मुझे कोई परेशानी नहीं। मुझे कोई तकलीफ नहीं। मैं बहुत प्रसन्न हूँ। मेरा साँवरा मेरे साथ है। उसकी मुझपर अनन्त कृपा है। मैं बड़ा खुश हूँ। बस, चारों ओर आनन्द है।'

लोग बार-बार यह चेष्टा करते कि श्रीपाहुजाजीका अनशन स्थगित हो जाय। श्रीपाहुजाजीकी अत्यन्त करुणापूर्ण स्थिति सबके मनको हिला देती थी, पर यह बात श्रीपाहुजाको कदापि अभीष्ट नहीं थी। जिस किसीको देखकर श्रीपाहुजाको यह लगता कि यह मेरे व्रतमें सहायक होगा तो उसका हाथ पकड़कर कहते, उसके कानमें कहते, उससे बार-बार कहते—'मेरी एक सहायता करो। सहायता यही कि मेरा व्रत लोग तुड़वाने न पावें। मेरा व्रत निभ जाय।' जब समाजके सम्माननीय लोग श्रीपाहुजाको व्रत-विसर्जनकी राय देते तो उनको बड़ा दुःख होता। एक बार तो 'सर्वदलीय गोरक्षा-महाभियान-समिति'की ओरसे भी व्रत-विसर्जनके लिये अनुरोध किया गया था। इस प्रकारके अन्य अनुरोध आनेपर श्रीपाहुजाजी कहा करते थे—'हिंदूसमाजका बड़ा दुर्भाग्य है। समाजके नेता तथा संत-महात्मा आत्म-बलिदानकी बातें कहते हैं और जन-समाजको बलिदानके लिये आह्वान करते हैं, किंतु जब वस्तुतः बलिदानका अवसर आता है तो बलिदानसे विरत होने और करने लगते हैं। बलिदानके अवसरपर पैरोंके नीचेसे जमीन खिसकने लगती है, पैर लड़खड़ाने लगते हैं। बलिदानका अवसर आते ही समझौतेकी बात करने लगते हैं केवल प्राणोंका मोह लेकर। बिना बलिदानके जाति उठती नहीं, चेतना आती नहीं, जन-जागरण होता नहीं। मुझे गौके लिये बलिदान हो जाने दो। मेरे बलिदानसे आपलोग घबराइये नहीं। मैं तो मरूँगा नहीं। धर्मयुद्धमें मरनेवाला कभी मरता नहीं। वह तो सदा अमर है, वह तो सदा अमर है।' श्रीपाहुजा इस बातका सतत उल्लेख करते कि विदेशोंसे आये अन्नको खाकर जीवित रहनेवालेको धिक्कार है। देशमें प्रतिदिन तीस हजार गाय कटती रहें और गायके मांस-हाड़-चामका निर्यात करके बदलेमें अन्न मँगाकर हम पेट भरते रहें, ऐसा जीना शर्मकी बात है।

श्रीपाहुजाजीकी स्थिति गम्भीर होती चली गयी। परिवारवालोंकी व्यथा बढ़ती ही जाती थी। उनकी व्यथासे द्रवित होकर पूज्य ब्रह्मचारीजीने कहा—'मैंने भी वैद्यकी दवा ली है, तुम भी ले लो।' तब श्रीपाहुजाजीने एक बार दवा ली। ली यह कहकर कि 'यदि दवा न लूँगा तो इसका अर्थ यह होगा कि मैं अपनेको पूज्य ब्रह्मचारीजीसे अधिक सुदृढ़ और बड़ा मानता हूँ। मैं अहंकारी हूँ। संताज्ञाकी अवहेलना न हो, इसलिये स्वीकार करता हूँ। सच बात तो यह है कि मैं न तो महात्मा हूँ, न संत हूँ। एक अत्यन्त साधारण गृहस्थ हूँ। बहुत पतित हूँ। पुलिसने एक दिन जबरदस्ती ले जाकर मुझे ग्लूकोजका इंजेक्शन लगा दिया। फिर भी मेरे प्राण नहीं गये। मुझे तो तभी मर जाना चाहिये था।'

श्रीपाहुजाजीकी स्थिति चिन्ताजनक तो होती ही जा रही थी। करुणाके वशीभूत होकर पूज्य ब्रह्मचारीजीने पुलिससे कहा कि 'आप इन्हें ले जाकर इनका उपचार कीजिये।' पुलिसद्वारा ले जानेका मतलब था वृन्दावनसे बाहर ले जाकर मथुरा जेलमें रखना। ऐसा ज्ञात होनेपर श्रीपाहुजाने भरी आँखोंसे कहा—'मेरी इस असहायावस्थामें मेरी इस दुर्बलताके कारण पुलिस स्वयं घसीटकर ले जाती तो और बात थी। उस समय भी मेरा साँवरा मेरी रक्षा करता। वह साँवरा पुलिसवालोंकी बुद्धिको ऐसा बदल देता कि वे मेरा व्रत भंग नहीं कर सकते थे। वे मुझे वृन्दावनसे बाहर मथुरा जेलमें नहीं ले जाते; परंतु कम-से-कम आपलोग तो मुझे वृन्दावनकी भूमिसे बाहर मत जाने दीजिये। यही मेरी करबद्ध प्रार्थना है। पुलिस ले जाने लगे तो आश्रमवासी पुलिसका रास्ता रोक लें। यदि ऐसा नहीं होगा तो मैं अपनी पत्नी और पुत्रसे कह दूँगा कि भले सिर कट जाय पर पुलिसको मेरा शरीर मत ले जाने देना और आप सभी भले मेरा साथ न दें। मेरा साँवरा मेरे साथ है, वह मेरी टेक निभायेगा। वह मुझको वृन्दावनकी भूमिसे बाहर नहीं ले जाने देगा।' उनकी इस आस्तिकताने सबको आश्चर्यमें डुबो दिया। उनकी इस सुदृढ़ताने जन-जनको रुला दिया।

अवस्था शोचनीय हो गयी। आश्रमवासी चाहते थे कि पुलिस श्रीपाहुजाजीको तंग न करे। अतः श्रीरामकृष्ण मिशन अस्पतालमें भर्ती करानेकी योजना बनी। वहाँके डाक्टर तैयार भी हो गये; किंतु डाक्टरोंने कहा—'हम जो भी देंगे, वह खाना-पीना पड़ेगा।' श्रीपाहुजाजीने श्रीचोपड़ाजीसे पूछा—'ये डाक्टर क्या कह रहे हैं? आप मेरे धर्मके साथी हैं। आप सारी बात स्पष्ट बतायें।' श्रीचोपड़ाजीने कहा—'डाक्टर आपके सामने स्पष्ट कह रहे हैं कि वे जो कुछ भी देंगे, आपको खाना-पीना पड़ेगा।' श्रीपाहुजाने कहा—'नहीं, कभी नहीं, मैं अपना अनशन नहीं तोड़ूँगा। मैंने ६ नवम्बरको भरी सभामें गोवध-निषेधतक आमरण अनशन करनेके लिये हाथ उठाया है। मैं अनशन नहीं छोड़ूँगा।' आश्रमवासियोंका यह प्रयास भी विफल गया।

मृत्युके मुखमें पड़े हुए श्रीपाहुजाजीने अपने आराध्य गोपालक साँवरे श्रीगोपालका चित्र मँगवाया। उनकी पत्नीने भी उनकी सेवा कमालकी की। वह स्वयं बवासीरसे ग्रस्त थी, बैठ सकना बहुत कठिन था, फिर भी पतिकी सेवामें आरम्भसे ही संलग्न थी। हमेशा ही श्रीपाहुजाजीकी टहलमें रहती। अन्तके पाँच दिन और पाँच रात तो वह सो भी नहीं पायी थी। वैसे उसकी आँखें यह सदा टटोलती रहती थीं कि शायद कोई उसके पतिके प्राणोंकी रक्षा कर दे। अन्तके दिनोंमें वह अपने हाथमें साँवरे श्रीगोपालका चित्र लिये रही और निरन्तर श्रीपाहुजाजीको दिखलाती रही।

श्रीपाहुजाजीने अपने जीवनका बीमा करा रक्खा था। परंतु अपनी गरीबीके कारण उसके रुपये भर नहीं सके थे। अतः जीवन-बीमा-पालिसी समाप्त हो गयी थी। किंतु उसके रुपये १६८) मिलनेवाले थे। अपने पुत्र श्रीजयदयालको बुलाया और कहा कि (क) ढाई आनेवाली एक हजार गीता बँटवा देना, जिसका दाम लगभग ९०) रुपये होगा। (ख) ५७)५० का प्रसाद यमुनाजीके किनारे बँटवा देना। (ग) रु० २०) ५० गोशालाको दान कर देना। यह सब तो उस १६८) रुपयेसे कर देना। फिर एक बछिया गोशालाको दान कर देना और सवा मन गुड़के लड्डू गायोंको खिला देना।

मरणासन्न श्रीपाहुजाजीने ३०।१२।६६ की रातके साढ़े दस बजे अपनी पत्नी-पुत्रको बुलाकर कहा—'कल मेरा शरीर नहीं रहेगा। आपलोग यहाँपर एक बालटी पानी और अँगीठी रख लेना। ब्राह्ममुहूर्तमें स्नान कराकर मेरे कपड़े बदल देना। इस कमरेमें रहनेवाले किसी अनशनकारीको या आश्रमवासीको कोई तकलीफ नहीं हो। स्नान कराकर लिपी-पुती जमीनपर मुझे लिटा देना और मेरे समीपमें गाय हो।' वह काली रात भी बीती। प्रातः सबेरे श्रीपाहुजाजीने अपनी पत्नीसे पूछा—'क्या पानी तैयार है? मुझे स्नान कराओ। मेरे जानेका समय आ गया है।' उनको विधिवत् शुद्धतापूर्वक स्नान कराया गया। उनका अन्त समीप जानकर उन्हें पूज्य श्रीब्रह्मचारीजीके कमरेमें ले जाया गया। वहाँ श्रीपाहुजाजीने पूज्य ब्रह्मचारीजीके अन्तिम दर्शन किये। पूज्य ब्रह्मचारीजीने उनके कानमें तारक मन्त्र दिया। तुलसीकी माला पहनायी। श्रीजीका चरणोदक दिया। व्रजकी रजका तिलक लगाया गया। लोगोंने फिर श्रीपाहुजाजीको लाकर उस लिपी-पुती जगहपर लिटा दिया। वहींपर गाय बँधी थी। संयोगकी बात, गायने अपना पिछाड़ा श्रीपाहुजाजीकी ओर किया और अपने पवित्र गोमूत्रसे उनको नहला दिया। सब उपस्थित जन 'धन्य', 'धन्य', 'जय', 'जय' पुकार उठे। अन्तिम समयमें भी मुखपर वही प्रसन्नता, वही प्रशान्तता, वही प्रफुल्लता। धीरे-धीरे उनकी वाणी शान्त होने लगी और देखते-ही-देखते सदाके लिये शान्त हो गयी। मृत्युके बाद तो उनका मुखमण्डल दीप्तिसे और भी चमक उठा। उनकी अन्तिम अभिलाषा पूर्णतः पूर्ण हुई, उनकी मृत्यु वृन्दावनकी भूमिमें हुई, संतके आश्रममें हुई, गोमाताके आश्रयमें हुई और आराध्य गोपालकी संनिधिमें हुई। सबने उस महावीरके, महाबलिदानीके पावन शवको प्रणाम किया। पूज्य ब्रह्मचारीजीने साष्टाङ्ग प्रणाम किया। श्रीविहारीजीकी विशेष प्रसादी-माला चढ़ायी गयी। अनेक नर-नारी-बालक श्रीपाहुजाजीकी अर्थीके नीचेसे निकले। ऐसा तभी होता है, जब किसी बहुत सिद्ध और महान् संतका परमधाम-गमन होता है। श्रीपाहुजाजीके शवकी शोभा-यात्रामें सारा वृन्दावन उमड़ पड़ा। वृन्दावनका कण-कण उस महान् आत्माको प्रणाम कर रहा था। शोभायात्रा वृन्दावनके प्रमुख मार्गोंसे होती हुई वृन्दावनकी परिक्रमा देकर यमुना-तटपर आयी। शोभायात्रामें हजारों कण्ठ एक स्वरसे श्रीपाहुजाकी गोभक्तिकी उच्चध्वनिसे जय-जयकार कर रहे थे।

श्रीपाहुजा चले गये, किंतु उनकी आस्तिकता, गोभक्ति, निश्चय, गीता-निष्ठा, उत्साह, टेक सदा ही प्रेरणाकी वस्तु रहेगी। अपनी मृत्युशय्यापर उन्होंने छः पंक्तियोंकी एक कविता लिखी थी। अपनी पत्नीसे, पुत्रसे, मिलनेवालोंसे उन्होंने कहा कि 'इसको अच्छी तरहसे रट लो। खूब याद कर लो।' कविताके शब्द अत्यन्त साधारण हैं, किंतु उन शब्दोंमें एक महा-बलिदानीकी व्यथाभरी हृदयकी आवाज है—

दया कर दया कर दया वंशीवाले!
गऊओंको आकर बचा वंशीवाले!!
गीताका वादा निभा वंशीवाले!
आसुरी शासन मिटा वंशीवाले!!
संतोंकी शान बढ़ा वंशीवाले!
भारतकी आन बचा वंशीवाले!!

गौ और गोपालके भक्तकी जय!

पढ़ो, समझो और करो

(१)

मेरी वस्तु कोई नहीं ले सकता

घटना अभी हालकी ही है जो कि मेरे मामाजीके साथ घटित हुई थी। मेरे मामाजी श्रीरामाधार चतुर्वेदी वल्केश्वर कालोनीके क्वार्टर नं० १०१। ३ में रहते हैं। मेरी मामीके सम्पूर्ण स्वर्ण-आभूषण एक डिब्बेमें बंद करके रेडियोके निकट रक्खे हुए थे और वह किसी सुरक्षित स्थानपर रखनेसे भूल गयी थी। लगभग एक माहके बाद जब मामीजी एक विवाहमें जानेको हुईं तो उन्होंने आभूषण पहननेके लिये बक्स खोला तो वहाँ कुछ भी नहीं पाया, तभी उनको ध्यान आया कि वे सब चीजें तो अमुक डिब्बेमें अमुक जगह रक्खी हुई थीं। तुरंत वे वहाँपर गयीं; किंतु वे वहाँ कुछ भी न पाकर निराश हो गयीं। उन्होंने सारा घर ढूँढ़ लिया। पास-पड़ोसवालोंसे पूछा किंतु उसका कोई फल न निकला। सारी खुशी रंजमें परिणत हो गयी। मामीजीको अपनी चीजें खो जानेका इतना दुःख नहीं था, जितना डर इस खबरके उनके श्वशुरतक पहुँच जानेका था; क्योंकि वे वृद्ध एवं कुछ ऐसे ही हृदयके आदमी हैं। उन्हें डर था कि कहीं इस संवादसे कोई अप्रिय घटना न घट जाय।

शामको दरवाजेपर जैसे ही साइकिलकी घंटी बजी, मामीका दिल धक्से हो गया। प्रसन्न मुखमुद्रामें मामाजी घरमें प्रविष्ट हुए, किंतु पत्नी तथा घरकी अस्त-व्यस्त हालत देखकर उन्हें किसी अनिष्टका आभास हो गया। पत्नीद्वारा सब बातका पता लगनेपर उन्हें दुःख तो अवश्य हुआ, किंतु फिर भी ढाढस बँधाते हुए उन्होंने पत्नीसे यही कहा कि 'मेरी वस्तु कोई नहीं ले सकता, मेरी वस्तु अवश्य मिलेगी। तुम क्यों व्यर्थमें चिन्ता करती हो। इसमें किसीका कोई दोष नहीं।' इन शब्दोंको सुनकर पत्नीकी आँखोंसे झर-झर आँसू बहने लगे।

मुहल्लेके बहुत-से व्यक्ति झूठी दिलासा एवं सम्मति देनेको आने लगे। कोई कहता अमुक ज्योतिषीके पास जाओ, कोई कहता अमुक आदमीके पास जाओ जो हाथ पकड़कर बतला देता है कि चोर कौन है। इसी प्रकार विभिन्न प्रकारकी सम्मतियाँ मामाजीको मिलने लगीं। मामाजी किंकर्तव्य-विमूढ़-से होकर जो जैसा कहता, करने लगे, किंतु इसका कोई परिणाम न मिला। लगभग एक माह और व्यतीत हो गया।

एक दिनकी बात है, जब मामाजी, जो कि हमारे कारखानेमें ही काम करते हैं, अपने जीजाजी श्रीविश्वनाथ चतुर्वेदीजीसे मिले तो उन्होंने उनको यह नेक सलाह दी कि 'इन सब आडम्बरोंको छोड़कर श्रीबाँकेबिहारीजीकी शरणमें जाओ और सच्चे हृदयसे प्रार्थना करो। सफलता अवश्य मिलेगी।' मामाजी हताश हो चुके थे। उन्हें अब अपनी वस्तु मिलनेकी कोई भी आशा नहीं रह गयी थी। तथापि उन्होंने आखिरी प्रयास करनेकी सोची।

दिनभरके कामसे निवृत्त होकर मामाजी जब घर पहुँचे तो उन्होंने मामीजीसे सारी बातें कहकर निश्चय किया कि 'प्रातःकाल हमलोग वृन्दावन चलेंगे और श्रीबाँकेबिहारीजीके मन्दिरमें जाकर भगवान्से प्रार्थना करेंगे। हमारी चीज अवश्य मिलेगी।' दूसरे दिन पूर्वनिश्चित कार्यक्रमके अनुसार मामाजी तथा मामीजीने श्रीबिहारीजीके चरणोंमें पहुँचकर प्रार्थना की और शामको घर वापस लौट आये। दूसरे दिन प्रातःकाल जब मामीजी उठीं और अपने क्वार्टरके आँगनमें गयीं तो वहाँ देखती हैं कि एक अखबारके कागजमें लिपटी हुई कोई चीज पड़ी है। उन्होंने यों ही कौतूहलवश उसको उठाकर देखा तो खुशी एवं आश्चर्यके मिले-जुले भावमें वे केवल इतना ही कह सकीं कि 'बिहारीजीने मेरी सब चीजें भेज दीं।' फिर क्या था, मामाजी भी दौड़कर वहाँ पहुँचे। कागजको पूरी तरहसे खोलनेपर ज्ञात हुआ कि उसमें एक अँगूठी भी थी, जिसका कि इन लोगोंको स्मरण ही नहीं था।

इस घटनाको देखकर मुझको ऐसा भान हुआ है कि कोई यदि सच्चे हृदयसे भगवान्में आस्था रक्खे तो भगवान् उसके सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण करनेमें कुछ भी उठा नहीं रखते हैं।

—श्रीयोगेन्द्रकुमार चतुर्वेदी

(२)

भिखारीका वसीयतनामा

उसका नाम था धनिया, पर वह था निर्धन। एक आँखसे काना, एक हाथसे लूला और एक पैरसे लँगड़ा, शरीरसे हृष्ट-पुष्ट, रंगसे साँवला, जातिका कोरी।

वह जब पाँच वर्षका था, तभी उसके माँ-बाप महामारी रोगमें मर गये थे। आँसू बहाते निराधार धनियाको पड़ोसियोंने आश्रय दिया था, उन्होंने दो वर्षतक तो उसे

पाला-पोसा, फिर धीरे-धीरे सभी उसकी ओरसे बेपरवाह हो गये। जहाँसे उसे मान तथा प्रेम मिलता था वहाँसे उनका मिलना बंद हो गया, तब एक दिन धनिया उस गाँवसे चल दिया।

पासके ही एक गाँवमें भिखारी मुहल्ला था, वह वहाँ जाकर खड़ा हो गया। एक भिखारी कुटुम्बने उसे स्वजनकी तरह रख लिया। फिर तो भिखारियोंके बच्चोंके साथ धनिया भी माँगने जाने लगा। उसे जो कुछ मिलता उसीसे वह अपना गुजारा चलाता।

शरीरमें कोर-कसर होनेके कारण भीख माँगनेके सिवा वह दूसरा कोई काम कर नहीं सकता था। इसलिये इस कामके प्रति घृणा होनेपर भी तथा दूसरा काम मिलनेपर उसे करने या कहीं नौकरी करनेकी इच्छा होनेपर भी निरुपाय होकर उसे यही भीख माँगनेका काम चालू रखना पड़ा।

दुर्भाग्यसे इस गाँवमें भी अकाल पड़ा। परिणामस्वरूप सभीको दूसरी जगह जाना पड़ा। धनिया भी सबके साथ था। कुछ दूरपर एक तीर्थस्थानमें भिखारियोंने झोंपड़े बनाकर वहाँ रहना शुरू किया। वहाँ गाँवमें और पहाड़पर असंख्य और आकर्षक मन्दिर थे, वहाँ धनियाका काम जोरोंसे चल रहा था।

धनिया ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया, त्यों-ही-त्यों अधिक समझदार भी होता गया। उसे जो कुछ खानेको मिलता, उसीसे काम चला लेता। सौभाग्यसे उसमें कोई व्यसन नहीं था। उसके मित्रोंका आग्रह होनेपर भी वह चाय या बीड़ी नहीं पीता था।

इस प्रकार दिन, महीने और वर्ष बीतने लगे। धनिया अब जवान हो गया था। उसने सोचा था कि उसीके-जैसी ही शरीरमें कोर-कसरवाली किसी भिखारिनके साथ विवाह कर लिया जाता, पर फिर ऐसा करना उसे उचित नहीं लगा। किसीके जीवनको नष्ट कर देना मानवतारहित कार्य है, ऐसा मानकर उसने विवाहका विचार छोड़ दिया।

उसने अपना सारा ध्यान माँग-जाँचकर पैसे बचाकर इकट्ठे करनेमें लगा दिया। उसने अपना अलग एक झोंपड़ा बना लिया। वह उसीमें पड़ा रहता। अपने पास बची हुई पूँजीमेंसे बहुत बार वह भिखारी मुहल्लेमें रहनेवालोंकी दवा-दारूके लिये या खास किसी दिक्कतके समय उनकी सहायता करता। एक बार सहायतामें दिये हुए पैसे वह कभी वापस नहीं लेता। इससे उसके मुहल्लेमें सभी उसको सम्मानकी दृष्टिसे देखते।

एक दिन भिखारी मुहल्लेके झोंपड़ोंमें भयानक आग लग गयी। एक झोंपड़ेमें एक छोटा-सा बच्चा रह गया। उसे बचानेके लिये धनिया आगमें कूद पड़ा। उसके हाथ-पैर जल गये। पर वह बच्चेको सही-सलामत बचाकर बाहर ले आया। जल जानेके कारण धनियाको अस्पतालमें दाखिल करना पड़ा। पंद्रह दिनोंके बाद वह अच्छा होकर मुहल्लेमें वापस आया। उस समय सबने उसका बड़ा स्वागत-सत्कार किया।

मुहल्लेमें रहनेवाले सभीका यह ख्याल था कि धनिया पैसा बचाता है; परंतु बचाकर कहाँ रखता है, इसका किसीको अनुमान नहीं था। धनियाकी गैरहाजिरीमें एक बार मुहल्लेके कुछ लोगोंने कुतूहलवश धनियाका झोंपड़ा खोद डाला, परंतु उसमेंसे निकला कुछ भी नहीं। गड्ढे भरकर जमीनको बराबर कर दिया गया। पर जब धनिया घर लौटा तब सारी परिस्थिति उसकी समझमें आ गयी। इसपर भी उसने कभी किसीसे एक शब्द भी नहीं कहा।

इस प्रकार धनियाके जीवनके पैंसठ वर्ष बीत गये। एक रात्रिको उसकी छातीमें अचानक दर्द उठा। उसने मुहल्लेके आदमियोंको बुलाया। सारे मुहल्लेके लोग वहाँ इकट्ठे हो गये। दर्द बढ़ता जा रहा था। दो नौजवान डाक्टरको बुलाने गये। चार-छः जने धनियाकी सेवा-सँभालमें लगे। इधर डाक्टरने झोंपड़ीमें पैर रक्खा कि उधर धनियाके प्राण-पखेरू उड़ गये।

डाक्टरने परिस्थिति समझ ली, परंतु सबके संतोषके लिये उसने शरीरकी अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करके यह बतलाया कि धनियाकी मृत्यु हार्टफेलसे हुई है। इस समय भिखारी मुहल्लेके आबाल-वृद्ध सभीकी आँखें सजल हो रही थीं।

धनियाकी आकस्मिक मृत्युका समाचार हवाकी तरह सारे गाँवमें फैल गया। धनियाकी शवयात्रा ठाट-बाटसे निकली। उसमें गाँवके नगरसेठ और दूसरे-दूसरे प्रतिष्ठित पुरुषोंने भाग लिया था। रात्रिको आजाद चौकमें एक पब्लिक शोक-सभा हुई। सभापति नगरसेठने शोक प्रकट करते हुए कहा—

'धनिया निर्धनके रूपमें जन्मा और जीवित भी रहा होगा, परंतु वह मरा है एक श्रीमान्‌के रूपमें। उसने एक-एक पैसा बचाकर इकट्ठा किया है। आज उसके नामपर बैंकमें पचीस हजार रुपये जमा हैं। इतनी बड़ी रकम उसने दानमें दे दी है। उसने एक वसीयतनामा लिखवाया है, उसे मैं आपलोगोंके सामने पढ़कर सुनाता हूँ—

'मेरे-जैसे क्षुद्र-से-क्षुद्र और भिखारी आदमीका वसीयतनामा कैसा? मेरे इस वसीयतनामेकी बात सुनकर कदाचित् आप सबको हँसी आयेगी; परंतु जीवनभर मेरे मनमें यही विचार आते रहे कि मेरे-जैसे लूले-लँगड़े अशक्त और निराधार मनुष्योंको कितना कष्ट सहना पड़ता होगा, उनको कितनी दिक्कतें उठानी पड़ती होंगी, कितना अपमान-तिरस्कार सहन करना पड़ता होगा? उन सबको थोड़ी-बहुत सुविधा मिले, इसके लिये एक आश्रमके स्थापनकी आवश्यकता है। मैंने माँग-माँगकर ये पैसे इकट्ठे किये हैं। यह कुल रकम मैं आश्रमके लिये दे रहा हूँ। मैंने कोई दान किया है, ऐसा मैं नहीं मानता। समाजका दिया हुआ पैसा मैं समाजके चरणोंमें रख रहा हूँ। मेरे इन पैसोंकी सँभाल रखनेके लिये मैं नगरसेठका और रकम स्वीकार करनेके लिये समाजका उपकार मानता हूँ......।'

नगरसेठने इस आश्रमकी स्थापनाके लिये अपनी ओरसे दस हजार रुपयेके दानकी घोषणा की। सभा विसर्जित हुई। उस समय लोग धनियाकी खूब-खूब प्रशंसा कर रहे थे। 'जगत्‌के इतिहासमें यह 'वसीयतनामा' बेजोड़ रहेगा' ऐसी बात भी कुछ लोग कर रहे थे। 'अखण्ड आनन्द'

—झवेर भाई बी० पटेल

(३)

अनोखा पागलपन

मेरे ग्राममें एक पागल व्यक्ति है। जातिका ब्राह्मण है और उसे पागल हुए लगभग पंद्रह वर्ष हो गये। पागल हो गया है, घर-द्वारका कोई ठीक नहीं, तो भी अपने कर्तव्यपर अडिग रहता है। गाँवके आस-पास ही मजदूरी करके अपना पेट पालता है। वह उन पागलोंमें नहीं, जो किसीको अंट-संट बकता रहता हो। उसका विचार इतना महान् है कि आप कोई भी वस्तु उसको दें, परंतु वह मुफ्तमें उसे ग्रहण नहीं कर सकता। एक दिनकी बात है कि मेरे द्वारपर दो मजदूर और मेरे चाचाजी चारा-मशीनसे चारा काट रहे थे। वह पागल कहींसे घूमता हुआ आया। कुछ समय रुकनेके बाद उसने चाचाजीसे कहा—'ओझाजी! एक जनेऊ दीजिये। मेरा जनेऊ अभी टूट गया।' चाचाजी जनेऊ लाने गये और इधर वह पागल एक मजदूरको हटाकर स्वयं चारा काटने लगा। शीघ्र ही चाचाजी जनेऊ लाकर उसे देते हुए बोले—'ये मजदूर हैं, मजदूरीपर चारा काट रहे हैं, तुम जाओ।' उस पागलने जनेऊ लेते हुए कहा—'इस जनेऊके बनानेमें आपको समय लगा होगा न? मैं जनेऊको मुफ्तमें नहीं ले सकता।' और यह कहकर उसने मशीन चलाना शुरू कर दिया। करीब पंद्रह मिनटतक काम करनेके बाद वह गया। मैं उसके ऐसे सुन्दर विचार देखकर दंग रह गया। कितनी पवित्र है उसकी आत्मा, कैसे सुन्दर हैं उसके विचार। हम सबके ऐसे ही विचार हो जायँ तो सारा संसार सुखकी नींदसे सोये।

—कामेश्वर ओझा

(४)

बचानेवालेके साथ ही गाय भी चल बसी

गाँव कचौरामें मेरे बड़े भाई वैद्य श्रीकुन्दनलालजी मोहताने एक काँजी-हाउसकी नीलामी गौ, जो एक कसाईके हाथों बिक रही थी, उसे बचानेकी दृष्टिसे ७) में खरीद ली और केवल सेवाभावसे उसको अपनी देख-रेखमें रख लिया। भाग्यसे चार महीने बाद उसने बच्चा दिया और वह खूब दूध देने लगी। फिर तो हर डेढ़ साल बाद वह बच्चा देती और दूध पिलाती। इस प्रकार उसकी कई बछियाँ हुईं और गायरूपमें दूसरोंको दान दी गयीं और जहाँ-जहाँ दी गयीं, वहाँ-वहाँ खूब बछड़े और बछिया दीं, जिनके बछड़े बैल बनकर उन लोगोंके खेतमें काम आये और गायकी बछियाँ पौद रूपमें गाय बनकर बराबर दूध देती रहीं। लगभग आठ वर्ष बाद वे कचौरेसे हाथरस रसायनशालाका काम ले आये। आते समय वे एक किसानको गाय इसलिये दे आये कि शहरमें जगहकी कमी रहेगी। किसान रघुवीर चन्दनपुराको इस शर्तपर गाय और बछड़ा दे आये कि इस गायकी अगली बार बछिया होनेपर हम हाथरस मँगा लेंगे और सेवा करेंगे। बछड़ा हर हालतमें तेरा है।

ईश्वरकी माया बड़ी विचित्र रही कि श्रीकुन्दनलालजी बीमार पड़े और उन्हीं दिनों उस किसानने खबर दी कि

गायने बछिया दी है और दूध दे रही है। किसानको कहला दिया कि तुम गायका दूध पीओ, जब बछिया बड़ी हो जायगी तब हम मँगा लेंगे। किसानने बार-बार कहा कि 'दूध वहाँ आप पीते रहें। बड़ी होनेपर बछिया आप रख लें, तब मैं गाय ले जाऊँगा।'

इस सूचनाके बाद लगभग ८ दिन भी न बीते कि श्रीकुन्दनलालजीकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी एकादशीको दस बजेके समय। तीसरे दिन वह किसान फिर आया और उसने समाचार दिया कि जिसे कोई भी रोग नहीं था, वह गाय १२ बजे अचानक खड़े-खड़े गिर गयी और मर गयी तथा २ बजे उसकी बछिया भी चल बसी। पूछनेपर उसने बताया कि दिन भी वही एकादशीका था। इस बातसे बड़ा आश्चर्य हुआ किंतु घटना बिल्कुल सत्य थी। आखिर सबने यही विचार किया कि कसाईके हाथसे मौतके मुँहमेंसे बचानेका ही परिणाम यह निकला कि बचानेवाले श्रीपूज्य भाईजीके साथ गायने भी परलोकमें उनके साथ जाना ठीक समझा। अतः शास्त्रकी बात ठीक साबित हुई कि गाय यहाँ भी तारती है और परलोकमें भी।

—रामचन्द्र मोहता

(५)

तुमने अपना कर्तव्य पूरा किया

आसाम प्रान्तके कछार जिलेके दूरके एक गाँवमें—गैर कानूनी तौरपर बनाया हुआ एक छप्पर तोड़नेके लिये मैं सरकारकी ओरसे गया था। एक गरीब ग्रामीणने अपने घरके बगलमें सरकारी स्वामित्वकी जमीनपर बाँस रोपकर एक छप्पर ढाल लिया था।

मेरे आदमियोंने छप्पर तोड़ना शुरू किया। वह ग्रामीण मेरे पास खड़ा था। न तो उसने इसके विरोधमें एक शब्द भी उच्चारण किया और न किसी प्रकारसे दयाकी ही भीख माँगी।

ज्यों ही छप्परके तोड़नेका काम पूरा हुआ कि तुरंत वह घरके अंदर गया और दूधसे भरा एक प्याला लाकर मेरे सामने रख दिया। मैं लज्जित-सा हो गया और मैंने दूध लेनेसे इन्कार कर दिया; परंतु बड़ी ही नम्रतासे उसने कहा—'साहेब! इस छप्परको तोड़ना तो तुम्हारा कर्तव्य था, तुमने उसे पूरा किया, पर तुम शहरसे कितनी दूर यहाँ आये हो तथा अबतक तुमने कुछ भी लिया नहीं है। कृपा करके भगवान्‌के नामपर इतना-सा दूध पी लो; नहीं तो, मुझे बहुत दुःख होगा।'

मैंने जब दूध पीया, तब उसके चेहरेपर संतोषकी झलक दिखायी दी। 'अखण्ड आनन्द'

—मृगाङ्कमोहनदास

(६)

ईश्वरका न्याय एवं चेतावनी

घटना कुछ पुरानी किंतु सच्ची है एवं इससे अनुभव होता है कि भगवान् समय-समयपर अपने भक्तोंको सही मार्गका अवलम्बन करनेकी प्रेरणा देते रहते हैं।

उस समय जाड़ोंके दिन थे। मैं राजस्थानमें अपने ग्राम उदयपुर शेखावाटीसे जैपुर कुछ कार्यवश जा रहा था—जाते समय पिताजीने वहाँसे कुछ मेवा लानेको कहा एवं साथ ही यह भी हिदायत दी कि जैपुरमें बहुत ज्यादा मोल-तोल होता है अतः बुद्धिमानीसे माल खरीदना, ठगा मत जाना। अतः उसी चेतावनीको ध्यानमें रखते हुए मैं मेवोंके बाजारमें गया एवं कई दूकानोंपर भावोंकी जाँच की, अन्तमें ४-५ दूकानोंके बाद एक दूकानपर पहुँचा, मेरे हाथमें सामानकी सूची थी, दूकानदार काफी चालाक होगा—अतः मैंने सूचीके अनुसार २-३ चीजोंके दाम पूछे तो उसने यह समझ लिया था कि मैं बाजारकी अन्य दूकानोंसे भाव पूछकर आ रहा हूँ, इसलिये उस भाईने मुझे, उनके दाम बाजारसे कुछ-कुछ कम करके बताये तो मैंने समझा कि यह ठीक दूकान है, यहाँ उचित दाम लगेंगे। अतः मैंने अपनी सूची उस दूकानदार भाईको सम्हलाकर कह दिया कि मैं और चीजें खरीदकर आ रहा हूँ, आप इस बीचमें सब चीजें बढ़िया देखकर ठीकसे तोलकर मेमो बनाकर तैयार रक्खें। थोड़ी देरके बाद और काम समाप्त करके मैं लौटा तो दूकानदारने सब चीजें तैयार कर कैश-मेमो तैयार कर रक्खा था। मैंने अपनी सूची लेकर कैश-मेमोसे मिलाया तो मालूम हुआ कि जिन दो-तीन चीजोंके दाम मैंने उससे पूछे थे वे तो उसने जो भाव मुझे बताये थे यानी बाजारसे कुछ नीचे, उनके तो वही दाम उसने लगाये, बाकी ८-१० चीजोंमें बाजारमें जो दाम थे, उनसे भी कुछ ऊँचे लगाये, मैंने दूकानदारसे विरोध किया तो वह तैयार नहीं हुआ

बाजारभाव दाम लगानेको। मुझे जल्दी थी अतः लाचारीसे पछताते हुए दुःखित मनसे, क्योंकि उसके विश्वासके कारण मैं बेवकूफ बन चुका था, मेमोके अनुसार सामान मिलाने लगा तो देखा कि मेरी सूचीके अनुसार ३ सेर पिश्ते उसने दिये थे किंतु भूलसे मेमोमें दाम उसने दो सेरके ही लगाये थे। अतः ज्यों ही मैं उसे उसकी भूल बतानेको था कि मेरे मनमें अचानक यह भावना उठी कि चलो अच्छा हुआ इसने मेरे साथ बेईमानी की, उसकी कसर मेरी तो पूरी हो रही है एवं इसको कोई लाभ भी नहीं हो रहा है। अतः मैंने मनमें खुश होकर उससे उसकी गलती नहीं बतायी और रुपये देकर मेवोंकी सभी छोटी-बड़ी थैलियोंको एक बड़े बोरेमें डलवाकर ताँगेमें रखकर चला। साथ ही सोच रहा था कि दूकानदारको उसकी गलतीसे उसकी बेईमानीका कोई फायदा नहीं हुआ—भगवान् भी कितना न्यायप्रिय है—किंतु मैंने यह नहीं सोचा कि मेरे मनमें भी तो कुछ खोट आ ही गयी, चाहे किसी कारणसे हो, चाहे दूकानदारकी बेईमानी हो—वह अपनी करनी भोगता—मुझे तो जितनी चीज ली उसके पूरे दाम देने ही चाहिये थे—किंतु यह मेरी गलती थी। मुझे भी समझिये—लोभ आ गया। किंतु वाह रे 'ईश्वरका न्याय एवं चेतावनी'। मैं मन-ही-मन ताँगेपर हिसाब लगाये जा रहा था तो जोड़नेसे पता चला कि १ सेर पिश्तेके जितने दाम हुए करीब-करीब उतने ही पैसे उसने अन्य चीजोंमें मुझसे अधिक विशेष लिये थे—मैंने देखा कि दूकानदारको कोई लाभ नहीं हुआ और न मेरे ज्यादा पैसे लगे। किंतु मेरे मनमें जो दुर्भावना आयी, उसके प्रतीकारके लिये एवं भविष्यमें फिर इसी प्रकारकी पुनः गलती नहीं करूँ, इसके लिये दयालु भगवान्‌ने इतना सुन्दर सबक दिया जिसे कि मैं जीवनभर नहीं भूल सकता। ताँगा बाजारसे चला जा रहा था। इतनेमें पीछेसे ताँगा रोकनेकी आवाज सुनायी पड़ी तो घूमकर क्या देखता हूँ कि बोरा खिसककर ताँगेके पहियेके समीप आ गया था और उस पहियेकी रगड़से बोरा कटकर एवं उसके अंदरकी पिश्तोंवाली थैलीमें रगड़ लगकर वह भी कट गयी थी तथा सड़कपर पिश्ते गिरते जा रहे थे और लोग चुन रहे थे। हल्ला सुनकर ताँगेवालेने ताँगा रोककर पिश्ते बटोरनेकी सोची तो मैंने उसे मना करा दिया; क्योंकि पिश्ते गिरनेसे मनके अंदर एक प्रकाश-सा मालूम हुआ एवं अपनेपर, दूकानदारको १ सेरका दाम नहीं देनेकी ग्लानि हुई एवं पश्चात्ताप हुआ। डेरेपर आकर पिश्तेको तौला तो ठीक एक सेर पिश्ते गिरे थे। यों दोनोंको सजा मिल गयी—दोनोंके घरमें नहीं रहा—न खरीदारके, न दूकानदारके; क्योंकि दोनोंके मनमें बुराई आ गयी थी। यह था 'ईश्वरका न्याय एवं चेतावनी' दूधका दूध, पानीका पानी। पिश्ते तौलनेके बाद बड़ी शान्ति मिली। इसी प्रकार भगवान् प्रायः हर मौकेपर प्रेरणा एवं सद्बुद्धि देते हैं।

—महावीरप्रसाद पाण्डेय

(७)

समवेदना

गत ११ जून १९६६ शनिवारको सबेरे मैंने डी० एल वैद्य रोडपर रहनेवाले अपने मित्र काशीनाथके घर पहुँचकर देखा कि उनके वृद्ध पिता जमीनपर सोये हुए तड़प रहे हैं। मैं हैरान रह गया। पूछनेपर काशीनाथने बताया कि 'भाई! घबरानेकी कोई जरूरत नहीं है। गत कल रात्रिको ही पिताजीपर हल्का-सा लकवेका हमला हो गया था। डाक्टरकी दवा चल रही है और सोमवारको सबेरे इनको सायन तिलक अस्पतालमें भर्ती करानेकी व्यवस्था हो चुकी है।'

सोमवारकी संध्याको मैंने काशीनाथके पिताजीके स्वास्थ्यका हाल जाननेके लिये उनके घरकी ओरका रास्ता पकड़ा कि इतनेमें ही बाजे-गाजेके साथ शवयात्राका एक जुलूस शिवाजी पार्ककी ओर जाता दिखायी दिया और उसमें सबसे आगे धूआँ छोड़ती हुई हाँड़ीके साथ काशीनाथको देखकर मैंने सारी परिस्थिति समझ ली और आँखोंके आँसू छिपाता हुआ मैं वहींसे वापस लौट गया।

दूसरे दिन काशीनाथसे मिलनेपर उनके पिताजीकी अकस्मात् मृत्युके सम्बन्धमें मैंने पूछा तो उन्होंने बताया—'भाई! सोमवारको सबेरे नियत समयपर उनको सायन अस्पतालमें ले गये और एक अच्छेसे सुविधापूर्ण कमरेमें उन्हें रखवा दिया। अभी इंजेक्शन-इलाज चालू हो ही रहा था कि माटुंगा-वडालाके बीचमें दो लोकल ट्रेनोंके आमने-सामने भिड़ जानेसे भयानक दुर्घटनाका समाचार मिला और साथ ही टेक्सियोंमें, मोटरोंमें, एम्बुलेन्सोंमें, बसोंमें—भर-भरकर करुण चीत्कार करते घायल यात्रियोंके समूह

अस्पतालमें पहुँचने लगे। देखा न जाय, ऐसा करुण दृश्य अस्पतालमें चारों ओर दृष्टिगोचर होने लगा। दुर्घटनाग्रस्त तुरंत ध्यान देने योग्य घायलोंसे अस्पतालके पलंग खचाखच भरने लगे और बाहरके अन्यान्य रोगियोंको लेना अस्पतालके अधिकारियोंने बंद कर दिया।

संयोगकी बात, उसी समय खूनसे तरतर एक नौजवानको मेरे पिताजीवाले कमरेमें लाया गया और तुरंत ऑपरेशन करनेकी जरूरत होनेके कारण मेरे पिताजीको घर वापस ले जाने और उस नौजवानके लिये पलंग खाली कर देनेके लिये अस्पतालके अधिकारी हमारे फेमिली डाक्टरको समझाने लगे।

परंतु—'पहलेसे सब पक्की बात करके पैसे जमा करानेके बाद ही हमलोग यहाँ आये हैं।' यह कहकर मेरे पिताजीका इलाज रोककर उन्हें वापस ले जाना हमारे डाक्टरने स्वीकार नहीं किया। कानूनके अनुसार कुछ भी हो नहीं सकता था। इससे अस्पतालके अधिकारी भी असमंजसमें पड़ गये।

इसी बीच उस नौजवानके साथ आये हुए उसके माता-पिताके हृदय-विदीर्णकारी रुदनको देखकर पिताजीका हृदय द्रवित हो गया और उन्होंने डाक्टरोंको नजदीक बुलाकर कहा—'देखिये! आप दोनों हठ नहीं करें। मुझे भी यही लग रहा है कि मेरी अपेक्षा इस आशास्पद नौजवानकी सार-सँभाल करना विशेष आवश्यक है। फिर—मेरे-जैसे वृद्धकी अपेक्षा इसके जीवनकी रक्षा करना विशेष उपयोगी भी है। अतएव घर वापस न ले जाकर मुझको नीचे जमीनपर सुला दिया जाय और पलंग नौजवानको दे दिया जाय।' यों कहकर पिताजी स्वयं ही पलंगपरसे नीचे उतरने लगे, पर वे फिसल पड़े।

फिर तो दुर्घटनाग्रस्त घायलोंसे भरे अस्पतालमें सारे साधन उन्हींकी सार-सँभालमें लग गये और साधन तथा उचित देख-रेखके अभावमें दोपहरको ही पिताजीका वहीं देहावसान हो गया।

यह सुनकर भरे हृदयसे उनसे विदा लेते समय मैंने कहा—तुम्हारे पिताजी चाहे गये परंतु बिना कसूर एक दूसरेकी हत्या करनेवाले इस कलियुगके मनुष्योंके लिये वे मानवताका एक अमर संदेश देते गये—यह निश्चित है।

—शान्तिलाल गोळे

(८)

स्नेहकी अमृतधारासे घर जलते-जलते बच गया

'सद्व्यवहारका प्रभाव'

श्रीरामकुमार और ईश्वरचन्द दो भाई थे, दोनों ही विवाहित थे। छोटा भाई कुछ भोला था, बड़ा भाई उसके साथ बड़े प्रेमका बर्ताव करता, पर कभी-कभी खीझ भी जाता था। अपने पतिके भोलेपनपर छोटे भाईकी स्त्रीका मन उदास रहता। पर उसकी जेठानीका स्वभाव इतना आदर्श और उदार था कि वह अपने पतिको समय-समयपर नम्रतासे समझाती कि 'भाई भोला है तो क्या, है तो आपका भाई ही न? आप उसपर कभी नाराज न हुआ करें।' रामकुमार अपनी पत्नीके सद्व्यवहारपर प्रसन्न होकर मुस्करा देता!

एक दिन रामकुमार चार हीरेके कड़े लेकर आया, दो अपनी स्त्रीके लिये और दो छोटे भाईकी स्त्रीके लिये। उसने लाकर दो कड़े दिये और कहा—'बहूको दे देना!' उस दिन ईश्वरचन्द कुछ खीझमें था, इसलिये इन दोनों कड़ोंको फेंककर बोला—'या तो चारों कड़े लूँगा या एक भी नहीं।' बड़े भाईने प्रेमसे समझाया पर वह समझा नहीं! तब बड़े भाईने जरा खीझकर कुछ कह दिया तो इसपर उसने अधिक खोटी-खरी सुना दी। रामकुमारके मुँहसे आवेशमें अकस्मात् निकल गया कि 'इस तरह तुम्हारी शरारत नहीं चलेगी, अलग हो जाओ।'

ईश्वरचन्दकी पत्नीको अपने स्वामीके व्यवहारपर दुःख हो रहा था, पर जेठके मुँहसे अलग हो जानेकी बात सुनकर उसे भी अलग होनेकी जँच गयी। उसकी जेठानी रामकुमारकी पत्नी छतपर रसोईघरमें थी। उसे इन सब बातोंका कुछ पता नहीं था। ईश्वरचन्दकी पत्नी रोती हुई ऊपर अपनी जेठानीके पास गयी और रोते-रोते बोली—'जेठजीने आज्ञा दे दी है। इसलिये मैं आपकी आज्ञा लेने आयी हूँ, हमलोग जा रहे हैं।'

सुनते ही वह हक्की-बक्की रह गयी। उसने नीचे जाकर सब बातोंका पूरा पता लगाया। फिर उसने रोकर अपने पतिके पैर पकड़ लिये और कहा—'आप ईश्वरचन्द और उसकी पत्नीको अलग कर रहे हैं तो मुझे भी उनके साथ जाने दीजिये। मेरे कोई संतान नहीं! मैंने छोटेसे देवरको अपने पेटके बच्चेकी तरह पाला है। इसकी बहूको

मैं अपनी बेटी मानती हूँ। मैं इनसे अलग नहीं रह सकूँगी। आप हमलोगोंको अलग भेजकर अकेले कैसे रह सकेंगे? आप अपने इस भोले छोटे भाईको चारों कड़े दे देते तो क्या बिगड़ता? आखिर सारी सम्पत्ति है तो इन्हींकी न। फिर यह भेद-भाव क्यों, मैं जानती हूँ आपका हृदय भाईके प्रति अत्यन्त स्नेहसे भरा है पर आपका यह भोला भाई बड़े ही स्नेहसे पाला-पोसा गया है; यह आपकी स्नेहभरी खीझको न समझ सकता है और न सहन ही कर सकता है। इसे हृदयसे लगाइये और सबको सुखी कीजिये।'

रामकुमारका हृदय तो स्वभावसे अच्छा था ही। पत्नीके इन शब्दोंने बड़ा असर किया। उसने उठकर तुरंत छोटे भाईको हृदयसे लगा लिया। वह खीझता और बकता रहा। पर रामकुमार रोता और पुचकारता गया। ईश्वरचन्दका भी हृदय पलट गया। पलटना था ही। सच्चे त्याग और स्नेहका शुभ परिणाम निश्चित है।

इस दिनसे घरमें सर्वत्र स्नेहकी सरिता बहने लगी। रामकुमारकी पत्नी यदि उस दिन पतिकी क्रोधाग्निमें जरा-सी आहुति डालनेकी मूर्खता कर बैठती तो सारा घर भस्म हो जाता। पर उसने अपने हृदयके अमृत-रसको आँसुओंकी धाराके रूपमें बहाकर उसके द्वारा बढ़ती हुई आगको सदाके लिये शान्त कर दिया।

धन्य है ऐसी नारी! —सुरेन्द्रकुमार जैन

(९)

सरल प्रेमभावना

'क' स्वयं हाईकोर्टके बड़े न्यायाधीश हैं। इनकी विद्वत्ता और न्यायपरायणताके विषयमें दो मत नहीं है। ये पुरुष सम्बन्ध कभी भूलते नहीं। छोटे-से-छोटे आदमीको भी कभी ख्याल न आवे कि मैं बहुत बड़ा आदमी हूँ—ऐसा इनका व्यवहार। इतने ऊँचे पदपर पहुँचनेपर भी बचपनके बालगोठियोंके साथ मित्रता निभाना जानते हैं। इतना ही नहीं, व्यावहारिक जगत्के लोग जहाँ बड़प्पनके अभिमानमें ऐसे मित्रोंसे मिलनातक बंद कर देते हैं, वहाँ ये न्यायमूर्ति आज भी अपने एक लंगोटिया बालगोठिया दोस्तके यहाँ, जिसने शहरमें एक छोटी-सी घड़ीकी दूकान कर रखी है, कोर्टसे छुट्टी मिलते ही नियमित रूपसे जाते हैं, लगभग घंटेभर इधर-उधरकी बातें करते हैं, परस्पर तू-ता से ही सम्बोधन करते हैं। दोनोंमें गुण और व्यवहारका कुछ भी साम्य नहीं है। तथापि दोनोंकी दोस्ती बेजोड़ है। एकमें बड़प्पनका अभिमान नहीं, तो दूसरेमें गरीबीकी कमी नहीं!

एक दिन न्यायमूर्ति अपनी मोटरको बगलमें पार्क खड़ी करके घड़ीवालेके यहाँ सदाकी तरह गप्पें लड़ा रहे थे। इसी बीच घड़ीवाले दोस्तने किसी बातमें उनसे असम्मत होकर कहा—'किस गधेने तुझे चीफ जस्टिस बनाया है?' और हँसते-हँसते ही न्यायमूर्तिने दोस्तकी चुटकी लेते हुए कहा—'शायद तेरे अब्बाजान (पिता) ने ही बनाया होगा।' और दोनों ही मित्र सरलभावसे ठहाका मारकर हँस उठे। ऐसी प्रेमभावना आज भी जब कहीं देखनेको मिल जाती है, तब जीवनका दुःख हल्का हो जाता है।

'अखण्ड आनन्द' —चन्द्रकान्त जे० पंड्या

पवित्र कर्तव्य और धर्म

धन-ऐश्वर्य, सफलता भौतिक, पद-अधिकार, मान-सम्मान।
प्रचुर भोगसाधन, निरोग तन, रागयुक्त इन्द्रिय बलवान॥
सभी अपूर्ण, अनित्य क्षणिक हैं, सभी मृत्युमय दुःखागार।
भूलो नहीं इन्हें पा क्षणभर, प्रभु-पद-रति-रस-सिन्धु अपार॥
मानव-जीवनका न कभी है लक्ष्य—अशुचितम भौतिक भोग।
लक्ष्य एक ही, रहे सुदृढ़ नित प्रभुसे भेदशून्य संयोग॥
हों मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके सब इसी हेतु सुविचार सुकर्म।
है पुनीत कर्तव्य यही मानवका यही एक शुचि धर्म॥

'कल्याण' नामक हिंदी मासिकपत्रके सम्बन्धमें विवरण

फार्म चार—नियम-संख्या—आठ

१-प्रकाशनका स्थान—गीताप्रेस, गोरखपुर

२-प्रकाशनकी आवृत्ति—मासिक

३-मुद्रकका नाम—मोतीलाल जालान

राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

४-प्रकाशकका नाम—मोतीलाल जालान

राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

५-सम्पादकका नाम—(१) हनुमानप्रसाद पोद्दार,

(२) श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

दोनोंका राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय

दोनोंका पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

६-उन व्यक्तियोंके नाम-पते जो इस समाचार-पत्रके मालिक हैं और जो इसकी पूँजीके भागीदार हैं। —श्रीगोविन्दभवनकार्यालय, पता—नं० १५१, महात्मा गाँधी रोड, कलकत्ता (सन् १८६० के विधान २१ के अनुसार रजिस्टर्ड धार्मिक संस्था)

मैं मोतीलाल जालान, इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानकारी और विश्वासके अनुसार यथार्थ हैं।

दि० १ मार्च १९६७

मोतीलाल जालान
प्रकाशक

गीताभवन-स्वर्गाश्रम-सत्सङ्गकी सूचना

ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजीकी लोककल्याणकारिणी लगन एवं उनकी मङ्गल-प्रेरणा फलस्वरूप वर्षोंसे ऋषिकेशकी तपोभूमि गीताभवन-स्वर्गाश्रममें श्रीगङ्गाजीके पुनीत तटपर प्रतिवर्ष सहस्र सहस्र नर-नारी सत्सङ्गका पवित्र लाभ उठाते थे। पूज्य श्रीजयदयालजीके अभावकी पूर्ति तो असम्भव है परंतु उनके अन्तिम संकेतके अनुसार गत वर्ष भी गीताभवन-स्वर्गाश्रममें सत्सङ्गका आयोजन किया गया था। उसीके अनुसार इस वर्ष भी सत्सङ्गका विचार है। सबसे प्रार्थना है कि प्रतिवर्षकी भाँति सत्सङ्गी महानुभाव तथा माताएँ-बहिनें अधिकाधिक संख्यामें सत्सङ्गके पवित्र उद्देश्यसे ऋषिकेश पधारें। भाई हनुमानप्रसाद पोद्दारकी चैत्र शुक्ल पक्षमें श्रीरामनवमीके बाद ही वहाँ पहुँचनेकी बात है। उसी समय श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजी महाराज भी पधार सकते हैं। श्रद्धेय स्वामीजी श्रीशरणानन्दजीसे भी प्रार्थना की गयी है तथा अन्यान्य महात्मागण भी पधारनेवाले हैं। सदाकी भाँति ही यह नम्र निवेदन है कि सत्सङ्गमें पधारनेवालोंको ऐश-आराम या केवल जलवायु-परिवर्तनकी दृष्टिसे न जाकर सत्सङ्गके उद्देश्यसे ही जाना चाहिये तथा वहाँ यथासाध्य नियमित तथा संयमित साधकजीवन बिताते हुए सत्सङ्गमें अधिक-से-अधिक भाग लेना चाहिये।

नौकर-रसोइया आदि यथासम्भव साथ लाने चाहिये। स्वर्गाश्रममें नौकर-रसोइया मिलना कठिन है। स्त्रियाँ पीहर या ससुरालवालोंके अथवा अन्य किन्हीं सम्बन्धीके साथ वहाँ जायँ, अकेली न जायँ। अकेली जानेकी हालतमें कदाचित् स्थान न मिल सके तो कृपया दुःख न करें। गहने आदि जोखिमकी चीजें साथ नहीं रखनी चाहिये। बच्चोंको वे ही लोग साथ ले जायँ जो उन्हें अलग डेरेपर रखनेकी व्यवस्था कर सकते हों; क्योंकि बच्चोंके कारण स्वाभाविक ही सत्सङ्गमें विघ्न होता है। खान-पानकी चीजोंका प्रबन्ध यथासाध्य किया जा रहा है, यद्यपि इस बार बड़ी कठिनता है; परंतु दूधका प्रबन्ध होना कठिन है।

विभिन्न भाषाओंके विद्वान् लेखकोंसे निवेदन

'श्रीरामवचनामृताङ्क'में भारतकी विभिन्न भाषाओंके श्रीरामवचनोंका संग्रह किया गया है। श्रीरामवचन इतने अधिक हैं कि उनका पूरा संग्रह करना तो अत्यन्त ही कठिन है। विभिन्न भाषाओंमें भी बहुत-सी भाषाओंके वचनोंका संग्रह नहीं हो सका है। कुछका बहुत ही थोड़ा हुआ है—जैसे मराठी भाषामें समर्थ श्रीरामदासजीका तथा अन्यान्य महानुभावोंका प्रचुर रामसाहित्य है, तेलुगुमें बहुत राम-साहित्य है, परंतु उनमेंसे बहुत कम ही वचन संकलित हो पाये हैं। मैथिल भाषामें राम-साहित्य है, इसी प्रकार भारतकी अन्यान्य प्रान्तीय बोलियोंमें है। उनमेंसे भी कुछ वचन संकलित हो जाते तो अच्छा था। विदेशी भाषाओंमें भी रामपर जो कुछ लिखा गया है, उसमें भी उपयोगी चीजें मिल सकती हैं। अतएव यह निवेदन है कि जिन-जिन भाषाओंके रामवचन न आये हों या बहुत ही कम आये हों, उन-उन भाषाके विद्वान् सज्जन श्रीरामके चुने हुए महत्त्वपूर्ण वचन मूल तथा हिंदी अनुवादसहित लिख भेजनेकी कृपा करेंगे तो उन्हें यथावकाश 'कल्याण'के आगामी साधारण अङ्कोंमें प्रकाशित कर दिया जायगा। आशा है विद्वान् सज्जन हमारी प्रार्थनापर ध्यान देंगे।

निवेदक—सम्पादक 'कल्याण' गोरखपुर

वर्ष ४१] * * * [अङ्क ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,५०,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख २०२४, अप्रैल १९६७

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य
भारतमें ८.५०
विदेशमें १५.६०
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत-चित-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ५० पै०
विदेशमें ८० पै०
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

मदरहित सुग्रीवका माला तोड़ना

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

अविरतभवभावनातिदूरं भवविमुखैर्मुनिभिः सदैव दृश्यम् ।
भवजलधिसुतारणाङ्घ्रिपोतं शरणमहं रघुनन्दनं प्रपद्ये ॥
रतिपतिशतकोटिसुन्दराङ्गं शतपथगोचरभावनाविदूरम् ।
यतिपतिहृदये सदा विभातं रघुपतिमार्तिहरं प्रभुं प्रपद्ये ॥

वर्ष ४१ } गोरखपुर, सौर वैशाख २०२४, अप्रैल १९६७ { संख्या ४
पूर्ण संख्या ४८५

सुग्रीवकी विनयसे लक्ष्मणजीका क्रोध शान्त

'ओजस्वी सौमित्रि ! करो तुम क्षमा हमारे सारे दोष ।'
मदको त्याग, तोड़ मालाको, बोले कपिपति, 'छोड़ो रोष ॥
रामकृपासे ही पाया मैंने श्री, कीर्ति, राज्य सर्वस्व ।
राघवके उपकार अमितका क्या मैं बदला दूँ निस्सत्त्व ॥
होगा प्रभुकी महिमासे ही रावण-वध, सीता-उद्धार ।
मैं नगण्य भी पाऊँगा सेवाका शुचि सौभाग्य अपार' ॥
ताराने भी मधुर नम्र वचनोंसे स्थितिका किया बखान ।
मृदु-स्वभाव लक्ष्मणने हो संतुष्ट किया तत्क्षण प्रस्थान ॥

याद रक्खो—मान-अपमान 'रूप'का या 'शरीर'का होता है और स्तुति-निन्दा 'नाम'की होती है। और ये रूप तथा नाम दोनों ही तुम्हारे स्वरूप नहीं हैं। देहका निर्माण माताके उदरमें गर्भकालमें होता है और नाम जन्मके बाद रक्खा जाता है। नाम बदले भी जाते हैं। अतएव ये रूप और नाम आत्माके नहीं हैं और तुम आत्मा हो। इस देहके निर्माणके पहले भी आत्मारूपमें तुम थे, देहावसानके बाद भी रहोगे। आत्माका मान-अपमान और स्तुति-निन्दा कोई कर नहीं सकता। अतएव मान-अपमान तथा स्तुति-निन्दासे तुम न हर्षित होओ न उद्विग्न। दोनोंको समान समझकर उन्हें ग्रहण मत करो।

याद रक्खो—सत्कार-मान और बड़ाई-स्तुति जितने प्रिय लगते हैं, उतने ही असत्कार-अपमान और निन्दा-गाली अप्रिय लगते हैं और उसीके अनुसार राग-द्वेष होता है। राग-द्वेषका परिणाम है—आध्यात्मिक दैवी सम्पदाका नाश और भौतिक आसुरी सम्पदाका विकास। जहाँ आसुरी सम्पदाका सृजन-संरक्षण-संवर्धन होने लगता है, वहाँ भाँति-भाँतिके दुष्कर्म, दुर्विचार, पाप, दुःख, क्लेश, संताप, अशान्ति, यन्त्रणा आदिका होना-बढ़ना अनिवार्य होता है। यों मानवजीवन दुःखों तथा नरकोंका अमोघ साधन बन जाता है। तुम जरा ध्यान देकर सोचोगे तो यह प्रत्यक्ष दिखलायी देगा कि तुम न देह हो, न नाम हो और यहाँके मान-अपमान तथा स्तुति-निन्दा ही नहीं, लाभ-हानि, जय-पराजय, शुभ-अशुभ, प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, मित्र-शत्रु, जीवन-मरण आदि सभी द्वन्द्व केवल देह-नाम या नाम-रूपसे ही सम्बन्ध रखते हैं। तुम इन द्वन्द्वोंको भगवान्‌की माया मान लो या उनका लीलानाट्य। बस तुम इस द्वन्द्वात्मक स्थितिसे ऊपर उठ जाओगे।

याद रक्खो—यह द्वन्द्व ही जगत् है—माया है और द्वन्द्वातीत या समस्थिति ही ब्रह्म है। द्वन्द्व परिवर्तनशील है, विनाशी है और सम ब्रह्म नित्य अविनाशी है। यही तुम्हारा स्वरूप है। स्व-रूप होनेके कारण सहज ही अनुभवगम्य है, तथापि प्रकृतिस्थ अवस्थामें सत्यकी अनुभूति छिपी रह जाती है। अतएव अभी इस प्रकार द्वन्द्व-मोहसे मुक्त रहनेकी साधना करो; न मान-बड़ाईमें हर्षित होओ, न अपमान-निन्दामें दुःखित। इसी प्रकार हरेक द्वन्द्वमें समत्व रखनेकी चेष्टा करो।

याद रक्खो—व्यवहारमें—(शरीरके विभिन्न अङ्गोंके कार्योंकी भिन्नता रहनेपर आत्मरूपसे जैसे उनमें कोई भेद नहीं है, वैसे ही—) व्यावहारिक परिस्थितिके भेदसे भेद प्रतीत हो, पर अन्तस्‌में किसी भी द्वन्द्वमें अनुकूलता-प्रतिकूलताका बोध नहीं होना चाहिये।

याद रक्खो—देहमें और नाममें अहंबुद्धि होनेसे ही, जो सर्वथा मिथ्या है तथा अयुक्तियुक्त है, ममता, आसक्तिका प्रसार होता है और अनुकूलता-प्रतिकूलताकी अनुभूति होती है। अतएव अपनेको सदा-सर्वदा आत्मामें स्थित आत्मरूप देखनेकी चेष्टा करो और मिथ्या नाम-रूपको सर्वथा कल्पित मानकर अपनेको सदा उनसे पृथक् देखो।

याद रक्खो—जितने भी भेद हैं—सब नाम-रूपको लेकर हैं। नाम-रूप व्यवहारके लिये हैं। इनसे सर्वथा भेदरहित आत्माका सम-स्वरूप नहीं बदलता। तुम सम आत्मामें, जो तुम्हारा स्वरूप है—स्थित होकर व्यावहारिक जगत्‌में यथायोग्य व्यवहार करो। तुम्हारे व्यवहारमें विषमता रहेगी, पर तुम आत्म-स्वरूपमें नित्य निर्द्वन्द्व सर्वदा-सर्वथा सम रहोगे। व्यवहारकी लहरियाँ तुम्हारे प्रशान्त स्वरूपमें जरा भी क्षोभ उत्पन्न न कर सकेंगी, वरं वे तुम आत्मस्वरूप प्रशान्त महासागरकी शोभा होंगी।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

[दुःखकी समस्या]

(संकलयिता—श्री'माधव')

जो न चाहनेपर भी आ जाता है, वही दुःख है और जो चाहते हुए भी चला जाता है, वही सुख है। दुःख-सुखकी अनुभूति मानवमात्रको होती है। नवजात शिशु भूखसे पीड़ित होकर रोने लगता है। इस दृष्टिसे दुःख मानवकी प्रथम अनुभूति है। जो न चाहनेपर आता है, वह प्राकृतिक विधान है, व्यक्तिका उपजाया हुआ नहीं है। सुख चाहते हुए भी चला जाता है, मानवमें सुखासक्ति भले ही रहे, पर सुख तो चला ही जाता है। इस दृष्टिसे दुःखका आना और सुखका जाना वैधानिक तथ्य है।

दुःख है क्यों? यदि जीवनमेंसे दुःखका भाग निकाल दिया जाय तो न तो सुखका सम्पादन ही हो सकता है और न मानव सुखकी दासतासे रहित हो सकता है। सुखका सम्पादन और उसकी दासतासे रहित करनेमें दुःख ही हेतु है। दुःख मानव-जीवनका आवश्यक अङ्ग है; फिर भी सभीको स्वभावसे प्रिय नहीं है। जो स्वभावसे प्रिय नहीं है, वह जीवन नहीं है और जिसमें स्थायित्व नहीं है, वह भी जीवन नहीं है। इस दृष्टिसे दुःख तथा सुख वास्तविक जीवन नहीं है, अपितु दुःख-सुखके सदुपयोगमें जीवन है। दुःखके प्रभावसे प्रभावित हुए बिना सर्वांशमें सुखासक्तिका नाश सम्भव नहीं है। इस दृष्टिसे दुःख विकासकी भूमि है। दुःखका भय तभीतक रहता है, जबतक मानव पराधीनताजनित सुख-लोलुपतामें आबद्ध है। अतः दुःख पराधीनताका अन्त करनेके लिये बिना बुलाये आता है। अतः वह मङ्गलमय विधानसे आता है।

मानव साधक है। साधकपर दायित्व होता है और उसकी कोई माँग होती है। जब मानव यह मान लेता है कि मुझे जो कुछ मिला है वह 'किसी'की देन है, तब उसमें उस बिना जाने हुएकी आस्था उदित होती है, एवं बिना जानेमें आस्था होनेपर स्वतः शरणागति उदित होती है। बल, विवेक और आस्था जिसने दी है, उसे ही मानव नहीं जानता। जिसे नहीं जानता, उसीकी शरणागति स्वीकार करना अनिवार्य है। आस्तिकवादकी दृष्टिसे शरणागति ही सर्वतोमुखी विकासका मुख्य साधन है।

अतः दुःखका आना, सुखका जाना मानवहितकारी विधान है। दुःखसे भयभीत होना और सुखमें आबद्ध रहना मानवका प्रमाद है। दुःखके प्रभावने ही दुखीको दुःखहारीसे अभिन्न किया है। इस दृष्टिसे दुःख जीवनका बहुत ही आवश्यक अङ्ग है। दुःखसे वे ही भयभीत होते हैं, जिन्हें दुःखहारीसे अभिन्न होना है। दुःखकी महिमा वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने दुःखके प्रभावसे सुखासक्तिका सर्वांशमें अन्त कर दिया है। जो मानव दुःखहारीसे अभिन्न हुए, उन्होंने दुःखको प्रियतमका संदेश जाना। सुखकी दासताको जीवित रखना और दुःखकी निन्दा करना—यह दुःखके प्रति बड़ी ही कृतघ्नता है। जो सुख चाहते हुए भी चला गया, उसकी दासता बनाये रखना और जिस दुःखसे सर्वतोमुखी विकास हुआ उससे भयभीत होना, उसके प्रभावको न अपनाना प्रमादके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। समस्त विकारोंकी भूमि सुखासक्ति और विकासकी भूमि दुःखका प्रभाव है।

प्राकृतिक नियमानुसार जो आता है, वह अवश्य जाता है। रहता वही है, इसमें आने-जानेकी बात नहीं है। अतः जो आता-जाता है, उसका सदुपयोग

करना है और जो रहता है उसमें प्रियता। आये हुए सुखका सदुपयोग दुखियोंकी सेवामें है और आये हुए दुःखका सदुपयोग अहम् और भयके नाशमें है। सुख-दुःखमें जीवन-बुद्धि स्वीकार करना भूल है और सुख-दुःखका सदुपयोग विकासका मूल है।

समस्त विश्वमें केवल सुख तथा दुःखके ही दर्शन होते हैं परंतु उनमें नित्यता नहीं है। दोनों ही परिवर्तनशील हैं। सुखका प्रलोभन जबतक रहता है तबतक दुःख अवश्य आता है। सुखके भोगीको न चाहते हुए भी दुःख भोगना पड़ता है। अतः सुखासक्तिके रहते हुए दुःखका आना अनिवार्य है। जिसे दुःखका अन्त करना हो, उसे पराधीनताजन्य सुखका अन्त करना होगा। सुखका अन्त दुःखके प्रभावके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार नहीं होता। दुःखके प्रभावको न अपनाना और उससे भयभीत रहना मानवकी भारी भूल है। इस भूलका अन्त प्रत्येक मानवको करना अनिवार्य है। भूलको भूल जान लेनेसे ही भूलका नाश होता है।

प्रलोभनका अन्त होनेपर भय स्वतः मिट जाता है। अतः सुखके प्रलोभनने ही दुःखके भयको जन्म दिया है। मानवको दुःखसे भयभीत नहीं होना है और न सुखकी आशा रखकर उसका आह्वान करना है; अपितु दुःखकी वास्तविकताको अपनाकर सुख-दुःखसे अतीतके जीवनसे अभिन्न होना है। यदि दुःखका प्रादुर्भाव न होता तो सुखकी दासता-जनित पराधीनता, जडता एवं अभावका अभाव न होता। इस दृष्टिसे दुःखके प्रादुर्भावमें मानवमात्रके प्रति 'किसी'की कितनी करुणा निहित है। दुःख सर्वोत्कृष्टताकी ओर अग्रसर करनेमें हेतु है। परिस्थितियोंकी दासतामें आबद्ध होना मानवका प्रमाद है, जिसका अन्त दुःखके प्रभावमें ही निहित है। इस दृष्टिसे भूलके अन्त करनेमें, सुख-लोलुपताके नाशमें, स्वाधीनताकी प्राप्तिमें, भोगकी वास्तविकताके परिचयमें, निर्विकारताकी अभिव्यक्तिमें दुःखका मुख्य स्थान है।

जनमे, पले और बढ़े

मालिकने अनेक मनचीती पूरी कीं,
परंतु पूरी कीं वैसे नहीं, जैसे चाहीं।
पूरी कीं सदैव अपने ढंगसे ही।
कभी असाधारण, अप्रत्याशित रीतिसे,
तो कभी अतिसाधारण, उपेक्षित रूपसे।
यों—
अनिश्चय, उलझन और संघर्षके सायोंमें
जीवन, आदर्श और आस्था जनमे, पले और बढ़े।

—बालकृष्ण बलदुवा

संतों-महापुरुषोंकी महिमा

(ब्रह्मलीन पूज्यपाद अनन्तश्री जयदयालजी गोयन्दकाके वचनामृत)

जिस प्रकार भगवान्‌के महान् आदर्श चरित्र और गुणोंकी महिमा अनिर्वचनीय है, उसी प्रकार भगवत्प्राप्त संत महापुरुषोंके पवित्रतम चरित्र और गुणोंकी महिमाका भी कोई वर्णन नहीं कर सकता। ऐसे महापुरुषोंमें समता, शान्ति, ज्ञान, स्वार्थत्याग और सौहार्द आदि पवित्र गुण अतिशयरूपमें होते हैं; इसीसे ऐसे पुरुषोंके सङ्गकी महिमा शास्त्रोंमें गायी गयी है। श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

× × ×

भगवत्प्रेमी महापुरुषोंके एक निमेषके सत्सङ्गके साथ स्वर्ग-मोक्ष किसीकी भी तुलना नहीं होती—यह बात उन्हीं लोगोंकी समझमें आ सकती है, जो श्रद्धा तथा प्रेमके साथ नित्य सत्सङ्ग करते हैं।

प्रथम तो संसारमें ऐसे महापुरुष हैं ही बहुत कम। फिर उनका मिलना बहुत दुर्लभ है और मिल जायँ तो पहचानना अत्यन्त दुर्लभ है। तथापि यदि ऐसे महापुरुषोंका किसी प्रकार मिलना हो जाय तो उससे अपने-अपने भावके अनुसार लाभ अवश्य होता है; क्योंकि उनका मिलना अमोघ है। श्रीनारदजीने भक्तिसूत्रोंमें कहा है—

'महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।'
(नारद० सू० ३९)

'महात्माओंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।'

× × ×

........किन्हीं महापुरुषका यदि सङ्ग हो जाय और उन्हें पहचाना भी न जाय तो भी उनके स्वाभाविक तेजसे पापरूपी ठंडकका तो नाश होता ही है, जो लोग महात्माको किसी अंशमें ही जानते हैं और उनसे साधारण क्षणिक लाभ उठाना चाहते हैं, उन्हें साधारण क्षणिक लाभ मिल जाता है। जिनमें श्रद्धा है, पर साथ ही सकामभाव है, वे उनका सङ्ग करके इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिरूप वैषयिक लाभ प्राप्त करते हैं और जो उन्हें भलीभाँति पहचानकर श्रद्धाके साथ निष्कामभावसे उनका सङ्ग करते हैं, वे परमात्मप्राप्ति-विषयक लाभ उठाते हैं। इस प्रकार महात्माके अमोघ सङ्गसे लाभ सभीको होता है, पर होता है अपनी-अपनी भावनाके अनुसार।

× × ×

महात्मा पुरुषोंके भी शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि मायिक होते हैं; परंतु परमात्माकी प्राप्तिके प्रभावसे वे साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा पवित्र, विलक्षण और दिव्य हो जाते हैं, अतएव उनके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालापसे तो लाभ होता ही है, मनके द्वारा उनका स्मरण हो जानेसे भी बड़ा लाभ होता है।

× × ×

ऐसे महापुरुषोंके हृदयमें दिव्य गुणोंका अपार शक्ति-सम्पन्न समूह भरा रहता है, जिसके दिव्य बलशाली परमाणु नेत्रमार्गसे निरन्तर बाहर निकलते रहते हैं और दूर-दूरतक जाकर जड-चेतन सभीपर अपना प्रभाव डालते रहते हैं। मनुष्योंपर तो उनके अपने-अपने भावानुसार न्यूनाधिकरूपमें प्रभाव पड़ता ही है, विविध पशु-पक्षियों तथा जड आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, वृक्ष, पाषाण, काष्ठ, घास आदि पदार्थोंतक-पर भी असर पड़ता है। उनमें भी भगवद्भावके पवित्र परमाणु प्रवेश कर जाते हैं। ऐसे महात्मा जिस पशु-पक्षीको देख लेते हैं, जिस वायुमण्डलमें रहते हैं, जो

वायु उनके शरीरको स्पर्श करके जाता है, जिस अग्निसे वे अग्निहोत्र करते, रसोई बनाते या तापते हैं, जिस सरोवर या नदीमें स्नान-पान करते हैं, जिस भूमिपर निवास करते हैं, जिस वृक्षका किसी प्रकार उपयोग करते हैं, जिस पाषाणखण्डको स्पर्श कर लेते हैं, जिस चौकीपर बैठ जाते हैं और जिन तृणाङ्कुरोंपर अपने पैर रख देते हैं, उन सभीमें भगवद्भावके परमाणु न्यूनाधिक-रूपमें स्थित हो जाते हैं; और उन वस्तुओंको जो काममें लाते हैं या जिन-जिनको उनका संसर्ग प्राप्त होता है—उन लोगोंको भी बिना जाने-पहचाने भी सद्भावकी प्राप्तिमें लाभ होता है। जिनमें श्रद्धा, ज्ञान तथा प्रेम होता है, उनको यथापात्र विशेष लाभ होता है।

× × ×

ऐसे महात्माओंकी वाणीसे भी उनके हृद्गत भावोंका विकास होता है; इससे उसे सुननेवालोंपर यथाधिकार—जो जैसा पात्र होता है तदनुसार प्रभाव पड़ता ही है, साथ ही वह वाणी (शब्द) नित्य होनेके कारण सारे आकाशमें व्याप्त होकर स्थित हो जाती है और जगत्‌के प्राणियोंका सदा सहज ही मङ्गल किया करती है। जहाँ उनकी वाणीका प्रथम प्रादुर्भाव होता है, वह स्थान और वहाँका वायुमण्डल विशेष प्रभावोत्पादक बन जाता है। इसी प्रकार उनके शरीरका स्पर्श होनेसे भी लाभ होता है। भावोंके परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, इससे उनकी प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होती; पर वे वैसे ही सद्भावका प्रसार करते हैं, जैसे प्लेगके कीटाणु रोगका विस्तार करते हैं।

× × ×

ऐसे महापुरुषोंकी प्रत्येक क्रिया सर्वोत्तम दिव्य चरित्र, गुण और भावोंसे ओतप्रोत रहती है; अतएव उनके चिन्तनमात्रसे—स्मृतिमात्रसे उनके चरित्र, गुण और भावोंका प्रभाव दूसरोंके हृदयपर पड़ता है। नामकी स्मृति आते ही नामीके स्वरूपका स्मरण होता है। स्वरूपके स्मरणसे भी क्रमशः चरित्र, गुण और भावोंकी स्मृति हो जाती है, जो हृदयको उन्हीं भावोंसे भरकर पवित्र बना देती है।

× × ×

वस्तुतः महापुरुषका मानसिक सङ्ग बहुत लाभदायक होता है; चाहे महात्मा किसी साधकका स्मरण कर ले या साधक किसी महात्माका स्मरण कर ले। अग्नि घासपर पड़ जाय या घास अग्निमें पड़ जाय, अग्निका संसर्ग उसके घासस्वरूपको मिटाकर उसे तुरंत अग्नि बना देगा। इसी प्रकार ज्ञानाग्निसे परिपूर्ण अविकारी महात्माके सङ्गसे साधकके दुर्गुण और दुराचारोंका तथा अज्ञानका नाश हो जाता है, चाहे वह संसर्ग महात्माके द्वारा हो या साधकके द्वारा। महात्मा स्वयं आकर दर्शन दें तब तो वह प्रत्यक्ष ही केवल श्रीभगवान्‌की अपार कृपाका ही फल है। परंतु यदि साधक अपने प्रयत्नसे महात्मासे मिले, तो इससे साधकके अन्तःकरणमें शुभ संस्कार अवश्य सिद्ध होते हैं; क्योंकि शुभ संस्कार हुए बिना महात्मासे मिलनेकी इच्छा और चेष्टा ही क्यों होने लगी, तथापि इसमें भी प्रधान कारण भगवान्‌की कृपा ही है—

'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।'

× × ×

जो भाग्यवान् पुरुष महापुरुषोंकी आज्ञाकी प्रतीक्षा न करके सारे कार्य उनकी रुचि तथा भावोंके अनुकूल करते हैं, उनपर भगवान्‌की विशेष कृपा माननी चाहिये।

× × ×

जिस प्रकार स्वाभाविक ही मध्याह्नकालके सूर्यसे प्रखर प्रकाश, पूर्णिमाके चन्द्रमाकी ज्योत्स्नासे अमृत एवं अग्निसे उष्णता प्राप्त होती है, उसी प्रकार महात्मा पुरुषोंके सङ्गसे स्वाभाविक ही ज्ञानका प्रकाश, शान्तिकी

सुधाधारा एवं साधनमें तीक्ष्णता और उत्तेजना प्राप्त होती है ।

× × ×

महात्माके पास अगर पचास वर्ष रहें और उनकी आज्ञाका पालन न करें तो कल्याण नहीं हो सकता । उनके सत्कार्योंका अनुकरण और उनकी आज्ञाका पालन दोनों कल्याणकारी हैं ।

× × ×

········महात्मा पुरुषके द्वारा कहे वचनोंको सुनकर जो उनके अनुसार साधन करते हैं, पालन करते हैं, वे दत्तचित्त, श्रुतिपरायण पुरुष संसार-सागरको तर जाते हैं ।

× × ×

········महात्माकी बात सुनकर उसपर जिसको 'इत्थंभूत' विश्वास हो जाय कि बस, यही करना है— चाहे मरें या जीयें, तो उसका कल्याण हो जाता है ।

× × ×

महापुरुषोंके आचरणसे बढ़कर कोई अनुकरणीय आचरण नहीं ।

× × ×

महात्माके हृदयमें किसी प्रकारकी भी इच्छा रहती ही नहीं; हमें भी उसी प्रकार बनना चाहिये ।

× × ×

महात्मा पुरुषोंका पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि उनके हृदयमें किसी प्रकारका भी किञ्चिन्मात्र संकल्प रहता ही नहीं । प्रारब्धके अनुसार केवल स्फुरणा होती है, जो कि सत्ता और आसक्तिका अभाव होनेके कारण जन्म देनेवाली नहीं है तथा कार्यकी सिद्धि या असिद्धिमें उनके हर्ष-शोकादि कोई भी विकार लेशमात्र भी नहीं होते—यही संकल्प और स्फुरणाका भेद है ।

× × ×

जीवन्मुक्त ज्ञानी महापुरुषोंकी दृष्टिमें संसार स्वप्नवत् है । इसीलिये वे संसारमें रहकर भी संसारके भोगोंसे लिप्त नहीं होते ।

× × ×

श्रद्धालु मनुष्यके लिये तो महात्माका प्रभाव माने, जितना ही थोड़ा है; क्योंकि महात्माका प्रभाव अपरिमेय है ।

× × ×

महापुरुषोंके प्रभावसे भगवान्‌की प्राप्ति होना— यह तो उनका अलौकिक प्रभाव है तथा सांसारिक कार्यकी सिद्धि होना—लौकिक प्रभाव है ।

× × ×

महापुरुषोंकी चेष्टा उनके तथा लोगोंके प्रारब्धसे होती है एवं लोगोंके श्रद्धा-प्रेम तथा ईश्वराज्ञासे भी होती है ।

× × ×

श्रद्धा होनेपर श्रद्धेय पुरुषकी छोटी-से-छोटी क्रियामें भी बहुत ही विलक्षण भाव प्रतीत होने लगता है ।

× × ×

····सभीको चाहिये कि अपनी इन्द्रियोंको, मनको, बुद्धिको नित्य-निरन्तर महापुरुषोंके सङ्गमें और उन्हीं विषयोंमें लगाये, जो भगवान् तथा महापुरुषोंके संसर्ग या सम्बन्धसे भगवद्भावसम्पन्न हो चुके हों । ऐसा करनेपर उन्हें सर्वत्र तथा सर्वदा सत्सङ्ग ही मिलता रहेगा ।

× × ×

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये

(संकलनकर्त्ता-प्रेषक—शालिगराम)

होलाका-रहस्य

(तत्त्वचिन्तक श्रीअनिरुद्धाचार्य अनन्तश्री स्वामीजी श्रीवेंकटाचार्यजी तर्कशिरोमणि)

प्रकृतिके साथ सम्बन्ध

आर्योंद्वारा फाल्गुनी पूर्णिमामें सम्पाद्यमान महोत्सव 'होला' 'होलाका' 'होलिका' किंवा 'होली' नामसे प्रसिद्ध है। यह भारतका महान् राष्ट्रीय पर्व है। इसका साक्षात् प्रकृतिके साथ सम्बन्ध होनेसे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यके साथ इसका गहन और निकट सम्बन्ध है। केवल 'होलाका' उत्सव ही नहीं, अपितु आर्योंके उत्सव-महोत्सव आदि जितने भी जो कुछ व्यवहार हैं, वे सब प्राकृत नियमोंके आधारपर तन्त्रित हैं। हमारी आचार-संहिता प्राकृत आचार-संहिताका अनुकरण मात्र है, इसमें 'देवानुकारा वै मनुष्याः' यह शातपथी श्रुति प्रमाण है। जिसका अर्थ है आर्योंकी इतिकर्तव्यताका विधान देव-विधान (निसर्ग विधान) का अनुकरण मात्र है। 'होलाका' महापर्व भी ऋतुओंकी अभ्यावृत्तिके लिये वसन्तकालमें निसर्गजन्य संवत्सररूप 'मधु' नामक अग्निके पार्थिव रजःकणोंमें प्रज्वलनका अनुकरण मात्र है।

'होलिका' शब्दका अर्थ

वेदों तथा पुराणोंके पर्यालोचनसे 'होलिका' शब्दका अर्थ अग्निकी 'रक्षिका' शक्ति होता है। इसीका होम सम्बन्धसे 'होलिका' नाम हो गया है। 'होलिका' शब्दका निर्वचन करते हुए पुराण पुरुष कहता है कि—

सर्वदुष्टापहो होमः सर्वरोगोपशान्तये।
क्रियतेऽस्यां द्विजैः पार्थ तेन सा 'होलिका' स्मृता॥

'होलिकासे सम्बन्ध होनेके कारण ही अनग्नि मनुष्यों-द्वारा आग्रायणेष्टिके निमित्त 'होलाका' अग्निमें सेके गये चने, गेहूँ और यव आदि अन्नोंका नाम भी 'होला' पड़ गया है। राजस्थानके निवासी आज भी इनको 'होला' ही कहते हैं।

'होलिका' पर्वकी प्राचीनता

'होलाका' पर्व परम प्राचीन है; इसकी पुष्टि महर्षि जैमिनीयका कर्ममीमांसा शास्त्र कर रहा है। उसमें होलाकाधि-करण नायक एक स्वतन्त्र अधिकरणकी ही रचना की गयी है। वात्स्यायन ऋषिने भी आर्योंके प्राचीन पारम्परिक उत्सव-महोत्सवोंमें होलाका-महोत्सवको अन्यतम महोत्सव माना है।

होलीकी प्रतिमा

किसी भी अमूर्त पदार्थसे सम्बन्ध मूर्त-पदार्थके माध्यमसे ही शक्य हो सकता है, इसलिये अग्निकी रक्षिका शक्ति होलीसे सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये अग्नि-गुण-प्रधान शमी वृक्षकी शाखाको निदान शास्त्रद्वारा 'होली'की प्रतिमा (मूर्ति) मान लिया गया है। शास्त्रद्वारा निश्चित शुभ मुहूर्तमें शमी (खेजड़ी) की शाखाका बालकोंद्वारा आहरण, पूजन और चतुष्पथमें निखनन होता है। यही 'होली' है। अग्निगर्भ सोमग्राह्य शमीवृक्ष अग्नीषोमात्मक बनता हुआ उस यज्ञाग्निका ही निदानसे प्रतिमा बना हुआ है, जिसका अग्नि—प्रज्वलनात्मक 'होलिका' पर्वसे सम्बन्ध है। मानो यह शमीवृक्षकी शाखा साक्षात् अग्निदेव है। रक्षोघ्न अग्निदेवता है। यही रक्षा देवी है, जिसे आहुति प्रदान करनेके लिये ही शुष्क काष्ठ, तृण एवं गोमयोपल एकत्रित किये जाते हैं। उसकी 'रक्षोहणं वलगहनं वैष्णव-मिदमहं वलगमुत्किरामि स्वाहा' इत्यादि रक्षोघ्न मन्त्रों-द्वारा पूजा की जाती है। जिसमें संक्षेपतः 'होलिका' पर्वके विज्ञानका उल्लेख है, उस पौराणिक मन्त्रसे 'होलिका' (शमी-शाखा और तृणादिसमूहों) की स्तुति की जाती है। स्तोता कहता है—

असृक्पाभयसंत्रस्तैः कृता त्वं होलि बालिशैः।
अतस्त्वां पूजयिष्यामि भूते भूतिप्रदा भव॥

रुधिरपान करनेवाली 'ढुण्ढा' राक्षसीके भयसे परित्राण पानेकी इच्छासे हे 'होलिके' (रक्षा देवि) तुम्हारी पूजा और तुम्हारे भस्मकी वन्दना करते हैं, हम सबको नीरोग और ऐश्वर्यशाली बनाओ।

'होलिका'का लौकिक स्वरूप

पुराणोंमें 'होलिका'का लौकिक स्वरूप इस रूपमें उपलब्ध है। चक्रवर्ती सम्राट् 'रघु' के शासनकालमें एक 'ढुण्ढा' नामक भयावहा राक्षसीने बालकोंको उत्पीडित कर दिया था। उसके उपशान्त करनेका उपाय पूछनेपर

भगवान् नारदने कहा कि—राजन्! 'ढुण्ढा'-नाशका एकमात्र उपाय 'होलिका' नामक अग्नि ही है। इसमें—'सर्वदुष्टापह' होम करना आवश्यक है। इस होमकी इतिकर्तव्यताका वर्णन पुराण करता है कि काष्ठमय आयुधोंसे सज्ज हर्षोल्लासके साथ इतस्ततः घूमते हुए बालक मार्गमें उपलब्ध शुष्क काष्ठ, आरणा छाणा आदिका संग्रह करके एकत्र कर दें। एकत्र समवेत इस इन्धनकी रक्षोघ्न मन्त्रोच्चारणपूर्वक पूजा करें। तदनन्तर उसको प्रज्वलित कर दें। प्रज्वलनके साथ ही बालमण्डल उच्चस्वरसे किलकिला शब्दपूर्वक आकर्षक ताल शब्दोंके साथ इस प्रज्वलित अग्निदेवको गाते और देखते हुए तीन बार प्रदक्षिणा करें। साथ ही सभी बाल-मानव स्वेच्छापूर्वक निःशंक रूपसे जिसके मनमें जैसे भी भाव हों, जिसकी वाणीमें जैसा भी शब्दकोश हो, निःसंकोच अपनी-अपनी भाषामें यथेच्छ उद्घोष करते रहें। ऐसे स्वच्छन्द, स्वतन्त्र, उन्मुक्त, शंकारहित अभय उद्घोषसे वह पापिनी 'ढुण्ढा' राक्षसी इस शब्दाग्नि-ज्वालासे अवश्यमेव पलायित हो जायगी। अट्टाट्टहास-परिहासों एवं अवाच्यवादोंसे लज्जावनता बनती हुई अवश्यमेव नष्ट हो जायगी।

'ढुण्ढा'का भी नाम 'होलिका'

अग्नि-प्रज्वालनरूपा 'होलिका'से ही इस राक्षसीका नाश होता है; अतः इसका नाम भी 'होलिका' हो गया। न केवल 'होलिकानुगता' 'होलिका' राक्षसी ही अपितु अन्य तत्सहयोगी सभी दुष्ट राक्षस इस अग्निहोम रूप 'होलिका' पर्वसे नष्ट हो जाते हैं, अतः अग्निहोम सर्वलोक-शान्तिप्रद बनता है।

'होलिका'का वैदिक स्वरूप

फाल्गुनी पूर्णिमामें वैदिक ब्राह्मण अग्न्याधानरूप अग्निहोत्रका अनुगमन करते हैं, इस अग्निहोत्र-सम्बन्धसे भी यह पर्व 'होलिका' नामसे प्रसिद्ध हो गया है।

'ढुण्ढा'के नामान्तर

पुराणोंमें 'ढुण्ढा' राक्षसीके—शीतोष्णा, असृक्पा, संधिजा, अरुकूंढा, होलाका आदि अनेक नाम उपलब्ध होते हैं। इन नामोंके अर्थोंका विवेचन करनेपर 'ढुण्ढा' के तात्त्विक स्वरूपका परिचय भी मिल सकता है। इसका विवेचन अनुपदमें होगा। ढुण्ढाका 'होलाका' नाम किस हेतुसे पड़ा है, इसका कारण पूर्वमें कहा जा चुका है। अन्य नामोंके कारण अनुपदमें कहे जायँगे।

'ढुण्ढा'का तात्त्विक स्वरूप

पुराणद्वारा 'ढुण्ढा' नामकी राक्षसीके भयसे बाल-बन्धुओंका परित्राण करनेके लिये ही 'होलाका' महोत्सवके आधिभौतिक लौकिक स्वरूपका स्थापन हुआ है। वह सौम्य प्राण जो अग्निसे सर्वथा पृथक् होकर बालकोंमें क्षय रोग उत्पन्न कर देता है, वह राक्षस नामसे प्रसिद्ध है, जिसे सौम्य शक्तिके अनुबन्धसे राक्षसी कहा जा सकता है। सोम-प्रधानत्व ही इस प्राणका स्त्री-धर्मत्व है। अतएव इसे 'राक्षसी' कहना सार्थक है। इसीके आक्रमणसे क्षयका सम्बन्ध है। जिससे मानवका रक्त ही सूख जाता है। सौम्यावस्था ही बालावस्था है। अत्यन्त छोटे शिशुओंमें यह रोग 'सूखा' रोग कहलाया है। यही रोग 'ढुण्ढा' राक्षसी है।

'ढुण्ढा'-शब्द-निर्वचन

'ढुण्ढा' शब्द यदृच्छा शब्द है, यह 'ठुण्ठ' शब्दका अपभ्रंश है। जिस प्रकार आग्नेय मधुरनात्मक जीवनीय प्राणरससे वञ्चित वृक्ष शुष्क होकर केवल 'ठुण्ठ' ही रह जाता है। तथैव इस राक्षस-प्राणात्मक क्षयरोगसे बालकोंका शरीर सूखकर केवल ठूण्ठ-सा रह जाता है। यही 'ठुण्ठ' 'ढुण्ढ' है। यही 'धुन्ध' है। यही 'ढुण्ढा' राक्षसी है। जिसका वसन्त और शिशिर सन्धिमें साम्राज्य होता है। इसीलिये यह प्राणघीतोष्णा भी कहलाया है। वेद भी ऋतु-सन्धियोंको व्याधियोंका आवासस्थान मानता है। 'ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते' (शांख्यनारण्यकम्।) श्रुतिका उपबृंहण करते हुए पुराण कहते हैं कि—शीतकालो विनिष्क्रान्तः प्रातर्ग्रीष्मो भविष्यति॥ श्लोकका तात्पर्य है कि—'होलिका' महोत्सवका तात्पर्य है कि शीतोष्णकी संधिरूपा 'ढुण्ढा' राक्षसी इसके विनाशके लिये 'होलिका' का आविष्कार है।

वेदने शीतोष्ण-सन्धिज व्याधियोंके नाशके लिये 'वैश्वदेव' नामक चातुर्मास्य यज्ञका विधान किया है। पुराण-पुरुषने 'सर्वदुष्टापह' नामक होमका विधान किया है, जिसका नाम 'होली' है। दोनोंमें अग्निका प्रज्वालन विधि-पूर्वक है। अग्निका प्रज्वालन ही होलिका-महोत्सव है।

अग्निकी उच्च ज्वालाएँ कीटाणुकी नाशिका हैं। 'अग्निर्वै रक्षसामयहन्ता' वैदिक वचन प्रसिद्ध है।

मणि (तावीज) एवं प्रतिसर (गंडा) आदि शिशुओंके गलेमें धूप देकर बाँधना, यह रक्षोघ्न-मन्त्र-होमका ही विकृत रूप है।

अनेक उत्सवोंका संघ और अनेक नाम—

होलिका-महोत्सव अनेक उत्सवोंका एक संघ है। इसमें अनेक वैदिक, लौकिक उत्सव एवं अनेक इतिवृत्त अन्तर्गत है। फाल्गुनी पूर्णिमामें सम्पाद्यमान उत्सव 'होलिका' है; परंतु इसके पूर्व तथा उत्तरमें सम्पाद्यमान अनेक उत्सव इसीके अङ्ग-प्रसङ्ग हैं। अतएव इसके अनेक नाम भी हैं।

मदनमहोत्सव, शारदामहोत्सव, शिवरात्रिमहोत्सव, दोला-महोत्सव, गणपति-गौरीपूजन-महोत्सव, शीतलापूजन-महोत्सव, फाल्गुन-महोत्सव, रतिपति-पूजन-महोत्सव, पुष्प-महोत्सव, होलाष्टक-महोत्सव, वसन्तोल्लास-महोत्सव एवं होलिका-महोत्सव आदि अनेक नाम हैं। ये सब उत्सव मिलकर ही 'होलिका'-महोत्सव है। कारण कि सब उत्सवोंका अग्नि-जागरण एक ही लक्ष्य है। कहीं आधिदैविक अग्निका जागरण, कहीं आध्यात्मिक प्राणाग्निका जागरण और कहीं आधिभौतिक अग्निका जागरण अभिप्रेत है। अग्निका जागरण ही 'होलिका' है।

उत्सवोंका किञ्चित् विवरण मदनमहोत्सव

'होलाका'-महोत्सव अनेक उत्सवों तथा इतिवृत्तोंका समूह है। इसमें मदनमहोत्सव भी सम्मिलित है। इसमें वसन्तपञ्चमीको रतिसहित कामदेवकी पूजाका विधान है। आर्य-कन्याएँ अभिलषित वरकी प्राप्तिके लिये एवं सौभाग्यवती स्त्रियाँ सौभाग्यवृद्धिके लिये पूजा करती हैं। इस प्रकार 'होलिका' महापर्वमें मदनपूजाका अन्तर्भाव है।

शारदा-पूजन

रतिपतिकी पूजा-अर्चनाके अनन्तर ही वसन्तपञ्चमीमें श्रीरूपा शारदाके पूजनका विधान है, जो शारदापूजन-महोत्सवके नामसे प्रसिद्ध है। अतः यह पञ्चमी 'श्रीपञ्चमी' नामसे भी प्रसिद्ध है। श्रीका अर्थ सरस्वती है।

प्रेङ्खोत्सव

वसन्त ऋतुमें कफकी निवृत्तिके लिये 'दोला-महोत्सव'-का भी विधान हुआ है। वेदमें दोला (झूला) का नाम 'प्रेङ्खा' है। वसन्त ऋतुके कारण प्रकृतिमें मलयानिल इतस्ततः दोलायमान होता है। तदनुकृति ही आधिभौतिक 'दोला-महोत्सव' भी है। इससे कफकी निवृत्ति होती है। मदनपूजाका सम्बन्ध काम-नियन्त्रणसे, शारदापूजाका सम्बन्ध ज्ञानसे एवं दोला (झूला) का सम्बन्ध कफ-निवृत्तिसे है।

होलाष्टक-महोत्सव

गृहलिम्पन होलाष्टक-महोत्सवोंमें मुख्य है। घरोंमें भी शीतकालमें पूरी गरमी न पहुँचनेके कारण कई प्रकारके 'नाम्ना रक्षांसि' कीटाणु घर जमा लेते हैं। अतः उनके नाशके लिये गोमयसे गृहलिम्पन आवश्यक है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि आर्योंका अणुसे भी अणु विधान विज्ञानसे सम्पृक्त है। गृहोंमें माङ्गलिक स्वस्तिक आदि चित्रोंका चित्रण, वासन्तिक गीत, नृत्य-वाद्योंका आयोजन आदि अनेक उत्सव होलाष्टक-महोत्सवोंके अन्तर्गत हैं।

फाल्गुन मासके सम्बन्धसे 'होला-महोत्सव' फाल्गुन-महोत्सव नामसे, वसन्त ऋतुके सम्बन्धसे 'वसन्तोत्सव' नामसे, 'मधु' नामक दिव्य सौराग्निके सम्बन्धसे 'मधु-महोत्सव' नामसे एवं वसन्त ऋतुजनित पुष्पोद्गमके कारण पुष्प-महोत्सव नामसे भी प्रसिद्ध है। अन्य भी नामों और रूपोंका उल्लेख प्रथम हुआ है। परंतु सबका उपसंहार फाल्गुन मासमें ही हो रहा है। सबका लक्ष्य एक अग्निजागरण ही है। इन सब उत्सवोंसे ही होलाका-महोत्सव हो गया है।

बाल-रक्षा-विधि

शिशिर और वसन्तकी संधिरूपा यह पूर्णिमा तिथि 'ढुण्ढा' राक्षसीके कारण सौम्य बालकोंके लिये अत्यन्त भयावहा है। तत्रापि 'एषा वै घोरा रात्रिः संवत्सररूपा यत्फाल्गुनी' अनुसार रात्रि तो निश्चयेन भयावहा है। अतएव रात्रिके आगमनपर इस तिथिमें बालकोंका संरक्षण सावधानतया माताओंके लिये आवश्यक हो जाता है। इस

अरक्षाभावके नाशके लिये ही होलाका-पर्वका आविष्कार हुआ है और उसका अनुष्ठान होता आ रहा है।

आधिदैविक होली

सनातन प्रकृतिके सनातन तत्त्व भावोंके आधारपर ही आर्योंके उत्सव-महोत्सव नियत हैं। 'होलाका'-महापर्वका भी प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है, इसका कुछ विश्लेषण यहाँ किया जाता है। विश्वमें व्याप्त संवत्सराग्नि शिशिर ऋतुओंमें नितरां क्षीण हो जाती है। वसन्त ऋतुमें पुनरपि प्रकृतिमें 'मधु' नामक सौर अग्निका पार्थिव रजःकणोंमें आधान अर्थात् प्रज्वालन होता है, जिससे प्रत्येक रजःकण मधुमय बन जाता है। पार्थिव रजःकणोंकी इस मधुमत्ताका ही वर्णन 'मधुमत् पार्थिवं रजः' ऋचा कर रही है।

आध्यात्मिक होली

'पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यम्'के सिद्धान्तसे जब ब्रह्माण्डमें 'मधु' नामक अग्निका प्रज्वलन (आधान) होता है तब अध्यात्म-शरीरमें प्राणाग्निका प्रज्वलन होता है। शरीरमें भी 'मधु'-अग्निका आधान होता है। संचित मधु-अग्निका प्रेमरूपसे प्रस्फुटित होना प्राकृतिक है। इसी प्रेमोन्मादको पूर्ण चरितार्थ करने एवं उसको नियन्त्रित करनेके लिये आर्यजातिने एक दिन चैत्रकृष्णा प्रतिपदाको नियत किया है। वही 'वसन्तारम्भ' का दिन है। प्रवृद्ध माधुर्य (प्रेम) बड़े-छोटे, ऊँच-नीच, धनी-दरिद्र आदि भेदोंको भुलानेमें समर्थ होता है, अतएव उस दिन सबको मिलने एवं मधुर भाषणके लिये आदेश दिया है। अभिवृद्ध प्रेमका ही आधिभौतिक रूप परस्परमें रंग छोड़नेकी क्रिया है। इस दिन हरिजनोंके स्पर्शका भी विधान है। वसन्तके कारण उच्छृङ्खलतामें जाते हुए कामका नियन्त्रण ही आध्यात्मिक 'होली' है। केतुमाल (यूरोप) में वसन्त ऋतुमें 'एप्रिलफूल' नासक उत्सव होता है, वह भी 'होला-महोत्सव'का ही क्षुद्रतम रूप है।

रज, रंग और राग

रज

रागात्मा रजोगुण-समुद्भूत रसराज कामदेवके सम्मान-आतिथ्यमें आयोजित फाल्गुनीपूर्णिमाके उत्तर दिवस चैत्र कृष्णा प्रतिपदामें समायोजित रंजनात्मक रजोवर्षण (पराग-गुलाल-वर्षण) तथा रंग-वर्षणका भी रागात्मक कामके साथ सम्बन्ध होनेसे इनका भी आयोजन किया गया है। कामजनक रागतत्त्व संगीतके षट् प्रधान राग-रागिनियाँ रज (पराग-गुलाल) तथा रंग भेदसे अनेक रूपोंमें विभक्त है। उन सब रूपोंका संग्रह चैत्र कृष्ण प्रतिपदामें होता है। अतः इसका नाम 'वसन्तोल्लास-महोत्सव' है। इसमें कामदेवके सब रूपोंका समावेश है।

'यः पार्थिवानि विममे रजांसि'

—के अनुसार पार्थिवी कामशक्ति ही तो 'पार्थिव रजांसि' है। ये पार्थिव रजांसि आकाशीय मेघोंको रक्ताभ बनाते हुए 'होलिका' पर्वके—

उड़त गुलाल लाल भए बादर—

—उद्घोषको चरितार्थ कर रहे हैं। अतः इस महोत्सवमें चन्दन-गुलाल लगाना और उड़ाना भी विहित है। यह चन्दन-गुलाल आदिका उड़ाना और लगाना ही अशिक्षाके कारण गंदा कीचड़ उछालने और लगानेतक पहुँच गया है। 'होलिका'के धूलका वन्दन करना भी शास्त्रविहित है। इस विधिने भी राख-धूल उछालनेकी प्रथामें सहायता दी है।

रंग

अवश्य ही जवापुष्पोंके रागसे समाप्लुत उस रंगसे अपने शरीरको आपोमय बना लेना आवश्यक है। जवा रंग जवापुष्पके उष्ण प्रकृति होनेसे उष्ण प्रकृति बनता हुआ वसन्तमें उत्पन्न श्लेष्मा विकारको भी उपशान्त करता है एवं कामशक्तिको भी नियन्त्रणमें लाता है। जपा-पुष्प आग्नेय होनेसे श्लेष्मान्तक है।

वेदमें जपा-पुष्पका नाम 'फाल्गुनानि' है। जपा-पुष्पकी उत्पत्ति फाल्गुन और चैत्रमें ही होती है। सोम धर्मसे शुक्रका, अग्निप्रकृतिसे शोणितका, मधुर गन्ध धर्मसे, मनोरञ्जक वासन्तिक जवा-पुष्प एवं तत्सदृश गुणधर्मक पुष्प-रसोंसे विनिर्मित रंगोंसे शरीरको निमज्जित करना 'होलिका'पर्वानुगत वसन्तोत्सवमें अनुरूप ही माना जायगा।

इसी प्रकार 'होला'महोत्सवसे अनुप्राणित संगीत रागोंका भी रंजन आवश्यक है।

संगीत राग

संगीतानुगत रागतत्त्व षट् राग-रागिनियाँ आदि भेदसे अनेक भागोंमें विभक्त हैं। यह कामका सहायक है। जैसा कि 'निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनम्' से प्रमाणित है। अतएव 'वसन्तोल्लास' में संगीतात्मक रागका भी समायोजन होना आवश्यक हो जाता है। डफ आदि वाद्योंपर उच्च स्वरसे धमाल आदि रागोंमें हास्यरसप्रधान गायन भी कफ-निवृत्तिके लिये सर्वोत्तम साधन माना गया है।

देश-भेदसे भेद

देश-भेदसे भी 'होलिका'-महोत्सवके स्वरूप तथा कतिपय उद्देश्योंमें भेद हो जाता है। इम्फाल, मणिपुर आदिके कतिपय निवासीजन 'होलाका'-महोत्सवको श्रीकृष्णसम्बन्धी पर्व मानते हैं। 'होली'को 'पूतना' मानते हैं। किंतु उनकी यह धारणा ठीक नहीं मालूम होती; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णके अवतारके पूर्व भी 'होलाका'-महोत्सव प्रचलित था।

राजपूताना-निवासी 'होलाका'-पर्वका सम्बन्ध श्रीप्रह्लादजीकी घटनासे मानते हैं। उनका ऐतिह्य है कि 'होलाका' श्रीप्रह्लादजीको जलानेके लिये आगमें बैठी थी। किंतु वह स्वयं जल गयी और श्रीप्रह्लादजी सदाके लिये अमर हो गये। इस घटनाकी स्मृतिके लिये प्रतिवर्ष 'होला'-महोत्सव मनाया जाता है। प्रह्लाद भक्तकी जय बोली जाती है।

दक्षिण पथके निवासी इसको महादेवद्वारा दग्ध कामदेवका स्मारक मानते हैं। उनके मतमें इसका ज्वलन कामदेवका ही ज्वलन है। सबके मतमें अग्निज्वालनात्मक एक ही लक्षण है। व्यष्टि और समष्टि अग्नि-जागरणकी आवश्यकता वेद कहता है—

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते
अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥
(ऋ० ५। ४४। १५)

व्यक्तिगत अग्नि (उत्साह) और राष्ट्रगत अग्नि (तेज) जिस राष्ट्रके जाग्रत् हैं, वही सर्वसौभाग्योंका पात्र है।

श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुका प्राकट्य फाल्गुनी पूर्णिमाको हुआ था। इसलिये बंगालमें तथा अन्यत्र भी उनके भक्तोंमें उसी दिन जन्ममहोत्सवके साथ अखण्ड हरिकीर्तन-महोत्सव मनाया जाता है। बंगीय आदि भक्त भगवान् श्रीकृष्णकी झूलन-लीलाका पर्व मानकर उसे दोलोत्सवके नामसे मनाते हैं।

'होलिका'-पर्वका विकृत रूप

इस प्रकार अग्न्युत्सव करना, समर्याद हास्य, गीत, नृत्य आदि करना, रज (पराग—गुलाल) आदिका वर्षण करना, जवा-पुष्पके रंगसे रक्त जलको डालना, होली-भस्मकी वन्दना करना, डफ आदि वाद्योंपर निर्दोष धमाल रागसे हरजस (हरियश) गाना आदि तो शास्त्रविहित हैं। किंतु 'होलाका'-पर्वके नामपर कहीं-कहीं निर्लज्ज होकर बीभत्स रसके गाने गाये जाते हैं, बीभत्स अवाच्य वादोंका उच्चारण करना, अफीम, गाँजा, भाँग आदि पीकर उन्मत्त होना, मल-मूत्र-मिश्रित गंदे कीचड़ आदिको मनुष्योंपर फेंकना, मार्गमें आने-जानेवाले मनुष्योंके मुखपर कालिख पोतना—ये सब अनार्य आचरण हैं, इनसे इस महापर्वका यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है। 'न च रागोऽस्य संविधिः' ही आर्योंका आदेश है। अतः इनको त्याग देना ही आवश्यक है। वैसे ही विहितका अनुष्ठान भी परम आवश्यक है। मानवोंमें नैसर्गिक ऐसे उत्सवोंमें उदासीनताका होना भी अनार्य भावना है। अतः शारीरिक और मानसिक नीरोगताके लिये इसको मनाना आवश्यक है, किंतु यह उत्सव उच्छृङ्खलतामें न चला जाय, इसका ध्यान रखना भी परम आवश्यक है। कोई भी कार्य समर्याद होनेपर पालक एवं अमर्याद होनेपर नाशक हो जाता है। 'धर्मलाभोऽस्तु सर्वेषाम्।'

आत्मनिवेदन

(श्रीश्रीमाताजी, श्रीअरविन्दाश्रम पांडिचेरी)

'इस योगको अन्ततक वे ही कर सकते हैं जो इसे पूर्ण गम्भीरताके साथ अपनाते हैं तथा जो अपने क्षुद्र अहं एवं उसकी माँगोंको उत्सादित करनेके लिये तैयार रहते हैं जिसमें कि वे अपनेको भगवान्‌के भीतर पा सकें। यह कार्य बड़ा ही उच्च एवं कठिन है; निम्न प्रकृतिकी विरोधी शक्तियाँ न्यूनतम स्वीकृति या क्षुद्रतम छिद्रसे भी लाभ उठानेके लिये अत्यन्त तत्पर रहती हैं। सतत और तीव्र तपस्याकी आवश्यकता होती है। इसे तब नहीं किया जा सकता यदि मानव-मन बड़े जोर-शोरसे अपने ही विचारोंकी पुष्टि करे, अथवा सत्ताके निम्नतम भागकी माँगों, सहज-प्रवृत्तियों और दावोंको, जिन्हें सामान्यतः मानवप्रकृतिके नामपर औचित्य प्रदान किया जाता है, जान-बूझकर प्रश्रय दे।'

—श्रीअरविन्द

यह सभी जानते हैं, जो लोग अपने कार्य करनेकी प्रणाली या रहन-सहनका ढंग बदलना नहीं चाहते, वे सदा कहते हैं 'ओह, क्या करोगे तुम, यह तो मानवप्रकृति है।' इसीको कहते हैं 'जान-बूझकर प्रश्रय देना' अर्थात् इस बातके प्रति सचेतन होनेकी जगह कि ये मार्गकी अधःस्थितियाँ तथा कठिनाइयाँ हैं—वे यह कहकर उन्हें उचित ठहराते हैं—'ओह, इस बारेमें कुछ नहीं किया जा सकता, यह तो मानव-प्रकृति है। व्यक्ति बिना परिवर्तनके उसे ही करते रहना चाहता है, जिसे वह सदा करता आ रहा है। वह इन माँगोंके प्रति एक इच्छित दयाभावसे पूर्ण होता है। कारण, मनुष्यकी निम्न प्रकृति सदा इन वस्तुओंकी माँग करती है। वह कहती है 'ये आवश्यकताएँ हैं, अपरिहार्यताएँ हैं, इनके बिना मेरा काम नहीं चल सकता।' और तब हैं सहज-प्रवृत्तियाँ—एक प्रकारकी आत्मतुष्टिकी प्रवृत्ति—और झूठे दावे। निम्न सत्ता दावा करती है कि उसका बड़ा भारी महत्त्व है और कि उसे वह मिलना ही चाहिये जो उसके लिये आवश्यक है, अन्यथा उसका जीवित रहना सम्भव नहीं; वह कहती है कि अकेली वही महत्त्वपूर्ण है, और ऐसी-ही-ऐसी बातें। ये सबकी सब बाधा उपस्थित करती हैं, ये सब अन्ध और अज्ञ चेष्टाएँ, रहन-सहनके पुराने ढंगका समर्थन—वे लोग जो झल्लाकर कहते हैं 'क्या चाहते हो तुम, इस विषयमें कुछ नहीं किया जा सकता।' वह सब कुछ जो मनुष्य यह कहकर करता है 'ओह यह मानवप्रकृति है'। वह सब कुछ जिसे व्यक्ति यह कहकर उचित ठहराता है, 'किया क्या जा सकता है, लोग ही ऐसे हैं, लाचारी है।' यह पुराना विचार है कि हम एक विशेष प्रकृतिको लिये जन्मे हैं और हमें उसीके अनुकूल बनना चाहिये; क्योंकि उसे बदला नहीं जा सकता।

श्रीअरविन्द हमसे कहते हैं कि यदि तुम प्रकृतिको नहीं बदल सकते तो योगका अभ्यास करनेसे कोई लाभ नहीं; क्योंकि योगका अभ्यास प्रकृतिको बदलनेके लिये ही किया जाता है, अन्यथा इसका कुछ अर्थ नहीं।

प्र०—जब यह क्षुद्र अहं समाप्त हो जाता है तब क्या मनुष्य सीधा ही अपनेको भगवान्‌के भीतर नहीं पा सकता ?

उ०—किंतु वह अपने क्षुद्र अहंको पूर्णतया समाप्त किये बिना भी अपनेको भगवान्‌के भीतर पा सकता है; क्योंकि इस 'क्षुद्र' अहंको समाप्त कर देना कोई छोटा-मोटा काम नहीं।

प्र०—किंतु यह किया कैसे जाय ?

उ०—कैसे किया जाय ? 'अहं' को कैसे समाप्त किया जाय ? सबसे पहले यह चाहना होगा, और बहुत कम ऐसे लोग हैं जो यह चाहते हैं। और वे जो कहते हैं वह ठीक यही, अपने रहन-सहनके ढंगको वे इसी प्रकार उचित ठहराते हैं कि "मैं तो बना हुआ हूँ इसी तरहका, इससे अन्यथा मैं कुछ नहीं कर सकता। यदि मैं 'इसे' बदलूँ या 'उसे' बदलूँ या इस वस्तुको त्याग करूँ या उसका उन्मूलन करूँ तो मेरा अस्तित्व ही नहीं रहेगा।" ऐसा यदि वह खुलकर नहीं भी कहे, तो भी वह सोचता ऐसा ही है। इन सब क्षुद्र इच्छाओं, तुच्छ तुष्टियों, क्षुद्र प्रतिक्रियाओं और रहन-सहनके तुच्छ ढंगोंको वह कसकर पकड़े रहता है, उनके साथ वह बुरी तरह चिपटा रहता है, उन्हें वह जाने देना नहीं चाहता। मेरे पास ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं जिसमें किसी व्यक्तिकी कठिनाई दूर कर दी गयी थी (किसी

विशेष शक्तिद्वारा उसकी कोई विशेष कठिनाई दूर कर दी गयी थी) किंतु कुछ दिनोंके बाद उसने उत्साहपूर्वक फिरसे उसे अंगीकार कर लिया ! वह कहता था 'किंतु मैं तो इसके बिना रह ही नहीं सकता !' मैं ऐसे लोगोंको जानती हूँ जिन्हें प्रायः अनायास मनकी नीरवता दे दी गयी थी और जो एक या दो दिन बाद भयभीत होकर लौटे और पूछने लगे 'क्या मैं मूर्ख बनने लग गया हूँ !'; क्योंकि मानसिक यन्त्र हर घड़ी चालू नहीं था । तुम कल्पना नहीं कर सकते, तुम्हें इसका पता नहीं कि किस हदतक इस क्षुद्र 'अहं' से अपनेको पृथक् करना कठिन हो जाता है, अत्यन्त छोटा होते हुए भी यह कितना बड़ा रोड़ा है, अत्यन्त सूक्ष्म आकारका होते हुए भी यह कितना स्थान घेरता है । बड़ा कठिन है यह । और लोग इसे कई बहुत स्पष्ट कारणोंसे पीछे सरका देते हैं । उदाहरणार्थ, कोई अच्छी वस्तु है और वह व्यक्ति जो उसकी ओर इसलिये झपटता है जिसमें निश्चित रूपसे वह उसे सबसे पहले पा सके और ऐसा करनेमें वह अपने पड़ोसीको धक्के मारकर गिरा भी देता है (सामान्य जीवनमें ऐसा अत्यन्त प्रायः होता है); ऐसी अवस्थामें उसे यह समझ आती है कि यह कोई बहुत अच्छी बात नहीं है, तब वह इन भोंड़ी वृत्तियोंका दमन करनेके लिये कार्य करना आरम्भ करता है, वह कठोर प्रयास करता है—और वह अपने-आपसे बहुत अधिक संतुष्ट हो जाता है 'मैं स्वार्थी नहीं हूँ, अच्छी वस्तु मैं दूसरोंको दे देता हूँ, अपने लिये नहीं रखता ।' और वह फूलने लगता है । और तब वह एक नैतिक अहंभावसे अपनेको भर लेता है, जो कि भौतिक अहंभावसे कहीं अधिक बुरा है; क्योंकि वह अपनी श्रेष्ठताके प्रति सचेतन हो जाता है । फिर कुछ ऐसे लोग भी हैं जिन्होंने सब कुछ छोड़ दिया है, जिन्होंने अपने परिवारका त्याग कर दिया है, अपनी धन-सम्पत्ति बाँट दी है, जो एकान्तमें चले गये हैं, जो तपस्याका जीवन बिता रहे हैं और वे अपनी उच्चताके प्रति बहुत सचेतन हैं, वे अपनी आध्यात्मिक महत्ताकी ऊँचाईसे इस तुच्छ मानव-जातिको देखते हैं—और उनका अहं इतना भयंकर होता है कि जबतक उसे टुकड़े-टुकड़े नहीं कर दिया जाय वे भगवान्‌को कभी नहीं, कभी भी नहीं देख पायेंगे । अतः यह कार्य कोई वैसा सरल नहीं है । इसमें बहुत समय लगता है । और मुझे तुम्हें यह भी बता देना चाहिये कि काम हो जानेपर भी उसे सदा फिरसे आरम्भ करना पड़ता है ।

भौतिक रूपमें हमें जीवित रहनेके लिये भोज[illegible] निर्भर करना पड़ता है—यह हमारा दुर्भाग्य है; [illegible] भोजनके साथ प्रतिदिन, सर्वदा हम निश्चेतनाकी, [illegible] स्थूलता और मूर्खताकी एक बहुत बड़ी मात्रा ग्रहण [illegible] रहते हैं । हमारे पास कोई दूसरा रास्ता नहीं । जबतक [illegible] ऐसा न हो कि हम निरन्तर, अनवच्छिन्न रूपसे [illegible] चौकस रहें और ज्यों ही कोई वस्तु हमारे शरीरके [illegible] प्रवेश करे, तत्काल ही हम उसमेंसे केवल प्रकाशको [illegible] निकाल लेने और बाकी उस सब कुछको अस्वीकार [illegible] देनेके लिये, जो हमारी चेतनाको मलिन बना सकता [illegible] उसपर क्रिया करें । भोजन करनेके पहले उसे भगवान्‌[illegible] अर्पित करनेकी धार्मिक रीतिका उद्गम और उसकी युक्ति[illegible] व्याख्या इसीमें है । खाते समय व्यक्ति यह संकल्प करता [illegible] कि यह भोजन, जो कि वह खा रहा है, इस तुच्छ [illegible] अहंके लिये न हो, बल्कि उसके अंदर स्थित भाग[illegible] चेतनाको समर्पित हो । सभी योगों और धर्मोंमें इसे प्रोत्सा[illegible] दिया जाता है । इस प्रथाके मूलमें यही बात है, इस[illegible] पीछे यही चेतना विद्यमान है और यह इसीलिये है [illegible] जिस निश्चेतनाको हम सदा अनजाने ग्रहण करते रहते हैं और जो दिन-प्रतिदिन बढ़ती रहती है, वह यथासम्भव क[illegible] हो सके ।

प्राणिक दृष्टिकोणसे भी यही बात है । तुम प्राणके जगत्‌[illegible] प्राणिक रूपमें प्राणिक शक्तिकी उन सभी तरंगोंसहि[illegible] निवास करते हो, जो तुम्हारे अंदर प्रवेश करतीं, बाह[illegible] निकलतीं, परस्पर मिलतीं, एक दूसरेका विरोध करतीं, लड़ती [illegible] झगड़ती और तुम्हारी चेतनाके साथ घुलमिल जाती हैं और यदि तुम अपनी प्राणिक चेतनाको शुद्ध करनेके लिये, उसके अंदरकी कामना और क्षुद्र मानव अहंको वशमें करनेके लिये व्यक्तिगत रूपसे प्रयत्न करो भी, तो भी तुम उन विरोधी स्पन्दनोंको सतत ग्रहण करनेको विवश होते हो जो तुम्हारे साथ रहनेवाले व्यक्तियोंकी ओरसे आते हैं । तुम किसी एकान्त हाथी-दाँतके दुर्गमें अपनेको बंद करके नहीं रख सकते, भौतिक रूपकी अपेक्षा प्राणिक रूपमें यह करना तो और भी कठिन है, और तुम सब प्रकारकी वस्तुएँ अपने अंदर ग्रहण करते रहते हो । जबतक कि तुम हर समय ही जाग्रत् नहीं रहते, चौकस नहीं रहते, जबतक उन सब वस्तुओंपर, जो तुम्हारे अंदर प्रवेश करती हैं, तुम्हारा प्रभावकारी नियन्त्रण नहीं रहता, जबतक तुम अपनी चेतनामें

उन सब तत्त्वोंका, जिन्हें तुम नहीं चाहते, प्रवेश करना बंद नहीं कर देते, तबतक तुम सदा ही उन सभी कामनाओं और निम्नतर क्रियाओंको, उन सभी तुच्छ अन्ध-प्रतिक्रियाओंको, उन सभी स्पन्दनोंको जिन्हें तुम नहीं चाहते तथा जिन्हें तुम उन लोगोंसे प्राप्त करते हो जो तुम्हारे चारों ओर रहते हैं, छूतके समान ग्रहण करते रहते हो।

मानसिक दृष्टिकोणसे यह और भी अधिक बुरा है। मानव-मन एक सार्वजनिक स्थानके समान है और वह सार्वजनिक स्थान चारों ओरसे खुला है—सभी तरफसे वस्तुएँ आती हैं, जाती हैं, एक दूसरेको काटकर निकल जाती हैं और कुछ-एक वहीं जमकर रह भी जाती हैं और ये सदा बहुत अच्छी प्रकारकी नहीं होतीं। और वहाँ, इस संघातपर नियन्त्रण रखना सब नियन्त्रणोंसे अधिक कठिन होता है। तुम्हारे मनमें जो विचार आते हैं उन्हें नियन्त्रित करनेकी चेष्टा करो, तब तुम्हें यह पता लग जायगा। तुम सरलतासे देख पाओगे कि व्यक्तिको किस हदतक चौकस रहनेकी आवश्यकता है, एक संतरीके समान, जिसमें तुम अपनी मनकी आँखोंको पूरा खुला रक्खो और वे विचार जो तुम्हारी अभीप्साओंके साथ मेल खाते हैं तथा वे जो उनके विरोधी हैं, उनके विषयमें एक अत्यधिक स्पष्ट दृष्टि बनाये रख सको। और प्रत्येक मिनट तुम्हें उस सार्वजनिक स्थानपर जहाँ सब ओरसे सड़कें मिलती हैं, यातायात नियन्त्रित रखनेवाले सिपाहीकी तरह कार्य करना होगा, जिसमें सभी राही वहाँ फट न पड़ें। यह एक बड़ा भारी काम है। अतः तुम्हें अपने-आपसे स्पष्ट कह देना होगा कि चाहे तुम कितने भी सच्चे हृदयसे क्यों न प्रयत्न करो, तुम्हारी सभी कठिनाइयाँ एक दिनमें या एक मासमें या एक वर्षमें दूर नहीं हो जायँगी। जब तुम कार्य आरम्भ करो तो उसे अविचल धैर्यके साथ आरम्भ करना होगा। तुम्हें अपने-आपसे कहना होगा 'चाहे इसमें मुझे पचास वर्ष लगें, चाहे सौ वर्ष या चाहे कई जीवन भी लग जायँ, तो भी जो काम मैं पूरा करना चाहता हूँ उसे मैं पूरा करूँगा ही।'

एक बार जब तुम ऐसा निश्चय कर लो, एक बार जब तुम यह भलीभाँति जान लो कि यह बात ऐसी है और लक्ष्यप्राप्तिके लिये एक सतत और स्थिर प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है, तब तुम इसे आरम्भ कर सकते हो, अन्यथा कुछ समय बाद तुम चित हो जाओगे। तुम्हारा उत्साह चला जायगा और तुम कहोगे 'ओह, यह बहुत कठिन है—मैं करता हूँ और वह फिर बिगड़ जाता है, दुबारा करता हूँ और वह फिर बिगड़ जाता है तथा उसे फिरसे करता हूँ और वह सदा बिगड़ता ही चला जाता है···तब क्या होगा? कब हम यात्रा तय कर पायेंगे?' व्यक्तिमें असीम धैर्य होना चाहिये। कार्य सौ बार बिगड़ सकता है और तुम उसे एक सौ एक बार करोगे, शायद वह हजार बार भी बिगड़ सकता है और तुम उसे एक हजार एक बार करोगे जबतक कि अन्तमें वह फिर नहीं बिगड़े और अन्तमें वह फिर नहीं बिगड़ता।

किंतु बात यह है कि यदि व्यक्ति केवल एक ही खण्डका बना होता तो यह सब सरल होता, पर वह कई खण्डोंसे बना है और तब इनमेंसे एक खण्ड आगे बढ़ा हुआ है और वह काफी कार्य कर चुका है, वह बड़ा चेतन है, पूरी तरह जाग्रत् है, और जबतक वह वहाँ रहता है सब कुछ ठीक चलता है तब कोई भी वस्तु अंदर घुसने नहीं दी जाती, व्यक्ति चौकस रहता है। और तब·········, व्यक्ति सो जाता है और अगले दिन जब वह जगता है तो वहाँ दूसरा खण्ड उपस्थित होता है, तब व्यक्ति अपने-आपसे कहता है 'अरे, कहाँ चला गया वह सब कार्य जो मैं कर चुका था? ·········', और उसे सब कुछ फिरसे करना पड़ेगा, तबतक फिरसे करते रहना पड़ेगा जबतक कि सभी भाग एक-एककर चेतनाके क्षेत्रमें प्रवेश न कर जायँ और सबके सब बदल न जायँ और जब तुम अपनी इस तालिकाके अन्तमें पहुँच जाओगे तब तुम्हें परिवर्तन दिखायी देगा, तुम एक प्रगति कर चुके होते हो। इसके बाद तुम एक अन्य उठाते हो पर वह पहला हो गया होता है। किंतु वह पूरी तरह तबतक नहीं होता जबतक सत्ताके सभी भाग इस प्रकार एक-एक करके आगे न लाये जायँ और तुम उन सबोंपर, किसी एकको भी छोड़े बिना, चेतना, प्रकाश, संकल्प एवं आदर्शका ऐसा दबाव न डालो कि सब कुछ बदल जाय।

यह मैं तुम्हें निरुत्साहित करनेके लिये नहीं वरं आगेसे बता देनेके लिये कह रही हूँ। मैं यह नहीं चाहती कि तुम्हें पीछे यह कहना पड़े—'ओह, यदि मैं जानता कि यह कार्य इतना कठिन है तो मैं इसे आरम्भ ही नहीं करता।' व्यक्तिको यह जान लेना चाहिये कि यह अत्यधिक कठिन है और खूब दृढ़तापूर्वक आरम्भ करना चाहिये तथा अन्ततक

निभाना चाहिये, तब भी जब अन्त बहुत दूर हो—बहुत-से कार्य करने होते हैं। अब मैं तुम्हें बतला सकती हूँ कि यदि तुम उस कार्यको लगन और सावधानीपूर्वक करो तो वह बड़ा ही रुचिकर हो जाता है। वे लोग भी, जिनका जीवन नीरस और अरुचिकर होता है (कुछ बेचारे ऐसे लोग भी होते हैं, जिन्हें किसी ऐसे कार्यको जिसमें उनकी बिल्कुल रुचि नहीं होती, एक ही कामको और सदा उन्हीं परिस्थितियोंमें करना पड़ता है और जिनका मस्तिष्क भी पर्याप्त रूपमें जाग्रत् नहीं होता कि वे किसी भी प्रकारके कार्यमें रस ले सकें), ये लोग यदि अपने ऊपर नियन्त्रण और निराकरणकी इस छोटी-सी क्रियाको आरम्भ कर दें ;अर्थात् जब कोई तत्त्व अपने अज्ञान और निश्चेतना और अहंभावके साथ आवे, उसे बदलनेके संकल्पके सामने रखें और व्यक्ति जाग्रत् रहे, उसकी तुलना करे, निरीक्षण करे एवं अध्ययन करे तथा धीरे-धीरे उसपर कार्य करे तो यह सब बहुत ही अधिक मनोरञ्जक हो जाता है। व्यक्ति चमत्कारपूर्ण और सर्वथा आशातीत खोजें कर लेता है। तुम अपने अंदर छोटी-छोटी गुप्त तहोंके एक ढेरका पता पाते हो, छोटी-छोटी वस्तुओंके जिन्हें तुम आरम्भमें नहीं देख सके थे। यह एक आन्तरिक शिकारखेलने-जैसा है। तुम छोटे-छोटे अँधेरे कोनोंकी खोजमें निकल पड़ते हो और अपनेसे कहते हो 'क्या ! मैं ऐसा था, यह मुझमें था, मैं इसको अपने अंदर प्रश्रय दिये हूँ !' कभी-कभी वह कितनी मलिन, कितनी निम्न और घिनौनी होती है ! और एक बार जब तुम इसे खोज निकालते हो तो फिर कैसा आश्चर्य होता है, तुम उसपर प्रकाश डालते हो और वह लुप्त हो जाती है ! और तब तुममें वे प्रतिक्रियाएँ नहीं उठतीं जिनसे तुम्हें पहले इतना दुःख होता था और तुम कहते थे 'ओह, मुझे कभी सफलता नहीं मिलेगी। उदाहरणार्थ, तुम एक बहुत ही सामान्य-सा निश्चय बनाते हो (देखनेमें बड़ा ही सामान्य), 'मैं कभी झूठ नहीं बोलूँगा।' और फिर अचानक ही, तुम्हारे यह बिना जाने ही कि यह क्योंकर और कैसे हुआ, झूठ अकस्मात् तुम्हारे मुँहसे फूट पड़ता है और तुम्हें इसका पता तब लगता है जब तुम उसे कह चुके होते हो 'किंतु मैंने जो कहा वह तो ठीक नहीं है, जो मैं कहना चाहता था वह उससे बिल्कुल भिन्न है।' तब तुम खोजते हो, और खोजते हो······'यह कैसे हुआ ? मैंने ऐसा कैसे सोचा ? कैसे कहा ? मेरे अंदर कौन बोला, किसने मुझसे यह कहला दिया ?······', तुम इसकी बड़ी संतोषपूर्वक व्याख्या भी कर सकते हो और कह सकते हो 'यह मेरे अंदर बाहरसे आया था' अथवा 'यह अचेतनाका एक क्षण था।' और तुम उसके विषयमें सोचना बंद कर देते हो। अगली बार यह फिर आरम्भ होता है। अब तुम इस बातकी खोज करते हो 'जो व्यक्ति झूठ बोलता है उसका अभिप्राय क्या हो सकता है ?······' तुम आगे बढ़ते हो और आगे बढ़ते हो और तब अचानक तुम देखते हो कि एक छोटेसे कोनेमें कोई वस्तु है जो अपनेको उचित ठहराना चाहती है, अपनेको बड़ा करके दिखाना चाहती है, देखनेके अपने ढंगकी पुष्टि करना चाहती है (कुछ भी हो, इसके कारण अनेक हो सकते हैं), कुछ वह है उससे भिन्न दीखनेकी चेष्टा कर रही है, जिससे लोग तुम्हारा सम्मान करें और वे यह समझें कि तुम एक विशिष्ट व्यक्ति हो।·········यही वस्तु तुम्हारे अंदर बोली थी—यह तुम्हारी सक्रिय चेतना नहीं है, वरं वह जो वहाँ विद्यमान थी और जिसने तुम्हारी चेतनाको पीछेसे ढके रखा था। जब तुम पूर्णतः चौकस नहीं थे, उस वस्तुने तुम्हारे मुँहका, तुम्हारी जिह्वाका प्रयोग किया और तब लो, झूठ बाहर निकल पड़ा। मैं तुम्हें यह उदाहरण दे रही हूँ, ऐसे करोड़ों अन्य उदाहरण हैं और ये सब अत्यन्त मनोरंजक हैं। ज्यों ही तुम अपने अंदरकी इस वस्तुको खोज लेते हो और सच्चाईके साथ कहते हो—'इसे बदलना ही चाहिये', तब तुम्हें पता लगता है कि तुम्हारे अंदर एक प्रकारकी आन्तरिक स्पष्ट-दर्शिता है, जिसकी सहायतासे तुम धीरे-धीरे यह जानने लगते हो कि दूसरोंके अंदर क्या घटता है और तब उस समय, जब कि वे पूरी तरह वैसे नहीं होते जैसा कि तुम चाहते हो कि वे हों, तुम क्रोध करनेके स्थानपर यह समझना आरम्भ करते हो कि वस्तुएँ कैसे घटती हैं, किस प्रकार व्यक्ति 'वैसा' होता है, प्रतिक्रियाएँ कैसे उत्पन्न होती हैं·····'तब तुम ज्ञानकी सहिष्णुतासे मुस्कुरा देते हो। तुम कोई तीखी टीका-टिप्पणी नहीं करते, तुम कठिनाईको, चाहे वह अपनी हो या दूसरोंकी,—अभिव्यक्तिका स्थान चाहे जो भी हो—दिव्य चेतनाको समर्पित कर देते हो और उसे इसे रूपान्तरित करनेके लिये कहते हो।

हिंदू-देवताओंमें विभिन्न रंगोंका छिपा हुआ गुप्त अभिप्राय

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

रंगोंमें सुन्दरता और कल्याणका संदेश

हिंदू कलाकारोंने भारतीय देवी-देवताओंके शरीर तथा वस्त्रोंमें नाना रंगोंका कलात्मक प्रयोग किया है। एक ओर जहाँ ये विभिन्न रंग उन्हें चित्ताकर्षक बनाते हैं, वहाँ दूसरी ओर प्रत्येक देवतामें निहित गुणों और विशिष्ट कर्मों अथवा उच्च उद्देश्योंको भी अभिव्यक्त करते हैं।

हिंदू-देवताओंमें प्रयुक्त रंगोंके चुनावमें कुछ रंगोंका निश्चित मनोवैज्ञानिक सांकेतिक अर्थ है। कुछकी स्वास्थ्य, दीर्घजीवन और धर्मकी दृष्टियोंसे विशेष उपयोगिता है। विविध रंग हमारे दैनिक जीवनमें उपयोगिताके साथ-साथ ही नव-स्फूर्ति, सुन्दरता और कल्याणका संदेश देते हैं।

हिंदू विचारक प्रत्येक ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्यको, जिसे वे मानवजीवन और समाजके लिये उपयोगी, स्वास्थ्यप्रद और लाभदायक समझते थे, सहज ही धर्मके अंदर स्थान दे दिया करते थे। धर्मका अङ्ग होनेसे लोग सहर्ष उसका उपयोग करते थे और अनेक लाभ उठाते थे।

आजकी रंगोंपर आधारित सूर्यकिरण-चिकित्साने रंगोंवाली बोतलोंमें रक्खे हुए जलद्वारा अनेक रोगोंको दूर करना प्रमाणित कर दिया है। रंगोंका स्वास्थ्य और मनपर उपयोगी प्रभाव पड़ता है। रंगोंके आकर्षक वातावरणमें मन आह्लादित रहता है और ऊब दूर होती है। निराशा भागती है। धार्मिक कृत्योंमें रोलीका लाल, हल्दीका पीला, पत्तियोंका हरा, आटेका सफेद रंग प्रयोगमें लाया जाता है। यह हमारे लिये स्वास्थ्यदायक, स्फूर्तिप्रद और कल्याणकारी होता है।

प्राचीन युगसे अर्वाचीन कालतक हमारे धर्म तथा समाजमें रंगोंका सम्मिश्रण नये-नये रूपोंमें होता रहा है। एक ओर रंग जहाँ हमारे यहाँ सौन्दर्य-प्रसाधनोंके विविध रूपोंमें प्रयुक्त हुए हैं, वहाँ दूसरी ओर ये धर्ममें निहित उपयोगी तथ्योंको भी जनमानसतक पहुँचाते रहे हैं। एक युग था जब भारतमें प्रत्येक उद्‌बुद्ध समझदार हिंदू रंगोंमें व्याप्त गुप्त सांकेतिक भाषाका अर्थ अच्छी तरह समझता था। खेद है, आज उस वर्ण (रंग-) विज्ञानके विकसित मनोवैज्ञानिक चमत्कारोंको हिंदू भूल बैठे हैं। रंगोंके ठीक प्रयोगसे मानव-जीवन प्रसन्न, कलात्मक, शुभ शान्तिदायक बन सकता है।

सब रंग सूर्यकी किरणोंके प्रभावसे बनते हैं। सूर्यकी किरणोंमें सभी रंगोंका सम्मिश्रण है। सूर्यकी छत्रछायामें नाना वनस्पतियाँ तथा जीवधारी पनपते और बढ़ते हैं, उसी प्रकार हरा, लाल और नीला रंग—ये मनुष्यको स्वस्थ, यशस्वी और गौरवशाली बनानेवाले हैं। लाल रंग सौभाग्यका चिह्न है तो हरा शुभ कामना प्रकट करता है।

लाल रंगमें सर्वाधिक धार्मिकता

हिंदूधर्ममें लाल रंगका सर्वाधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है तथा अधिक-से-अधिक मङ्गल कार्योंमें उपयोग किया गया है। प्रायः सभी देवी-देवताओंके लाल रोलीका टीका लगाया जाता है। लाल चन्दन चन्द्रमाका परिचायक है। लाल टीका शौर्यका प्रतीक है। लाल टीका लगाकर व्यक्ति (विशेषतः पुरुष) में तेजस्विता, पराक्रम, गौरव और यशका अस्तित्व होना माना गया है।

लाल रंग मनुष्यके शरीरको स्वस्थ और मनको हर्षित करनेवाला है। इससे शरीरका स्वास्थ्य सुधरता है और मन प्रसन्न रहता है। यह पौरुष और आत्मगौरव प्रकट करता है। गौरवका रंग ही लाल है। क्रोधसे लाल होना हमारे यहाँका मुहावरा है। उत्तम स्वास्थ्य और शक्ति मनुष्यके गुलाबी आभायुक्त रंगसे प्रकट होती है।

प्राचीन कालसे अर्वाचीन युगतक भारतीय ललनाओंके जीवन और शृंगारमें लाल रंगका प्रमुख स्थान रहा है। सौभाग्यवती नारी लाल बिन्दी तथा पौरुषपूर्ण व्यक्ति माथेपर लाल चन्दनका टीका लगाते हैं। लाल चन्दन चन्द्रमाका परिचायक है। लाल टीका शौर्य और विजयका सूचक है। नारीकी गरिमा, सौभाग्य, सम्मान और स्नेह लाल रंगसे प्रकट होता है।

हिंदूधर्ममें लाल रंगसे उन्हीं देवी-देवताओंको अभिषिक्त किया गया है, जो परम मङ्गलकारी, धन, तेज, शौर्य और पराक्रमको प्रकट करते हैं। उन देवताओंको भी शौर्य-सूचक लाल रंग दिया गया है, जिन्होंने अपने समुन्नत

बाहुबल, अस्त्र-शस्त्र तथा शारीरिक शक्तियोंसे दुष्ट दैत्यों या आसुरी प्रवृत्तियोंको परास्त किया था।

लाल रंग बल, उत्साह, स्फूर्ति, पराक्रमका द्योतक है। हर्षके अवसर लाल रंगसे ही स्पष्ट किये जाते हैं। विवाह, जन्म, विभिन्न उत्सवोंपर आनन्दकी भावना लाल रंगसे प्रकट होती है। समस्त मङ्गलमय उत्सवोंमें अधिक-से-अधिक लाल रंगका प्रयोग आवश्यक है।

लाल रंग नारीकी मर्यादाकी रक्षा भी करता है, नारीका सौभाग्य-चिह्न है। नारीकी माँगमें लाल सिंदूर जहाँ एक ओर उसका सौन्दर्य बढ़ाता है, वहाँ दूसरी ओर उसका अटल सौभाग्य तथा पतिप्रेम भी प्रकट करता है। नारीका स्नेह लाल रंगसे परिलक्षित होता है। माँगमें लाल रंग देखकर सहसा किसीकी हिम्मत उसपर कुदृष्टि डालनेकी नहीं होती। उसे यह प्रकट होता है कि यह स्त्री चरित्रवान् महिला है। लाल रेखा जैसे उसकी मर्यादाकी परिधि है। लाल गरिमासे युक्त प्रभुतामयी कल्याणमयी गृहिणी ही गृहलक्ष्मी है।

चूँकि नारी-जीवनमें लाल रंगका विशिष्ट महत्त्व है, इसलिये हमारी देवियोंमें (विशेषतः भगवती दुर्गा और श्रीमहालक्ष्मीजीमें) लाल रंगोंका अधिकतम प्रयोग किया गया है।

हिंदू तत्त्वदर्शियोंने सिंहवाहिनी भगवती दुर्गाको लाल रंगके चमकदार वस्त्रोंसे सुसज्जित किया है। उनके दस हाथोंमें माला, तलवार, धनुष, तीर, गदा, फरसा, शंख, सर्प, चक्र आदि विविध हथियार वीरवेश प्रकट करनेके लिये रक्खे गये हैं। उनका मुखमण्डल तेजसे लाल है, उनकी लाल त्वचासे उनका शौर्य और स्वास्थ्य झलकता है। उनकी पूजासे आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक त्रितापोंको दूर करनेका विधान है। लाल वस्त्रोंवाली भगवतीकी कृपासे परिवारके सब संकट दूर होते हैं। देवीपूजासे समस्त आसुरी और तामसी प्रवृत्तियोंपर दैवी और सात्त्विक प्रवृत्तियोंकी विजय होती है। पाप नष्ट होता है। दुर्गाकी लालीसे सात्त्विक लोगोंमें पुण्यके प्रति स्फूर्ति और उत्साह भर जाता है।

महिष नामक राक्षस घोर तामसी प्रवृत्तियोंका असुर था। वह साम्राज्यवादी दुष्प्रवृत्तियोंका दानव था और पापसे सर्वशक्तिमान् बनना चाहता था। उसने पृथ्वीतलके बाद देवताओंके अधिकारोंका भी अपहरण किया था। उसे वध करनेके लिये ब्रह्मा, विष्णु और शिवजी आदिके शरीरसे तेज निकला और उस तेजने शक्तिशाली दुर्गाका रूप धारण किया। इन्हें सब प्रकारकी शक्ति और पौरुषका प्रतीक लाल वस्त्र पहनाया गया। भड़कीले लाल रंगसे उनका शृंगार किया गया। यह आकर्षक रंग बरबस सबका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला था। उनके मुखमण्डलका वर्ण लाल था, मुँहमें लाल पान चमक रहा था, लाल चूड़ियाँ और लाल ओढ़नी दी गयी। पाँवोंमें लाल महावर लगाया गया। सर्वत्र लाल रंगद्वारा वीर-पौरुषपूर्ण भावना प्रकट हो रही थी। यह लाल रंग शत्रुका दमन करनेवाला तत्त्व था। महिषकी आसुरी और तामसिक वासनाओंके प्रति क्रोधित होकर भगवती दुर्गा रक्तिम थीं। अहह! उस लाल वीरवेशमें सिंहवाहिनीकी यशस्वी शोभा दर्शनीय थी। इस समस्तका मनोवैज्ञानिक प्रभाव यह पड़ा कि दुष्ट महिषासुर सिंहवाहिनी भगवतीके प्रकोपसे अनायास ही भयभीत हो उठा। अन्तमें घोर युद्धके उपरान्त लाल रंगवाली देवीकी विजय हुई। आसुरी प्रवृत्तियोंको दबा दिया गया।

फलतः दशमीको देवताओंने लाल रंगसे भगवती दुर्गाका अभिषेक किया। लाल रंगको विजयका प्रतीक माना गया। दसों दिशाएँ रक्ताभसे उल्लसित हो उठीं। भक्तजनों तथा देवताओंने माँ दुर्गाकी स्तुति की!

देवी दुर्गाने उन्हें वर दिया—

'जो कोई लाल रंगसे मेरा अभिषेक कर भक्तिपूर्वक मेरे वीरत्वका चिन्तन करेगा, उसकी पाशविक प्रवृत्तियोंका दमन करूँगी। जब कभी पापवृत्तियाँ सिर उठायेंगी, तो मेरे लालवर्णके कारण उनका नाश होगा।'

इस प्रकार लाल रंग पौरुष, पराक्रम और यशको प्रकट करता है।

लक्ष्मीजीका लाल रंग मङ्गलका प्रतीक

धनकी देवी लक्ष्मीजीको भी मङ्गलकारी लाल वस्त्र पहिनाये गये हैं। लाल रंग धन, विपुल सम्पत्ति, समृद्धि, शुभ लाभको प्रकट करनेवाला है। लक्ष्मीजीको लाल कमलपर खड़ा किया गया है, जो समृद्धिका सूचक है। लक्ष्मीजीमें प्रयुक्त लाल रंग भाग्य एवं धन-धान्य प्रकट करनेवाला है। लक्ष्मीजी

सूर्य-स्वरूपा, हिरण्यमयी, मङ्गलदायिनी, उदारशीला, पद्महस्ता, कमलके आसनपर विराजमान, लालवर्णा, साक्षात् ब्रह्मरूपा, सोने तथा चाँदीके हार पहिननेवाली तथा चन्द्रवत् प्रसन्न कान्तिमती कही गयी हैं। लाल वस्त्रोंमें उनके आगमनसे सोना, गौ, घोड़े तथा पुत्रादिकी प्राप्ति होती है। लाल रंग मङ्गलकारी है।

ऐसी लक्ष्मीका आवाहन करनेके लिये पुराणोंमें लिखा है कि पत्र, लाल पुष्पों, तोरण, स्वच्छ वस्त्र, लाल ध्वजा तथा पताकासे सुसज्जितकर एक लाल मण्डप बनायें। प्रदोषके समय उसमें लक्ष्मीजीके साथ अन्य देवी-देवताओंकी षोडशोपचारपूर्वक पूजा करें। (स्कन्दपुराण)

लक्ष्मीजी धन-धान्य और समृद्धिद्वारा लाल रंगसे सर्वत्र उल्लास बिखेरनेवाली हैं। लाल रंग धरतीपर हर्ष और आनन्द बिखेरनेवाला है। होली, दीवाली लाल रंगके त्यौहार हैं। यह रंग हमारे पुरखोंकी उज्ज्वल गौरव-गाथाको स्पष्ट करनेवाला है।

लाल वस्त्रोंमें रहने और लाल कमलके पुष्पपर खड़ी रहनेवाली लक्ष्मीजी स्वधर्मका आचरण करनेवाले, धर्मकी मर्यादा जाननेवाले, वृद्धजनों अथवा गुरुजनोंकी सेवामें तत्पर रहनेवाले, जितेन्द्रिय, आत्मविश्वासी, क्षमाशील और समर्थ पुरुषोंके साथ रहती हैं। इसी प्रकार देवता और गुरुजनोंकी पूजामें निरत रहनेवाली, सदा हँसमुख बनी रहनेवाली, सौभाग्ययुक्त, गुणवती, पतिव्रता, कल्याणकामिनी और अलंकृता स्त्रियोंके पास रहनेमें उन्हें बड़ा आनन्द मिलता है।

भगवाँ रंग—त्याग, तपस्या और वैराग्यका प्रतीक

भगवाँ रंग अग्निकी लपटका रंग है। भारतीय धर्ममें इस रंगको साधुता, पवित्रता, शुचिता, स्वच्छता और परिष्कारका द्योतक माना है। अग्नि तमाम गंदगी, कल्मष, कलुषितताको नष्ट करनेवाली है। आगमें तपकर वस्तुएँ निखर उठती हैं। उनकी कालिमा और खराबी दूर हो जाती हैं। सोनेको जितना ही अग्निमें तपाया जाता है, वह उतना ही चमक-दमक उठता है। इसी प्रकार इस रंगको पहिननेवाला अपनी विषय-वासनाओंको दग्धकर आध्यात्मिकताकी ओर अग्रसर होता है।

भगवाँ रंग आध्यात्मिक प्रकाशका रंग है। यह धार्मिक ज्ञान, तप, संयम और वैराग्यका रंग है। हिंदू योगी, तपस्वी, वैरागी, साधु भगवाँ वस्त्र पहनकर मानो अन्धकारसे प्रकाशकी ओर चलते हैं, मृत्युसे अमरताकी ओर बढ़ते हैं एवं अज्ञानसे ज्ञान और सन्मतिकी ओर अग्रसर होते हैं।

जैसे अग्निसे प्रकाश उत्पन्न होता है, उसी प्रकार भगवाँ-वस्त्र पहिननेवाला योगी आध्यात्मिक ज्योतिसे निखर उठता है। वह यह रंग धारणकर संसारमें त्याग, तपस्या, संयम और वैराग्यका पवित्र जीवन व्यतीत करना चाहता है।

भगवाँ वस्त्र पहने साधु देवताओंके गुणोंको अपने व्यक्तित्वमें विकसित करना चाहता है। भगवाँ रंग साधुको उसके जनसेवा, जन-शिक्षण और पथप्रदर्शनके महान् उत्तरदायित्वकी स्मृति दिलाया करता है। यह रंग शुभ संकल्पका सूचक है। जब व्यक्ति उसी रंगको पहनता है, तो उसे अपने कर्तव्य खूब स्मरण रहते हैं, उसकी नैतिक उन्नति होती जाती है, बुद्धि-विवेक और संयम उत्तरोत्तर बढ़ते हैं। प्राचीन कालमें भगवाँ-वस्त्र पहनकर भारतीय ऋषि-मुनि जन-जागरणकी अलख जगाते हुए देशके कोने-कोनेमें भ्रमण करते थे। मन्दिरोंमें ठहरते थे। जन-जीवनमें जो विकृति दीखती थी, परिव्राजक बनकर तीर्थ-यात्रा, पद-यात्रा करते हुए उसे दूर किया करते थे। धर्म, समाज, संस्कृति एवं राष्ट्रकी सुरक्षामें कर्मठ प्रहरीको भगवाँ-वस्त्र पहननेका प्राचीन विधान है।

भगवाँ-वस्त्र पहननेसे यह स्पष्ट होता है कि साधुने तप, त्याग और आत्मसंयमद्वारा अपने व्यक्तित्वको क्षुद्र सांसारिकतासे ऊपर उठा लिया है, अपनी रुचिको उन्नत, प्रशस्त और परिष्कृत कर लिया है। अब वह इन्द्रिय-लोलुपता, भोग-विलास, वासनाओंके ताण्डवसे बचकर शुभ्र और पवित्र आध्यात्मिक प्रदेशमें विचरण करने लगा है। विवेक, ज्ञान, अध्ययन, उच्चचिन्तनका पथिक बन गया है। भगवाँ-वस्त्र योगी और महात्माओंको सदा विषय-वासनाओं, संसारके माया और प्रपञ्चों तथा मोहको त्यागनेका वैराग्यप्रधान संदेश देता है।

हरा रंग आध्यात्मिक प्रेरक वातावरणका प्रतीक

हरा रंग समग्र प्रकृतिमें व्याप्त है। यह पेड़-पौधों, लहलहाते खेतों, क्यारियों, पर्वतीय प्रदेशोंको ढकनेवाला मधुर रंग है। यह मनको शान्ति और हृदयको शीतलता

प्रदान करता है। हमारे नेत्रोंको प्रिय लगता है। यह मनुष्यको सुख, शान्ति, ताजगी, जिन्दादिली देनेवाला प्रिय रंग है। यह नेत्र-ज्योतिकी वृद्धि करता है और मनमें संतुलन, प्रसन्नता, सुख और शीतलता देता है।

लक्ष्मीजीको मङ्गलकारी लाल वस्त्रों तथा नेत्र-सुखदायक हरे रंगसे भी विभूषित किया गया है। लाल और हरे रंगके सम्मिश्रणसे महालक्ष्मीजीकी सात्त्विकता, जितेन्द्रियता, सत्यपरायणता, कल्याणकामना और सौभाग्यको स्पष्ट किया गया है। लाल और हरे रंगोंसे उद्योगशीलता स्पष्ट होती है। लक्ष्मीजी उन्हीं पुरुषश्रेष्ठोंके पास रहती हैं, जो उद्योगी, परिश्रमी, स्फूर्तिदायक और आत्मविश्वासी हैं। ये दोनों रंग मिलकर मनुष्यके मनकी शान्ति, तेज, बल और आत्मगौरवको बढ़ानेवाले हैं। यदि हम इन रंगोंको धारण करें, तो प्रकृतिके साथ सामञ्जस्य स्थापित करते हैं और सुखी रहते हैं। लक्ष्मीजीको आसपासका हरा वातावरण विशेष प्रिय है।

हरे-भरे जंगल तथा हरित पुष्पाच्छादित उद्यान जहाँ धरती माताकी शोभा बढ़ाते हैं, वहाँ हरे रंगके मनोमुग्धकारी प्रिय वातावरणमें मानव-मनको अत्यधिक प्रसन्नता प्राप्त होती है। हमारा मन-मयूर मस्त होकर नृत्य करने लगता है।

पहले लोग घरोंके आस-पास पूरे वर्षतक विविध प्रकारके रंग-विरंगे फूल देनेवाले पौधे लगाते थे, जिससे उस स्थानका वातावरण शुभ विचारोंके लिये प्रेरक होता था और सौन्दर्य बढ़ता था। प्राणवायुकी स्वास्थ्य और यौवन देनेवाली सुगन्ध चारों ओर फैलकर लोगोंको प्रसन्नता प्रदान करती थी।

प्राचीन ऋषि-मुनियोंने अपनी आध्यात्मिक उन्नति ऊँचे हरे पर्वत-शिखरों, लंबे-लंबे घासके हरे मैदानों, कल-कलनिनादिनी सरिताओं और चाँदी बिखेरते निर्झरोंके हरे तटोंके शान्त सुखद वातावरणमें की थी। संसारके महान् ग्रन्थ, मौलिक विचार, प्राचीन शास्त्र, वेद-पुराण आदि उत्तमोत्तम ग्रन्थ हरे वातावरणमें ही निर्मित हुए हैं। हमारे पूर्वजोंके आत्मा तथा परमात्मा-सम्बन्धी उत्कृष्ट विचार हरे वातावरणकी उर्वर विचार-शक्तिकी देन हैं।

हरा रंग आलस्य दूर कर ताजगी देता है, मूर्खता दूर कर वेदज्ञानकी ओर उन्मुख करता है। हरे वातावरणमें स्फूर्ति आती है और कठिन काममें मन लगता है।

हरा रंग आत्मिक शान्ति देनेवाला है। प्राचीन कालमें व्यक्ति घने औद्योगिक नगरोंकी अपेक्षा हरे-भरे ग्रामीण वातावरणमें रहना अधिक पसंद करते थे। ऋषियोंके आश्रम खेतोंमें थे। हरियालीके वातावरणमें रहकर हम विचारक, शिक्षक, नेता, लेखक—अनर्थमूलक असामाजिक दुष्ट तत्त्वोंसे सुरक्षित रहते हैं।

हरे वातावरणमें लगे फूलोंका एक आध्यात्मिक महत्त्व भी है। कमलका फूल हमारे धर्मका अविभाज्य अङ्ग है। लक्ष्मीजी लाल कमलपर ही निवास करती हैं। हिंदू धर्म तथा भारतीय संस्कृतिमें पुष्प श्रेष्ठता, पवित्रता और सत्य सेवाके प्रति आत्म-समर्पणका प्रतीक भी है। इसीलिये बेल-पत्र, तुलसी-पत्र आदिके साथ पुष्प देवताओंकी भेंटमें पूजा-अर्चामें प्रमुख स्थान रखता है।

हरा रंग हमारी नैतिक जागृति और आध्यात्मिक चेतनाका प्रतीक है। खाद्यान्नकी पूर्ति, अच्छे स्वास्थ्यकी प्राप्ति, गंदगी-निवारण आदि आवश्यकताएँ स्वच्छ हरे वातावरणमें होती हैं। यह रंग सामाजिक जीवनमें एक नयी रचनात्मक विचारधाराका प्रसार करनेवाला है। इसमें रहकर हम प्रसन्नता और सौभाग्य प्राप्त करते हैं।

जैसे पानी पाकर बीजोंसे अंकुर फूटते हैं, वृक्षोंमें हरी प्यारी कोपलें निकलती हैं, शाक-सब्जी उगती है; उसी प्रकार धरतीको हरा-भरा बनानेसे गरीबी और भुखमरी दूर होती है। खानेके लिये अन्न पैदा होता है। नये पौधे उग आनेसे गाँव हरे-भरे नजर आते हैं और उसे देखकर ग्रामीण मस्त हो झूमने लगते हैं। दीपावली और होलीके अवसरोंपर नयी फसलके आगमनपर हमारे यहाँ उत्सव मनानेका विधान है।

गंदे स्थानोंपर भी साफ करके फूल लगाये जा सकते हैं, उसी प्रकार निम्नकोटिके विचारोंमें रहनेवाले व्यक्ति भी हरे वातावरणमें विचारोंकी उच्चता प्राप्त कर सकते हैं। आज देशभरमें फल-शाक-तरकारी और फूलोंके लगानेका अभियान शुरू किया जा रहा है। पंजाब-सरकारके निर्णयके अनुसार पं० जवाहरलाल नेहरूके प्रिय गुलाब-की स्मृतिमें चण्डीगढ़के ३० एकड़ क्षेत्रमें गुलाबका एक बाग लगानेकी योजना बनायी गयी है। जब इस हरे-भरे बागका पूर्ण विकास होगा, तो यह विश्वका सबसे सुन्दर गुलाबके बगीचोंमें होगा।

पीला रंग ज्ञान, विद्या और विवेकका प्रतीक

पीला रंग ज्ञान और विद्याका भव्य रंग है। यह सुख, शान्ति, अध्ययन, विद्वत्ता, योग्यता, एकाग्रता और मानसिक बौद्धिक उन्नतिका प्रतीक है। पीला रंग सरसोंका बसन्ती रंग है, जो मस्तिष्कको प्रफुल्लित और उत्तेजित करता है। ज्ञानकी ओर प्रवृत्ति उत्पन्न करता है, नये-नये स्वस्थ विचार मनमें पैदा करता है। वसन्त ऋतु मनको मस्त करनेवाली ज्ञानवर्द्धक ऋतु है।

भारतमें विद्यार्थी कंधेपर पीला दुपट्टा रखते रहे हैं। पीली धोती, पीली अंटी या कुर्ता धारण करते हैं। उनका पीतवर्ण विद्या और सद्ज्ञानके प्रति प्रेम, नया ज्ञान प्राप्त करनेकी उत्कट इच्छा और मानसिक उन्नतिकी आकाङ्क्षाका उपयोगी रंग है। विद्यार्थीका पीला दुपट्टा यह स्पष्ट करता है कि विद्यार्थीमें ज्ञान, बुद्धि, विवेक इत्यादि उत्तरोत्तर बढ़ते ही रहें; उसकी मानसिक, बौद्धिक और नैतिक उन्नति लगातार चलती रहे; वेदमन्त्रों, ज्ञानशक्तिके स्वरूप, रहस्य एवं प्रयोग होते रहें। पीला रंग विद्यार्थीके बुद्धि-बलको बढ़ानेका प्रतीक है। इसका विस्तृत अर्थ लें तो इसमें विद्याबल, चातुर्यबल, स्वास्थ्यबल, आत्मबल, धनबल—सभी कुछ आ जाता है।

भगवान् विष्णुका वस्त्र पीताम्बर होता है। विष्णु ब्रह्माकी नाभिसे जन्मे माने गये हैं। इसका प्रतीकात्मक मतलब यह है कि वे ज्ञान, विद्या, बुद्धि, तर्क और विवेकशीलताके जन्मदाता हैं। उनका पीतवस्त्र उनके असीम ज्ञानका द्योतक है। भगवान् श्रीकृष्ण भी पीताम्बर ही पहनते हैं। उनका पीले रंगसे सम्बन्ध रक्खा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण जहाँ व्यावहारिक बुद्धिमें सबसे आगे थे, वहाँ उनमें नीति, विद्या, शास्त्रोंका उच्चतम ज्ञान, नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक शक्ति, आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शन सभी कुछ मौजूद था। वे अपनी विद्या-बुद्धिसे निराश व्यक्तिमें भी गति और शक्ति, सद्भाव और सद्वृत्तियाँ उत्पन्न कर सकते थे, कायरता भगा सकते थे। उपनिषद्, वेद, दर्शन, गीताका सारा प्रेरक ज्ञान पीले कपड़ेसे स्पष्ट किया गया है।

गणपति गणेशजीकी धोती पीली रक्खी गयी है और दुपट्टा नीला रक्खा गया है। उनकी वेश-भूषामें केवल पीले तथा नीले रंगोंसे ही अभिषेक किया गया है। गणपति गणेशका पूजन, अर्चन किसी भी शुभ कार्यके लिये आवश्यक माना गया है। हिंदू मनीषियोंने गणेशजीको विघ्नेश्वर देवके नामसे भी पुकारा है। भगवान् शिवके पुत्र होनेके कारण वैष्णव तथा शैव दोनों ही गणेश-पूजनको बड़े प्रेम और चावसे करते हैं। सभी मङ्गलकार्योंमें पीली धोतीवाले गणेश विघ्नहर्त्ता हैं। किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्यकी सिद्धिके लिये गणेश-पूजन आवश्यक आरम्भ है।

गणेशजीकी पीली धोती इसीलिये बनायी गयी है; क्योंकि वे विद्याके दाता माने गये हैं। शीघ्र लेखन (शार्टहैण्ड) की कलाका आरम्भ विद्वद्वर गणेशके द्वारा ही हुआ था।

नीले रंगमें बल-पौरुषका संदेश निहित है

विश्वमें नीला रंग सृष्टिकर्त्ताने सर्वाधिक रक्खा है।

आखिर क्यों ?

हमारे सिरके ऊपर विस्तृत अनन्त नील वर्णका आकाश है, नीचे सृष्टिमें समुद्र तथा सरिताओंमें नीले रंगका आधिक्य है। ऊपर और नीचे सर्वत्र हम नीले रंगमें रहते हैं।

मनोविज्ञानके अनुसार नीला रंग बल, पौरुष और वीर भावका प्रतीक है। जिस महापुरुषमें जितना ही अधिक बल-पौरुष है, युद्धमें दृढ़ता, साहस, शौर्य है, कठिन-से-कठिन परिस्थितियोंमें निरन्तर सत्य, नीति, धर्मके लिये संग्राम करनेकी योग्यता है, वचनोंमें स्थायित्व है, संकल्पशक्ति और धीरता है, उसे उतने ही नीले रंगसे चित्रित किया जाता है।

मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी तथा लीला-पुरुषोत्तम योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी दोनोंका सम्पूर्ण जीवन दानवताके विरुद्ध युद्ध करनेमें व्यतीत हुआ था। रामको रावण तथा श्रीकृष्णको कंस आदि राक्षसोंसे निरन्तर युद्ध करना पड़ा था। राम और कृष्ण महाबली योद्धा और शूरवीर थे। सारे जीवन प्राणोंकी ममता छोड़ असत्य, दानवत्व और राक्षसत्वके विरुद्ध युद्ध करते रहे थे। अतः चित्रकारोंने इन दोनों देवताओंको नीले रंगसे रँगा है। कारण यह है कि ये देवता मनुष्यकी सर्वोच्च युद्ध-विषयक शक्तियोंसे परिपूर्ण हैं। इनमें पौरुष, धैर्य, वीरता, कष्ट-सहिष्णुता, सत्य और धर्मकी रक्षाके लिये कभी युद्धसे विमुख न होना, कठिनाइयोंसे विचलित न होना आदि-आदि अनेक शूरवीरोंके गुण भरे हुए हैं।

नीला रंग आकाश और पृथ्वीपर सर्वव्यापक है। उसी

प्रकार नीले रंगवाले वीरपुंगव राम और महायोद्धा श्रीकृष्ण भी सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् हैं। नीला रंग क्षत्रिय-स्वभाव प्रकट करता है। नीला रंग यह बताता है कि क्षत्रियको युद्धसे चलायमान नहीं होना चाहिये, सत्य और धर्मके हेतु युद्धसे नहीं हटना चाहिये। क्षत्रियके लिये धर्मयुद्धसे बढ़कर कोई बात नहीं है।

नीला रंग उद्योगी पुरुषोंका रंग है। इस रंगको पहननेवाला अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखता है, भोगोंसे घृणा करता है और धर्मके अनुसार युद्धमें लगता है।

नीला समुद्र गहन गम्भीर माना गया है; इसी प्रकार वीर राम और महाबली श्रीकृष्ण शक्ति और सामर्थ्यमें गहन हैं, गम्भीर हैं।

नीला वर्ण राम तथा कृष्णकी सहनशीलता, स्वभावकी स्थिरता और कष्टोंमें शान्त रहनेके स्वभावका द्योतक है। भगवान् अति गम्भीर हैं। वे कष्टों और परेशानियोंमें उत्तेजित नहीं होते। क्षीरसागरमें भुजंगकी कठोर शय्यापर पूर्ण शान्तिसे निवास करते हैं। यह उनके पौरुषका प्रभाव है।

भगवान् शिवको नीलकण्ठ कहा जाता है। सागर-मन्थन करनेपर उसमेंसे विष निकला था। प्रश्न था कि उस विषको कौन कहाँ रक्खे? यदि विष पेटके भीतर जाता है, तो मनुष्यको मार डालता है, बाहर रहता है तो संसारका अहित करता है। भगवान् शिव ही ऐसे पौरुषवान् थे, जो उस विषको रख सकते थे। उसे उन्होंने अपने कण्ठमें रख लिया। उसके प्रभावसे वे नील वर्ण हो गये। यह नीलवर्ण उनके बल-पौरुषको स्पष्ट करता है। शिवरात्रिके दिन शिवजीने अपने असीम पौरुषसे आसुरी शक्तियोंको नष्ट किया था।

शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य और देवी—ये पाँच देवता हिंदू-उपासनामें प्रसिद्ध हैं। इनमें शिवको महादेव—अर्थात् सबसे अधिक पौरुषवान् देवता कहा गया है। ये आशुतोष कहे जाते हैं। ये इतने बल और पौरुषवाले हैं कि सर्प भी इनके भूषण बने हुए हैं। ब्रह्माण्ड इनका लिङ्ग है—ज्ञापक है। उसका ब्रह्मा, विष्णु भी पार नहीं पा सके हैं। इतने बल-पौरुष और पराक्रमको प्रकट करनेवाला यह नीला रंग है।

सफेद रंग पवित्रता, शुद्धता, विद्या और शान्तिका प्रतीक

श्वेत रंग सातों रंगोंके सम्मिश्रणसे बना है। सूर्यकी सफेद रश्मिको तोड़नेपर उससे सभी रंग प्रकट हो जाते हैं। अतः इसमें सभी रंगोंकी थोड़ी बहुत छाया है।

श्वेत रंग पवित्रता, शुद्धता, विद्या और शान्तिका प्रतीक है। इससे मानसिक, बौद्धिक और नैतिक स्वच्छता प्रकट होती है। नीर-क्षीरका विवेक इसी रंगसे प्रकट होता है।

ज्ञान और विद्याका रंग सफेद है; क्योंकि जो विद्याके सच्चे पुजारी हैं, उनमें किसी प्रकारका कल्मष नहीं ठहर सकता। ज्ञानके सामने कालिमा कहाँ ठहर सकती है! विद्या हमें सब प्रकारकी पवित्रताकी ओर बढ़ाती है, समाजके दुर्गुणोंसे बचाती है, सन्मति और विवेक देती है, सांसारिक संकुचिततासे ऊपर उठाती है। इसलिये विद्याका रंग श्वेत है।

विद्याकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वतीको श्वेत रंग सबसे प्रिय है। उनका वर्णन निम्न स्तोत्रमें देखिये—

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना।
या ब्रह्माच्युतशंकरप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा॥

अर्थात् वे भगवती सरस्वती मेरा पालन करें—

जो कुन्दके फूल, चन्द्रमा, बर्फ और हारके समान श्वेत हैं, जो शुभ्र (सफेद) कपड़े पहनती हैं, जिनके हाथ उत्तम वीणासे सुशोभित हैं; जो श्वेत कमलासनपर बैठती हैं; ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देव जिनकी सदा स्तुति करते हैं और जो सब प्रकारकी जड़ता हर लेती हैं।

आशासु राशीभवदङ्गवल्ली-
भासैव दासीकृतदुग्धसिन्धुम्।
मन्दस्मितैर्निन्दितशारदेन्दुं
वन्देऽरविन्दासनसुन्दरि त्वाम्॥

अर्थात् हे कमलके आसनपर बैठनेवाली सुन्दरी सरस्वति! तुम सब दिशाओंमें पुञ्जीभूत हुई अपनी देहलताकी आभासे ही क्षीर-समुद्रको दास बनानेवाली हो, अपनी मन्द मुसकानसे शरदृतुके (सफेद) चन्द्रमाको तिरस्कृत करनेवाली हो। मैं तुमको प्रणाम करता हूँ।

शुक्लां ब्रह्मविचारसारपरमामाद्यां जगद्व्यापिनीं
वीणापुस्तकधारिणीमभयदां जाड्यान्धकारापहाम्।
हस्ते स्फाटिकमालिकां च दधतीं पद्मासने संस्थितां
वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम्॥

जिन सरस्वतीका रूप श्वेत है, जो ब्रह्मविचारकी परम तत्त्व हैं, जो सब संसारमें फैल रही हैं, जो हाथोंमें (संगीतकलाकी प्रतीक) वीणा और (ज्ञानकी प्रतीक) पुस्तक लिये रहती हैं, जो अभय देती हैं, जो मूर्खतारूपी अन्धकारको दूर करती हैं, जो हाथोंमें स्फटिकमणिकी माला लिये रहती हैं, जो कमलके आसनपर विराजमान हैं और बुद्धि देनेवाली हैं, उन आद्या परमेश्वरी भगवती सरस्वतीकी मैं वन्दना करता हूँ। देवी सरस्वती श्वेत कमलोंसे भरे हुए निर्मल आसनपर विराजनेवाली हैं। वे खिले हुए सुन्दर श्वेत कमलके समान मंजुल मुखवाली हैं। विद्याकी देवी हैं। सफेद रंगके प्रति उनका प्रेम पवित्रता, शुद्धता, विद्या और शान्तिका प्रतीक है। सबसे अधिक विकसित व्यक्तियोंको श्वेत वस्त्र ही धारण करने चाहिये।

काला रंग मृत्यु और भयंकरताका रंग है। मङ्गलकारी कार्योंमें इसका निषेध है।

जीवनमें स्वरोदयकी महत्ता

(लेखक—श्रीगुरुरामप्यारेजी अग्निहोत्री)

स्वरोदय-ज्ञानके साथ ही तत्त्वोदयका भी प्रकरण नियोजित है। स्वरोदयकी पूर्ति स्वर और तत्त्व—दोनों अङ्गोंसे होती है। पिछले लेखोंमें स्वरसम्बन्धी प्रकरणपर संक्षिप्त रूपसे प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँपर केवल तत्त्वोदय-प्रकरणपर ही विचार करना है। तत्त्वका अर्थ होता है सार। तत्त्वोंसे ही जीवनकी सृष्टि होती है और सृष्टिका प्रधान कारण तत्त्व ही है। स्वर और तत्त्वोंके संयोगसे ही शरीरमें जीवन-शक्तिका विकास होता है। इनमेंसे किसीका भी अभाव जीवनसमाप्तिका कारण होता है। स्वर तत्त्वमय होते हैं। योगाभ्यासी स्वर और तत्त्वोंका ज्ञाता होता है। तत्त्वोंसे परे केवल निराकार ब्रह्म ही है। तत्त्वयुक्त होनेसे संसारके सभी पदार्थ दृश्यमान होते हैं; किंतु तत्त्वोंका अस्तित्व समाप्त होते ही दृश्यमान जगत् अदृश्य हो जाता है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, तेज और आकाश—यही पाँच तत्त्व होते हैं। प्राणी पञ्चतात्त्विक होता है। अन्य पदार्थोंमें पाँचों तत्त्वोंका मिश्रण नहीं पाया जाता। किसीमें एक, किसीमें दो, किसीमें तीन और किसीमें चार तत्त्वतक विधमान पाये जाते हैं।

तत्त्वोंका आश्रय लेकर ही स्वर-प्रवाह होता है। जिस प्रकार स्वर-प्रवाह परीक्षासे जाना जाता है, उसी प्रकार स्वर-परीक्षासे तत्त्वोंका भी ज्ञान होता है। भिन्न-भिन्न तत्त्वोंके संयोगसे स्वर-प्रवाहकी भिन्न-भिन्न गतियाँ हो जाती हैं। चन्द्र-स्वर, सूर्य-स्वर अथवा शिव-स्वरमें तत्त्वोंका समान प्रवाह होता है। स्वर-प्रवाहमें तत्त्वोंका प्रमुख स्थान है और केवल स्वरकी जानकारी गौण है। स्वर तत्त्वहीन कभी नहीं होते। बिना तत्त्वोंके जाने कभी-कभी अनुकूल तत्त्व न होनेसे शुभ स्वर भी प्रतिकूल हो जाता है और वास्तविक फलकी प्राप्ति नहीं होती। उस समय स्वराश्रयीको स्वर-प्रवाहपर अविश्वास हो जाता है। स्वरका फलाफल तत्त्वोंपर ही निर्भर है; अगर तत्त्व अनुकूल हुए तो स्वर-प्रवाह भी अनुकूल फल देता है और अगर स्वरमें तत्त्वका प्रवाह उपयुक्त न हुआ तो स्वर व्यापक फलदायी नहीं होता।

साधारण रूपसे स्वरमें तत्त्वोंका स्थान इस प्रकार जाना जाता है। मुँहसे श्वास निकालकर स्वच्छ दर्पणमें फूँक मारनेपर यदि दर्पणमें चौकोण आकृति बने तो उस समय स्वरमें पृथ्वीतत्त्वका प्रवाह मानना चाहिये। यदि दर्पणमें अर्धचन्द्राकार आकृति बने तो जल-तत्त्व, त्रिकोण आकृति बने तो तेजस्तत्त्व और वर्तुलाकार आकृति बननेपर वायुतत्त्वका प्रवाह स्वरमें होता है। बिन्दीदार आकृति बननेपर स्वरमें आकाशतत्त्वका प्रवाह मानना चाहिये। स्वर-प्रगतिसे तत्त्वका बोध अभ्यास करनेपर होता है। स्वरमें तत्त्वोंका ज्ञान, स्वर-प्रवाहकी प्रगति और स्वभाव दोनोंसे हो सकता है। इसके समझनेके लिये स्वरमें तत्त्व-प्रवाहकी तालिका इस प्रकार है—

तालिका

क्रमांक	तत्त्व	स्वर-प्रवाह-प्रगति	स्वभाव
१	पृथ्वी	सीधा स्वर-प्रवाह	शान्ति तथा भारीपनका अनुभव
२	जल	नीचेकी ओर स्वर-प्रवाह	प्यासका अनुभव होना
३	अग्नि	ऊपरकी ओर स्वर-प्रवाह	तीखी वस्तुपर चित्त जाना
४	वायु	तिरछा (दाँये या बाँये) स्वर-प्रवाह	अँगड़ाई आना
५	आकाश	दोनों (चन्द्र-सूर्य) स्वरोंका समान प्रवाह	उकताहट, उद्विग्नता

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुतत्त्व चन्द्र अथवा सूर्य स्वर दोमेंसे किसी एकमें ही प्रवाहित होते हैं। आकाशतत्त्वका प्रवाह शिवस्वरमें होता है। चाहे उस मिश्रित स्वरकी प्रगति सीधी, तिरछी, ऊँची, नीची किसी ओर हो। तत्त्वोंके रंग, स्थान, स्वाद और गतिकी तालिका इस प्रकार है—

क्रमांक	तत्त्व	शरीरमें स्थान	स्वाद	स्वर-प्रवाहकी गति	रंग
१	पृथ्वी	दोनों जंघाएँ	मीठा	बारह अंगुल सीधा	पीला
२	जल	दोनों पाँव	कसैला	दस अंगुल	सफेद
३	अग्नि	दोनों कंधे	तीक्ष्ण	चार अंगुल	लाल
४	वायु	नाभि-मूल	खट्टा	आठ अंगुल	नीला
५	आकाश	मस्तक	कडुआ	मिश्रित	मिश्रित

पृथ्वीतत्त्वके चलनेसे लाभ देरमें होता है; किंतु जलतत्त्व तुरंत लाभदायक होता है। अग्नि और वायुतत्त्व चलनेसे हानि होती है। आकाशतत्त्व निष्फल और अनिष्टकारी होता है। इनके फलाफलकी तालिका इस प्रकार है—

क्रमांक	तत्त्व	स्वर-प्रवाह	फल	कार्य-सम्पादन
१	पृथ्वी	सीधा	सिद्धिदाता	स्थिर तथा धैर्यके काम
२	जल	नीचेकी ओर	सिद्धिदाता	शीघ्रतावाले कार्य
३	अग्नि	ऊपरकी ओर	मृत्युदायक	क्रूरकर्म-लड़ाई आदि
४	वायु	तिरछा	क्षयकारक	मारण-मोहन-उच्चाटन
५	आकाश	शिव-स्वर	फलहीन	सभी काम वर्जित

पृथ्वीतत्त्व धीरे-धीरे स्वरोंके साथ बहनेवाला, भारी शब्द करनेवाला, कुछ गरम होता है। यह तत्त्व स्थिर कर्मों-जैसे लाभ—जमीन-जायदादका लेन-देन, भवन-निर्माण, कूपारम्भ, बगीचा लगाना आदि-आदिमें सिद्धिदायक होता है। जलतत्त्व स्वरोंके साथ तीव्र गतिसे नीचेकी ओर गतिमान होनेवाला तत्त्व है। इससे शीघ्र लाभवाले कार्य निस्संदेह सफल होते हैं। व्यापार-क्रय-विक्रय आदिमें यह तत्त्व विशेष सिद्धिदाता होता है। अग्नितत्त्व चक्रकी भाँति चलनेवाला अधिक गरम होता है। इस तत्त्वसे मिश्रित स्वर ऊपरकी ओर गतिमान होता है। इस तत्त्वके प्रवाहकालमें जुआ, चोरी, हत्या, झगड़ा आदि दुष्ट कार्य सिद्धिदा[illegible] माने गये हैं। वायुतत्त्वसे मिला हुआ स्वर शीतोष्ण हो[illegible] है। शीघ्रगामी तथा तिरछी चालवाला होता है। यह त[illegible] स्थायी कार्योंमें निषिद्ध माना गया है। शीघ्रताके कार्यों[illegible] इस तत्त्वका मिश्रित स्वर-प्रवाह सिद्धिदाता होता है। आकाशतत्त्व सभी तत्त्वोंसे मिश्रित होता है। यह स[illegible] कार्योंमें निष्फल होता है। पर योग-साधना या भगवद्भजन[illegible] लिये सर्वश्रेष्ठ माना गया है। आकाशतत्त्व शिवस्वर[illegible] अलावा चन्द्र और सूर्यस्वरमें भी मिश्रित होता है।

पृथ्वी और जलतत्त्वोंसे मिश्रित स्वर-प्रवाह उच[illegible]

माने गये हैं । पृथ्वीतत्त्वका स्वर-प्रवाह कार्य-सिद्धिदायक होनेके साथ-साथ सब भोगोंके लिये उत्तम है । लाभ-सिद्धिके लिये जलतत्त्वयुक्त स्वर-प्रवाह सर्वश्रेष्ठ है । पूर्व और पश्चिम पृथ्वीतत्त्वके स्थान माने गये हैं । पृथ्वीतत्त्वके स्वर-प्रवाहमें पूर्व और पश्चिमकी यात्रा फलवती होती है । अग्नितत्त्व दक्षिणमें और वायुतत्त्वका स्थान उत्तरमें होता है; अतः इन तत्त्वोंके स्वर-प्रवाहकालमें इन दिशाओंकी यात्रा फलवती नहीं होती । आकाशतत्त्वका स्थान ऊपर और जलका स्थान निम्नस्थ धरातलमें माना गया है । अतः आकाशतत्त्वके स्वर-प्रवाहकालमें वायुयान-यात्रा निषिद्ध है । इसी प्रकार जलतत्त्वके स्वर-प्रवाहकालमें जल-यात्रा असिद्धिकारिणी होती है ।

चन्द्रस्वरमें पृथ्वी तथा जलतत्त्वोंका प्रवाह सभी शान्ति तथा लाभसम्बन्धी कार्योंमें सर्वश्रेष्ठ है । इसी प्रकार सूर्य-स्वरमें अग्नितत्त्वका मिश्रण क्रूर कर्मोंमें वाञ्छित फलदाता माना गया है । दिनमें पृथ्वीतत्त्व मिश्रित स्वर प्रवाह और रात्रिमें जलतत्त्व मिश्रित स्वर-प्रवाह लाभ-प्राप्तिका द्योतक है । दिनमें यदि अग्नितत्त्वयुक्त स्वर-प्रवाह होता रहे तो मृत्यु, वायुतत्त्वमिश्रित स्वर-प्रवाह होनेसे हानि तथा क्षय और आकाशतत्त्वमिश्रित स्वर-प्रवाह होते रहनेसे चित्तमें अशान्ति एवं अग्निदाह सर्वथा सम्भव है ।

दक्षिण भारतकी तीर्थयात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसादजी श्रीवास्तव)

[गताङ्कसे आगे]

जिस समय श्रीयामुनाचार्य हुए, इस क्षेत्रपर पाण्ड्य वंशका राज्य था । पाण्ड्य राजाकी राजसभामें विद्याजनक कोलाहल नामक एक दिग्गज विद्वान् थे, जिन्होंने शास्त्रार्थमें दक्षिणके ही नहीं, वरं उत्तर भारतके भी अनेक प्रकाण्ड पण्डितोंको परास्त कर दिया था । यामुनाचार्य भाष्याचार्य नामक गुरुके यहाँ विद्याध्ययन करते थे । केवल बारह वर्षकी अवस्थामें यामुनाचार्य विद्याजनक कोलाहलसे शास्त्रार्थ करने पहुँचे । पाण्ड्यनरेश और उनकी रानीमें इस शास्त्रार्थपर एक विवाद छिड़ गया । राजाने कहा 'विद्याजनक कोलाहलकी विजय होगी' और रानीने कहा 'यामुनाचार्यकी ।' राजाने यहाँ-तक कह डाला कि यदि यामुनाचार्य विजयी हुए तो वे उसे अपना आधा राज्य दे देंगे । विद्याजनक कोलाहल और यामुनाचार्यका बड़ा मनोरंजक शास्त्रार्थ हुआ ।

एक बार शाही दरबारमें राजा एवं रानीमें यामुनाचार्यके सम्बन्धमें बहस छिड़ गयी । राजाने कहा कि जैसे बिल्ली चूहेको खा लेती है, उसी प्रकार कोलाहल इस लड़केको हरा देगा । रानीने कहा, 'जैसे आगकी एक चिनगारी रूईके पहाड़को राख कर देती है, उसी प्रकार यह छोटा-सा लड़का कोलाहलका सारा गर्व चूर कर देगा ।' राजाने क्रुद्ध होकर कहा' 'इस अनजान लड़केमें अपनी आस्था सिद्ध करनेके लिये तुम क्या शर्त लगाओगी ।' रानीने उत्तर दिया 'मैं आपके दासकी दासी हो जाऊँगी ।' राजाने आश्चर्यपूर्वक कहा—'तुम मूर्ख औरत हो । तुमने बहुत भयानक प्रतिज्ञा की है । मैं भी वचन देता हूँ कि यदि इस लड़केने कोलाहलको हरा दिया तो मैं अपना आधा राजपाट उसे सौंप दूँगा ।'

जब राजा और रानीमें यह बहस चल ही रही थी, तो अचानक यामुनाचार्य अपनी पालकीसे उतरे और नम्रतापूर्वक राजा, रानी और दरबारियोंको प्रणाम किया । तब विद्याजनक कोलाहलके सामने उन्होंने अपना स्थान ग्रहण किया । उनकी बहुत कम आयु देखकर कोलाहलने हँसी उड़ाते हुए रानीसे पूछा—'अला बण्डारा ?' (क्या यही वह लड़का है, जो मुझे जीतने आया है ?) रानीने उत्तर दिया—'अला बण्डार' (हाँ, यही आपको जीतने आया है) ।

प्रारम्भमें कोलाहलने उससे व्याकरण और अमरकोष जैसी पुस्तकोंके सम्बन्धमें कुछ साधारण प्रश्न पूछे । जब यामुनाचार्य इनके उत्तर बहुत आसानीसे देता गया, तो उसने कुछ कठिन प्रश्न पूछे । यामुनाचार्यने इनके उत्तर भी बड़ी सरलतासे दे दिये और कोलाहलसे कहा—'तुमने मुझे बालक देखकर अनजान समझा । महान् ऋषि अष्टावक्रने जनकके दरबारमें बन्दीको हराया था । क्या तब वह लड़का था या तुम्हारे-सदृश वृद्ध व्यां . . । क्या तुम एक व्यक्तिके ज्ञानका

पता उसके शरीरसे लगा सकते हो ? यदि ऐसा है तो एक विशालकाय साँड़ तुमसे अधिक विद्वान् होगा ।'

कोलाहल इस तीखी भाषाको सुनकर मन-ही-मन कुढ़ गया । उसने अपनी भावनाओंको संयत रखकर हँसते हुए कहा—'तुमने ठीक उत्तर दिये हैं । अब तुम प्रश्न पूछो और मैं उत्तर दूँगा ।' लड़केने कहा—'अब मैं तीन प्रस्ताव रक्खूँगा । यदि तुम उनमेंसे एकको भी गलत सिद्ध कर सके तो मैं तुम्हारे हाथों हार मान लूँगा ।' कोलाहलने चिल्लाकर कहा—'तुरंत पूछो, विलम्ब करनेसे कोई लाभ नहीं ।' लड़केने पूछा—'मेरा पहला प्रस्ताव यह है कि तुम्हारी माँ बाँझ नहीं थी । तुम इसे गलत सिद्ध करके दिखाओ ।'

कोलाहलने मन-ही-मन सोचा' 'यदि मेरी माँ बाँझ होती तो मेरा जन्म असम्भव हो जाता ।' इस प्रकार सोचते हुए कोलाहल किंकर्तव्यविमूढ़ होकर गूँगे व्यक्तिकी भाँति मौन रहा । सब दरबारी इसपर चकित हो गये ।

कोलाहलने अपनी आन्तरिक मनःस्थिति छिपानेका पूरा प्रयत्न किया; किंतु उसके गाल सूख गये और चेहरा मुरझा गया । कुछ क्षण बाद यामुनाचार्यने अपना दूसरा प्रश्न इन शब्दोंके साथ पूछा—'श्रीमन् ! आप अपनी सबको जीतनेवाली विद्वत्ताके साथ मेरी पहली प्रस्तावना भी नहीं झुठला सके ? मेरा दूसरा प्रस्ताव यह है कि 'पाण्ड्य-नरेश अत्यन्त न्यायी हैं' आप इसे गलत सिद्ध कीजिये ।'

इसपर कोलाहलको अँधेरा दिखायी देने लगा । उसका सारा विवेक समाप्त हो गया । जब नरेश उसके सामने बैठा है तो वह उसे अन्यायी कैसे कहे । वह इतना कृतघ्न कैसे हो सकता था कि राजाको अन्यायी बताये । वह समझ गया कि इस बालकसे उसे अवश्य नीचा देखना पड़ेगा । उसकी आकृति पीली पड़ गयी । वह अपना क्रोध नहीं छिपा सका । इसी समय यामुनाचार्यने तीसरा प्रश्न किया—'ओ विद्वानोंको आतंकित करनेवाले ! मेरी तीसरी प्रस्तावना यह है कि 'हमारे सामने बैठी महारानी सावित्रीके समान सती हैं । कृपया इसे गलत सिद्ध कीजिये ।'

क्रोध एवं लज्जासे भरकर कोलाहल अब फूट पड़ा । उसने कहा—'लड़के ! तुम्हारा सारा इरादा मेरा मुँह बंद करनेका है । कोई वफादार व्यक्ति कैसे अपने राजाको अन्यायी और रानीको सतीत्वरहित कह सकता है । मेरा मुँह अवश्य बंद हो गया है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि मैं हार गया हूँ । अब तुम स्वयं अपनी इन कुटिल प्रस्तावनाओंको गलत सिद्ध करके दिखाओ । यदि तुम ऐसा न कर सके तो तुम्हें राजाके आदेशसे अपने प्राण खोने होंगे; क्योंकि तुमने राजा एवं रानीपर कीचड़ उछाला है ।' जब कोलाहल लाल आँखोंसे चिल्ला रहा था तो उसके पक्षपातियोंने 'शाबाश ! शाबाश !' के नारे लगाये; किंतु यामुनाचार्यके समर्थकोंने कहा—'कोलाहल पहले ही काफी पिट चुका है । उसने पहले यामुनाचार्यके सब प्रस्ताव गलत सिद्ध करनेका वचन दिया था किंतु अब वह क्रुद्ध हो रहा है ।' यामुनाचार्यने तब मुस्कराते हुए कहा—'मेरी आप सबसे प्रार्थना है कि आप शान्त हो जाइये । मैं तीनों प्रस्ताव एक-एक करके गलत सिद्ध करूँगा । कृपया मुझसे सुनिये ।'

जहाँतक पहले प्रस्तावका सम्बन्ध है । हमारे शास्त्रोंमें कहा है कि जिस औरतका एक ही पुत्र हो, वह बाँझ समझी जानी चाहिये । आपकी माताने केवल एक ही पुत्रको जन्म दिया है, चाहे वह आपके समान कितना ही गुणी क्यों न हो ? अतः शास्त्रोंके अनुसार आपकी माँ एक पुत्रकी माता होते हुए भी बाँझ है ।

दूसरी बात यह है कि कलियुगमें धर्मका एक पैर और अधर्मके तीन पैर होते हैं । हमारी पवित्र पुस्तकोंमें लिखा है कि जो राजा अपनी प्रजाकी हर तरहसे रक्षा करता है, उसे उसके (प्रजाके) धर्मका छठा हिस्सा और पापोंका छठा हिस्सा भी अपने ऊपर लेना पड़ता है । कलियुगमें अधार्मिकताकी प्रधानता रहती है । अतः राजा कितना भी योग्य क्यों न हो, कलियुगके कारण उसकी प्रजा अधार्मिक अवश्य होगी और उसे प्रजाके पापोंका छठा हिस्सा अपने ऊपर लेना पड़ेगा । इस प्रकार हमारी पवित्र पुस्तकोंके आधारपर राजा काफी सीमातक अन्यायके लिये उत्तरदायी है ।

अब मेरी तीसरी प्रस्तावना रह जाती है ।

मनुने कहा है कि राजामें अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, यम, कुबेर, वरुण और इन्द्र सम्मिलित हैं । अतः रानीका विवाह न केवल एक व्यक्ति 'राजा' से हुआ है, वरं वह इन आठोंकी पत्नी भी बन जाती है । तब वह पूर्ण रूपसे सती कैसे कही जा सकती है ?

दरबारीगण तथा उपस्थित लोग यह शास्त्रार्थ सुनकर स्तम्भित रह गये । रानीने अत्यन्त प्रसन्न होकर बालकको

अपनी गोदमें ले लिया। राजाने उसे आदरपूर्वक सम्बोधित करते हुए कहा—'आज तुमने अपनी विद्वत्ता और विवेकसे कोलाहलके गर्वको जीत लिया है। चढ़ते हुए सूर्यके सामने तारोंकी चमक लुप्त हो जाती है। मैं इस दम्भी व्यक्तिको तुम्हें समर्पित करता हूँ, जिसने कई विद्वानोंको पीड़ित किया है और जो कुछ समय पूर्व तुम्हें भी भारी दण्ड दिलाना चाहता था। तुम उससे जैसा व्यवहार करना चाहो, करो। इसके साथ तुम अपनी विजयके पुरस्कारस्वरूप आधा राज्य लेकर मुझे भी मेरी प्रतिज्ञासे मुक्त करो।' यह कहकर राजाने रानीकी गोदसे इस बालकको ले लिया और इसे अपने साथ अपने सिंहासनपर बैठा दिया। लोगोंने इस विजयपर भारी करतल-ध्वनि की।

यामुनाचार्यने विजयी होकर कोलाहलको क्षमा कर दिया। आधा राज्य पानेपर उसने बालक होते हुए भी पूर्ण योग्यतासे उसपर शासन किया। उसे केवल एक बालक समझकर पड़ोसी राजाओंने उसपर आक्रमण करनेकी योजना बनायी। गुप्तचरोंसे यह सूचना पाकर उसने पहले ही उनपर धावा बोल दिया। हार मानकर उन राजाओंने उसका सहायक तथा मित्र कहलानेमें ही सौभाग्य समझा।

यामुनाचार्य पहले तो उस राजकाजमें लिप्त हो गये, परंतु उनके नाना नाथमुनिके एक शिष्यने राजकाज-लिप्सासे निवृत्त करा उन्हें श्रीरंगनाथजीके मन्दिरका मुख्य अधिष्ठाता बनाया। श्रीयामुनाचार्य पूरे सौ वर्षकी अवस्थातक जीवित रहे। जिस विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तको आगे चलकर श्रीरामानुजाचार्यने अपने श्रीवैष्णव-सम्प्रदायका सिद्धान्त बनाया, उसपर पहले चार ग्रन्थ श्रीरामानुजाचार्यने लिखे हैं। इनके नाम हैं—स्तोत्ररत्न, सिद्धित्रय, आगम-प्रामाण्य और गीतारसासनग्रह। वृद्धावस्थामें श्रीयामुनाचार्यने रामानुजाचार्यको देखा और वे उनके प्रति अत्यधिक आकृष्ट हुए। यामुनाचार्यने अपने अन्तिम समयमें अपने शिष्य महापूर्णको कांचीपुरम्, रामानुजाचार्यको लेने तथा श्रीरंगनाथका मन्दिर उन्हें सौंपनेके लिये बुलवाया। परंतु यामुनाचार्यकी मृत्युके पूर्व रामानुजाचार्य श्रीरंगम् न पहुँच सके। जब रामानुज श्रीरंग पहुँचे, उस समय यामुनाचार्यका शव अन्तिम संस्कारके लिये ले जाया जा रहा था। रामानुजाचार्यने उस शवको देखा। शवके दाहिने हाथकी तीन अँगुलियाँ टेढ़ी थीं। रामानुजके यह पूछनेपर कि क्या यामुनाचार्यकी ये अँगुलियाँ ऐसी ही थीं और नकारात्मक उत्तर पानेपर रामानुजाचार्यने एकके बाद एक तीन प्रतिज्ञाएँ कीं। उनकी हर प्रतिज्ञापर शवकी एक-एक अँगुली सीधी होती गयी।

श्रीरामानुजाचार्यका शेष जीवन इन्हीं प्रतिज्ञाओंके अनुसार चला। वे आगे चलकर श्रीरंगम् आये और अपने जीवनका वर्षोंका उत्तर भाग उन्होंने यहीं व्यतीत किया। श्रीरामानुजाचार्यके श्रीभाष्य, गीताभाष्य आदि प्रधान ग्रन्थोंकी श्रीरंगम्में ही रचना हुई। उत्तर भारतमें जो स्थान जगद्गुरु शंकराचार्यका है, दक्षिण भारतमें वही स्थान श्रीरामानुजाचार्यका है। यद्यपि दोनों ही दक्षिणके ही हैं। शंकर निर्गुण उपासनाप्रधान थे, यद्यपि उन्होंने भी अनेक मन्दिरोंकी स्थापना की है। उस निर्गुण उपासनामें रामानुज सगुण उपासनाकी सरसता लाये। उनकी उदारता इसीसे प्रकट हो जाती है कि उन्होंने अपना गुरु एक शूद्र कांचीपूर्णको बनाया। श्रीरंगम् क्षेत्र कांचीपुरम्के बाद उनके कार्यका प्रधान क्षेत्र रहा और भगवान् श्रीरंगनाथ भगवान् श्रीवरदराजके पश्चात् उनके प्रधान इष्ट।

गीत

श्रीरङ्गजीकी स्तुति

पुण्य सलिल धारा कावेरी
घेरे दोनों भुजा प्रसार।
रङ्गनाथका नगर मनोरम,
मन्दिरका अनुपम विस्तार।
सप्त लोक सेवा समुपस्थित,
दृढ प्राचीर बने सुविशाल।
चतुर्विंश गोपुर शोभित हैं,
नभको छूता जिनका भाल।
शेष तल्प पर, योग-शयन-रत,
श्रीरङ्गम्का दर्शन ध्यान।
नाभि कमलकी ब्राह्मी स्थिति तक,
खींच रहा मानवका मान।
चरणोंमें श्री बिखरी पड़ती,
सहस फनोंके विषकी हार।
पूर्ण पुरुषताकी परिभाषा,
तभी बनी, त्रिभुवन आधार।

श्रीरंगम्में चौबीस घंटेके अपने प्रवासमें कावेरी-स्नान, श्रीमहालक्ष्मीजी, श्रीरामचन्द्रजी और श्रीवैकुण्ठनारायण आदिके दर्शन कर श्रीरंगनाथजीके दर्शन-परसनका पुण्यलाभ ले हमलोग सोलह सितम्बरके प्रातःकाल लगभग साढ़े नौ बजेकी ट्रेनसे त्रिचनापल्लीके लिये रवाना हुए। ट्रेन कुछ लेट थी, अतः श्रीरंगम्से कुछ देरसे निकली। श्रीरंगम्से त्रिचनापल्लीके रेल-मार्गकी दूरी केवल सात मील है। मीटर गेजकी रेल थी, बीचमें जहाँ-तहाँ ठहरती करीब आधा घंटे बाद हमें त्रिचनापल्ली ले गयी। हमारे साथ श्रीरंगम्के पण्डा श्रीकस्तूरी भी त्रिचनापल्ली आये थे। त्रिचनापल्लीसे हम करीब ११ बजे त्रिवेन्द्रम् फास्ट पैसेंजरसे त्रिवेन्द्रम्के लिये रवाना हुए। त्रिचनापल्लीसे त्रिवेन्द्रम् जानेवाली इस गाड़ीमें विशेष भीड़ नहीं थी। अतः गोविन्ददासको छोड़ शेष हमारे ग्यारह साथियोंके लिये त्रिचनापल्लीमें एक छोटा-सा थर्ड क्लास सुरक्षित कर दिया गया था।

(क्रमशः)

अकुतोभय

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

हिरण्यरोमा दैत्यपुत्र है, अतः कहना तो उसे दैत्य ही होगा। उसका पर्वताकार देह दैत्योंमें भी कमको प्राप्त है; किंतु स्वभावसे उसका वर्णन करना हो तो एक ही शब्द पर्याप्त है उसके वर्णनके लिये—'भोला!'

वह दैत्य है, अतः दैत्योंको जो जन्मजात सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उसमें भी हैं। बहुत कम वह उनका उपयोग करता है। केवल तब जब उसे कहीं जानेकी इच्छा हो—गगनचर बन जाता है वह। अपना रूप भी वह परिवर्तित कर सकता है, जैसे यह बात उसे स्मरण ही न हो।

वह दैत्य है; किंतु दैत्योंका कोई अवगुण उसमें है तो यही कि उसे बहुत भोजन चाहिये। क्षुधा वह सहन नहीं कर पाता। भूखा होनेपर यह नहीं देखता कि भोज्य-पदार्थपर उसका स्वत्व भी है या नहीं। कोई डाँटे तो कहेगा—'आप क्यों अप्रसन्न होते हैं? मुझे जठराग्नि जला रही है, अतः उसे आहुति दे रहा हूँ।'

वह दैत्य है; किंतु न सुरापी है और न मांसाहारी। उसे अन्न और फल चाहिये और बहुत चाहिये। भूख लगनेपर भोजनको वह अपना स्वत्व मानता है और यह कोई कैसे कहेगा कि भोजनपर क्षुधातुरका स्वत्व नहीं है। कोई डाँट दे, पीट भी दे तो वह प्रतिवाद करनेके स्थानपर चुपचाप आहारको उदरस्थ करनेमें लगे रहना अधिक अच्छा मानता है। बहुत हुआ तो दृष्टि उठाकर बड़े निरीह भावसे देख लेगा। उसके चित्तपर जैसे किसीके अपशब्दका प्रभाव नहीं पड़ता, उसके पर्वताकार कायापर किसीका आघात भी कुछ जान नहीं पड़ता।

वह दैत्य है—है तो दैत्यपुत्र ही; किंतु किसीको उत्पीड़ित करना तो दूर, दूसरोंकी पीड़ा उससे देखी नहीं जाती। एक बार मर्त्यलोक गया था और वहाँ किसीको व्याधिग्रस्त देखकर क्रन्दन करता सीधे सुतल आया। भगवान् वामनके चरण उसने तब छोड़े, जब उस प्राणीके व्याधिमुक्त होनेका वचन उसे मिल गया।

'वत्स! तुम धरापर मत जाया करो!' वामनने उस दिन उसके लिये एक मर्यादा बनायी। सुतलमें तथा दूसरे दिव्य लोकोंमें तो आधि-व्याधि होती नहीं। वहाँ वह घूम लिया करे तो कोई हानि नहीं थी।

'क्यों तात?' वह भगवान् वामनको पिता ही

मानता है। उसके पिता उसी दिन, उसी क्षण मारे गये, जब वह उत्पन्न हुआ था। उन्होंने दैत्यराज बलिकी अवज्ञा करनेका दुःसाहस कर लिया और सुतलमें तो भगवान् नारायणका महाचक्र दैत्यराजके प्रतिपक्षीको एक क्षण भी जीवित रहने नहीं देता। माताने उससे कह दिया है कि दैत्यराजके द्वारपर गदापाणि उपस्थित रहनेवाले त्रिभुवनेश्वर ही उसके पिता हैं और उसने इसे सहज भावसे स्वीकार कर लिया है। उसे अटपटा लगा कि त्रिभुवनके स्वामी उसके ये पिता हैं तो वह त्रिलोकीमें कहीं भी क्यों नहीं जा सकता।

'धराके लोग अल्पकाय, अल्पप्राण हैं।' भगवान् वामनने उसे समझाया। 'उनका साहस भी अल्प है और संग्रह भी। तुम्हारे देहको देखकर वे भयभीत होंगे। तुम्हें वहाँ क्षुधा लग गयी तो उनमेंसे बहुत अधिक लोगोंका आहार तुम्हें आवश्यक होगा, वे भूखे रह जायँगे।'

'मैं वहाँ नहीं जाऊँगा।' उसे किसीको भी आतंकित करना प्रिय नहीं है। कोई उसके कारण भूखा रह जाय, यह तो बहुत बुरी बात होगी। उसे भूखका अनुभव है और किसीको भी भूख लगनेपर आहार न मिले, यह वह सोचना भी नहीं चाहेगा।

सुतलमें जो ऐश्वर्य है, स्वर्गके देवता उसकी केवल स्पृहा कर सकते हैं। इच्छा करते ही पदार्थ उपस्थित होता है वहाँ और देवताओंके समान दैत्य घ्राणग्राही नहीं हैं। उनके उपभोगमें धराकी स्थूलता भले न हो, देवों-जैसी सूक्ष्मता भी नहीं है। लेकिन वह तो इच्छा भी नहीं करता। आहार दीखनेपर उसे क्षुधा लगती है और तब यह देखनेकी क्या आवश्यकता है कि वह किसके लिये प्रस्तुत हुआ है।

जहाँ पदार्थ-बाहुल्य होता है, स्वत्वका प्रश्न प्रायः विवाद नहीं खड़ा करता। वह अन्न और फल ही तो खाता है। उसके आहारको लेकर किसीमें वहाँ ईर्ष्या नहीं जागती। कहीं वह भोजन करने बैठ जाय, दूसरा हँसकर उसको भोजन कराना अपने विनोदका साधन बना लेता है। असुविधा तब होती है, जब वह कहीं भी पड़कर खर्राटे लेने लगता है। किसीका घर, किसीका अन्तःपुर, किसीकी शय्या हो—निद्रा आने लगे तो वह उसे अपनी ही शय्या समझ लेता है।

'अरे उठो!' उस दिन वह दैत्यराजके पुत्र बाणासुरके अन्तःपुरमें उनकी शय्यापर सो गया था। बाणपत्नीने उसे जगाना आवश्यक माना; क्योंकि उनके पतिदेवके आनेका समय हो गया था।

'माँ! सोने दे मुझे।' उसने करवट बदल ली।

'मैं तुम्हारी माँ नहीं भाभी हूँ।' बाणपत्नीको क्रोध नहीं आया। वे हँसीं। उन्हें पता है कि हिरण्यरोमा प्रत्येक स्त्रीको माँ कह लेता है। उसे तो सम्बन्ध समझाना पड़ता है।

'तो क्या हुआ? भाभी माँ!' वह बहुत हिलाने-डुलानेपर उठकर बैठा भी तो फिर लेटते हुए बोला—'मुझे निद्रा आ रही है।'

'अपने घर जाकर सोओ! तुम्हारे भाई आनेवाले हैं।' बाणपत्नीने उसके मुखपर पानीके छींटे दिये—'अब तुम विवाह कर लो!'

'विवाह? क्यों?' बस, वह विवाहके नामसे ही झल्लाता है—'तुम कर लो विवाह!'

'मैंने तो तुम्हारे भाईसे विवाह कर लिया है!' बाणपत्नी हँस रही थीं।

'तब हो तो गया, अब क्या पूरा संसार विवाह ही करेगा।' वह उठ खड़ा हुआ—'एक काम था, किसीने कर लिया; हो गया। मैं कहूँगा कि मुझे लोग सोने भी नहीं देते।'

'तुम्हें कौन सोने नहीं देता ?' बाणने अन्तःपुरमें प्रवेश करते हुए पूछा ।

'माँ नहीं सोने देती ।' हिरण्यरोमा अब भी निद्रालस स्वरमें बोल रहा था । 'सो जाओ !' बाणने अनुमति दे दी । पत्नीसे वे बोले—'इनके भोजन-शयनमें व्याघात मत बना करो । तुम जानती तो हो कि केवल ये हैं जो दैत्येश्वरके सिंहासनपर भी इसी प्रकार सो सकते हैं ।'

'शान्तं पापम् ।' पत्नीने पतिके मुखपर हाथ रख दिया । 'दैत्येश्वरका अपमान करनेवालेके साथ वह श्रीहरिका ज्योतिर्मय चक्र क्या करता है, जानते तो हो ।'

'मैं भला क्यों पिताजीका अपमान करूँगा ।' बाण खुलकर हँसा । 'सचमुच यह हिरण्यरोमा एक दिन सो गया था सिंहासनपर । मुझे भी तुम्हारे समान ही आशंका हुई थी । पता नहीं क्यों, यह मुझे बहुत प्रिय है ।'

'वत्स ! वह भगवान् वामनका बहुत स्नेहभाजन शिशु है ।' माता पार्वतीने पूछनेपर मुझे समझाया था—'उसके मनमें निखिल लोक उसके पिताके—श्रीहरिके हैं । सत्य ही तो है उसकी भावना । वह कहीं सोता है, कहीं आहार करता है तो अपने पिताकी शय्या और सामग्रीका ही उपयोग करता है । उसकी किसी क्रियासे किसीका कोई अपमान नहीं होता ।'

'ये मुझे भी माँ कहते हैं ।' सलज्जभावसे बाण-पत्नीने कहा ।

'मेरा छोटा भाई ही तो है ।' बाणने हँसकर कह दिया । 'वह तो तुम्हारी कन्याको भी देखेगा तो माँ ! कहकर ही पुकारेगा । ऊषा बहुत चिढ़ती है; किंतु इसको तो प्रत्येक बार समझाना पड़ता है कि वह इसकी भ्रातृ-पुत्री है ।'

× × ×

'तुमलोग इस प्रकार क्यों भागते हो ? मैं थोड़े फल खाऊँगा ।' वह हिरण्यरोमा एक दिन घूमता हुआ अमरोद्यान नन्दन-कानन जा पहुँचा । उसके अकल्पित विराट वपुको देखकर रक्षक क्रन्दन करते भागे तो उसे आश्चर्य हुआ । उसने उन्हें आश्वासन देनेका यत्न किया।

'कोई दैत्य अमरावतीमें आ गया है !' रक्षकोंमें कहाँ धैर्य था, प्राणीका अपना भय ही तो उसे आतंकित करता है । निर्विष सर्पको भी देखकर अधिकांश मनुष्यों-के प्राण सूख जाते हैं । हिरण्यरोमा दैत्य था—दैत्य देवताओंके सहज शत्रु और जो एकाकी शत्रुपुरीमें शस्त्रहीन चला आया है, वह सामान्य शक्तिशाली कैसे हो सकता है । उद्यान-रक्षकोंने सुधर्मा सभामें पहुँचकर देवराजसे पुकार की—'वृत्रसे किञ्चित् ही अल्पकाय है वह ! कौन जाने, अपनी कायाका विस्तार वह अब करने लगा हो । नन्दन-काननके समस्त फल अवश्य उसके उदरमें आ जायँगे !'

'कौन है वह ?' देवराजने देखा कि सुरोंके सेनापति इस समय सुधर्मा सभामें नहीं हैं । उन शिव-सुतकी संरक्षा देवताओंको प्राप्त है, इतनी ही कृपा उनकी । अन्यथा कार्तिकेय कोई देवेन्द्रके आज्ञानुवर्ती तो हैं नहीं कि मल्लिकार्जुन जानेके लिये शक्रको सूचना देना आवश्यक मानें ।

'हम केवल धराके लोगोंको प्रभावित करते हैं !' सुरेन्द्रकी दृष्टि ग्रहगणोंकी ओर गयी तो उनमें भौमने सूचित कर दिया—'दैत्य देवताओंके अग्रज हैं । यदि वे कभी आतिथ्य-ग्रहण करने आ ही जायँ, उनसे युद्ध करना तो आवश्यक नहीं होना चाहिये ।'

युद्ध-प्रिय मङ्गलका यह दृष्टिकोण अकारण नहीं था। जो योधा है, वही बलाबलका ठीक विचार भी कर सकता है । वृत्रके साथ संग्राममें सुर अपने समस्त शस्त्र खो चुके थे । वृत्रने शान्तभावसे उन्हें उदरस्थ कर लिया

था। यह दैत्य भी एकाकी आया है और क्षुधित है। नन्दन-काननसे आहार ही प्रारम्भ किया है इसने। शान्त भी है और निर्भय भी। पता नहीं किस तपः-प्रभावसे वह इतना साहस कर सका है।

'आप उसे देख लें!' इन्द्र स्वयं भी आशंकित हैं। वज्र लेकर उठ दौड़नेका साहस वे अपनेमें भी नहीं पाते हैं। किञ्चित् अवकाश चाहिये उन्हें। देवगुरुतक जानेका अवसर मिल जाय तो जैसी गुरुदेव अनुमति देंगे, वैसा करना है; किंतु दैत्य नन्दनवनमें आ गया है। वह किसी क्षण आ सकता है यहाँ। देवराजको आशा है कि दण्डधर यम उसे कुछ काल तो रोक ही सकते हैं।

'दैत्यराज बलि मेरे आराध्यके अनुग्रह-भाजन हैं।' महाभागवत यमराजने उठते हुए सूचित किया। 'यदि ये महानुभाव उनके स्नेहपात्र हैं तो मुझे इनका स्वागत करके प्रसन्नता होगी!'

'संयमनीके शास्ता किसका स्वागत करना चाहते हैं?' सहसा देवर्षि नारद पधारे। समस्त सुर उनके स्वागतमें उठ खड़े हुए।

'भगवन्! कोई दैत्य आ गया है आज अमरपुरमें।' शक्रने ही सूचना दी। 'हम नहीं जानते, वह किस शक्तिसे अकुतोभय है? हमें क्या करना चाहिये?'

'ओह! तो सुरपति हिरण्यरोमासे आतंकित हैं!' देवर्षि खुलकर हँसे। 'सावधानी अवश्य अपेक्षित है; क्योंकि भगवान् उपेन्द्रका पुत्र है वह, और कोई उसका अहित करने उठे तो वे भक्तवत्सल भूल जा सकते हैं कि देवमाता अदितिके कारण सहस्राक्ष उनके अग्रज होते हैं।'

'उपेन्द्र-पुत्र!' इन्द्रको आश्चर्य होना स्वाभाविक था। ऐसा कौन-सा पुत्र उपेन्द्रका है, जिसे स्वयं देवराज जानते नहीं हैं। 'वह तो दैत्य है।'

'दैत्य तो प्रह्लाद भी थे।' देवर्षिने व्यंगके स्वरमें कहा। 'उन अजन्माको देवमाता अपना पुत्र कह सकती हैं, देवराज अपना अनुज कह सकते हैं; किंतु कोई दैत्य उन्हें अपना पिता नहीं कह सकता?'

'वे महानुभाव कौन हैं?' इन्द्रने इस बार सीधे ही पूछा।

'हिरण्यरोमा दैत्य-पुत्र ही है; किंतु भगवान् उपेन्द्र भावगम्य हैं। वह उन्हें पिता कहता है तो वे उसके पिता हैं, इतनी बात सुरपति समझ सकते हैं।' देवर्षिने समझाया। 'जब देवशक्ति उसका परिचय जाननेमें असमर्थ है, जब देवेन्द्रका व्यापक बोध उसका तेज समझ नहीं पाता, इतना तो सिद्ध है कि वह पुरुषोत्तम-का पदाश्रित है।'

इन्द्रको लगा कि उनसे प्रमाद हुआ है। देवता—स्वयं देवेश भी जिसके सम्बन्धमें अधिक नहीं जान पाते, उसकी अगम्यता तो भगवान्की कृपा ही सूचित करती है। अन्यथा पृथ्वीपर, अधोलोकोंमें जो प्राणी हैं, उनके अन्तः-बाह्यके साक्षी तो देवता ही हैं। नम्रता-पूर्वक इन्द्रने जानना चाहा—'हमारा कर्तव्य?'

'कुछ नहीं।' देवर्षिने आशंका दूर की। 'हिरण्य-रोमासे किसीको कोई भय नहीं है। अवश्य ही उसको क्षति पहुँचानेकी इच्छा करनेवालेको भय है और वह तो अच्युतकी कौमोदकीसे भय है। हिरण्यरोमा तो आया है दैत्योंकी आदि मातृष्वसाकी पद-वन्दना करने। देवमाताकी वन्दना करके उसे चले जाना है। बहुत हुआ तो कुछ फल खायेगा और देवधानीमें कहीं भी एक नींद ले लेगा।'

'वे देवधानीमें हम सबके उपस्थित रहते सो सकेंगे?' इन्द्रका प्रश्न उचित है। देवराज जब दैत्यधानीमें नहीं सो सकते, हिरण्यरोमाके रहते देवधानीमें निश्चिन्त नहीं हो सकते, एक दैत्यको शत्रुओंके मध्य निद्रा कैसे आयेगी?

'उसे किसका भय है ।' देवर्षि खुलकर हँसे । 'वह देवेन्द्रके सदनमें या इस देवसभामें निद्रा लेने लगे तो किसीको व्याघात डालनेका साहस नहीं करना चाहिये । समस्त लोक उसके पिताके, और अपने पिताके घरमें उसे निद्रा क्यों नहीं आयेगी ? लेकिन देवराज ! पिताके घरमें पुत्रकी निद्रामें बाधा देनेवाला क्षमा नहीं किया जाता । वह तो सो सकता है यमराजके किसी नरकमें भी ।'

'प्रभो ! मुझपर तो कृपा ही रहे ।' धर्मराजने आतुरतापूर्वक हाथ जोड़े । देवर्षि बड़े विनोदी हैं। कहीं इन्होंने उन महानुभावको उभाड़ दिया किसी दिन नरकमें निद्रा लेनेके लिये तो नरक सदाको ही नष्ट हुए धरे हैं ।

'भय होता है प्राणीको तब जब वह नारायणसे विमुख होता है ।' देवर्षि जानेको उद्यत होकर बोले— 'श्रीहरिके पदाश्रित ही अकुतोभय होते हैं । देवाधीशको यह बात स्मरण रखनी चाहिये !'

संकल्पका सुन्दरतम स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीसत्यपालजी शर्मा, वेदशिरोमणि, एम्० ए०)

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि
रात्रिं जहात्युषसश्च केतून् ।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता
कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ॥
(अथर्व० १० । १ । ३२)

पाप और पुण्य—ये दोनों शब्द मेरे कानोंके लिये चिरपरिचित हैं । अनेक वार कइयोंके मुखसे इन्हें सुन चुका हूँ । मैं यह भी जानता हूँ कि मुझे पाप नहीं करना चाहिये और सदा पुण्य ही करते रहना चाहिये । पापसे नरक और पुण्यसे स्वर्ग मिलता है । पर पापकी उत्पत्तिका कारण क्या है ? उसका मूल उद्गम क्या है ? उससे मैं कैसे छूट सकता हूँ ? इतना तो मैं जानता हूँ कि एक बार पाप कर लेनेपर—केवल मनमें ले आने-पर ही—मैं दण्डनीय बन जाता हूँ और फिर उस दण्डसे मुझे कोई नहीं बचा सकता, चाहे वह शास्त्रज्ञ पण्डित हो या पुजारी या पादरी । और मैं यह भी जानता हूँ कि पाप क्षमा करवानेके बहाने ये लोग जो कुछ करते हैं वह स्वयं पाप है, क्योंकि वे तो भोले व्यक्तियोंको लोभ देकर उनसे अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं और अपनी उदरपूर्तिके लिये दूसरोंको धोखा देते हैं । परमात्मा दयालु तो है पर उसकी दयालुताका यह अर्थ नहीं है कि वह पापोंको क्षमा कर देता है । अपने बच्चेको कुमार्गसे न हटानेवाली, और उसे दण्ड देकर सीधे रास्तेपर न लाकर लाड़-प्यार ही करते रहनेवाली माँ वर्तमानमें और प्रत्यक्ष भले ही दयालु प्रतीत होती हो, पर वास्तवमें वह उसकी दया नहीं है; क्योंकि इससे भविष्यमें उस बच्चेका सारा जीवन ही खराब हो जाता है । परमात्मा ऐसा अबोध और अज्ञानी दयालु नहीं है । वह उस माँकी तरह है जो खराब काम करनेपर अपने बच्चेको दण्डित भी करती चली जाती है और मन-ही-मन रोती भी चली जाती है । तो फिर मैं इस पापपुञ्जसे कैसे छूटूँ ? क्या कभी छूट भी सकता हूँ ?

वेदमाता कहती है—तुम छूट तो सकते हो, पर इसके लिये तुम्हें कुछ बनना पड़ेगा, कुछ करना पड़ेगा। देखो मैं तुम्हें एक उदाहरण देती हूँ । तुमने सूर्यको देखा है ? सूर्य निकलनेसे पूर्व कितना अन्धकार होता है, ऐसा अँधेरा कि हाथको हाथ न सूझे । यदि प्रकाशका कोई साधन न हो तो अच्छे और बुरे सब एक-सी शक्लके दिखायी देते हैं, विवेचना-शक्ति समाप्त हो जाती है । पर, सूर्य इस अन्धकारसे मुक्त हो जाता

है, तेजस्वी बनकर चमकने लगता है। यही 'अन्धकार' या 'तमस्' है पापोंका उद्गम, कारण। तमस् क्या है?—बताओ तो सही अन्धकार क्या है? अन्धकार है प्रकाशका अभाव। जहाँ सूर्यका प्रकाश नहीं होता वहाँ तमस् छा जाता है। जैसे ब्रह्माण्डमें अन्धकार सूर्य-प्रकाशका अभाव रूप है, वैसे ही मनुष्यमें एक प्रकारका जो अन्धकार छाया हुआ है वह भी सूर्यके अभावसे ही है। 'सूर्य' के प्रकाशका अभाव ही 'तमस्' है। 'सूर्य' का अर्थ है वह सत्ता जिससे मनुष्यके अभाव दूर हों। परमात्माकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना, उस परम शक्तिमें अटल विश्वास और श्रद्धा जबतक मनमें रहती है, समझो सूर्यका प्रकाश होता रहता है और जब परमात्माके अस्तित्वके ही बारेमें संदेह पैदा हो जाय, उसमें कोई श्रद्धा, भक्ति या विश्वास न हो तो उस मनमें पूर्ण 'तमस्' छा जाता है। तब परमात्माके अस्तित्वका अभाव ही तो 'तमस्' हुआ न? जहाँ उसका अस्तित्व नहीं है वहाँ और भी बहुत-से तत्त्वोंका अभाव स्वयमेव हो जाता है। इस तमस्के प्रावरणमें अच्छा-बुरा सभी एक-सा दिखायी देता है और यही अभाव या तमस् है जो पापोंको जन्म देता है। सभी मनोवैज्ञानिक इस बातको जानते और कहते हैं कि जिस मनुष्यमें शक्ति जितनी ही कम होगी, वह उतना ही क्रोधी होगा। तो क्रोध है परिणाम शक्तिके अभावका। जिसमें वीर्य-शक्ति जितनी ही कम होगी, उसमें कामकी उतनी ही प्रबलता होगी—काम है परिणाम वीर्यशक्तिके अभावका। संतोष जिसमें जितना ही कम होगा उसमें लोभ उतना ही अधिक होगा—तो लोभ हुआ परिणाम संतोषके अभावका। इस प्रकार ज्ञानका अभाव, शान्तिका अभाव, वीर्य-शक्तिका अभाव, संतोषका अभाव, शुद्ध शक्तिका अभाव, स्नेहका अभाव, दयाका अभाव, रसका अभाव, जीवन और स्फूर्तिका अभाव, धैर्यका अभाव, स्मृतिका अभाव, आदि जितने भी अभाव हैं—वे ही पापके बीज हैं। तो—

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि।

जिस प्रकार सूर्य अन्धकार—अभावसे ऊपर उठ जाता है—मुक्त हो जाता है, हमें भी इन सभी अभावोंसे ऊपर उठना होगा।

पापका दूसरा उद्गम है—रात्रि। रात्रिमें हम बड़े आनन्दसे सोते हैं। सारी इन्द्रियाँ सुषुप्तिके आनन्दमें इतनी मग्न हो जाती हैं कि उनको बाह्य संसारका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता और जब हम सोकर उठते हैं तो हमारा मन कहता है—और हम भी कहते हैं दूसरोंसे—कि आज तो बड़ी अच्छी नींद आयी, बड़ा आनन्द आया। पर जरा इस आनन्दका विश्लेषण तो कीजिये। 'सुषुप्ति' और 'समाधि'के आनन्दका स्वरूप एक-सा होनेपर भी जमीन-आसमानका अन्तर है। सुषुप्ति समाधि नहीं हो सकती और समाधि सुषुप्ति नहीं हो सकती। क्या अन्तर है दोनोंमें? सुषुप्ति है तमोजनित और समाधि है सत्त्वजनित। तमस्में घोर अज्ञान है, सत्त्वमें है पूर्ण बोध—पूर्ण जागरण। तमस्में है अचेतनता—अबोधता—निष्क्रियता। सत्त्वमें है चेतनता—बोध और सक्रियता। सुषुप्तिका तमोजनित आनन्द अचेतनता, अबोधता और निष्क्रियताका आनन्द है। समाधिका सत्त्वजनित आनन्द चेतनता, पूर्ण बोध, सक्रियता और जागरूकताका आनन्द है। सुषुप्तिका आनन्द अभावात्मक है, समाधिका आनन्द भावात्मक है। रात्रिमें सुषुप्तिका आनन्द ही अनुभव होता है, समाधिका आनन्द नहीं। दूसरे शब्दोंमें दार्शनिक परिभाषाके अनुसार वे सभी तामसिक चीजें रात्रि हैं जो मनुष्यकी चेतनता, बोध और सक्रियताको पूर्ण निश्चेष्ट बनाकर उसे आनन्द प्रदान करती हैं। कामशक्तिका आनन्द, मद्यपानका आनन्द, जुआ खेलनेका

आनन्द, आलस्य और प्रमादजनित भी आनन्द हैं। इन आनन्दोंको देनेवाली सभी चीजें 'रात्रि' हैं। यह 'रात्रि' भी पापका उद्गम है। रात्रिने उस सूर्यको आनन्दमें मग्न रहकर मौज लेनेका निमन्त्रण दिया, पर सूर्यने उस स्नेह-भरे निशा-निमन्त्रणको भी अस्वीकार कर दिया।

रात्रिं जहाति।

उसने 'रात्रि' को भी ऐसे ही पीछे छोड़ दिया जैसे महर्षिने अपने आनन्दपूर्ण घरको, बुद्धने यशोधराको, जिस प्रकार कि तेजोमय व्यक्ति, जिसका लक्ष्य ही 'अपवर्ग' है, 'अत्यन्त पुरुषार्थ' के देवयान मार्गपर बढ़नेके लिये गृहस्थाश्रमको छोड़कर संन्यास ग्रहण कर लेता है। पापके एक और पाशसे उसने अपनेको मुक्त कर लिया।

पापका तीसरा उद्गम है—'आकर्षण'। आकर्षण 'मृगमरीचिका' है और मनुष्यकी 'इच्छा' उसमें तृप्ति प्राप्त करनेकी भ्रान्तिमें पड़ा हुआ 'मृग'। रात्रिकी समाप्तिपर उषा आयी। उसने अपने सौन्दर्यकी झलक दिखाकर सूर्यको अपने मोहमें बाँध लेनेका प्रयत्न किया। ऐसे ही दुनियाकी चमक भी मनुष्यको अपनी ओर आकर्षित करके उसे सत्यसे परे रखती है। उसे उसके वास्तविक मार्गसे विचलित कर देती है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

सत्यके मुँहपर चढ़ा हुआ यह आवरण—हिरण्मय है—चमचमा रहा है। यही आकर्षण और ऊपरी आडम्बरका मोह न जाने मनुष्यसे कितने पापकर्म करवाता है। इन्हीं आकर्षणोंको 'एषणा' के नामसे पुकारा जाता है। संन्यासी बनते समय मनुष्य इन्हीं सब एषणाओंको छोड़नेकी प्रतिज्ञा करता है। वह संसारके इन सभी आकर्षणोंसे उसी तरह ऊपर आ जाता है जैसे कि सूर्य—

उषसश्च केतून्।

उषाकी चमक और आसमानके सौन्दर्यके मोहमें न पड़कर उससे भी ऊपर उठ जाता है और फिर आकाशमें ऐसा सूर्य चमकता है कि कोई उसकी ओर दृष्टि भी नहीं उठा सकता।

इस प्रकार सूर्यके समान ही तुम्हें भी अभावोंसे, अचेतन अनित्य आनन्दोंसे, आकर्षणोंसे ऊपर उठना होगा। तब तुम पापोंसे सर्वथा बचे रहोगे।

पर ऐसा करनेके लिये मानसिक शक्ति चाहिये, सामर्थ्य चाहिये। आत्मा और मनमें जबतक इस तरहकी शक्ति और सामर्थ्य नहीं आयगी, ऐसा नहीं कर सकोगे। यह सामर्थ्य आती है 'कल्प' से—संस्कारों और यज्ञोंसे। 'कल्प'का ही एक और रूप है 'संकल्प'। 'कल्प' क्रियात्मक है और क्रियाजन्य भाव आत्मा और मनमें सामर्थ्य पैदा करते हैं। 'संकल्प' शक्ति है। यह मनकी शक्ति है, भावात्मक। यह संकल्प-साधन जिसके पास है वह मनसा कभी भी दुर्बल नहीं हो सकता। तो तुम भी संकल्प करो और प्रतिदिन अपने मनमें इस बातकी घोषणा किया करो कि—

जहामि।

मैं भी छोड़ रहा हूँ। छोड़ूँगा—नहीं, भविष्यत्की बातें न करो, 'कल' पता नहीं आये, न आये। इसलिये वर्तमानकी भाषामें घोषणा करो। 'संकल्प' के साथ तुम्हें यह भी ध्यान होना चाहिये कि तुम छोड़ने क्या जा रहे हो? कहीं ऐसा न हो कि घरसे कूड़ा-कचरा निकालते हुए बहुमूल्य पदार्थोंको भी कूड़ा समझकर निकाल दो।

एवाहं सर्वं दुर्भूतम् (जहामि)।

मैं सारी दुर्भावनाएँ छोड़े दे रहा हूँ। मैं व्यक्तिसे घृणा क्यों करूँ? व्यक्तिसे मुझे द्वेष क्यों हो? क्यों मैं

किसीके प्रति कोई दुराशय या दुर्भावना रक्खूँ । इसमें उस व्यक्तिका तो कुछ नहीं बिगड़ेगा, मन तो मेरा खराब होगा न ? नहीं—मैं अब यह सब छोड़ दे रहा हूँ—'भावना मिट जाय मनसे पाप-अत्याचारकी ।'

कर्क्षं (जहामि) ।

ऐसी सभी चीजोंको छोड़ दे रहा हूँ जो मेरा सम्बन्ध मानवसे, पशु-पक्षीसे, परमशक्तिसे काट देनेवाली हैं । मैं ऐसी सभी चीजोंको छोड़ रहा हूँ जो मुझे पाप-पङ्कमें लपेट देनेवाली हैं, मुझे अन्धा बना देनेवाली हैं । ऐसी सङ्गतियों, ऐसी संस्थाओं, ऐसे समाज-समुदायों, ऐसी परिस्थितियों और बातोंसे दूर और उदासीन रह रहा हूँ ।

कृत्याकृता कृतं (जहामि) ।

ऐसे सभी कर्म जो मेरी दूषित भावनाओं या दूषित मन और इन्द्रियोंसे उत्पन्न हों, छोड़ दे रहा हूँ ।

हस्तीव रजो दुरितं जहामि ।

जिस प्रकार हाथी अपने शरीरपर धूलका एक कण नहीं बैठने देता, उसी प्रकार मैं भी अपने मन, बुद्धि, चित्त या इन्द्रियोंमें 'दुर्+इतं' दुष्ट तत्त्वों, भावनाओं या वासनाओंका एक भी कण किसी भी क्षण बैठने नहीं देता हूँ । हाथी और भैंसमें यही तो फर्क है । भैंस कीचड़, धूल और दलदलसे प्रेम करती है । उसको उसीमें आनन्द आता है जैसे कि सामान्य मनुष्योंको वासनाओं, अन्य अभावों या आकर्षणोंमें आनन्द आता है । मैं भैंस क्यों बनूँ ? हाथी क्यों न बनूँ ?

तो यह है संकल्पका सुन्दरतम स्वरूप । यही संकल्प मुझे पापोंसे दूर रखेगा—यही संकल्प मुझे पाप-पङ्कमें फँसने नहीं देगा—यही संकल्प मुझमें इतनी शक्ति और सामर्थ्य पैदा कर देगा कि मैं सूर्य बनूँ—सूर्यके समान ऊपर-ही-ऊपर चढ़ता चला जाऊँ । मैं कैसा अबोध था । तमस्—अभाव—शून्य अभीतक मुझे दबाये हुए था । 'शून्य' ने 'सत्ता' को कैदमें कर रक्खा था । नहीं, अब मैं 'शून्य'की कैदसे मुक्त हो जाऊँगा ।

भ्रातृत्वका अवतार

(रचयिता—लाला श्रीजगदलपुरीजी)

वैरको निर्बल प्रमाणित कर दिया,
छद्मको निष्फल प्रमाणित कर दिया,
भरतने भ्रातृत्वको संसारमें;
मेरु-सा निश्चल प्रमाणित कर दिया ।

हृदयका विस्तार देखा विश्वने,
स्नेहका संचार देखा विश्वने,
भरतके तनमें सहज भ्रातृत्वका;
प्राण-प्रिय अवतार देखा विश्वने ।

है नहीं स्वीकार ऐसा धन मुझे,
है नहीं स्वीकार ऐसा तन मुझे,
भरतके भ्रातृत्वने रोकर कहा;
है नहीं स्वीकार सिंहासन मुझे ।

स्वार्थने देखा कि वह निरुपाय है,
कपटने देखा कि वह असहाय है,
क्योंकि जिसका तिलक मनमें हो चुका;
वह भरत भ्रातृत्वका पर्याय है ।

विलक्षण भाव-जगत्

(हनुमानप्रसाद पोद्दारके एक प्रवचनके आधारपर)

विषयी और साधकका जगत् अलग-अलग होता है। विषयी और साधकके पथ और लक्ष्य दोनोंमें ही बड़ी विभिन्नता है। विषयीका रुख संसारकी ओर होता है और साधकका रुख भगवान्‌की ओर।

शुद्र विषयी भी भगवान्‌को भजते हैं। पर वे भजते हैं विषयकी कामनाको लेकर। इच्छित विषयको पानेके लिये वे सकाम भावनासे भगवान्‌की आराधना करते हैं। उनकी उस आराधनामें प्रेरणा है विषय-प्राप्तिकी और उसका फल भी संसारके विषय ही होते हैं। भगवान् विषयीकी कामनाको भी पूरा करते हैं और आगे चलकर उसकी सकामताको हर भी लेते हैं। अतः किसी प्रकारसे भी भगवान्‌से संयोग होना—भगवान्‌की आराधनामें लगना तो अच्छा ही है; क्योंकि वह आराधना भी अन्तमें भगवत्प्राप्तिकी हेतु बन सकती है—**'मद्भक्ता यान्ति मामपि।'**

पर विषयी व्यक्ति साधक नहीं होता। विषयीकी चाहसे साधककी चाह सर्वथा विपरीत होती है। विषयीको सम्मान-धन प्रिय लगते हैं और वह उनकी कामना करता है, साधकको सम्मान-धन बुरे लगते हैं और वह उनका विषवत् त्याग करना चाहता है। विषयी जो चाहता है, उसीका साधक त्याग करता है। विषयी चाहता है विषय-सुख और साधक इसीसे दूर भागता है। अभिप्राय यह कि संसारके द्वन्द्वोंमें विषयी प्रिय मानकर जिसे चाहता है, उसीका साधक अप्रिय अनुभव करके त्याग करता है।

भगवान्‌को लोग अपनी-अपनी आँखोंसे देखते हैं। देखनेकी सबकी दृष्टि अपनी-अपनी है। श्रीकृष्णको कंसकी सभामें सबने अपनी-अपनी विभिन्न दृष्टिसे देखा। वे मल्लोंको वज्रके रूपमें, साधारण मनुष्योंको नरश्रेष्ठ, रमणियोंको मूर्तिमान् मदन, गोपोंको स्वजन, असतोंको दण्डदाता, वसुदेव-देवकीको बच्चे, कंसको साक्षात् मृत्यु, विद्वानोंको विराट्, योगियोंको परतत्त्व और वृष्णियोंको परमदेवताके रूपमें दिखायी दिये। इसी तरह विषयी और साधकको भगवान् अलग-अलग दिखलायी देते हैं। विषयीके लिये भगवान् साधन हैं और साधकके लिये भगवान् साध्य है। कामी भगवान्‌से सुख लेना चाहता है और प्रेमी भगवान्‌को सुख देना चाहता है।

साधकोंकी दो श्रेणियाँ हैं, इनके दो प्रधान भेद हैं। एक मुक्तिकामी और दूसरे प्रेमी। एकमें अहंके मङ्गलकी कामना है और दूसरेमें अहंकी सर्वथा विस्मृति है।

मुक्तिका अर्थ है—छुटकारा। बन्धनके अभावमें छुटकारेका कोई अर्थ नहीं, कोई स्वारस्य नहीं। अतः मुक्ति चाहनेवाला किसी बन्धनमें है, जिससे छुटकारा चाहता है। मुमुक्षु मात्र, कहीं भी हो, कैसा भी हो, कभी भी हो, बन्धनसे छूटना चाहता है। जितनी तीव्र लालसा होगी, छुटकारा पानेकी जितनी उत्कट उत्कण्ठा होगी, उतनी ही उसकी मुमुक्षा—मोक्षकी इच्छा मुख्य तथा अनन्य होगी और उतनी ही जल्दी उसे स्वरूपकी प्राप्ति होगी। अतः जो बन्धनसे मुक्ति चाहता है वह मुक्तिकामी है। अहं बन्धनमें है। मुक्तिकामी बन्धनसे मुक्त होकर अपने अहंका मङ्गल चाहता है। यह ज्ञानकी साधना है और बड़ी ऊँची साधना है। षट्-सम्पत्तिकी प्राप्तिके बाद मुमुक्षुत्वकी जागृति होती है और फिर आत्मसाक्षात्कार स्वरूपकी प्राप्ति।

दूसरा वर्ग प्रेमी साधकोंका है। ज्ञानोत्तर कालमें

और सीधे भी यह स्थिति प्राप्त हो सकती है। प्रेमी साधक मुक्ति नहीं चाहता, पर वह संसारके बन्धनमें भी नहीं रहता। जगत्के बन्धनसे मुक्त ही भगवत्प्रेमी होता है। उसके पवित्र प्रेमके एक झटकेमें ही सारे बन्धन सदाके लिये टूट जाते हैं। फिर भी वह बन्धनमें रहता है। उसका यह बन्धन है—प्रेमका बन्धन, जो नित्य मुक्तस्वरूप भगवान्‌को उसके साथ बाँधे रखता है।

भगवान् विरुद्ध गुण-धर्माश्रयी हैं। उनमें युगपत् विरोधी धर्मगुण हैं। वे निराकार होकर भी साकार है। कठोर होकर भी अत्यन्त कोमल हैं। अजन्मा-अविनाशी होते हुए ही जन्म लेते और अप्रकट होते हैं। व्रजसे जाकर भी व्रजसे बाहर नहीं गये। भगवान्‌के सिवा ऐसा कोई नहीं है, जिसमें एक साथ विरुद्ध गुण-धर्म रहते हों। इसी तरह भगवान्‌के प्रेमी भी विरुद्ध गुण-धर्माश्रयी होते हैं। वे नित्य मुक्त होकर भी नित्य बन्धनमें रहते है और उस बन्धनसे कभी छूटना नहीं चाहते।

प्रेमीको किसी प्रकारका सांसारिक बन्धन नहीं है। जो संसारके किसी प्रकारके बन्धनमें है, वह प्रेमी नहीं। जो संसारके भोगोंके साथ-साथ पवित्र भगवत्-प्रेम प्राप्त करना चाहते हैं, वे भूलमें हैं, भ्रममें हैं। प्रेम-पथपर पैर रखते ही सारा संसार समाप्त हो जाता है। सारी सांसारिक कामनाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, फिर सांसारिक बन्धन कैसा? प्रेमीके एकमात्र बन्धन भगवान्‌का है। प्रेमी भगवान्‌के साथ प्रेम-रज्जुसे बँध जाता है। भगवान् नित्य मुक्त हैं, भगवान्‌में बन्धनकी कल्पना नहीं, वे भगवान् स्वयं लालसायुक्त होकर प्रेमीके बन्धनमें रहते हैं। उस बन्धनमें सुखस्वरूप भगवान्‌को सुख मिलता है। यह सुखस्वरूपका सुख-विलास है। यह प्रेमका बन्धन नित्य, असीम और अनन्त है।

इस प्रेमके अनेक स्तर हैं, अनेक स्वरूप हैं। प्रेमीमें एक पवित्र विलक्षण प्रेम-जगत् लहराता रहता है। वह बड़ा विचित्र है। इस प्रेम-जगत्‌का जो नित्य मिलन है—वह है सर्वथा भावमय।

यह 'भाव' भावनामय—कल्पनामय नहीं है, ध्यानजनित ध्येयाकार वृत्ति-जगत् नहीं है, अज्ञानमें स्थित कोई वस्तु नहीं है, पाञ्चभौतिक नहीं है, क्रियाशून्यता नहीं है। इसका एक-एक रहस्य समझने योग्य है, सब अर्थ-गर्भ है। लोग कहते हैं 'प्रेमी तो केवल कल्पनाके जगत्‌में रहता है, वस्तुतः उसको भगवान् मिलते नहीं। वह केवल भगवान्‌की भावना भर करता रहता है।' किंतु कल्पना या भावना तो मायाकी चीज है और भगवान् मायासे अतीत हैं। अतः यह भाव-जगत् माया-जगत्‌की वस्तु नहीं। इसी प्रकार ध्येयाकार वृत्तिको ध्यान कहते है। जबतक वृत्ति टिकी है तबतक भाव-जगत्‌का अस्तित्व स्वीकार करें और जब वृत्ति हट जाय तो भाव-जगत्‌का अस्तित्व समाप्त हो जाय। ऐसी बात इस भाव-जगत्‌के साथ नहीं है। इससे वृत्तिका सम्बन्ध नहीं; क्योंकि वृत्तिजनित मानस मात्र नहीं है। सत्य है—नित्य है। इसी प्रकार यह भाव-जगत् पाञ्चभौतिक नहीं है। पाञ्चभौतिक वस्तु अनित्य है और भाव-जगत् नित्य है। अवश्य ही भाव-जगत्‌की सारी चेष्टाएँ—भावनाएँ प्राकृत जगत्‌के समान दिखायी देती हैं और प्राकृतिक शब्दोंसे, नामोंसे ही उनका निर्देश किया जाता है परंतु वास्तवमें वे अप्राकृतिक हैं, भगवत्स्वरूप हैं।

व्रजकी जितनी लीला हैं, सारी भगवान् श्रीकृष्णके ११ वर्षकी उम्रसे पहले-पहलेकी है। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें आया है कि मथुरासे जानेके बाद १०० वर्षोंतक गोपाङ्गनाओंसे श्रीकृष्णकी भेंट नहीं हुई। मथुरा थी ही कितनी दूर, परंतु न तो गोपियाँ मथुरा गयीं और न भगवान् श्रीकृष्ण व्रजमें आये। गोपियाँ क्यों आयीं नहीं

और श्रीकृष्ण क्यों नहीं गये ? केवल इसीलिये कि वहाँ स्व-सुखकी कल्पना नहीं, त्याग-ही-त्याग है। प्रियतम-सुख ही सर्वस्व है। गोपियाँ विरहसे अत्यन्त व्याकुल हैं, उनमें अत्यन्त मिलनोत्कण्ठा है, फिर भी गोपियाँ नहीं गयीं। तो क्या फिर मिलन हुआ ही नहीं ? सच बात तो यह है कि उनके प्रियतम श्रीकृष्णका उनसे कभी वियोग ही नहीं हुआ। अन्तर केवल इतना ही हुआ कि ११ वर्षकी उम्रके बाद प्राकृतिक—पाञ्चभौतिक जगत्के अनुरूप दीखनेवाली लीला नहीं हुई। भगवान् सर्व-समर्थ हैं, चाहते तो वह भी कर सकते थे, किंतु लोक-संग्रहके लिये, आदर्शकी प्रतिष्ठाके लिये उसे नहीं किया। भगवान्ने स्वयं श्रीमुखसे गीतामें कहा है कि तीनों लोकोंमें मेरा कोई कर्तव्य न होने तथा मुझे कुछ भी प्राप्त करनेकी अपेक्षा न होनेपर भी लोकसंग्रहके लिये मैं विहित कर्म करता हूँ। इसी कारण पाञ्चभौतिक जगत्के अनुरूप दिखलायी देनेवाली लीला मथुरा जानेके बाद उनमें दिखायी नहीं दी, अन्यथा, वहाँ तो नित्य लीला-विलास चलता ही रहता है। गोपियोंके परम प्रियतम श्रीकृष्ण भावरूपसे निरन्तर उनके पास रहे, वे व्रजसे गये ही नहीं। परंतु यह सब लीला अधिकारियोंके लिये ही थी। अतः बाहर इनका प्रकाश नहीं था। शिशुपालने भगवान् श्रीकृष्णको गाली दी किंतु उसने इस गोपीप्रेमकी बात नहीं कही। शिशुपालवाले जगत्को व्रजके भाव-जगत्की बातका ज्ञान ही नहीं था। हाँ, द्रौपदीको कुछ-कुछ पता था। कौरव-सभामें विवस्त्र होते समय रक्षा पानेके लिये द्रौपदीने अपनी प्रार्थनामें 'द्वारकावासिन्'के साथ-साथ 'गोपीजन-प्रिय' भी सम्बोधन किया था। यह महाभारतकी चीज है।

व्रजकी गोपियोंमें भाव-जगत्का नित्य एवं निरवधि विलास है। भाव-जगत् ऐसा है जहाँ कभी वियोग है ही नहीं। यह परम सत्य है कि भगवान् मिलकर कभी बिछुड़ते नहीं। मिलकर बिछुड़नेका क्रम प्रापञ्चिक जगत्की वस्तुका है। भाव-जगत्में बिछुड़नेकी कल्पना ही नहीं। भाव-जगत्में अ-मिलनकी जो लीला होती है, वह भी मिलनकी ही एक तरंग है। त्यागमय प्रेमकी पराकाष्ठापर नहीं पहुँचे हुए साधकोंको वह लीला नहीं दिखलायी देती। जहाँ मुक्तिका भी परित्याग हो जाता है वहाँ इस लीलाका विकास होता है। उसके अधिकारी अलग-अलग हैं।

भगवान् श्रीरामने अपनेको भगवान् कहा है पर छिपे-छिपे। भगवान् राम मर्यादाका अधिक ख्याल रखते हैं। कहीं देवताओंके सामने, कहीं ऋषियोंके सामने भगवान् रामने अपनेको भगवान् कहा है, परंतु भगवान् श्रीकृष्णने तो बारंबार स्पष्ट कहा है। द्वारकामें श्रीकृष्ण भगवान् होकर भी द्वारकापति हैं। जहाँ ऐश्वर्य है वहाँ वे मर्यादानुकूल कार्य करते हैं। द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णकी आदर्श दिनचर्या है। वे उषाकालमें शय्या त्यागकर ध्यान करते हैं। स्मृतियोंके अनुकूल शौच स्नान करते हैं, संध्या करते हैं, अग्निहोत्र-गोदान करते हैं, अपने माता-पिताको प्रणाम करते हैं। जहाँ जैसी लीलाका प्रयोजन है तदनुरूप आचरण करते हैं। जिस तरह प्रेमियोंके प्रेम जगत्में प्रेमरसास्वादनके लिये प्रेमास्पद भगवान्का अवतरण होता है, वैसे ही लोकमें धर्मकी स्थापनाके लिये उनका अवतरण होता है। गीतामें कहा है—

> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
> (४।८)

साधुका परित्राण, पापका विनाश और धर्मकी स्थापनाके लिये भगवान् अवतार लेते हैं। जब जैसी लीला होती है, भगवान् वैसे बन जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी दामोदरलीलामें काम, क्रोध, लोभ, भय, पलायन, बन्धन सभी हैं और सच्चे रूपमें हैं। ध

सब भगवान् श्रीकृष्णका न नाटक है, न मिथ्या विलास है और न दम्भ है। जैसी लीला करनी होती है, वे स्वयं ही वैसे ही बन जाते हैं। जिस समय ब्रह्माने बछड़ोंको तथा गोपबालकोंको चुरा लिया, उस समय भगवान् क्या-क्या नहीं बन गये ? रस्सी, बछड़े, बालक, उनके कपड़े, काली कमली, जूती, लकुटी—सभी कुछ तो बने। भगवान् रासमें अगणित रूपोंमें प्रकट हो गये। यह रास भगवान्का अपनेमें अपना ही रसास्वादन है और है प्रेमियोंमें स्वरूपभूत रसका वितरण। यह भोगियोंका भोग-रमण नहीं, यह योगियोंका आत्मरमण नहीं, यह है प्रेमस्वरूप रसस्वरूप भगवान्का रस-वितरण तथा रसास्वादन-विलास।

रासमण्डलमें प्रवेश पानेके लिये देवता तथा ऋषियोंको गोपी बनना पड़ा ! आकाशमें देवता और देवपत्नियाँ थीं, पर क्या वे रासकी अन्तरङ्ग सभी लीला देख पायीं ? अर्जुनको अर्जुनी बनना पड़ा ! अर्जुनको इच्छा हुई कि इस प्रेम-जगत्का उन्हें दर्शन मिले। पहले तो भगवान् श्रीकृष्णने टलाया। बहुत आग्रह करनेपर मन्त्र बताया, उसका जप करना पड़ा, कात्यायनीकी उपासना करनी पड़ी, प्रेम-ह्रदमें स्नान करना पड़ा, फिर गोपीका रूप मिला, फिर सखी अर्जुनीको निकुञ्जमें ले गयी। अर्जुनी केवल एक रात ही वहाँपर रह पायी। पुनः ह्रदमें स्नान कराया गया, वे तुरंत अर्जुन बन गये और वापस भेज दिये गये। शिशुपाल आदिको इस रासका पता नहीं था, हाँ, भीष्मजीको थोड़ा-थोड़ा ज्ञान था। केवल अन्तरङ्ग लोगोंको ही इसका पता था।

वियोगमें भी भगवान्का मिलन रहता है। भगवान्की वियोगलीलामें नित्य संयोग रहता है। प्रेमीसे पूछा जाय क्या चाहते हो, मिलन या वियोग। तो सच्चा प्रेमी विरह ही माँगता है। संयोगमें समय, स्थान, मर्यादा आदिके अनेक बन्धन हैं, पर वियोगमें तो नित्य-निर्बाध मिलन है। भगवान्को कहींसे आना नहीं पड़ता। वे तो नित्य सर्वत्र विराजमान हैं। प्रेमी भक्तका हृदय उनका अनन्त प्रलोभनीय प्यारा आवास है। वे वियोग देते हैं विशेष रसास्वादनके लिये—प्रगाढ़ रसास्वादनके लिये। वस्तुतः देखा जाय तो प्रेमी साधकको वियोग होता ही नहीं।

प्रेममें भुक्ति-मुक्तिकी कोई आकाङ्क्षा होती ही नहीं। आकाङ्क्षाकी अपूर्तिमें दुःख होता है; क्योंकि उससे मनमें एक प्रतिकूलताका उदय होता है। वही दुःख है। प्रेम-जगत्में प्रतिकूलता होती ही नहीं। प्रेममें जो कहीं प्रतिकूलताकी लीला होती है, वह वस्तुतः महान् अनुकूलताकी एक लहर मात्र है; क्योंकि उस प्रतिकूलतामें प्रियतमका सुख निहित है जो परम अनुकूलताका स्वरूप है। मिलन और विरहके रूपमें ये तरंगें उठती-गिरती रहती हैं। भूख बिना भोजनका मजा क्या ? विरहके बिना मिलनका आनन्द क्या ? विरह और मिलन प्रेम-सरिताके दो तट हैं। इन्हींके बीचमें यह सतत प्रेमास्पद-सागरकी ओर प्रवाहित है। प्रेमास्पद प्रेमीके पाससे जाते ही नहीं। एक प्रेमिका गोपीने उद्धवसे अपना अनुभव बताया—'लोग भले कहें, पर मुझे तो प्रियतम कहीं जाते दीखते ही नहीं। लोग कहते हैं कि गये, पर वे तो सदा मेरे पास हैं। मैं अपने प्रत्यक्ष अनुभवके सामने दूसरोंकी बात कैसे मानूँ ? अब भ्रम किसको है, मुझको या लोगोंको ? लोगोंको ही है। मैं तो नित्यमिलनानन्दका रस लेती हूँ।' विरहकी अनुभूति तत्त्वतः सुखरूप है।

प्रेमी मुक्तिकामी नहीं होता; क्योंकि प्रेममें अनन्त जीवन है और अनन्त सुख है। इस प्रेम-जीवनमें न कमी होती है और न रुकावट आती है। ज्ञानीके लिये जो प्राप्त करना था, वह प्राप्त हो गया। अब उसे कुछ

भी करना-पाना नहीं—'तस्य कार्यं न विद्यते ।' किंतु प्रेमीके जीवनमें प्रेमधारा सर्वदा बहती रहती है और बहती ही रहेगी । उस धारामें निरन्तर अधिकाधिक तीव्रता, मधुरता और उज्ज्वलता आती रहेगी ।

प्रेमीमें यदि वस्तुतः कोई क्षोभ होता है तो अवश्य मानना चाहिये कि उसके अंदर स्व-सुखकी कोई वासना अवश्य है । किसी कामनासे ही विक्षोभ उत्पन्न होता है । अवश्य ही कोई चाह है, भले ही वह छिपी हो । वास्तवमें प्रेमी प्रत्येक द्वन्द्वमें पवित्र लीलानन्दका अनुभव करता है । वह सतत लीला-समुद्रमें निमग्न रहता है । प्रेमीके जीवनमें प्रत्येक चेष्टा सहज ही भगवत्प्रीत्यर्थ होती है ।

जो भगवान्‌के प्रतिकूल हो, वही अविधि है और जो भगवान्‌के अनुकूल हो वही विधि है । यही भाव-जगत्‌का 'विधि-निषेध' है । वस्तुतः वहाँ सब कुछ भगवान्‌के मनका ही होता है । अवश्य ही मनरहित भगवान्‌में मनका पवित्र निर्माण प्रेमियोंमें दिव्य सुख-वितरणके लिये ही होता है । प्रेमीके मनमें वही बात आती है जो प्रेमास्पदके मनमें है । जहाँ अन्तरङ्गता होती है, वहाँ प्रेमास्पदकी बात प्रेमीमें आने लगती है । मनमें स्वतः स्फुरित होने लगती है । फिर उसे कुछ कहना नहीं पड़ता । भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है—

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम् ।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ ! नान्ये जानन्ति तत्त्वतः ॥

मेरे मनकी बात तो तत्त्वसे केवल गोपियाँ ही जानती हैं । परम प्रेमास्पद भगवान्‌के मनमें क्या है, इसको बस, सर्वत्यागी परम प्रेमी जानता है और जानकर वह प्रेमी वही बोलता है, वही करता है । वही उसकी विधि है । भाव-जगत्‌में शास्त्र देखनेकी फुरसत किसको है, कौन देखता है ? तो क्या उनके आचरण शास्त्र-विरुद्ध हैं ? नहीं । प्रेमीका प्रत्येक विचार और कर्म सहज ही भगवान्‌के अनुकूल, भगवान्‌के प्रीत्यर्थ होता है । वही तो शास्त्रका साफल्य है । वही है शास्त्रका फल है । अतः प्रेमी जो करता है, वही विधि है, वही शास्त्र है । प्रेमीके अंदर लौकिक प्रपञ्च नहीं है, कोई भी जागतिक वासना नहीं है । उसके अंदर भगवान् हैं । उसकी चेष्टा, उसकी वाणी भगवान्‌की चेष्टा और वाणी है । वह तीर्थोंको तीर्थ बनाता है । जहाँ ऐसे प्रेमी संत रहे, वे तीर्थ बन गये । उन्होंने जो कुछ कहा वही शास्त्र बन गया और जो आचरण किया वही शास्त्रकी विधि बन गयी ।

शास्त्रकी अन्य किसी विधिका बन्धन वहाँ नहीं है; क्योंकि वहाँ शास्त्रकी विधिका फल फलित हो चुका है । जो पवित्र प्रेम प्राप्त कर चुके हैं, उनपर शास्त्रका बन्धन नहीं है । जबतक यह स्थिति नहीं आती है, तबतक शास्त्रकी प्रत्येक विधि लागू होगी । जो वासनाबद्ध मनुष्य प्रेमके नामपर शास्त्रकी मर्यादाका उल्लंघन करते हैं, विधिकी अवहेलना करते हैं, उनको अवश्य ही सावधान हो जाना चाहिये । भगवान् श्रीकृष्णने ऐसा किया तो हम भी ऐसा ही करें । यह मानना ठीक नहीं । भगवान्‌के सब आचरण अनुकरणीय नहीं हैं । भगवान्‌ने दावानल पान किया, क्या हम भी पान कर सकेंगे ? भगवान्‌ने सात दिनोंतक कनिष्ठिका अंगुलिपर गोवर्धन धारण किये रक्खा । क्या हम एक घंटे भी एक सेरका पत्थर भी अँगुलीपर रखकर खड़े रह सकते हैं ? कलालके घरकी शराब और सुनारके यहाँ ढलाईघरका तप्त गला हुआ शीशा शंकराचार्यजी पी सकते हैं पर क्या सभी पी सकते हैं ? इसीलिये भगवान्‌के आचरणोंका अनुकरण नहीं, उनके आज्ञानुसार व्यवहार करना चाहिये । तैत्तिरीय उपनिषद्‌में आया है । भलीभाँति वेदाध्ययन सम्पन्न करानेके बाद आचार्य अपने विद्यार्थियोंको शिक्षा देकर कहते हैं—

'यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि'

'हमारे आचरणोंमें भी जो-जो अच्छे आचरण हैं, तुमको उन्हींका सेवन करना चाहिये। दूसरोंका कभी नहीं।' अतः गोपियोंकी नकल कभी नहीं करनी चाहिये। विशुद्ध प्रेमके नामपर मोहवश कभी भी अपनी वासनाको पूरी करनेका प्रयास नहीं करना चाहिये। असलमें साधकको तो विषयीसे उलटे चलना है। श्रीचैतन्य महाप्रभु बड़े ही सुन्दर सुकोमल-वदन थे। पर जब संन्यास ले लिया तो उन्होंने कठोर नियमोंका पालन किया और करवाया। श्रीचैतन्य महाप्रभु बड़े रसिक भी थे। जयदेवजीका गीत-गोविन्द सुना करते थे, पर साथ बड़े ही संयमी थे। श्रीरूप-सनातन आदि रसशास्त्रके महान् ज्ञाता थे। उन्होंने इसपर अनोखे ग्रन्थ लिखे हैं, पर साथ ही वे महान् विलक्षण त्यागी और विरक्त थे। अतएव इनसे हमें संयमकी शिक्षा लेनी चाहिये तथा संयमकी बात अपनानी चाहिये। चैतन्य महाप्रभुने अपने शिक्षाष्टकमें बताया है कि भगवान्के कीर्तनका कौन अधिकारी है? जो राहमें पड़े हुए तिनकेसे भी अपनेको नीचा मानता हो, जो वृक्षसे भी अधिक सहनशील हो और जो मान न चाहकर दूसरोंको मान देता हो, उसीके द्वारा भगवान्का कीर्तन होता है और उसीको भगवान् मिलते हैं।

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

प्रेमके पवित्र क्षेत्रमें इन्द्रिय-भोगको स्थान नहीं है। भाव-जगत्में भोगको स्थान है, पर उसी पवित्र भोगको जो **'तत्सुखसुखित्वम्'से** अनुप्राणित हो। गोपियोंके जीवनमें भोग है पर वह केवल प्रेमास्पद श्रीकृष्णके लिये है। वहाँ रागका एकमात्र विषय हैं श्रीकृष्ण। वहाँपर अनन्य अनुराग है। इतर रागके लिये स्थान नहीं। गोपियोंमें स्वाभाविक ही विषय-वैराग्य है। भगवान्के चरणानुरागमें सभी आसक्तियोंका अभाव हो गया है। साधकके लिये विशेष सावधानीकी आवश्यकता है।

साधकको जहाँ उसका साधन भारी माळूम होता है, उसमें मन ऊबता है, मनको बल लगाना पड़ता है और जो साधन सुखमय नहीं लगता, वह जबरदस्तीका साधन बहुत दिनों तक टिकता नहीं। जिस साधनमें हर्ष होता है, सहज प्रसन्नता होती है, मनमें उमंग रहती है, उसीसे लाभ होता है। अन्यथा तमोगुण आ सकता है। फिर भी अच्छा काम जबरदस्ती किया जाय तो वह भी उत्तम ही है। पर मनसे हो, चावसे हो तो बहुत उत्तम। थोड़ा करे, पर उत्साहके साथ करे। सात्त्विक उत्साहसे किया गया साधन अधिक लाभकारी होता है।

भाव-जगत्के सम्बन्धमें आज संकेतसे कुछ कहा गया है। यह परम रहस्य है। व्रजकी गोपियोंकी रासलीला भाव-जगत्की लीला है। भागवतमें स्पष्ट लिखा है—

मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्
स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥
(१०।३३।३८)

गोपियाँ गयीं, पर गयीं नहीं। सब गोपोंने स्पष्ट देखा कि उनकी पत्नियाँ उनके पास घरमें सो रही हैं। वे गयीं ही नहीं। गोपियोंका पाञ्चभौतिक शरीर घरपर ही रहा। रासमें गोपियोंका पवित्र चिन्मय नित्य सत्य भाव-वपु गया था। रास भावमयी गोपियोंकी भावमयी लीला है, पूर्णतः भाव-जगत्की लीला है।

यह भाव-जगत् अत्यन्त ही गुह्यतम, रहस्यमय और उच्चतम साधना-लभ्य है। यह बड़ी ऊँची स्थितिकी चीज है। ऊँची-से-ऊँची साधनाकी चीज है। जहाँतक अपनी कल्पना पहुँचे, कीजिये। उतना ही सत्यका अनुभव होगा। अनन्त रसमय सत्यका अनुभव होगा। इस रसका कहीं अन्त नहीं है। नयी-नयी अनुभूतियोंकी उपलब्धि होगी। **'प्रतिक्षणवर्धमानम्'** यह रस प्रतिक्षण वर्धमान है। भाव-जगत्में आनन्द-ही-आनन्द है, सुख-ही-सुख है, रस-

ही-रस है। भगवान् ही रस हैं—'**रसो वै सः**' और कहीं रस है नहीं। रसके नामपर सब ओर अरस (रसहीनता) है, कुरस (कुत्सित रस) है और विरस (विपरीत रस) है। हम रस मान लेते हैं, रसके बदले आग पी लेते हैं और जलते रहते हैं। रसकी शीतलताके बदले जलन मिलती है। जहाँ रस है वहाँ भगवान् हैं और जहाँ भगवान् हैं वहीं रस है। भाव-जगत्में रस-ही-रस है। यह भाव-जगत् न पाञ्चभौतिक है, न मानसिक है, न काल्पनिक है, न औपचारिक है, न नाटकीय है, न केवल चिदानन्द द्वैतमय है और इसे कामविलास मानना तो केवल पाप तथा पूर्ण भ्रम है। यह प्रेममय भगवान्का रस वितरण है। यह पवित्र रसार्णव है, जिसका अवतार केवल व्रजमें ही हुआ और व्रजकी गोपियोंमें ही हुआ—

'**यथा व्रजगोपिकानाम्**'

साधनाका फल

(लेखक—श्रीरामपुनीतजी श्रीवास्तव, एम्० ए०)

उसे क्या पता कि कामकी पूर्ति निष्कामतामें भी निहित है। प्रियतम-प्राप्तिके लिये उसने कम प्रयत्न नहीं किये, पर प्रियतमके निकट वह पहुँच नहीं पाया। बाहरी साधनोंसे निराश होकर अन्तमें वह भीतरी साधनाकी ओर प्रवृत्त हुआ। व्रत-अनुष्ठान, जप-आराधनामें उसकी साधना निरत हो गयी। दिन बीतते गये, साधनाका रूप सूक्ष्म होता गया। मनकी दुनिया एक केन्द्रमें सिमट गयी। प्रेमदेवका आसन हिला। देवतामें भी इतना साहस कहाँ कि वह साधनाकी निरन्तर अवज्ञा कर सके। साधकके तपसे आकर्षित होकर प्रेमदेवताको आना पड़ा। साधकको देखकर देवता द्रवित हुए और देवताके दर्शनसे साधक धन्य हुआ। देवताने पूछा—'साधक ! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। बोलो, क्या चाहते हो ?'

साधक अनुगृहीत होकर बोला—'देवता! तुम मेरी इच्छाको जानते हो। उसीके लिये तो मैं एक युगसे तप कर रहा हूँ।'

देवता मुस्कराये और बोले—'तो तुम अपने रूठे हुए प्रियतमको चाहते हो न ? तुम्हें तुम्हारा प्रियतम मिलेगा और वह तुम्हारे संकेतपर नाचेगा।'

साधक प्रसन्न हो उठा। उसका मस्तक देवताके चरणोंपर झुक गया। देवता वरदान देकर चले गये और साधकको उसका प्रियतम मिल गया।

× × ×

प्रियतम तो मिल गया, परंतु साधना एक कोनेमें बैठ गयी। फिर प्रेमी और प्रियतम, प्रियतम और प्रेमी एक दूसरेमें इतने भूले कि उन्हें वह साधना भी भूल गयी, जिसके कारण उन्हें प्रेमका वरदान मिल पाया था। प्रणयकी नित्य नयी मदिरामें सारा उत्ताप खो गया। इसके प्रवाहमें सुख डूबने-उतराने लगा, दुःख छटपटाने लगा। आनन्द सीमापर पहुँचकर एकरस बन जाता है और एकरसता जीवनका धर्म नहीं है।

नित्यकी एकरसतासे जीवन घबराने लगा। उसकी घबराहट देखकर प्रेमी सजग—सचेत हो उठा। सोचा कि यह अशान्ति और अतृप्ति कहाँसे आ गयी ? मदिराके माधुर्यमें यह कटुता कैसे मिल गयी ? प्रियतम तो मिल गया, पर यह चिन्ता और अधीरता क्यों ? प्रियतम वही है, पर वैसा आनन्द अब कहाँ है ? इस आनन्दमें ग्लानि और क्षोभ कैसे समा गये ? प्रेमी परेशान हो गया। प्रियतमसे पूछ बैठा—'प्रियतम ! क्या तुम बदल

गये ? तुम्हारा आनन्द बदल गया ? पहले-जैसे तुम क्यों नहीं प्रतीत होते ?'

प्रियतम बोला—'मेरे प्रेमी ! तुम भी तो बदल गये हो ? क्या तुम्हारा प्यार-दुलार संकुचित नहीं हो गया ?'

प्रेमी और प्रियतम, प्रियतम और प्रेमी एक दूसरेसे दूर होते गये और साधना निकट आती गयी। प्रेमीने पुनः साधनाका हाथ पकड़ा और चल पड़ा उसी पुराने मार्गपर। दूसरा कौन उपाय वह करता ? साधना बढ़ती गयी और लक्ष्य निकट आता गया। प्रेमदेव व्याकुल हुए, विवश हुए। उन्हें पुनः साधकके समक्ष उपस्थित होना पड़ा। बोले—'साधक ! अब यह साधना किसलिये ? तुम तो अपनी इष्ट वस्तु पा चुके हो न ?'

प्रेमी देवताके चरणोंको चूमता हुआ दीन होकर बोला—'देव ! तुम्हारे वरदानका सुख अमर क्यो नहीं हो सका ? क्या जीवनका सुख—हृदयका प्यार एक ही स्थानपर सीमित नहीं रह सकता ?'

'तुमने ठीक ही सोचा है साधक ! जीवनका रस एक ही जगह संचित करते रहनेसे वह स्थान स्वस्थ और स्वच्छ नहीं रह पाता और रसमें भी खटास और मालिन्य आने लगता है।'

'तो मैं अब क्या करूँ देव ! मुझे अब कोई इच्छा ही नहीं होती। अब तो केवल तुमको—बस, तुमको चाहता हूँ। तुम रहो और तुम्हारी साधना रहे।' 'आनन्द मिले जग-जीवनका, तुम रहो साधना बनी रहे।'

प्रेमीने प्रेमदेवके चरणोंको भुजाओंमें कस लिया। देवता उसके सिरपर हाथ फेरने लगे।

रामचरितमानसमें वर्णित शिव

(लेखक—श्री वा० विष्णुदयालजी, मारीशस)

हम बाल्यावस्थासे ही वृद्धोंके मुखसे सुनते आते हैं—

'होइहि सोइ जो राम रचि राखा।'

बड़े होकर हम रामचरितमानसका अध्ययन करने लगते हैं और तब यह जानकर हमारे आनन्दका पार नहीं रहता कि हमारे श्रद्धेय वयोवृद्ध लोग भगवान् शिवजीके शब्द दोहराते आये हैं और हम उनके मुखसे शिववाणी सुनते रहे हैं।

बालकाण्डमें भक्तवर तुलसीदासजी शिवजीके प्रायः ये सब नाम देते हैं—चंद्रसेखर, संकर, महादेव, उमापति, त्रिनेत्र आदि। हमें शिवजीसे परिचित करानेके उद्देश्यसे ही उनकी वाणी तथा उनके नामोंका उल्लेख किया जाता है।

रामचरितमानसके अन्तर्गत जो शिवचरित पाया जाता है, वह लघु होनेपर भी हमें सुख-दुःखकी समस्यापर ध्यान देनेको प्रेरित करता है। इस दृष्टिसे रामचरितमानसकी आवश्यकतापर पाठकका ध्यान सहसा खिंच जाता है। नास्तिक और आस्तिक—दोनों ही दुःखोंसे सताये जाते हैं। दुःखोंसे छुटकारा पाने और सुख प्राप्त करनेके उपाय कौन नहीं ढूँढ़ा करता ? परंतु हम जान नहीं पाते कि वस्तुतः मङ्गल किस चीजमें है और अमङ्गल किसमें; यथार्थमें दुःख क्या है और सुख क्या है ?

गीताने हमारे नेत्र खोले हैं जब यह स्पष्ट किया है कि आरम्भमें जो विषके समान है और अन्तमें अमृतके सदृश है वह (सात्त्विक सुख) वास्तव सुख है—और आरम्भमें जो अमृत-सा लगता है पर परिणाममें विषका काम देता है, वह (राजस सुख) सुख नहीं है।

मदिरापान कइयोंके लिये सुखद है, किंतु अन्तमें वह नाश लाता है। इसके विपरीत पाठशाला जाना पहले विष-सा लगता है और अन्तमें सुखद होता है।

गोस्वामीजी शिवजीके बारेमें कहते हैं कि ये अमङ्गल वेषधारी हैं—

जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष।
अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख॥

हम कपड़ोंपर हर मास धनका व्यय करते हैं; क्योंकि पोशाक हमारे देखनेमें सभ्यताका चिह्न है। शिवजी तो नंगे रहते हैं, वे दिगम्बर हैं। इनके अमङ्गल वेषके लक्षण हैं भस्म, मृगचर्म, कपाल आदि। ये श्मशानभूमिके मध्य अवस्थित हैं। सब लोग अमृतपानके इच्छुक हैं पर हमारे ये भोलेबाबा प्रसन्नतासे विष-पान किया करते हैं।

यहाँ शिवजीका सच्चा स्वरूप दीख पड़ता है। यह विश्व एक विशाल श्मशानभूमि है। इसमें कोई भी ऐसा स्थल है ही नहीं, जहाँ किसी-न-किसीकी मृत्यु न हुई हो। जंगलमें जैसे ऋषियोंका देहावसान होता है, ठीक वैसे ही राजाओंका देहान्त उनके प्रासादोंमें होता है।

यदि श्मशानभूमिसे हमें भय है तो हम विश्वमें रहनेके योग्य नहीं हैं। शिवजी हमें अभयदान देते हैं। ज्यों ही वे इस भूमिके मध्य आकर आसन जमाते हैं, त्यों ही यह नन्दनवनमें परिणत हो जाती है। जो अभयदान दिया करते हैं वे सचमुच शिव हैं, कल्याणकारी हैं।

दुःख संसारमें है, परंतु उसका हरण किया जा सकता है। शिवजी मृगचर्मसे अपना तन ढकते हैं, उस चर्मसे जो चितकबरा है, चर्मके दाग नन्हें-नन्हें तारे हैं, जो रात्रिके अन्धकारको मिटाकर छोड़ते हैं। जर्मन तत्त्वज्ञानी कांटके जीवनमें नया मोड़ तब आ[या] था, जब एक बार उन्होंने ध्यानसे तारे देखे थे।

शिवजी हमारी आँखें खोलते हैं, हमें बताते हैं; अन्धेरा है तो सही, किंतु उसे नष्ट करनेका उपाय भी तो है। उपनिषद्में बताया गया है कि अन्धेरे, अस[त्] और मृत्युमें साम्य है। बृहदारण्यकोपनिषद्में आया है—

असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति।

शिवजीकी शरणमें हम आये कि असत्, अन्धेरे और मृत्युसे हटकर हम सत्, प्रकाश और अमृतकी ओर आ सकते हैं।

श्रीगोसाईंजीने क्या ही ठीक लिखा है—

सुर नर मुनि सब नावत सीसा।

'शिव' पवित्र नाम लेते ही हम नतमस्तक हो जाते हैं; नमः, नमः कहने लग जाते हैं—

ॐ नमः शंभवाय च मयोभवाय च।
नमः शंकराय च मयस्कराय च।
नमः शिवाय च शिवतराय च॥
(यजु० १६। ४१)

उक्त वेदमन्त्रकी एक बार कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने व्याख्या की थी। उन्होंने लिखा था। मन्त्रमें कहा गया है—

'सुखकरको नमस्कार करता हूँ, कल्याणकरको नमस्कार करता हूँ।' लेकिन हम सुखकरको ही नमस्कार करते हैं, कल्याणकरको सदा-सर्वदा नमस्कार नहीं कर पाते; क्योंकि कल्याणकर सिर्फ सुखकर नहीं, वह दुःखकर भी है।

वे मानो शिवचरितपर प्रकाश डाल रहे थे। सुख दुःखके बाद आता है। यदि दुःख सहनेके लिये कोई तैयार हो तो उसे सुख प्राप्त होगा। जो दिनभर डटकर

काम करता है, उसे भूख खूब लगती है, वह खूब खाता है, स्वस्थ रहता है। परिश्रमी सदा सुखी रहता है। आलसी परिणाममें दुःख देखता है।

रामचरितमानस एक सागर है, एक छोटेसे लेखमें उन सब स्थलोंका उल्लेख कदापि हो नहीं सकता, जहाँ-जहाँपर इस महद्ग्रन्थमें शिवजीकी चर्चाका विषय है। इतना ही स्मरण करें कि शिवजीके चरितके साथ-साथ पार्वतीजीका चरित देकर ग्रन्थकारने हमारे सामने संसारका सच्चा चित्र उपस्थित किया है। लोग पार्वतीजीका ध्यान शिवजीसे उचाटनेमें प्रयत्नशील थे और वे विफल हुए। इसी भाँति असंख्य नर ईश्वरसे विमुख होकर हमें भी उनसे विमुख होनेको दिन-रात कहते हैं। हम दृढ़ रहेंगे तो हमारा कल्याण होगा।

हमें इस कलियुगमें पार्वतीका रुख अपनाना होगा। अपनेको ही दोष देकर पार्वतीजी कहती हैं—

सत्य कहहु गिरिभव तनु एहा।
हठ न छूट छूटै बरु देहा॥

यह मेरा शरीर पर्वतसे पैदा हुआ है, मैं जड हूँ—

दुनियाकी दृष्टिमें जो धृष्टता है, वह वास्तवमें दृढता है।

दुनियाकी चालका ख्याल करके शिवजीको निम्न शब्दोंमें चित्रित किया गया है—

अगुन अमान मातुपितुहीना।
उदासीन सब संसय छीना॥

जहाँ दुनियाके देखनेमें वे गुणोंसे रहित हैं, वहाँ वस्तुतः वे तीन गुणोंसे परे हैं। अहंकाररहित, स्वयं सबके माता-पिता होनेसे अनादि, समदर्शी, सब संदेहोंके दूर करनेवाले शिव पूज्य हैं, न कि त्याज्य या निन्दनीय। और तो और पार्वतीजीकी माततक शिवजीसे, रहस्योद्घाटनसे पूर्व, विमुख हो गयी थीं। वे नारद मुनिको कोसने लगी थीं।

ऐसा क्यों न होता? शिवजी एक स्वच्छ दर्पण हैं। मुखके सामने दर्पण हो तो हम अपना ही चेहरा देख पाते हैं। चेहरा सुन्दर नहीं है। अतः हम घबरा उठते हैं। हम इस दुनियाको उसके असली रूपमें देखना पसंद नहीं करते।

उनकी बरातमें विचित्र लोगोंको देखकर—

बालक सब लै जीव पराने।

—भयत्रस्त बालकोंने कहा, 'बावला दूल्ह है, बैलपर सवार है, साँपों और कपालोंके गहने पहने है, नंग-धड़ंग हैं, सङ्गमें भयंकर मुखवाले हैं।'

तुलसीदासजीने क्या ही ठीक लिखा है—

जस दूलह तसि बनी बराता।

जब भेद खुला तब विदित हुआ कि शिवजी परम कल्याणरूप हैं—

रामचरितमानसमें शिवजीकी एक-एक चेष्टा, उनके अनेक नाम तथा उनकी संगिनी पार्वतीजीपर प्रचुर मात्रामें प्रकाश डाला गया है। इस बातको ध्यानमें रखकर तुलसीदासजीकी इस कृतिको पढ़ा जाय तो पाठकको विशेष लाभ हो सकता है।

पराजय

[लघु कथा]

(लेखक—पं० श्रीविष्णुदत्तजी द्विवेदी)

भारतके तपस्वियोंकी विलक्षणता सुनकर सिकंदरने दस प्रसिद्ध साधुओंको पकड़वा बुलाया। दसों तपस्वी निर्वसन थे। सिकंदरने एककी ओर मुख करके कहा—'इन नौ साधुओंसे मैं एक-एक प्रश्न करूँगा। सबसे अच्छा उत्तर देनेवालेको सर्वप्रथम और उसके बाद अच्छाईके क्रमसे शेष सबको मार डाला जायगा। उत्तरका श्रेष्ठता-क्रम तुम्हें बताना है।'

निर्णायक साधु अलग बैठ गया। शेष एक-एक कर सिकंदरके समक्ष प्रस्तुत हुए।'

पहले साधुसे सिकंदरने प्रश्न किया,—'जीवित मनुष्योंकी संख्या अधिक है या मृतकी?'

'जीवितकी' साधुने उत्तर दिया। कारण यह कि 'मृत्यु होनेके बाद तो वे रहते ही नहीं।'

सिकंदरने दूसरेसे पूछा,—'समुद्रमें अधिक जीव हैं या पृथ्वीपर?' साधुका उत्तर था—'पृथ्वीपर; क्योंकि समुद्र पृथ्वीका ही एक भाग है।' सिकंदरका प्रश्न तीसरे साधुसे था—'जानवरोंमें सबसे बुद्धिमान् कौन है?' उत्तर मिला—'वह जो मनुष्यके लिये अवतक अज्ञात है।'

सिकंदरने चौथे साधुसे पूछा—'तुमने अपने राजा शम्भुको विद्रोहके लिये क्यों प्रेरित किया?'

'इसलिये कि जीना या मरना इज्जतके साथ चाहिये।' उत्तर मिला। उसने पाँचवें साधुसे पूछा,—'पहले दिन बना या रात?'

'दिन रातसे एक दिन पहले?'

सिकंदरने खीझकर कहा—'क्या मतलब?'

साधुका निर्भीक उत्तर था, 'जैसा प्रश्न, वैसा उत्तर।'

सिकंदर हतप्रभ हो रहा था। उसने छठे साधुसे पूछा—'मनुष्य किस प्रकार दुनियाका प्यारा हो सकता है?'

उत्तर मिला—'शक्ति और प्रजाके स्नेहसे।'

उसने सातवें साधुसे पूछा—'मनुष्य देवता कैसे बन सकता है?'

साधुने उत्तर दिया—'अमनुजकर्मा होकर।'

'जीवन और मृत्यु दोनोंमें—अधिक बलवान् कौन है?'

साधु बोला—'जीवन; क्योंकि वह भयानकसे भयानक कष्ट सहन कर सकता है।'

सिकंदरने नवेंसे पूछा—'कबतक जीवन इज्जतसे जीना है?'

'जबतक मनुष्य यह न सोचने लग जाय कि अब जीनेसे अच्छा मर जाना है।'

अब सिकंदरने निर्णायक साधुसे निर्णय माँगा।

वह साधु बोला—'उत्तर एक-से-एक बढ़कर है।'

सिकंदर किसीको न मार पाया। वह जीतकर भी हार गया था।
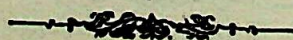
आत्मविश्लेषण और बुद्धियोग

(लेखक—डा० श्रीमुंशीरामजी शर्मा 'सोम')

नाथ ! तुमसे और तुम्हारोंसे कितनी दूर होता जा रहा हूँ कहाँसे कहाँ, कितना समीप और कितना पृथक् । इसपर ध्यान जाते ही विकल हो उठता हूँ । यह कैसे हुआ ? तुम्हारे भय-भञ्जन सामीप्यसे कितना सुख और कितनी शान्ति, कितनी निश्चिन्तता और कितना प्रकाश मिलता था । आज तुमसे दूर होकर शंका, संशय, भ्रम, अज्ञान, चिन्ता, भय आदिके घेरेमें घिर गया हूँ । घोर अशान्ति छायी हुई है । यह कैसे दूर होगी ?

देव ! संत संकेत कर गये हैं—'जाको प्रभु दारुन दुख देहीं । ताकी मति पहिले हरि लेहीं ।' बुद्धिका यह विभ्रम, तो क्या तुमने किया है ? और यह कष्ट भी क्या तुम्हारी ओरसे ही आ रहा है ? पर यह क्या ? कष्टका और तुम्हारा क्या सम्बन्ध ? तुम तो आनन्द-रूप हो, तुम्हारे पास कष्ट ठहर ही नहीं सकता । जो तुम्हारे समीप होगा, वह कष्ट नहीं होगा आनन्द ही होगा । सम्भव है जिसे हम कष्ट कहते हैं, वह अपनी परिभाषा बदलकर आनन्दरूपमें ही तुम्हारे समीप निवास करता हो ।

हाँ, यही जान पड़ता है । तुम्हारे उपासकोंके समीप भी तो वे कष्ट रहते हैं, जिन्हें हम कष्ट समझा करते हैं । पर उन्हें वे कष्ट नहीं जान पड़ते । हम समझते हैं, नग्न रहना, पादत्राणका अभाव, रूखा-सूखा खाना, घरबार-विहीनता, बच्चोंके मनोविनोदी वातावरण-की शून्यता, धनराहित्य, निन्दा आदि क्लेशके जनक हैं । पर संत तो इन सभी क्लेशोंको सुखसे अपनाते देखे गये हैं । तो क्या उन्हें ये क्लेश क्लेश नहीं देते ? कदाचित् नहीं देते ? देते तो वे कहते और अनुभव करते ।

यह कैसे ? क्लेश क्लेश न हो ? क्लेश शारीरिक हैं, मानसिक भी हैं—क्या संतोंका शरीर और मन हम सामान्य क्लेशसे विचलित हो जानेवाले मानवोंके शरीर और मनसे भिन्न है ? कोई हमें अपशब्द कहता है, तो हमारा रोम-रोम भन्ना उठता है । एक दिन रोटी न मिले तो भूख व्याकुल कर देती है । बुद्धि निर्णय न ले सके और संशय बना रहे तो बड़ी खीझ, बड़ी तड़पन होती है । क्या यह जलन संतोंके संवेदनमें प्रवेश नहीं कर पाती ?

हाँ, हो सकता है । सम्भव है, ऐसा ही हो । यदि मनको कहीं टिका देनेपर शरीरका भान न रह सके, तो क्लेशकी क्लेशकर्ताका भी भान नहीं होता । मन जहाँ रम गया, वहींकी अनुभूति अपने साथ रखता है । विद्यार्थी परीक्षाभवनमें परीक्षा दे रहा है । उसका मन प्रश्नकी गुत्थीको सुलझाने और लिखनेमें है । न उसे भूख लगती है न प्यास । शरीरके अन्य व्यापार भी उस समय रुक जाते हैं । सड़कसे बाजे बजते निकल जाते, पर मन एक विषयमें रम रहा है, उसे अन्य विषय—बाजोंका बजना कैसे आकर्षित कर सकता है ? जब सुखप्रद वस्तु नहीं खींच सकती, तो दुःख-प्रद वस्तु भी प्रभावित नहीं कर सकेगी ।

संत तुम्हारे समीप रहते हैं । यदि दुःख-सुख उनके निकट रहते हुए भी उन्हें प्रभावित नहीं कर सकते, तो तुम्हें क्यों करेंगे ? तो क्या तुम्हारा अस्तित्व दुःख-सुखमय होता हुआ भी उससे पृथक् है ? हाँ, ऐसा ही है । अन्तर एक ही प्रतीत होता है अभिभूति-का । दुःखने मुझे अभिभूत कर रक्खा है, दबा लिया है । अभिभावी होनेके कारण वह मुझे क्लेश दे रहा है या दुःखदायक जान पड़ता है । यदि मैं उसे अभिभूत कर लूँ, मैं उसके ऊपर सवार हो जाऊँ, तो वह मुझसे दबकर मेरे लिये क्लेशकारक नहीं रहेगा, दुःख-सुख सब आपके पैरोंके नीचे पड़े हैं अतः आपके अनुचर हैं । आपके वशवर्ती आपपर अपना प्रभाव

क्या डाल सकेंगे ? आप दुःख-सुख क्या, सर्वाभिभावी हैं, सर्ववशी हैं, स्वभावतः सबको वशमें रखनेवाले हैं । इसीमें आपकी आनन्दरूपता है ।

संतोंको आपका यह रूप कैसे प्राप्त होता है ? कहते हैं, वे अपनी बुद्धिका योग आपके साथ कर देते हैं । बुद्धियोगमें आप उन्हें प्राप्त हो जाते हैं । पर यह योग कैसा होता है ? अपनी बुद्धिको वे आपके साथ कैसे जोड़ते हैं ? बुद्धि निर्णयात्मिका है । यह अपना निर्णय छोड़कर आपके निर्णयको स्वीकार करने लगे, बुद्धिका स्व निकालकर सर्वके साथ संयुक्त हो जाय—'जा विधि राखै राम ताही विधि रहिये' अपना नहीं, उसने जो निर्णय कर दिया है वही शिरोधार्य है, वही सर्वोपरि है—चलते चलो, जो कुछ मार्गमें आ जाय और मार्गमें सब कुछ उसके विधानसे ही आ रहा है, उसे देखते, भोगते चले चलो, अपनी नमक-मिर्च मत मिलाओ । बुद्धियोगका एक साधन तो यही है, कदाचित् यह सर्वश्रेष्ठ साधन भी हो ।

एक और साधन है जो बुद्धियोगको सहायता पहुँचाता है । प्रभुके गुण-कर्म-स्वभावोंका मनन, चिन्तन, अनुशीलन । यह ज्ञान-विज्ञानकी अपेक्षा रखता है । ब्रह्माण्डकी गतिविधियोंका अध्ययन, अपने शरीरका अध्ययन, बाह्यकरणों तथा अन्तःकरणोंपर विचार, आत्म-चिन्तन । यह पथ भी दुरूह है—पर है उपयुक्त पथ । सूर्य न जाने कबका हमारा साथी है । चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत्, वायु, पावक, जल और यह विश्वम्भरा पृथ्वी माता हमें कबसे सहायता पहुँचा रहे हैं । इस अनन्त आकाशमें इनका भ्रमण निश्चित कक्षामें निश्चित गतिके साथ कितने आश्चर्यजनक रूपमें हो रहा है । इसके पीछे किसका हाथ है ? कौन इसके संतुलनको सँभाले हुए है ? और कबसे सँभाले हुए है ? यह शरीर भी तो इसीका एक भाग है । इसके कान, नेत्र, नासिका, मुख, दन्त, जिह्वा, कण्ठ, आमाशय, नाड़ी-जाल, प्राण-का कार्य, बाहु, अंगुलियाँ, नख और पैर उ[illegible] अवयव—सब अद्भुत—अत्यन्त विचित्र हैं । कौ[illegible] इस सबका विधाता ? कौन है इस सबका संचाल[illegible] किसकी प्रेरणामें, किसकी देख-रेखमें यह सब हो [illegible] है ? कोई तो है ही, जो है, वह न दिखायी [illegible] अनुभूतिमें तो आ रहा है—बस, उसीका पल्ला पकड़े[illegible] ब्रह्माण्ड और शरीरपर विचार करते हुए उसीके [illegible] दानों, ऐश्वर्योंका भावन, निरन्तर उसीके संरक्षण[illegible] संकल्पन उसके साथ हमारा बुद्धियोग करा देगा ।

एक और मार्ग है—भक्ति-भावना और विचार[illegible] पृथक् अनासक्तमयी कर्मप्रणालीका मार्ग । कर्मको क[illegible] समझकर करना, उसकी फलाकाङ्क्षासे रहित हो[illegible] अनासक्त रूपसे कर्ममें जुटे रहना । फल-दान तो [illegible] भी प्रभुके ही हाथमें है । महत्ता, तेज, बल, [illegible] शरीर-सम्पदा आदिका वितरण कर्मफलके रूपमें वही [illegible] रहा है । जब वह कर ही रहा है तो तू क्यों चि[illegible] करे ? फलदान उसका काम है वह जाने । तुझे [illegible] पड़ी है । तू यह समझ ले कि निष्काम कर्म तथा क[illegible] अनासक्ति, मानो उस प्रभुकी ही सेवा है । कर्मविचिकि[illegible] आनेपर वही परम देव बुद्धिको प्रकाशित भी कर देता है ।

देवोंकी दक्षिणाके लिये मैं उस दाताका प्रिय [illegible] जाऊँ । वह देवोंको सब कुछ दे रहा है, अ[illegible] प्रिय-से-प्रिय वस्तु दे रहा है । मैं भी उसका प्रिय [illegible] जाऊँ, जिससे वह मुझे भी दक्षिणामें देवोंको दे दे[illegible] त्वावतो अवितुः शूर रातौ—मैं भी उसके दानका [illegible] अङ्ग बन जाऊँ । वह अविता है, रक्षक है । उसी[illegible] बनना, उसके प्रियत्वको प्राप्त करना संरक्षणका अ[illegible] साधन है । प्रभु मुझको प्यार करें, मैं प्रभुको [illegible] करूँ । प्रभु मुझे प्रिय लगें, प्रभुको मैं प्रिय लगूँ । मुझमें रहें, मैं उनमें रहूँ । वे मेरे हैं, मैं उनका हूँ । इस प्रकारकी मनोवृत्ति और उससे प्रेरित आचरणशील[illegible] प्रभुके साथ सद्यः बुद्धियोग करा देती है ।

एक ओर साधन है—बुद्धिद्वारा उसके रथके योग्य बनना—धिया स्याम रथ्यः सदासः—अपनेको उसके रथका एक लघु यन्त्र समझना। रथमें छोटे-बड़े कई यन्त्र होते हैं। सब मिलकर उस रथका निर्माण करते हैं। सबका सह-अस्तित्व रथ शब्दकी सार्थकता सिद्ध करनेवाला है। क्या मैं इस योग्य हूँ कि उसके रथका एक अङ्ग, एक यन्त्र-भाग समझा जाऊँ। क्या मैं इतना संयत हूँ कि अपने अस्तित्वको, ढाई चावलकी अलग खिचड़ी पकानेवाला न समझकर, उसके रथ-यन्त्र रूपमें समर्पित कर दूँ ?'

मेरा अपना कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागे है मोर ?

और वास्तविकता भी यही है। मेरे पास जो कुछ है सब उसीका है। मैं स्वयं उसीका हूँ। यह उसीका होकर रहे, उसीका बने, मनसा-वाचा-कर्मणा उसीके वाहनका, अभिव्यक्तिका अङ्ग बने। उसका है, अतः उसीका कार्य करे। भोजन, भाजन, भजन, भवन, विभूति सबमें उसीका दर्शन करे। अपनी बुद्धिके एक-एक निर्णयपर उसकी मुद्रा अङ्कित हुई अनुभव करे। पल-पलमें पग-पगपर अपनी गति-विधिमें, अपनी क्रिया-प्रक्रियामें अपनेको उसकी गोदमें बैठा हुआ समझे। यह पद्धति बुद्धियोगकी पद्धति है।

इन सबकी अपेक्षा भी एक सुगम पथ है—संतसेवा, प्रभुके प्यारोंसे प्रेम करना, उनका प्यारा बनना। संतोंका प्यार उनकी सेवासे सहज उपलब्ध हो जाता है। सेवा करनेमें हम झुकते हैं। इसकी ओर संतोंकी तुरंत दृष्टि जाती है। उनकी यह दृष्टि ही मानो उनका हमारी ओर झुकना है। संतोंकी दृष्टि झुकी, तो उनके हृदयमें प्रविष्ट विराजमान प्रभुकी दृष्टि भी हमारी ओर झुक ही जायगी। संतोंका आशीर्वाद प्रभुका ही आशीर्वाद है। संतोंकी प्रसन्नता प्रभुकी ही प्रसन्नता है। अतः संतोंकी सेवा अन्ततोगत्वा प्रभुकी सेवाका रूप धारण कर लेगी। सेवाका यह माध्यम प्रभुके साथ बुद्धिका योग करा देगा।

मैं संतोंके निकट पहुँचूँ। मैं प्रभुके पद-पद्मोंका सामीप्य लाभ करूँ। मैं क्यों पृथक् हूँ ? क्यों दूर जा रहा हूँ ? यह शरीर, इस शरीरमें बैठे हुए देवता, ये द्यावा-पृथ्वी सब उसकी सेवा कर रहे हैं, उसकी अर्चा-पूजामें लगे हैं। उसके यज्ञको, उसकी सहनशक्तिको, उसके यशको और उसके बलको देवोंने अपने अंदर धारण किया है। उसका आध्यायनीय परम प्रसन्न रूप देवोंमें ही नहीं, नरोंमें भी परिलक्षित होता है। देवोंका बुद्धियोग तो निरन्तर प्रभुके साथ रहता है, उनका प्रकाश प्रभुके प्रकाशके साथ मिला रहता है, झकाझक ज्योतिमें ही वे निवास करते हैं, पर नरोंमें भी तो उसकी झरती विभाकी झलक दृष्टिगोचर होती है। वह नरोंमें उत्तम है। नरत्वमें उसीका प्रभुत्व है। नर-वरमें उसीकी वरणीयता है। नरकी अग्रणीयतामें उसीकी अग्रणीयता, उसीकी नयन-शक्ति सक्रिय है। यह नरत्व और यह अस्तित्व, यह मानवता और यह दिव्यता उसी एककी गुणगरिमाके निदर्शन हैं, उसीके प्रकाशक हैं, उसीके स्तोता हैं, उसीके गायक हैं। मैं भी इनका एक अङ्ग हूँ—फिर दूरी कहाँ, भिन्नता कहाँ, पार्थक्य कहाँ ?

तो क्यों भटक रहा है ? क्यों बिलख रहा है ? चल उसकी ओर, बाहरसे भी, भीतरसे भी, संतोंकी सेवा करता हुआ, निष्काम कर्ममें लीन, उसके गुण-कर्मों तथा स्वभावका चिन्तन करता हुआ, उन्हें आचरणमें उतारता हुआ, भक्ति-गद्गद हृदयसे उसके चरणोंमें झुकता हुआ—चला चल। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, किसी-न-किसी दिन, किसी-न-किसी क्षणमें ते प्राप्त हो ही जायँगे !

कृतिकी सद्गति

(रचयिता—डॉ० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र)

(१)

निर्धन हो या लखपती असल कंगाल वही
जो व्यग्र अभावों की पीड़ा में रहता है।
प्राकृत अभाव मिट जाते हैं प्राकृत श्रम से
जग क्यों संस्कृत अभाव रच उसमें दहता है ?

(२)

कृत्रिम संस्कृति के आडम्बर में सुख भी हो
पर वह विलास है, तृप्ति नहीं जिसने सीखी।
कुछ लोग कुछ दिनों, कलाकन्द चाहे चख लें
संतुष्टि दाल रोटी ही में जगको दीखी॥

(३)

तन है तो होंगे रोग, न पर न्योतो उनको
आ जायें तो हिम्मत से उनको दूर करो।
समझो कि निरुजता ही है प्राकृत नियम सदा
दम को बेदम होने को मत मजबूर करो॥

(४)

माना कि विषमताएँ दुनिया को घेरे हैं
उस घेरे को भी घेर धैर्य से बढ़े चलो।
उल्लास भरा है तो मंज़िल तय ही होगी
मंज़िल को भी सोपान बनाकर चढ़े चलो॥

(५)

निश्चय समझो जो कभी तुम्हारा बाधक था
वह देख तुम्हारा तेज स्वयं साधक होगा।
तुम अपने आदर्शों के आराधक हो लो
पथ स्वयं तुम्हारे पद का आराधक होगा॥

(६)

तुम हो अकाल, तन काल-कवल है, सही बात
पर, काल अकाल पहुँच आये यह तो न करो।
तन जला रहे क्यों चिन्ताओं की भट्ठी में
बेमौत मौत के पहिले ही तो यों न मरो॥

(७)

किसको न बुढ़ापा आता है इस जीवन में,
पर वह क्या, जिसकी यौवन में झुक जाय कमर।
जो होना है जब होगा तब होगा, लेकिन
पहिले ही ध्वस्त हुए क्यों अनहोने भय पर ?

(८)

सच है हर मानव के पीछे है पेट लगा
पर उसकी सीमा तो बीते भर है केवल
फिर लाद रहे हो भार पीठ पर क्यों इतना
जो पेट पकड़ कर तुम्हें रुदन हित करे विकल

(९)

श्रम की महिमा है खूब, पसीना यमुना है
पर उस यमुना का इष्ट शान्ति की गंगा है
जिस मन के स्थल में शान्ति और श्रम का संगम
वह ही प्रयाग-सा पावन, मोहक, चंगा है

(१०)

वह कृपा वृथा, जो क्रिया-प्रेरणा दे न हो
वह क्रिया वृथा, जिसमें न शान्ति के तत्त्व रहे
तड़पाने को हैं यहाँ विषम परिवेश बहुत
रम जाने को है इष्ट कि समता-सत्त्व रहे

(११)

विषमावस्था में भी समता के सत्त्व मधुर
कर्कश तारों पर मधुर रागिनी से भावे
स्वर उन मस्तों की मस्त रागिनी के सुन लो
जो सम पर आकर कल्याणी धुन में गाते

(१२)

दुनिया के संघर्षों से लोहा लेने का
वे ध्वनियाँ तुमको सोने सा साहस देंगी
जिससे जीवन की कालिख हीरा बन चमके
उस दिव्य किरण के कोष तुम्हें बरबस देंगी

(१३)

नैतिकता से, विवेक से, जो करणीय जँचे,
वह, करो क्रिया के बिना न जीवन चक्र चला
पर जो करना है उसमें यदि मन रमा नहीं
फिर तो अपने पथ का है पुनर्विचार भला!

(१४)

दुनिया की मर्जी है, माने या मत माने
कृति की सद्गति मैंने मस्ती में मानी है
जिसमें न सरसता है, तरंग है, वह सरिता
सूखी सिकना की केवल करुण कहानी है

सदाचारका स्वरूप—वैज्ञानिक विवेचन

(लेखक—श्रीहरिहरदयालजी गुप्त एडवोकेट—भूतपूर्व अध्यक्ष दर्शन-विभाग, बरेली कालेज)

१—आजकल सदाचारके विषयमें बड़ी अराजकता फैली हुई है। परम्परागत आचार-विचारोंको दकियानूसी, आधुनिकताके प्रतिकूल तथा इस वैज्ञानिक युगके लिये, जब कि मानवने अणुविस्फोट कर लिया है और निकट भविष्यमें व्योमके नक्षत्रोंपर पहुँचनेकी तैयारी कर रहा है, नितान्त अनुपयुक्त और अव्यावहारिक समझा जाता है। हमारी पुरानी, लगभग सभी मान्यताएँ टूट रही हैं और चारों ओर नये मूल्योंकी पुकार हो रही है। आधुनिकताके नामपर हम प्रायः सभी दायित्वोंसे मुक्त होना चाहते हैं। यहाँतक कि प्रत्येक आधुनिक शिक्षाप्राप्त व्यक्ति आचार-विचारका मानदण्ड स्वयं ही बना लेना अपना अधिकार समझता है। आचार-विचारकी इस अस्तव्यस्ततामें व्यक्तिगत स्वार्थ ही मानदण्ड बन गया है। इसका एक बड़ा कारण यह है कि हमारे समाजमें सदाचार-सम्बन्धी कोई नियमित शिक्षा न घरमें दी जाती है, न स्कूल-कालेज अथवा युनिवर्सिटियोंमें। एक ओर समाज शीघ्रतासे अधिकाधिक जटिल होता जा रहा है, उसमें आये दिन नये-नये सम्बन्ध, नयी आवश्यकताएँ, नयी समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। दूसरी ओर पुराने मानदण्डोंके प्रति अश्रद्धाके कारण कोई पथ-निर्देशन नहीं रह गया है। सदाचारका उपदेश और समर्थन सब करते हैं; किंतु यदि पूछा जाय कि सदाचार क्या है और क्यों है तो, कोई विरला ही कुछ सुलझा हुआ उत्तर दे सकेगा। अतः आज बुद्धिवादके युगमें इस प्रश्नका विश्लेषण नितान्त आवश्यक है।

२—सदाचार क्या है ? यह प्रश्न उठते ही उन आचारके नियमोंका ध्यान आता है, जिनके पालन करनेकी हमसे अपेक्षा की जाती है। यथा—सत्य बोलना चाहिये, चोरी नहीं करनी चाहिये, पिता-माता एवं गुरुजनोंका आदेश मानना चाहिये, स्वदेश-प्रेम होना चाहिये, दीन-दुःखियोंपर दया करनी चाहिये, दिया हुआ वचन नहीं तोड़ना चाहिये—इत्यादि; सकारात्मक-नकारात्मक कितने ही नियम समाजमें प्रचलित हैं। ऐसे ही नियमोंके समूहसे सदाचारका कलेवर बना है; पर जब हम व्यवहारके क्षेत्रमें आते हैं, तो बहुधा इन नियमोंके पालनमें परस्पर तीव्र विरोध दिखायी पड़ता है—जैसे, देश-सेवा करने और माता-पिताके आदेश अथवा कुटुम्बका पालन करनेमें; जीव-हिंसा न करने और सत्य बोलने या अपने देशके लिये लड़नेमें, किसी दीन-हीनको दयावश चोरी करने देने या पुलिसमें पकड़वा देनेमें। जब इस प्रकार कितनी ही बार प्रचलित नियमोंके बीच प्रत्यक्ष विरोध उठ खड़ा होता है, तब क्या कर्तव्य है ? यह कहा जाता है कि ऐसी स्थितिमें अधिकतर महत्त्ववाले नियमको ही बरतना चाहिये या जो अन्तःकरण कहे वह करना चाहिये। परंतु नियमोंका अधिक तथा न्यून महत्त्व कैसे निर्णय किया जाय और यदि एक ही विषयमें भिन्न-भिन्न पुरुषोंका अन्तःकरण एक दूसरेके विरुद्ध निर्णय दे, तो किसे मानना चाहिये ?

३—यह भी प्रश्न हो सकता है कि यदि इन नियमोंपर चलनेसे हमारे स्वार्थकी हानि होती है, तो हम उनको माननेके लिये क्यों बाध्य हों ? उनके अधिकारका स्रोत क्या है ? यदि कहा जाय कि यह नियम समाजने अथवा ईश्वरने बनाये हैं, तो क्या उनके आदेश दे देनेमात्रसे कोई कर्म शुभ, और कोई दूसरे अशुभ या बुरे हो जाते हैं ? क्या शुभ-अशुभका अपना स्वरूप कुछ नहीं है ? यदि उनका आदेशमात्र ही निर्णायक मान लिया जाय, तब भी नियमोंके परस्पर विरोध तथा महत्त्वकी समस्या वैसी ही बनी रहती है। साथ ही यह भी एक प्रश्न उठता है कि ईश्वर या समाजने सदाचारके नियमोंको बनाया है, तो क्यों ? हर आदेशके पीछे कोई कारण या उद्देश्य होता है। आदेश केवल आदेशके लिये नहीं दिये जाते। अतः सदाचारके नियमोंका कारण अथवा उद्देश्य क्या है ? इसका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये हमको भले और बुरेके स्वरूपका विवेचन करना पड़ेगा।

४—मनुष्य जो कुछ भी सोचता या करता है, उसके पीछे कोई प्रयोजन, एक उद्देश्य अवश्य होता है। उसी लक्ष्य या प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये वह सोचता और कर्म करता है, जैसे धनकी प्राप्ति, विद्योपार्जन या अन्न-वस्त्रका उत्पादन आदि। जो भी लक्ष्य वह सामने रखता है, उसीके अनुसार नियम बन जाते हैं, जिनसे वह अपने

कर्मोंको नियन्त्रित—शासित करता है । जो कर्म उसके लक्ष्यके साधक होते हैं वे भले हैं । कर्तव्य हो जाते हैं । इसके विपरीत जो कर्म लक्ष्यमें बाधक होते हैं, वही बुरे अकर्तव्य हो जाते हैं । इस प्रकार हर नियमके बननेका कारण किसी प्रयोजनकी प्राप्ति है । और जैसे ही हम कोई प्रयोजन अपना लेते हैं, उससे सम्बद्ध भले-बुरे कर्मोंकी सृष्टि हो जाती है । तो, सदाचारके नियमोंमें कौन-सा प्रयोजन निहित है, जो हमारे जीवनको शासित करनेका अधिकारी है ? चूँकि सदाचार हमारे जीवनके प्रत्येक क्षेत्रको नियन्त्रित करता है, उसमें जो उद्देश्य निहित है, वह किसी पक्ष-विशेषका नहीं हो सकता, वह हमारे सम्पूर्ण जीवन, वरं हमारे समग्र अस्तित्वसे सम्बन्धित होना चाहिये ।

५—अब यदि जीवनके प्रयोजनोंपर दृष्टिपात किया जाय, तो वह तीन श्रेणियोंमें बँटे दिखायी पड़ते हैं । कुछ प्रयोजन साधनमात्र हैं, वे अपने-आपमें कोई मूल्य नहीं रखते, जैसे धन-धाम इत्यादि—इनके द्वारा केवल दूसरे प्रयोजनोंकी पूर्ति होती है । यदि उन दूसरे प्रयोजनोंकी पूर्ति वे न करें, तो वे बेकार हैं । राजा मीडास जो वस्तु छूता, वह सोना बन जाती । यही वरदान उसने माँगा था । फलतः वह भूखा मर गया । इससे स्पष्ट है कि धन साधन-मात्र है, साध्य नहीं ।

६—दूसरी श्रेणीके प्रयोजन वे हैं, जो अपने-आपमें मूल्य रखते हैं तथा दूसरे प्रयोजनोंके लिये साधन भी हैं—जैसे स्वास्थ्य । स्वास्थ्यका अपना महत्त्व भी है और इसके द्वारा नाना प्रकारके दूसरे प्रयोजनोंकी सिद्धि होती है। स्वास्थ्य अपने-आपमें हमको सुख-शान्ति प्रदान करता है और दूसरे सभी प्रयोजनोंकी प्राप्तिमें नितान्त सहायक है । अतः यह साध्य और साधन दोनों है ।

७—तीसरी श्रेणीके वे प्रयोजन हैं, जो अपने-आपमें पूर्णता रखते हैं, जो किसी और प्रयोजनके लिये साधन नहीं हैं, वरं और दूसरे प्रयोजन उनके लिये साधन हैं । वे अपने स्वरूपसे ही हमको तुष्टि प्रदान करते हैं—जैसे सत्य या सौन्दर्यकी प्राप्ति हम उनके लिये ही चाहते हैं, उनसे परे किसी अन्य पदार्थके लिये नहीं ।

८—इस प्रकार मूल्यकी दृष्टिसे मानव-जीवनके प्रयोजन छोटे-बड़े महान् और महानतम होते हैं । तब यह [illegible] कि जो प्रयोजन सदाचारमें निहित है और जिसका [illegible] हमारे समग्र जीवन अथवा सम्पूर्ण अस्तित्वसे है, [illegible] महानतम होगा । उसकी सिद्धि जीवनके हरेक प्रयो[illegible] सिद्धि होगी, वह जीवनका चरम लक्ष्य होगा और [illegible] हमारा व्यक्तित्व पूर्णता प्राप्त कर लेगा । इसीको धर्मपुरु[illegible] निःश्रेयसकी प्राप्ति कहा है, जब कुछ भी और प्राप्त [illegible] नहीं रह जाता । यह महानतम प्रयोजन स्वरूपतः [illegible] साध्य है, साधन नहीं । वह स्वतः मूल्य-स्वरूप है [illegible] सब मूल्योंका निर्णायक है ।

९—इस परम लक्ष्य या निःश्रेयसका स्वरूप क्या [illegible] यह हमारे स्वरूपद्वारा ही जाना जा सकता है; क्योंकि [illegible] यह हमारे स्वभाव या स्वरूपके अनुरूप होगा, तभी [illegible] व्यक्तित्वको पूर्णता और शाश्वत तुष्टि प्रदान कर सके [illegible] और जब हम अपने स्वरूपका विश्लेषण करते हैं तो [illegible] बातें दिखलायी पड़ती हैं—(१) हमारा स्थूल [illegible] (२) उसके साथ मन, (३) मनके साथ भाव, इच्छा[illegible] शक्ति और बुद्धि, (४) शरीर अपनेमें जड है, मन[illegible] इच्छा, शक्ति और बुद्धि चैतन्य दीखते हैं और [illegible] संयोगसे ही शरीरमें चेतनता रहती है, पर मन-बुद्धि[illegible] चेतनता इनके स्वरूपगत नहीं है । आत्माकी चेत[illegible] ही इनमें चेतनता है, (५) इस चेतनाके कारण [illegible] हम व्यक्ति हैं; क्योंकि हमारी इच्छाशक्ति और [illegible] ही हमारे व्यक्तित्वका विकास करती है, उसको एक [illegible] साँचेमें ढालती है, (६) शरीर चैतन्य-शक्तियोंके आ[illegible] है, वह एक खोल या उपकरण अथवा साधनमात्र [illegible] जिसके द्वारा हम बाहरी दुनियासे अपना सम्बन्ध स्था[illegible] करते हैं, (७) स्पष्ट है कि यह चैतन्य शक्तियाँ ही [illegible] विशेषताएँ हैं, (८) पर इनको भी नियन्त्रित, सम[illegible] करनेवाली हममें एक शक्ति और है, जिसको हम [illegible] 'स्वः' (Self) या आत्मा (Soul) कहते हैं । [illegible] शरीर तथा मन, बुद्धि, भाव, इच्छाकी प्रक्रियाएँ क्षण-[illegible] परिवर्तित होती रहती हैं, किंतु उनके पीछे हमारा 'स्व[illegible] आत्मा सदा एक रहती है । उसका एकत्व (Identity) स्थायी है । असलमें चैतन्यताका स्रोत आत्मा ही है । [illegible] बुद्धि, इच्छा, भाव इसीकी ज्योतिसे प्रकाशित हो[illegible] चैतन्य दीखते हैं ।

१०–उक्त विवेचनद्वारा हम देखते हैं कि हमारा व्यक्तित्व बड़ा ही जटिल (Complex) है। वह कितने ही भावों, शक्तियों, प्रवृत्तियोंका भण्डार है और उसकी शारीरिक, मानसिक, आत्मिक आवश्यकताएँ समीकी पूर्ति होनी चाहिये। परंतु, उन सबकी पूर्ति एक साथ ही, एक ही समयमें नहीं हो सकती। उनको हमें इस प्रकार संगठित करना होगा कि प्रत्येकके महत्त्वके अनुसार आगे-पीछे उन सबकी पूर्ति हो सके तथा प्रत्येककी पूर्तिकी सीमा भी निर्धारित करनी होगी; क्योंकि हमारे पास न तो इतना समय है और न शक्ति ही है कि हम उन सबकी निस्सीम पूर्ति कर सकें। अपनी आवश्यकताओंकी मर्यादा बाँधनेके लिये हमें नियमोंको अपनाना पड़ेगा, जो कि हमारे जीवनकी रूप-रेखाके अनुसार ही होंगे। जैसे एक विद्यार्थी, एक गृहस्थ, एक सिपाही, एक डाक्टरके जीवनके नियमोंमें अन्तर होगा। इसी प्रकार समय, अवस्था या वातावरणकी भिन्नतासे भी नियमोंमें हेर-फेर हो सकता है। पर, यह अन्तर उतना ही होगा जितनी भिन्नता है। जहाँतक समानता है, आचारके नियम समान ही होंगे।

११–यहाँपर एक बड़े महत्त्वकी बात दिखलायी पड़ती है। चूँकि हमारा स्वरूप सरल नहीं है, अनेक भावों, इच्छाओं, प्रवृत्तियोंका इसमें समन्वय है, हम यदि समाजसे एकदम अलग किसी निर्जन स्थानमें रहें, तो वहाँ भी हमें उनके बीच समन्वय स्थापित करनेके लिये कुछ नियम तो अपनाने ही होंगे। आचारके नियम प्रत्येक स्थान तथा अवस्थामें मनुष्यके लिये अनिवार्य हैं। जिसका यह अर्थ हुआ कि सदाचार समाज, ईश्वर या सरकारके द्वारा नहीं बनाया गया है। वह हमको स्वरूपतः अथवा अपने स्वभावसे ही प्राप्त है। या तो हम नियमित नियन्त्रित जीवन अपनायें या छिन्न-भिन्न हो जायँ। अतः सदाचारके द्वारा ही हम अपने व्यक्तित्वका सर्वाङ्गीण विकास करके भरा-पूरा जीवन प्राप्त कर सकते हैं।

१२–आजकल अनेक स्त्री-पुरुष बड़ी विद्वत्ताके साथ विज्ञानकी दुहाई देकर आत्मा और परमात्मा दोनोंके अस्तित्वको नहीं मानते अथवा उनके प्रति घोर संदेह प्रकट करते हैं। वस्तुतः इन अर्धशिक्षित लोगोंको पता ही नहीं है कि आधुनिक विज्ञान कहाँ पहुँच गया है तथा विश्वके मूल तत्त्वके सम्बन्धमें उसका मत क्या है। विज्ञानके नवीनतम खोजने 'मैटर' या जड पदार्थको शक्ति (Energy) अथवा विद्युत् (Electricity) में परिणत कर दिया है। वैज्ञानिक कहते हैं कि भौतिक पदार्थ परमाणुओंसे निर्मित हैं और परमाणु 'इलेक्ट्रोन' तथा 'प्रोटोन' से बना है। 'प्रोटोन' परमाणुका केन्द्र है और 'इलेक्ट्रोन' उस केन्द्रके चारों ओर घूमते रहते हैं। परमाणुके ये दोनों अंश अत्यन्त छोटे-छोटे अदृश्य टुकड़े नहीं हैं। वरं 'प्रोटोन' धन-विद्युत् (Positive electricity) और 'इलेक्ट्रोन' ऋण-विद्युत् (Negative electricity) है और इनकी सम्मिलित प्रक्रिया परमाणु है। इस प्रकार जगत्का मूल तत्त्व विद्युत् है और उसकी गति अथवा प्रकम्पन (Vibration) द्वारा स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थोंका हमको अनुभव होता है। पहाड़ और समुद्रसे लेकर वनस्पति और तरह-तरहके पशु-पक्षी, रंग-रूप, गरमी-सर्दी, अग्नि-वायु सब इसी विद्युत्के ही कार्य हैं। एक ही शक्ति सब पदार्थोंके मूलमें है और उस एकसे ही नाना नाम-रूपवाली वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। परमाणुमें इलेक्ट्रोन चक्कर लगाते-लगाते एकाएक स्थान बदल देता है, जिसका कोई कारण नहीं होता। उसका यह स्थान-परित्याग, कार्य-कारण-सिद्धान्त (Law of causation) से परे है। यानी, विद्युत्की प्रक्रियामें स्वेच्छा भी दीखती है (Law of indeterminacy)। साथ ही विज्ञान बतलाता है कि विश्वमें सभी वस्तुएँ एक-दूसरेसे सम्बद्ध, परस्पर अवलम्बित, एक ही संगठनमें परिवेष्टित हैं। सर्वत्र नियमबद्धताका राज्य है। यह विश्व इतना विशाल है कि जो अत्यन्त दूरस्थ सितारे हैं, उनसे ज्योति (Light) को १,८६,००० मील प्रति सेकेण्डकी गतिसे चलकर पृथ्वीतक पहुँचनेमें अरबों-खरबों वर्ष लग जाते हैं। फिर भी इस कल्पनातीत महान् ब्रह्माण्डमें कहीं भी, छोटी-से-छोटी घटना घटित होती है तो उसका प्रभाव सर्वत्र होता है, भले ही प्रत्यक्षतः हमें इसका भान न हो सके। समग्र विश्व एक बौद्धिक संस्थान (Rational system) है। इसीसे वैज्ञानिक पूर्ण विश्वासके साथ प्राकृतिक नियमोंको खोजा करते हैं। घटनाएँ चाहे जितनी अस्त-व्यस्त दिखायी पड़ें, उनका ध्रुव विश्वास है कि प्रकृतिमें नियम है अवश्य। और वे प्राप्त नियमोंको उत्तरोत्तर अधिक विस्तृत नियमोंके अन्तर्गत लाते रहते हैं, जबतक कोई एक महानतम नियम या नियम-संस्थान न मिले, जिसके द्वारा सम्पूर्ण सृष्टिकी व्याख्या हो जाय।

वैज्ञानिकोंकी यह दृढ़ धारणा है कि ऐसा एक व्यापक नियम अवश्य है। इसीसे वे सतत प्रयत्नशील रहते हैं।

१३—यद्यपि वैज्ञानिक विद्युत्को सब पदार्थोंका मूल तत्त्व कहते हैं, वे उसके स्वरूपको नहीं जानते। विद्युत् क्या करती है, यह बता सकते हैं, पर वह क्या है, यह बतलानेमें वे असमर्थ हैं; क्योंकि उनकी प्रयोगशालामें और वस्तुओंकी भाँति विद्युत्से साक्षात्कार सम्भव नहीं है। वे कहते हैं इस प्रश्नका उत्तर तत्त्ववेत्तासे या तर्कशास्त्र अथवा धर्मशास्त्रसे पूछो। स्वरूपतः विद्युत् प्रयोगकी वस्तु नहीं है, वह एक व्यापक शक्ति है—बस, यहींतक विज्ञानकी पहुँच है। परंतु हम पूछ सकते हैं कि क्या विद्युत् इस अत्यन्त स्वनियमपरिचालित बौद्धिक संस्थानका निर्माण करनेवाली एक अंधी शक्ति या जड प्रकृति हो सकती है? इतने विशाल नियमबद्ध सुसंगठित विश्वको निर्मित करनेवाली शक्तिका सर्वज्ञानसम्पन्न, सर्वव्यापक, सर्वसमर्थ, अनन्त ऐश्वर्यवान् होना अनिवार्य है। चैतन्य शक्ति ही ऐसी हो सकती है, जिसका हम अपने अन्तरमें अनुभव करते हैं। उसको प्रयोगशालामें पानेका प्रयास वैसा ही है, जैसा हवाको देखनेका हठ करना। वैज्ञानिक स्वयं कहते हैं कि विद्युत् ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा नहीं जाना जा सकता। एडिंग्टन, आइन्सटीन, हक्सले आदि चोटीके वैज्ञानिक कहते हैं कि जगत्की अन्तिम व्याख्या प्राकृतिक नियमोंसे नहीं, किसी चैतन्य स्वरूप (Conscious Intelligence) सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञान-सम्पन्नके द्वारा ही सम्भव है। विज्ञान कहता है कि मूल शक्तिके प्रकम्पन (Vibration) से ही सर्व-पदार्थ उत्पन्न होते हैं। वेदोंमें कहा गया है कि 'ॐ ब्रह्म' से ही सृष्टि हुई है। ॐ शब्द है और शब्द प्रकम्पन हैं, सबसे पहला प्रकम्पन। यह प्रकम्पन ही सारे विश्वके मूलमें है। इसीको बाइबिलमें—In the beginning was the Word and the Word was God—कहा गया है। अर्थात् शब्दब्रह्मसे ही सृष्टिका आरम्भ है। तब धर्मशास्त्र जिसको परमात्मा कहते हैं और जिस महान् मूल शक्तिकी ओर विज्ञान पथ-प्रदर्शन कर रहा है वह एक ही है, चाहे जिस नामसे उसे पुकारें। दोनोंमें प्रभेद करना, हठधर्मी मात्र है।

१४—चैतन्य जहाँ भी हो, उसका असली स्वरूप सर्वत्र एक ही होगा। इस प्रकार चैतन्य-स्वरूप हमारा आत्मा भी सर्वज्ञानवान्, सर्वसमर्थ, पूर्ण ऐश्वर्यशाली होना चाहिये। इसका प्रमाण यह है कि हमारी सब महत्त्वाकाङ्क्षाएँ असीम हैं, अनन्त हैं। हमारी अभिलाषा यह है कि हम सभी ज्ञान उपलब्ध कर लें, जबतक कुछ भी जानना शेष रहेगा मानव-मन शान्त नहीं बैठ सकता। उसी तरह हम सम्पूर्ण प्रभुत्व, सम्पूर्ण सौन्दर्य, अनन्त शक्ति, अनन्त जीवन चाहते हैं। धन हो, अधिकार हो या मान-यश हो, कहीं भी हम सीमामें बँधना नहीं चाहते। हमारी स्पर्द्धाओं, अभिलाषाओंका अन्त है ही नहीं। हम सम्पूर्ण रुकावटों, यहाँतक कि देश-कालपर भी विजयी होना चाहते हैं। इसीको धर्मशास्त्रमें मुक्त होना कहा गया है। हम इस जीवनमें अपनी शक्तियोंको सीमित पाते हैं, पर हमारी आकाङ्क्षाएँ, सभी अनन्त निस्सीम हैं। यदि स्वरूपतः मनुष्य सीमित होता, तो उसमें अनन्त-निस्सीम अभिलाषाएँ धारण करनेकी क्षमता ही न होती और अनन्तकी ओर जो उसकी सदा प्रेरित होनेकी क्षमता है, वह कभी नष्ट नहीं होती। इतिहास बतलाता है और हम देखते हैं कि एक-से-एक बढ़कर विद्वान्, बुद्धिमान्, शक्तिमान्, ऐश्वर्यवान् व्यक्ति हो गये हैं और होते हैं, ऐसे महान् कि विश्वास करना कठिन हो जाता है। मनुष्यकी उन्नति उपलब्धि, पराक्रम, शारीरिक, मानसिक अथवा आत्मिक—किसीकी सीमा नहीं बाँधी जा सकती। जर्मन दार्शनिक काण्ट कहता है कि हमारा नैतिक आदर्श निस्सीम है और जीवन सीमित, इस कारण शारीरिक मृत्युसे हमारा अन्त नहीं हो सकता, हम स्वरूपसे अमर हैं, ताकि अपने आदर्शको प्राप्त कर सकें। ऐसा नहीं हो सकता कि विश्वशक्तिने हमें असीम अभिलाषाएँ दी पर उसकी उपलब्धिकी क्षमता अथवा अवसरसे वञ्चित रक्खा हो। वर्तमानमें हम सीमित जान पड़ते हैं; पर वस्तुतः स्वरूपसे हम हर प्रकार अनन्त हैं। इसी कारण मनुष्यके विकासकी कोई सीमा नहीं है। मृत्यु शरीरकी होती है आत्माकी नहीं, जैसा कि भगवान्ने गीतामें कहा है। हम अपने आदर्शों, आकाङ्क्षाओंकी पूर्तिके लिये बार-बार शरीर धारण करते हैं, जबतक सब सीमाओंका अतिक्रमण न कर लें और पूर्णता प्राप्त करके मुक्त न हो जायँ। हमारा जीवन जन्म और मरणके बीचका काल नहीं है, जैसा हम समझते हैं। वरं जन्म और मृत्यु दोनों हमारे अनन्त

जीवनके अन्तर्गत हैं। जीवन तो सतत गतिशील है और उसीके दौरानमें जन्म और मरण होता रहता है।

१५—अब यदि मनुष्य निस्सीम है, तो परमात्मा और आत्मा दोनों स्वरूपतः एक हैं। दोनोंमें भेद इतना ही है कि मनुष्य शरीरसे अपने कर्मोंके कारण आबद्ध है। वस्तुतः परमात्मा ही भिन्न-भिन्न रूपोंमें हर ओर प्रकट है। अपने-परायेका भेद इस कारण है कि हम अपने वास्तविक स्वरूपसे अनभिज्ञ हैं। यदि गम्भीरतासे विचार करें, तो सब भेद-भाव मिट जाते हैं। अपनेको पृथक् समझनेकी प्रवृत्ति ही भ्रान्तिपूर्ण है। हमारा शरीर माता-पिताका, अर्थात् समाजकी ही देन है। हम समाजद्वारा उत्पन्न होते हैं और समाजमें ही हमारा विकास तथा सभी आवश्यकताओंकी पूर्ति हो सकती है। समाजके हम वैसे ही अभिन्न अङ्ग हैं, जैसे हमारे शरीरसे उसके अवयव। अवयव शरीरसे पृथक् होकर नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार समाजके बिना हमारा जीवन प्रत्येक दृष्टिसे अत्यन्त दीन-हीन हो जायगा। समाज जितना समृद्ध, ज्ञान-कला-कौशलसे परिपूर्ण होगा, उतना ही हमारा व्यक्तित्व भी सुसंस्कृत, विकसित होगा। पृथक् दीखते हुए भी हमारा सम्बन्ध अन्य व्यक्तियोंसे कितना गहरा है, यह निम्नलिखित तथ्योंसे प्रकट होता है—

(क) सबसे अपनेको पृथक् करके अपने विषयमें न हम कुछ कह सकते हैं, और न सोच ही सकते हैं। यदि पूछा जाय कि आप क्या या कौन हैं, तो, आप यह कह सकेंगे, हम व्यापारी हैं, वकील हैं, विद्यार्थी हैं या अमुकके पिता हैं, पुत्र हैं, भ्राता हैं या फिर अमुक अधिकारी हैं, अमुक स्थानके रहनेवाले अथवा अमुकके स्वामी इत्यादि। यह सभी सामाजिक सम्बन्धोंका वर्णन है। सम्पूर्ण सामाजिक सम्बन्धोंको त्यागकर किसी व्यक्तिके बारेमें कुछ नहीं कहा जा सकता और न सोचा ही जा सकता है। दूसरोंसे सम्बन्धद्वारा ही हर मनुष्यका व्यक्तित्व निर्मित होता है।

(ख) यह भी एक भ्रम है कि व्यक्तिगत स्वार्थ परस्पर-विरोधी हैं। प्रत्येक व्यक्तिका स्वार्थ उसके कुटुम्ब, स्त्री, संतान, इष्ट-मित्रके स्वार्थमें लिपटा हुआ है। ऐसा कोई स्वार्थ नहीं, जो पूर्णरूपेण अकेले एकका ही हो और दूसरे कोई भी व्यक्ति उसमें सम्मिलित न हों। अपना स्वार्थ सिद्ध करनेमें व्यक्ति अनिवार्यरूपसे दूसरे व्यक्तियोंका स्वार्थ भी सम्पन्न करता है। जो इस बातका द्योतक है कि दूसरोंसे वह अविच्छिन्न है। उनसे नितान्त विलग होकर उसका स्वयंका स्वार्थ भी कुछ नहीं रह जाता। 'दूसरे लोगोंसे उसके सम्बन्धका क्षेत्र छोटा हो अथवा बड़ा, पर वह दूसरे लोगोंसे अविभाज्य है।

(ग) यदि सब सम्बन्धोंका सम्पूर्ण विच्छेद कर दीजिये, तो आपका व्यक्तिगत जीवन एकदम रीता, असहनीय हो उठेगा। इसीसे समाजसे परित्यक्त, तिरस्कृत मनुष्य, जब उससे कोई भी प्रेम नहीं करता, अपने जीवनका मूल्य खो देता है और आत्महत्या कर लेता है। यदि अपने आपमें वह कुछ है, तो वह ऐसा क्यों करता है! यह वैसा ही है कि जैसे शरीरका रस किसी एक अङ्गमें जाना बंद हो जाय, तो वह सूख जाता है। आप समाजके जितने बड़े भागसे अपनेको संलग्न करेंगे, उससे तादात्म्य प्राप्त करेंगे, उतना ही विकसित और विशाल आपका व्यक्तित्व होगा। यह स्पष्ट सत्य विश्वके महापुरुषोंमें दृष्टिगत होता है।

१६—इसी कारण ईसाने कहा है—Others are the flesh of your flesh and the bone of your bone—अर्थात्, दूसरे मनुष्य तुम्हारे ही हाड़-मांस हैं, तुम और वे वस्तुतः एक हैं। इस प्रकार दूसरोंको क्षति पहुँचाना, अन्ततः अपनी ही हानि करनी है और दूसरोंका उपकार करना अपना ही भला करना है। इसी कारण श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—'परोपकार ही धर्म है।' यही सदाचारका रहस्य है। सबके जीवनके साथ मिलाकर ही हम अपने जीवनको परिपूर्ण कर सकते हैं। अपने विचारोंको संकुचित करके हम अपने 'स्व', अपने आत्माका ही हनन करते हैं। उसको अपेक्षाकृत क्षुद्र, दीन-हीन बना देते हैं, जबकि वह स्वरूपसे अनन्त है। आत्माकी विशालताको सतत चरितार्थ करते रहना ही सदाचारका अर्थ है। इसीसे निःश्रेयसकी, पूर्णताकी, मुक्तिकी प्राप्ति होगी।

१७—सदाचारके स्वरूपको गीतामें भगवान्ने स्पष्टरूपसे चित्रित कर दिया है। अर्जुनकी यही समस्या थी कि जीवनके प्रचलित आचारके नियमोंमें जब तीव्र विरोध उत्पन्न हो जाय तो क्या करना चाहिये। वह भाव-अतिरेकसे किंकर्तव्य-विमूढ होकर कर्मसे पलायन करना चाहता था।

भगवान्ने उसको बतलाया कि तुम और विश्व-आत्मा एक हो। अपनेको नाते-रिश्तोंमें सीमित मत करो, विश्वके कल्याणकी कामनासे प्रेरित होकर कर्म करो, केवल अपने या स्वजनोंके लिये नहीं। उन्होंने कहा कि विश्वात्माके साथ तादात्म्य होकर कर्म करना ही सत्य है—धर्म है, यही तुम्हारा सत्स्वरूप है। उसके विपरीत कर्म करना—अपनी आत्माकी विशालताको भूलकर उसको संकुचित कर देना—यही अनाचार है—पाप है। दूसरे शब्दोंमें उन्होंने फिर कहा—सब कर्मोंको मुझ विश्वात्माको अर्पण कर दो—अर्थात् विश्व-हितार्थ कर्म करो, स्वार्थके लिये नहीं।

१८—विश्वका स्वरूप और उसके धारण-पोषणका नियम गीताके अध्याय ३। १०। ११ में भगवान्ने बड़ी सरलतासे थोड़ेसे शब्दोंमें अङ्कित कर दिया है। वे कहते हैं, प्रारम्भमें यज्ञके साथ-साथ प्रजाको उत्पन्न करके ब्रह्माने कहा—'इस (यज्ञ) के द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो, यह तुम्हारी कामधेनु अर्थात् इच्छित फलोंका देनेवाला हो। तुम सब इस यज्ञसे देवताओंको संतुष्ट करते रहो, वे देवता तुम्हें संतुष्ट करते रहें, इस प्रकार दोनों कल्याण प्राप्त करें'—इससे स्पष्ट है कि स्वरूपसे ही यह विश्व एक है, इसके अङ्ग परस्पर अवलम्बित हैं और उन सबका कल्याण एक दूसरेमें संनिहित है तथा यज्ञ कर्म ही नियम है। इस कारण सर्वदा सम्पूर्ण जगत्के हितार्थ कर्म करना चाहिये। यज्ञ सर्वलोकहितार्थ ही किये जाते हैं, उसमें संकुचित स्वार्थका भाव नहीं होता। हमारा सारा जीवन यज्ञमय होना चाहिये, इसीमें हमारा परम कल्याण है। ऐसी उदात्त दृष्टिसे किया हुआ कर्म हमको बन्धन-मुक्त करता है। स्वार्थ-परता हमें बन्धनमें डालती है; क्योंकि स्वयं ही हम सीमित बनकर बन्धन स्वीकार कर लेते हैं। यह यज्ञ ही है—निष्काम कर्म और सच्चा समाजवाद। इसीका अभ्यास हममेंसे प्रत्येकको करना चाहिये।

कामके पत्र

(१)

मानसिक दासता

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण ! आपका कृपापत्र मिला। आपने लिखा सो ठीक है, पर इसमें प्रधान कारण 'मानसिक दासता' है। वास्तवमें शारीरिक दासताकी अपेक्षा मानसिक दासता कहीं अधिक भयानक और पतनकारक होती है। आज हम इसी मानसिक दासताके शिकार हो रहे हैं। अंगरेजोंका शासन नहीं रहा। वे यहाँसे चले गये। भारतने शारीरिक तथा शासनकी स्वतन्त्रता प्राप्त की, परंतु अंगरेजोंके रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, भाषा-भाव एवं जीवन-पद्धतिका इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उनके जानेके बाद हम और भी अधिक उनकी नकल करने लगे। महात्मा गांधीजीके आन्दोलनके समय देशमें खादीका धोती-कुर्ता विशेषरूपसे फैला था। धोती-कुर्ता पहननेमें लोग गौरव अनुभव करते थे। विभिन्न प्रदेशोंमें पहलेसे ही अपना-अपना पहनावा था। धोती, कुर्ता, मिर्जई, साफा, पगड़ी, टोपी आदिका प्रचलन था। अब तो चारों ओर सभी प्रदेशोंमें और सभी अवसरोंपर—यहाँतक कि सामाजिक कार्योंमें, धार्मिक समारोहोंमें और विवाह-शादी आदिमें भी पैंट, कोट, बुशशर्ट, नेकटाई आदि ही नजर आते हैं, बल्कि इसीमें लोग अपनी शान समझते हैं और देशी पोशाक धोती-कुर्ता पहननेवालोंको मानो असभ्य या पिछड़े हुए मानते हैं। यह मानसिक दासताका प्रत्यक्ष चिह्न है। जिस जातिमें अपनी संस्कृति, अपनी वेश-भूषा, अपने खान-पान, अपने भाषा-भावके प्रति हेयबुद्धि हो जाती है, वह अंधी होकर दूसरोंकी नकल करती है; उसे दूसरोंकी बुरी चीज भी अच्छी मालूम होती है और अपनी अच्छी भी बहुत बुरी मालूम होती है। यही कारण है कि आज पवित्र भारतीय संस्कृतिके नर-नारी विदेशी पोशाक पहनकर अभिमान करते हैं।

मातृभाषाके बदले अंगरेजीमें बातचीत करना गौरवकी बात मानते हैं। हाथ-पैर धोये बिना जूते पहने खाना, कुरसीपर बैठकर खाना, हरेककी जूँठन खाना, छुरी-काँटेसे खाना, प्रणामादि न करके अंगुली दिखाना या हाथ मिलाना; बच्चोंको माताजी, अम्माजी, पिताजी, बाबूजी आदि कहना न सिखाकर मम्मी, डैडी, पापा कहना सिखाना, खड़े-खड़े मूत्र-त्याग करना, खाकर कुल्ले न करना आदि छोटी-बड़ी इतनी बातें हैं, जिनसे सब प्रकारकी हानि होती है, पर हमारा गुलामीसे भरा दिमाग इसीमें लाभ मानकर उन्हींको करता-करवाता है। यह हमारा मानस-पतन है जो हमें सदाचारसे दूर हटाकर दुराचारमें प्रवृत्त करता है।

सबसे दुःखकी बात तो यह है कि अपनी संस्कृति-की जड़ काटनेवाले इन सब कार्योंमें हमारी गौरवबुद्धि हो गयी है। भगवान् ही रक्षा करें।

निज देशमें ही आज हम पूरे विदेशी हो गये।
वेश, भाषा, भाव सब अपने चिरन्तन खो गये॥
मानसिक दासत्व वश कर त्याग निज संस्कृति अमल।
करने लगे हर बातमें पाश्चात्त्य की अंधी नकल॥
श्वेत धोती, साफ कुर्ता, मिरजई, पगड़ी हटी।
कोट औ पतलूनके सँग नेकटाई आ डटी॥
खाने लगे जूँठन सभीकी मेजपर रक्खी हुई।
भोजकी पशुरीति निकली अब बफ्फे (Buffet) नामक नई॥
मातृभाषा छोड़ अंगरेजी लगे हम बोलने।
पश्चिमी रँगमें रँगे ही लगे हिलने-डोलने॥
बाल भी माता-पिताजी अब कभी कहते नहीं।
ममी, डैडी और पापा बोलते हैं सब कहीं॥
अन्ध पर-अनुकरणताका जोर अब सब ओर है।
इसीसे अब पतनका भी कहीं ओर न छोर है॥

विशुद्ध अध्यात्म-जगत्से इसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि उसमें किसी देश, काल, जाति, संस्कृतिका भेद नहीं है। तथापि अध्यात्मकी ओर अग्रसर होनेमें जितनी त्यागमूलक भारतीय संस्कृति सहज सहायक है, उतनी ही भोगमूलक पाश्चात्त्य संस्कृतियाँ सहज बाधक हैं। अतएव इस दृष्टिसे भी भारतीय संस्कृतिका समादर, संरक्षण छोटे-छोटे व्यावहारिक कार्योंके द्वारा भी किया जाना आवश्यक है।

(२)

मङ्गल सोचो, मङ्गल करो

प्रिय भाई! सप्रेम हरिस्मरण! तुम्हारा पत्र मिला था। तुम्हारे साथ जो कुछ हो रहा है, वह यद्यपि बड़ा ही दुःखद और अवाञ्छनीय है, पर उसे भगवान्का मङ्गल-विधान मानकर संतुष्ट रहनेकी चेष्टा करो। निश्चय ही, मनुष्यको फलरूपमें जो कुछ भी भला-बुरा—अनुकूल-प्रतिकूल प्राप्त हो रहा है, वह उसके अपने ही किये हुए कर्मका फल है, दूसरे तो केवल निमित्तमात्र हैं। अतएव उनपर रोष करके उनके प्रति मनमें द्वेषका स्थान नहीं देना चाहिये। वे तुम्हारा बुरा करने जाकर वस्तुतः अपना ही बुरा कर रहे हैं—अपने लिये आप ही दुःखोंका निर्माण कर रहे हैं अतएव दयाके पात्र हैं। फिर तुम्हारे मनमें द्वेष होगा तो तुम अंदर-ही-अंदर जलते रहोगे। द्वेषाग्नि जलाया करती है और द्वेषवश उनको हानि पहुँचानेकी चेष्टा करोगे जिससे वैर बद्धमूल होगा, तुम्हारे चित्तकी अशान्ति बढ़ेगी और तुम्हारी साधन-शक्ति जो अपने तथा दूसरोंके मङ्गल-सम्पादनमें लगती, अमङ्गलमें लगकर सब ओर अमङ्गलकी सृष्टि करती रहेगी। सर्वोत्तम तो यह है कि बुरा करने-वालेका भला करनेकी चेष्टा करके तुम अमृत-वितरण करो, उनके मनके विषको नष्ट कर दो। यही संतका आदर्श है।

उमा संत की इहै बड़ाई। मंद करत सो करइ भलाई॥

मनुष्यको सदा मङ्गल सोचना तथा मङ्गल-कार्य करना चाहिये । प्राणि-मात्रका मङ्गल सोचने—करनेवालेका कभी अमङ्गल नहीं होता । उसका प्रत्येक श्वास मङ्गल-मय बन जाता है । उससे सूर्यसे प्रकाशकी भाँति सहज ही सबको मङ्गल प्राप्त होता है । उसका बुरा चाहनेवालोंका मन भी उसकी मङ्गलमयतासे प्रभावित होकर बदल जाता है । वह उनकी बुराईको भलाईमें परिणत कर देता है । पर कहीं कदाचित् ऐसा न भी हो तो उसका अपना अमङ्गल तो होता ही नहीं । यही बड़ा लाभ है ।

अतएव तुम मनमें भलीभाँति सोचकर दूसरे तुम्हारे अहित–अमङ्गल कर रहे हैं, इस मान्यताको छोड़कर कभी किसीका बुरा मत चाहो । अपने मनको तथा क्रियाको अपना तथा सबका भला सोचनेमें लगाकर सबको सहज ही मित्र बनानेका मार्ग स्वीकार करो । शक्तिका सदु-पयोग करके उससे लाभ उठाओ । कभी दुरुपयोग मत करो ।

जो संकट आया है, उसे भगवान्‌का मङ्गल-विधान मानकर स्वीकार करो । उसे टालनेकी न्याययुक्त चेष्टा करो । इसके लिये प्रधान उपाय है—'सच्चे विश्वासके साथ भगवान्‌से कातर प्रार्थना ।' पर ध्यान रहे प्रार्थनामें कभी भी दूसरोंका अमङ्गल हो, दूसरोंको हानि पहुँचे—ऐसा भाव मत आने दो । बुद्धिको स्थिर रखकर भगवान्‌से यही प्रार्थना करो कि 'नाथ ! किसीका भी कभी तनिक भी अमङ्गल हो, ऐसा विचार मेरे मनमें कभी न आवे, ऐसी चेष्टा मुझसे कभी न बन पड़े । सबका मङ्गल हो, उसीके साथ मेरा भी मङ्गल हो । मुझपर जो कष्ट आया है, उसे आप हरण कर लें । उत्तम तो यह है कि मैं उस कष्टको आपका मङ्गल वरदान मानकर उसे सचमुच वरदानमें बदल सकूँ, आपकी कृपाके विश्वासपर । ऐसा बल दो मेरे प्रभु ! यही वास्तवमें आपके द्वारा मेरा कष्ट-हरण होगा । मुझे प्रत्येक कष्टमें सदा-सर्वत्र आपकी अनन्त कृपाके दर्शन हों । आपका मङ्गलमय आनन्दमय कर-स्पर्श प्राप्त करके मैं धन्य हो सकूँ । मेरा जीवन सर्वथा आपके अनुकूल रहे—उसका बाहरी रूप कैसा ही क्यों न हो—सुखमय या घोर दुःखमय ।

बस, इसी आशयकी विश्वासपूर्वक सच्चे हृदयसे अपने ही शब्दोंमें प्रार्थना करो । प्रभु-कृपासे तुम सारे संकटोंसे सर्वथा मुक्त हो जाओगे ।

फिर, वस्तुतः ये संकट कुछ भी अर्थ नहीं रखते । यहाँके धन, मान, वैभव, अधिकार, पद, पदार्थ सभी तो अनित्य, अपूर्ण, विनाशी अतः दुःखरूप हैं । इनके मनके अनुकूल न रहने या चले जानेको हम 'दुःख' का नाम देते हैं और इनके अनुकूल तथा बने रहनेको 'सुख' कहते हैं । यह हमारे मनकी कल्पनामात्र है । इनके आने-जानेसे आत्मामें कोई लाभ-हानि नहीं होती । अतः इस मोहको छोड़नेका प्रयास करो । जगत्‌में एक यात्रीकी भाँति रहो और जीवनयात्रा चलाते रहो । पर ध्यान रक्खो—यात्राके लक्ष्य रहें भगवान्, भोग नहीं ।

तुम्हारा शरीर ठीक होगा । तुम चिन्ता बहुत करते हो । चिन्ताका बुरा असर शरीरपर भी होता है । तुम्हारे पेटकी बीमारीका यह एक प्रधान कारण हो सकता है । अतएव हर हालतमें भगवान्‌के विधानकी मङ्गलमयतापर विश्वास करके प्रसन्न रहनेका प्रयास करो । शेष भगवत्कृपा ।

(३)

भगवान् और भगवान्‌की स्वरूपलीला

भैया ! क्या लिखूँ । जो कुछ दीखता है वह है नहीं । सदा-सर्वत्र एक भगवान् ही हैं । उन्हींकी अव्यक्त और व्यक्त स्वरूप-लीला है । तीव्र चाह तथा उचित सत्प्रयत्न होनेपर उनकी कृपासे यह तत्त्व प्रत्यक्ष हो सकता है, होता है । फिर किसी समय तो जगत्‌का

सारा दृश्य ही लुप्त हो जाता है, केवल एक अचिन्त्य अनिर्वचनीय स्वरूप रह जाता है, उसे समाधि कहा जा सकता है और जिस समय जगत् दीखता है, जगत्की सारी प्रापञ्चिक स्थितिकी उपलब्धि होती है, उस समय भी कभी जगत्के होनेवाले छोटे-बड़े प्राकृतिक परिवर्तनोंका कोई प्रभाव नहीं होता। वे सभी नित्य प्रशान्त एकरस महान् भगवत्-समुद्रकी लीला-लहरियाँ होती हैं। लहरें—तरङ्गें मधुर-कटु, सौम्य-भयानक, बृहत्-क्षुद्र, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक हो सकती हैं; पर होती हैं सब उसी समुद्रमें, उसी समुद्रसे और उसी समुद्रकी। अतएव इस क्रियाशील कालमें भी एकमात्र भगवान् ही प्रत्यक्ष रहते हैं। तुम भी इस सत्यको प्राप्त करनेका मङ्गल प्रयास करो। भगवान् तुम्हारी सहायता करेंगे। शेष भगवत्कृपा।

गोरक्षार्थ बाबा भोलेनाथका शरीर-त्याग

(लेखक—श्रीओमप्रकाशजी गोयल)

गोमाताके लिये अपने प्राणोंको दावपर लगानेका जो महाप्रण आदरणीय गोभक्तों और महात्माओंद्वारा किया गया है, वह तबतक चलता रहेगा; जबतक कि भारतमें पूर्णरूपसे गोहत्या बंद नहीं हो जाय। यह सबको विदित ही है कि सहस्रों स्त्री-पुरुष, बच्चे, साधु एवं संत महानुभाव 'गोहत्याबंदी' आन्दोलनमें सत्याग्रही बनकर इस महायज्ञमें अपनी आहुति देते आ रहे हैं एवं हजारों सत्याग्रही जगह-जगह जेलोंमें बंदी बनकर पड़े हैं। ७ नवम्बर, १९६६ को घटित गोलीकाण्डकी दुर्घटना हमारे राष्ट्रके ऊपर एक भयंकर अभिशाप बनकर रह गयी है, जिसे कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। क्या उस घटनाके शिकार महानुभावों एवं संत पुरुषोंका बलिदान निष्फल जायगा? इसका उत्तर स्पष्ट है, 'नहीं! कदापि नहीं!!'

इसी संदर्भमें महायोगिराज, परम गोभक्त एवं शिवाराधनामें तल्लीन साक्षात् शिव-स्वरूप बाबा भोले-नाथका नाम गोरक्षाके इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित होगा और २२-३-६७ का दिन ऐतिहासिक दिन होगा, जब उन्होंने गोरक्षार्थ आत्मोत्सर्ग किया। बाबा भोलेनाथजी, मन्दिर श्रीवनखण्डेश्वरनाथ महादेव, ग्राम—गैलाना, जिला—आगराके महन्त थे। उनकी बड़ी मान्यता थी। बहुत दूर-दूरसे भक्तजन, स्त्री-पुरुष, राजा-महाराजा, साधु-संन्यासी उनके दर्शनार्थ आते रहते थे और बाबाके दर्शन पाकर अपनेको कृतार्थ मानते थे।

जब गत २० नवम्बर, १९६६ को जगद्गुरु शंकराचार्य आदि महात्माओंने आमरण अनशन आरम्भ किया तो परम गोभक्त बाबा भोलेनाथ भी इस महायज्ञमें पीछे नहीं रहे। उन्होंने कार्तिक पूर्णिमा दिनाङ्क २८-११-६६ से प्रतिदिन केवल एक बेलपत्ती चबाकर एवं लगभग एक छटाँक गङ्गाजल ग्रहण करनेका दृढ़ संकल्प किया, जिसे उन्होंने अन्तिम दिन, दिनाङ्क २२-३-६७ तक निभाया। बाबाने उसी दिनसे मौनव्रत भी धारण कर लिया था और बाबा भोलेनाथका लक्ष्य गोवध-बंदीपर पूर्ण सफलता था जिसके लिये उन्होंने अपने प्राणोंकी बाजी लगा दी। बाबा सदा यही कहा करते थे कि जिस कार्यको प्रारम्भ करो, उसे आखिर तक निभाओ। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भी बाबाने प्रस्तुत किया।

बाबा भोलेनाथका पूर्वाश्रमका नाम श्रीदेवकीनन्दन अवस्थी था। उनके पिता स्वर्गीय पं० बालगोविन्दजी अवस्थी उन्नाव जिलेके तौरा गाँवके प्रतिष्ठित

कान्यकुब्ज परिवारके थे। बाबा भोलेनाथकी आयु इस समय लगभग १०० (सौ) वर्ष थी। भारतके विभिन्न तीर्थस्थानोंका भ्रमण करनेके पश्चात् सन् १९४७ में आपने मन्दिर श्रीवनखण्डेश्वरनाथ महादेव, आगरापर स्वयंको प्रतिष्ठापित किया। सन् १९५७ से उन्होंने आबादीकी ओर जाना एवं अन्न, नमक ग्रहण न करनेका संकल्प किया। केवल दिनमें एक बार ही फलाहार करते थे। वह भी बहुत सूक्ष्म मात्रामें। इसका भी त्याग उन्होंने २८-११-६६ से कर दिया था। शरीरपर केवल एक कौपीन ही रहता था।

बाबा भोलेनाथ हर समय शिवाराधनामें तल्लीन रहते थे और अपने भक्तोंको सन्मार्ग प्रदर्शित करते थे। भक्तोंको गोसेवा एवं गोपालनका उपदेश भी निरन्तर देते रहते थे, जिसके वे स्वयं प्रतीक थे। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण यह है कि उनके आश्रमपर ही लगभग पचास गायें सदासे रही हैं जिनकी सेवा, पूजा एवं भोजनकी व्यवस्थाका पूर्ण कार्य भोलेनाथ ही करते थे तथा भक्तोंको उनकी सेवाका पाठ पढ़ाते थे।

बाबा भोलेनाथको उनके कई हजार भक्तोंकी उपस्थितिमें उनके स्थानपर ही बड़े समारोह एवं श्रद्धा भावके साथ दिनाङ्क २३-३-६७ प्रदोषके दिन सायं ३॥ बजे समाधिस्थ कर दिया गया। सहस्रों भक्त, साधु-महात्मा एवं नर-नारियोंने श्रद्धापूर्ण हृदयसे बाबा भोलेनाथको अन्तिम श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। धन्य हैं बाबा भोलेनाथ, जिन्होंने इस अवस्थामें भी गोरक्षार्थ अपना शरीर त्याग कर शिवलोक प्राप्त किया एवं युग-युगके लिये अमर हो गये।

ऐसे महान् संत पुरुषोंका त्याग एवं बलिदान भारत सरकारको सुबुद्धि प्रदान करेगा और उसको गोहत्या-बंदीपर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाना पड़ेगा।*

बाबा भोलेनाथकी जय !
गोमाताकी जय !!

---

* 'गोरक्षा-आन्दोलन' अब भी चल रहा है। सत्याग्रह जारी है। लोकसभाके सदस्य श्रद्धेय स्वामीजी श्रीब्रह्मानन्दजीने कई भक्तोंके साथ धरना दे रक्खा था। वे कई सौ सत्याग्रहियोंके साथ पकड़े गये हैं। सम्मान्य श्रीप्रकाशवीरजी शास्त्रीने लोकसभामें एक विधेयक उपस्थित कर दिया है। राष्ट्रपतिने समिति-निर्माणकी घोषणा की है। सेठ गोविन्ददासजी आदि बहुतसे लोकसभाके सदस्य चेष्टा कर रहे हैं। तिहाड़ जेलमें गोभक्त बन्दियोंने नवरात्रमें मानसपारायण प्रारम्भ किया है।

गत दिनाङ्क ३ अप्रैलको सेठजीकी अध्यक्षतामें लोकसभाके सदस्योंकी एक सभा हुई थी। जिसमें कानूनके द्वारा पूर्णरूपसे गोवधबंदीके सम्बन्धमें विचार हुआ। गोपालन, गोसंवर्धन तथा नस्ल-सुधारकी व्यवस्थाके लिये भी प्रयास किया जा रहा है। लोकसभाके सदस्योंका एक शिष्टमण्डल प्रधानमन्त्री, गृहमन्त्री, खाद्यमन्त्री आदिसे मिलनेवाला है। उस दिन खाद्यमन्त्री श्रीजगजीवनरामजीने भी गोरक्षा-सम्बन्धी कानूनके सम्बन्धमें कुछ अनुकूल ही कहा है। भगवान्से प्रार्थना है, वे इन सबको सद्बुद्धि प्रदान करें, जिससे भारतवर्ष गोहत्याके महापापसे सर्वथा मुक्त हो जाय और साथ ही गोपालन तथा गोसंवर्धनकी भी समुचित व्यवस्था हो जाय।

पिछले दिनों जब देशमें प्रायः सर्वत्र कांग्रेस सरकार थी, बहुत प्रार्थना की गयी थी, बहुत तरहसे समझाया गया था, न माननेपर बुरा परिणाम होनेका भी संकेत किया गया था, परंतु सुबुद्धि नहीं आयी। इसीका परिणाम है जो बहुतसे प्रदेशोंसे कांग्रेसकी सरकार नहीं बन सकी है और इसी पापका परिणाम है देशमें अन्नसंकट और अकाल। अब भी सचेत हो जाना चाहिये।

हिंदू एकमत रहें, आन्दोलनमें शिथिलता न आने दें, भगवान्पर विश्वास रक्खें तो भगवत्कृपासे गोहत्या अवश्य बंद हो जा सकती है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार
१० । ३ । ६७

पढ़ो, समझो और करो

(१)

प्रतिज्ञा-रक्षा

गाँधीजी दक्षिण अफ्रिकामें थे। वहाँ उनके फिनिक्स-आश्रममें एक दिन भोजनमें कढ़ी-खिचड़ी बनी। साधारणतया आश्रममें दूध-दहीका उपयोग कम ही होता अतएव कढ़ी बननेका मौका कभी-कभी ही आता। जिन विद्यार्थियोंको नमक न खानेका नियम था वे कढ़ी-खिचड़ी नहीं ले सकते थे। गाँधीजी तो किसको क्या-क्या और कितना खानेको देना है इसका भी पूरा ध्यान रखते। उनके लड़के देवदासने अपना कटोरा रक्खा। पर बापूजीने पूछा—'देवा, तुझे तो बिना नमकका खाना है न ?'

देवदासने सकुचाते हुए उत्तर दिया—'आज मेरा कढ़ी खानेका मन हो रहा है।'

'बिना नमकका तेरा व्रत कब पूरा होता है ?' बापूजीके इस प्रश्नके उत्तरमें देवदासने कहा—'अभी दस दिन बाकी हैं।'

'तो फिर किया हुआ व्रत तू कैसे तोड़ सकता है ? तेरी प्रतिज्ञा तोड़नेमें मैं हिस्सेदार नहीं बनूँगा।'

देवदासने कहा—'मैं बिना नमक खानेकी अवधि और आगे बढ़ा लूँगा, परंतु आज तो खिचड़ी-कढ़ी खानेका मेरा मन है।'

'नहीं, खिचड़ी-कढ़ी तुझे नहीं मिलेगी; रोटी, टमाटर, तेल, दूध, दही आदि तू जितना चाहे ले ले।'

बापूजीका निश्चय सुनकर देवदास रो पड़े।

सारे विद्यार्थी जिज्ञासाके साथ देख रहे थे कि देखें इसका क्या परिणाम होता है ?

बापूजी विचारमें पड़े, सोचने लगे क्या किया जाय ? यह तो मनकी कमजोरी है, क्या मोहवश इसका पोषण करें ? ऐसा तो नहीं करना है। फिर क्या करें। वे घबराये और एकाएक अपने गालपर जोरसे दो तमाचा लगाकर बोले—'देवा ! तुझमें यह कमजोरी कहाँसे आयी ? मुझसे ही तो तू सीखा है।'

देवदासके लिये इतना काफी था। वे एकदम चुप हो गये और बोले—'बापूजी ! मुझे माफ कीजिये, मैं भूल रहा था। मुझे खिचड़ी-कढ़ी नहीं चाहिये।' यों कहकर वे बगलसे निकल गये।

इस प्रसङ्गसे सारे विद्यार्थी प्रतिज्ञाकी गम्भीरताको समझ गये। मन कैसा चञ्चल है, कैसा कमजोर है, वह किस तरह हमपर चढ़ बैठता है और किस तरह उसको कामयाब न होने देना है, इन सारी बातोंकी शिक्षा ऐसे प्रसङ्गोंसे विद्यार्थियोंको मिलती थी। 'अखण्ड आनन्द'

—रावजीभाई मणिभाई पटेल

(२)

उपकारका बदला

अबसे करीब दस साल पहलेकी बात है। घटना सत्य है, केवल नाम बदले गये हैं। ननकू नामक एक चोर था। कई दिनोंसे कहीं कुछ मिला नहीं। भूखके मारे व्याकुल हो गया। बच्चे भी भूखों मरने लगे। भूखसे घबराया हुआ वह अनाज मिलनेकी आशा लेकर प्रभु महाजनके घर पहुँचा। चोरको कौन अनाज देता ? बड़े संकोचसे वह प्रभु महाजनके घरके अंदर घुसा।

उस दिन प्रभु महाजनके यहाँ अनाजकी खत्ती खुली थी। ननकूको देखते ही महाजन गुस्सेमें भर गया और ननकूको भली-बुरी कहने लगा। ननकू बेचारा चुपचाप सुनता रहा। उसका सिर झुका था। आँखोंमें आँसू थे। प्रभु महाजनका बोलना बंद हुआ तब उसने साहस बटोरकर कहा—'बाबूजी ! मैं चोर हूँ, पर इस समय भूखसे मर रहा हूँ, अन्नकी भीख माँगने आया हूँ। कुछ अनाज देकर मेरे और मेरे परिवारके प्राण बचाइये। मैं कभी उपकार नहीं भूलूँगा।'

महाजनको दया आ गयी और उसने ननकूको बीस सेर बेझर तुलवा दिया। ननकू प्रसन्न मन अनाज लेकर चला गया। उसका हृदय कृतज्ञतासे भरा था।

कुछ ही दिनों बाद डकैतोंने प्रभु महाजनके घर डाका डालनेकी योजना बनायी। डकैतोंके दलमें ननकू भी शामिल था। गाँवके किनारे एक जगह डकैत इकट्ठे हुए। ननकूने पूछा—'किसके घर डाका डालना है ?' उन्होंने

कहा—'प्रभु महाजनके यहाँ बोरेमें गहना रक्खा है, आज रातको उसीके घर डाका डालना है।' प्रभु महाजनका नाम सुनते ही ननकू स्तम्भित-सा रह गया। उसे बीस सेर बेझरकी बात याद आ गयी।

वह किसी बहानेसे वहाँसे निकलकर सीधा प्रभु महाजनके घर पहुँचा। उस समय प्रभु महाजन अपनी चौपालमें एक कुर्सीपर बैठे तन्द्राका सुख ले रहे थे। उसने प्रभुको सचेत किया। इस समय ननकूके आनेका कारण पूछा। ननकूने बताया कि 'आपके घर आज रातको डाका डालनेकी योजना डकैतोंने बनायी है। अमुक स्थानपर एक बोरेमें गहना रक्खा है। इसका पता उन लोगोंको लग गया है। अतएव उसे सँभालकर अलग कर दीजिये और सावधान हो जाइये। मैं आपके पास केवल इसीलिये आया हूँ कि आपने मुझे भूखके समय बीस सेर बेझर दिया था।' इतना कहकर वह चुपचाप चला गया।

महाजनने सारी व्यवस्था कर दी। डकैतोंको यह मालूम हो गया कि उसके यहाँ पुलिस आदिकी खासी व्यवस्था है। इसलिये उन्होंने डाका डालनेका विचार छोड़ दिया।

एक चोरने भी उपकारका बदला चुकाया। इससे यह शिक्षा मिलती है कि मनुष्यको सबका उपकार करना चाहिये। और उपकार करनेवालेके प्रति चोर भी कृतज्ञ होता है। वह भी आदमी ही है।

—चन्द्रशेखर माहेश्वरी

(३)

विलियम स्काउट सैनिककी देशभक्ति

अमेरिकामें राष्ट्रपति अब्राहिम लिंकनका शासन चल रहा था। देशमें गृह-युद्ध छिड़ गया। फौज बुला ली गयी और सैनिकोंने मोरचे सँभाल लिये। कमाण्डर फौज यह देखनेके लिये कि फौजमें सब लोग अपनी-अपनी ड्यूटीपर तत्पर हैं या नहीं, रात्रिको निकला। केवल एक सैनिक सोया हुआ मिला। उसके हथियार पास पड़े थे। उसे देख कमाण्डरको गुस्सा आया और सैनिकके हथियार सँभालकर, कमाण्डरने ठुड्डा लगाकर सैनिकको जगाया और इस प्रकारसे प्रश्न किये!

कमाण्डर—क्या तुम सो गये?

सैनिक—हाँ, सो गया।

कमाण्डर—हथियार तुम्हारे पकड़े गये?

सैनिक—हाँ, पकड़े गये।

कमाण्डर—तुम्हारी त्रुटि है?

सैनिक—हाँ, यह मेरी त्रुटि है।

कमाण्डर—तुमको प्रातः सैनिक-अदालतमें उपस्थित होना है।

सैनिक—जैसी आपकी आज्ञा।

प्रातःकाल वह सैनिक विलियम स्काउट सैनिक अदालतमें उपस्थित हुआ और जज साहबने कमाण्डरकी रिपोर्ट पढ़कर उससे इस प्रकार प्रश्न किये।

जज—क्या तुम रातको ड्यूटीपर सो गये?

सैनिक—हाँ, सो गया।

जज—तुम्हारे हथियार पकड़े गये?

सैनिक—हाँ, पकड़े गये।

जज—तुम अपनी त्रुटि मानते हो?

सैनिक—हाँ, मानता हूँ।

जज—यह सैनिक अदालत तुम्हें मृत्यु-दण्ड देती है।

सैनिक—मुझे स्वीकार है।

मृत्युदण्डकी सजा मिलते ही, सैनिक गिरफ्तार कर लिया गया और मृत्युदण्डके आज्ञा-पत्रपर राष्ट्रपतिके हस्ताक्षर करवानेके लिये एक संदेश-वाहक राष्ट्रपतिके पास गया। उस समय राष्ट्रपति कार्यालयमें बैठे युद्ध-समाचारोंकी प्रतीक्षा कर रहे थे। मृत्युदण्ड-आज्ञापत्रपर हस्ताक्षर करनेसे पूर्व सैनिकसे कुछ बातें पूछनेके लिये उसको अपने पास बुलाया और इस प्रकारसे प्रश्न किये।

राष्ट्रपति—क्या तुम ड्यूटीपर सो गये?

सैनिक—हाँ, सो गया।

राष्ट्रपति—क्या तुम्हारे हथियार पकड़े गये?

सैनिक—हाँ, पकड़े गये।

राष्ट्रपति—तुम अपना अपराध स्वीकार करते हो?

सैनिक—हाँ, मैं अपना अपराध स्वीकार करता हूँ।

राष्ट्रपति—तुम्हें मृत्युदण्ड स्वीकार है?

सैनिक—मुझे स्वीकार है।

राष्ट्रपति—तुमने अपने प्राणदण्डका समाचार घरवालोंको भेज दिया है?

सैनिक—जी नहीं।

राष्ट्रपति—क्यों नहीं भेजा ?

सैनिक—श्रीमान्जी ! मेरे परिवारमें केवल मेरी एक बूढ़ी माता ही है, जिसका केवल एकमात्र मैं ही सहारा हूँ। ऐसा न हो कि मेरे प्राणदण्डका समाचार पाते ही वह मुझसे पहिले स्वर्गमें चली जाय।

राष्ट्रपति—तुम्हें इस मृत्युदण्डसे कोई दुःख तो अनुभव नहीं होता ?

सैनिक—दुःख तो अवश्य अनुभव होता है।

राष्ट्रपति—क्या तुम मृत्युसे डरते हो ?

सैनिक—बिल्कुल नहीं !

राष्ट्रपति—तो फिर दुःख अनुभव क्यों करते हो ?

सैनिक—क्योंकि कुत्तेकी मौत मारा जा रहा हूँ।

राष्ट्रपति—किस प्रकारसे ?

सैनिक—जिस समय मैं सेनामें भरती हुआ, उस समय मेरे मनमें यह भावना थी कि मैं मातृभूमिकी रक्षा करता हुआ हँसते-हँसते समर-यज्ञमें प्राणोंकी आहुति दे दूँगा। परंतु इस समय स्थिति कुछ दूसरी ही हो गयी। वह इस प्रकारसे है। जिस समय मैं घरसे ड्यूटीपर आ रहा था, उस समय मेरा एक मित्र सैनिक बीमार था। उसकी माताजीने मुझसे कहा—'बेटा ! यह बीमार है। बीमारीकी अवस्थामें इसका ध्यान रखना !' तब मैं उनकी आज्ञाका पालन करते हुए पहिले सारी रात उसकी देख-भाल करता रहा। वह बेचारा चल भी नहीं सकता था, इसलिये उसका सारा बोझ भी मैंने अपने कंधोंपर वहन किया। वह सो गया तब मैं उसकी ड्यूटीपर गया। उसके पश्चात् जब मैं अपनी ड्यूटीपर उपस्थित हुआ तो उस समय मेरा शरीर थकावटसे चूर-चूर हो गया था, जिसके फलस्वरूप मुझे अपनी ड्यूटीपर नींद आ गयी। मेरा मन अपने आपको बहुत धिक्कारता है। मेरी भावना तो यह थी कि देशकी रक्षा करता हुआ हँसते-हँसते इज्जतकी मौत मरूँ; परंतु होनहार मुझे आज इस प्रकारसे कुत्तेकी मौत मरवा रही है !

इतना सुनते ही राष्ट्रपतिके रोंगटे खड़े हो गये और वे विचारने लगे कि इस प्रकारकी इतनी देशभक्तिकी दृढ़ भावना धन्य है। हमें ऐसे देशभक्तोंपर गर्व होना चाहिये। इन्हीं कारणोंसे हम वीरोंको याद करते हैं और श्रद्धाञ्जलियाँ देते हुए श्रद्धाके पुष्प अर्पित करते हैं। इस प्रकार विचार करते हुए राष्ट्रपतिने उसी समय उसका प्राण-दण्ड क्षमा कर दिया और वह सैनिक अपनी ड्यूटीपर चला गया। रात्रिको युद्ध छिड़ गया और वह सैनिक उस युद्धमें मारा गया।

प्रातःकाल ही उस सैनिककी यह वीर-गाथा, चित्र-सहित सभी अमेरिकाके समाचार-पत्रोंमें छपी।

—केवलचन्द

श्रीआत्माराम जैन शिक्षानिकेतन, रोपड़

(४)

ऋण-मुक्ति

आजके मध्यप्रदेशके अन्तर्गत पूर्व ग्वालियर-राज्यके जिला-गुनाके परगना चाचौड़ामें कस्बा-बीनागंजके समीप एक ग्राम बीजनीपुरा है। वहाँ मीना जातिके श्रीदेवचन्द कृषि-कार्य करते हैं। श्रीदेवचन्दके पुरखे श्रीभगवानजी काशीराम ग्राम-बीजनीपुराकी ओर कस्बा बीनागंजके सेठ कन्हैयालाल हजारीलाल खण्डेलवाल (लश्करवाले) के पूर्वसे चले आये हुए खातेमें रु० ८२५) वैशाख बदी सप्तमी संवत् १९८५ को बाकी लेने निकलते थे। जिसकी ८६) रु० सालाना किश्त कर दी गयी थी। परंतु आर्थिक परिस्थिति ठीक न होनेके कारण रकम अदा नहीं हो सकी थी और वह रकम सेठोंकी ओरसे म्यादबाहर हो जानेके कारण समाप्त कर दी गयी थी।

लगभग तीन मास पूर्व श्रीभगवानजी काशीरामके वारिस श्रीदेवचन्द मीनाने सेठ कन्हैयालाल हजारीलाल बीनागंज फर्मके मुनीम द्वारकादास गर्गसे अपने पुरखोंके ऋणसे मुक्त होनेकी इच्छा प्रकट की और द्वारकादास मुनीमने उनकी भावनाओंकी प्रशंसा करते हुए उन्हें उक्त फर्मके मौजूदा मालिकान लश्करके (श्रीरघुवरदयाल शिवशंकरलालजीसे) बीनागंज दूकानपर दौरेके समय मिलनेको कहा।

दिनाङ्क ३। १। ६७ को श्रीरघुवरदयालजी, मालिक फर्म श्रीकन्हैयालालजी हजारीलालजी लश्करसे बीनागंज आये एवं श्रीदेवचन्द मीना बीजनीपुराने स्वेच्छासे अपने बुजुर्गोंको ऋणमुक्त करनेकी दृष्टिसे उन्हें रु० ५०१) देकर चुकती फारगती चाही। जिसे सेठजीने सहर्ष स्वीकारकर खातेकी चुकती रसीद दे दी और उक्त रकम मियादबाहर होनेपर

भी अपनी इच्छासे देनेके कारण उसे अपने निजी उपयोगमें न लेकर किसी धार्मिक कार्यमें ही व्यय करनेका उन्होंने निश्चित विचार व्यक्त किया।

ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आजके इस युगमें, जब कि अधिकांश व्यक्ति रजिस्टर्ड दस्तावेजोंसे भी इन्कार कर देते हैं, लगभग ३९ वर्षसे भी पूर्वकी और वह भी उनके बुजुर्गोंनके हाथकी पुरानी मियादबाहरकी रकमका ऋणमुक्त होनेकी दृष्टिसे स्वेच्छासे देना श्रीदेवचन्द मीनाका आजके इस युगमें एक आदर्श कार्य है।

—द्वारकादास गर्ग

(भूतपूर्व सदस्य, मध्यप्रदेश विधान-सभा)

(५)

उदार व्यवहार

एक दिन मैं पानवालेकी दूकानपर खड़ा था, वहाँ कनुने आकर मुझसे कहा 'तुमने जो कमरा दिलवाया है, इसके लिये तुम्हें धन्यवाद है। बाळुसेठ तो बाळुसेठ ही है।'

बाळुसेठके विषयमें मैं कुछ भी नहीं जानता था। काँदावलीकी बीस कमरोंकी एक चालीमें एक कमरा खाली होनेकी खबर मुझे मिली। तब मैंने कनुसे बात की। वहाँ रहने लगनेके बाद पहली बार ही कनु मुझे मिला। मैंने उससे पूछा—'बाळुसेठ क्या मकानका भाड़ा नहीं लेते जो तू उनके इतने गुण गा रहा है?'

'गरीबसे धनी बने हुए बहुतसे मकान-मालिक हैं। पर धनी होनेपर वे बीती बातको भूल जाते हैं। लेकिन बाळुसेठ भूतकालको भूले नहीं हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने स्वयं दुःख देखे हैं, इससे आज भी वे दूसरेकी दुःखद स्थितिको ठीक-ठीक समझ सकते हैं।' इतना कहकर कनुने चालीका हाल बताया और उसके मालिक बाळुसेठके परदुःख-भंजन स्वभावका विस्तारसे वर्णन किया।

एक बार कनुकी नौकरी छूट गयी। वह बाळुसेठके पास गया। दीवाली आ गयी थी और उसके पास एक पैसा भी नहीं था। उसने महीने-दो-महीनेमें वापस लौटा देनेकी शर्तपर बाळुसेठसे बीस रुपये उधार माँगे।

'लो ये रुपये, घबराना मत, सुख-दुःख तो आया ही करते हैं।' सेठने रुपये देते हुए कनूको इन शब्दोंमें हिम्मत बँधायी।

बाळुसेठकी चालीके छः महीनेसे लेकर दो-दो वर्षतक-का कमरोंका भाड़ा चढ़ जाता है, परंतु वे भाड़ेके लिये सख्ती नहीं करते। वरं उल्टे किरायेदारके 'विपत्ति-विदारण भैरव' की तरह सहायक बनकर खड़े रहते हैं।

नटु नामक एक किरायेदार एक बार बेकार हो गया। बहुत दिन बीत गये, नौकरी नहीं मिली। वह बाळुसेठका छः सौ रुपयेका कर्जदार हो गया। चिन्ताका पार नहीं था। एक दिन तो उसे राशनके लिये भी पैसे नहीं मिले। क्या करना चाहिये, इसी विचारसे जागते रात बीती। अन्तमें वह टूटेके सहारे जैसे बाळुसेठके पास पहुँचा और उसने कहा—'सेठ! मीठे पेड़की जड़ कहाँतक खायी जाय! अब तो राशनके पैसे भी नहीं रहे, मुझे कोई रास्ता सुझायेंगे?'

बाळुसेठने बड़े ममत्वसे कहा—'भाई! यों घुलते रहनेसे क्या होगा। समय कठिन है। नौकरी भी कहाँसे मिले? मेरी बात मानो तो देश चले जाओ।'

नटुकी धीरज समाप्त हो गयी। उसने कहा—'देश जानेके लिये भी मैं पैसे कहाँसे लाऊँ?' बाळुसेठने नटुको धीरज देकर सौ रुपये दिये। कमरा खाली करके नटु देश चला गया। नटुकी कोठरी खाली होनेपर कनु अपने एक सम्बन्धी-को कोठरी दिलवानेके लिये सेठके पास गया। थोड़ा बहुत भी कमानेवाले व्यक्तिको कोठरी किराये देनेमें सेठको आपत्ति नहीं थी। अतः बाळुसेठने कनुके सम्बन्धीको कोठरी दे दी। इस विषम कालमें बाळुसेठ चालीके किरायेदारोंके लिये जीवन-आधार बन गये थे। उनकी मानवता ही किरायेदारोंकी रक्षा कर रही थी। सेठको कोई व्यवहारकुशल बननेकी सलाह देता तो उत्तरमें वे इतना ही कहते—

'भाई! मैं बिना कुछ साथ लिये ही जन्मा था। यहाँ आया था, तब केवल राहखर्च ही साथ था। पैसे यहीं कमाये। अतः वे यहींके भाइयोंके काममें लग जायँ तो इससे अच्छा और क्या होगा?' 'अखण्ड आनन्द'

—ताराचन्द्र ल० दानी

दस पुस्तकोंके नये संस्करण

१—**श्रीमद्भागवतमहापुराण (मूलमात्र)**—गुटका साइजमें; संस्करण आठवाँ, पृष्ठ-संख्या ७६८, स० मू० ४.००
(बहुत दिनोंसे इसका संस्करण समाप्त हो गया था, जनता बराबर माँग रही थी परंतु अवकाशाभावसे अबतक तैयार न हो सकी थी।)

२—**मानस-रहस्य**—ले० श्रीज़यरामदासजी 'दीन'; संस्करण दसवाँ, पृष्ठ-संख्या ५१२, सचित्र मूल्य १.५०
(इसमें 'मानस'के गूढ़ रहस्योंपर प्रकाश डालनेकी चेष्टा की गयी है।)

३—**श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड १)**—ले० श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी, संस्करण छठा, पृष्ठ-संख्या २८८, पाँच बहुरंगे चित्र, मूल्य १.१५
(त्याग, वैराग्य और प्रेमके समुद्र महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेवकी यह जीवनी भक्तोंको महान् आनन्द प्रदान करनेवाली है।)

४—**तत्त्व-चिन्तामणि भाग ३ (बड़ा)**—ले० श्रीजयदयालजी गोयन्दका; संस्करण आठवाँ, पृष्ठ-संख्या ४२४, सचित्र मूल्य .... .८०

५—**भक्त-सुधाकर**—संस्करण सातवाँ, पृष्ठ-संख्या १००; इसमें भावुक भक्तोंकी बारह कथाएँ और उनके चित्र हैं। मूल्य .... .६०

६—**भक्त-दिवाकर**—संस्करण छठा, पृष्ठ-संख्या १००, इसमें आठ भक्तोंकी भावपूर्ण कथाएँ तथा उनके चित्र हैं। मूल्य .... .५५

७—**बालचित्रमय चैतन्य-लीला**—आकार डबल क्राउन आठपेजी, संस्करण आठवाँ; श्रीमन्महाप्रभुजीका सुन्दर बहुरंगा चित्र, साथ ही प्रत्येक पृष्ठके सादे चित्रोंके नीचे पद्यमें तथा उसके सामने सरल भाषामें परिचय, मूल्य .४०

८—**बालकोंकी बातें**—संस्करण ग्यारहवाँ, पृष्ठ-संख्या १५२, इसमें बालकोंके लिये खेल-कूद, माता-पिता, पढ़ाई, ईश्वर-भक्ति आदि विषयोंका विवेचन है। मूल्य .... .३०

९—**भजन-संग्रह (भाग २)**—तेईसवाँ संस्करण, पृष्ठ १३६, इसमें हितहरिवंशजी, स्वामी हरिदासजी, गदाधरजी भट्ट, नन्ददासजी, कुम्भनदासजी आदि व्रजके प्रेमी महात्माओंके तथा दादूदयालजी, रैदासजी, मलूकदासजी, चरनदासजी आदि आत्मानुभवी ज्ञानी संतोंके भजन एवं बानियोंका संग्रह है। मूल्य .... .१५

१०—**रामायण-मध्यमा-परीक्षा पाठ्यपुस्तक**—संस्करण सातवाँ, इसमें परीक्षोपयोगी विनय-पत्रिकाके १५ चुने हुए पद एवं दोहावलीके साठ दोहे सानुवाद दिये गये हैं। मूल्य .... .१०

सभी पुस्तकोंका डाकखर्च अलग

पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेसे पहले स्थानीय विक्रेताओंसे प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

एक विशेष पुस्तक

महाभारतकी नामानुक्रमणिका

इसमें महाभारतमें आये हुए लोक, द्वीप, देश, नगर, जनपद, समुद्र, नद, नदी, सरोवर, कुण्ड, तीर्थ, वन, पर्वत, ऋषि-मुनि, राजा, अन्यान्य मनुष्य, देवता, देवी, मातृका, यक्ष, गन्धर्व, नाग, नक्षत्र, अप्सरा, राक्षस, असुर, दैत्य-दानव, स्थान, वस्तु, पर्व आदिके नाम तथा कौन नाम कहाँ किस प्रसङ्गमें आया है इसके उल्लेखसहित वर्णानुक्रमसे वर्णन है। इसके तैयार करनेमें बहुत भारी परिश्रम और व्यय हुआ है। एक सुप्रसिद्ध विद्वान्‌के शब्दोंमें यह "महाभारतका कल्पवृक्ष" है।

आकार २२×३० आठपेजी पृष्ठ ४१६, मूल्य २.५०, सजिल्द ३.५०, डाकखर्च अलग।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

गीताप्रेस-सेवादलकी ओरसे बिहारमें किंचित् सेवाकार्य

जब जहाँ मनुष्य धर्मको छोड़कर अधर्मपरायण हो जाता है और जब जहाँ प्राणियोंके पूर्वकृत अ फलदानोन्मुख होते हैं, तब वहाँ अवर्षा, अतिवर्षा, अकाल, बाढ़, सूखा, महामारी, कलह, हिंसा उपद्रव होने लगते हैं, जिससे न्यूनाधिक रूपमें प्रारब्धानुसार सभी जीवोंको कष्ट होता है। आज वि प्रायः यही स्थिति है। और किसी युगका धर्म-प्राण भारत भी आज धर्मरहित शासन तथा धर्मरहित शि सम्पन्न होकर मानो अधर्ममय ही बनता जा रहा है। इसीका परिणाम है—महँगी, भूखमरी, कलह, आदि। जबतक मनुष्य धर्मपर आरूढ़ नहीं होगा, तबतक किसी भी अन्य साधनसे वह क्लेशमुक्त नहीं सकता, क्लेशके कारण तथा रूप भले ही बदलते रहें। आज भारतके कई प्रदेशोंमें अन्नका भयानक है, लोग भूखों मर रहे हैं। ऐसी अवस्थामें जिनके पास जो साधन हैं, उन्हें भगवान्‌की वस्तु भूखोंकी प्राण-रक्षाके रूपमें भगवान्‌की सेवामें लगाकर मानवताके स्वरूपकी रक्षा और कर्तव्यका करना चाहिये। कष्ट तो तभी दूर होंगे, जब सर्वशक्तिमान् भगवान् दूर करेंगे। हमें तो केवल भगवा दी हुई वस्तुको भगवान्‌के अर्पण करनेका प्रयास भर करना है अभिमानशून्य होकर विनम्र साथ भगवत्प्रीत्यर्थं।

इसी दृष्टिकोणसे अत्यन्त सीमित शक्ति-सामर्थ्यके अनुसार बिहारके १९ गाँवोंमें 'गीताप्रेस-सेवाद की ओरसे अभी अन्न-वितरणका कार्य हो रहा है। कुछ वस्त्रादि भी भेजे गये हैं। काम बढ़ा विचार है। कार्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है, शक्ति तथा साधन अत्यन्त सीमित। जितना जो कुछ बन र वही भगवत्कृपा है—गीताप्रेस रुपयोंके लिये अपील नहीं करता। केवल सूचनामात्र दी जा रही है

व्यवस्थापक—गीताप्रेस-सेवाद

गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस, गोर

'कल्याण'के पुराने प्राप्य विशेषाङ्क (डाकखर्च सबमें हमारा है)

१—मानवता-अङ्क—पृष्ठ-सं० ७०४, मानवताकी प्रेरणा देनेवाले सुन्दर चित्र—बहुरंगे ३९, दुरंगे एकरंगे १०१ और रेखाचित्र ३९, मूल्य रु० ७.५० पैसे।

२—संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क—प्रसिद्ध शिवपुराणका संक्षिप्त सार-रूप है। इसमें ७०४ पृष्ठोंकी ठोस सामग्री है, बहुरंगे चित्र १७, दोरंगा १, सादा १२ तथा रेखाचित्र १३८, मूल्य रु० ७.५०, सजिल्दका रु० ८.

३—संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्त्तपुराणाङ्क—इसमें भगवान् श्रीकृष्णकी विविध दिव्य लीलाओंका बड़ा ही रोचक है। पृष्ठ-संख्या ७०४, बहुरंगे चित्र १७, दोरंगा १, इकरंगे ६, रेखाचित्र १२०, मूल्य रु० ७.५०, सजिल्द रु० ८.

४—धर्माङ्क—धर्म-सम्बन्धी विवेचनाओं, सुरुचिपूर्ण कथाओं, सरस सूक्तियों तथा रोचक निबन्धोंसे यु पृष्ठ-सं० ७००, बहुरंगे चित्र १४, दोरंगा १, सादे चित्र ४ तथा रेखाचित्र ८१, सजिल्द (कपड़ेकी जि मूल्य रु० ८.७५।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपु

वर्ष ४१] * * * [अङ्क ५

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,५०,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ २०२४, मई १९६७

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य
भारतमें ८.५०
विदेशमें १५-६०
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत-चित-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट, जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ५० पै०
विदेशमें ८० पै०
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

भक्तिकी महिमा—भगवत्कृपा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

अविरतभवभावनातिदूरं भवविमुखैर्मुनिभिः सदैव दृश्यम् ।
भवजलधिसुतारणाङ्घ्रिपोतं शरणमहं रघुनन्दनं प्रपद्ये ॥
रतिपतिशतकोटिसुन्दराङ्गं शतपथगोचरभावनाविदूरम् ।
यतिपतिहृदये सदा विभातं रघुपतिमार्तिहरं प्रभुं प्रपद्ये ॥

वर्ष ४१ } गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ २०२४, मई १९६७ { संख्या ५
पूर्ण संख्या ४८६

भक्तिकी महिमा

भक्तिकी महिमा अतुल अपार ।
बारांगना-प्रीति तें रीझे, हरि साँचे रिझवार ॥
अब लौं अबुध रिझावत भोगी लोगनि रही गँवार ।
सपनें निरखि स्याम-सुंदरता बिसरी सब संसार ॥
प्रेम-मगन सो भई बावरी, सजि सोरह सिंगार ।
कर इकतार झाँझ लै निकसी, उमग्यौ रस-भंडार ॥
नाचि-नाचि गावत जमुनातट प्रिय-गुन-नाम उदार ।
अपलक नैन, भूलि जग-जग, मनमोहन रही निहार ॥
प्रगटे स्याम मुदित मन निरखत प्रीति-रीति सुख-सार ।
लगे बहावन भरि मुरली मग मधुर अमिय-रस-धार ॥

याद रक्खो—राग और द्वेष मनुष्यके बहुत बड़े शत्रु हैं, जो प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें स्थित रह-कर तुम्हारे जीवनसंगी बने तुम्हारे परम अर्थको निरन्तर लूट रहे हैं। राग-द्वेषसे ही काम-क्रोधकी उत्पत्ति होती है, जो समस्त पापोंके मूल हैं।

याद रक्खो—जिसके मनमें भोगकामना है, वह कभी सच्चे अर्थमें सुखी नहीं हो सकता; कामनाकी पूर्तिमें एक बार सुखकी लहर-सी आती है; पर कामना ऐसी अग्नि है, जो प्रत्येक अनुकूल भोगको आहुति बनाकर अपना कलेवर बढ़ाती रहती है। जितनी-जितनी कामनाकी पूर्ति होती है, उतनी-उतनी कामना अधिक बढ़ती है। कामना अभावकी स्थितिका अनुभव कराती है और जहाँ अभाव है, वहीं प्रतिकूलता है एवं प्रतिकूलता ही दुःख है। अतएव कामना कभी पूर्ण होती ही नहीं और इसलिये मनुष्य कभी दुःखसे मुक्त हो ही नहीं सकता। कामना बड़े-से-बड़े समृद्धिमान् वैभवशाली पुरुषको भी दीन बना देती है, कामना बड़े-से-बड़े विचारक तथा बुद्धिमान् पुरुषके मनमें भी अशान्तिका तूफान खड़ा कर देती है। कामनाकी अपूर्तिमें क्षोभ तथा क्रोध होता है, जो मनुष्यको विवेकशून्य बनाकर उसको सर्वनाशके पथपर तेजीसे आगे बढ़ाता है। इसलिये इन काम-क्रोधके मूल राग-द्वेषका त्याग करो।

याद रक्खो—यदि राग-द्वेषका त्याग न हो तो उनके विषयोंको तो जरूर बदल डालो। राग करो श्रीभगवान्में, उनके स्वरूप-गुण-लीलामें, उनके नाममें और उनमें आत्मसमर्पित उनके भक्तोंमें; द्वेष करो अपने दुर्गुणोंमें, दुर्विचारोंमें, बुरे कामोंमें, पापोंमें, अन्तःकरणकी बुरी वृत्तियोंमें, भोगासक्तिमें और विषय-सुखकी कामनामें। बस, फिर ये राग-द्वेष ही तुम्हारे परम अर्थके—आध्यात्मिक सम्पत्तिके रक्षक और पोषक बन जायँगे। अग्निसे घरमें आग लगकर सब कुछ भस्म हो जाता है और अग्निसे ही यज्ञ-कर्म सम्पन्न होनेपर सब कुछ प्राप्त हो जाता है।

याद रक्खो—भगवान्में राग होनेपर भगवद्विरोधी अपने तन-मनके कार्योंमें द्वेष होगा ही। जिनमें द्वेष होता है, वे बुरे लगते हैं और मनुष्य उनका विनाश चाहता है। अतएव भगवान्में उत्पन्न राग स्वभावतः ही शरीर तथा मनसे होनेवाले दुष्कर्म तथा दुष्ट विचारोंका नाश कर देता है। भगवान्में राग ही परम दुर्लभ भगवत्प्रेम है और पापमें द्वेष ही सच्चा वैराग्ययुक्त परम साधन है।

याद रक्खो—भगवान्में तुम्हारा राग बढ़े, इसके लिये भगवान्के स्वरूप, गुण, चरित्र, लीला आदिका बार-बार श्रवण करो, कीर्तन करो, चिन्तन करो, मनन करो और इसमें गौरव, आनन्द तथा शान्तिका अनुभव करो। भगवान्के अतुलनीय सुन्दर मधुर परम पावन नाम, रूप, भगवान्के अप्रतिम अनन्त ऐश्वर्य-गुण, भगवान्के चिदानन्दमय अनुपम सौन्दर्य-माधुर्य, भगवान्के सर्वविलक्षण तत्त्वस्वरूप आदिके श्रवण-कीर्तन-मननसे जितना ही मन उनकी ओर आकर्षित होगा, जितनी ही उनमें रुचि बढ़ेगी, उतना ही उनमें राग बढ़ेगा, उतनी ही उनमें प्रीति बढ़ेगी, उतनी ही उत्तरोत्तर उनके प्रति आत्मसमर्पणकी अधिकाधिक लालसा बढ़ेगी।

याद रक्खो—भगवान्में पूर्ण आत्मसमर्पणकी लालसाका उदय बहुत ऊँची साधनाका फल है; स्वयं परम तथा चरम साधन है, जो भगवत्प्रेमरूप सुदुर्लभ वस्तु प्रदान कराकर भगवान्का अभिन्नस्वरूप निजजन बना देता है।

याद रक्खो—पूर्ण आत्मसमर्पणकी लालसा जाग्रत् होनेपर उसमें बड़ी-से-बड़ी भोगकामना तो रहती ही नहीं, मोक्षकामना भी छिप जाती है। एकमात्र भगवान्के परम पावन सुरेन्द्र-मुनीन्द्रवन्दित चरणकमलोंकी शरण ही उसकी सारी कामना, वासना, इच्छा, अपेक्षा, स्पृहा, लालसा आदिका विषय हो जाती है।

'शिव'

ब्रह्मलीन पूज्यपाद अनन्तश्रीविभूषित श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अनुपम अमृतोपदेश

(संकलनकर्ता और प्रेषक—श्रीसालिगरामजी)

(महापुरुषोंकी रहस्यपूर्ण आज्ञाएँ)

········संसारमें जो महापुरुष हो गये हैं अथवा जो महापुरुष वर्तमानकालमें ईश्वर-कृपासे हमें प्राप्त हैं, उनके आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये, उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये तथा उनके संकेतका अनुवर्तन करना चाहिये। संकेतका अर्थ यह कि बिना बोले इशारेसे उन्होंने कोई बात कह दी अथवा जिज्ञासाके भावसे कोई बात पूछ ली। मान लीजिये, उन्होंने आपसे पूछा—जप, ध्यान होता है न? उनके इस प्रकार पूछनेपर यदि अबतक न करते हों तो आपको जप और ध्यान प्रारम्भ कर देना चाहिये। प्रश्नके रूपमें उनका आपके लिये यह संकेत ही है कि आप ऐसा करें। यदि वे किसी कामके लिये आपको साक्षात् प्रेरणा कर दें, तब तो आपको अपना अहोभाग्य मानना चाहिये। आज्ञा और प्रेरणाका अर्थ प्रायः मिलता-जुलता-सा है। प्रेरणाका स्वरूप यह है—'प्रातःकाल बड़े सबेरे उठना चाहिये। सूर्योदयसे पहले ही स्नान करके यज्ञोपवीत हो तो संध्या एवं गायत्री-जप प्रारम्भ कर देना चाहिये। शास्त्रकी मर्यादा तो यह है कि संध्या और भी जल्दी—रात रहते ही प्रारम्भ कर दी जाय और सूर्योदयतक गायत्रीका जप करते रहा जाय। संध्या-गायत्रीमें जिनका अधिकार नहीं है अर्थात् जिनके यज्ञोपवीत नहीं हैं—जैसे स्त्रियाँ, शूद्र एवं बालक आदि, उनके लिये वे महापुरुष यह कह सकते हैं कि 'भगवान्के नामका जप एवं स्वरूपका ध्यान, गीताका पाठ, भगवान्की मानसिक पूजा या मूर्तिपूजा, अपने आत्माके कल्याणके लिये भगवान्से प्रार्थना, भगवान्के गुणोंका गान, यह तो अवश्य ही करना चाहिये। सोनेके समय भगवान्के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको याद करते-करते सोना चाहिये। अथवा निर्गुण-निराकार ब्रह्ममें श्रद्धा, प्रेम, विश्वास हो तो निर्गुण-निराकार तत्त्वका ध्यान करते-करते शयन करना चाहिये और काम करते समय लक्ष्य भगवान्की ओर रहना चाहिये।' यह प्रेरणाके रूपमें एक प्रकारकी आज्ञा ही है। इसके उत्तरमें हमारे यह कहनेपर कि 'जो आप कहते हैं, बहुत ठीक है, और तदनुसार यत्किंचित् प्रयत्न भी किया जाता है; किंतु मन भगवान्में नहीं लगता,' यदि महात्मा यह कहें कि मन न लगे तो भी ऐसा करते रहो तो यह उनकी स्पष्ट आज्ञा हुई। इसके भी आगे यदि वे यह कह दें कि 'करते-करते मन लगने लगेगा' तो यह उनका आशीर्वाद हुआ, जो उन्होंने भविष्यकी बात कह दी। दूसरे शब्दोंमें यह उनका एक प्रकारसे वरदान हो गया। अमुक कार्य करो, इस प्रकार करो—यह आज्ञा है। अमुक कार्य करनेसे अवश्य सफलता मिलेगी, यह एक प्रकारका आशीर्वाद है, वरदान है।

× × ×

एक महात्माका प्रसाद

विश्रामकी महिमा

(संकलयिता—श्री'माधव')

विश्राम निर्बलका बल तथा सफलताके लिये अचूक अस्त्र है। जब सभी प्रयास असफल हो जाते हैं, तब विश्रामसे सफलता होती है। इस दृष्टिसे विश्राम अन्तिम साधन है। लक्ष्यसे अभिन्न होनेके लिये विश्राम अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक दशामें क्षोभरहित होनेसे ही यथेष्ट विश्राम मिल सकता है। विश्राम आलस्य नहीं है, अकर्मण्यता नहीं है। विश्राम वह जीवन है, जिससे सभी क्रियाएँ उदित होती हैं अथवा जिसमें सभी क्रियाएँ विलीन होती हैं। जिस प्रकार अचल हिमालयसे ही अनेक नदियाँ निकलती हैं और सभी नदियाँ जाकर उसी समुद्रमें विलीन होती हैं जो अपनी मर्यादामें ही प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार समस्त प्रवृत्तियोंका उद्गमस्थान भी विश्राम है और समस्त प्रवृत्तियोंका अन्त भी विश्राममें ही निहित है। विश्राम जडतत्त्व नहीं है। विश्राम चिन्मय तत्त्व है। विश्राम उन्हींको प्राप्त होता है, जो अपनेको सभी वस्तु, अवस्था आदिसे असङ्ग कर लेते हैं।

शक्तिसंचयका केन्द्र एकमात्र विश्राम है। गहरी नींदके द्वारा विश्राम पाकर शारीरिक श्रम दूर हो जाता है और कार्य करनेकी क्षमता आ जाती है। शारीरिक विश्राम आवश्यक श्रमसे, मानसिक विश्राम अनावश्यक संकल्पोंके त्यागसे और बौद्धिक विश्राम संकल्पपूर्तिके सुखका त्याग करनेसे प्राप्त होता है। प्राकृतिक नियमानुसार भौतिक विकास भी विश्राममें ही निहित है। प्रत्येक बीज पृथ्वीमें विश्राम पाकर ही विकसित होता है। मृत्यु ही, जो प्राकृतिक विश्राम है नवीन जीवन देती है। जीवनका सदुपयोग जीवनकाल-में ही विश्राम प्रदान करता है, जो नित्य जीवनका हेतु है।

विश्राम साधन भी है और साध्य भी, कारण कि विश्रामसे ही समस्त शक्तियोंका विकास होता है और उनके सदुपयोगसे अन्तमें मिलता है विश्राम ही; क्योंकि विश्राममें ही जीवन है, चिन्मयता है, नित्य नवरस है।

अब विचार यह करना है कि विश्रामप्राप्तिमें क्या-क्या विघ्न है। तो यह कहना होगा कि जो वर्तमानका कार्य है, उसे भविष्यपर छोड़ना और जो वर्तमानका कार्य नहीं है उसका चिन्तन करना। शरीर और विश्वकी एकता, प्राप्त वस्तुओंकी ममताका त्याग एवं उनका सदुपयोग वर्तमान जीवनकी वस्तु है। ममता-रहित होते ही सभी बन्धन स्वतः टूट जाते हैं। जिसका होना सम्भव नहीं, उसके लिये सोचना या चिन्ता करना जीवनका अनादर तथा सामर्थ्यका दुरुपयोग करना है। जो करने योग्य नहीं है, उसके न करनेसे जो करने योग्य है, उसकी योग्यता तथा सामर्थ्य स्वतः आ जाती है।

हमें तो संसारकी सेवा करना है, उससे लेना कुछ नहीं। बेचारा संसार स्वयं ही किसीकी खोजमें है। वह हमें दे ही क्या सकता है? फिर भी हम उसके पीछे पड़े हैं। यही प्रमाद है। अतः हमें संसारकी धरोहर जो शरीर आदि वस्तुओंके रूपमें प्राप्त है, उसे संसारकी सेवामें लगा देना है और आगे उससे क्षमा माँग लेना है। जब हम संसारकी समस्त वस्तुओंको उसीकी सेवामें लगा देते हैं, तब हम स्वभावसे ही उसके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं और समस्त संसार हमसे प्रसन्न हो जाता है। संसार उसीको भय देता है, जो अच्छी वस्तुओंको अपनी मान लेता है। अतः हमें

संसारसे कुछ लेना नहीं है, अपितु उससे मिली वस्तुओंको उसीको दे देना है और स्वयं विश्राम पा लेना है, जो हमारा साधन है।

साधन-तत्त्व साधकका जीवन है और साधकका स्वभाव है, अतः विश्राम उस अनन्तका स्वभाव है और हमारा जीवन है। विश्राम आते ही दीनता तथा अभिमानकी अग्नि सदाके लिये शान्त हो जाती है, शरीर विश्वके काम आ जाता है और हृदयमें प्रीतिकी गङ्गा लहराने लगती है—यही साधनकी सिद्धि है, जो चिर विश्राममें निहित है।

उपनिषद् और वैदिक यज्ञ

(लेखक—श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय)

साधारणतया पाश्चात्य विद्वानोंका यह मत है कि उपनिषदोंके रचयिता मनीषियोंको वैदिक यज्ञोंकी कार्यकारितामें विश्वास नहीं रहा था और उन्होंने पूर्व-कालीन वेदमन्त्रोंमें जो अनेकों देवताओंकी भावना मिलती है, उसका निराकरण करके एकेश्वरवादकी अनुभूति प्राप्त की थी। इसी भावसे प्रोफेसर मैक्डानलने लिखा है—'यद्यपि उपनिषद् साधारणतया ब्राह्मण-ग्रन्थोंके अङ्ग हैं, वास्तवमें वे एक नवीन धर्मको प्रस्तुत करते हैं, जो कर्मकाण्ड अथवा क्रियापद्धतिके पूर्ण प्रतिकूल है।' (संस्कृत साहित्यका इतिहास, पृ० २१५) डाक्टर विन्टरनित्स लिखते हैं—'जब ब्राह्मणलोग अपनी निष्फल यज्ञविद्याके अध्ययनाध्यापनमें लग रहे थे, अन्य वर्ग उन उत्कृष्ट प्रश्नोंके विचारमें व्यस्त थे, जिनकी विवेचना परम प्रशंसनीय ढंगसे उपनिषदोंमें की गयी है। पुरोहितवर्गसे भिन्न इन्हीं तपस्वी जनोंमेंसे आगे चलकर वनवासी तापस और रमते योगी निकल पड़े थे।' (संस्कृत साहित्यका इतिहास, पृ० २३७)। मैक्सम्यूलर लिखते हैं—'इन उपनिषदोंमें वेदोंके समस्त कर्मकाण्ड अथवा यागपद्धतिका अनादर ही नहीं, उन्हें निरर्थक, बल्कि अनिष्टकारी मानकर अस्वीकार किया है। वेदोक्त पुरातन देवताओंको अब मान्यता नहीं दी जाती।' (वेदान्तकी उत्पत्ति, पृ० १६)। डायसनने लिखा है—

'आत्मवाद (अर्थात् उपनिषदोंका प्रधान वाद) मौलिकरूपसे वैदिक देवपूजारूपी धर्म और ब्राह्मणोंकी शास्त्रविधि-परम्पराके विरुद्ध है।' (उपनिषद्-प्रोक्त धर्म और दर्शन, पृ० २१)। गार्बेने लिखा है—'ब्राह्मण पुरोहितवर्ग एकके बाद दूसरे यज्ञोंके विस्तार करनेमें, बालकी खाल निकालनेवाली परिभाषाओंके रचनेमें, मन्त्रों और विधियोंकी निरर्थक व्याख्या करनेमें कुशल हैं। परंतु अब हमारे समक्ष एक उच्चकोटिका विवेचन आता है। विश्वकी पहेलीको बूझनेके लिये उत्कट आकाङ्क्षा और जीवात्माका उसके साथ क्या सम्बन्ध है? यह महान् प्रश्न हमारे मनको वशीभूत कर लेता है।' हरटलने कहा है—'क्षत्रिय जातिके लोगोंने वैदिक देवगणमें श्रद्धारहित होनेके कारण, उन देवगणके स्थानपर प्राकृतिक दैवीशक्तियोंको स्थापित किया और एक दार्शनिक मतका प्रतिपादन किया, जो साररूपसे ब्रह्मवाद है—निरीश्वर, चार्वाकीय और नीतिधर्मनिरपेक्ष।' डाक्टर राबर्ट अर्नेस्ट ह्यूमने लिखा है—'अब इस जीवनमें आचरणके लिये और परलोकमें मोक्षलाभके लिये देवपूजा, यज्ञ अथवा नैतिक आचरण आवश्यक धर्म नहीं रहा। अब तो ज्ञानसे ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है और ज्ञान पूजा आदि धर्मोंको मान्यता नहीं देता। अनेक देवगणसम्बन्धी समग्र धर्म और उन देवोंके लिये याग करनेकी आवश्यक विधियाँ अब एक

प्रकाण्ड कपट-जाल-सा दिखायी पड़ता है, उस पुरुषको जिसने जीवात्मा तथा परब्रह्म एक हैं—ऐसा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर लिया है।' (त्रयोदश उपनिषद् ग्रन्थ, पृ० ५३) डाक्टर ह्यूम आगे लिखते हैं—'मोहजनित देवोंके लिये यज्ञ तथा पुण्य-कर्म अध्यात्म ज्ञानकी ज्योतिमें निरर्थक प्रतीत होते हैं।' (वही पृ०५९)।

उपनिषदोंने प्रतिपादन किया है कि परमेश्वर अथवा परब्रह्म एक है, इससे पश्चिमी विद्वानोंने यह निर्णय कर लिया कि उपनिषदोंके कर्त्ता, उनके समान ही, गौण देवोंके अस्तित्वमें विश्वास नहीं करते थे। उपनिषद् यह भी प्रतिपादन करते हैं कि मानुष जीवनका ध्येय है आत्म-ज्ञानद्वारा मोक्ष पाना। इससे पश्चिमी विद्वानोंने यह परिणाम निकाला कि उपनिषद्कर्त्ता उनकी तरह, स्वर्गप्राप्तिमें यज्ञोंकी कार्यकारितामें विश्वास नहीं करते थे। पर ये दोनों निष्कर्ष तर्कानुमोदित नहीं। एकेश्वर और अनेक गौण देवताओंकी भावनाएँ परस्पर विरोधी नहीं। ज्ञानद्वारा मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त कर सकता है, इस कथनसे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वैदिक यज्ञोंद्वारा स्वर्गलाभ सम्भव नहीं। हम अनेकों उपनिषदोंके अंश नीचे उद्धृत करते हैं—यह दर्शानेके लिये ठीक उपनिषदोंने भी गौणदेवसमूहकी सत्ताको स्वीकार किया है और वैदिक यज्ञोंकी कार्यकारिताकी पुष्टि की है।

ईशोपनिषद्में मरणोन्मुख मनुष्य अपने आत्माको सुखप्रद मार्गसे ले जानेके लिये अग्निदेवसे प्रार्थना करता है।[1] केनोपनिषद्में ब्रह्म देवोंके समक्ष अपने तेजोमय स्वरूपमें प्रकट हुए और उनके कहनेपर न तो अग्निदेव एक तिनकेको जलानेमें समर्थ हो सके और न वायुदेव उसको चलानेमें ही, कारण ब्रह्म ऐसा चाहते न थे। शायद यह दलील पेश की जाय कि इस आख्यानका तात्पर्य ही है यह शिक्षा देना कि केवल एकमात्र ब्रह्मका ही अस्तित्व है, गौण-देवसमूहकी सत्ता नहीं। किंतु ऐसा हो नहीं सकता। कारण, आगे चलकर कहा है कि इन्द्र, वायु तथा अग्नि अन्य देवोंसे अतिशायी हैं; क्योंकि उन्होंने ही सबसे पहिले इतनी समीपतासे ब्रह्मका दर्शन-स्पर्श पाया था।[2] गौणदेवोंकी भावना यदि निराधार हो, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि उनमें कुछ देवता अन्य देवताओंमेंसे अतिशायी हैं। गौणदेवोंके निष्फल प्रयत्नोंके सम्बन्धमें यह कहना है कि परमेश्वरकी इच्छाके प्रतिकूल होनेपर मनुष्योंके भी प्रयत्न विफल हो जाते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकालना समीचीन नहीं होगा कि अवान्तरदेवोंका अस्तित्व सिद्ध नहीं, जैसे वह निर्णय करना असमीचीन होगा कि मनुष्योंकी सत्ता नहीं।

केनोपनिषद्में कर्मोंको ज्ञानका एक साधन माना है। 'तप, इन्द्रिय-निग्रह और कर्म उपनिषद्-प्रोक्त सत्य ज्ञानकी प्रतिष्ठा—नींव हैं, वेद उसके अङ्ग और सत्य शरीर हैं।[3]

कठोपनिषद्में ब्राह्मण-बालक नचिकेता यमसे आरम्भमें वैदिक यागविधिकी शिक्षाको प्राप्त करता है। 'हे यम! आप जानते हैं उस अग्निको, जिससे स्वर्गलाभ होता है। कृपया मुझे वह यज्ञविधि सिखा दीजिये। मैं इसमें श्रद्धावान् हूँ।[4]

जब नचिकेता ब्रह्मज्ञानके लिये प्रार्थना करता है, तब यम कहते हैं कि देवता भी ब्रह्मको जाननेकी इच्छा

(१) अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् (ईश उ० १८)

(२) तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुः। (केन उ० ४। २)

(३) तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्। (केन उ० ४। ८)

(४) स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो, प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्। (कठ उ० १। १। १३)

करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि गौण देवोंकी सत्ताको उपनिषदोंमें अस्वीकृत नहीं किया गया है—'पुरातन कालमें देवसमूह भी इस ब्रह्मको जानना चाहते थे[५]।'

आगे कठोपनिषद्में कहा है—'सकल गौण-देवसमूह उस ब्रह्ममें अन्तर्भूत है[६]।'

'ब्रह्मके भयसे अग्निदेव ताप देते हैं, सूर्यदेव ताप और प्रकाश देते हैं, इन्द्र, वायु और पाँचवें यमदेव अपने नियत कर्मोंको करते हैं[७]।'

प्रश्नोपनिषद्में कहा है—'जो मनुष्य यज्ञ करते हैं, कूप-तड़ाग खुदवाते हैं, वे चन्द्रलोकको जाते हैं[८]।'

मुण्डकोपनिषद्का तो प्रारम्भ ही होता है यह कहकर कि 'गौणदेवोंमें ब्रह्मा सर्वप्रथम उत्पन्न हुए थे[९]।'

मुण्डकोपनिषद् स्पष्टरूपसे वैदिक यज्ञोंकी सत्यताकी स्थापना करता है—'ये सब सत्य हैं—मन्त्रोंमें कथित कर्म—जिनका ज्ञान ऋषियोंको प्राप्त हुआ था[१०]।'

मुण्डक-उपनिषद् वैदिक यज्ञोंके सम्पादनका आदेश भी देता है—'इन यज्ञोंको तुमलोग नियमपूर्वक सम्पादन करो, सत्य ज्ञानको पाना चाहते हो तो[११]।'

आगे भी मुण्डकमें कहा है—'जो मनुष्य यज्ञोंका सम्पादन करते हैं, वे उनके पुण्यफलोंको स्वर्गमें भोगकर इस लोकमें अथवा इससे निम्न लोकोंमें उत्पन्न होते हैं[१२]।'

'गौण देवसमूह परब्रह्मसे उत्पन्न हुए थे[१३]।'

तैत्तिरीय उपनिषद् यज्ञोंको सम्पादन करनेका आदेश देता है—'देवों और पितरोंके कर्मोंके सम्पादनमें प्रमाद नहीं करना चाहिये[१४]।' (देवोंके कर्म हैं यज्ञ, पितरोंके कर्म हैं श्राद्ध और तर्पण)।

तैत्तिरीय उपनिषद्में आगे कहा है—'धर्माचरण करो[१५]।' इसकी व्याख्यामें श्रीशंकराचार्यने लिखा है, 'जबतक मनुष्य ब्रह्मके साथ अपने जीवात्माकी एकताकी अनुभूति नहीं कर पाता, तबतक वेदोक्त और स्मृत्युक्त कर्मोंको अप्रमादसे करना चाहिये[१६]।'

छान्दोग्यमें कहा है—'धर्मके तीन विभाग हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान पहिला भाग है[१७]।'

बृहदारण्यकमें कहा है—'इसी ब्रह्मको ब्राह्मणलोग जानना चाहते हैं—निष्काम यज्ञ, दान और तपको सम्पादन करके[१८]।

ऊपर जो कुछ कहा है, उससे पूर्णरूपसे स्पष्ट हो गया होगा कि वस्तुतः प्रत्येक प्रधान उपनिषद्में गौण

(५) देवैरत्रापि विचिकित्सितम्। (वही २। १। ९)

(६) तं देवाः सर्वे अर्पिताः। (वही २। १। ९)

(७) भयादग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥
(वही २। ३। ३)

(८) तद् ये ह वै ते इष्टापूर्ते कृतमित्युपासते, ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। (प्रश्न उ० १। ९)

(९) ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव। (मुण्डक उप० १। १)

(१०) तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्।
(वही १। २। १)

(११) तान्याचरथ नियतं सत्यकामाः। (वही १। २। १)

(१२) नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति। (वही १। २। १०)

(१३) तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः।
(मुण्डक उप० २। १। ७)

(१४) देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।
(तैत्तिरीय उप० १। ११। २)

(१५) धर्मं चर। (वही १। ११। १)

(१६) प्राग् ब्रह्मात्म प्रतिबोधान्नियमेनानुष्ठेयानि श्रौत-स्मार्त्तकर्माणि। (शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उप० १। ११। १)

(१७) त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः।
(छान्दोग्य उप० २। ३। १)

(१८) तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन। (बृहदारण्यकोप० ४। ४। २२)

देवताओंकी सत्ता और यज्ञोंकी कार्यकारिताके विश्वासकी दृढ़ स्थापना की गयी है। शायद कई लोगोंका यह विचार हो कि उपनिषद् एक ही मतको दृढ़रूपसे अन्ततक प्रस्तुत नहीं करते और ऊपर दिये उद्धरण यद्यपि बहुदेवोंके अस्तित्व तथा यज्ञोंकी सफलताके विश्वासका अनुमोदन करते हैं, तथापि ऐसे वचन भी हैं, जो यज्ञोंकी कार्यकारिताको अस्वीकार करते हैं। अतः मैं उन वचनोंपर विचार करूँगा, जिनको पाश्चात्य विद्वानोंने अपने मतकी पुष्टिमें उद्धृत किया है। एक उद्धरण है—

'ये यज्ञ कच्ची लकड़ीसे बनी नावों-जैसे हैं। जो इनको उत्तम कहते हैं, उन्हें पुनः जरा-मृत्युके वशमें जाना पड़ता है[१९]।'

यह उद्धरण इतना ही कहता है कि यज्ञोंके साधनसे मनुष्य पुनर्जन्मको रोक नहीं सकता। इस कथनका यह अभिप्राय नहीं कि यज्ञ-सम्पादन करके मनुष्य स्वर्गारोहण नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि मनुष्य यज्ञोंद्वारा स्वर्गलाभ तो कर सकता है, परंतु सदैव वहाँ नहीं रह सकता। ज्यों ही यज्ञोंसे उपार्जित पुण्य तथा अन्य सुकृत समाप्त होते हैं, मनुष्यको स्वर्ग छोड़कर पुनर्जन्म लेना पड़ता है। अतः मनुष्य-जीवनका सर्वोच्च ध्येय यज्ञोंद्वारा स्वर्गारोहण नहीं हो सकता, वह ध्येय होना चाहिये ज्ञानद्वारा मोक्ष-प्राप्ति। जो वचन ऊपर उद्धृत किया गया है, वह प्रथम मुण्डकके द्वितीय प्रपाठकमें आता है। इस प्रपाठकका आदिका श्लोक ही प्रतिपादन करता है कि यज्ञोंकी विधियाँ सत्य हैं और उनके सम्पादनके लिये वहाँ आदेश है[२०]। इससे स्पष्ट ज्ञात होगा कि यह वचन यज्ञोंकी कार्यकारिताको अस्वीकार नहीं करता।

दूसरा उद्धरण जिसका इस मतकी पुष्टि करनेमें उल्लेख किया जाता है कि उपनिषद् यज्ञोंकी निन्दा करते हैं, वह बृहदारण्यक उपनिषद्में मिलता है। इसमें कहा गया है कि जो मनुष्य यज्ञोंका सम्पादन करता है, वह देवताओंके हितार्थ ही कार्य करता है, जैसे घरेलू पशु अपने पालनेवालेके लिये[२१]। तदनन्तर यह कहा है कि जब कोई मनुष्य ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह यज्ञोंको बंद कर देता है। देवगण इस स्थितिको पसंद नहीं करते, कारण इससे वे अपने बलिभागोंसे वञ्चित होते हैं। अतः देवगण मनुष्यके ब्रह्मज्ञानके प्रयत्नोंमें विघ्न डालनेकी चेष्टा करते हैं।

निस्संदेह यह उद्धरण न तो देवोंके अस्तित्वको ही अस्वीकृत करता है और न स्वर्गलाभमें यज्ञोंकी कार्यकारिताको ही। यह तो उपनिषदोंका जो प्रधान मत है कि मोक्ष ही मनुष्यजीवनका सर्वोच्च ध्येय है और यज्ञसम्पादनसे स्वर्गारोहण निम्नतर लक्ष्य है, उसका पुनः-पुनः समर्थन करता है।

डा० विन्टरनित्सका जो ऊपर लिखा यह कथन है कि दार्शनिक प्रश्नोंपर विचार करनेवालोंका वर्ग पुरोहितवर्गसे विभिन्न होता था, उसके सम्बन्धमें हम यह कह सकते हैं कि बृहदारण्यक उपनिषद्में ऐसा प्रसङ्ग है कि राजा जनक यज्ञ-सम्पादन कर रहे हैं और अन्य एकत्रित ब्राह्मण दार्शनिक प्रश्नोंपर वादविवाद कर रहे हैं[२२]। छान्दोग्य उपनिषद्में भी हम देखते हैं ऋषि उषस्ति यज्ञमें दीक्षित राजाके पास गये, वहाँ उन्होंने अपने दार्शनिक ज्ञानकी महत्ता स्थापित की। तब राजाने उनको पौरोहित्य स्वीकार करनेके लिये

(१९) प्लवा ह्येतेऽदृढा यज्ञरूपाः अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो ये प्रवेदयन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ (मुण्डक उप० १।२।७)

(२०) तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्।
× × × ×
तान्याचरथ नियतं सत्यकामाः। (मुण्डक उप० ८।४।१०)

(२१) यथा पशुरेवं स देवानाम्। (बृहद् उप० ८।४।१०)

(२२) बृहदारण्यक उप०, तृतीय ब्राह्मण

प्रार्थना की[२३] । इससे विदित होगा कि एक ही वर्गके विद्वान् यज्ञ भी करवाते थे और दार्शनिक प्रश्नोंपर वाद भी करते थे। अतः डा० विन्टरनित्सका कथन समीचीन नहीं ।

वेदोंके प्राचीनतर भाग (अर्थात् संहिता) में संनिहित ज्ञानके प्रति निरादर प्रकट करनेकी बात तो दूर रही, उपनिषद् संहिताओंके वचनोंको प्रायः अपने कथनोंके प्रमाणमें उद्धृत करते हैं । ऐसे वचनोंको उद्धृत करते हुए वे कहते हैं—इसी अर्थका वेदोंमें भी श्लोक है[२४] । उपनिषद् कभी भी संहिताओंसे अपने पदको ऊँचा नहीं मानते । उपनिषदोंमें प्रोक्त ज्ञानको किसी स्थानमें भी नवीन आविष्कारके रूपमें नहीं दर्शाया गया । इसके विपरीत स्पष्टतया यह कहा गया है कि यह गुरु-शिष्य-परम्पराद्वारा चला आ रहा है और इस लंबी शृङ्खलाका आरम्भ सृष्टिके आरम्भका समकालीन है । इस प्रकार मुण्डक उपनिषद्के आरम्भमें कहा गया है कि उसमें निहित ज्ञानको सृष्टिके रचयिता ब्रह्माने अपने पुत्र अथर्वाको दिया, अथर्वाने उसे सिखाया अङ्गिराको, अङ्गिराने सत्यवाहको, सत्यवाहने आङ्गिरसको और आङ्गिरसने शौनकको । ईशोपनिषद्में भी कहा गया है कि उस उपनिषद्में निहित ज्ञान गुरु-शिष्य-परम्परासे प्राप्त है—

'हमने सुना है यह उन मनीषियोंसे, जिन्होंने हमें इसे सिखाया था ।[२५]'

इसके अतिरिक्त संहिता-भागको प्राप्त करनेवाले ऋषियोंको परब्रह्मका ज्ञान नहीं था, ऐसे अनुमानके लिये भी कोई समर्थन नहीं है । संहिताओंके अनेक स्थलोंमें परब्रह्मके निर्देश मिलते हैं । नासदीय सूक्तमें (ऋग्वेद १० । १२९ में) आया है—

'प्रलयकालमें केवल ब्रह्म ही विद्यमान थे । माया उनमें लीन थी । उनसे भिन्न कुछ नहीं था[२६] ।'

उसी सूक्तमें आगे कहा गया है—'परब्रह्म जो समस्त ब्रह्माण्डके अधिपति हैं, परमोच्च लोकमें विराजते हैं[२७] ।'

हिरण्यगर्भ सूक्त (ऋग्वेद संहिता १० । १२१) में मन्त्रपाद हैं—

'उस परमेश्वरके आदेशोंको समग्र देवसमूह पालन करते हैं[२८] ।'

'अपनी महिमासे वह परब्रह्म एक ही समस्त ब्रह्माण्डके अधिपति बने[२९] ।

'जो सकल देवोंके अधिदेव थे[३०] ।'

पुरुषसूक्त (ऋग्वेद-संहिता १० । ९०) में निम्नलिखित मन्त्रपाद हैं—

'पुरुषके सहस्रों सिर हैं, सहस्रों चक्षु और सहस्रों चरण (अर्थात् सब प्राणियोंके मस्तक, चक्षु और चरण उसी परमेश्वरके हैं—सायणाचार्य) । वह पुरुष समस्त ब्रह्माण्डमें परिव्याप्त है और ब्रह्माण्डसे भी विशाल है अपनी विशालतासे[३१] ।'

---

(२३) छान्दोग्य उप० १ । १० और ११

(२४) तदेतदृचा चाभ्युक्तम् । (प्रश्न उप० १ । ७)
तदेष श्लोकः । (मुण्डक उप० ३ । २ । १०)
(प्रश्न उप० १ । १०; ४ । १०; ६ । ५)

(२५) इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे । (ईश उप० १० । १३)

(२६) आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यत् परं किंचनास । (ऋग्वेद १० । १२९ । २)

(२७) योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् । (ऋक् सं० १० । १२९ । ७)

(२८) उपासते प्रशिषं यस्य देवाः । (वही १ । १२१ । २)

(२९) महि त्वा एक इद् राजा जगतो बभूव । (वही १० । १२१ । ३)

(३०) यो देवेष्वधिदेव एक आसीत् । (वही १० । १२१ । ८)

(३१) सहस्रशीर्षः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥

'वह पुरुष ही यह समस्त ब्रह्माण्ड है, जो भूत कालमें था और जो भविष्यत्‌में होगा[३२]।'

'समस्त विश्व उस पुरुषकी शक्तिकी अभिव्यक्ति है। वह इससे भी अतिशायी है। समस्त प्राणिवर्ग उसका चतुर्थभाग है। उसके अन्य तीन भाग अपरिणामी द्युलोकमें हैं[३३]।'

फिर ऋग्वेद-संहितामें एक मन्त्रपाद है—'उस एक ही पुरुषको ऋषिजन अनेक प्रकारसे कहते हैं—इन्द्र, यम और वायु[३४]।'

ऋग्वेद-संहिताके दशम मण्डलमें निम्नलिखित मन्त्रांश हैं—

'जो हमारे पिता, जनक और भाग्यविधाता हैं[३५]।'

अतः यह कहना समीचीन नहीं कि संहिता-भागके 'रचयिता' एक परम ब्रह्मकी धारणा करनेमें असमर्थ थे और उनकी कल्पना विविध गौण देवोंतक सीमित रही। वास्तवमें संहिताओं और उपनिषदों—दोनों भागोंमें एक परमेश्वर और साथ ही अनेक अवान्तर देवोंके वर्णन मिलते हैं, जिसका अर्थ यह है कि गौण देवसमूह परब्रह्म परमेश्वरद्वारा उत्पन्न किये गये हैं। परब्रह्मने गौण देवगण उत्पन्न किये, इस भावनामें कोई असंगति नहीं। गौण देवता मनुष्यों और पशुओंके समान एक प्राणिवर्ग हैं, हाँ, उन्नत वर्गके प्राणी और उनको उच्चकोटिकी शक्तियाँ तथा कार्यभार प्रदान किये गये हैं।

इस विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि पश्चिमी विद्वानोंका यह कथन निराधार है कि वेदोंके कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्डमें परस्पर विरोध है।

पश्चिमी विद्वान् जो वैदिक ज्ञानकी परम्परासे अपरिचित हैं, वेदोंको समझनेमें उनकी भूलको क्षमा किया जा सकता है। परंतु यह अत्यन्त खेदका विषय है कि पश्चिमी विद्वानोंके अनुगामी बनकर अनेक आधुनिक उच्च कोटिके भारतीय विद्वानोंने भी ऐसे मौलिक विषयमें वैसी ही भूलें की हैं।

देखिये, मैसूर विश्वविद्यालयके प्रोफेसर हिरियन्ना लिखते हैं—'उपनिषद् मुख्यतया ऐसे भावोंको प्रस्तुत करते हैं, जो कर्मकाण्डसे भिन्न बल्कि प्रतिकूल हैं और उनमें विश्वके विषयमें ऐसा मत है, जो ब्राह्मणोंकी यागविधासे नितान्त विभिन्न है।' (भारतीय दर्शनशास्त्र-की रूप-रेखाएँ, पृ० ४८)।

कलकत्ता विश्वविद्यालयके डा० एस्० एन्० दासगुप्त लिखते हैं—'उपनिषद् ग्रन्थ अन्य वैदिक साहित्यसे नितान्त विभिन्न प्रकारके हैं। कारण, वे उस ज्ञानमार्गको दर्शाते हैं, जो कर्ममार्गसे विरुद्ध है। उपनिषद् यागादि कर्मोंके सम्पादनको नहीं चाहते, वे परमार्थ सत्य परम सत्ताको प्रदर्शित करते हैं।' (भारतीय दर्शन-शास्त्रका इतिहास, पृ० २८)।

ज्ञानका मार्ग कर्ममार्गके प्रतिकूल नहीं। इसके विपरीत, कर्मका मार्ग ज्ञानमार्गतक पहुँचाता है। उपनिषद्‌ग्रन्थ कर्मोंके सम्पादनकी प्रेरणा करते हैं—

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।
(तैत्तिरीय उपनिषद् १।११।२)

---

(३२) पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं (वही १०।९०।१) यच्च भाव्यम्। (वही १०।९०।२)

(३३) एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥
(वही १०।९०।३)

(३४) एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।
इन्द्रं यमं मातरिश्वानमाहुः।
(वही २।२।३२)

(३५) यो नः पिता जनिता यो विधाता।
(वही १०।८२।३)

इलाहाबाद विश्वविद्यालयके प्रो० रानडेने लिखा है —(उपनिषदोंकी भावना, इसके विपरीत, इधर-उधरके कुछ प्रतिवादोंको छोड़कर) पूर्णरूपसे ब्राह्मणग्रन्थोंके यज्ञवादके प्रतिकूल है । (उपनिषत्प्रोक्त दर्शन-शास्त्रका रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ० ६) ।

मनको पवित्र बनानेके लिये उपनिषद् यज्ञोंका सम्पादन चाहते हैं । प्रो० रानडेने जिन उक्तियोंको प्रतिवाद कहा है, वे विधि हैं ।

डा० एस्० राधाकृष्णन् उपनिषदोंकी उत्पत्तिके विषयमें लिखते हैं—'लोग जिन देवगणोंकी अज्ञानतासे पूजा करते थे, अब मिलकर उनके विषयमें संदेह करने लगे । इस प्रकार असभ्य बहु देवतावादसे सुश्रृङ्खल दर्शनशास्त्रतक पहुँचते बड़ा लंबा समय लग गया ।' (भारतीय दर्शनशास्त्र, प्रथम खण्ड, पृ० ७१-७२) ।

उपनिषद् ग्रन्थ वैदिकसंहिताओंका उल्लेख परम आदरके साथ करते हैं, न कि अज्ञानकी उपजके रूपमें। यदि संहिताएँ बहुदेवतावादी हैं, तो उपनिषद् भी वैसे ही बहुदेवतावादी हैं। कारण, संहिताएँ और उपनिषदें—दोनों गौण देवतागणकी सत्ता और परब्रह्मका उल्लेख करती हैं ।

लखनऊ विश्वविद्यालयके डाक्टर राधाकुमुद मुखर्जी लिखते हैं—'वास्तवमें उपनिषद् एक नूतन धर्मका प्रतिपादन करते हैं, जो कर्मकाण्डके विरुद्ध है ।' (हिंदुओंकी संस्कृति, पृ० ११८) ।

पुनरपि—

सर आर० जी भांडारकर अपने ग्रन्थ 'वैष्णव, शैव और अन्य 'गौण सम्प्रदाय' में उपनिषदोंकी उत्पत्ति वैदिक कर्मकाण्डमें अश्रद्धासे हुई दरसाते हैं ।

बंबईमें स्थित भारतीय विद्याभवन द्वारा प्रकाशित 'वैदिक युग' में कहा गया है कि उपनिषदोंके समस्त विषयों-की भावना कर्मकाण्डविरोधी है (अध्याय २४) । यह भी वहाँ कहा गया है कि उपनिषद् वैदिक यज्ञोंकी कार्य-कारितामें विश्वास नहीं रखते थे ।*

चेतावनी

चेत चेत रे सोवनवाले सिर पर चोर खड़ा है ।
सारी बैस बीत गई अब भी मद में चूर पड़ा है ॥
सहि अपमान स्वान-सम निरलज जग के द्वार अड़ा है ।
जरा याद उस समय की भी कर सब से जौन कड़ा है ॥
देखु न पाप नरक में तेरा जीवन जनम सड़ा है ।
'हरीचंद' अब तौ हरि-पद भजु क्यों जग-कीच गड़ा है ॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

* इस प्रकार हमारे भारतीय विद्वान् भी भ्रान्तधारणाकी पुष्टि कर बैठे हैं । यह वास्तवमें भारतीय शास्त्रकी गहराई-तक न पहुँचे हुए विदेशी विद्वानोंकी विचारधाराका ही अवाञ्छनीय प्रभाव है । —सम्पादक

शुक्क-संन्यासी

[एक महापुरुषकी संक्षिप्त जीवनी]

(लेखक—श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय)

स्वर्गीय प्राणगोपाल मुखोपाध्याय वैद्यनाथ-देवघरमें, अपनी नौकरीसे अवसर लेनेके उपरान्त रहने लगे। उनकी मृत्यु १६ वर्ष पहले हुई थी। वे थे तो गृहस्थ, परंतु लोग उनको 'शुक्क-संन्यासी' कहते थे; क्योंकि संसारमें रहते हुए तथा सांसारिक सब काम-काज करते हुए भी आप बिल्कुल विरक्त थे। पातञ्जल-दर्शनके उस वैराग्यके पूरे उदाहरण थे, जिसको 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा' कहा गया है।

आप जीवनमें डाकविभागके कार्यमें व्यापृत थे। जब पोस्ट मास्टर-जेनरलके पदपर पहुँचे, तब आपने अवकाश ले लिया। तबसे बराबर पेन्शन पाते रहे। आपको सरकारने 'रायबहादुर' की उपाधिसे भूषित किया और भारत-धर्म-महामण्डलने 'धर्मालंकार'की उपाधिसे। परंतु आपने न तो कभी अपने नामके साथ उपाधियोंको लिखा और न कभी किसीसे कहा ही।

डाकविभागमें काम करते समय आपको यहाँसे वहाँ, वहाँ-से-यहाँ आना-जाना पड़ता था। पर उन दिनोंमें भी आपका अध्ययन-कार्य चलता रहता था। आप गीता, उपनिषद् इत्यादि पढ़ते रहते थे। आपका सब काम व्यवस्थित रूपसे होता था तथा आप सारा हिसाब-किताब ठीक रखते थे। गीता और उपनिषदोंपर आपने व्याख्यासहित टिप्पणी लिखी थी। परंतु उसे कभी प्रकाशित नहीं करवाया। उसे प्रकाशित क्यों नहीं किया, पूछनेपर आप कहते थे—'मैंने यह देखनेके लिये इसे लिखा है कि मैंने स्वयं इन विषयोंको कितना समझा; दूसरोंको समझानेके लिये नहीं लिखा।'

आपने जितना लिखा है, उसे छापा जाय तो लगभग एक सहस्र पृष्ठकी पुस्तकें हो सकती हैं। गीतापर प्रश्नावली है, उपनिषदोंपर सरल और ओजस्विनी भाषामें व्याख्या है और दूसरे विषयोंपर भी निबन्ध हैं। आप ऐसे अध्ययन करते थे, जैसे स्कूलके लड़के पाठ्यपुस्तक पढ़ते हैं। वर्तमान लेखकको उनकी एक कापी देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वह गीताकी कुंजी (key) थी। उसमें गीताका प्रत्येक श्लोक था। प्रत्येक शब्दका बँगलामें अर्थ लिखा हुआ था और फिर पूरे श्लोकका अर्थ था। ऐसे ही पूरे ७०० श्लोकोंका अर्थ लिखा गया था। एकमें भी बल नहीं पड़ा था।

आप ईश्वरको छोड़कर अन्य विषयोंपर बातचीत नहीं करते थे। कोई करना चाहता तो पहले उनकी अनुमति लेकर तब। कोई ऐसी पुस्तक न स्वयं पढ़ते थे, न दूसरोंको पढ़नेके लिये देते थे, जिसमें शास्त्र या धर्म-सम्बन्धी लेख न हो। कभी-कभी आश्चर्य होता था कि आप उनसे कोई प्रश्न पूछने गये हैं, तब वे ऐसी पुस्तक पढ़नेको देते थे जिसमें उसी प्रश्नका उत्तर लिखा हो।

आप अपने गुरु ब्रह्मलीन श्रीबालानन्दजी ब्रह्मचारीके परम भक्त थे। आप कहते थे कि श्रीगुरुकी कृपा त्रिधारारूपमें आपको जीवनमें प्राप्त हुई थी। पहले गीताकी प्रेरणा, फिर उपनिषदोंकी प्रेरणा और अन्तमें ब्रह्मसूत्रकी प्रेरणाके रूपमें। वेदान्तके प्रस्थानत्रयके भीतरके अपूर्व प्रकाशकी अनुभूति ऐसे ही आपको मिली थी।

आप हिंदू-धर्मके आचार-विचारोंका ध्यान रखते थे। सन्ध्या-वन्दन शास्त्र-विधिके अनुसार करते थे;

गायत्री-मन्त्र और प्रणवका यथारीति जप करते थे। और नाद-ब्रह्मकी ध्वनिमें मग्न रहते थे, जिसके सम्बन्धमें यह कहा गया है—

नादस्यान्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः।
तन्मनो विलयं याति तद् विष्णोः परमं पदम्॥

रात्रिके शेष प्रहरमें सर्वदा उठते थे। घरके किसी विशेष काम-काजके कारण शयन करनेमें देर हो जाती तो भी दो-तीन बजे अवश्य उठ जाते थे। आलस्यसे कभी नहीं सोते थे। दृढ़ संकल्पसे सब काम गुरुजीके नामसे करते थे। इसीलिये अटल विश्वास रखते थे कि अन्तमें 'जय गुरु' कहकर जब पार जाने लगेंगे तब उनका आशीर्वाद अवश्य मिलेगा, अवश्य महानिशाका अन्धकार दूर होकर दिव्यालोकमें उनके दर्शन मिलेंगे।

श्वेताश्वतर उपनिषद्का यह वाक्य उन-जैसे महापुरुषके लिये बेखटके प्रयोग किया जा सकता है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
(६ । २३)

अर्थ (धन) का प्रयोजन

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः।
(भागवत १ । २ । ९)

'मुझे परम धर्मात्मा सुप्रसिद्ध दानवीर सेठ झगडूसाहके दर्शन करने हैं।' गौरवर्ण आतपमें तपकर ताम्र बन चुका था और क्षीण काया तथा मलिन वस्त्र बतला रहे थे कि उसपर यदि किसीने कृपा की है तो वे ज्येष्ठा देवी (दरिद्रता) ही हैं।

'आप दूरसे आये जान पड़ते हैं और ब्राह्मण लगते हैं। मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ।' हाथ जोड़कर, मस्तक झुकाकर उस काठियावाड़ी पुरुषने बड़ी श्रद्धासे मस्तक झुकाया। 'झगडूसाहको आपके दर्शन करने चाहिये। वह कब ऐसा धर्मात्मा और दानी हुआ कि उसके दर्शन करने आप-जैसे ब्राह्मण पधारें। आप इस घरको पवित्र करें। कोई सेवा मैं कर सकूँ तो मेरे अहोभाग्य !'

'उन लोकविख्यात उदारचेतासे आपकी ईर्ष्या उचित नहीं है।' आगन्तुक कैसे जानता कि उसके सामने जो घुटनोंसे ऊपर धोती बाँधे बिना उत्तरीयके किंचित् स्थूलकाय अधेड़ उम्रका बड़ी-बड़ी मूँछोंवाला व्यक्ति है, उसीसे मिलने वह आया है और यही वह व्यक्ति है, जिसके समुद्री व्यापारकी धाक सुदूर पश्चिमके गौराङ्ग देशोंतक मानी जाती है। आगन्तुकने तो उसे सामान्य व्यक्ति ही समझा था। 'मैं सेठ झगडूसाहसे मिलकर ही विश्राम करूँगा। आप उनका गृह बतला देनेकी कृपा करेंगे !'

'आपके इस सेवकका ही नाम झगडूसाह है।' आगन्तुक दूरसे आया है, उसके चरणोंपर धूलिकी परत जम रही है। वह बहुत थका लगता है। उसे अधिक उलझनमें डालना अनुचित मानकर प्रार्थना की गयी—'आप भीतर पधारनेकी कृपा करें !'

'आप !' आगन्तुक दो क्षण तो स्तब्ध देखता ही रह गया सामने खड़े व्यक्तिको। उसने झगडूसाहके सम्बन्धमें क्या-क्या सोचा था—कितनी भव्य, कितनी तड़क-भड़क, कितने सेवक-सैनिकोंसे घिरे व्यक्तित्वकी

उसने कल्पना की थी और यह उसके सम्मुख खड़ा ग्रामीण-जैसा दीखता व्यक्ति········ ।

'आप पधारें !' झगडूसाहने फिर आग्रह किया । उसे भवनके भीतर जाकर अपनी कल्पनाकी सार्थकता जान पड़ी । राजसदन भी कदाचित् ही उतना सुसज्ज और कलापूर्ण होगा । सेवकोंकी तत्परता—उसने सुना था कि उत्तम सेवक स्वामीके हृदयके भाव समझते हैं और यहाँ वह देख रहा था कि उसके स्वागत-सत्कारमें आतिथेयको कहीं एक शब्द बोलनेकी अपेक्षा नहीं हो रही थी ।

'यह सेठजीका निजी सदन है ?' तनिक अवकाश मिलनेपर एक सेवकसे आगन्तुकने पूछ लिया ।

'यह उनका अतिथि-गृह है ।' सेवकने बड़े सम्मानसे सूचित किया ।

'सेठजी ! आप यदि अन्यथा अर्थ न लें, मुझे एक बात पूछनी थी !' आगन्तुक अपनेको रोक नहीं सका था ।

'आप आज्ञा करें !' सेठने सरल भावसे कहा ।

'आप देशके श्रेष्ठतम श्रीमंतोंमें हैं । स्वदेश एवं विदेशके भी श्रीमंत आपके अतिथि होते होंगे । अनेक नरपतियोंका भी आपने आतिथ्य किया होगा । आपकी अतिथिशाला आपके गौरवके सर्वथा अनुरूप है; किंतु—' दो क्षण आगन्तुक रुका । 'आप जानते हैं कि मैं ब्राह्मण हूँ और धर्मनिष्ठ आर्य गृहस्थ ब्राह्मण अतिथिका सत्कार प्रायः अपने निज सदनमें ही करते हैं । आपने इस परम्परासे पृथक् जो व्यवहार किया है, उसका कुछ कारण तो होगा ? मुझमें ऐसी कोई त्रुटि—कोई प्रमाद आपने········।'

'नहीं देव !' सेठने आतुरतापूर्वक ब्राह्मणके चरण पकड़ लिये । 'आप दूरसे पधारे हैं और थके हुए हैं । आपकी समुचित सेवा मेरा कर्तव्य है । आप विश्राम कर लें, तब यह जन आपके श्रीचरणोंसे अपने आवास-को भी पवित्र करेगा और तब आप स्वयं समझ लेंगे कि देवका सत्कार वहाँ करनेका आग्रह मैंने क्यों नहीं किया ।'

× × × ×

'देशके अनेक नरेश कठिन स्थितिमें जिनसे ऋण लेते हैं, जिनकी सम्पत्तिका कहा जाता है कि कोई अनुमान नहीं है, उनका यह आवास और यह जीवन !' आगन्तुकको अपने पूरे जीवनमें ऐसा अनुभव कभी नहीं हुआ था ।

उसे जहाँ ले जाया गया था—कठिनाईसे ही कह सकते हैं कि वह झोंपड़ी नहीं थी । क्योंकि वह पक्की दीवारोंसे बना घर था; किंतु कुल तीन कक्ष उसमें भोजनशालाके अतिरिक्त और उसमें भी एक पूजन-कक्ष था । उसी कक्षमें कुछ वैभवके दर्शन उसे हो सके थे ।

प्रायः आभूषणरहित एक सामान्य नारीने उसके सत्कारमें भाग लिया था । झगडूसाह उन्हें बार-बार 'सती' न कहते तो वह जान भी नहीं पाता कि वही सेठानी हैं । कोई सेवक-सेविका नहीं । कोई विलास-सामग्री नहीं । गुजरात-काठियावाड़में ग्रामीण कृषकके घरमें भी इससे अधिक साज-सज्जा एवं सामग्री मिलती है ।

'स्वच्छता, सुव्यवस्था, सौम्यता—अतिथि ब्राह्मण है, अतः उसने केवल एक अनुभव किया कि वह किसी गृहस्थके गृहमें न पहुँचकर देवालयमें पहुँच गया है । देवालयमें वह उपासना कर सकता है, दस-पाँच घंटे ध्यानस्थ रह सकता है; किंतु उसे आवास बनाकर तो रहनेयोग्य वह अपनेको सचमुच नहीं पाता ।

'आप इतने अल्पमें कैसे निर्वाह कर लेते हैं ?' युवक अतिथि एक शब्द नहीं बोल सका था उस समय, जब वह सेठके साथ उनके निज-सदनमें गया था । उसने

तो रात्रिके प्रथम प्रहरमें अतिथिशालामें अपने पदोंके पास बैठे सेठसे पूछा था ।

'इतना वैभव—इतना विस्तार और यह जीवन !' अतिथि सायं-संध्यासे पूर्व सेठके व्यावसायिक कार्यालयमें भी हो आया था । उस गद्दीमें उसने पंक्तियाँ देखी थीं बहीखाता सँभालनेवाले मुनीमोंकी और वहाँ देखा था कि एक व्यावसायिकके प्रबन्ध, प्रशासन और नरेशके प्रशासनमें क्या अन्तर होता है । सेठका आत्मीय-जैसा सबके साथ व्यवहार उसने देखा तो यह भी देखा कि उनका कितना सम्मान करते हैं उनके सेवक एवं सहचर । उनके प्रत्येक शब्द एवं संकेतको कितनी गम्भीरतासे ग्रहण किया जाता है । वही व्यक्ति यह उसके पैरोंके समीप आ बैठा है और उसका निजी जीवन—निजी जीवनकी वह सादगी समझनेका प्रयत्न कर रहा था वह ।

'अल्प—अल्पमें कहाँ निर्वाह कर पाता हूँ, प्रभु ?' —सेठके व्यवहार और वाणीमें आडम्बर उसे सर्वथा नहीं दीखा । वे कह रहे थे—'भगवान्‌ने एक सेवा दे दी है । उसका पारिश्रमिक जितना लेना चाहिये, उससे यदि अधिक न लेता होऊँ तो उनकी कृपा है । शरीरकी सुख-सुविधाके लिये कितना अल्प प्राप्त है इस देशके अनेक अभावग्रस्त लोगोंको । झोपड़ियोंके निवासी क्या इतनी भी सुविधा पाते हैं ? झगड़ूसाह तो अपनी देहके लिये बहुत व्यय करनेवाला बन गया है ।'

'किंतु सेठजी ! व्यक्तिको अपने पूर्वकृत कर्मोंसे सम्पत्ति प्राप्त होती है ।' अतिथिने अपनी बात कही । 'जिनके भाग्यमें धन नहीं है, जिनके पूर्वकृत शुभ कर्म नहीं हैं, वे कंगाली भोगते हैं । यह उनका कर्मफल—उनका प्रायश्चित्त; किंतु जिसे पूर्वपुण्यके फलरूपमें अपार सम्पत्ति मिली है, वह उसका उपभोग न करके अभावकी पीड़ा क्यों उठाये ?'

'देव ! मैंने तो दूसरी ही बात सत्पुरुषोंके मुखसे सुनी है ।' सेठने सुनाया ।

पानी बाढ़ै नावमें, घरमें बाढ़ै दाम ।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम ॥

'श्रीपति तो श्रीनारायण हैं । समस्त सम्पत्ति उन्हींकी है । उनकी कृपा होती है तो वे किसीको अपना मुनीम बना लेते हैं । उन दीनबन्धुके बन्धुओंकी जो सेवा कर सके तो वह मुनीम सच्चा ।' सेठने अपने ढंगसे उत्तर दिया । 'मैं वैश्य हूँ, मैंने तो यही समझा है ।'

'आप कहते ठीक हैं ।' आगन्तुक ब्राह्मण था और ब्राह्मण उस समयतक शास्त्रसे विमुख एवं बहिर्मुख नहीं हुए थे । युवक आसनसे उठकर नीचे बैठ गया । 'धनका एकमात्र उपयोग है—यज्ञ और दान । अर्थकी परानिष्ठा धर्म है । धन किसी भी पुण्यसे आया हो—पुरस्कार है और प्राप्त पुरस्कारको वितरित कर देनेमें ही मनुष्यकी उदारता, महानता है । उसका उपभोग करने जो बैठा, वह तो कृपण है । आपने आज एक ब्राह्मणको बचा लिया लोभके पाशसे !'

'देव !' सेठ दो क्षण मौन रहे । 'आपने अपने आगमनसे मुझे धन्य किया; किंतु इस जनको सेवाका सौभाग्य अभी प्राप्त नहीं हुआ । परिचय पाना भी चाहता था ।'

'तक्षशिलाका स्नातक बनकर तीर्थयात्राको निकल पड़ा था ।' युवकने बिना किसी भूमिकाके परिचय दिया । 'पिता-माता बाल्यकालमें परलोकवासी हो गये; किंतु देशमें ब्राह्मण-पुत्रके पालन-शिक्षणकी व्यवस्था करनेवाले उदारचेता कम नहीं हैं । श्रीद्वारकाधीशके दर्शन करनेके बहुत पूर्वसे—कहना तो यह चाहिये कि तीर्थयात्राके प्रारम्भसे ही आपकी कीर्ति कर्णकुहरोंको पवित्र कर रही थी । इधर आया तो आपके दर्शनको

उत्कण्ठा हुई। मेरा अध्ययन आज पूर्ण हुआ, ऐसा अनुभव करता हूँ।'

'आप प्रमुख पथ त्यागकर केवल एक व्यापारीसे मिलनेमात्रके लिये तो यहाँ नहीं आये होंगे।' सेठने इस बार आग्रह किया कि युवक संकोच त्यागकर उद्देश्य सूचित करे।

'आपका अनुमान अयथार्थ नहीं है।' युवक किंचित् हँसकर बोला। 'तीर्थयात्रा पूर्ण करके गृहस्थ-जीवन स्वीकार करनेकी बात मनमें थी। यह कल्पना ही नहीं थी कि बिना अर्थके भी गार्हस्थ्य चला करता है; किंतु अब आपका गृह देखकर मुझे अपनी अल्पज्ञतापर लज्जा आती है। आप मेरे गुरु इस विषयके।'

'आप मुझे सेवासे वञ्चित करना चाहते हैं!' सेठने भी हँसकर कहा।

'आप धर्मात्मा हैं।' युवक गम्भीर बना रहा। 'एक ब्राह्मणकुमारको आप परिग्रहके कुपथपर जानेकी प्रेरणा नहीं देंगे। ब्राह्मणके गार्हस्थ्यमें अर्थकी आवश्यकता नहीं है, यह आप अनुभवी होनेके कारण मुझसे अधिक जानते हैं।'

'पञ्चाल धन्य है ऐसे विद्वानोंसे।' सेठने सिर झुकाया। 'किंतु आप मुझ-जैसे एक व्यापारीको यह कैसे समझा देना चाहते हैं कि घर आये अतिथिको रिक्तहस्त चले जाने देनेका अपकर्म मैं स्वीकार कर लूँ?'

'आप ज्ञान-दानको दान ही नहीं मानते?' युवकने पूछा।

'सर्वश्रेष्ठ दान है वह; जब वह अपनी प्रज्ञासे स्वतः प्राप्त कर लिया जाता है, दान नहीं होता। उसका नाम उपार्जन होता है और वह अपना स्वत्व है।' सेठने कहा। 'मैंने तो अपने सम्पूर्ण व्यापारमें यही सीखा है। व्यापारी होनेके कारण मेरी दृष्टि अर्थपर ही अधिक है तो आपको इसे मेरा स्वधर्म समझकर सत्कृत करना चाहिये।'

रात्रि-विश्रामका समय देखकर सेठने स्वयं चर्चा समाप्त कर दी। अतिथिका अभिवादन करके उस समय विदा होना ठीक लगा उन्हें।

× × ×

'मैंने जब तक्षशिलामें आयुर्वेदकी शिक्षा प्रारम्भ की—एक बाल्यचापल्य चित्तमें था।' दूसरे दिन युवकने विदा होनेसे पूर्व सेठको सुनाया। 'एक समृद्ध चिकित्सालयका स्वप्न था वह। यात्रामें आपकी कीर्ति सुनकर सोचा था कि प्रचुर धन आपसे सहज ही इसके लिये प्राप्त हो सकता है।'

'बड़ा शुभ संकल्प है। आप यहाँ निवास करें तो इस प्रान्तका सौभाग्य।' सेठने अवसर खो देना सीखा होता तो इतने समृद्ध वे होते ही नहीं। वे बोलते गये—'मेरा कोई आग्रह नहीं है। आप जहाँ उपयुक्त समझें—जैसी व्यवस्थाकी आज्ञा करें।'

'तीर्थाटनका कार्यक्रम मैंने अपने चिकित्सागुरुकी सम्मतिसे बनाया।' युवकने सेठकी बात जैसे सुनी ही न हो। 'देशके विभिन्न भागोंमें होनेवाली वनस्पतियों तथा अन्य ओषधियोंसे परिचयके साथ लोगोंकी प्रवृत्ति एवं प्रकृतिका अनुभव भी हो गया। मेरे दो सहयात्री संगृहीत ओषधियाँ लेकर पञ्चाल चले गये हैं।'

'पञ्चालमें ही आप अपना चिकित्सालय स्थापित करें।' सेठने बिना संकोच स्वीकार किया। उन्होंने दावात खींच ली अपने पास, अपने पञ्चालस्थित प्रतिनिधिको आदेश-पत्र लिखनेके लिये।

'कलतक जो बात समझमें नहीं आयी थी, अकस्मात् कल रात्रिमें ध्यानमें आ गयी। वैसे मैं अनेक बार श्रीमद्भागवतके पारायणमें उसे पढ़ चुका हूँ—

यात्रार्थमपि नेहेत धर्मार्थं बाधनो धनम्।

'ब्राह्मणके लिये गृह-निर्वाहकी चिन्ता व्यर्थ है। जीवन-निर्वाह तो उसे करना है, जिसने जीवनका निर्माण किया है और सेठजी! सृष्टिकर्ताने स्वयं जिसे मुनीम नहीं बनाया है, वह बलात् यह परतन्त्रता अपने सिर ले, अज्ञता ही तो है ?'

झगड़ू साहने दोनों हाथ जोड़ लिये। उनके-जैसा संयमी, दानी, धर्मात्मा तथ्यको ग्रहण करनेमें न असमर्थ रह सकता था और न उससे संकोच कर सकता था।

'धर्मका एक तथ्य मैं विस्मृत हो गया था।' युवक कहता गया। 'अपने समीप जो शक्ति, जो साधन, जो क्षमता है, उसके सदुपयोगका ही नाम धर्म है। धर्मके लिये दूसरोंपर निर्भर करके, दूसरोंसे परिग्रह करके जो प्रयत्न चलता है—वह विश्वनियन्ताकी प्रेरणा नहीं है। उसकी प्रेरणा होती, उसको वह सेवा लेनी होती तो उसका साधन वह सहज दे सकता था। यह धर्मके नामपर होनेवाला प्रयत्न तो आत्मप्रचारकी प्रेरणा—अहंकी पूजा है।' *

'आपकी योग्यताका लाभ तो प्राप्त होना चाहिये रोगार्त जनोंको।' सेठने सविनय कहा।

'मैं उसे अस्वीकार कहाँ करता हूँ।' युवक बोला। 'मेरा शरीर सशक्त है और वनौषधियोंके द्वारा भी रोग-निवारण सम्भव है। जितनी शक्ति मुझे प्राप्त है, उसका उपयोग करनेका कर्तव्य तो मुझे स्रष्टाने सौंप ही दिया है।'

'मुझ-जैसोंको उन्होंने यह व्यवस्था करनेके लिये नियुक्त किया है कि आप-जैसे महाप्राणोंकी शक्तिका समुचित उपयोग हो जाय।' अब सेठने स्थिर स्वरमें कहा—'आप कहाँ अपना निवास बनायेंगे, केवल इतना सूचित कर दें। आपकी लोकसेवाको जो सहयोग समाजकी ओरसे अनायास प्राप्त होगा, उसे अस्वीकार करना आपके लिये भी उचित नहीं है।'

युवक इस आग्रहको अस्वीकार नहीं कर सकता था। पश्चात् दुर्भाग्यसे आक्रान्ताओंका बार-बार आखेट हुआ। तक्षशिला भी अब पाकिस्तानमें है। अतः शताब्दियों पूर्वकी इस घटनाका कोई चिह्न—किसी प्राचीन चिकित्सालयका कोई खँड़हर पश्चात्में भूमिके नीचे कहीं दबा पड़ा भी हो तो उसका पता लगा लेना आज सरल नहीं है।

रामसे लगन कैसी हो ?

लोभीके चित धन बैठे, (अरु) कामिनिके चित काम।
माताके चित पूत बैठे, तुकाके मन राम॥

—संत तुकाराम

* पाठशाला, गोशाला, विद्यालय, चिकित्सालय आदिकी स्थापना तथा अभावग्रस्त, अकाल-पीड़ित प्राणियोंकी सेवा धर्म नहीं है, ऐसा तात्पर्य मेरा सर्वथा नहीं है। किंतु इन कामोंके लिये भी साधककी प्रवृत्ति धन एकत्र करनेमें हो तो वह बाधक प्रवृत्ति ही है। जन-सेवकोंका यह काम है। उसमें स्वयं जो सहयोग दिया जा सकता हो, सर्वथा श्रेयस्कर है।—लेखक

प्रभु-विश्वास

[कहानी]

(लेखक—श्रीरामरूपजी तिवारी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

उत्तर भारतमें भागीरथीके तटपर एक ग्राम है। वहाँ स्वामी ध्यानानन्द निवास करते थे। धीरे-धीरे उनका एक आश्रम बन गया। यह आश्रम धन-धान्यसे पूर्ण था। भक्तलोग स्वामीजीकी सेवा करते थे। दोनों समय कीर्तन-प्रवचन इत्यादि होते थे। कुछ साधक बाहरसे भी आकर रहते थे।

उस ग्राममें एक विचित्र साधु आये। उनके पास एक झोली थी, जिसमें कुछ फल-मेवा इत्यादि थे। वे साधु ग्रामके प्रत्येक घरके द्वारपर पहुँचते और राधाकृष्ण-की धुन लगाते, लोग बाहर निकलकर आते और भिक्षा देने लगते। किंतु साधु महाराज भिक्षा न लेते हुए, झोलीमेंसे निकालकर सबको फल इत्यादि वितरण कर देते। साधुके चेहरेपर तेज था, शान्ति थी और प्रेमका निःस्पृह प्रकाश था। साधु गङ्गातटपर निवास करने लगे। ग्रामके लोगोंकी उनके प्रति श्रद्धा-भक्तिका अविरल प्रवाह बहने लगा—स्वामी ध्यानानन्दके प्रति लोगोंका खिंचाव कम हो गया।

स्वामी ध्यानानन्दके मनमें एक प्रश्न बार-बार उठता कि नये साधुके प्रति लोगोंका इतना आकर्षण तथा सम्मान क्यों है, मैं तो बहुत समयसे ग्रामवासियोंकी सेवा करता चला आया हूँ। इस प्रश्नने स्वामीजीकी शान्तिका अपहरण कर लिया। एक दिन स्वामीजी साधु महाराजसे एकान्तमें यह प्रश्न कर ही बैठे। साधु महाराजने कहा कि 'आपके प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर उस दिन दिया जायगा, जब आप मेरे साथ कभी बाहर चलेंगे और मैं आपको बिना सूचनाके एकाएक चलने-के लिये कहूँगा।'

थोड़े दिनोंके पश्चात् एक दिन साधु महाराजने स्वामीजीको चलनेके लिये कहा—दोनों बाहर निकल गये। दिनभर यात्रा करते रहे। धधकती ग्रीष्म ऋतुमें चिलचिलाती धूपमें जनविहीन तथा चरण-चिह्न-विहीन अरण्यके बीच यात्रा हो रही थी। स्वामीजीने कहा—'महाराज! कहीं विश्राम करना चाहिये।' स्वामीजी भूख और गरमीसे व्याकुल हो रहे थे। साधुने कहा—'मैंने अपना जीवन प्रभुको समर्पित कर दिया है। जब वे विश्राम देंगे, तब विश्राम करूँगा। मैं भिक्षा भी नहीं माँगता, जब वे खिला देते हैं, तब ग्रहण कर लेता हूँ। सूर्यास्त होने लगा। अन्धकारकी चादरका फैलाव बढ़ने लगा। इसी समय एक व्यक्तिने सामनेसे आकर साधु महाराजको प्रणाम किया और कहा—'महाराज! इस अन्धकारमें आप कहाँ जा रहे हैं, मेरे यहाँ रात्रि-में विश्राम कीजिये।' साधु और स्वामीजी उसके साथ चल दिये। वह एक टीलेकी तरफ बढ़ने लगा। उस टीलेपर उसका निवास था। वहाँ ले जाकर उसने साधु तथा स्वामीजीको अच्छा आसन दिया, सब प्रकारकी सुविधा दी तथा भोजन करवाया। उस टीलेके चारों ओर घनी वनमाला फैली हुई थी। क्षितिज पृथ्वीका आलिङ्गन कर रहा था। सब दृश्य अन्धकारमें विलीन हो रहे थे। साधु महाराज बोले—'देखो, इस गोलकके क्षितिजके उस पार सूर्यभगवान्ने पदार्पण किया है। उनके जाते ही अन्धकारने अपने पैर फैला दिये हैं। क्या यह अन्धकार कोई सत्ता रखता है? क्या इसे कोई निकालकर बाहर कर सकता है। यह तो केवल प्रकाशका अभाव है। प्रकाशके आते ही अन्धकार नहीं रहता। यही बात प्रभु-विश्वासके सम्बन्धमें है। प्रभु-विश्वासका प्रकाश सब प्रकारके अभावके अन्धकार-को दूर कर देता है। जबतक हम वस्तु, व्यक्ति, परिस्थितिमें विश्वास करते हैं, तबतक हमें अभाव, अतृप्ति, दुःख, निराशा घेरे रहते हैं, जो हटाये नहीं जा सकते

भोजन करनेसे तृप्ति होती है, वह भ्रमात्मक है; क्योंकि वह तृप्ति ठहरती नहीं, फिर अतृप्ति आ घेरती है। किंतु प्रभु-विश्वाससे, प्रभु-समर्पणसे अतृप्ति, अभाव सदाके लिये चले जाते हैं। वस्तु, पदार्थ मिलें या न मिलें, शान्तिका साम्राज्य विशाल अपरिच्छिन्न आकाशकी भाँति कभी नहीं छोड़ता।'

साधु महाराज चुप हो गये। उनकी उस मूकतामें आनन्दकी छटा मूक नक्षत्रोंकी छटाके समान छिटक रही थी।

साधु महाराज ब्राह्ममुहूर्तमें उठ खड़े हुए और उन्होंने स्वामीजीसे चलनेके लिये कहा। आतिथेय महोदय भी आ गये। उन्होंने कुछ दिन विश्राम करनेके लिये आग्रह किया। स्वामीजीका भी आग्रह था—एक दिन वहाँ विश्राम किया जाय। सुन्दर भोजन, दूध, मीठा जल तथा सब सुविधाएँ वहाँ उपलब्ध थीं; किंतु साधुने कहा 'नहीं चलना ही होगा।' आगेका पथ कठिन था, कुछ भी प्राप्य न था। आगन्तुकने कहा—थोड़ा भोजन लेते जाइये; किंतु साधु महाराजने कहा 'संग्रह सर्वथा त्याज्य है, संग्रह प्रभु-विश्वासमें विघ्न है। केवल प्रभु-विश्वास ही जीवनका सहारा होना चाहिये।'

साधु तथा स्वामीजी यात्रापर फिर निकल पड़े। आगेका प्रदेश मरुस्थल था। बालूके कण उड़-उड़कर शरीरको आच्छादित कर देते थे। मरुस्थलकी प्रचण्ड ऊष्मा, जलविहीन धराने स्वामीजीको विकल कर दिया। साधु महाराज भगवान्के नामका उच्चारण करने लगे। प्रगाढ़ अन्धकारने फिर घेरा डाल दिया—यात्रा असम्भव हो गयी। साधु तथा स्वामीजी एक वृक्षके नीचे ठहर गये। दूर एक टिमटिमाता प्रकाश आता हुआ दृष्टिगोचर हुआ। वह प्रकाश उसी वृक्षकी ओर आ रहा था। एक बूढ़ा एक लालटेन लिये आ गया। उसने उन्हें देखकर पूछा—'आप भूखे-प्यासे जान पड़ते हैं, थोड़ा भोजन कर लीजिये।' उसने कुछ भोजन दिया तथा जल पिलाया। उसके पास लोटेमें जल था और थैलीमें सूखा भोजन। स्वामीजीको पृथ्वीपर सोनेसे नींद नहीं आयी। किंतु साधु महाराज खूब सोये और उषःकालमें उठ खड़े हुए।

मरुस्थलमें उषःकालमें अनुपम सौन्दर्य होता है। क्षितिजके नीचेसे प्रकाशने फूत्कर निर्मल आकाशको लालिमायुक्त कर दिया। साधु महाराज बोले, 'जिस प्रकार निर्मल आकाशमें लालिमाकी भ्रान्ति हो रही है, उसी प्रकार हमारे निजस्वरूप आत्मामें भ्रान्तिसे सीमित अहंका भास हो रहा है। आकाश अनन्त है, अपरिच्छिन्न है, उसका वारापार नहीं है। लालिमा तो उससे बहुत नीचे है और वास्तवमें है नहीं, केवल प्रतीतिमात्र है। सूर्य निकलनेपर कहीं लालिमाका पता नहीं लगता। वास्तवमें होती तो तब भी रहती। इसी प्रकार सीमित अहं भी अवास्तविक है, जाग्रत्में भासित होता है और फिर विलीन हो जाता है।

साधु महाराज और स्वामीजी यात्रापर चल दिये। साधुने पूछा—'स्वामीजी! आपको प्रश्नका उत्तर मिला कि नहीं?' स्वामीजीने कहा—'महाराज मिल गया, मैंने आश्रम बनाकर धन-धान्य-सामग्रीका संग्रह करके प्रभु-विश्वास खो दिया। जब मैं आया था, प्रभु-विश्वास था, लोगोंने सम्मान दिया और सब कुछ दिया। मैंने संग्रह किया और प्रभुसे दूर हो गया। मैंने सोचा कि मेरे पश्चात् आश्रम चलानेके लिये धनकी आवश्यकता होगी। धन नहीं रहेगा तो आश्रम बंद हो जायगा। मैंने प्रभुपर विश्वास न करके धनमें विश्वास किया। यह मेरी बड़ी भूल थी। अब मैं संगृहीत सब धन सेवामें व्यय करके प्रभुपर ही आश्रित रहूँगा।'

साधुने कहा—'स्वामीजी! सम्मान चाहनेसे नहीं मिलता। सम्मान जगत्की सेवा तथा प्रभुमें भक्तिसे स्वतः प्राप्त होता है।' पर सम्मानमें कभी भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

स्वामीजी—आपको प्रभुकी अनन्य भक्ति कैसे प्राप्त हुई?'

साधु—"मैं जिज्ञासु था, ब्रह्मसाक्षात्कार मेरा लक्ष्य था। विचार, मनन तथा निदिध्यासनसे मैंने ब्रह्मका साक्षात्कार किया। एक समय मैं मीराँका जीवन-चरित्र पढ़ रहा था, उसमें मैंने पढ़ा कि मीराँने अनन्त रसकी प्राप्ति की। मीराँने एक प्रभुसे नाता जोड़ लिया, वह अर्धरात्रिको बिखरे हुए नक्षत्रोंकी छायामें महलसे निकल पड़ी। प्रभुके गीत गाती हुई निर्जन प्रदेशमें भ्रमण करती हुई वृन्दावन पहुँची। वहाँ सुमधुर गीतोंसे तथा अनोखे नृत्योंसे श्रीकृष्णका आह्वान करने लगी। वहाँसे फिर श्रीकृष्णसे साकार भेंटके लिये द्वारका पहुँची, वहीं श्रीकृष्णसे उसका सशरीर मिलन हुआ। नित-नव रसका संचार हुआ और परम रसकी उपलब्धि कर वह श्रीकृष्णसे अभिन्न हो गयी। मीराँके जीवनसे मुझे एक प्रेरणा हुई कि श्रीकृष्णके रूपमें सविशेष ब्रह्मके दर्शन करूँ।

"अर्धरात्रिको पूर्णचन्द्रकी श्वेत किरणें समस्त धरातलको स्नान करा रही थीं। उस समय गङ्गाकी लहरोंसे गीत-गोविन्दकी मधुर तानें सुनायी दे रही थीं। मैं अपनेको भूल गया। किसीने कहा 'वृन्दावन जाओ, वहाँ तुम्हारा श्रीकृष्णसे साक्षात् मिलन होगा।' मैं वृन्दावन आया और यमुना-तटपर बैठ गया। रात्रिके एकान्तमें एक श्वेत वस्त्र धारण किये हुए एक महिला दिखायी दी। उसने मुझे देखकर कहा कि 'तू कौन है, यहाँ क्यों बैठा है? चला जा!' मैंने महिलाको प्रणाम किया और विनीत शब्दोंमें कहा—'मैं प्रेम-पंथका पथिक हूँ, श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये आया हूँ।' महिलाने कहा—'यदि तू श्रीकृष्णके दर्शन करना चाहता है तो श्रीकृष्णके किसी विग्रहके रूपमें उनका ध्यान कर, यों बैठे रहनेसे उनके दर्शन नहीं होंगे।' मैंने कहा—'मैं ध्यानके द्वारा श्रीकृष्णके मानस रूपके दर्शन नहीं करना चाहता, मैं तो उनके उस स्वरूपका दर्शन चाहता हूँ, जिस शरीरसे उन्होंने लीला की थी।'

"महिलाने कहा—'ऐसा नहीं होगा, तू [illegible] चला जा।'

"मेरी आँखोंसे अश्रुधाराका प्रबल वेग उमड़ प[illegible] महिला बोली—'अच्छा, तू यहाँसे कुछ दूर चला [illegible] और वहाँसे चुपचाप कृष्णके दर्शन कर लेना।' [illegible] कहा—'मैं केवल दर्शन ही नहीं चाहता, मैं उनके चरणों[illegible] स्पर्श, उनकी मधुर वाणीका श्रवण, उनके शरीर[illegible] सौरभ तथा उनके प्रसादका रस भी प्राप्त करना चाह[illegible] हूँ, ताकि प्राकृतिक शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध[illegible] सदाके लिये मुक्त हो जाऊँ। विषयरूपी शब्द, र[illegible] रूप, स्पर्श तथा गन्धसे कभी तृप्ति नहीं होती; क्योंकि क्षणिक तृप्तिके पश्चात् फिर अतृप्ति आ जाती है किंतु श्रीकृष्णके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी स[illegible] उपलब्धि होगी; क्योंकि वह दिव्य—अलौकिक है। महिलाने कहा,' ठीक है।'

"रात्रिका समय था। यमुनाका कलरव सुनायी दे [illegible] था। प्रकृति निस्तब्ध थी। नक्षत्रोंका झिलमिला प्रका[illegible] पृथ्वीपर पड़ रहा था। दूरसे बाँसुरीका शब्द सुना[illegible] दिया और देखते-देखते श्रीकृष्ण आ गये। उनके मुख[illegible] शोभा अवर्णनीय थी। माधुर्य फूट-फूटकर बह रहा था[illegible] उनके शरीरसे एक ज्योति निकल रही थी। मैंने चर[illegible] स्पर्श किया। उन्होंने माखन अपने हाथसे मेरे मुख[illegible] दे दिया और वे अदृश्य हो गये।"

इतना कहकर साधु मूक हो गये। स्वामीजी [illegible] मूक हो गये। ग्राम निकट आ गया। स्वामीजी[illegible] साधुके चरणोंकी धूलि अपने मस्तकपर लगायी और विदा हो गये।

सुना गया, बादमें स्वामीजी भी साधु हो गये [illegible] आश्रमका धन-धान्य सब वितरण कर दिया और वृन्दा[illegible] धामकी ओर रवाना हो गये।

अध्यात्म-गुरु

(लेखक—श्रीस्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज; अनुवादक—श्री ति० न० आत्रेय)

ईश्वर ही गुरु हैं

गुरु वह है, जो अज्ञानको मिटाता है। हमारा मोह-तिमिर निवारणकर ज्ञान-ज्योतिर्मय सूर्यके समान हमारे सामने जो उपस्थित होता है, वही गुरु है। वह मानवरूपधारी साक्षात् परमेश्वर है। हमारी उन्नतिके लिये आवश्यकता अनुभव होनेपर ईश्वर गुरुके रूपमें हमें यथोचित ज्ञान देता है और उसके लिये स्वेच्छासे कोई भी रूप धारण करता है। वह अनन्त रूप ले सकता है और वे अनन्त रूप हमारे गुरु बन सकते हैं। श्रीमद्भागवतमें दत्तात्रेय और राजा यदुके संवाद-प्रसङ्गमें इसका अत्यन्त रमणीय वर्णन आया है। श्रीदत्तात्रेयने अपने कई गुरु गिनाये हैं। वे यह नहीं कहते कि अमुक मानवदेहधारी ही उनके गुरु हैं। बल्कि वे अपने गुरु गिनाते गये और संख्या चौबीस तक पहुँची। कहा—'वे सब मेरे गुरु हैं।' वे सब मनुष्य ही थे, सो नहीं; और दत्तात्रेय-यदु-संवादमें इसी अंशपर विशेष बल दिया गया है। उनमें पशु भी हैं, एक भ्रमर भी है, पृथिवी, जल, वायु, अग्नि आदि पदार्थ भी हैं। श्रीदत्तात्रेयके लिये संसारमें ऐसा एक भी पदार्थ नहीं था, जो गुरु नहीं था।

यह नहीं कि दत्तात्रेय गुरुको खोजते फिरे होंगे। वे तो स्वयं गुरुओंके गुरु थे। जिस प्रकार भगवद्गीता केवल अर्जुनके लिये नहीं थी, उसी प्रकार श्रीदत्तात्रेयके उपदेश भी केवल यदुके लिये नहीं थे, बल्कि समस्त मानवजातिके लिये हैं। मानवके नाते और अन्वेषकके नाते हम सब अर्जुन और यदुके स्थानमें हैं।

श्रीदत्तात्रेयके उपदेशोंमें गुरु-शिष्य-सम्बन्धोंपर विशेष गहरा विचार प्रकट किया गया है। मुख्यतः हमारे सामने यह तथ्य प्रस्तुत किया गया है कि स्वयं परमेश्वर, उसके तीनों रूप—ब्रह्मा विष्णु और महेश ही हमारे गुरु हैं। तात्पर्य यह कि ईश्वर ही गुरु है और गुरु ही ईश्वर है। ईश्वर और गुरुमें कोई भेद नहीं है। शिष्यके लिये ईश्वर और गुरुमें कोई भेद नहीं है, दोनों एक हैं।

गुरु-शिष्यके इन आन्तरिक और गूढ़ आध्यात्मिक सम्बन्धोंमें गुरु-शिष्य दोनों दो व्यक्ति नहीं रह जाते। दोनोंका स्थूल रूप लुप्त हो जाता है। दोनों क्रमशः शारीरिक सम्बन्धोंसे परे हो जाते हैं और शिष्य कभी यह अनुभव नहीं करेगा कि गुरु लुप्त हो सकता है। गुरुका लोप असम्भव है। वह कभी लुप्त नहीं हो सकता। होता यही है कि उसका आकार बदलता है और उसके कामका प्रकार बदलता है। विभिन्न परिस्थितियोंमें और शिष्यकी विभिन्न अवस्थाओंमें वह विभिन्न प्रकारसे काम करता है। कभी वह प्रत्यक्ष काम करता दिखायी देता है, तो कभी अप्रत्यक्ष रहकर करता है। गुरुगीता नामक एक उत्तम ग्रन्थ है। ऋभुगीता एक दूसरा ग्रन्थ है। दोनोंमें इस बातका सविस्तर वर्णन है कि शिष्यके कल्याणके लिये गुरु किस-किस प्रकार काम करता है, उसका कार्य किस प्रकार अनिर्वचनीय है और उसकी पद्धति कितनी अद्भुत है।

गुरुका धर्म यही है कि शिष्यके प्रेयके लिये नहीं, श्रेयके लिये जो-जो काम आवश्यक हों, उन्हें करे। अधिकतर गुरु बड़े कठोर होते हैं। स्वयं परमेश्वर भी तो कठोर है। हम कहते हैं कि भगवान् कृपासमुद्र है, करुणासागर है आदि-आदि। उसे हम मातासे भी अधिक दयालु मानते हैं। परंतु आवश्यकता पड़नेपर वह वज्रसे भी अधिक कठोर हो सकता है। संत भी ऐसे ही होते हैं। वे वज्रसे भी कठोर होते हैं और समयपर कमलदलसे भी कोमल होते हैं। परमेश्वर समयपर विधिका रूप लेता है और फिर समयपर प्रेमरूप भी बनता है। ईश्वरकी सृष्टिमें विधि और प्रेम दोनों साथ-साथ चलते हैं। और गुरु इस धरतीपर परमेश्वरकी प्रकृति है। वह गुरु 'देव' है। परमेश्वरका साक्षात् स्वरूप है। जिस प्रकार सूर्य 'प्रत्यक्ष देवता' कहलाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक अधिरोहणकी भूमिकामें गुरु भी प्रत्यक्ष देवता है।

गुरु-शिष्य-सम्बन्ध शाश्वत है

राजा यदुको दिये गये दत्तात्रेयके उपदेशोंसे हमें यही शिक्षा ग्रहण करनी है कि ईश्वरके ये जो अनन्त रूप विश्वमें दिखायी देते हैं, वे सब हमारे गुरु बन सकते हैं और विश्वमें

घटित होनेवाली प्रत्येक घटनासे हमें कुछ-न-कुछ शिक्षा मिल सकती है। संसारकी प्रत्येक घटना हमारी आँखें खोल सकती है, बशर्ते कि हमारी पात्रता और शक्ति हो।

हम प्रायः गुरु-पूजा करते हैं। उसका अर्थ क्या है? उसका अर्थ यही कि उस निमित्तसे हमें उस ऊँचाई तक उठनेका एक अवसर मिलता है। हमें चाहिये कि हम अपनेको आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त कर सकनेवाली दीपशिखाकी एक कली समझें, केवल मरणशील पार्थिव शरीर ही समझकर न रह जायँ। इस धरतीपर हमारा धर्म यही है कि अपनी मुक्तिके लिये प्रयत्नशील रहें, न कि इस मिट्टीको ही अपना लक्ष्य मानें।

सनातन कालसे हमें यह समझाया गया है कि यह दुनिया एक रैनबसेरा है, एक 'क्षेत्र' है, जहाँ अपनी मंजिलकी ओर जाते-जाते थोड़ी देरके लिये विश्राम करना है। यह कभी नहीं समझना है कि यही हमारी मंजिल है। इस सीखके बावजूद अनादि अविद्याके कारण हमारी आँखोंके सामनेसे यह महान् ध्येय ओझल हो जाता है और इस दो घड़ीके रैनबसेरेको ही हम अपना शाश्वत स्थान मान बैठते हैं। किंतु जब अगली पौ फटती है तब हम देखते हैं कि अभी लंबा रास्ता तय करनेके लिये बचा पड़ा है। सराय हमारा घर नहीं है; हमें तो अभी और आगे बढ़ना है।

यह जो आगे बढ़नेकी, एक स्थानसे दूसरे स्थान चलनेकी प्रक्रिया है, यह इस जीवका 'पुनरावर्तन' है। जन्म-मरणका चक्र यही है। हमारा आत्मा एक पड़ावसे दूसरे पड़ावकी ओर निरन्तर, सतत, अखण्ड चलता रहता है और पूर्णताकी खोजमें बढ़ता रहता है।

प्रत्येक अवस्थामें हमें गुरु दर्शन देते हैं। अतः हमें यह नहीं समझना है कि आज इस मानवयोनिमें हमें गुरु मिले और जब हम मरे तो गुरु भी खो गये, अथवा गुरु शरीर छोड़ जाते हैं तो वे भी सदाके लिये छूट गये। गुरु परमेश्वरके समान ही एक शाश्वत तत्त्व है। ईश्वर ही गुरु है और गुरु ही ईश्वर है; इसलिये गुरुका लोप कभी नहीं होता। क्या कभी उन्नति नष्ट होती है?

साधक भी नश्वर नहीं है, गुरु भी नश्वर नहीं है। दोनों शाश्वत तत्त्व हैं और दोनोंका सम्बन्ध भी अविनाशी है। शिष्य या साधक आध्यात्मिक प्रगतिका एक अधिष्ठान है, आध्यात्मिक ज्योतिका एक स्फुलिङ्ग है, जो कभी बुझता नहीं। उसे या उसके गुरुको, वह जिस शरीरमें आज ... हुआ है या शिष्यके उद्धारके लिये गुरुने जो शरीर ... किया है, उस शरीरसे कुछ भी लेना-देना नहीं है।

भगवद्गीतामें श्रीकृष्णने कहा है—

> बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
> तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥

—मेरे कई जन्म बीत गये हैं और तुम्हारे भी। ... उन सबको मैं जानता हूँ, तुम नहीं।

यही हममें भेद है। सृष्टिके आदिकालसे नर और नारा... के, मानव और ईश्वरके अनन्त अवतार जीवोंके उद्धारके ... प्राणियोंके श्रेयके लिये निरन्तर होते रहे हैं। परंतु नारा... सब जानता है, नर नहीं। ईश्वर और मानवमें यही अन्... है। परंतु तत्त्वतः ये दोनों सागर और उसके तरंगों ... समान हैं। उनको एक दूसरेसे सर्वथा पृथक् नहीं किया ... सकता। मूलतः दोनों एक हैं। गुरु-शिष्यका सम्बन्ध ... ऐसा ही है। वह दो शरीरोंका सम्बन्ध नहीं है, वह ... ज्वाला और स्फुलिङ्गका सम्बन्ध है। स्फुलिङ्ग ज्वालासे ... मिलनेके लिये छटपटा रहा है और ज्वाला क्या है? वह भी उस वैश्विक अग्निका ही रूप है, जो ईश्वरीय चैतन्यका रूप है और उसीमें हम सबको लीन होना है।

यही ज्ञानयज्ञ कहलाता है। आध्यात्मिक साधनाकी ... प्रक्रिया ही ज्ञानयज्ञ है। यही ब्रह्मज्ञानमें आत्माको होम दे... है। इस दृष्टिसे यह कहा जा सकता है कि ईश्वर और ... जीवके बीचका माध्यम गुरु है। वह हमारे नित्य-जीवन... हमारी स्थिति और दृष्टिके अनुसार ब्रह्मज्ञानका दाता है। उस हदतक वह ईश्वर ही है।

गुरु शिष्यको स्वयं खोज लेता है

उपनिषदोंका कहना है कि गुरु श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये, सकलशास्त्रवेत्ता और ज्ञानी होना चाहिये। क्या इस संसारमें ऐसा परिपूर्ण गुरु मिल सकता है? ... पाना क्या सरल है? कइयोंके मनमें यह एक समस्या है। उन्हें गुरु-प्राप्तिकी कठिनाई बराबर सताती रहती है।

एक प्राचीन वचन है कि 'गुरु स्वयं शिष्यको ढूँढ लेता है, शिष्य गुरुको नहीं खोजने जाता।' गुरु सर्वदा ... शिष्यकी खोजमें रहता है। शिष्यको ढूँढ पानेका भार गुरुके सिरपर बराबर रहता है। शिष्यपर वह भार नहीं होता

कारण स्पष्ट है। शिष्य अज्ञानी है, वह नहीं जानता कि गुरु कौन है, कहाँ है, कैसे मिलता है। मान लीजिये आपके सामने स्वयं कालिदास भी बैठे हों, लेकिन कालिदासको पहचान लेनेकी प्रतिभा आपमें न हो तो आप उनको जान ही नहीं पायेंगे। साक्षात् योगिराज शुक महर्षि ही आपके सामने हों, तो भी आप उन्हें पहचान नहीं सकेंगे। किंतु गुरु शिष्यको स्वयं खोज लेते हैं।

शिष्यके लिये वे चाहे जो कर सकते हैं; कभी-कभी तो अद्भुतसे अद्भुत कर्म भी कर देते हैं। आवश्यकता केवल इस बातकी है कि भले हम अज्ञानी हों, हममें यथोचित बुद्धिवैभव भले न हो, फिर भी हम प्रामाणिक रहें, ऋजुता-सम्पन्न रहें तो पर्याप्त है। किसी भक्तने कहा है कि यदि भक्त सच्चे हृदयसे और भावगद्गद होकर ईश्वरकी ओर एक कदम रखता है तो ईश्वर उसकी ओर सौ कदम दौड़ आता है। ईश्वर सोचता है—'अहा! यह मेरी ओर आ रहा है, उसकी रक्षाके लिये मुझे जाना चाहिये।' ऐसी है ईश्वरकी करुणा!

नदियाँ जिस प्रकार सागरकी ओर दौड़ती हैं, उसी प्रकार साधक-रूपी ये सब नाले और झरने ईश्वररूपी सागरकी ओर ही दौड़ रहे हैं। और ये गुरु उस सागर-तीरवर्ती मैदानके समान हैं, जहाँ नदियाँ विशाल रूप धारण करती हैं और अनन्त सागरमें विलीन होती हैं। यह है गुरुतत्त्व! यह सनातनतत्त्व है। वह हमारे सामने सदा सेवाके लिये संनद्ध है। जब भी हम सहायताकी याचना करते हैं, तब अँगुली पकड़कर चला ले जानेको वह सदा तैयार है।

हजरत मूसाको किसने ज्ञान दिया? महात्मा ईसाको किसने ज्ञान दिया? भगवान् बुद्धको किसने बोध दिया? ऐसे सहस्रों आचार्योंने उस सनातन तत्त्वसे ही ज्ञान प्राप्त किया। यह इसीलिये सम्भव हुआ कि उन सबका हृदय ब्रह्मविद्याके सामुद्रतरंगोंके स्वागतके लिये सदा उन्मुक्त रहा। इसका अर्थ यही कि शिष्यका काम केवल यही है कि वह अपना हृदय खुला रक्खे, उन्मुक्त रक्खे। बस! "हृदयपट बंद मत रक्खो, खोल दो।"

हमारी साधनाका आखिर लक्ष्य क्या है? भगवत्पादा-रविन्दोंमें आत्म-समर्पण ही तो है! यह न सोचो कि आत्मसमर्पण केवल भक्तियोगका एक अङ्ग है और दूसरे योगोंकी प्रक्रियाएँ भिन्न हैं। चाहे ज्ञानयोग हो, कर्मयोग हो, ध्यानयोग हो या भक्तियोग—सबमें आत्मसमर्पणका स्थान और महत्त्व समान है। योगमात्रसे समर्पणतत्त्वको पृथक् नहीं कर सकते। योगका अर्थ ही है युक्त होना—ईश्वरसे युक्त होना, ईश्वरमें मिल जाना। मिलनेवाला कौन है? वह भव्य मिलन किस-किसका है? वह शरीरका मिलन नहीं है, मनका मिलन नहीं है, इन्द्रियोंका मिलन नहीं है, अहंका मिलन भी नहीं है। वह तो अन्तःसारभूत आत्मतत्त्वका परतत्त्वसे मिलन है। यही योग है। यही समर्पण है।

यह योग तपस्याद्वारा शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदिकी शुद्धि करनेसे सधता है। वैराग्यकी अग्निमें, आत्मनिग्रहकी अग्निमें, चित्तैकाग्रताकी अग्निमें और साधना-की अग्निमें अपनेको पूर्णतया तपाओ। साधना ऐसी हो, तपस्या ऐसी हो, जो सर्वाङ्गीण हो, मानव-जीवनके सब पहलुओंका स्पर्श करती हो, समस्त जीवनको प्रभावित करती हो। वही तपस्या है।

उपसंहार

मौन-व्रत पालन करते हुए, गुरुकी महत्ता और प्रमुखता-को जानते हुए, गुरुके और अपने सम्बन्धको पहचानते हुए, ईश्वरकी उपस्थितिका अनुभव करते हुए और यह विश्वास रखते हुए कि हम ईश्वरको भले भूल जायँ, परंतु ईश्वर हमारी सहायता अवश्य करेगा, हमें साधना करनी चाहिये। याद रक्खो, तुम ईश्वरको न भी मानो, तो भी वह तुम्हारी सहायता करता रहता है। वह तुम्हें भूलता नहीं है। सदा प्रकाशित रहना सूर्यका जैसे स्वभाव है, अपनी ओर सबको आकर्षित करना ईश्वरका वैसा ही स्वभाव है। वह एक विश्वचुम्बक है और हम सब विश्वभरमें बिखरे हुए अयस्कणोंके समान हैं। उसीमें हमारा अस्तित्व है, उसीके आकर्षणमें हम अपनी जगह स्थित हैं। परंतु यह जानते नहीं हैं, यही कठिनाई है। अतः सदा अपने सामने ध्येय स्पष्ट रखना चाहिये, उसीमें लीन रहना चाहिये और उपासनामय और साधनामय जीवन जीना चाहिये।

भारतीय सभ्यताकी सनातन वाणी

(लेखक—प्रा० श्रीजगन्नाथप्रसादजी मिश्र)

प्रत्येक जातिका एक वैशिष्ट्य होता है। इस वैशिष्ट्यका कारण होता है उस जातिकी संस्कृति, उसका नीतिबोध एवं आचार-विचार। जातिके रीति-रिवाज उसकी विशिष्ट नीतिके ही बहिःप्रकाश होते हैं। प्रत्येक जातिका नैतिक चरित्र उसकी विभिन्न रीतियों एवं आचारोंके माध्यमसे अभिव्यक्त होता है। सांस्कृतिक क्षेत्रमें एक जाति दूसरी जातिका अनुकरण नहीं कर सकती। जातिकी प्राणधारा उसकी संस्कृतिमें ही अन्तर्हित रहती है। संस्कृतिके उत्ससे प्राण-रस ग्रहण करके ही एक-एक जाति अपने अस्तित्वको बनाये रखती है। इसलिये किसी जातिके नैतिक चरित्र एवं उसके जातीय जीवनकी पङ्किलताको दूर करनेके प्रयासमें हमें उसके उत्समुखकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। उत्समुखका संधान पाये बिना विदेशी सभ्यता या संस्कृतिकी धाराका अंधानुकरण करना मृत्युमुखकी ओर धावित होना है।

श्रीमद्भागवतमें लिखा है—भारतवर्ष कर्मभूमि या साधन-भूमि है और भारतवर्षसे भिन्न अन्यान्य आठ वर्ष स्वर्गवासी जनोंका पुण्य शेष होनेपर उनके उपभोगके स्थान हैं। मनुष्य बड़े पुण्यफलसे इस पुण्यभूमि भारतमें जन्म ग्रहण करता है। इस भारतभूमिमें न जाने कितने संत-महात्माओं, योगियों और तपस्वी महापुरुषोंने जन्म ग्रहण करके यहाँके विभिन्न आश्रमों, तीर्थक्षेत्रों, गिरि-कन्दराओं और मठ-मन्दिरोंको अपनी साधनासे तपःपूत किया है। भारतका मस्तक कोपीनधारी सर्वत्यागी संन्यासीके चरणोंमें झुका है, न कि दिग्विजयी सम्राटों और सेनापतियोंके चरणोंमें। अन्य देशोंने जहाँ बड़े-बड़े वैज्ञानिकों, दुर्धर्ष विजेताओं और धन-कुबेरोंको जन्म देनेके कारण गौरव बोध किया है, वहाँ भारतने योगी महापुरुषों एवं साधक तपस्वियोंको जन्म देकर अपनेको कृतार्थ माना है।

भारतीय सभ्यताका जन्म शान्त, स्निग्ध वातावरणके बीच तपोभूमिमें हुआ था। इस सभ्यताका उत्स है—तपःसिद्ध, त्यागव्रती, सत्यद्रष्टा ऋषियोंके अन्तरका अन्तरतम क्षेत्र, जिन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टिद्वारा सत्यका दर्शन किया था। इसलिये भारतीय सभ्यता अन्तर्मुखी एवं त्यागव्रती है। इस सभ्यतामें जीवनका लक्ष्य मुक्ति माना गया है। मुक्तिका अर्थ है—बन्धन-मुक्ति, न कि लोकालयका त्याग। जबतक मनुष्य वासनाओंका दास बना रहेगा, इन्द्रियों और उनके विषयोंके संस्पर्शमें जो सुख है, उसमें आसक्त रहेगा, तबतक वह वास्तविक सुखका भागी नहीं हो सकता। भगवान्का वचन है—

> ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
> आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
>
> (गीता ५। २२)

हमारे शास्त्रकारोंने सब प्रकारकी वासनाओंसे मुक्त होना मनुष्यके लिये कल्याणप्रद माना है—चाहे देहकी वासना हो या लौकिक वासना अथवा शास्त्रवासना। देहवासनाका अर्थ है स्थूल शरीरको ही सब कुछ समझकर इसमें आत्मबुद्धि रखकर इसीके पोषणके लिये अहर्निश साधन जुटाते रहना, विषय-भोगको ही जीवनका चरम, परम लक्ष्य मानना। शरीरका पालन-पोषण करना, उसे स्वस्थ एवं नीरोग बनाये रखना आवश्यक कर्तव्य है—किंतु भोग-सुखके लिये नहीं, साधन, भजन, ध्यान, धारणाद्वारा ईश्वरोपलब्धिके लिये, आत्मज्ञानद्वारा अपने दिव्यस्वरूपको हृदयंगम करनेके लिये। समस्त सांसारिक कर्मोंका विधिवत् सम्पादन करते हुए भी मनुष्य साधनामें निरत रह सकता है, यदि उसे यह ज्ञान हो जाय कि इन्द्रियाँ भोगोंसे न तृप्त हुई हैं और न हो सकती हैं। भोगके बाद राग रक्तबीजकी तरह बढ़ता ही जाता है। भारतीय संस्कृतिका मूल आधार है—पुनर्जन्मवाद, कर्मफलवाद और वर्णाश्रम। मनुष्य जैसा कर्म करेगा, उसका भोग अवश्यम्भावी होगा। कर्मफल भोगे बिना शत-कोटि कल्पमें भी उसका क्षय नहीं हो सकता—

> नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
> अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥

कर्मफल-लाभकी आशासे अहंबुद्धिका आश्रय ग्रहण करके जो भी कर्म करेगा, उसका फल उसे भोगना ही पड़ेगा। शुभ कर्मका फल सुख और अशुभ कर्मका फल दुःख होगा। किंतु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मनुष्य कर्मसे सर्वथा विरत हो जाय। आत्मशुद्धिके लिये कर्म करना ही होगा। योगीजन भी आसक्तिका त्याग करके आत्मशुद्धिके लिये कर्म करते हैं—

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये।

जो भगवान्‌के निर्गुण, निराकार, अचिन्त्य, अव्यक्त रूपके उपासक हैं, वे भी 'सर्वभूतहिते रताः'—सब प्राणियोंके हित-साधनमें लगे रहेंगे। इसलिये गीतोक्त धर्मके अनुसार फलाशात्याग, अहंकारवर्जन एवं ईश्वरार्पण-बुद्धिद्वारा जो कर्म किया जाता है, वह भगवान्‌के निमित्त कर्म होता है और शुभ फलका दाता होता है। इसके विपरीत कर्म अशुभ-फलदायक होता है।

मानवेतर जितने प्राणी हैं, उन्हें पूर्वजन्मकृत कर्मफलका भोग करनेके लिये भोगशरीर मिला है। उनके समस्त कर्म प्रकृतिकी प्रेरणासे प्रणोदित होते हैं। उनके लिये वर्तमान ही सब कुछ है—अतीत एवं भविष्यत् उनके लिये गौण है; किंतु मानव-देह प्रारब्ध कर्म-फलका भोग करनेके साथ-साथ साधनाद्वारा कर्मफलका निराकरण करनेमें भी समर्थ है। यही मानवशरीरकी विशेषता है। मनुष्य अपने अतीत-पर दृष्टि रखकर वर्तमानकी अपेक्षा भविष्यको विशेष महत्त्व देता है। वह अपने मनको ऊर्ध्वगामी बना सकता है और आत्मविकासद्वारा इस धरा-धामपर ही अपने देवत्वको चरितार्थ कर सकता है।

मनुष्य यदि दुर्लभ मानव-शरीरका उपयोग केवल अपनी स्थूल भोगवृत्तिको चरितार्थ करनेके लिये करता है—आहार, निद्रा और मैथुन-कर्ममें शरीरका क्षय करता है तो उसका मनुष्य-शरीर धारण करना व्यर्थ है। ऋषिवाक्य है—

नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखम्।

जगत्‌में जितनी भोगैश्वर्यकी वस्तुएँ हैं, सब नाशवान् हैं। उनमें वास्तविक सुख नहीं है। शाश्वत, चिरंतन सुख भूमामें ही है। भारतीय नारी ऋषिपत्नी अपने पतिसे कहती है—

येनाहं नामृता स्यां तेनाहं किं कुर्याम्।

'जिससे मैं अमृतत्वको प्राप्त न होऊँ, उसे लेकर मैं क्या करूँगी ?' उपनिषद्‌का मर्म-वाक्य है—

त्यक्तेन भुञ्जीथाः। मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

'त्यागद्वारा भोग करो—किसीके धनपर लोभ मत करो।' इस सभ्यताके महाज्ञानी आचार्यका उपदेश है—

कामं क्रोधं लोभं मोहं त्यक्त्वाऽऽत्मानं भावय कोऽहम्।

'काम, क्रोध, लोभ आदि षड्‌विकारोंका त्याग करके निरन्तर चिन्तन करो, मैं कौन हूँ ? किसलिये मुझे यह शरीर मिला है ? मैं पञ्चभूतोंका संघात (शरीर) नहीं हूँ, कालरहित ब्रह्म ही मैं हूँ।'

तद्ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसंघः। आत्मन्येव खलु अरे दृष्टे श्रुते मते ज्ञाते इदं सर्वं विज्ञातं भवति।

'आत्माको जानो। दर्शन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन-द्वारा आत्माको जान लेनेपर सब कुछ जान लिया जाता है।' इसलिये जो ज्ञान इन्द्रियोंके वेगको शान्त करनेवाला है, वही ज्ञान है; उपनिषदोंका जो निश्चित सिद्धान्त है, वही ज्ञेय है और जिनकी समस्त कर्म-प्रचेष्टाएँ परमार्थदृष्टिसे होती हैं, वे ही इस पृथिवीपर धन्य हैं—

तज्ज्ञानं प्रशमकरं यदिन्द्रियाणां
तज्ज्ञेयं यदुपनिषत्सु निश्चितार्थम्।
ते धन्या भुवि परमार्थनिश्चितेहाः
शेषास्तु भ्रमनिलये परिभ्रमन्ति॥

शेष मनुष्य तो इस संसाररूपी भूल-भुलैयामें भटकते रहते हैं। भारतीय सभ्यताकी दृष्टिमें यह जगत् अनित्य, अशाश्वत, दुःखालय होनेपर भी भगवन्मूर्त्ति है, भगवान्‌की लीला है। संसारी जीव इस लीलाके पात्र हैं। जितने नर-नारी हैं, सब इस लीलामें भाग लेकर अपनेको अमृतत्वके अधिकारी बना सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य 'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म, सर्वं खल्विदं ब्रह्म'की उपलब्धि साधनाद्वारा कर सकता है। भारतीय ऋषियोंने अपनी साधना एवं ज्ञान-तपस्याद्वारा जिस एक एवं अद्वितीय ब्रह्मकी उपासना की थी, वह एक होकर भी बहुरूपमें अपनी लीलाका विस्तार करता है। आत्माराम होनेपर भी रमणेच्छया अनेक रूप धारण करता है। वह निराकार होकर भी साकार, निर्गुण होकर भी सगुण, असीम होकर भी ससीम है। उपनिषद्‌की वाणी है—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।

भागवतकारके शब्दोंमें—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

कठोर अद्वैतवादी शंकराचार्य भी स्वीकार करते हैं—

स्यात् परमेश्वरस्यापि इच्छावशात् मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम्॥

गीताके अनुसार सम्भ्रम एवं श्रद्धाके साथ विश्वमय भगवान्‌की असीम विभूतियोंका अनुध्यान किया जा सकता है।

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

इस प्रकार अद्वैतवादके साथ द्वैतवाद, एक एवं अद्वितीय ब्रह्मवादके साथ बहुदेवतावाद भारतीय धर्म एवं संस्कृतिका साधना-लब्ध अमूल्य धन है। उस अद्वितीय परब्रह्मके ही विभिन्न प्रकारा अधिकारि-भेदसे विभिन्न रूपोंमें उपासनीय हैं। ऐश्वर्य एवं माधुर्य दोनोंका समन्वय एक साथ ही परब्रह्ममें हुआ है। वह कुलिश-कठोर होनेपर भी कुसुम-कोमल है। मधुर भावमें वह चक्र-सुदर्शनधारी नहीं, गदाधर नहीं, शार्ङ्गपाणि नहीं—करुणामय, दयामय, प्रेममय एवं प्राणवल्लभ है। ज्ञानी भक्तका आलम्बन ऐश्वर्य, भक्तका आलम्बन माधुर्य। भारतीय धर्म यह मानता है कि जो ईश्वर सर्वशक्तिमान्, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डका सृष्टि-स्थिति-लय-कर्त्ता है, वह यदि एक होकर भी बहु नहीं हो सकता तो उसकी सर्वशक्तिमत्ता किस प्रकार सिद्ध की जा सकती है?

पाश्चात्त्य सभ्यताका जन्म भोगभूमिमें हुआ है, जहाँ मनुष्य शक्तिमान् बनकर अपने पौरुषसे विषयभोगकी अदम्य आकाङ्क्षाको चरितार्थ करना चाहता है। वह अनन्त पार्थिव सुख-भोगके लिये अपनी समस्त कर्मेन्द्रियोंको नियोजित करता है। उसका चरम लक्ष्य मोक्ष या वैराग्य नहीं—'आत्मानं विद्धि' नहीं—बहिःप्रकृतिको, स्थूल भौतिक पदार्थोंको जानना, उनका विश्लेषण करना, उन्हें वशीभूत करके उनका उपयोग-भोग वह्निमें घृताहुतिके रूपमें करना है। इसके लिये ही उनकी ज्ञान-विज्ञान-साधना अनवरत रूपमें चल रही हैं। नित्य नूतन आविष्कार हो रहे हैं और उनके द्वारा भोग्य वस्तुओंको सर्व-जनसुलभ बनानेका अशेष प्रयास हो रहा है। वहाँ जीवनके रहन-सहनके मानको ऊँचा उठाना अर्थात् आवश्यकताओंको निरन्तर बढ़ाते रहना और उनकी पूर्तिमें लगे रहना—यही परम पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थमें जीवनके मानको, मनुष्यके मनुष्यत्वको ऊँचा उठाने, अन्तरके दानवत्वको पराभूत करके देवत्वको विकसित करनेकी अपेक्षा भोगवादके सब प्रकारकी प्राकृतिक शक्तियोंको आयत्त करना ही जीवनकी सबसे बड़ी साधना एवं सिद्धि है। इस साधनामें पाश्चात्त्य विज्ञानकी जो अभूतपूर्व एवं अभावनीय उन्नति हुई है उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पाश्चात्त्य सभ्यताके भोगप्रवण विज्ञानी जल, स्थल, आकाश—सर्वत्र अपनी शक्तिका विस्तार चाहते हैं। पृथिवीके भोगैश्वर्यसे संतुष्ट न होकर खगोलके शक्तिमान् एवं अन्यान्य ग्रह-उपग्रहोंमें अपनी सत्ता स्थापित करना चाहते हैं। इसके लिये बृहत् शक्तियोंमें प्रतिद्वन्द्विता चल रही है। सब क्षेत्रोंमें गतिवेगको बढ़ानेके लिये भौतिक जगत्‌के रहस्योंका पता लगाने और उनपर विजय प्राप्त करनेमें वे व्यस्त हैं। भोगाकाङ्क्षाकी सर्वमयी सत्ताके मार्गमें जो भी बाधाएँ उपस्थित हों, उनके अपसारणके लिये मारणास्त्रोंका बीभत्स एवं विराट् आयोजन चल रहा है। शान्तिकामी असंख्य नर-नारीगण भावी युद्धकी विभीषिकासे आतङ्कित हो रहे हैं।

भोगवादी सुधीजनोंका जीवन-दर्शन है—संघर्ष एवं संग्रामके बीच तुमुल कोलाहलमय जीवन। इस जीवनमें अयोग्य, दुर्बल एवं अक्षम जनोंके लिये स्थान नहीं है। उनकी दृष्टिमें बहिःप्रकृतिमें भी यह संग्राम चल रहा है, योग्यतमका संरक्षण एवं अयोग्य शक्तिहीनका विनाश; किंतु भारतीय मनीषियोंने प्रकृतिके इस संग्राममय रूपमें भी लीलामयकी लीलाका बहिःप्रकाश अवलोकन किया था। सम्पूर्ण जीव-जगत्—जड-चेतनके प्रति आध्यात्मिक दृष्टिसे ममत्व बोध किया था। प्रकृतिके बाह्यरूपमें केवल संग्राम ही नहीं, उसके शान्त, स्निग्ध वातावरणमें एक अपूर्व समन्वय एवं माधुर्य भी है। प्रकृति स्नेहमयी, ममतामयी एवं दयामयी है। वह मनुष्यकी आद्य सहचरी है।

जिस सभ्यताका, जिस जीवन-दर्शनका लक्ष्य विषयभोग होगा, वहाँ जीवनमें संघर्ष, हिंसा, द्वेष अवश्यम्भावी हैं। जिस सभ्यताका लक्ष्य त्याग, इन्द्रिय-संयम, देहसे ऊपर आत्मा और भौतिकतासे परे आध्यात्मिकता तथा सर्वभूतहित होगा, उसमें घृणा, हिंसा, अतिहिंसा एवं परस्वापहरणके लिये कोई स्थान नहीं होगा। युग-युगान्तरसे भारतीय सभ्यता इसी वाणीकी धारक एवं वाहक रही है। यही भारतका सनातन धर्म एवं उसका जीवन-दर्शन है।

धर्म-निरपेक्ष राज्य एवं धार्मिक शिक्षा

(लेखक—श्रीरामनारायणजी परमार, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, साहित्यरत्न)

१–समाजमें विद्यमान परिस्थितियोंसे–आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं नैतिक अवस्थाओंसे हम विमुख नहीं रह सकते । इसी दृष्टिसे मैंने इस लेखमें 'धर्म-निरपेक्ष राज्य एवं धार्मिक शिक्षा' विषयपर दो शब्द लिखनेका प्रयासमात्र किया है ।

२–'धर्मनिरपेक्ष राज्य एवं धार्मिक शिक्षा' विषय संविधानके अनुच्छेद २५ से ३० तकमें समाविष्ट है । इसमें मेरे विषयसे सम्बन्धित अनुच्छेद २८ उपखण्ड १ तथा ३ ही प्रासङ्गिक हैं । अनुच्छेद २८ (१)—राज्यनिधिद्वारा पूरी तरहसे पोषित किसी शिक्षासंस्थामें कोई धार्मिक शिक्षा न दी जायगी । २८ (३)—राज्यसे अभिज्ञात अथवा राज्यनिधिसे सहायता पानेवाली शिक्षा-संस्थामें उपस्थित होनेवाले किसी व्यक्तिको ऐसी संस्थामें दी जानेवाली धार्मिक शिक्षामें भाग लेनेके लिये अथवा ऐसी संस्थामें या उससे संलग्न स्थानमें की जानेवाली धार्मिक उपासनामें उपस्थित होनेके लिये बाध्य न किया जायगा—जबतक कि उस व्यक्तिसे, या यदि वह अवयस्क हो तो, उसके संरक्षकने इसके लिये अपनी सम्मति न दे दी हो ।

इस अध्यायके अन्य अनुच्छेदोंमें राज्यनिधिके आंशिकरूपसे या स्वतन्त्ररूपसे चलनेवाली शिक्षासंस्थाओंको धार्मिक शिक्षा देनेकी स्वतन्त्रता है । किंतु शिक्षाका व्यापक प्रसार जितना शासकीय विद्या-संस्थाओंमें होता है, उतना अन्य शिक्षा-संस्थाओंसे नहीं होता । इस कारण मैं शासकीय शिक्षा-संस्थाओंमें धार्मिक शिक्षाका समादेश होना चाहिये या नहीं, इस विषयपर ही विचार करूँगा । धर्मनिरपेक्ष राज्य एवं धार्मिक शिक्षाके विषयमें 'धर्म' शब्द बहुत ही अर्थपूर्ण (significant) एवं महत्त्वका है । वर्तमान विधान (Laws) में जहाँतक मुझे ज्ञात है, 'धर्म' शब्दकी परिभाषा नहीं दी गयी है । ऐसी स्थितिमें हमें 'धर्म' शब्दकी व्युत्पत्ति तथा शब्दकोषगत (etymological and dictionary) स्पष्ट व्याख्याको ग्रहण करना होगा । धर्म-निरपेक्ष राज्यको अंग्रेजीमें (Secular state) कहा गया है । सेक्यूलर शब्दका अर्थ यह है कि जो लौकिक–ऐहिक हो, धर्मसे अलग हो । अस्थायी तथा अधार्मिक अर्थ भी इस शब्दके बतलाये गये हैं । तदनुसार सेक्यूलर स्टेटकी व्याख्या यह होगी 'लौकिक राज्य, असाम्प्रदायिक राज्य, जिस राज्यको धर्मकी अपेक्षा या कामना न हो । धर्मसे तटस्थ राज्य अर्थात् धर्म-निरपेक्ष राज्य ।'

धर्मका अर्थ है ऐसी वृत्ति या आचरण, जो लोक या समाजकी स्थितिके लिये आवश्यक हो, वह आचार जिससे समाजकी रक्षा एवं सुख-शान्तिमें वृद्धि हो ।' दूसरे अर्थमें धर्मकी व्याख्या है–'अपने श्रद्धा-विश्वास एवं उपासनाकी व्यक्तिगत वृत्ति (Personal belief, faith and worship) जो मानव-जीवनका अन्तिम लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्त करनेका ज्ञान, भक्ति, कर्म मार्गोंमेंसे भक्तिमार्ग नामक एक साधन है ।

३–यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण एवं शोचनीय विषय है कि जब कभी हमें किसी पद या विधिकी व्याख्या करनी होती है, तब हम पश्चिमकी ओर अभिमुख होते हैं, हम अपने ज्ञानके भंडारको पूर्णतः विस्मरण कर जाते हैं । दूसरे शब्दोंमें हम अपने संचित ज्ञानकोषको देखनेमें रूढ़िवादिता या पिछड़ेपनका अनुभव करते हैं, इस वृत्तिसे सर्वाधिक पीड़ित हैं हमारे नेता एवं विधिनिर्माता । धर्मकी संकुचित व्याख्या है—'धर्म व्यक्तिगत विश्वास एवं उपासनाकी वृत्ति है,' जिसको हमारे नेता एवं विधिनिर्माताओंने दृष्टिमें रखी है । यह व्याख्या पश्चिमकी आधुनिक शिक्षाके प्रकाशमें की गयी है, ऐसा कहनेमें कोई त्रुटि नहीं है । उसे दृष्टिमें रखकर ही 'धर्मनिरपेक्ष राज्य'की कल्पना की गयी और ऐसे राज्यको संविधानमें स्थान दिया गया । मैं संविधान-निर्माताओंकी बुद्धि अथवा ज्ञानको किंचित् मात्र भी चुनौती नहीं देता । मैं उन सबको श्रद्धास्पद मानता हूँ और उनमेंसे बहुतोंके विशद एवं प्रकाण्ड ज्ञानका सम्मान करता हूँ ।

धर्मशब्दकी व्याख्या विशदरूपसे हमारे धर्मशास्त्रों (वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण) में की गयी है तथा कथानकोंके द्वारा धर्मके मूलभूत सिद्धान्त समझाये गये हैं, ताकि उन्हें जीवनमें उतारा जा सके । इस व्याख्याको दृष्टिसे ओझल करनेका कोई कारण नहीं है । वेद, श्रुति, स्मृति आदि ग्रन्थोंमें धर्मके लक्षण बतलाये गये हैं । 'धर्म' शब्दकी सच्ची व्याख्या एवं व्युत्पत्तिको समझनेके लिये यहाँ कुछ प्रयत्न किया जाता है ।

४—हमारे मानवधर्म दूसरे शब्दोंमें मानव-विधानके प्रणेता, (Law-giver) मनुमहाराजने मनुस्मृतिमें धर्मके मूलभूत सिद्धान्त, मूलाधार तथा लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं, जिससे धर्मका स्वरूप ज्ञात होता है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥
(२ । ६)

सम्पूर्ण वेद, वेदोंके जाननेवालों (मनु आदि) की स्मृति और उनका शील, साधुपुरुषोंका आचरण और अपने आत्माका संतोष—ये धर्मके मूल हैं।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥
(२ । १२)

वेद, स्मृति, सदाचार और अपने मनकी प्रसन्नता—ये चार धर्मके साक्षात् लक्षण हैं।

(The Vedas, Smṛtis, the conduct of saintly souls and action which brings satisfaction to the heart, these four are said to be the direct criteria of Dharma.)

जो अपनेको अच्छा लगे, वह भी धर्मका लक्षण है। इसलिये कविकुलगुरु कालिदासने भी अपने अन्तःकरणकी वृत्ति (conscience) को संदेहात्मक विषयमें निर्णयात्मक वृत्ति माना है, जिसे मनुके शब्दोंमें 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' कह सकते हैं। देखिये—

संदेहपदेषु वस्तुषु अन्तःकरणप्रवृत्तयः प्रमाणम्।
—अभिज्ञानशाकुन्तलम्

धर्मकी मुख्य विशेषताएँ मनुने दस बतलायी हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

धृति, क्षमा, मनका संयम, अस्तेय, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं।

(Fortitude, forgiveness, self-control, abstaining from theft, purity of mind and body, mastery of the senses, a pure intellect, wisdom, truthfulness and absence of wrath)

मनुके द्वारा प्रणयन किये गये धर्मके विषयमें कहा गया है—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥

जो धर्म मनुने कहा है, वह सम्पूर्ण वेदोंमें कहा हुआ है; क्योंकि वेद सर्वज्ञानमय है।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥

वेदको श्रुति और धर्मशास्त्रको स्मृति जानना चाहिये। ये दोनों सब विषयोंमें असंदिग्ध प्रमाण हैं; क्योंकि इनसे ही धर्म प्रकाशित हुआ है।

प्राचीन महाकाव्य महाभारतमें भगवान् वेदव्यासने वनपर्वमें धर्मके विषयमें कहा है—

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥

प्राणिमात्रके प्रति मन-वाणी-कर्मसे द्रोह न करना, अनुग्रह, दान—ये सत्पुरुषोंके सनातन धर्म हैं।

(Absence of enmity with all creatures in thought, word and deed, compassion on all and charity, these are the eternal Dharma of the virtuous.)

इन तत्त्वोंके प्रकाशमें आधुनिक पञ्चशील तो एक तुच्छ वस्तु प्रतीत होते हैं, जो चीनके क्रियाकलापको देखते हुए केवल पाखण्ड-मात्र हैं।

हमारे धर्मशास्त्रोंके अनुसार यदि मानवसमाजमेंसे धर्म-को निकाल दिया जाय तो वह निरा पशु-समुदाय हो जायगा।

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

प्राचीन कालमें धर्मको जीवन एवं आत्माका उन्नायक तत्त्व माना गया था और अन्य उपदेशोंके साथ यह भी आदेश दिया जाता था —'धर्मं चर', धर्मका आचरण करो, अनुशीलन करो। किंतु यह शोचनीय है कि अर्वाचीन कालमें पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृतिसे प्रभावित होकर (यह हमारी एक बड़ी कमजोरी है) धर्मको अवनतिका मुख्य कारण माना जाने लगा है।

ऋग्वेदमें 'धर्म' की व्याख्या करते हुए निम्नलिखित शिक्षा दी गयी है। अन्य शब्दोंमें धर्म वह वस्तु है, जो हमें सब प्रकारकी एकता, सहिष्णुता एवं समता सिखलाती है और प्रत्येक मानवको यही शिक्षा दी जाती थी। डॉ० राधाकृष्णन्ने भी कहा है—The more religious we grow the more tolerent of diversity shall we become.

देखिये—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भाग यथा पूर्वे सं जानाना उपासते ॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

(ऋग्वेद १० । १९१ । २—४)

'तुम साथ-साथ चलो, साथ-साथ बोलो, तुम्हारे मन समान रूपसे विचार करें, पक्षपातरहित धर्मात्मा विद्वान् लोग वेदरीतिसे सत्य-धर्मका आचरण करते हैं, उसी प्रकार तुम भी करो। तुम्हारे मन्त्र—भाव समान हों, तुम्हारी समिति या तुम्हारी समाजव्यवस्था समान हो, तुम्हारे मन समान हों, तुम्हारे संकल्प-विकल्प, तुम्हारी चित्तवृत्तियाँ साथ रहें। मैं इस हेतु तुम्हें सलाह एवं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम मेरे आज्ञानुसार चलो। समान रूपसे दो और लो। तुम्हारे आचरण तथा निश्चय समान हों। हृदय एवं मनके सब व्यवहार समान हों; तुम अपने मनको ऐसा बनाओ कि वह सदैव सत्कर्ममें प्रवृत्त हो, जिससे सब सुखी हों।'

इनकी विशद व्याख्या न करते हुए मैं यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त समझता हूँ कि हमारे ऋषियोंने सदैव समन्वय, एकता, समताकी परिकल्पना की है। यह समन्वय-की भावना भारतीय संस्कृतिकी मुख्य विशेषता है। दूसरे शब्दोंमें यही धर्मका प्रमुख अङ्ग है।

जहाँ उत्तर मीमांसामें ब्रह्मजिज्ञासाका समाधान किया गया है, वहाँ पूर्वमीमांसामें 'अथातो धर्मजिज्ञासा' के अन्तर्गत धर्मकी व्यञ्जना इस प्रकार की गयी है—

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।'

'ईश्वरने वेदोंमें मनुष्योंके लिये जिसके करनेकी आज्ञा दी है, वही धर्म है।' वह धर्म अधर्मसे अलग है। इस धर्मका आचरण करना ही मनुष्यमें मनुष्यत्व है।

वैशेषिकमें सांसारिक अथवा लौकिक सुख-समृद्धि तथा आध्यात्मिक आनन्द—मोक्षसुखकी प्राप्तिके साधनको ही 'धर्म' कहा गया है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म है। योगिराज भर्तृहरिने भी मनुष्य-जीवनमें धर्मको विशेष महत्त्व प्रदान किया है—

येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

जिनमें विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण और धर्म नहीं हैं, वे पृथ्वीपर भार होकर मनुष्यरूपमें पशुके समान विचरण करते हैं।

'धर्म' शब्दकी व्युत्पत्ति करनेपर धर्मका अर्थ होता है—धृ अर्थात् धारण करना। 'धारयते इति धर्मः'—जो समाजको सम्यक् रूपसे धारण करता है, वह धर्म है। 'धर्म' धृ धातुसे बना है; धर्मसे प्रत्येक मानव-समाज, राष्ट्रको वाञ्छित फल प्राप्त होता है। फिर धर्मकी राज्यको कामना या अपेक्षा क्यों नहीं ? धर्मका कर्तव्यरूपमें भी शास्त्रोंमें निरूपण किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रत्येक वर्णाश्रमके धर्मका निर्धारण किया गया है।

५—राजनीति अनेकरूपा है। वह सदैव परिवर्तनशील है। राजनीतिके सिद्धान्त स्थायी नहीं होते, किंतु धर्मके सिद्धान्त शाश्वत, चिरंतन एवं अक्षुण्ण हैं। धर्मके जिन रूपोंका ऊपर वर्णन किया गया है, वे प्रायः सभी धर्मोंके मूलाधार रूपमें निरूपित हैं। ऐसी स्थितिमें यदि ये लक्षण किसी धर्मविशेषके मूल नहीं हैं तो इनसे साम्प्रदायिकताका भय क्यों होता है। जीवनमें जो कुछ सत् है, वह सब धर्ममें समाविष्ट है। राजनीति धर्मसे भिन्न नहीं हो सकती। राजनीति क्या, समाजका कोई भी अङ्ग, क्षेत्र या भावना धर्मरहित होकर जीवित नहीं रह सकती। जीवनमें जो सत्य, शिव और सुन्दर है, वह सब धर्मका ही स्वरूप है। चार पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्षमें भी

धर्मको महत्त्वका स्थान प्रदान किया गया है, though our summum bonum is the attainment of Mokṣa.

उक्त विवेचनके प्रकाशमें मैं ईशोपनिषद्के शब्दोंमें प्रार्थना करूँगा—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

दूसरे शब्दोंमें—

O, Thou who givest sustenance to the world, unveil that face of the true sun which is now hidden by a veil of golden light, so that we may see the truth and know our whole duty, *i. e*, Dharma.

६—अबतक धर्मके शास्त्रसम्मत स्वरूपपर विचार किया गया। वैधानिक दृष्टिसे धर्म-निरपेक्ष राज्यका अभिप्राय यह है कि राष्ट्रकी बहुसंख्याके धर्म (व्यक्तिगणके विश्वास एवं उपासनाकी वृत्तिके अर्थमें ही धर्मका अभिप्राय मानकर 'धर्म-निरपेक्ष राज्य' की कल्पना तथा चिन्तन किया गया है) को राज्यद्वारा विशेष संरक्षण प्रदान नहीं किया गया है। दूसरे शब्दोंमें राज्यका कोई अपना धर्म नहीं है। सभी प्रकारके धर्मोंको समान रूपसे संरक्षण दिया गया है। संवैधानिक दृष्टिसे राज्यके धर्मके अभावका अभिप्राय यह है कि राज्य सब धर्मोंको समानताके व्यवहारकी गारंटी देता है। इसी मन्तव्यको लक्ष्यमें रखकर कोई भारतको अति-विकसित 'धर्म-निरपेक्ष राज्य'के रूपमें देखते हैं। किंतु मेरा निवेदन है कि 'धर्म-निरपेक्ष राज्य'का यह अभिप्राय तो कदापि नहीं हो सकता कि राज्यको Secularism अथवा irreligion—अधार्मिकताकी वृद्धि करनी चाहिये। राज्यको धर्मके प्रति, धार्मिक सिद्धान्तोंके प्रति कदापि उदासीन नहीं रहना चाहिये। इसी प्रकार राज्यके विधि-विधान नैतिक मानदण्डोंसे पृथक् नहीं किये जा सकते।

जहाँतक धर्मनिरपेक्ष राज्यका यह अभिप्राय है कि राज्य प्रत्येक नागरिकको धर्म एवं उपासनाकी स्वतन्त्रता प्रदान करता है, उचित है। किंतु धर्मनिरपेक्ष समाजका निर्माण नैतिक मान-दण्डों तथा आध्यात्मिक आधार-शिलाओंपर होना आवश्यक है।

७—धर्मनिरपेक्ष राज्यका अभिप्राय मेरे मतमें यह होना चाहिये कि वह सम्प्रदायविशेषके धर्मको 'राज्यधर्म' नहीं माने, किंतु राज्य किसी धर्मविशेषकी उपेक्षा भी नहीं करे। सब धर्मोंका समानरूपसे सम्मान करे और उन्हें संरक्षण प्रदान करे। धर्मके अभावमें समाज तथा राष्ट्र जीवित तथा विकसित नहीं हो सकता। इसीसे आज धर्मके अभावमें हमारी नैतिकता तिरोहित हो रही है और हमारे राष्ट्र तथा समाजमें कई दुर्गुणोंका प्रवेश हो गया है एवं वे घुनकी तरह राष्ट्रको नष्ट करनेमें लगे हैं। महात्मा गांधी इसलिये महात्मा बने कि उन्हें बाल्यकालमें धर्मकी, नैतिक मूल्योंकी कथाएँ सुननेको तथा पढ़नेको मिली थीं। आज सर्वत्र भ्रष्टाचारका साम्राज्य है। १८ वर्षके धर्म-निरपेक्ष एवं धार्मिक शिक्षाविहीन जनतन्त्रमें हमने क्या पाया? यदि हम नैतिकताकी दृष्टिसे पतित हुए तो मैं कहूँगा कि हम सभी दृष्टियोंसे पतित हो गये। आर्थिक अथवा भौतिक विकासकी योजनाओंसे राष्ट्रका स्थायी ठोस तथा शाश्वत चिरंतन निर्माण नहीं हो सकता। आज भ्रष्टाचारके व्यापक स्वरूपको देखते हुए राज्यों तथा केन्द्रमें Vigilance Commission—निगरानी आयोगका गठन हो रहा है और लोकसभामें स्वीडनकी ओम्बड्समैन प्रणालीको प्रभावशाली रूपसे लागू करनेकी चर्चा हो रही है, जिसमें प्रधानमन्त्रीके समान अधिकारसम्पन्न पदपर ऐसे व्यक्तिकी नियुक्ति की जाती है, जो निष्पक्ष हो, संसद्के प्रति उत्तरदायी हो और भ्रष्टाचारसम्बन्धी जनताकी शिकायतें सुनकर उनकी जाँच करे तथा उसके निर्णयको सरकार शत-प्रतिशत ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेती है। मेरा नम्र मत है कि इस 'निगरानी आयोग' तथा 'ओम्बड्समैन' पद्धतिसे भ्रष्टाचारका अन्त नहीं हो सकता। हमारे नेतालोग जिन विषयोंमें कुछ जानते नहीं हैं, उनमें भी अपनी टाँग अड़ाते रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे इन नेताओंने भ्रष्टाचारकी जड़को समाप्त करने तथा उसे रोकनेके उपायोंकी ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया। वस्तुतः सद्गुणोंका प्रचार-प्रसार करनेके लिये शिक्षा ही एकमात्र प्रभावशाली साधन है। बालकका मन एक कोमल तनेके समान होता है। उसे वाञ्छित रूपसे ढालनेमें शिक्षा बहुत बड़ी सीमातक सहायक होती है। अतः बालकोंको प्रारम्भसे नैतिक, धार्मिक शिक्षा देना उनके सार्वभौम विकासके लिये अत्यावश्यक है। शुष्क नैतिकता-को जीवनमें उतारना कठिन है। नैतिक मूल्योंको धर्म तथा धर्मकथाओंके द्वारा जीवनमें पूरी तरह ग्रहण करना तथा उनका क्रियान्वित करना बहुत सहज तथा प्राकृतिक होगा। इस कारण धर्म तथा धर्म-कथाके द्वारा सच्ची धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक है। किंतु शिक्षाके क्षेत्रमें भी नेता अपनी नीति लागू करना चाहते हैं। पाठशालाओंमें प्रारम्भसे धर्मकी, नैतिक मूल्योंकी, आध्यात्मिकताकी शिक्षा देना अनिवार्य है। धर्म-विशेष नहीं, सब धर्मोंके मूल तत्त्वों, सिद्धान्तोंकी, जो प्रायः एक ही समान हैं,

शिक्षा देना परमावश्यक है। धार्मिक, नैतिक शिक्षाके बिना कोई बालक नैतिक या सुसंस्कृत नागरिक नहीं बन सकेगा। शिक्षाका उद्देश्य शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक अथवा नैतिक विकास करना है। अन्तिम एवं सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्यकी ओर राज्यका ध्यान नहीं है। नैतिकता-के ग्रहणके बिना भ्रष्टाचारका क्या, किसी भी सामाजिक दोषका निवारण नहीं हो सकता।

मैं तो नेताओंसे कहता हूँ—'न तेऽधिकारो धर्मेऽस्ति मा भूरात्मप्रशंसकः'—तुम्हारा अधिकार धर्मके विषयमें नहीं है, स्वयं अपनी प्रशंसा न करो। हमारे शासक सदैव गला फाड़कर चिल्लाते हैं कि हमें चाहिये तकनीकी, इंजिनियर, डाक्टर और वैज्ञानिक—We want technicians, engineers, doctors and scientists। उन्हें यह चिन्ता नहीं है कि मानवमें मानवता ही नहीं रहेगी तो फिर किसीसे भी कोई कल्याण नहीं हो सकेगा। सबसे पहली आवश्यकता है मानवतासे पूर्ण सद्गुणी मानवोंकी। मानवकी महत्ताके सम्बन्धमें भगवान् वेदव्यासने महाभारत, शान्तिपर्वमें कहा है—'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि नहि मानवाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्॥' यदि सद्गुणी मानव आज बन सकते हैं और तकनीकी तथा वैज्ञानिक कल प्राप्त होते हों तो कोई हानि नहीं है। वरं सद्गुणी मानवका निर्माण सर्वप्रथम प्रयोजनीय है। सबसे अधिक आवश्यकता है आध्यात्मिक आधारपर मानवताके विकासकी, संस्कृति और दर्शनसे प्राप्त मानवीय दृष्टिकी। विज्ञान, कला, तर्क, आर्थिक एवं सामाजिक, भौतिक दृष्टिकी प्रधानता होनेपर मनुष्यका आध्यात्मिक पतन होने लगता है। इसीसे आध्यात्मिक आधारहीन इंजिनियर, डाक्टर और दूसरे वैज्ञानिकोंका निर्माण उन्हें मानवीय गुणोंसे शून्य कर देता है। मानवताके गुणोंकी कमीसे ही मनुष्य ऐसे काम कर बैठता है, जिससे दूसरे मनुष्यका—समाजका नुकसान होता है। नयी-नयी इमारतों, सड़कों तथा पुलोंका बननेके कुछ ही दिनों बाद टूट जाना यही सिद्ध करता है।

इस विषयमें तपःपूत श्रीश्रीप्रकाशजीके विचार सुनिये—'भ्रष्टाचारकी विभीषिका सबको सताये हुए है। जबतक कि देशभरका नैतिक स्तर नहीं उठेगा, तबतक कोई भी कानून किसीको लाभ नहीं पहुँचा सकेगा। समुचित शिक्षा ही सब रोगोंके निवारणका एकमात्र उपाय है। हमारा नैतिक स्तर बहुत नीचे गिर गया है, हमें न ईश्वरका और न मनुष्यका ही कोई भय रह गया है। जबतक कि हम सच्ची धार्मिक शिक्षाका आयोजन न करेंगे, जबतक घर-घर आध्यात्मिक सद्भावना न फैलायेंगे, तबतक कोई कानून हमारा सहायक नहीं हो सकता।' श्रीसंतानम्-समितिके विवरणसे भी प्रतीत होता है कि चारों ओर भ्रष्टाचार-ही-भ्रष्टाचार है। कोई छूट नहीं पाया है। मन्त्री, विधायक, शासकीय कर्मचारी, अधिकारी, न्यायाधीश आदि—प्रायः न्यूनाधिक रूपमें सभी इसकी लपेटमें आ गये हैं। उनका प्रतिवेदन है कि जबतक उच्च पदासीन व्यक्ति आदर्श आचरण उपस्थित नहीं करेंगे, भ्रष्टाचार समाप्त नहीं होगा तथा उन्होंने आदर्श आचरण-संहिताके निर्माणपर बल दिया दूसरे शब्दोंमें संतानम्-समितिने भी नैतिक शिक्षापर, जिसे मैं धार्मिक शिक्षामें समाविष्ट मानता हूँ, बल दिया है। भ्रष्टाचारके अतिरिक्त हमारे समाजमें नैतिकता तथा सच्ची धार्मिक शिक्षाके अभावमें कई अन्य भयानक दोषोंने—जैसे खाद्यवस्तुओंमें मिलावट, कालाबाजारी, संग्रह, जातिपक्षपात (Food adulteration, Black-marketing, hoarding, nepotism, red-tapism) अपना गहरा स्थान बना लिया है। इन सब रोगोंको दूर करनेका उपाय भी सच्ची नैतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा ही है, जिसे राज्य अपनी ओरसे नहीं करता तथा ऐसी शिक्षा देनेके लिये राज्यपर संविधानके द्वारा रोक है।

८—उक्त विवेचनके पश्चात् मेरा नम्र मत है कि भारत-शासनको आवश्यकरूपमें सभी धर्मोंकी सच्ची शिक्षा देनी चाहिये। धार्मिक शिक्षासे मेरा आशय है—नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्योंकी शिक्षा देना, जिससे प्रत्येक विद्यार्थीमें अनुशासन हो, सद्गुणोंका जीवनमें समावेश हो, व्यवस्था-पालनमें उत्साह हो, संस्कृतिसे प्रेम हो, त्यागकी भावना जाग्रत् हो। सच्ची धार्मिक शिक्षा कदापि सम्प्रदायवादकी उत्पत्ति नहीं करेगी, यह बलपूर्वक कहा जा सकता है। यह कार्य शीघ्र-से-शीघ्र किया जाय। प्रायः सभीने इसकी आवश्यकताका अनुभव किया है। रोग असाध्य बन जायगा तो फिर उपाय नहीं रह जायगा। भगवान् वेदव्यासके अनुसार प्रत्येक भारतीयका उद्देश्य 'सर्वभूतहिते रताः' होता है। हमारे ऋषियोंने भी यही घोषणा की थी। धर्म 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'जीओ और जीने दो' ही सिखलाता है। हमारा तो यह सांस्कृतिक स्वाभाविक नारा है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सभी कल्याणके दर्शन करें, जरा-सा भी दुःख किसीको न मिले ।

'May all living beings be hale and hearty. May all see happy days, *i. e.* let no one be miserable.'

ऐसी उच्च कामना करनेवाले नैतिक, आध्यात्मिक विचारोंमें कहीं साम्प्रदायिकताकी गन्धतक नहीं आती ।

९-विज्ञानसे भौतिक सुख एवं समृद्धि तो प्राप्त हो सकती है, किंतु वह आत्मिक आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता, जिसको प्राप्त करना मनुष्यमात्रके जीवनका परम लक्ष्य है। वह धर्मके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। हमें विषयानन्दवादको त्यागकर आध्यात्मिक तुष्टिकी स्थापना करनी चाहिये । हमारा ध्येय यही हो—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
(गीता ३ । १८)

और इस उद्देश्यको ध्यानमें रखकर मैं ईशावास्योपनिषद् (१८) के शब्दोंमें ईश्वरसे यह प्रार्थना करता हुआ इस निबन्धको समाप्त करता हूँ—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ।

'हे अग्निदेवता ! आप हमें परमधन परमेश्वरके पास शुभमार्गसे ले चलिये । हे देव ! आप समस्त कर्मोंको जाननेवाले हैं, अतः हमारे मार्गमें यदि कोई विघ्न हों तो उन सबको दूर कर दीजिये । आपको हम बार-बार नमस्कार करते हैं ।'

(O All-wise Being ! Thou art the source of all knowledge. Inspire us with Thy wisdom, lead us to rectitude and drive off our evil. To this end we repeatedly praise Thee and adore Thee.)

क्योंकि 'यतो धर्मस्ततो जयः ।'

कर्म करो, कर्म करो

(लेखक—श्रीसुरेशचन्द्रजी वेदालंकार, एम्० ए०, एल्० टी०)

मनुष्य संसारमें रहता है । वह एक सामाजिक प्राणी है। समाजमें रहते हुए यदि हम अपनेपर ही दृष्टि रखें तो वह मिथ्या है। अपने आस-पास दुःख रहते हुए भी यदि हम अकेले ही सुखी होनेकी इच्छा करें तो वह भ्रम है। यदि आस-पास आग लगी है तो अकेला हमारा मकान कैसे सुरक्षित रह सकता है ? संसारमें केवल अपने ही ऊपर दृष्टि रखनेसे काम नहीं चल सकता। जिस कुटुम्बमें प्रत्येक व्यक्ति दूसरोंके सुखमें ही अपना सुख और दूसरोंके दुःखमें अपना दुःख समझता है, वही कुटुम्ब समृद्ध बनेगा, सुखी और आनन्दमय दिखायी देगा। यही नियम समाजपर भी लागू होता है। समाजमें दुखी मनुष्योंको देखकर और उनपर करुणार्द्र होकर उनके दुःखको दूर करनेके लिये उनकी सेवाकी आवश्यकता है। यह सेवा ही कर्म है । सेवाका उपयोग अपने लिये और दूसरे दोनोंके लिये होगा। इसीलिये कर्मकी आवश्यकता है । कर्मके विना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। यदि हम सब कर्मशून्य हो जायँ तो समाज चलेगा कैसे ? सारी सृष्टि कर्म कर रही है, अतः प्रत्येक व्यक्तिको कर्म करना ही चाहिये । प्रत्येक व्यक्तिके शरीर, हृदय और बुद्धि हैं। शरीरको कर्म करना चाहिये। कर्ममें हृदयका प्रेम उतरना चाहिये और उस कर्मके करते हुए बुद्धिको काममें लेना चाहिये । यही कारण है कि उपनिषदों, वेदों और गीता, ब्राह्मणग्रन्थ आदिमें कर्मकी महत्ताका प्रतिपादन किया गया है । ईशोपनिषद्के दूसरे मन्त्रमें सौ वर्षतक जीवनकी कामना करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि हम कर्म करते हुए ही सौ वर्षतक जीवित रहें। वहाँ लिखा है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

अर्थात् मनुष्य कर्म करता हुआ ही सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करे । इस प्रकार तुझ मनुष्यमें कर्म नहीं लिप्त होता (अर्थात् मनुष्य सकाम कर्मके बन्धनमें नहीं आता)। इससे भिन्न (पूर्ण आयु उपलब्ध करनेका) और कोई मार्ग नहीं है । इसी प्रकारकी प्रार्थना प्रतिदिन की जानेवाली संध्यामें भी की गयी है । वहाँ कहा गया है— 'अदीनाः स्याम शरदः शतम् ।' दीनता उस मानसिक दुर्बलताको कहते हैं, जो मनुष्यको दूसरोंकी दयापर जीनेका प्रलोभन देती है, जो मुहताज बनकर किसीकी कृपा प्राप्त करनेको सुविधाजनक मार्ग समझाती है, जो स्वावलम्बनके

स्थानपर परावलम्बनको ही अपना आधार बनाती है, वह दीनता है। वीरलोग दीनताको जीवनमें स्थान नहीं देते। भारतवर्षके श्रेष्ठ वीर अर्जुनकी दो प्रतिज्ञाएँ प्रसिद्ध हैं—'दैन्य न दिखलाना और युद्धसे न भागना' (अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्)। और इन दोनोंका आधार है—कर्म। यह कर्म क्या है? यह कैसा हो? इसका मार्ग दिखलायेगा कौन? बतायेगा कौन?

यहाँ हमें मानवके महत्त्वको स्मरण करना होगा। पुरुषके पुरुषार्थसे वह मार्ग पूछना होगा। बुद्धदेव सदा ही कहा करते थे—"दूसरोंपर अवलम्बित मत हो, स्वयं अपने आपको दीपक बनाओ—'अप्पदीपो भव।' उपनिषदें भी यही बात कहती हैं। मनुष्य तो विज्ञानमय है; फिर चिन्ता किस बातकी? (बृहदारण्यक २। १। १६) मानव ही तो स्वयं ज्योति है (बृहदारण्यक ४। ३। ९)। मनुष्यके भीतर जो विज्ञानमय परमज्योति विद्यमान है। उसे आवाहन करके उद्बोधित करना होगा। अन्तरस्थित महागुरुके सिवा ऐसा और कोई दूसरा नहीं है, जो यह महान् आलोक दे सके। मानवके भीतर जो चिन्मय वेद है, एकमात्र उसीके द्वारा परिपूर्ण सत्यकी उपलब्धि हो सकती है। उपनिषद्में कहा गया है—'ऋक्-मन्त्र यदि तुमने जाना है तो अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि तुमने देवोंका रहस्य जान लिया है; यजुर्वेद यदि तुमने जाना है तो यज्ञोंका रहस्य ही समझा है, साममन्त्रकी जानकारी प्राप्त की तो माना कि और भी सब कुछ जान गये हो, परंतु मानवकी अन्तरात्मामें वेद है, उसे तुमने जाना है तभी ब्रह्मको जाना है—

> ऋचो ह यो वेद स वेद देवान्
> यजूंषि यो वेद स वेद यज्ञम्।
> सामानि यो वेद स वेद सर्वं
> यो मानसं वेद स वेद ब्रह्म॥

साधनाके द्वारा अपने अन्तःस्थित चिन्मय ज्योतिको उद्भासित करके परम सत्यको जानो, जाग्रत् होओ। जाग्रत् न होनेसे ब्रह्मको नहीं जाना जा सकता और न उसकी सेवा की जा सकती है। यह साधना क्या है? कर्म ही साधना है—साधना ही कर्म है। निद्रामग्न और अकर्मण्य ज्ञानी या पुरोहित उस ब्रह्मको नहीं प्राप्त कर सकते—

> मोषु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भव। (ऋ० ८। ९२। ३०)

उद्यमी और जाग्रत् लोग ही धन्य हैं, निद्रालु और अवसादग्रस्त नहीं। अतन्द्र उत्साहशील लोग ही आनन्दके अधिकारी हैं; क्योंकि ऐतरेय ब्राह्मणमें कहा गया है कि देवता उसीके साथ-साथ चलते हैं, जो अग्रसर होकर चल पड़ा है, जिसने जीवनमें कर्मका लक्ष्य बना लिया है—

> इन्द्र इच्चरतः सखा। (७। १५। १)

पाप-पुण्यकी समस्याओंको लेकर ही उपदेशकोंके व्यस्त-दलोंको ऐतरेय ब्राह्मणका संदेश है—जीवनमें कर्म करते हुए बढ़े चलो, बढ़े चलो, तुम्हारा पाप तुम्हारे चलनेके मार्गमें स्वयमेव हतवीर्य होकर सो रहेगा—

> शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः।
> (ऐतरेय० ७। १५। २)

शायद इसे सुनकर हम कहें कि हम दुर्भाग्यग्रस्त हैं, हम क्या इस मन्त्रकी साधना कर सकते हैं? ऐतरेयने इस आपत्तिका दृढ़कण्ठसे प्रतिवाद किया है। भाग्य है क्या वस्तु? जो बैठा रहता है, उसका भाग्य भी बैठा रहता है; जो उठ खड़ा होता है, उसका भाग्य भी उठ खड़ा होता है; जो सोया पड़ा रहता है, उसका भाग्य भी सोया पड़ा रहता है। जो अग्रसर होता है, उसका भाग्य भी अग्रसर होता है। इसीलिये आगे बढ़ो, आगे बढ़ो—

> आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
> शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः॥
> चरैवेति चरैवेति।
> (ऐतरेय० ७। १५। ३)

यह कहना बेकार है कि इस कलियुगमें ये बातें नहीं हो सकतीं; क्योंकि ऐतरेयने कहा है कि सो रहनेको ही कलियुग कहते हैं, निद्रा छोड़कर जग पड़ना ही द्वापर है, उठ खड़ा होना ही त्रेता है और कर्म करते हुए अग्रसर होना ही सत्ययुग है। अतः आगे बढ़ो, आगे बढ़ो।

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति।
(ऐतरेय० ७। १५। ४)

हमें शक्तिके अभावकी चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिये। कर्मसे मनुष्यमें शक्ति आती है। सारे संसारको आलोक वितरित करनेवाले सूर्यको कभी क्या आलोकका अभाव अनुभव हुआ है? ज्यों-ज्यों वह आलोक वितरित करता हुआ आगे बढ़ता गया है त्यों-त्यों उसका आलोक-भंडार पूर्ण होता गया है।

सूर्यस्य पश्य श्रेयाणं यो न तन्द्रयते चरन्।

शायद कर्मका, आशाका, आगे बढ़नेका इतना भावपूर्ण, गतिशील और शक्तिशाली मन्त्र संसारकी किसी अन्य जातिके ग्रन्थमें नहीं मिलता।

प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि वह कर्म कौन-सा है, जिसे करके हम आगे बढ़ सकते हैं—आनन्दकी प्राप्ति कर सकते हैं—मोक्षतक पहुँच सकते हैं? गीतामें इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है और कहा गया है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

स्वकर्मको ही मोक्षका साधन बताया गया है। यह स्वकर्म सभी मनुष्योंके भिन्न-भिन्न होंगे। ईश्वरने संसारमें सैकड़ों रंग और गन्धके फूल खिलाये हैं, ठीक उसी प्रकार उसने सैकड़ों गुण-धर्मोंके व्यक्ति भी भेजे हैं। बगीचेमें एक ही रंग और एक ही गन्धके फूल हमें अच्छे नहीं लगते। गुलाब, मोगरा, जुही आदिके साथ गेंदा, कनेर आदिके फूल भी होने चाहिये। सबका रंग भिन्न है, गन्ध भिन्न है। सबके कारण ही बगीचा सुन्दर दिखायी देता है। मानव-समाजमें यदि सभी एक ही वर्ण, एक ही कर्मके हों तो समाज नीरस हो जायगा। समाजमें आनन्द नहीं दिखायी देगा। विविधतामें ही आनन्द है। इसलिये किसी भी कर्मको समाजकी सेवाके भावसे करता हुआ मनुष्य मोक्षका अधिकारी हो सकता है। हमें कर्मके प्रकारके कारण किसीको छोटा और किसीको बड़ा नहीं समझना चाहिये। हमें अपने कर्मके कारण कभी घमंड भी नहीं करना चाहिये। सभी कर्म कर्मकी दृष्टिसे समान हैं। उपनिषद्में एक सुन्दर कथा है—

एक बार इन्द्र, वायु, अग्नि आदि देवोंमें बड़ा विवाद हुआ। प्रत्येक कहता था कि मैं श्रेष्ठ हूँ। इन्द्रने कहा—'मैं वर्षा करता हूँ। यदि वर्षा न हो तो पृथ्वी सूख जाय और जीवन असम्भव बन जाय।' वायुने कहा—'यदि पानी न बरसा तो एक बार चल सकता है, किंतु हवा तो अत्यन्त आवश्यक है। अतः मैं श्रेष्ठ हूँ।' अग्निने कहा—'सबसे पहले गरमी होनी चाहिये, उष्णता होनी चाहिये। जब उष्णता समाप्त होती है, तब आदमी ठंडा हो जाता है। उष्णताके बिना सब मिथ्या है।'

जब यह वाद-विवाद चल रहा था, तब वहाँ एक तेजस्विनी देवी आयीं। देवता बड़े चक्करमें पड़े कि यह देवी कौन है, कहाँकी है? अग्निने कहा—'मैं उस देवीके पास जाकर सारी जानकारी प्राप्त कर आता हूँ।' अग्नि उसके पास गया और पूछने लगा—'आप कौन हैं?' उस देवताने उल्टे अग्निसे ही प्रश्न किया—''आप कौन हैं?'' अग्निने चिढ़कर कहा—'मेरा नाम ज्ञात नहीं है? मैं अग्नि हूँ।'

देवीने कहा—'आप क्या करते हैं?'

अग्निने क्रोधित होकर कहा—'मैं सारे ब्रह्माण्डको एक क्षणमें जला दूँगा। क्या तुम्हें मेरा पराक्रम ज्ञात नहीं है?'

देवीने कहा—'होगा तुम्हारा पराक्रम, मुझे तो ज्ञात नहीं है। किंतु यहाँ यह तिनका है, इसे जलाकर दिखाओ।'

अग्निने अपनी सारी ज्वाला प्रज्वलित की, किंतु वह तिनका नहीं जला। वह सिर नीचा करके चला गया।

इसके बाद वायु आया। उससे भी उसी तरहके प्रश्नोत्तर हुए। वायुने घमंडके साथ कहा—'मैं पर्वतोंको गेंदकी तरह उछालता हूँ, वृक्ष उखाड़ता हूँ, पानीको नचाता हूँ, प्रचण्ड लहरें पैदा करके बड़े-बड़े जहाजोंको डुबा देता हूँ। क्या तुम्हें मेरा पराक्रम नहीं ज्ञात है?' देवीने कहा—'नहीं। यहाँ एक तिनका है, इसे उड़ाकर दिखाइये; तब जानूँ।'

वायुने अपनी सारी शक्ति लगा दी, किंतु क्षुद्र तिनका

अपने स्थानसे नहीं हिला। वायु लज्जित होकर चला गया। इस प्रकार इन्द्र इत्यादि सभी लज्जित और पराजित होकर चले गये, तब उस अध्यात्मदेवी उमाने कहा—'अरे देवो! मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ—यों कहकर क्यों लड़ते हो! न कोई श्रेष्ठ है न कनिष्ठ। उस विश्वशक्तिने इन्द्रको पानी बरसानेकी शक्ति दी है, अग्निको जलानेकी शक्ति दी है, हवाको बहनेकी शक्ति दी है; अतः इनमें अपनी-अपनी शक्ति है। किसीका कर्म किसीसे हीन या उच्च नहीं। यह सब विश्वशक्तिकी देन है और उसे उसी रूपमें समझकर तुम अपना-अपना कार्य करो—घमंड मत करो।'

याद रक्खो, बिना कर्मके संसारका काम चल नहीं सकता। ज्ञान उत्तम वस्तु है, वह मानव-जीवनका लक्ष्य है; परंतु ज्ञान भी कर्मसे ही प्राप्त होता है। बिना कर्मके ज्ञान लँगड़ा है, चल नहीं सकता, बढ़ नहीं सकता। कर्म ही मानव-जीवनको खड़ा कर सकता है। श्रमके कार्योंको छोटा समझना भूल है।

रामायणमें एक कथा आती है। जिस समय भगवान् राम शबरीसे मिलने गये, वे एक वनमें पहुँचे और वहाँ चारों ओर खिले हुए फूल उन्होंने देखे। वे फूल मुरझाते न थे, सूखते न थे। उनसे सदा मधुर गन्ध निकलती रहती थी। रामने शबरीसे कहा—'ये फूल किसने लगाये हैं।'

शबरीने कहा—'राम! सुनो एक बार आश्रममें लकड़ी न होनेके कारण मतंग ऋषि विचारमें डूबे हुए थे। यहाँ उन्हींका आश्रम था। उनके आश्रममें बहुत-से विद्यार्थी थे। बहुत-से अतिथि आये हुए थे। वर्षाके चार मासके लिये उन्हें लकड़ियोंकी आवश्यकता थी। पर गरमीके कारण न विद्यार्थी और न अतिथि—कोई भी जा नहीं रहा था। इतनेमें वृद्ध मतंग ऋषि कंधेपर कुल्हाड़ी रखकर निकले। आचार्यको जाते देखकर विद्यार्थी, अतिथि—सभी आश्रमवासी चल पड़े। सब लोग जंगलमें गये और तीसरे पहरतक पसीनेसे तर-बतर वापस लौटे। अगले दिन प्रातःकाल जब सब लोग उठे, तब एकदम उस आश्रममें सुगन्ध आयी। सब लोग आश्चर्यसे पूछने लगे—'यह सुगन्ध कहाँसे आ रही है!' मतंग ऋषिसे आज्ञा पाकर छात्रोंने जब उन फूलोंको जाकर देखा, तब उन्हें ज्ञात हुआ कि लकड़ीके गट्ठर लाते हुए जहाँ-जहाँ पसीना गिरा था, वहाँ एक सुन्दर खिला हुआ फूल दिखायी दिया। हे राम! ये पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले फूल हैं—'घर्मजानि कुसुमानि', पसीनेसे पैदा होनेवाले फूल। श्रमसे पसीना बहानेवाले अपने बच्चोंको मानो भूमाता सहस्रों नेत्र खोलकर देख रही है।'

इस प्रकार भारतीय संस्कृति कर्ममय और आशाभरी संस्कृति है। यह संस्कृति कर्मको प्रधानता देनेवाली संस्कृति है। इस संस्कृतिमें कोई कर्म तुच्छ नहीं, छोटा नहीं। कर्मके सभी साधन भी यहाँ पवित्र माने गये हैं। स्त्रियाँ झाड़ू, चक्की, चूल्हेको पैरसे नहीं छूतीं। किसान हलको पैर नहीं लगाता। पण्डित पुस्तकको पैर नहीं लगाता। चमार अपने दरवाजेपर चमड़ेका तोरन लगाता है। अर्थात् कर्ममय जीवनमें कर्मके साधन भी पवित्र हैं, यही भारतीय विचारधारा है।

'स्वकर्म-सुमनसे पूजो प्रभुको, तभी मिलेगी मुक्ति यहाँ।' अतः 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः'—कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी कामना करनेमें वेदके आदेशका, आइये, हम पालन करनेका व्रत लें और संसारसे दुःखोंको दूर करें। अरे मनुष्यो!

उठो देवगण! जागो सुन्दर, यह कर्मकी बेला आई।
निशा-कालिमा दूर हो चली, उषा-अरुणिमा नभ छाई॥
नव जीवनकी आभा फैली, हुआ प्रकृतिका नव शृङ्गार।
कर्म-ज्योतिका उदय हुआ, फिर चमक उठा सारा संसार॥
अन्तर-तममें परम ज्योति वह जाग उठेगी अब निश्चय ही।
उसके दिव्य प्राणको पाकर, देव बनेंगे मृत्युंजय ही॥
पहुँचे हम उस दिव्य मार्गमें, जहाँ न जीवनका क्षय है।
आगे-ही-आगे बढ़ना है, गति है, जय है और अभय है॥

दक्षिण भारतकी तीर्थयात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसादजी श्रीवास्तव)

[गताङ्क, पृष्ठ ८६० से आगे]

अब हमारे दिनकी रेलयात्रा थी और स्वभावतः हमारा ध्यान चारों ओरके प्राकृतिक दृश्यकी ओर घूमा। वर्षाऋतु थी। गगन-मण्डल सर्वथा मेघोंसे आवृत तो नहीं था; फिर भी मेघोंकी घटाएँ उठ-उठकर यत्र-यत्र दौड़ती नजर आ रही थीं। अवनितलका दृश्य हरियालीसे परिपूर्ण था। दूर-दूर तक, जहाँ तक दृष्टि जाती, हरा-हरा ही दृष्टिगोचर होता था। हरी घास, धानकी हरी फसल, कहीं बढ़ी हुई विकसित युवती-सी तो कहीं नवोदित बालिका-सी चारों खूँट हरी-भरी चौड़े खेतोंमें लहलहा रही थी; फिर चौड़े-चौड़े हरे पत्तोंवाले केलेके पौधे, जो दूर-दूरतक फैले सघन कदली-वन बन गये थे। इनके बाद हरे-हरे कलमी आम्रवृक्ष, जो अधिकतर गोलाकार थे और जिनकी शाखाएँ भूमिका स्पर्श करती दिखायी देतीं, जिसके कारण उनकी पींड दृष्टिसे ओझल हो जाती। यही नहीं, शाखाएँ और टहनियाँ भी अदृश्य हो केवल हरे-हरे पत्ते ही हमें दिखायी दे रहे थे। इनके बाद हरे पत्तोंवाले ऊँचे-ऊँचे नारियलके वन दूर-दूरतक फैले हमारे दृष्टि-पथमें आँख-मिचौनी खेलते अपनी और इस प्रदेशकी गरिमाका इतिहास बता रहे थे। कहीं-कहीं ये तीनों प्रकारके वृक्ष अर्थात् केलेके, आमके और नारियलके साथ-साथ थे। यकायक हमारे मनमें उठा, आम और केलेके वृक्षोंमें तो स्पर्द्धा है। अतः दोनोंके सौन्दर्यमें कोई कमी नहीं हुई है; परंतु शायद नारियलके वृक्ष केले और आम्र वृक्षोंसे ईर्ष्यावश ऊँचे उठे हैं और यद्यपि इस प्रयत्नमें उन्हें सफलता भी मिल गयी है, तथापि इस ईर्ष्याके कारण ही कदाचित् ये कुरूप भी हो गये हैं। समतामें जो सफलता, सिद्धि और सौन्दर्य है, वह विषमतामें कहाँ। नंगी पींड और सिरपर एक झुरमुट-सी धारण किये नारियलके ये वृक्ष आम्र और कदली-वृक्षोंके मध्य भी सर्वथा अलग दीख रहे थे—एक अलगाव, एक दुराव लिये। कुछ आगे चलकर हमें अंगूर-की बेलोंकी झाड़ियाँ दिखायी दीं। दूर-दूरतक फैली अंगूरकी इन झाड़ियोंमें फले अंगूर यद्यपि हमारी दृष्टिमें नहीं आये, तथापि इनकी सुन्दर आकृति, इनके समृद्धरूप स्वरूपका अवलोकन करते ही इनके समधुर फल अंगूरकी मिठाससे एक क्षणको न केवल हमारा मन मधुरिमामें खो गया वरं हमारी रसना इन मादक झाड़ियोंमें लदी अदृश्य अंगूरगुच्छियों-से रसानुभूति कर उठी।

केले, आम, नारियल और अंगूर-बेलोंके अतिरिक्त इस विस्तीर्ण उद्यानमें हमने कुछ अन्य वृक्ष भी देखे; किंतु बबूल अथवा बेरका कहीं कोई वृक्ष हमारी दृष्टिमें नहीं आया। कदाचित् यह इसलिये नहीं कि किसीने इनका बीजारोपण नहीं किया, वरं जैसा कि रहीम खानखानाके शब्दोंमें—'कहु रहीम कैसे बनैं, केर-बेरको संग। वे रस डोलें आपुन, इनके फाटे अंग।' की सम्भावनासे प्रकृतिने ही इन्हें इस क्षेत्रमें पनपने नहीं दिया और यही इनके निर्वंश होनेका कारण था।

दिनभर हम इस सघन हरियालीवाले दृश्यको देखते रहे। प्रकृतिकी इस वरदानभूमिमें आज हम एक प्रकृतिपूजक बन उसके चप्पे-चप्पेको जी भर देख रहे थे। अम्बरमें उमड़ती मेघमालाएँ और अवनिपर काईके सदृश हरी कच्छ बिछी हरियाली सुदूर शोभायमान हो रही थी। नीलाकाशमें यत्र-तत्र मेघोंकी चलती हुई चादरें तनी थीं। नीचे धरती हरी ओढ़नी ओढ़े दुलहिन बनी थी। दोनोंके बीचमें इधर हमारी रेल तेजीसे बढ़ी जा रही थी। एकाएक हमें अनुभव हुआ, गगन और धरतीके बीच प्रकृतिके दो वरदानोंके मध्य मानवका यह साधना-पथ, जिसपर हम जा रहे थे, धरती और आकाशकी भाँति उन्मुक्त, स्वच्छन्द और विस्तीर्ण नहीं है। एक ओर हमारे ऊपर गगनकी छाया, दूसरी ओर नीचे धरतीकी पावन गोद, बीचमें हम और हमारी लंबी मंजिल, जिसमें आजू-बाजू ऊँचे पहाड़, नीचे गहरे खाई-खंदक और पग-पगपर पड़नेवाली मोड़ें। फिर कौन जानता है, इस दुर्गम मगके कितने पड़ाव हमें पार करने होंगे। धरती और आकाशके इस अन्तरपर जब हमारी दृष्टि गयी तो हमें अपनी मंजिल भी उतनी ही दूर दीखी, जितनी दूर गगनसे धरती। इसी बीच हमने दूर क्षितिज देखा, जहाँ दोनों आपसमें मिलते, आलिङ्गन-सा करते हमें दिखायी दिये। फिर हमारा ध्यान दूरगामी आकाश और विस्तीर्ण धरतीके उस क्षेत्रपर गया, जहाँ हवाई मार्ग बन गये हैं और जिस रेलमार्गसे हम यात्रा कर रहे थे, उस धरतीको भी हमने देखा।

पल-मात्रमें यह विचार आते ही, मानवके इस पुरुषार्थकी याद आते ही गगन और धरतीका यह अन्तर क्षितिजकी भाँति हमारे अन्तरमें एकदम समा-सा गया और प्रयत्न तथा पुरुषार्थकी अमरगाथाके साथ हमें अपनी मंजिल, जो आकाश और धरतीकी भाँति ही हमसे बहुत दूर होती जा रही थी, पलमें हमारे सामने आ गयी। हमारी मोटर, जो तेज दौड़ती हमारी मंजिलको नाप रही थी, हमारे इस विचारकी पोषक बन गयी।

गीत

प्रकृतिके उत्सङ्ग में है,
सघन ऋतु की सजल क्रीड़ा।
धराके सिञ्चित हृदय से,
जा चुकी है तपन पीड़ा।
स्वर्ण संध्याका चुराये,
झुक पड़े पर तोल बादल।
पंक धूमिल घोल तन में,
उमड़ उठता नद नदी दल।
मृदुल कदली हरित हाथों-
में, पकड़ती बिन्दु मोती।
आम्र विटपावलि छिपी सी,
पल्लवों में, देह धोती।
नारिकेलों के विटप गण
गर्व से उठते गये जब।
छोड़ बान्धव, कुटी सुषमा,
ठूँठ बनकर स्थिर रहे तब।
मरे पूरे नवल तन पर
ओस मुक्ता हार संचित।
सरस द्राक्षा वल्लरी नव
विटप लम्बित, नमित, लज्जित।
क्रोड पथ पर दौड़ता
वाहन हमारा छू न पाया—
उस क्षितिजको, जहाँ मिलती
भूमिसे नभ नील छाया।

दिनभर इस सघन हरियालीवाले दृश्यको देखते संध्या आ गयी और प्रदोषके अन्धकारने जब प्रकृतिके इस वरदानी क्षेत्रपर तमकी चादर डाल दी, तब अनायास ही हमारे दृष्टि-द्वारकी खिड़की बंद हो गयी। दृश्यके लुप्त होते ही हमारी दृष्टि लुप्त हो गयी और हम अपने डिब्बेमें बैठे बिजलीके प्रकाशमें अपने साथियोंके साथ भोजनादिसे निवृत्त हो आड़े-टेढ़े सो गये। एकाएक अर्द्धरात्रिको हमें यह कहकर जगाया गया कि हमारा डिब्बा कटनेवाला है। हम सब हड़बड़ाकर उठे; क्योंकि त्रिचनापल्लीमें जब त्रिवेन्द्रम् तककी यात्राके लिये हमारा यह डिब्बा सुरक्षित किया गया था, तब यह कहा ही नहीं गया था कि यह डिब्बा आगे चलकर कट जायगा। इस कृत्यसे हम कुछ क्षुब्ध हुए, कुछ क्रुद्ध, परंतु रेलकर्मचारियोंने जब हमें डिब्बेके बोर्डपर दिखा दिया कि यह डिब्बा तो यहींतक आनेवाला था, तब हम कुछ न कह सके और मन-ही-मन त्रिचनापल्लीके रेलवे कर्मचारियोंपर, जिन्होंने हमें इस डिब्बेमें बिठा दिया, कुपित होने लगे। पर इससे कहीं अधिक कुपित हम अपने आपपर हुए, जो स्वयं एक अनुभवहीनकी भाँति इस असुविधाका कारण बने। इससे एक सबक मिला कि प्रभातके उजेलेमें हमने त्रिचनापल्लीमें जो यह न देखनेकी कि यह डिब्बा त्रिवेन्द्रम् न जाकर बीच मार्गमें ही हमारा साथ छोड़नेवाला है, आलस्य और असावधानी की उसका परिमार्जन न केवल हमको वरं हमारे सभी साथियोंको, जिसमें बेचारी वृद्धा महिलाएँ भी थीं, रातके बारह बजे करना पड़ा। गनीमत यह हुई कि गोविन्ददास जिस फर्स्ट क्लासमें यात्रा कर रहे थे, उसमें अन्य कोई यात्री नहीं थे। अतः त्रिवेन्द्रम् तक हमने तीन टिकिट फर्स्टक्लासके कराये और एक सेकण्ड क्लास की। किसी तरह जल्दी-जल्दी अपना सामान स्थानान्तरितकर हम फिर अपनी मंजिलपर रवाना हुए।

सत्रह सितम्बरके प्रातःकाल आठ बजे हम केरलकी राजधानी त्रिवेन्द्रम् पहुँचे। त्रिवेन्द्रम्में हमारे ठहरनेकी व्यवस्था हिज हाइनेस महाराजा रामवर्मा, भूतपूर्व त्रावणकोर नरेशके यहाँ थी। इनके नाना भूतपूर्व त्रावणकोर-नरेश दो बार जबलपुर नर्मदा-स्नानको आ चुके थे। उस समय गोविन्ददासके पितामह राजा गोकुलदासजी जीवित थे और वे उन्हींके मेहमान थे। अतः इस पुराने सम्बन्धके कारण ही हमारे ठहरनेका प्रबन्ध महाराजा रामवर्माने किया था।

केरलकी परम्परामें राज्य अथवा सम्पत्तिका उत्तराधिकार पुत्रको नहीं मिलता। वह बहनके लड़के भानजेको जाता है। यह एक अजीब परम्परा है, जो कम-से-कम समूचे भारतके नहीं, तो उत्तर भारतके लोगोंके लिये तो सर्वथा अनूठी ही है। बहनके लड़केको सम्पत्तिका स्वामित्व मिले,

यह एक दृष्टिसे यदि हम इसलिये प्रशंसनीय मानें कि इससे पुरुष-की अपेक्षा नारीको न केवल समान दर्जा दिया गया, वरं उसका इस अधिकारद्वारा अपेक्षाकृत पुरुषके समान सम्मान भी किया गया तो भी सम्मानकी इस प्रथामें एक ओर जहाँ हम बहनके लड़के भानजेको यह अधिकार देते हैं वहाँ दूसरी ओर हम अपनी ही आत्मजा लड़कीका अधिकार छीन भी लेते हैं। उदाहरणके लिये एक सम्पत्तिशाली व्यक्ति अपनी बहिनके लड़केको उस सम्पत्ति-का वारिश बनाता है जबकि वह स्वयं एक लड़के और लड़कीका पिता है। इस प्रथासे भले ही उसने अपनी बहिनका सम्मान किया, किंतु इस सम्मानमें वह अपने ही औरस लड़केके साथ उसी वर्गकी एक लड़कीको, जिसका वह सम्मान कर रहा है, उस अधिकारसे वञ्चित कर अपमान कर बैठा! यह एक विचारणीय बात है। इस तरह यदि हम देखें तो नारी-जातिकी सम्मान-सूचक इस प्रथामें भी अपने-आप नारीका ही असम्मान हो जाता है। अतः जैसा कि उत्तर-भारतमें प्रचलित है कि पिताकी सम्पत्तिका स्वामित्व पुत्रको प्राप्त हो और पुत्री कन्यादानके साथ अपने पितासे प्राप्त दहेजसे ही संतुष्ट, सुखी और तृप्त रहे—यही बनिस्बत केरलकी इस प्रथाके जिसमें पुत्रके स्थानपर उसकी फुआको सम्पत्तिका स्वामित्व मिलता है, कहीं श्रेयस्कर है। फिर नारीका सम्मान सम्पत्ति-दानसे न होकर यदि समाजमें समान अधिकार-दानसे हो तो बनिस्बत सम्पत्तिके स्वामित्वके कहीं श्रेयस्कर है। सम्मानकी जो परिभाषा है, वह समाजमें मिलनेवाले स्थानसे होनी चाहिये, न कि सम्पत्तिसे। फिर सामाजिक रचना, जिसका सर्वेसर्वा बहुत दूरतक पुरुष ही है, नारीको जब अपनी सहयोगिनी स्वीकार कर लेती है, तब अधिकारके क्षेत्रमें भी अपने-आप प्रतिष्ठा जो पुरुषकी होती है, वह नारीकी बन जाती है और जो नारीकी होती है, वह पुरुषकी हो जाती है। इस दृष्टिसे यदि हम अधिकारको प्रतिष्ठारूपमें स्वीकार करें तो नारीका दर्जा अपने-आप ऊपर उठ जाता है और सम्पत्तिरूपमें यदि हम उसे भौतिक सम्पत्तिका स्वामित्व ही दें और पुरुषके समान अधिकार नहीं, भले ही वे सम्पत्तिवश उसे प्राप्त हों, तो हमने नारीकी सेवा की, उसे समाजमें समान दर्जा दिया या उससे कुछ ऊपर—यह बात हमारी समझमें नहीं आती। सम्पत्ति अनेक बार विग्रहका कारण होती है। अतः उसके स्वामित्वको लेकर फुआ-भतीजेमें अथवा भाई-बहनमें कलह हो—यह पारिवारिक दृष्टिसे ही नहीं, सांस्कृतिक दृष्टिसे भी उचित और कल्याणकर नहीं है। इस सम्ब- तो उत्तर-भारतकी परम्परामें कन्यादान और इस कन्याद- सामर्थ्यानुसार पिताद्वारा समर्पित दहेज हमारे पारि- और सांस्कृतिक जीवनका एक सुन्दर और समुज्ज्वल है। 'किंतु भिन्नरुचिर्हि लोकः'के अनुसार केरलकी परम्परामें केरलवासियोंकी जिस रुचि और पुरुषके तथा नारीवर्गके प्रति समर्पणकी जो भावना हमें दि- देती है, उसके लिये हम उनको साधुवाद ही देंगे।

स्टेशनसे हम महाराजा साहबके गेस्टहाउसमें गये, जहाँ नित्य-नेमसे निवृत्त हो महाराजा साहबकी मो- ही हम त्रिवेन्द्रम् नगर देखने निकल पड़े। गोविन्द- इसके पहले भी दो बार त्रिवेन्द्रम् आ चुके थे। प्र- बार अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलनके अध्य- हैसियतसे सन् १९४८ में और दूसरी बार अखिल भार- कांग्रेस कमेटीके सदस्य-रूपसे सन् १९५८ में। पहली वे हिंदी-प्रचारके कामसे आये थे और दूसरी बार म- कांग्रेस-कमेटियोंके निरीक्षणके लिये, जो काम उन्हें कां- वर्किंग कमेटीने सौंपा था। दोनों अवसरोंका उन्हें स्मरण हो आया। संविधान-सभामें भारतकी राजभा- लिये उस समय कैसी कशमकश चल रही थी। सम्मेल- अध्यक्षकी हैसियतसे उन्होंने अहिंदी-भाषा-भाषी क्षेत्रों- दौरा किया था, हिंदीके पक्षमें मत बनानेके लिये। उ- इस कार्यमें सफलता भी कम नहीं मिली। सन् १९५- हिंदी संविधानद्वारा सर्वमतसे देशकी राजभाषा स्वीकृ- गयी और उसी समय यह भी निर्णय हुआ कि पं- वर्षके भीतर हिंदी अंग्रेजीका स्थान ले लेगी। संवि- सभाके इस निर्णयके बाद आजतक व्यावहारिक रूपमें भाषायी सत्ताके हस्तान्तरणमें कहाँतक प्रगति हुई उसे देखनेपर मूलरूपसे हमने हिंदीके लिये अंग्रे- दर्जा प्राप्त करनेमें जो पंद्रह वर्षकी अवधि रक्खी, वही हुई—यह आज स्पष्ट परिलक्षित होने लगा है। क- होनेकी बजाय अपनेको कमजोर समझना अधिक भ- होता है। अंग्रेजोंने हमपर हमारी इसी भावनाके कारण आधिपत्य जमा रक्खा था। जब हम हाथ-पैर हिलाते उनसे मुक्त करनेकी बात कहते तो वे हमें आपसी और हमारी अनेक कमजोरियोंको बताकर समझा देते। मान जाते। किंतु जिस दिन गांधीजीने 'भारत छोड़ो' यही नहीं, उनसे स्पष्ट कहा कि यदि भगवान्पर भरो-

तो भारतको उसके भरोसे छोड़ दो और यदि उसपर तुम्हारा विश्वास नहीं तो उसे अराजकताके ही हवाले कर दो। बस, उनकी इस आवाजने अंग्रेजोंके पैर उखाड़ दिये। उन्हें यहाँसे जाना पड़ा। हिंदी समृद्ध नहीं है, देशके कुछ क्षेत्रोंमें उसका विरोध है आदि बातोंके आधार-पर ही हमारी सरकारने उसे उस समय सिद्धान्त-रूपसे स्वीकार करते हुए भी व्यावहारिक रूपमें अपने अधिकारसे पंद्रह वर्षोंतक निष्कासित कर दिया। आज यह बात भी नहीं रही। सरकारने पंद्रह वर्षोंकी इस अवधिके पूरे हुए बिना ही अनिश्चित कालके लिये उसके साथ सहभाषाके रूपमें अंग्रेजीको लगा दिया। यह तो इस तरहकी बात हुई, जैसे किसी जनतन्त्रमें वहाँकी जनताके सिरपर राजचिह्नसे अङ्कित टोपियाँ लगा दी जायँ, जिसमें हर व्यक्ति अपनेको बादशाह समझे, और बादशाहत करे कोई अकेला एक व्यक्ति, जिसके हर हुक्म-कानून और इशारेपर सारी जनताको चलना पड़े। इसी तरह अंग्रेजीका देशपर साम्राज्य रहे और संविधानमें दुहाई दी जाय हिंदीकी! यह एक ऐसा मजाक है, जिसका जवाब नहीं। देशका बहुमत, देशकी एक बड़ी आबादी हिंदी-भाषा-भाषी हो और उससे कहा जाय कि दिलमें हिंदी है तो रहने दो, जबान अंग्रेजी बोलो, तो इससे अधिक हास्यास्पद बात और क्या हो सकती है? इस प्रकार हमारी अपनी कमजोरीके कारण ही हिंदीको उसका स्थान मिलनेमें न केवल अनावश्यक देर हुई है, वरं हमारी यह कमजोरी ही उसके मार्गमें एक बड़ी बाधा बनी हुई है। जबतक हमारे दिल और दिमागमें यह कमजोरी बनी रहेगी, तबतक अंग्रेजोंके जानेके बावजूद भी उनका भाषायी साम्राज्य भारतपर अपना आधिपत्य जमाये रहेगा और इसका अर्थ यह होगा कि हिंदीको अपना दर्जा न मिलनेसे, न केवल हिंदीकी हित-हानि होगी वरं अन्य भारतीय भाषाओंकी समृद्धिके द्वार भी अवरुद्ध ही रहेंगे और भाषा-विकासके बिना व्यक्ति, व्यक्तित्व और उसकी संस्कृतिके विकासकी बात सोचना नितान्त भ्रान्तिमूलक होगा। भौतिक दृष्टिसे भले ही हम कुछ उन्नति कर लें, किंतु भारतकी भारतीयता और उसकी सनातन संस्कृतिका संरक्षण-संवर्द्धन तो भारतीय भाषाओंसे ही सम्भव है—अंग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी अथवा अन्य विदेशी भाषाओंसे नहीं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, गोविन्ददास यद्यपि दो बार त्रिवेन्द्रम् आ चुके थे, तथापि हम सबके लिये तो त्रिवेन्द्रम् सर्वथा नया था। फिर गोविन्ददासके लिये भी जो यहाँ आ चुके थे, आजकी यह त्रिवेन्द्रम्-यात्रा धार्मिक दृष्टिकोण-प्रधान होनेके कारण अपना एक अलग महत्त्व रखती थी। अनेक बार दृष्टि-भेदके कारण ही जिस एक ही वस्तुको हम कभी देख चुके हैं, वह कालान्तरमें हमारे आकर्षणका कारण बन जाती है—यह बात आज उनकी इस धार्मिक यात्रामें त्रिवेन्द्रम् और उनके इस मिलनमें हो रही थी।

हम सबका ध्यान केरलके अत्यन्त समृद्ध हरे-भरे दृश्यकी ओर गया। महाराजा साहबकी ओरसे जो गाइड हमारे साथ था, उससे जब हमने यह पूछा कि यह हरियाली केवल वर्षामें रहती है या सदा ही, तब हमें ज्ञात हुआ कि केरलकी यह कभी न मुरझाने और सूखनेवाली हरियाली है। त्रिवेन्द्रम् समुद्रके किनारे बसा हुआ है—चारों ओर छोटी-छोटी पहाड़ियोंसे घिरा हुआ। सारी पहाड़ियाँ विविध प्रकारके सघन वृक्षोंसे ढकी हुई हैं। समतल भूमि और पहाड़ियोंपर सर्वत्र ही नारियलके वृक्षोंकी बहुतायत है। इससे यह सारा स्थल नारियलका वन हो गया है। आबादीके मकान इन नारियलके वृक्षोंके बीचमें हैं और सड़कोंपर इन वृक्षोंकी सघन छाया है। नारियलके वृक्ष बारहों महीने फलते हैं। अतः ये वृक्ष यहाँके निवासियोंको केवल छाया ही नहीं देते, पर छायाके साथ उनकी क्षुधा-तृप्ति और जीवनकी अन्य आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये धन भी देते हैं। नारियलके वृक्षोंके बाद यहाँ केलेके वृक्ष हैं और फिर आमके। न जाने कितने प्रकारके केले और कितने प्रकारके आम यहाँ पैदा होते हैं। केले भी बारहों महीने फलते हैं। आम अवश्य ऋतुफल है। परंतु इतनेपर भी हमें कुछ बारहो मास फलनेवाले आमके वृक्ष भी दृष्टिगोचर हुए, जिनमेंसे इस आश्विन महीनेमें भी कोई मौरोंसे लदे हुए थे और कोई फलोंसे। शरदका आश्विन और वसन्तका चैत्र—इन दोनों महीनोंकी ऋतुओंमें शरद और वसन्त होते हुए भी बहुत साम्य रहता है। यकायक कुछ देरतक तो हमें भ्रम-सा हो गया कि हम यहाँ शरदमें न आकर वसन्तमें तो नहीं आये हैं। फलोंकी यह प्रधानता इन फल-वृक्षोंसे नहीं, अपितु यहाँकी दूकानोंपर यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते उनके संग्रहसे ही स्पष्ट मालूम हो जाती है। पान, सोडा, लेमन और खानपानकी एक भी ऐसी दूकान दिखायी नहीं दी, जिसमें लाल-पीले, हरे, लंबे-बौने, मोटे-पतले, बड़े-छोटे, विविध रंगों और रूपोंवाले केलेके फलोंकी गौरें न लटक रही

हों। नारियल, केले और आमके वृक्षोंके सिवा सुपारीके भी यहाँ काफी वृक्ष हैं; परंतु ये सुन्दर नहीं। पतली-पतली पींडोंके ऊँचे-ऊँचे। ऊपर ताड़के सदृश एक झुरमुट और उसके नीचे सुपारीके गुच्छे। इनके अलावा कटहर, इमलीके वृक्ष और अनन्नासके पौधोंकी भी बहुतायत है। इन सभी फलोंकी यहाँकी दूकानोंपर भरमार रहती है। फिर यहाँ रहवासकी नारियलके पत्तोंसे आच्छादित झोपड़ियों, मकानों तथा सार्वजनिक इमारतोंमें क्वचित् ही ऐसे मकान और इमारतें हों, जिनमें नजरबाग न हो। इस प्रकार हरियालीसे परिपूर्ण उद्यानोंवाली इस पुरीकी अद्भुत शोभा है। मकान यहाँके बहुत बड़े नहीं, सरकारी इमारतें भी विशाल नहीं। परंतु इतनेपर भी इस प्राकृतिक शोभाने इस नगरको एक विलक्षण छटा प्रदान की है। इसीलिये प्राकृतिक सौन्दर्यकी दृष्टिसे इसे दक्षिणका काश्मीर कहा गया है। सड़कें साफ-स्वच्छ हैं—यही नहीं, दक्षिणकी साफ-सफाई यहाँ सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है।

हमने समझा था, यहाँके निवासी काफी श्यामवर्णके होंगे; पर ऐसा नहीं है। अधिकतर लोग गेहुएँ रंगके हैं। कुछ श्यामवर्णके भी हैं। हाँ, गोरा रंग क्वचित् ही दृष्टिगोचर होता है। पुरुषोंका पहनाव—वही विकच्छ धोती और कुरता तथा महिलाओंका—सलूका और साड़ियाँ।

चूँकि हम तीर्थयात्राके लिये आये थे, अतः हमारा प्रधान गन्तव्यस्थान तो था श्रीपद्मनाभ अनन्तशयनम्‌का मन्दिर; परंतु मन्दिर जानेका हमारा कार्यक्रम संध्याको साढ़े पाँच बजेका निश्चित हुआ था। अतः इस बीच हमने केरलके कुछ और प्रमुख स्थानोंका निरीक्षण किया।

केरलके दर्शनीय स्थलोंमें यहाँ नैपियर म्युजियम, चित्रालयम् और अनन्तशयनम्‌का मन्दिर ही प्रधान हैं। प्रथम दो स्थानोंमें हमें यहाँका चित्रालयम् बहुत रुचिकर लगा। चित्रालय बहुत बड़ा न होनेपर भी इसका संग्रहालय प्रतिनिधित्वात्मक है। भारतकी सभी प्राचीन प्रणालियोंके चित्र इस संग्रहमें हैं—जैसे मुगलस्कूल, राजस्थानी स्कूल इत्यादि। साथ ही आधुनिक सभी प्रमुख कलाकारोंके चित्र भी हैं। दृष्टान्तके लिये श्रीरविवर्मा, श्रीअवीन्द्रनाथ ठाकुर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, असितकुमार हालदार, नन्दलाल बोस, जैमिनीराय, वेंकट सुब्बाराव, रसिकलाल पारिख, कनु देसाई, फैजी रहमिन इत्यादि। कुछ विदेशी चित्रोंका भी संग्रह है, जिसमें चीन, जापान, तिब्बत आदिके चित्र प्रमुख हैं।

चित्रालयम्‌का उद्घाटन २६ सितम्बर १९३५ त्रावन्कोर-नरेशद्वारा हुआ था। इसका प्रधान उद्दे प्रदर्शनीके रूपमें कुछ ऐसे चित्रोंको प्रस्तुत करना था भारतके विभिन्न भागों और भारतीय संस्कृतिपर आधा कुछ अन्य देशोंकी कलाका प्रतिनिधित्व कर सके चित्रालयम्‌में संगृहीत अधिकांश चित्र खरीदकर लाये हैं। कुछ चित्र उपहार-स्वरूप भी प्राप्त हुए हैं।

चित्रालयम्‌के प्रथम तीन कमरोंमें १९ वीं और २० सदीके आधुनिक भारतीय कलाकारोंकी कला-कृतियाँ संगृ हैं। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुरद्वारा निर्मित एक पक्षीका चि विशेष दर्शनीय है। अपनी कविसुलभ भाव-कल्पनाको चि की रेखाओंमें उतारनेका उनका प्रयास वस्तुतः प्रभावोत्पा और सराहनीय है। कवीन्द्रके भतीजे अवनीन्द्रनाथ ठाकु चित्र भी इन्हीं कमरोंमें संगृहीत हैं। इन चित्रोंमें उन् कलकत्ताके गवर्नमेंट स्कूल आफ आर्ट्सके प्रिंसिपल श्री बी० हावलकी प्रेरणासे भारतीय कलाकारोंद्वारा विस्मृत पुरानी कलाओंको उतारनेका प्रयास किया है। कुछ अ टैगोर (ठाकुर) बन्धुओं एवं बंगाली कलाकारोंके चित्र भी दर्श हैं। इसके अतिरिक्त राजस्थानी, मुगल तथा फारसी कला पर आधारित चित्र भी चित्रालयमें उपलब्ध हैं। राजस्था चित्र भारतीय संस्कृति तथा हिंदूधर्मपर भी प्रकाश डा हैं। गरुडारूढ़ विष्णु और लक्ष्मी, शेष-शय्यापर सोते अनन्तशयनम् विष्णु—लक्ष्मी जिनके पैरोंके पास बैठी 'राग मल्हार', और 'राग हिण्डोल', 'महाशक्ति', 'पार्व तपस्या' एवं 'श्रीकृष्णपूजा' इसी प्रकारके चित्र हैं। कुछ चि प्राकृतिक दृश्योंपर भी आधारित हैं—जैसे चाँदनी रात तूफानी रात आदि। कुछ चित्र राजस्थानी इतिहासपर प्रकाश डालते हैं, जैसे राजपूत योद्धा।

मुगलकलापर आधारित चित्र भी बहुतायतमें हैं। कई चि मुस्लिम शाहजादों और शाहज़ादियोंकी बहुत-सी मुद्राएँ अङ्कित करते हैं। कुछ चित्र मुगलकालके बादशाहोंसे सम्बन्धि हैं—जैसे 'अकबरकी अदालत' और 'हुमायूँका दरबार' आ

फारसी चित्र प्रमुखतः फारसी संस्कृतिपर आधारित 'शराबका प्याला', 'मधुपायी', 'एकान्तप्रिय महिला' 'फारसी ज्योतिषी' इस दृष्टिसे विशेष उल्लेखनीय हैं। दर्श इन चित्रोंसे फारसके साहित्य तथा संस्कृतिका अ खासा अंदाज हो जाता है।

इसके अतिरिक्त तिब्बत, चीन, जापान, श्रीलंका और कुछ अन्य एशियाई देशोंकी कलाकृतियाँ भी हैं, जो इन देशोंके इतिहास, संस्कृति तथा साहित्यका सजीव परिचय प्रस्तुत करती हैं।

चित्र-विश्लेषणकी दृष्टिसे राजा रविवर्माके चित्रोंका इस चित्रालयमें बहुत बड़ा और रुचिकर संग्रह है; क्योंकि वे पुराने त्रावणकोर राज्यके ही थे, साथ ही त्रावणकोरके भूतपूर्व नरेशके नातेदार। अवनीन्द्रनाथ ठाकुरकी चित्र-प्रणालीके पूर्व राजा रविवर्माके चित्रोंने इस देशमें सर्वाधिक ख्याति प्राप्त की थी। परंतु बादमें कुछ आलोचकोंने उनके चित्रों-की निन्दा आरम्भ की। यह प्रायः देखा जाता है कि हम अधिकतर अपनी स्वयंकी आँखोंसे न देख दूसरोंकी आँखोंसे देखनेका प्रयत्न करते हैं। आलोचनाके क्षेत्रमें लहरें उठती हैं। कभी किसीके पक्षमें, फिर उसीके विपक्षमें और फिर उसीके पक्षमें। पहले रविवर्माके चित्रोंके पक्षमें बहुत कहा गया, फिर उनके विपक्षमें और अब फिर उनके पक्षमें कहा जाने लगा है। साहित्यमें प्रगतिवादकी तरह चित्रकलामें भी एक नये वादका जन्म हुआ है, जिस वादके चित्रोंकी बागड़-बिल्लेके सदृश आँखें बनायी जाती हैं, बेलन चली हुई चपटी नाक और कभी-कभी तो इधर-उधर कुछ रेखाएँ। ऐसे चित्रोंमें न तो चित्रित वस्तुमें कोई भावनाएँ दीख पड़ती हैं और न ऐसे चित्रोंके दर्शनसे हमारे मनमें कोई भावना ही उठती है। कलाका कार्य हृदयमें भावनाओं-को उद्दीप्त करना है। ऐसे चित्र इस दिशामें सर्वथा प्रभावशून्य हैं। कवि-सम्राट् रवीन्द्र बाबूने भी ऐसी ही रेखाओंवाले कुछ चित्र बनाये। कविकी दृष्टिसे हम उन्हें कविसम्राट् मानते हैं, संसारके आधुनिक साहित्यकारोंमेंसे सर्वश्रेष्ठ साहित्यकारोंमें एक साहित्यकार। उनके साहित्यने केवल आधुनिक भारतीय साहित्यको ही सब क्षेत्रोंमें प्रेरणा नहीं दी, वरं संसारके साहित्यको भी। परंतु उनके चित्र कभी हमारी समझमें नहीं आये। इन आधुनिक बागड़-बिल्लेके सदृश आँखों और बेलन चली हुई चपटी नाकोंवाले इस प्रकारके रेखाचित्रोंकी अपेक्षा हमें तो इस देशकी पुरानी चित्रकारी और रविवर्मा तथा अवनीन्द्रनाथ ठाकुर-जैसे चित्रकारोंके चित्र कहीं सुन्दर, आकर्षक और भावनाओंको उद्दीप्त करनेवाले जान पड़ते हैं।

आजकल कलाके सभी क्षेत्रोंमें नवीनताके नामपर ऊट-पटाँग बातें करके उन्हें नवीन कलाका नाम दिया जा रहा है। स्थापत्य कलाके क्षेत्रमें सीमेंटके सफाचट्ट भवन पुराने गुम्बजों, झरोखों, महरावों तथा खुदाईके विविध प्रकारके कामोंवाले भवनोंसे श्रेष्ठ बताये जा रहे हैं। कविताके क्षेत्रमें छन्दोंके बन्धनोंसे रहित, अनुप्रास-यमक आदिसे वञ्चित, कोई पंक्ति छः इंच लंबी और कोई डेढ़ इंच—ऐसी कविता नयी शैलीकी कविता मानी जा रही है। चित्रकलाके क्षेत्रका भी यही हाल है, जिसका कुछ विवेचन हमने ऊपर किया है।

निष्कर्षरूपमें 'चित्रालयम्' पूर्वकी कलाका सच्चा और प्रभावशाली प्रतिनिधित्व करनेके कारण त्रिवेन्द्रम्के सबसे बड़े आकर्षणोंमेंसे एक है। इसके बाद हम यहाँकी प्रसिद्ध समुद्रदीर्घिका (Back waters) देखने भी गये। प्राकृतिक दृष्टिसे त्रिवेन्द्रम्के प्राकृतिक स्वरूपमें यह समुद्र-दीर्घिका एक और वरदान बन गयी है।

संध्याको साढ़े पाँच बजे हम श्रीपद्मनाभ स्वामीके मन्दिर गये। यहाँकी प्रतिष्ठित मूर्तिका नाम श्रीपद्मनाभ और अनन्त-शयनम् दोनों ही हैं। दक्षिणके अन्य मन्दिरोंके सदृश गोपुरोंसे युक्त यह भी एक विशाल मन्दिर है। यद्यपि त्रिवेन्द्रम्में बिजली है, तथापि इस मन्दिरमें बिजलीका प्रवेश नहीं हुआ है। बिजलीके स्थानपर इसकी परिक्रमाके परकोटोंमें हजारों दीप-कतारें हैं। यद्यपि आज ये सभी दीपक प्रज्वलित नहीं थे, तथापि जिस प्रकार एक-पर-एक अनेक पंक्तियोंमें ये धातुके दीप स्थायीरूपसे लगाये गये हैं, उससे इनके प्रज्वलित होनेके समय मन्दिरकी आभा-शोभा कितनी अपूर्व होती होगी—इसका अनुमान हो जाता है।

अनन्तशयनम् मन्दिरके, जो त्रिवेन्द्रम्का एक प्रमुख आकर्षण है, निर्माणका एक बहुत रोचक आख्यान है। प्राचीन कालमें दिवाकर नामक एक विष्णु-भक्तने, जो कर्णाटकके 'तुलु-ब्राह्मण सम्प्रदाय' के ब्राह्मण थे, अनन्तशायी विष्णुके दर्शनार्थ घोर तप किया। एक बार विष्णुभगवान् प्रसन्न होकर उनके सामने एक अबोध शिशुके रूपमें प्रकट हुए। दिवाकरके मनमें शिशुको देख वात्सल्य तथा ममताकी भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने उससे पूछा—'तेरे माँ-बाप कौन हैं ?' बालकने उत्तर दिया—'मैं नहीं जानता कि मेरे माँ-बाप कौन हैं। यदि आप मुझे पुत्रवत् रक्खें तो आपका हित होगा और यदि आप मुझपर नाराज हुए तो मैं भाग जाऊँगा।'

योगी दिवाकरने उस बालकको प्रेमपूर्वक अपना लिया। उनकी आत्मीयता बढ़ने लगी और दिवाकरके लिये क्षणभर

भी उससे पृथक् रहना कठिन हो गया। एक दिन जब मुनि दिवाकर शालग्राम रखकर उसका अभिषेक करने लगे, तब बालक शालग्रामको उठाकर अपने मुँहमें डालने लगा। मुनिने जब उसे रोका, तब वह यह कहकर अन्तर्द्धान हो गया कि अब फिर आप यदि मुझे देखना चाहें तो अनन्तकाट (अनन्तवन) में आइये।'

इसपर मुनि दिवाकरको संदेह हुआ कि शायद भगवान् विष्णु ही बालकके रूपमें प्रकट हुए थे। वे उस बच्चेके कथनानुसार अनन्तकाटकी खोजमें चल पड़े। आजकल जहाँ 'अनन्तशयनम् मन्दिर' स्थित है, उस कालमें वहाँ 'अनन्तकाट' नामक एक बहुत बड़ा जंगल था। इस वनके दो छोरोंपर 'कृष्ण-मन्दिर' एवं 'शास्ता मन्दिर' भी हैं।

मुनि दिवाकरने उस वनमें पहुँचकर उसी सुन्दर बालकको एक वृक्षमें घुसते हुए देखा। मुनिने जब उसके निकट पहुँचनेकी चेष्टा की, तब वह वृक्ष टूटकर गिर पड़ा। वह पेड़ मुनिको अनन्तशायीके रूपमें पड़ा हुआ प्रतीत हुआ। मुनिने वहाँ एक मन्दिरका निर्माण कराया और उसी पेड़की लकड़ीसे अनन्तशायीकी एक कल्पित मूर्ति बनवाकर प्रतिष्ठित की। अपने जीवनकालमें वे स्वयं उसपर पुष्पाञ्जलि चढ़ाते रहे, किंतु उनकी मृत्युके बाद भी यह प्रथा जारी रही। आज भी इस मन्दिरकी पूजाके लिये 'तुलुब्राह्मण' नियुक्त होते हैं और आज भी वे पुष्पाञ्जलि चढ़ाकर अनन्तशायीके प्रति अपना सम्मान, श्रद्धाञ्जलि और भाव-भक्ति अर्पित करते हैं। दर्शनार्थी भी भगवत्-दर्शनके अनन्तर इसी प्राचीन पद्धतिके अनुसार भगवान् अनन्तशायीको अपनी पुष्पाञ्जलि अर्पित करते हैं।

बादमें पुनरुद्धारकी आवश्यकता पड़नेपर इस मन्दिरका और भी विस्तार कर दिया गया। तत्कालीन निर्माणकला-विशेषज्ञ श्रीतेक्काभट्टतिरिने 'अनन्तशायी' की एक बहुत बड़ी मूर्तिका निर्माण कराया। आज भी मन्दिरमें यही मूर्ति स्थापित है। शयन करती हुई श्याम शालग्राम शिलाकी यह मूर्ति अठारह फुट लंबी है। हमें बताया गया कि लाखों छोटी-बड़ी शालग्रामकी बट्टियोंसे इस मूर्तिका निर्माण हुआ है और ये शालग्राम नेपालसे लाये गये थे। अनन्तशायीकी इतनी विशाल प्रतिमा भारतमें अन्यत्र कहीं नहीं है। मुनि दिवाकरने भगवान् विष्णुका एक शिशुके रूपमें साक्षात्कार किया था। इसी साक्षात्कारके स्मारक-स्वरूपमें उस शिशुकी मूर्ति बनवायी गयी और उसे मन्दिरमें प्रतिष्ठित किया गया। तदनन्तर अनेक शासकोंने समय-समयपर इस मन्दिरमें अनेक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किये। एक बार महाराजा मार्तण्डवर्माने अपना राज्य इस मन्दिरमें पद्मनाभ भगवान् विष्णुके चरणकमलोंमें अर्पित कर दिया और कहते हैं कि उनके उत्तराधिकारियोंने उसके बाद पद्मनाभके दासके रूपमें ही राज्य किया। आज भी त्रावणकोरके भूतपूर्व नरेश नित्य प्रातःकाल पूजाके लिये आते हैं। मन्दिरके लिये वर्तमान केरलसरकारसे पाँच लाख रुपया प्रतिवर्ष आर्थिक अनुदान दिया जाता है; परंतु मन्दिरका व्यय इससे कहीं अधिक है, जो त्रावणकोरके भूतपूर्व नरेश तथा जनताद्वारा पूरा होता है।

इस मन्दिरके पीछे एक बहुत बड़ी आध्यात्मिक कल्पना है। अनन्तशायी भगवान् विष्णुकी प्रतिमाको देखकर, जैसा कि निम्नलिखित श्लोकसे प्रतिभासित है—

> तवैव वेषं फणिराजि शेषे
> जलैकशेषे भुवनस्य शेषे।
> आनन्दसान्द्रानुभवस्वरूपः
> स्वयोगनिद्रापरिमुद्रितात्मा ॥

उन्नति चाहनेवाले त्रिगुणात्मक सांसारिक व्यक्ति, क्रममुक्तिकी अभिलाषा करनेवाले भक्त, सत्त्वगुणवाले योगी और गुणातीत तथा जीवन्मुक्त संन्यासी—सभीके लिये वे सत्, रज और तम—इन तीन महान् शक्तियोंका ध्यान करते हुए अनन्त शयन कर रहे हैं। उनके नाभिकमलमें ब्रह्मा, स्वयं विष्णु और ध्यानमें शिव प्रतीत होते हैं। इस प्रकार इस प्रतिमामें हिंदू धर्म एवं दर्शनके आधार सृष्टि, स्थिति और संहारके कारणस्वरूप ब्रह्मा, विष्णु और महेशके साथ-साथ दर्शनकर भक्तगण अपना जन्म और जीवन सफल कर सकते हैं।

हम सबने मन्दिरमें आरतीके दर्शन किये और इन दर्शनोंके अनन्तर अपनी श्रद्धा—श्रद्धाञ्जलिके पत्र-पुष्प भगवान् पद्मनाभको भेंटकर मन्दिरसे विदा ली।

दूसरे दिन प्रातःकाल गोविन्ददास त्रिवेन्द्रम्के आयुर्वेद कालेजको देखने गये। त्रिवेन्द्रम्का यह आयुर्वेद कालेज भारतवर्षकी सर्व-प्रधान आयुर्वेदिक संस्थाओंमेंसे एक है। यहाँकी तैल-चिकित्साके सदृश चिकित्सा तो भारतमें अन्यत्र

नहीं होती। हमने यह कालेज देखा, तैल-चिकित्सा देखी और फिर कालेजका वह विभाग, जहाँ टूटी हुई हड्डियाँ जोड़ी जाती हैं। ऐलोपैथिक अस्पतालोंमें हड्डियोंके टूट जाने अथवा स्थानान्तरित होनेपर प्लास्टरका प्रयोग किया जाता है। इस आयुर्वेद कालेजके इस विभागमें ये हड्डियाँ तेलमालिशके द्वारा जोड़ी और यथास्थान की जाती हैं। हमने इस विभागमें कुछ ऐसे व्यक्तियोंको देखा, जिनकी हड्डियोंको प्लास्टरका इलाज ठीक न कर पाया था और अब वे इस विभागमें आरोग्य लाभ कर रहे थे।

आयुर्वेदकालेजसे लौटनेके बाद गोविन्ददास त्रावणकोर के भूतपूर्व नरेश हिज हाईनेस महाराजा श्रीमार्तण्ड वर्मा और राजमातासे मिले। (क्रमशः)

राम—एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन

(लेखक—प्रो० श्रीलछनजी पाण्डेय, एम्० ए०, बी० एल्०)

जीवनके विभिन्न पक्षोंके सर्वोत्कृष्ट उच्चतम आदर्शों एवं मूल्योंकी रक्षा करनेवाली भारतीय संस्कृतिने समय-समयपर कुछ ऐसे महापुरुषोंको प्रकट किया है, जिनके व्यक्तित्वकी आभासे सम्पूर्ण विश्व युगों एवं शत-शत शताब्दियोंतक प्रकाशित होकर, अपने अमानवीय आचरणोंसे मुक्ति पाता रहा है। नग्न भौतिकताके परिवेशमें निर्मित तथाकथित अत्याधुनिक सभ्यताकी नितान्त निर्बल भित्तिपर **'यौवनं धन-सम्पत्तिःप्रभुत्वमविवेकता'**के व्यामोहसे ग्रसित आजके मानवसमाजमें भी यदा-कदा मानवताके लक्षणोंका प्रादुर्भाव हो जाता है। इसका कारण यही है कि उन महापुरुषोंके अक्षुण्ण पद-चिह्नोंसे अभी भी हम भूले-भटके आ मिलते हैं। यदि जीवनपर्यन्त उन्हीं पद-चिह्नोंपर सतत चलनेका संकल्प ले लिया जाय तो मानव-जीवन पुनः देवदुर्लभ हो जाय। अन्यथा निकृष्ट पशु भी मानवजीवन ग्रहण करनेमें संकोचका अनुभव करेगा। अस्तु, भारतवर्षके अनुकरणीय महापुरुषोंकी लंबी श्रृङ्खलामें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका स्थान ऐसा अनूठा है कि भारतीय संस्कृतिके पुजारियोंने उन्हें हृदयकी समस्त श्रद्धा समर्पितकर उनमें परब्रह्म परात्पर परमेश्वरके श्रीविग्रहका साक्षात् दर्शन किया। जिस किसी भी दृष्टिकोणसे देखा जाय, रामका व्यक्तित्व पूर्ण था। आधुनिक मनोवैज्ञानिकोंने 'व्यक्तित्व' शब्दको परिभाषित करनेकी सफल चेष्टा की है, जो वैज्ञानिक दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ अभिप्रेत यह है कि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों एवं तथ्योंके आधारपर रामके व्यक्तित्वकी व्याख्या एवं उसका मूल्याङ्कन हो सकेगा या नहीं? मानव-जीवनका अध्ययन कर लेनेका दम्भ करनेवाले आजके एक मनोवैज्ञानिककी दृष्टिमें भी रामका व्यक्तित्व पूर्णताको प्राप्त है या नहीं? यही देखना है।

मनोवैज्ञानिकोंने 'व्यक्तित्व' शब्दको परिभाषित करनेमें दो प्रकारके दृष्टिकोणोंकी सहायता ली है—१. बाह्य या धरातलीय दृष्टिकोण (सरफेस अप्रोच) तथा २. तात्त्विक दृष्टिकोण (सब्स्टांस अप्रोच)। धरातलीय दृष्टिकोणके अनुयायियोंने, जिसमें वादसन, शरमन प्रभृति विद्वानोंके नाम उल्लेखनीय हैं, व्यक्तिके अन्तर्गत द्रष्टव्य क्रियाओं तथा व्यवहारोंके समुच्चय मात्रको व्यक्तित्वकी संज्ञा दी है। इनके अनुसार जिसकी आकृति सुन्दर है, जिसके वस्त्राभूषणोंमें आकर्षण है, जिसकी वाणीमें सरलता एवं माधुर्य है, जिसकी चालमें अजीब कसक है आदि, उसीका सर्वोत्तम व्यक्तित्व है। इसके विपरीत, तात्त्विक दृष्टिकोणके समर्थक वैरन, कारमाइकेल आदि मनोवैज्ञानिकोंने मानवकी उन समस्त मानसिक शक्तियोंके समूहको व्यक्तित्वकी संज्ञा दी है, जिसमें चरित्र, बुद्धि, धातुस्वभाव, नैतिकता आदि अनेक मानवीय मूल्य समाहित हैं। निरीक्षण करनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है कि उक्त दोनों ही दृष्टिकोण एकपक्षीय एवं एकाङ्गी हैं। पहला केवल बाह्य रूपरेखा एवं वेशभूषाको ही महत्त्व-पूर्ण समझता है तो दूसरा व्यक्तिके केवल आभ्यन्तरिक गुणोंको ही प्रधानता देता है। इसी अपूर्णता एवं संकीर्णतासे मुक्ति पानेके लिये आलपोर्ट नामक मनोवैज्ञानिकने व्यक्तित्वकी एक विशिष्ट परिभाषा प्रस्तुत की है, जिसमें उपर्युक्त दोनों ही दृष्टिकोणोंका समावेश है। इसके अनुसार व्यक्तित्वके अन्तर्गत उन मनोदैहिक गुणोंका गत्यात्मक संगठन है, जिनपर उसके वातावरणके प्रति होनेवाले विशिष्ट अभियोजन निर्भर करते हैं। अर्थात् वही सर्वोत्कृष्ट व्यक्तित्त्व है, जो अपने विशिष्ट मानसिक एवं शारीरिक गुणोंकी सहायतासे नित्य परिवर्तनशील अभिनव एवं पेंचीदे वातावरणके साथ अपनेको पूर्ण सफलताके साथ

अभियोजित करनेमें समर्थ है । इस प्रकार, संक्षेपमें, व्यक्तित्वके लिये निम्नलिखित तत्त्वोंका होना अनिवार्य है—१. विशिष्ट दैहिक गुण, २. विशिष्ट मानसिक गुण, ३. इन गुणोंको संगठितकर इन्हें उचित दिशामें निर्देशित करनेकी अपूर्व क्षमता तथा ४. वातावरणके साथ सहज स्वाभाविक रूपसे अभियोजन स्थापित करनेकी दृढ़ता । व्यक्तित्व-मापनके इन चार मनोवैज्ञानिक तत्त्वोंके आधारपर हमें श्रीरामके व्यक्तित्वका अध्ययन करना है ।

सम्पूर्ण दैहिक गुणोंके साक्षात् प्रतिमूर्ति श्रीराम

काव्यात्मक दृष्टिसे 'अतिशयोक्ति' भले ही दोषोंकी शृङ्खलामें आ जाय, परंतु मनोविज्ञानकी दृष्टिसे तो यह हृदयकी सत्य किंतु अव्यक्त भावनाओंको अभिव्यक्त करनेकी एक मानवीय स्वाभाविक पद्धति है । अपने उद्गारोंको प्रकट करनेके लिये जब कविको पर्याप्त शब्द नहीं मिलते तो वह भावविभोर होकर तनावका अनुभव करने लगता है । इस तनावपूर्ण स्थितिसे छुटकारा पानेके लिये वह अतिशयोक्तिका आश्रय ग्रहणकर अपूर्व शान्तिका अनुभव करता है । संत तुलसीके लिये राघवेन्द्र कौसलकिशोर श्रीरामभद्रके सौन्दर्यको शब्दोंमें अभिव्यक्त करना सम्भव नहीं हो रहा है । क्या अपरिमित एवं अलौकिक सौन्दर्य है श्रीरामका ! तुलसी उस सौन्दर्यका अनुभव करके तन्मय हो उठे, नेत्र निर्निमेष, वाणी मूक—वर्णन करनेकी शक्ति कहाँ रही ? चेतनाके पुनः लौटनेपर ज्ञात हुआ कि श्रीरामके सौन्दर्यका वर्णन करना है, अतः उसी तन्मयतामें कह बैठे—

काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नीलकंज बारिद गंभीरा॥
अरुन चरन पंकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती॥

करोड़ों कामदेवोंकी छविकी उपमा देनेके पश्चात् नख-शिख-सौन्दर्य वर्णन कोई आवश्यक नहीं; क्योंकि सौन्दर्यका कोई अङ्ग वर्णन करनेको अब शेष नहीं रहा । ठीक यही स्थिति जनकपुरमें महिलाओंकी हो रही है—

सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती।
या
स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

यह तो उनकी बात हुई, जिनको रामके प्रति स्नेह या ममता है । कहीं-कहीं तो ऐसा भी वर्णन मिलता है कि युद्धस्थलमें भी श्रीरामके परम शत्रु उनके सौन्दर्यको देखकर कुछ क्षणोंके लिये शत्रुता भूल जाते हैं ।

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर धारी॥

यह थी राक्षसोंकी सेनाकी स्थिति । इस सेनाके अग्रनायक खर एवं दूषण भी रामके सौन्दर्यकी अतिशयतासे इतने विमुग्ध हैं कि शूर्पणखाकी नासिका खण्डित करनेके अपराधको भी क्षमा कर देना चाहते हैं—

जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥

यह है रामके रूपकी अतिशयता एवं उनका बाह्य स्वरूप।

रामका आभ्यन्तरिक वैशिष्ट्य

समस्त भारतीय संस्कृति त्यागमयी है । इस दृष्टिसे देखा जाय तो राम भारतीय संस्कृतिकी सामाजिक विशिष्टताओंके प्रतीक हैं । उनके जीवनमें हमारी सामाजिक मर्यादाएँ एवं आदर्शोंकी अभिव्यक्ति हुई है । उनका आभ्यन्तरिक जीवन ही इस प्रकार परमोदात्त विचारोंसे ओतप्रोत है कि भारतीय समाज राममें अपनी मर्यादाओंका आदर्श सहज ही देख लेता है । धर्माचारके प्रति रामकी अनन्य प्रीति एवं आस्था अन्यत्र दुर्लभ है ।

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।
न हि प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः॥

अर्थात् सीते ! मैं अपना जीवन छोड़ सकता हूँ, लक्ष्मणको और तुम्हें भी छोड़ सकता हूँ; पर ब्राह्मण और धर्मकी रक्षाके लिये की गयी प्रतिज्ञाका त्याग कैसे सम्भव है ? परम धैर्य, सरस गाम्भीर्य, सहज सौशील्य, महान् औदार्य, शरणागतवत्सलता, साम्य, करुणा, स्थैर्य, सत्य, अहिंसा, मृदुता, आर्जव, ज्ञान, तेज, बल, बुद्धि आदि जिन मानवके आभ्यन्तरिक गुणोंसे आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान परिचित भी नहीं होगा—वे सभी श्रीरामके व्यक्तित्वमें समाहित थे । इस सम्बन्धमें दृष्टान्तोंको प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं प्रतीत होता—सर्वप्रथम तो इसलिये कि अनावश्यक विस्तारमें चले जानेका भय है, और द्वितीय इसलिये भी कि तुलसीकृत रामचरितमानसके माध्यमसे ये सभी दृष्टान्त सर्वसाधारणके लिये अत्यधिक बोधगम्य हैं ।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकोंके अनुसार विभिन्न मनोदैहिक गुणोंको गत्यात्मक संगठन प्रदान करना व्यक्तित्वकी एक आवश्यक विशेषता मानी गयी है; क्योंकि इसीपर वातावरणके साथ व्यक्तिके विशिष्ट अभियोजन निर्भर करते हैं । यहाँ तात्

यह है कि परिस्थितिके अनुकूल ही अपने विभिन्न गुणोंमें गतिशीलता उत्पन्नकर व्यक्तित्वको प्रवाहपूर्ण एवं सर्वोन्मुखी बनाया जाय। शारीरिक एवं मानसिक अनेकानेक क्षमताओं-के रहते भी व्यक्तित्वमें तबतक प्रवाह नहीं आ सकता, जब-तक इन विभिन्न गुणोंको संगठितकर, विषमताओं एवं वैविध्योंसे परिपूर्ण परिस्थितियोंमें उन्हें प्रयुक्त करनेकी पर्याप्त शक्ति न हो। अपने गुणोंको संगठितकर उन्हें उचित दिशामें निर्देशित करनेकी राममें अपूर्व क्षमता थी। अपनी क्षमताओंका अनावश्यक दुरुपयोग न करना तथा समयकी पुकारपर उनका उचित प्रयोग करनेमें तनिक भी संकोचका अनुभव नहीं करना—यही है गत्यात्मकता, जो व्यक्तित्वमें चमक पैदा करती है। लक्ष्मणके सुझावपर राम समुद्रको तत्काल सुखा सकते थे। परशुरामके उपस्थित होनेके साथ ही राम उन्हें अपनी शक्तिका ज्ञान करा सकते थे। किंतु रामने सर्वप्रथम इन कार्योंसे अपनेको विरत रख नम्रता एवं शीलताका आश्रय लिया। आखिर, राम और रावणमें यह भी तो एक अन्तर है। रावण भी रामकी ही तरह बलवान् एवं सामर्थ्यवान् था, परंतु उसने अपने बल तथा सामर्थ्यका सदा ही दुरुपयोग किया। रामने पहले उच्चकोटिकी नम्रताका परिचय दिया। "शठं शाठ्ये समा-चरेत्" की नीतिका अनुसरण तो बादमें करना पड़ा। इस प्रकार, राममें मनोदैहिक गुणोंका असाधारण संगठन था।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गुणोंके इस संगठनमें गतिशीलता थी, तटस्थता नहीं। इस सम्बन्धमें अरण्यकाण्डके प्रारम्भमें महर्षि वाल्मीकिने एक बहुत ही उपयोगी दृष्टान्त उपस्थित किया है। राक्षसोंद्वारा मारे गये ऋषिगणके पर्वतीय अस्थिपञ्जरका अवलोकन करके रामका हृदय आहत हो उठता है। फलस्वरूप, राम राक्षस-वंशको समूल नष्ट करनेका कठोर व्रत लेते हैं। चौदह वर्षोंतक अनवरत तपस्वीका जीवन-यापन करनेके लिये कटिबद्ध राम इसी अवधिमें राक्षसोंका हनन करके शासककी भूमिका निभायें—यह बात सीताको कुछ अच्छी नहीं लगती। पूछनेपर रामने बताया कि परोपकार-जैसा मानवके लिये कोई दूसरा धर्म नहीं। इस धर्मकी रक्षा-के लिये आततायियोंसे युद्ध करना ही पड़ता है—यही नियम है। अन्यायके विरुद्ध एक दुर्बल व्यक्तिका शान्त रह जाना स्वाभाविक भी है और क्षम्य भी। परंतु एक सामर्थ्यवान् व्यक्ति यदि अनाचारके प्रति तटस्थ दर्शककी भूमिका निभाये, निश्चेष्ट बैठा रहे—तो यह निश्चित ही लज्जाका विषय है। रामने कभी भी इन परिस्थितियोंके प्रति क्लैब्य एवं तटस्थताकी नीति नहीं अपनायी। उनका जीवन सदैव गति-शील रहा। यदि वर्तमान भारतकी दुर्दशाको मिटाना है तो हमें रामके व्यक्तित्वके इस गत्यात्मक स्वरूपका अनुकरण करना होगा।

रामकी अभियोजनशीलता

आधुनिक मनोवैज्ञानिकोंके अनुसार वातावरणके साथ अभियोजनशीलता ही व्यक्तित्वकी सर्वश्रेष्ठ कसौटी है। मनो-वैज्ञानिक दृष्टिसे वही व्यक्ति सफलताके सर्वोच्च शिखरपर है, जिसके व्यक्तित्वमें सहज अभियोजनशीलताका गुण हो। कुछ विद्वानोंने 'अभियोजनशीलता' शब्दका अनर्थ किया है। यह एक पारिभाषिक शब्दके रूपमें आया है। यहाँ इसका तात्पर्य निकृष्ट अभियोजनशीलतासे नहीं है। आजकी अवसरवादिता या 'जैसी बहै बयार, पीठ तहँ तैसी दीजै' आदि युक्तियाँ निकृष्ट अभियोजनशीलताकी श्रेणीमें आती हैं, जो निश्चित ही व्यक्तित्वका गुण नहीं है। तब अभियोजन-शीलता है क्या? अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी प्रकारके वातावरणमें शारीरिक या मानसिक संतुलनकी पूर्ण रक्षा करते हुए अपने उद्देश्योंकी प्राप्तिके निमित्त निरन्तर क्रिया-शील रहना ही लोकोत्तर अभियोजनशीलता है। इस संदर्भमें रामके व्यक्तित्वपर विचार करनेपर प्रतीत होगा कि इस क्षेत्रमें भी वे अद्वितीय थे। रामके राज्याभिषेककी सूचना पाकर अयोध्याके कण-कणमें हर्षातिरेक है। मुनिवर वसिष्ठ जब इस राज्यादेशको रामतक पहुँचाकर उन्हें शास्त्रानुगत अनुष्ठानपूर्वक रात्रि व्यतीत करनेका आग्रहपूर्ण निर्देश देते हैं, तब रामके हृदयमें यदि कोई भाव भी उत्पन्न होता है तो मात्र 'विस्मय'का। 'राम हृदय अस बिसमउ भयऊ'। अयोध्याका राज्य प्राप्त करके भी, जिसके समक्ष इन्द्रका ऐश्वर्य भी संकुचित था, रामका हृदय रञ्चमात्र भी प्रफुल्लित नहीं हुआ। इतना ही नहीं, रामने राज्याभिषेक-सम्बन्धी अयोध्याकी इस परम्पराको अनुचित भी ठहराया—'बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू' ॥ परंतु रामको जिनका सम्पूर्ण जीवन ही 'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।' (तैत्तिरीयोपनिषद्, प्र० वल्ली २०) आदि मन्त्रोंसे अभि-षिञ्चित था, पिता एवं गुरुके आदेशोंको शिरोधार्य करना पड़ा—बिना किसी हर्षके केवल कर्त्तव्य समझकर। कुछ

विद्वज्जन यहाँ शङ्का उपस्थित करते हैं। उनके अनुसार राज्यके प्रति रामके हृदयमें यदि मोह नहीं होता तो राज्याभिषेकके कार्यक्रमको वे भरतके आनेतक स्थगित करा सकते थे, कम-से-कम प्रस्ताव तो रख ही सकते थे। परंतु मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंके अनुसार यह आलोचना निर्मूल है। जिस वस्तुके प्रति किसी व्यक्तिके हृदयमें जितना ही मोह होगा, उस वस्तुके क्षणिक या स्थायी वियोगमें उसे उसी अनुपातमें कष्टकी अनुभूति होगी। इसी मनोवैज्ञानिक तथ्यके आधारपर हमें देखना होगा कि राज्यप्राप्तिके प्रति रामके हृदयमें लिप्सा थी या नहीं? अपने लिये चौदह वर्षोंका वनवास तथा भरतके राज्याभिषेककी सूचना पाकर उनकी अन्तर्दशा कैसी थी? 'मन मुसुकाइ भानुकुल भानू। रामु सहज आनंद निधानू' ॥ यहाँ रामका मन-ही-मन मुस्करा उठना क्या विषादका लक्षण है? रामके लिये ये बातें इतनी नगण्य हैं कि पिताके दुःखका ये कारण भी हो सकती हैं—उन्हें सहसा विश्वास नहीं होता। 'थोरिहिं बात पितहि दुख भारी। होति प्रतीति न मोहि महतारी ॥' रामके इन आचरणों एवं भावनाओंसे यही निश्चित निष्कर्ष निकलता है कि रामको राज्यके प्रति लिप्सा नहीं थी। जहाँतक भरतके आगमनतक राज्याभिषेकको स्थगित करनेके प्रस्तावका प्रश्न है, राम इसीलिये नहीं कर सके कि अनुशासनके भङ्ग होनेका भय था। पिता और गुरुकी इच्छा ही उनके लिये सर्वोपरि आदेश था। अनुशासनकी पवित्रतासे वञ्चित रहनेवालोंको सम्भवतः ये बातें समझमें न आ सकें। इसलिये उनके अनुभूतिशून्य मस्तिष्कसे उद्भूत आलोचनाओंपर अत्यधिक ध्यान देना समय एवं शक्तिका अपव्यय करना है। अस्तु, परिस्थितियोंकी अनुकूलता एवं प्रतिकूलताके बीच समस्थिति प्रस्तुतकर रामने जिस विलक्षण अभियोजनशीलताका परिचय दिया है—मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणानुसार निश्चित ही वह वन्दनीय है। तभी तो तुलसीने रामकी इस मुखकमलच्छविको मङ्गलप्रदाके विशेषणसे विभूषित किया है—

"प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा ॥
(अयोध्या० श्लोक २)

कुछ विद्वज्जन, जिनके मस्तिष्क तथाकथित प्रगतिशीलताके कुप्रभावसे विकारग्रस्त हो गये हैं, भारतीय ग्रन्थोंको अकारण शङ्काकी दृष्टिसे देखते हैं। वे उनमें कृत्रिमता एवं आडम्बरका आभास पाते हैं। इनकी शङ्काएँ कुछ कारणोंपर आधारित हैं। सर्वप्रथम तो यह कि रामके ब्रह्मका अवतार होनेकी कल्पनाएँ उनके मस्तिष्कमें बैठ ही नहीं पातीं। दूसरा यह कि यदि रामको अवतारी पुरुष मान भी लिया जाय तो आद्योपरान्त उनका चरित्र ईश्वरोचित होना चाहिये—निष्कलङ्क, उज्ज्वल। इन आलोचकोंके अनुसार वालीका अन्यायपूर्ण वध एक घृणित कार्य है। इस कार्यसे रामका चरित्र कलङ्कित हो गया है। इस तरहकी आलोचनाओंपर दृष्टिपात करनेपर यहाँ प्रतीत होता है कि इन आलोचकोंने कुछ पूर्वाग्रहोंसे ग्रसित होकर मनोवैज्ञानिक तथ्योंसे अपनी दृष्टि हटा ली है। यदि किसी ग्रन्थकारने अपने ग्रन्थके नायकके आदर्शोंसे प्रभावित हो उसमें ब्रह्मत्वको आरोपित किया हो तो इसमें अस्वाभाविकता क्या है? क्या गांधीके आदर्शोंसे प्रभावित हो हमने उन्हें पूज्य नहीं माना! आज गांधी हमारे लिये 'महात्मा' मात्र हैं। क्या यह सम्भव नहीं कि आनेवाली पीढ़ियाँ उन्हें भी ईश्वरका अवतार मानने लग जायँ? यह तो मानव-हृदयकी स्वाभाविक वृत्ति है। यह आलोचनाकी वस्तु नहीं। वस्तुस्थिति तो यह है कि भारतीय ग्रन्थकारोंने अपनी कृतियोंमें, अपनी-अपनी शैलीमें, भारतके राष्ट्रीय चरित्रको, उसकी सम्पूर्ण विशिष्टताओं एवं त्रुटियोंके सहित, संसारके समक्ष प्रस्तुत करनेकी सफल चेष्टा की है। वे न तो एकाङ्गी थे, न पूर्वाग्रही। सम्भवतः इसीलिये उन्होंने अपने मर्यादापुरुषोत्तम रामकी त्रुटियोंको भी प्रस्तुत करनेमें संकोच नहीं किया है। 'सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हियँ हेरी'—इस युक्तिद्वारा तुलसीने अपने आराध्यकी जिस मानव-सुलभ दुर्बलताका संकेत दिया है—वह निश्चित ही सराहनीय है। दुर्भाग्य तो यह है कि उक्त आलोचक इन नगण्य बातोंकी ही परिधिमें पर्यटन करके अपनी शक्ति एवं समयका अपव्यय कर रहे हैं। क्या ही अच्छा होता यदि रामके अनेकानेक आदर्शोंमेंसे एकको भी ये विद्वज्जन जन-मानसतक पहुँचानेका संकल्प लेते। ऐसी स्थितिमें, मानव-समाजका महान् कल्याण होता।

अतः निष्कर्ष-स्वरूप हम कह सकते हैं कि मनोविज्ञानकी कसौटीपर भी रामके व्यक्तित्वकी पूर्णता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि रामका उदात्त व्यक्तित्व ही स्वतः पूर्णताका आश्रय है।

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण

(लेखक—डॉ० श्रीहजारीप्रसादजी माहेश्वरी)

श्रीकृष्ण और उनके संदेशके प्रति हमारी श्रद्धाका सीधा सम्बन्ध हमारी उस धारणासे है, जो श्रीकृष्णको लेकर हमारे मनमें है। अथवा श्रीकृष्णका हमें जो और जैसा परिचय है, उसीके अनुरूप उनके संदेशके प्रति हमारी भावना होगी। पुराणेतिहासमें श्रीकृष्ण-वार्ताएँ भरी पड़ी हैं, उससे उनके व्यक्तित्वका वह परिचय मिलता है, जो हमारी सांस्कृतिक परम्पराकी एक निधि है। सांस्कृतिक इतिहासकी दृष्टिसे हमारी वही धारणा, वही परिचय महत्त्वपूर्ण है तथा उसीपर अवलम्बित हैं हमारी वे समस्त आस्थाएँ, जो आज भी हमारे लिये जीवनके मूल्योंका आधार बनी हुई हैं।

श्रीकृष्णके उसी परिचयको व्यक्त करनेके लिये एक अद्भुत और सारगर्भित पदका प्रयोग हुआ है। वह पद है—'पुरुषोत्तम'। श्रीकृष्णको पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण कहा गया है। यह 'पुरुषोत्तम' पद अत्यन्त सक्षम है। इसी पदमें निहित वह भाव है, हमारी वह श्रद्धा है, जिसके नाते भारतीय संस्कृति स्वयं उज्ज्वल है तथा मानवमात्रके लिये प्रेरणा-दायिनी हो सकती है,। यह पद एक ऐसा पद है जिसमें स्यात् श्रीकृष्णका पूर्ण परिचय संनिहित है अथवा जिसमें उनके व्यक्तित्वका सामग्र्य अभिव्यक्त है। अतः यदि हम इस पदका अर्थ समझ सकें, इसका विश्लेषण कर सकें, इसकी व्याख्या और अर्थ-विस्तार कर सकें तो श्रीकृष्णका परिचय खुल जाय और सम्भवतः उनके प्रति हमारी श्रद्धा प्रकाशित हो उठे।

'पुरुषोत्तम' शब्दका प्रयोग दो भूमिकाओंमें हो सकता है। एक है तात्त्विक भूमिका, दूसरी है व्यावहारिक प्राकट्य-भूमिका। तात्त्विक भूमिका पारमार्थिक है, अलौकिक है, जो लोक-परलोकसे परे सर्वोपरि सत्य भूमिका है—कदाचित् उसे भूमिका कहना भी अयुक्त होगा। प्राकट्य-भूमिका व्यावहारिक भूमिका है, लोक-भूमिका है, उसमें देश-काल-सम्बन्ध विद्यमान है। तात्त्विक भूमिकामें पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण नित्य हैं, सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। प्रकट भूमिकामें श्रीकृष्ण इतिहास-पुरुष हैं तथा देश-काल-परिस्थितिगत उनका जीवन-वृत्त है। इन दोनों ही भूमिकाओंमें श्रीकृष्ण अभिन्न हैं, एक हैं। अतः वे परमार्थ सत्य भी हैं, व्यवहार-विभूति भी हैं और उभय परिपूर्ण दिव्यातिदिव्य तत्त्व हैं। उनमें लोक-अलोक, नित्य-अनित्य, देशान्तर्गत-देशातीत कालगत-कालातीत—सभी भूमिकाओंका सामञ्जस्य है, सभीका समावेश है। श्रीमद्भगवद्-गीतामें श्रीकृष्ण अपना रहस्य प्रकट करते हुए यहाँतक कह देते हैं—'सदसच्चाहमर्जुन' अर्थात् 'मैं सत् भी हूँ, असत् भी हूँ'। इससे स्पष्ट है कि विभिन्न भूमिकाओंमें जो विरोध-व्याघात-द्वैतादि हैं, वे सब श्रीकृष्णमें समाहित हो जाते हैं, उन श्रीकृष्णकी परिपूर्णतामें वे सब समन्वित हो जाते हैं। वे स्वयं सभी भूमिकाओंमें परिपूर्ण हैं एवं उन्हींसे समस्त भूमिकाएँ सार्थक हैं। वे सर्वशः उच्चातिउच्च उत्तम पुरुष हैं। यह उत्तमता ही उनके स्वरूपका परिचय है, पुरुषोत्तम भाव ही उनका दिव्यातिदिव्य स्वभाव है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें पुरुष-तत्त्वकी व्याख्या करते हुए श्रीकृष्ण पुरुषत्रयका वर्णन करते हैं। उसके अन्तर्गत वे 'क्षर-पुरुष', 'अक्षर-पुरुष' एवं उभयातीत 'पुरुषोत्तम' का रहस्योद्घाटन करते हैं—

> द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
> क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
> उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
> यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
> यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
> अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
>
> (गीता १५। १६—१८)

अर्थात् 'लोकमें 'क्षर' और 'अक्षर' दो पुरुष हैं। समस्त भूतादि क्षर हैं एवं कूटस्थ अक्षर हैं। इन दोनोंसे अन्य उत्तम पुरुष है, जिसे परमात्मा कहा जाता है, जो तीनों लोकोंको आविष्ट करके अव्यय ईश्वरभावसे उनका भरण करता है। मैं क्षरसे भी अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ। अतः लोक और वेद दोनोंमें पुरुषोत्तम-भावसे प्रसिद्ध हूँ।'

उपर्युक्त भाषामें श्रीकृष्णने पुरुष-तत्त्वकी तीन भूमिकाएँ बतायी हैं। पुरुष-तत्त्व, जो वस्तुतः परम तत्त्व है, सबका कारण है, एकमेवाद्वितीय तत्त्व है, वही तीन अवस्थाओंमें विद्यमान है। वे अवस्थाएँ हैं—'क्षर', 'अक्षर' एवं 'उत्तम'। क्षरभावसे यह समस्त संसार, नित्य बनने-बिगड़नेवाले इसके अनेक पदार्थ, इसकी समस्त गति, जन्म-कर्म-युक्त हमारी समस्त सत्ता, देशकालगत सभी परिस्थितियाँ,

वह सब कुछ जो परिवर्तनशील है, वस्तुतः पुरुषका ही रूप है, वह पुरुष-तत्त्वकी ही क्षरावस्था है । उसके विपरीत जो क्षयरहित है, अविनाशी है, समस्त क्रियाओं और गतियोंमें निहित, सदा निष्क्रिय है, अगत है, समस्त परिवर्तनोंके पीछे उनमें निहित सदा अपरिवर्तनीय है । वह भी पुरुष-तत्त्व ही है । उसे पुरुष-तत्त्वका अक्षरभाव कहा जाता है, वह अक्षर पुरुष है ।

चिन्तन और अनुभवकी भूमिकामें प्रायः इन्हीं दोनों रूपोंमें हम स्थायी और अस्थायी तत्त्वोंकी व्याख्या करते हैं । स्थिर और अस्थिर रूपोंमें वही एक तत्त्व है और हम उसे पुरुष-तत्त्व कहते हैं । 'पुरुषोत्तम' इन दोनों भूमिकाओंसे ऊपर, इन दोनोंसे अतीत किंतु साथ ही इन दोनोंका आधार-तत्त्व है । श्रीकृष्ण स्वयं अपनेको पुरुषोत्तम कहते हैं । वे पुरुषोत्तम क्षर और अक्षर भावसे परे, उनसे अतीत स्वयं परमात्मा हैं, ईश्वर हैं । उनमें 'क्षर' और 'अक्षर' दोनोंका ही समावेश है, ये दोनों उन्हींके अन्तर्गत हैं, यद्यपि वे स्वयं उभयातीत हैं ।

उपर्युक्त व्याख्याका यही आशय प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण स्वयं परात्पर तत्त्व हैं एवं वे सर्वातीत हैं । वे पूर्ण पुरुष हैं, उत्तम पुरुष हैं । अपरंच वे ही सर्वाधार हैं, सर्वान्तर्यामी हैं, सर्वमय हैं । वस्तुतः व्यक्ताव्यक्त सभी रूपोंमें वे स्वयं ही सत्य हैं । व्यक्त विशाल यह विश्व, जिसमें अनन्त-अनन्त घटनाएँ घटती हैं, अनन्त देशमें अनन्त कालकी अनन्त गति होती है, अनन्त प्रक्रियाओं और अनन्त परिस्थितियोंके अनन्त चक्र घूमते रहते हैं, सृजन और विनाश, उद्भव और विलयनका अनन्त क्रम चलता रहता है—यह सब कुछ श्रीकृष्णका ही प्रकट रूप है । उसके अतिरिक्त जो अव्यक्त, नित्य, अविनाशी, अव्यय-तत्त्व है, वह भी श्रीकृष्ण स्वयं हैं । अपने आपमें वे अविनाशी सत् तथा विनाशमय असत् दोनोंसे ही अतीत परमात्म-तत्त्व पुरुषोत्तम हैं ।

श्रीकृष्णका पुरुषोत्तम-भावसे यह आत्मपरिचय केवल चिन्तन और विवेचनकी भूमिकातक ही सीमित नहीं है । उनसे इस परिचयका हमारे अन्तरात्मापर यह प्रभाव पड़ता है कि हम सब प्रकारसे उनके हो जाते हैं । वे कहते हैं—

> **यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।**
> **स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥**
>
> (गीता १५ । १९)

अर्थात् 'जो असम्मूढ़ (बुद्धिमान्) मुझको ही पुरुषोत्तम समझता है, वह सब कुछ जाननेवाला सब भावोंसे मुझे ही भजता है ।' सर्वात्म-तत्त्व पुरुषोत्तम भगवान्‌को सचमुच जो जान ले, उसके लिये फिर क्या जानना शेष रह गया ! उनको जाननेका अर्थ ही है सब कुछ जान लेना । अतः उनको जाननेवाला सर्वविद् ही होगा । अथ च उनको जाननेवाला सब प्रकारसे उन्हींका हो जायगा । उसका शरीर, उसकी इन्द्रियाँ, उसके प्राण, उसका मन, उसका हृदय, उसकी बुद्धि—उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व सब प्रकारसे श्रीकृष्णार्पण हो जायगा । उसका जीवन श्रीकृष्णमय हो जायगा । यह होगा स्वाभाविक परिणाम श्रीकृष्णके पुरुषोत्तम-तत्त्वको जान लेनेका । यह जीव परमात्मतत्त्वका बोध करेगा । यह मानव दिव्यतासे अभिभूत हो उठेगा ।

ऐसी है श्रीकृष्णके पुरुषोत्तमभावकी तात्त्विक भूमिका । प्राकट्य-भूमिकापर भी श्रीकृष्णका ऐतिहासिक परिचय अत्यन्त प्रेरणाप्रद है । इतिहास भूतकालीन घटनाओंका लेखा मात्र नहीं है, वह तो हमारे सांस्कृतिक विकासकी कहानी है, जो अभी समाप्त नहीं हो गयी है । वह सांस्कृतिक विकास अभी प्रगत है और उसमें भावी उज्ज्वलताकी प्रेरणा विद्यमान है । उस सांस्कृतिक भूमिकामें इतिहास-पुरुष श्रीकृष्णका व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक तो है ही, वह मानवीय आदर्शोंसे परिपूर्ण पूर्ण मानवका एक अपूर्व उदाहरण है । उस भूमिकामें भी वे सर्वोत्तम प्रतीत होते हैं, अतः पुरुषोत्तम पदसे ही उनका यथोचित परिचय होगा ।

श्रीकृष्ण पूर्ण मानव

श्रीकृष्ण सम्भवतः हमारे सांस्कृतिक विभुमें महत्तम ज्योतिःपुञ्ज हैं । यद्यपि उनका जीवन-वृत्तान्त उस कालका है, जिसे इतिहासकार प्रागैतिहासिक काल कहते हैं, तो भी भारतीय संस्कृतिके इतिहासमें वे इस प्रकार वर्तमान हैं कि उनकी उपस्थितिसे, उनके प्रेम, ज्ञान और ज्योतिसे हमारा भविष्य आलोकित और प्रेरित बना रहेगा ।

उस इतिहास-संस्कृतिमें श्रीकृष्ण उस पूर्णताकी साक्षात् प्रतिमा हैं जिनकी मानवको स्वाभाविक अभीप्सा है । वे हमारे लिये एक आदर्श मानवका सजीव उदाहरण हैं । परम्परासे मान्यता-प्राप्त उनके ऐश्वर्य तथा अलौकिकताको अपने सम्मुख हम न भी रक्खें तो भी उनका व्यक्तित्व अपने आपमें मानवताके समस्त आदर्शोंसे परिपूर्ण है—प्रेम, सत्य, सौन्दर्य, शक्ति, ज्ञान और आनन्द—सभी उनके व्यक्तित्व

समाविष्ट हैं। सबसे पहले तो उनके जन्मका जो हेतु श्रीमद्भगवद्गीतामें मिलता है, उसमें ही एक महान् मानवीय अभिलाषाकी पूर्ति दिखायी पड़ती है। गीता कहती है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(गीता ४। ८)

अर्थात् 'साधुओंके परित्राणके लिये, दुष्कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये, धर्मकी उचित व्यवस्था और स्थापनाके लिये मैं युग-युगमें जन्म लेता हूँ।' उनके अवतारका यह हेतु कितना उच्च है, कितना मानवीय है, कितना मानवाभिलाषाको तृप्त करनेवाला है! इतना ही नहीं, श्रीकृष्णने अवतार ग्रहण करके मानवको उन-उन विभूतियोंकी ओर प्रेरित किया, जो विशेषतः अतिमानवीय हैं और मानवकी समस्त कुण्ठाओं और अपूर्णताओंसे ऊपर उठनेके लिये प्रेरणादायिनी हैं, स्वभावतः अभीष्ट हैं, मानवमात्र उनकी प्राप्तिके अभीप्सु हैं।

श्रीकृष्णका जन्म अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियोंमें हुआ, किंतु वे अपने युगके महत्तम नायक हो गये। उन्होंने जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें नेतृत्व किया और अग्रगण्य बन गये। अपने शैशवमें वे एक मधु-मुकुल-नवल सौरभके समान प्रत्येक व्यक्तिको अपनी ओर आकर्षित कर लेते और दिव्य स्फुरणासे उसे भर देते। प्रसन्नतासे भरी हुई उनकी सरलता, नित्य नूतन उनका उल्लास, चतुराईसे भरी हुई उनकी शरारतें—उनकी हर भाव-भङ्गिमासे एक ऐसा रस बरसता था, जिसमें नहाकर मनुष्य ही नहीं, प्राणिमात्र आनन्द-विभोर हो उठते थे। बचपनमें ही उनके क्रीड़ा-कलापने, गायोंके लाड़ भरे लालन-पालनने, मनमोहिनी आह्लादिनी उनकी मुरली-ध्वनिने और सहचरोंके संग उनके नृत्यादिने उनको एक ओरसे सभीका लाड़ला बना दिया था। उनके सभी परिजन एकताके सूत्रमें बँधे हुए थे और उस एकताके प्राण-केन्द्र वे स्वयं ही थे। कंस-जैसे आततायियोंके संहारके लिये उनका बल अतुलनीय था। उनकी सभी वृत्तियाँ सर्वतः कौशलपूर्ण होती थीं। युद्धभूमि कुरुक्षेत्रमें अर्जुनके सारथि तथा उपदेष्टाके रूपमें उनकी दूरदर्शिता, उनके आदेश-उपदेश अद्वितीय थे। मैत्रीमें, उनके स्नेहकी प्रगाढ़तामें इतनी गहराई थी कि मित्र-स्नेहकी उत्कृष्टताका गान करनेके लिये श्रीकृष्ण-सुदामा-सम्बन्ध कवियोंकी प्रेरणाका स्रोत बना रहा है। धर्म तथा समाजनीति—धार्मिक प्रथाओं और सामाजिक रीति-रिवाजोंके क्षेत्रमें उनके द्वारा किये गये सभी सुधार बड़े प्रगतिशील थे। अन्ध-विश्वासयुक्त प्राणहीन प्रथाओंके प्रति उनकी क्रान्तिकारी वृत्ति अत्यन्त दृढ़ किंतु सृजनात्मक थी। मानव-जीवनका ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं, जिसमें भगवान् श्रीकृष्णने कोई चिरस्मरणीय अद्भुत कार्य न किया हो। मानवोत्कर्षकी ऐसी कोई दिशा नहीं, जहाँ वे सर्वाग्रणी न बने हों। कला, संगीत, नृत्य, समस्त प्रकृति—पशु-पक्षी, नदी-पर्वतादि सबके प्रति उनकी सर्वाङ्ग घनिष्ठता, प्रेम, रसात्मकता, मैत्री, युद्ध-कौशल, रथचालन, राजनीति-सुधार, विश्वधर्म, दर्शन एवं रहस्यानुभूति—सभी श्रीकृष्णके अधिकृत क्षेत्र थे। कदाचित् हम भगवान् श्रीकृष्णकी महत्ताको मात्र मानवीय भूमिकापर भी व्यक्त करना चाहें तो संस्कृत शब्द 'पुरुषोत्तम' (जिसका अर्थ होगा श्रेष्ठ पुरुष) सम्भवतः उनके लिये सर्वाधिक उपयुक्त शब्द होगा।*

---

* यह लेखांश 'श्रीकृष्णजन्मस्थान-सेवा-संघ मथुरा'से प्रकाशित 'पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण' शीर्षक लेखसे उद्धृत है। श्रीकृष्णजन्म-स्थान (कंसका कारागार) हिन्दुओंका परम पवित्र स्थान है। इसपर बड़े-बड़े मन्दिर बने और वे समय-समयपर मुसलमान आक्रमणकारियोंके द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये।

भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे जन्म-स्थानकी वह भूमि अधिकांश श्रीकृष्णजन्मस्थान-संघके अधिकारमें है। वहाँ एक भव्य मन्दिर तथा एक संगमरमरका विशाल चबूतरा बन गया है। अब विशाल श्रीभागवतभवनका निर्माण हो रहा है, जिसपर लगभग पैंतीस लाख रुपये व्यय होनेका अनुमान है। इसी जन्मस्थानसे 'श्रीकृष्ण-संदेश' नामक एक बहुत सुन्दर सचित्र पत्रिका निकल रही है। देशके बड़े-बड़े लेखक इसमें श्रीकृष्ण-चरित्रपर अध्ययनपूर्ण लेख लिखते हैं। इसका वार्षिक मूल्य है—७)।

पत्रिकामें बहुत ही सुन्दर सुपाठ्य सामग्री प्रकाशित होती है। अधिक-से-अधिक लोगोंको इसके ग्राहक बनकर लाभ उठाना चाहिये—श्रीकृष्णजन्म-स्थान सेवासंघ, मथुरा।

स्वरज्ञान और सामान्य जीवन

(लेखक—श्रीरविप्रकाशजी नाग, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

सब जोगन कौ जोग है, सब ज्ञानन कौ ज्ञान ।
सर्वसिद्धि की सिद्धि है, तत्त्व स्वरन कौ ध्यान ॥

साधकके जीवनमें स्वर-ज्ञानका महत्त्व अनेक प्रकारसे स्वयं सिद्ध है। योगमार्गी साधक तो इससे सर्वप्रकारसे लाभ लेते ही हैं, पर जीवनकी सामान्य प्रक्रियाओंके संचालनमें भी इसका महत्त्व है। दैनिक जीवनमें जो भी षट्-कर्म करने होते हैं, वे सब भी स्वर-ज्ञानद्वारा संचालित एवं प्रेरित होने चाहिये। उदाहरणार्थ भोजनके विषयमें सर्वमान्य सिद्धान्त है—'भूख लगे, तब खाओ' पर इतनी-सी बातका पालन विरले साधक ही कर पाते हैं। दूसरी बात है जब दाहिना स्वर चलता हो तभी भोजन करना चाहिये। 'ज्ञान-स्वरोदय'में श्रीचरणदासजी महाराजका कथन है—

बायीं करवट सोइये, जल बायें स्वर पीव ।
दहिने स्वर भोजन करै तौ सुख पावत है जीव ॥

तथा इसके विपरीत यदि—

बायें स्वर भोजन करै, दहिने पीवै नीर ।
दस दिन भूल्यौ यौं फिरै, आवै रोग सरीर ॥

यह बात आजमायी हुई है। मैंने निज जीवनमें देखा है कि लगातार यदि कई दिन बायें स्वरमें भोजन कर लिया जाय तो निश्चित ही शरीरमें रोग उत्पन्न होंगे। पिङ्गला नाड़ीके बहते अर्थात् दाहिने स्वरके चलते भोजन करना शरीरकी प्रकृतिकी माँग है। उदाहरण आप स्वयं हैं। कभी बहुत जोरकी भूख लगे तो आप देखेंगे कि आपका दाहिना स्वर ही चल रहा है। इसी प्रकार बहुत प्यास लगी होगी तो स्वाभाविक बायाँ स्वर चलेगा ही। कई रोगी विद्यार्थियोंको बायीं करवट सोने एवं दाहिने स्वरमें भोजन करनेका सुझाव देकर तथा इसका पालन करवाकर मैंने चंगा कर दिया है।

यह तो सब जानते-मानते ही हैं कि 'स्वरपर नियन्त्रण हुए बिना न तो योग सधता है और न दूसरेपर शासन ही होता है। अपनी इन्द्रियाँ जबतक वशमें नहीं होंगी, आध्यात्मिक तथा भौतिक जीवनमें असफलता ही प्राप्त होगी। श्रीहरिगीतामें कहा है—

निजसे करै उद्धार निज, निजको न गिरने दे कभी ।
नर आप ही है शत्रु अपना, आप ही है मित्र भी ॥

तो कुंजी अपने हाथ है तथा सही रूपसे स्वर-साधनके बाद आप स्वयं अपने स्वामी बन जायँगे और निजानन्दके प्रकाशसे आप्लावित रहेंगे। यह करनेकी बात है—करके देखनेकी बात है, केवल कहने-सुननेकी नहीं। 'शिव-स्वरोदय'में श्रीमहादेवजीने पार्वतीजीसे यही कहा, 'यह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म स्वरोदय सुन्दर ज्ञान देनेवाला और सत्यका निश्चय करानेवाला है; नास्तिकोंके लिये यह आश्चर्य है एवं आस्तिकोंका आधार है।'

भोजनके बाद या यों कहिये कि इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात है जल पीनेकी। जल जीवन है एवं जलसे सभी पेय निर्मित होते हैं। आजकल सामान्य जीवनमें पेयका चलन बहुत है एवं सभ्यताका तकाजा यह है कि घर आये मेहमानसे यह पूछा जाय कि 'ठंडा पीयेंगे या गरम'—न तो हमें यह पता कि हमारे शरीरकी प्राकृतिक माँग क्या है तथा न हम यह जानते हैं कि यह माँग कब की जा रही है? चायका चलन तो सामान्य चाल-चलनकी बात है। ऐसे समयमें हम केवल बायें स्वरमें ही पेय पदार्थोंको ग्रहण करनेकी शपथ लेकर चलें तो काया निरोगी रहेगी। यह तो निर्विवाद सत्य है कि औषधालयोंमें स्वास्थ्य उपलब्ध नहीं होता और न बढ़ते हुए औषधालय राष्ट्रके शुभ स्वास्थ्यके ही लक्षण हैं। परंतु जो सज्जन टेरामाइसिन एवं

पेनिसिलिनका सेवन करके ही पुष्ट रहना अधिक सुविधाजनक समझते हैं, वे इस मार्गको नहीं पसंद करेंगे। मैं तो यह चाहता हूँ कि इस सर्वसिद्धिकारक स्वर-ज्ञानको, जो जीवन-प्रयोगशालामें अनुभूत विज्ञान है, हमारे सामान्य विद्यार्थीतक जान लें, जिससे उनका जीवन उन्नतिकी ओर अग्रसर हो, जद्यपि वैसा 'होना' प्रभु-आधीन है।

दाहिने स्वरमें भोजन एवं बायें स्वरमें पेय पदार्थोंके ग्रहणके साथ-साथ भोजनके साथ पानी पीना, दही पीना, छाछ या सब्जीका रसा पीना चल सकता है। आयुर्वेदवाले बहुधा भोजनके साथ पानी पीनेका निषेध शायद इसीलिये करते हैं कि दाहिने स्वरमें पानी पीना अनुचित है। एक घड़ीके बाद स्वर-परिवर्तन होता ही है; अतः जल भोजनोत्तर लगभग सवा घंटेके बाद ही पीना श्रेयस्कर है।

यह कितनी वैज्ञानिक बात है कि जब भोजन दाहिने स्वरमें किया तो मल-त्याग भी उसी स्वरमें करना चाहिये। दाहिने स्वरमें भोजन करनेसे जठराग्निकी प्रबलता उस समय रहती है एवं इससे भोजन सहजमें पचता है। करोड़पति हो या अरबपति, गरीब हो या मध्यमवर्गीय, जितनी भूख हो, उतना ही खा सकता है, जितनी जठर-शक्ति होगी उतना ही पचा सकता है; अतः बीस रोटी खाकर भी यदि अपच रहा तो दो रोटियाँ खाकर पचाना अधिक उत्तम है। मल-त्याग इसीलिये दाहिने-स्वर यानी सूर्य-स्वरमें करना चाहिये कि इस स्वरकी सहज शक्तिसे शौचके समय मल-त्याग सहज हो जायगा। न तो शौचालयमें अधिक देर बैठकर वहाँकी दूषित वायुका सेवन करना होगा और न जोर लगाकर शक्तिका अपव्यय ही होगा। परंतु जैसा पूर्वमें भी निवेदन किया गया है, दस्तावर एवं कब्जहर गोलियाँ खा-खाकर जो महामानव अपना स्वास्थ्य ठीक रखे हों, वे जैसा उचित समझें करें, मार्ग सबके लिये सहज सुलभ है।

शौचके साथ तो मूत्र-त्याग होता ही है, जैसे कि भोजनके साथ जल-ग्रहण हो जाता है; अन्यथा मूत्र-त्याग सदा बाँये स्वरकी उपस्थिति अर्थात् चन्द्रस्वरके बहनेपर ही करना श्रेयस्कर है। इसमें बचतकी बात निवेदन कर दूँ कि किसी कारण-विशेषसे यदि आपको अचानक मल या मूत्रका वेग प्रतीत हो तो हाजतकी सफाईके लिये स्वरको न देखें। मैं तो सामान्य जीवनकी प्रक्रियाका निवेदन कर रहा हूँ और मेरी यह मान्यता है कि बादमें जाकर आपके जीवनपर आपका इतना नियन्त्रण हो जायगा कि इस 'अचानक' तत्त्वका भी ह्रास हो जायगा।

अब बायीं करवट सोनेके वैज्ञानिक तथ्यका विवेचन करें। इसमें कुछ स्पष्टवादिताका सहारा भी लेना होगा; परंतु जीवनकी बात है। अतः कहनेकी आज्ञा चाहता हूँ। मैंने तीन दर्जनसे अधिक व्यक्तियोंका इस संदर्भमें अध्ययन किया (Case-study)। उनमेंसे कुछके केवल लड़के-ही-लड़के थे, कुछके लड़कियाँ-ही-लड़कियाँ। अनजानमें वे बायीं एवं दाहिनी करवट शयन करनेकी आदतमें हैं। परिवार-आयोजन और नियोजन तो सरकारी रूपसे अब चले हैं। भारतके इस पुरातन एवं सनातन विज्ञानद्वारा जो जैसी संतान आप चाहें प्राप्त हो सकती है। सामान्य मानवोंमें भ्रम रहता है कि बायीं ओर 'हृदय' होता है, अतः उसे दबाकर सोनेसे हानि होगी। यह भ्रामक बात है। बायीं करवट सोनेसे सूर्य-स्वर (दाहिने) की उपस्थिति रहेगी एवं आपकी धर्मपत्नीके दाहिनी करवट शयन करनेसे वाम स्वर चलेगा। ऐसी परिस्थितिमें सम्भोग होनेसे केवल लड़का ही पैदा होगा यह निश्चित है। हमारे यहाँ विवाहमें स्त्रीको बायीं अङ्ग बताया जाकर बायीं ओर उसे सदा रखनेकी शिक्षा दी जाती है जो कि इसी तथ्यकी मूक-शिक्षा है कि आप आगे दुःख न पायें। मैंने देखा है कि पाँच लड़कियोंके बाद भी इसलिये लोग दुखी रहते हैं कि लड़का नह

हुआ। इसके अतिरिक्त सामान्यतया भी बायीं करवट सोनेसे रातभर दाहिना-स्वर चलेगा तथा चन्द्रमाकी उपस्थितिमें चन्द्रमाका निषेध योगीके लिये प्रामाणिक है।

> दिन को तौ चंदा चलै, चलै रात में सूर।
> यह निश्चै करि जानिये, प्रानगमन बहु दूर॥
> रात चलै स्वर चंद में, दिन को सूरज बाल।
> एक महीना यों चलै, तो छठे महीने काल॥

रात्रिको इसलिये भी बायीं करवट सोना चाहिये कि यह अधिक प्राकृतिक एवं सुविधाजनक है। करना यह है कि आप तो जब शयनके बाद यह अवसर देखें कि निद्रा देवीने अब शरण दे ही दी है, तभी बायीं करवट लेकर सो जायें। सोनेके बाद सुषुप्ति-अवस्थामें जो अनायास करवटोंकी अदला-बदली होती है, वह आपके करनेका विषय ही नहीं रहती। अतः आप उसका विचार ही न करें। रात्रिको दाहिना स्वर चलनेसे (बायीं करवट सोनेसे) भोजन पचनेमें आवश्यक सहायता मिलती है; क्योंकि रात्रि-भोजनके पश्चात् सामान्यतः कोई शारीरिक श्रम न तो किया जाता, न ऐसा सम्भव ही है। अतः करबद्ध निवेदन है कि आज-से ही स्वामी चरणदासजी महाराजके आज्ञानुसार—

> बायीं करवट सोइये, जल बायें स्वर पीव।
> दहिने स्वर भोजन करें, सुख पावत है जीव॥

भगवान्‌की सच्ची पूजा

(लेखक—पं० श्रीजयकान्तजी झा)

संत एकनाथ हृदयमें प्रभुकी झाँकी करते हुए गंगोत्रीके पुनीत जलको काँवरमें भरकर अपने साथियोंके साथ काशी होते हुए रामेश्वरकी ओर जा रहे थे। वहाँ जाकर वे उस जलसे प्रभुकी पूजा करना चाहते थे। ग्रीष्मऋतु थी। इसी बीच एक दिन दोपहरकी जलती धूपमें संतने रेतीले मैदानमें एक गधेको प्याससे छटपटाते देखा। अविलम्ब काँवर उतारकर गंगोत्रीका पुनीत जल गधेके मुखमें डालकर एकनाथजीने मरणासन्न प्राणीकी जान बचायी। एकनाथजीके अन्य साथियोंको इस बातका दुःख हो रहा था कि इतने परिश्रमसे लाया हुआ गंगोत्रीका पुनीत जल व्यर्थ चला गया। उनकी ऐसी भावना देखकर एकनाथजीने उन्हें समझाया—'एकमात्र प्रभु ही सर्वत्र परिपूर्ण हैं। मेरी पूजा तो प्रभुने यहींसे स्वीकार कर ली।'

यदि हम विश्वरूप भगवान्‌की पूजाको अपनी दिनचर्यामें सम्मिलित कर लेते तो हमारा जीवन पूजामय बन जाता। हमारी पूजा सर्वाङ्गीण पूजा बन जाती। भगवान्‌की पूजा समाप्त करनेके पश्चात् हम स्वयं प्रसाद ग्रहण करते हैं। शीतका अनुभव होनेपर हम अपने अङ्गोंको आवश्यक वस्त्रोंसे ढकते हैं, शरीरके, रोग-निवारणार्थ ओषधियोंका सेवन भी करते हैं; पर हममेंसे अधिकांश इस बातको भूल जाते हैं कि अभी-अभी हम जिन प्रभुकी पूजा मन्दिरमें कर आये हैं, वे ही प्रभु पुनः हमारी पूजा ग्रहण करनेके लिये विविध रूपोंमें हमारे सम्मुख उपस्थित हैं। वे प्रभु ही पूज्य संतके रूपमें प्रसाद पानेकी शान्तिसे बाट देख रहे हैं तथा वे ही कंगाल बनकर भिक्षा प्राप्त करनेके लिये करुण पुकार कर रहे हैं। वे ही एक रूपमें सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित भद्र पुरुषके वेषमें दीनोंके शीत-निवारणार्थ कम्बल बाँटनेके सम्बन्धमें हमसे परामर्श करने आये हैं और दूसरे रूपमें हमारे द्वारके सामने जाड़ेसे ठिठुरते हुए टाटके टुकड़ोंके लिये चिल्ला रहे हैं। ऐसे अवसरों-पर हम भूल जाते हैं कि प्रभु ही इन सभी रूपोंमें हमारी पूजा ग्रहण करनेके लिये आये हैं। इसीलिये हम प्रायः उनके प्रति दुर्व्यवहार कर बैठते हैं। प्रभुकी सर्वव्यापकताका ज्ञान न होनेसे हमारी भगवत्पूजा प्रायः अधूरी ही रह जाती है।

कभी-कभी हमारी ऐसी भावना होती है कि

विश्वरूप भगवान्‌की पूजाके योग्य साधन हमारे पास नहीं हैं। पर यह हमारे मनका भ्रम ही है। वास्तवमें तो हमारे अंदर पूजाकी सच्ची चाह होनी चाहिये। चाह होनेपर तो हम अपने द्वारा होनेवाले प्रत्येक कर्मसे प्रभुकी पूजा कर सकते हैं। यदि हम दूकानदार हैं तो अपने ग्राहकोंको प्रभुरूपमें देखकर सम्मानपूर्वक उचित मूल्य लेकर उनकी सेवाकी दृष्टिसे यदि हम उन्हें ईमानदारीके साथ अच्छी वस्तु दे देते हैं तो इस प्रकारके क्रय-विक्रयसे ही विश्वरूप भगवान्‌की सच्ची पूजा हो जायगी। यदि हम चिकित्सक हैं तो प्रत्येक रोगीमें प्रभुकी झाँकी करके, यदि हम शिक्षक हैं तो प्रत्येक छात्रमें प्रभुको विराजित देखकर और यदि वकील हैं तो प्रत्येक वादी-प्रतिवादी, न्यायाधीश एवं साक्षी इत्यादिमें अपने इष्टदेवको ही अभिव्यक्त देखकर यथायोग्य अपने विशुद्ध व्यवहारसे उनकी पूजा कर सकते हैं। हम जहाँ जिस क्षेत्रमें हैं, जिस परिस्थितिमें, जो भी काम करते हैं, वहीं उसी क्षेत्रमें, उसी परिस्थितिमें अपने कामको विशुद्ध बना सकते हैं और अपने सम्पर्कमें आनेवाले प्रत्येक व्यक्तिमें प्रभुको देखकर उन्हें अपनी विशुद्ध पूजा समर्पित कर सकते हैं। यदि अपने जीवनको पूजामय बनानेके लिये हम कटिबद्ध हैं तो सर्वशक्तिमान् प्रभुकी शक्ति अपने आप हमें ऊपर उठाने लगेगी और हमें स्पष्ट दीखेगा कि जिस वेशमें प्रभु पूजा ग्रहण करने आये हैं, उसके अनुरूप पूजाकी सामग्री उन्होंने पहलेसे ही हमारे पास भेज रक्खी है। उन सामग्रियोंका खुले हाथों उपयोग करनेसे हमारा जीवन पूजामय बन जायगा। इस प्रकार सर्वत्र प्रभुको विराजित, सबको प्रभुका ही रूप देखकर यदि हम उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा कर सकें तो हमारा काम बन जायगा और हमारी पूजा सर्वाङ्गीण हो जायगी। हमारा एवं प्रभुका मिलन तुरंत ही हो जायगा और प्रभुकी सच्ची पूजा करके हम सदाके लिये कृतकृत्य हो जायँगे।

प्रभुके साथ हमारा जो सम्बन्ध है, वह तो अनादि है, सदा स्थिर, एकरस रहनेवाला है। उनके सम्बन्धमें कोई हेतु नहीं। वह सम्बन्ध अत्यन्त निर्मल, अपरिसीम एवं प्रेमसे परिपूर्ण है। इसीसे वे हमारे लिये अपना सर्वस्व दान भी करते हैं। उनके प्रेमकी शक्ति-सामर्थ्यकी भी सीमा नहीं, वह तो अनन्त—असीम है। उनके लिये यह नहीं कहा जा सकता कि प्रभु यह कर सकते हैं, यह नहीं। वे सर्वसमर्थ हैं, असम्भवको सम्भव कर सकते हैं। साथ ही वे सर्वज्ञ हैं, सब कुछ जानते हैं। अतीत, वर्तमान, भविष्यका अणु-अणु उन्हें ज्ञात है। अगणित विश्व-ब्रह्माण्डमें कहाँ किस समय क्या हुआ, क्या हो रहा है और क्या होगा—इसको वे पूरा-पूरा जानते हैं। इसीलिये उनसे कभी तनिक-सी भी भूल नहीं होती। ऐसे प्रभुको, प्रभुके साथ अपने नित्य सम्बन्धको यदि हम जान लें, उनके सम्बन्धका ही एकमात्र भरोसा करके हम अपने कार्य-क्षेत्रमें उतरें, तभी सफलता, आनन्द और संतोष आगेसे आगे हमें वरण करनेके लिये तैयार खड़े मिलेंगे और हमारे द्वारा भगवान्‌की सच्ची पूजा हो सकेगी।

यह बात विचारणीय है कि जब हमारा नित्य सम्बन्ध महामहिम प्रेममय प्रभुसे है, वे सदैव हमारे साथ रहते हैं, तब हम उन्हींपर निर्भर क्यों नहीं रहते? इसका कारण केवल यही है कि हमारी इन्द्रियाँ स्वभावसे ही बहिर्मुख हैं। इसीलिये अपने अन्तरालमें विराजित प्रभुको हम जान नहीं पाते। जबतक इन्द्रियोंका प्रवाह बाहरकी ओरसे मुड़कर अन्तर्मुख न बन जाय, प्रभुकी ओर न हो जाय तबतक हमारी इन्द्रियाँ प्रगाढ़ तमोगुणकी ओर दौड़ती रहेंगी। हमारे हृदय तमोमय आसुर भावोंसे भरे रहेंगे और हमें कभी भी इस बातका ज्ञान न होगा कि किन कर्मोंसे इस जीवनमें एवं जीवनके पश्चात् परलोकमें यथार्थ कल्याण होना सम्भव है। अतः हमें प्रभुमें दृढ़ आस्था करके गम्भीरतासे विचार करना पड़ेगा और जब हृदयमें भगवान्‌की ज्योति जग उठेगी, तब हमें दीखेगा कि समस्त विश्व प्रभुमें ही स्थित है

एवं विश्वके कण-कणमें प्रभु अवस्थित हैं। ऐसी स्थितिमें अपने-परायेका भेद जाता रहेगा, शत्रु-मित्रकी भावना नष्ट हो जायगी, सर्वत्र एक अखण्ड सत्ता-आत्मसत्ता, भगवत्सत्ता-की ही अनुभूति होगी। उस स्थितिमें प्रत्येक वस्तु हमारे नेत्रोंके सामने भगवान्‌की परम सुन्दर आनन्दमयी लीला बनकर उपस्थित होगी—हमें सदा-सर्वदा भगवान्-का मङ्गलमय स्पर्श प्राप्त होने लगेगा और अपने द्वारा होनेवाले प्रत्येक कर्मसे हम भगवान्‌की सच्ची पूजा करनेमें रत हो जायँगे।

येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः।
संतोषं जनयेत्प्राज्ञस्तदेवेश्वरपूजनम्॥

किसी भी साधनसे किसी भी देहधारीको सुख पहुँचाना भगवत्पूजन है। सभी देहोंमें जीवरूपसे एक ही प्रभु विराज रहे हैं। अतः किसी भी देहधारीको सुख पहुँचाना प्रभुको ही सुख पहुँचाना कहलायेगा और प्रभुको प्रसन्न करनेवाली प्रत्येक क्रियाका नाम ही भगवत्पूजन है। अपने नित्यके व्यवहारमें किसीको किसी प्रकारकी सेवा अथवा सहायता करना ही भगवान्-की सच्ची पूजा है और किसी भी स्थितिका मनुष्य इसे कर सकता है। सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना कार्य करते हुए अपने व्यवहारकी शुद्धतासे अपने समस्त जीवनको भगवत्पूजनका रूप दे सकता है।

ईश्वर हमें शक्ति दे, जिससे हम विषयोंसे विमुख होकर अपना सारा जीवन भगवत्पूजनमय बना लें।

भगवान् कैसे भोजन कराते हैं ?

(लेखक—श्रीनिरञ्जनदासजी धीर)

महाराष्ट्रमें हर एक ग्राममें मन्दिर तथा पथिकशाला होती है, रमते राम साधुओंको वहीं विश्राम मिलता है। श्रीस्वामी रामदास तथा उनके शिष्य रामचरणदास इस यात्रामें प्रातःकाल ही चल देते और जहाँ दोपहर हो जाती, वहीं विश्राम-भोजनके लिये ठहर जाते। एक दिन मध्याह्नके समय जब ग्राम समीप आया तो स्वामी-जीने शिष्यको संकेत किया कि 'भिक्षा नहीं माँगनी है। भोजनका प्रबन्ध विश्वम्भरपर छोड़ो। तुम तो मन्दिरमें बैठकर नाम-जप करो।'

ग्राममें पहुँचे तो वहाँ श्रीविट्ठल भगवान्‌का छोटा-सा मन्दिर था। वहीं बरामदेमें बैठकर दोनों नाम-जप करने लगे। दिनके बारह बजे होंगे। एक दर्शनार्थी मन्दिरमें आया और साधुओंको बैठे देखकर कहने लगा—'यहाँ क्यों बैठे हो, मध्याह्नके भोजनका समय है, ब्राह्मणोंकी बस्तीमें जाकर भिक्षा माँगकर खा लो।' दोनों साधु मौन रहे और वह चला गया। आधा घंटा हो गया, शिष्यको संदेह होने लगा। दस मिनट बीते होंगे कि एक अन्य व्यक्ति आया और पूछने लगा कि 'दोपहरकी भिक्षा हो गयी ?' स्वामीजीने नकारात्मक उत्तर दिया। 'आप भिक्षा कैसे किया करते हैं ?' उसने पूछा। 'जैसी ईश्वरेच्छा हो'—उसको उत्तर मिला। इससे वह प्रभावित हुआ और कहने लगा—

'महाराज ! आपके ईश्वर मुझे आज्ञा देते हैं कि मैं आप दोनोंको अपने घर ले जाकर भिक्षा कराऊँ। किंतु एक कठिनाई है कि मैं जातिका दर्जी हूँ; इसलिये आप मेरे घर भिक्षा करेंगे अथवा नहीं, यह मुझे पता नहीं।'

स्वामीजीने कहा—'साधुओंकी दृष्टिमें आप ईश्वर-स्वरूप हैं, इसलिये उनको कोई आपत्ति नहीं है।' 'मैं अभी आता हूँ'—यह कहकर वह चला गया और थोड़ी ही देरमें रस्सी-बाल्टी लेकर लौट आया। साधुओंको वह एक कुँएपर ले गया और प्रेमसे स्नान करवाया। फिर उनको अपने घर ले गया, वहाँ दर्जीकी धर्मपत्नी और बच्चोंने बड़ी प्रसन्नतासे उनका आदर-सत्कार किया और

बड़े प्रेमसे बढ़िया भोजन कराया। भोजन करके साधु मन्दिर लौट आये और कुछ समय विश्राम करके आगे चल दिये। पथमें स्वामीजीने शिष्यसे पूछा—'तुम्हें यह विश्वास है कि नहीं कि जिसने हमें इतने प्रेमसे भोजन कराया, वह ईश्वर है ?' शिष्य क्या उत्तर देता, वह मौन रहा। वह दिन बीत गया। साधु एक ही समय भोजन करते थे।

दूसरा दिन आया। मध्याह्नके समय वे एक अन्य ग्राममें पहुँच गये। वहाँ भी श्रीबिठोबाके मन्दिरमें उन्होंने आसन लगाया। मध्याह्न बीत गया, एक बजनेको आया। भोजनका कुछ ठिकाना प्रतीत नहीं होता था। शिष्य रामचरणदास अशान्त तथा व्यग्र हो रहा था। वह कहने लगा कि 'स्वामीजी ! श्रीबिठोबा आज तो बड़ी देर कर रहे हैं। मुझे डर लग रहा है कि कहीं हमें भूल तो नहीं गये।'

स्वामीजीने उत्तर दिया—'भोजनका विचार करना छोड़ दो। केवल प्रभु-स्मरण करो। अपनेको प्रभु-इच्छापर छोड़ दो।'

कुछ समय और प्रतीक्षा करनेके पश्चात् जब भोजन नहीं आया, तब रामचरणने कहा कि थोड़ी निद्रा ले लूँ और वह लेट गया। किंतु जब आँतें क्षुधाके कारण कुलकुला रही हों, निद्रा शरण नहीं दिया करती। वह बार-बार चादर उठाकर बाजारकी ओर देख रहा था कि भोजन अब आया—अब आया। दो बजेका समय होगा कि वह झपटकर बैठ गया और चिल्लाया—'स्वामीजी ! स्वामीजी ! बिठोवा आ रहे हैं। वह देखो, बाजारसे हमारी ओर भागे आ रहे हैं।'

स्वामीजीने देखा कि एक श्यामरंगका व्यक्ति बड़ी त्वरासे मन्दिरकी ओर आ रहा है। वह साधुओंके पास आया और पूछने लगा कि 'आपने भिक्षा की है ?' (जैसे उसको पता न हो)। जब उनको उत्तर मिला कि 'नहीं' तो वह चला गया और दो पत्तल भोजन लेकर आ गया और साधुओंके सामने रखकर उसने प्रसाद पानेको कहा। कहनेकी आवश्यकता क्या थी, वे दोनों भोजन करने लगे। उसी समय दस व्यक्तियोंकी एक कीर्तन-मण्डलीने मन्दिरमें प्रवेश किया। उनके पास वीणा, झाँझ तथा मृदङ्ग थे और वे श्रीतुकाराम महाराजके उत्तम-उत्तम अभंग गा रहे थे तथा नृत्य कर रहे थे। इस समय साधु प्रसाद पा रहे थे। इस घटनाका तात्पर्य क्या था ? यही कि श्रीभगवान् केवल स्थूलशरीरको भोजन देकर ही संतुष्ट नहीं हुए, उनके लिये एक विलक्षण आध्यात्मिक भोजकी भी व्यवस्था कर दी। उस करुणावरुणालयकी कृपाका क्या ठिकाना !*

प्रभुका सर्वत्र दर्शन

भई अब मैं बैरागन बौरी, लागी हरि सों डौरी।
छाँड़ी लोकलाज चतुराई, बंसी सुनि उठि दौरी॥
ढूँढ़त ढूँढ़त कान्हा भेंटे, सुख नहिं जात कह्यौ री।
मानपुरी प्रभु परगट देखा, जहँ-तहँ धाय रह्यौ री॥

—संत मानपुरी महाराज

* श्रीस्वामीजीके ग्रन्थ "भगवान्‌के साक्षात्कारमें" के आधारपर।

कामके पत्र

(१)

बंदीजीवनके पौने दो वर्ष

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। यह सत्य है—सन् १९१६ में बंगालकी अंगरेजी सरकारने मुझे गिरफ्तार किया था। एक महीने तो कलकत्तेके डापांडर हाउस और अलीपुर जेलमें रक्खा। फिर मुकदमा न चलाकर 'भारत-रक्षा कानून'के अन्तर्गत मुझे बंगालके बाँकुड़ा जिलेके शिमलापाल नामक एक छोटेसे गाँवमें नजरबंद कर दिया गया। वहाँ मेरे लिये नजरबंदीके कुछ नियम थे, जिनका पालन करना अनिवार्य था—जैसे गाँवके बाहरके किसी भी आदमीसे बिना सरकारी आज्ञाके न मिलना, शिक्षा-सम्बन्धी किसी व्यक्तिसे न मिलना, संध्यासे सुबहतक रात्रिको किसीसे न मिलना, पत्र-व्यवहार पुलिसके मारफत करना आदि। वहाँ मैं पौने दो सालतक रहा। मेरे लिये वह पौने दो वर्षका समय—यह बंदीजीवन भगवान्के कृपापूर्ण वरदानके रूपमें फलित हुआ। इसी एकान्तवासमें मेरी परमार्थसाधना आरम्भ हुई। स्वाध्याय, नाम-जप, ध्यानका अभ्यास बढ़नेके साथ ही उनमें रुचि तथा रतिका उदय हुआ। पौने दो वर्षके बाद राजनीतिमें भाग न लेनेका लिखित वचन न देनेके कारण १८१८ के एक पुराने कानूनके अनुसार चौबीस घंटेके अंदर बंगाल छोड़कर चले जानेका आदेश प्राप्त हुआ। तदनुसार मैं बंगाल छोड़कर राजस्थान होते हुए बम्बई चला गया। यह सत्य है कि पहलेके संस्कार तथा किसी अंशमें कुछ रुचि होनेपर भी जीवनकी वास्तविक परमार्थ-साधनाका श्रीगणेश शिमलापालमें ही हुआ। इसी कारण इसके बाद भी पूर्वाभ्यासवश राजनीतिसे सम्पर्क रहा, पर मनकी रुचि उत्तरोत्तर घटती गयी और क्रमशः (बीच-बीचमें छूटनेपर भी) परमार्थपथपर अग्रसर होनेका—भोगोंसे बचनेका प्रयास सदा जारी ही रहा। बड़े-बड़े प्रलोभन आये—बड़ी भारी धन-सम्पत्तिके, ऊँची-से-ऊँची उपाधियोंके तथा देश-सेवाके क्षेत्रमें महत्त्वपूर्ण स्थानोंके, साधनाके क्षेत्रमें भी गुरु-पद ग्रहण करने आदिके बड़े मोहक मधुर प्रलोभन आये; पर भगवान्‌की कृपाने सारे प्रलोभनोंसे बचाया—ऐसी रक्षा की जैसे मातृ-परायण अबोध शिशुकी रक्षा स्नेहमयी सावधान माँ करती है। मैं भटक जाता, यदि मुझे भगवान्‌की कृपा बार-बार रोककर न बचाती। आज मैं सर्वथा साधनहीन होनेपर भी इतना तो कह ही सकता हूँ कि भगवान्‌की अनन्त अपार अहैतुकी कृपाकी सुधाधारा निरन्तर मुझपर बरसती रही है और वह अब भी बरस रही है। मेरे अंदर निरन्तर प्रवेश करके मेरे सारे कलुष—समस्त विषको निर्मूल करती रही है और अब भी मेरे अंदर एक भी विष-बीजका वपन नहीं होने दे रही है। मैं कहीं कभी किसी कारणवश विषय-विष-बीजको ग्रहण करना चाहूँ भी तो वह नहीं लेने देती, दूरसे ही छीनकर झटक देती है और कभी कोई लेशमात्र आ जाता है तो उसे अपनी अमृत-धारासे सींचकर तुरंत अमृतके रूपमें परिणत कर देती है। मेरा तो सचमुच एकमात्र सम्बल यह अनन्त अहैतुकी भगवत्कृपा ही है।

आपने विस्तारसे उस जीवनकी तथा उसके बादके बदले हुए साधक-जीवनकी बातें लिखनेका आग्रह किया है, यह आपकी कृपा है। पर ये सब बातें लिखनेमें कोई औचित्य नहीं जान पड़ता। सब बातें लिखनेकी होतीं भी नहीं। इसलिये मैं क्षमा चाहता हूँ; केवल इतना ही कह सकता हूँ, उस समय मेरी रुचि और मेरे जीवनकी गति देशभक्तिकी प्रेरणासे राजनीतिकी ओर थी। हिंसात्मक क्रान्तिको भी मैं आवश्यक तथा उचित

मानता था । मनमें कामना थी, अभिमान था, अन्यान्य दोष भी थे । अवश्य ही उस समयका राजनीतिक जगत् अधिकांशमें विशुद्ध त्यागमय होनेके कारण ये दोष भी वर्तमान राजनीतिक जगत्की स्थितिको देखते—(साधनदृष्टिसे त्याज्य दोष होनेपर भी) सांघातिक दोष नहीं, वरं गुण-रूप ही थे; इस समय भगवत्कृपासे मैं ऐसी चेष्टा करता हूँ कि जिससे मैं सर्वथा निरभिमान रहकर अपनेको सदा-सर्वदा भगवान्‌के हाथका यन्त्र अनुभव करता रहूँ ।—बस इतना ही !

आपका—

(२)

आत्मा नहीं मरता, जीव ही जन्मता-मरता दीखता है

प्रिय महोदय ! सादर हरिस्मरण । आपका कृपा-पत्र मिला । उत्तरमें निवेदन है—जैसे एक अनन्त आकाश है; वह कभी टूटता नहीं, नया बनता नहीं । स्वरूपतः उसमें कुछ नहीं होता । पर उसी आकाशसे जैसे अनन्त नगर-ग्राम बसे हैं, उन नगरों, ग्रामोंमें असंख्य भवन बने हैं, प्रत्येक भवनमें अलग-अलग विभिन्न नाम तथा आकारवाले कमरे-कोठरी आदि बने हैं । उन कमरे, कोठरीकी दीवालोंसे घिरे हुए जितने आकाशके अंश हैं, वे एक महान् आकाशकी दृष्टिसे नित्य आकाशस्वरूप ही हैं । पर दीवालके घेरेसे उतने अंशका नाम (जैसे मन्दिर, रसोईघर, पूजागृह, पाखाना आदि) तथा लंबाई-चौड़ाईका आकार-रूप बन गया है और समय-समयपर वे दीवालें टूटती हैं, नयी बनती हैं । कमरोंके नाम बदल जाते हैं । वास्तवमें इतना सब होनेपर भी महान् आकाश सदा स्वरूपस्थित तथा निर्लेप है । इसी प्रकार स्वरूपतः एक ही आत्मा सर्वत्र व्याप्त है । वह शस्त्रोंसे कटता नहीं, आगसे जलता नहीं, जलसे भीगता नहीं, वायुसे सूखता नहीं । वह सदा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य है, वही नित्य है; सर्वगत है, घन है, अचल है, सनातन है ।

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
> न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥
> अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
> नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥
> (गीता २ । २३-२४)

पर उसीमें प्रकृतिके संयोगसे नानात्व आ जाता है और जबतक आत्माका जितना जो अंश प्रकृतिस्थ रहता है, तबतक उसकी 'जीव' संज्ञा है और तबतक वह प्रकृतिके गुणोंको भोगता है और मरता तथा अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेता हुआ दिखायी पड़ता है ।

> पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
> कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥
> (गीता १३ । २१)

यहाँ तत्त्वतः आत्मा नित्य, असङ्ग, निर्लेप, जन्म-मृत्यु-रहित होते हुए ही प्रकृतिके संयोगसे जन्म-मरणयुक्त देखा जाता है । पर मान लीजिये—किसी कमरेके अंदरका दीवालसे घिरा आकाश यह अनुभव करे कि "मैं तो महान् आकाश हूँ । ये सारे कमरे, कोठरी मुझमें ही बने हैं, इनकी पुरानी दीवालें टूटती, नयी बनती हैं । मैं अपनेको दीवालसे घिरा अंश होनेके कारण अबतक छोटा-सा कमरा मानता था और कमरेके नाम-रूपमें अहंकार करता था, इसीसे सुखी-दुखी होता था । अब मैं प्रकृतिके इस कल्पित संयोगका त्याग करके कल्पित नामरूपसे सम्बन्ध-रहित हो गया । प्रकृतिस्थ—प्रकृतिमें स्थित न रहकर स्व—आत्मामें अपने आत्मस्वरूप-में स्थित हो गया । अतः मेरे लिये अब सुख-दुःख समान हो गये । सोना, लोहा, पत्थर—समान हो गये; क्योंकि मैं अब 'स्व-स्थ' हो गया ।" ऐसा मानते ही क्षुद्र नामरूपात्मक व्यष्टि अहंकारसे निकलकर एक समष्टि-परमात्मामें स्थित होते ही, वह मुक्त हो जाता है ।

यही जीवन्मुक्ति है। मुक्ति तो पहले भी थी। मिथ्या मोह था। अब वह मोह नहीं रहा।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।

इस प्रकार आत्मा एक है, जन्म-मरणरहित है, सुख-दुःख-शून्य है; पर प्रकृति-संयोगसे जीव अनन्त हैं। जीवमें असत् होनेपर भी सुख-दुःख-भोग तथा जन्म-मरणकी प्रतीति प्रत्यक्ष अनुभवरूपसे होती है और जबतक वह जीवरूप रहेगा, तबतक होती ही रहेगी। आशा है, इससे आपकी शङ्काका समाधान हो गया होगा। शेष भगवत्कृपा।

(३)

उच्च गति प्राप्त करनेके साधन

सम्मान्य श्रीशर्माजी, सादर प्रणाम। आपका पत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि मनुष्यके लिये गिरना सहज है, चढ़ना कठिन है। जरा-सा पैर फिसला कि गिरा; पर चढ़नेमें प्रयास करना पड़ता है। वर्तमानमें तो सब ओर कुसङ्ग-ही-कुसङ्ग है। हाथ-पकड़कर बचानेवाले, रक्षा करनेवाले, चढ़नेमें सहायता करनेवाले पुरुषोंका—ऐसे वातावरणका मिलना प्रायः कठिन हो गया है। इस अवस्थामें मनुष्यका पतन हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। पर इस समय भी जो सावधान तथा सचेष्ट हैं तथा जिन्होंने किसी अमोघ शरण्य शक्तिका आश्रय ले रक्खा है, वह गिरनेसे बचकर ऊँचे-पर चढ़ सकता है, अनायास ही ऊर्ध्व गतिको प्राप्त हो सकता है। इसके लिये करना यह है—

१—निकम्मा न रहकर काममें लगे रहना—काम भी ऐसा हो, जो बुरे विचारोंको उत्पन्न करनेवाला, बढ़ानेवाला न हो, और दबे बुरे विचारोंको उभाड़नेवाला न हो।

२—यथासाध्य आँख, कान, नासिका, जिह्वा और त्वक्—इन सभी इन्द्रियोंको तथा मनको सत्—भगवान्‌के साथ जोड़े रखनेका प्रयत्न करना। इनके द्वारा असत्—गिरानेवाले विषयोंका सेवन कभी न करना।

३—प्रतिदिन सद्विचारोंके उदय, संरक्षण तथा संवर्धनके लिये सत्सङ्ग या सद्ग्रन्थोंका श्रद्धापूर्वक अध्ययन करना।

४—भगवान्‌के किसी भी नामका जप और यथा-साध्य स्मरण सदा करते रहना।

५—भगवान्‌की अमोघ तथा अहैतुकी अनन्त कृपापर परम तथा अटल विश्वास रखना।

६—जहाँतक बने, किसीसे द्वेष न करना, किसीका बुरा न चाहना, न करना। दूसरेके हितकी बात सोचना-करना, मित्रभावसे बर्ताव करना। दुखी प्राणियोंके दुःखसे निरन्तर करुणाद्रवित रहना। अपराध करने-वालोंका भी मङ्गल चाहना और वे संतस्वभावके बन जायँ, ऐसी सद्भावना तथा भगवान्‌से प्रार्थना करना। दूसरोंकी निन्दा न करना।

७—अपने पास जो कुछ भी है, सब भगवान्‌की वस्तु समझकर अभावग्रस्त प्राणिमात्रकी सेवामें निरभिमान होकर यथायोग्य लगाते रहना।

८—भगवान् सर्वशक्तिमान् सर्वलोकमहेश्वर होते हुए ही मेरे परम सुहृद् हैं, यह मानकर उनके अनन्य शरण होना। मेरा ऐसा अनुभव है कि उपर्युक्त साधनोंमें कुछका भी सेवन करनेपर मनुष्य सहज ही उच्चस्तरपर पहुँच सकता है। याद रखना चाहिये—भगवद्भाव तथा दैवीसम्पदासे युक्त होना ही उच्चस्तरपर चढ़ना है। धन-अधिकार प्राप्त होना—यहाँतक कि इन्द्रपदका प्राप्त होना भी उच्चस्तरपर चढ़ना नहीं है। उच्चस्तरपर पहुँचा मनुष्य ही मानव-जीवनके परम उत्कर्षस्वरूप मुक्ति—भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेमकी प्राप्तिका अधिकारी होता है और अन्तमें उसे प्राप्त करके कृतार्थ हो जाता है। शेष भगवत्कृपा।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

ईश्वर-विश्वास और उसका फल

घटना लगभग दो वर्ष पुरानी है। मैं राजस्थानके एक प्रमुख नगरके एक विद्यालयमें अध्यापन कार्य करता हूँ एवं घटनाके समय भी यही पवित्र कार्य कर रहा था। मैं एक ग्रामका रहनेवाला ब्राह्मण युवक हूँ। मेरे पूज्य पिताजीका स्वर्गवास मेरी शिशु अवस्थामें ही हो गया था; अतः ग्राममें कक्षा आठ तककी पढ़ाई समाप्त करनेके पश्चात् आगेकी पढ़ाईकी मुझे बड़ी चिन्ता रहती थी।

उन दिनों उक्त नगरसे एक सज्जन एक पड़ौसी ग्रामकी वसूली करने जाया करते थे। ये उक्त नगरके ही रहनेवाले थे। वह ग्राम एक ठिकानेके अधीन था और उस ठिकानेसे हमारा भी सम्बन्ध रहता आया है। अतः मेरा उनसे परिचय हो गया। मैंने देखा कि वे सज्जन न कभी किसी मन्दिरमें जाते, न कभी तीर्थपर जाते, न कभी कोई व्रत करते; परंतु गरीबोंकी सेवाके लिये तो उनके तन-मन एवं धन—तीनों ही सदा तैयार रहते थे।

जब मैंने अपनी आगेकी पढ़ाईकी पीड़ा उनसे कही, तब उन्होंने मुझे बहुत ही सान्त्वना देकर कहा—'तुम अपने ग्रामके विद्यालयका अध्ययन समाप्तकर मेरे पास नगरमें चले आना, मैं तुम्हारे आगेके अध्ययनके लिये सब समुचित व्यवस्था कर दूँगा।' कुछ दिनों बाद जब मैंने अपने ग्रामके विद्यालयका अध्ययन समाप्त कर दिया, तब नगरमें मैं उनके पास आ गया। उन्होंने मेरी सब प्रकारकी समुचित व्यवस्था कर दी, जिससे उनकी कृपा एवं प्रेरणासे मैंने बी० ए० तक अध्ययन पूरा कर लिया एवं स्वेच्छासे अध्यापन-कार्य करने लगा।

मैं मन-ही-मन अपनेको उनके इस कृपाप्रसादका बहुत ऋणी मानता था तथा सोचता रहता था कि मैं कब किस रूपमें इस उपकारका किंचित् भी बदला चुकाकर आत्मसंतोष प्राप्त करूँ। पर ऐसा कोई अवसर ही उन्होंने नहीं आने दिया। उन्होंने केवल मेरी ही पढ़ाईकी व्यवस्था की हो सो नहीं; न जाने कितने गरीब छात्रोंको पढ़ानेकी व्यवस्था वे करते रहते थे एवं अब ठिकानेसे पेंशन होनेपर भी वे वैसे ही गरीबोंकी सेवा करते रहते हैं।

अबसे दो वर्ष पहले वे सज्जन प्रातःकाल मेरे निवासस्थानपर आये और मुझे अपने घर लिवा ले गये। घर ले जाकर उन्होंने मुझसे कहा—'भैया! मेरा एक बहुत जरूरी कार्य है, जिसे तुम्हीं कर सकते हो, और कोई नहीं। बताओ, तुम करनेके लिये तैयार हो या नहीं?' मैं उनकी बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ तथा मैंने सहर्ष उनका कार्य करनेकी स्वीकृति दे दी। मैं तो था ही इसी प्रतीक्षामें।

मेरी स्वीकृति प्राप्तकर उन्होंने मुझसे कहा—'तुमको मेरी ओरसे एक मुकदमेमें झूठी गवाही देनी है।' झूठी गवाहीका नाम सुनते ही मैं तो सन्न रह गया। मेरी मुखाकृति देखकर वे सज्जन मेरी बातको भाँप गये एवं कहने लगे कि 'घबरानेकी कोई बात नहीं है; मुझ-पर जो मुकदमा दायर किया गया है, वह भी झूठा है। वास्तवमें उनके विरुद्ध दायर किया गया दावा सर्वथा झूठा था। परंतु मेरे सामने प्रश्न उनके मुकदमे-का नहीं, मेरा स्वयं अपना था। मैं झूठी गवाही कैसे दूँ? मेरे पैर खिसक-से रहे थे। पृथ्वी फिर-सी रही थी। उन्होंने मुझे बहुत समझा-बुझाकर वकीलका पता बताया तथा सायंकाल सात बजे वहाँ पहुँच जानेके लिये कहा।

अब तो मेरा चित्त उड़-सा रहा था। खाना-पीना कुछ नहीं सुहाता था। कोई उपाय दृष्टिगत नहीं हो रहा था। घरमें जब धर्मपत्नीको उक्त घटनाके बारेमें कहा, तब उसने भी यही कहा कि 'मेरा निर्णय अविवेकपूर्ण रहा।' परंतु मैं तो पूर्ण दृढ़ताके साथ स्वीकृति दे चुका था।

बचपनसे ही मैं बहुत अधिक ईश्वरविश्वासी हूँ और आपत्ति-कालमें तो करुणासागर ही अकारण करुणा करते हैं। 'झूठी गवाही हे ईश्वर! मैं कैसे दे पाऊँगा? आप मेरी रक्षा कीजिये और मुझे इस झूठे चक्करसे बचाइये।' सायंकाल निश्चित समयपर मैं वकीलके घर पहुँचा, वे सज्जन वहाँ पहलेसे ही बैठे थे। मेरे जाते ही वकील महोदयने मेरे नाम तथा व्यवसायके बारेमें पूछा।

मेरे सब कुछ बता देनेके पश्चात् वकील साहबने उस लिस्टको देखा, जिसमें उन सज्जनकी ओरसे कोर्टद्वारा स्वीकृत गवाहोंके नाम थे। उन नामोंमें मेरा नाम नहीं था। अतः वकील साहबने कहा—'साहब! गवाहोंकी सूचीमें इनका तो नाम ही नहीं है, इनकी गवाही कैसे हो सकेगी?' इस तथ्यको सुनकर मैं मन-ही-मन ईश्वरको बार-बार धन्यवाद देने लगा। परंतु उक्त सज्जनने कहा कि विरोधियोंने भी तो बिना सूचीमें नामके गवाही करवायी है। इसपर वकील साहबने कहा कि 'उन्होंने आपकी स्वीकृति ले ली थी।' इस विषयपर उन दोनोंमें कुछ कहा-सुनी-सी हुई। फिर उन सज्जनने कहा कि 'वकील साहब! मेरा चाहे जो कुछ खर्च हो जाय, इनकी गवाही होना तो नितान्त आवश्यक है।' मेरे सामने पुनः विपत्तिका पहाड़ आ खड़ा हुआ। उन दोनोंने अलग जाकर कुछ बातचीत की। इसके पश्चात् वकील साहबने एक छोटा-सा मजमून बना दिया एवं सारी स्थिति संक्षिप्तरूपसे मुझे बता दी। मुझसे यह भी कह दिया गया कि 'इस मजमूनके अनुसार ही तुम्हें सब कुछ कहना है।' मैं उस संकटपूर्ण मजमूनको लेकर लौट आया।

तीन दिन पश्चात् मुझे गवाही देनी थी। मेरा खाना-पीना-सोना सब हराम हो रहा था। मैं अपने इष्टदेव अकारण करुणासागर भगवान् गोविन्दसे प्रार्थना कर रहा था कि 'मुझे आप ही इस संकटसे बचा सकते हैं।' मैंने गवाहीके एक दिन पहले उक्त सज्जनसे कहा कि 'गवाहीवाले दिन मैं ग्यारह एवं बारहके बीच अदालतमें उपस्थित नहीं हो सकूँगा; क्योंकि उस दिन हमारा निरीक्षकके द्वारा निरीक्षण होगा।' उन्होंने कहा कि 'वकील साहबसे कहकर तुम्हारी गवाहीका समय तीन बजे बाद रखवा दूँगा।' मैं अपने सब प्रयत्नोंमें असफल हो रहा था तथा 'हाँ' करनेके पश्चात् मना करना भी मुझसे नहीं बन पा रहा था।

आखिर वह दिन भी आ ही पहुँचा, जिस दिन मुझे झूठी गवाही देनी थी। ईश्वरके ऊपरसे विश्वास हटता-सा जा रहा था। द्रौपदी, गजराजकी घटनाओंको मैं महत्त्वहीन-सा समझ रहा था। कभी तो मैं अपनी नासमझीपर झल्लाता था और कभी ईश्वरपर। खैर, तीन बजे मैं कोर्ट पहुँच गया। वे सज्जन दरवाजेपर ही खड़े-खड़े मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मुझे देखते ही वे प्रसन्न हो उठे तथा उन्होंने स्वयं मेरी साइकिलको लेकर साइकिल-स्टैंडपर जमा करवा दिया। तदनन्तर वे मुझे तुरंत न्यायाधीशके सामने ले गये।

न्यायमूर्तिके कमरेके बाहर मुझे खड़ा करके वे इसकी सूचना न्यायाधीशको देने गये। मैंने देखा कि वे सज्जन भी अंदर ही खड़े हैं, जिनके विपक्षमें मुझे बयान देने थे। मैं पानी-पानी हो रहा था तथा मन-ही-मन ईश्वरको बुरा-भला न जाने क्या-क्या कह रहा था। मैं ऐसी संज्ञा-शून्य स्थितिमें हो रहा था कि गवाही देनेमें भी असमर्थता प्रकट होती जा रही थी। परंतु यहाँ जो रोमाञ्चकारी आश्चर्य-घटना घटी, उसको मैं किस प्रकार लिपिबद्ध करूँ? उक्त सज्जनने जब न्यायमूर्तिको जाकर यह संदेश दिया कि 'मेरा गवाह हाजिर है' तब न्यायमूर्तिने यह कहकर मेरी गवाही लेनेसे इन्कार कर दिया कि 'अब आपके और गवाहोंके गवाहीकी आवश्यकता नहीं रही, आपके एक गवाहके बयान ही तथ्यपूर्ण हो चुके हैं।'

मैंने बाहर खड़े न्यायाधीशकी यह बात सुनी तो मन-ही-मन प्रसन्न हुआ तथा अपने उन प्यारे प्रभुसे क्षमायाचना करने लगा, जिनको न जाने मैंने क्या-क्या कहकर कोसा था। उक्त सज्जनने बाहर आकर कहा कि अबतक तो न्यायाधीश बार-बार यह कह रहे थे कि 'तुम्हारे गवाहको बुलाओ, तुम्हारे गवाहको बुलाओ' और अब वे ही मना करने लगे। मैं उनको नमस्कार करके चला आया। साइकिल उठायी तथा एकान्तमें जाकर बहुत रोया। दयासागरसे क्षमा करनेकी प्रार्थना की तथा दृढ़ विश्वासपूर्वक आगेके लिये सचेत हो गया।

धन्य हो दीनदयाल! जो आप मेरी तुच्छ विनती सुनकर न्यायाधीशमें आ बसे। आपकी लीला आप ही जानें।

हरिलाल शर्मा
स० अ० श्रीमाहेश्वरी उच्च विद्यालय, जयपुर (राजस्थान)

(२)

श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं ।

बहुत पुरानी बात नहीं है । एक साधक थे । उनका ऐसा स्वभाव बन गया था कि वे या तो भगवान्‌के लीला-गुणका श्रवण-स्मरण करके भावनिमग्न हुए आँसू बहाया करते या समाधिस्थ हो जाते थे । भगवान्‌के सिवा कुछ भी सुननेको उनका मन तथा उनके कान सदाके लिये सर्वथा इन्कार कर चुके थे । जो सुनना ही नहीं चाहता, वह स्वयं वाणीसे बोलकर चर्चा तो क्या करेगा । अतएव यह देखा गया कि वे जब होशमें रहते—स्नान, नित्यकर्म, भोजनादि तथा किसी समय कुछ अन्य कार्य भी करते, तब सहज ही या तो कोई ऐसे सज्जन उस समय उनके पास रहते, जो लीला-गुण सुनाया करते या मन-ही-मन वे स्वयं स्मरण करके गुनगुनाया करते। शेष समय वे प्रायः समाधिस्थ रहते । आश्चर्यकी बात तो यह थी कि वे कभी-कभी बड़ी-बड़ी जिम्मेवारीके कार्य करते भी देखे जाते थे; पर उस समय भी उनका स्मरण-कार्य एक क्षणके लिये भी नहीं रुकता था—मानो श्रीमद्भगवद्गीतोक्त **'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर'** भगवान्‌की इस आज्ञाके वे सजीव मूर्तिमान् स्वरूप थे ।

उन्होंने एक बार लिखकर बताया था कि उन्होंने भगवत्कृपाके आश्रयपर बहुत पहले—लगभग सोलह वर्षकी अवस्थामें ही किसीकी निन्दा न सुननेकी प्रतिज्ञा कर ली थी और भगवान्‌से यह प्रार्थना की थी कि 'कानमें यदि किसीकी निन्दाका शब्द चला जाय तो उसी समय मेरे प्राण निकल जायँ ।' इसका यह फल हुआ कि प्राण तो नहीं निकले, पर कभी किसीकी निन्दाका शब्द उनके कानमें पड़ जाता—यद्यपि ऐसे अवसर बहुत कम ही आये—तो उनके सारे शरीरमें भयानक जलन हो जाती—अग्नि-सी लग जाती, जिसका सहन करना असम्भव हो जाता। इसी समय अकस्मात् किसी भी सूत्रसे अप्रत्याशित रूपसे किसीके द्वारा भगवान्‌के लीला-नाम-गुण सुनायी देने लगते, तब जलन शान्त होती ।

इसके बाद यह इच्छा उत्पन्न हुई और इसके लिये भी भगवान्‌से विश्वासपूर्वक प्रार्थना की गयी कि 'जबतक जीवन रहे, प्रातःकाल उठनेसे लेकर रातको निद्राग्रस्त होनेके समयतक भगवान्‌के लीला-गुणोंका श्रवण-स्मरण अनवरतरूपसे होता रहे; एक क्षण भी ऐसा न हो और समाधि भी न हो जाय तो प्राण निकल जायँ । इसका मङ्गल परिणाम यह हुआ कि प्राण तो नहीं निकले, पर शरीरमें वैसी ही जलन होने लगी, जैसी परनिन्दाका शब्द कानमें पड़नेपर होती थी। पर यह बात बहुत दिनोंतक रही नहीं । श्रवण-स्मरण निरन्तर होने लगा और उसके छूटते ही सहज ही समाधि होने लगी। उन्होंने बताया था कि "यह सब भगवान्‌की कृपासे ही हुआ। अवश्य ही मेरी इच्छा अनन्य तथा तीव्र थी और भगवत्कृपासे ही भगवत्कृपा-पर मेरा विश्वास था—'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती ।"

यह देखा गया कि भगवत्कृपासे मृत्युके समयतक उनका श्रवण-स्मरण चालू रहा । मृत्युसे दस घंटे पहले उनकी समाधि हो गयी थी। तीन घंटे पहले समाधि टूटी और वे स्वयं लीला-गुण-स्मरण करते हुए स्पष्ट गुनगुनाने लगे । लोग लीला-गुण सुना भी रहे थे । धन्य !

—हरिशंकर अग्रवाल

(३)

पुराना कोट

जेठाके पास सचमुच ओढ़नेके लिये कुछ भी नहीं था । पुराने चिथड़ोंमें कारी लगाकर पति-पत्नी तथा दोनों बच्चे गुजारा करते थे । माणेक कभी नहाती हो, कपड़ा धोती हो या सिरमें तेल डालती हो, इसमें मुझे संदेह ही था । जेठा मेरे पास कपड़ा माँग रहा था, इसी समय माणेक भी बच्चोंको लेकर वहाँ आ गयी—उसने कदाचित् सोचा होगा कि अकेला जेठा अपनी दुःख-दर्दभरी हालतका पूरा बयान शायद न कर सकेगा । इसके शरीरसे बदबू निकल रही थी । मेरी नाक उसे सह न सकी और उसके पाससे तुरंत निकल भागनेकी मैंने कोशिश की । इसके लिये मैंने कहा—'अच्छी बात है, कल घर लौटते समय मिलना ।'

अकालके दिनोंमें जेठा मिट्टी खोदता था—पति-पत्नी दोनों मिलकर मिट्टी खोदनेका काम करते थे। जेठा पहलेसे ही मेहनती था, अपनी शक्तिभर काम करता था। पर दिनभर सख्त मेहनत करनेपर भी किसी दिन भी डेढ़ रुपयेसे ज्यादा वह नहीं कमा सका। किसी-किसी दिन तो और भी कम मिलता। चार जीव और इतनी-सी कमाई और बाजारमें एक कीलो मकईका भाव एक रुपये बारह पैसेसे लेकर सवा रुपयेतक था। ऐसी हालतमें वे भूखे रहकर जाड़ेमें एक धावला भी कैसे खरीद सकते ?

मैंने निश्चय कर रक्खा था कि चारोंको कपड़ा देना है। मनमें था कि जेठाको विलायतसे आया हुआ एक कोट देना चाहिये। दिनमें पहनेगा और रातको सोते समय ओढ़ भी लेगा।

संध्याको सब आये। मैंने जेठासे पूछा—'क्यों, यह कोट चाहिये न ? पुराना है पर है, बहुत बढ़िया।'

'यह तो आपके लायक है, सेठ !' उसने कहा। तब मैंने उसको समझाया—'नहीं जेठा ! अकालकी बात सुनकर विलायतसे अंगरेजोंने बहुत कपड़े भेजे हैं। उन्होंने जो कपड़े अपने शरीरोंपर पहन रक्खे थे, उन्हींको उतारकर भेज दिया है। यह कोट किसी अमीर अँगरेजका लगता है। लंबा कोट है, अतः रातको भी काम आ जायगा।'

'जैसी आपकी मरजी।' लंबी साँस छोड़ते हुए उसने कहा। 'क्यों, नहीं पसंद है ?' मैंने तुरंत पूछा।

'गरीबकी पसंदगी कैसी ? परंतु आजतक कभी किसीके पहनकर उतारे हुए कपड़े पहननेका अवसर नहीं आया था। मेरे नन्हेसे खेत तथा कुदालकी कमाईसे पेट भरता और शरीर भी ढक जाता। लेकिन समय सब कुछ करवाता है। गरीब होनेपर भी कभी हाथ लंबा करनेका मौका नहीं आया था।' जेठाकी बातोंमें वेदना थी।

'समय अपना काम करता है।' मैंने उसको हिम्मत देते हुए कहा। इस बीच माणेक खड़ी-खड़ी कपड़ोंके ढेरको एकटक देख रही थी।

'हाँ, सेठ ! समय अपना काम करता ही जाता है; परंतु मिट्टीके साथ काम करनेका मेरा समय नहीं बदलेगा, मुझे ऐसा लगता है।'

सर्दीके दिन होनेके कारण सूर्य पहाड़के नीचे चला जा रहा था। जेठाके हाथोंपर मैंने कोट रख दिया। बम्बईकी सहायता-समितिके द्वारा मिली हुई एक साड़ी मैंने माणेकको दी और बच्चोंको एक-एक बुशशर्ट पहनाया। ऐसा करके मैंने दयाके सुखका अनुभव किया। माणेक प्रसन्न हो गयी। मैंने देखा कि जेठा जाते-जाते कोटको बार-बार ऊँचा उठाकर देख रहा था और माणेकको कुछ कह रहा था।

जेठा चला गया। परंतु मेरा मन मुझे बार-बार कहने लगा—अँगरेजका पहना हुआ पुराना कोट—हाँ-हाँ पहना हुआ, उतारा हुआ। मुझे याद आया—जब मैं आठ वर्षका था, तब सन् १९२१में विदेशी कपड़ोंकी होलीमें मैंने माँसे माँगकर नीले रंगका एक बढ़िया कमीज दे दिया था और जब वह कमीज अग्निमें भस्मीभूत हो गया, तब मैंने दौड़ते हुए घर जाकर माँसे कहा था—'माँ ! कमीज जल गया, अब मैं विलायती कपड़ा नहीं सिलाऊँगा।' वही मैं आज किसी अंग्रेजका पहना हुआ पुराना कोट वितरण कर रहा हूँ और वह भी किसको ? स्वाभिमान और कुदालके मालिक जेठाको ! और अभी तो कितने कुदालवाले बाकी हैं, जिनके हाथ ऐसे कोटके लिये लंबे किये ही रह जायँगे। अंग्रेजोंके जानेके बीस वर्ष बाद भी उनका पहना हुआ पुराना कोट !

—'अखण्ड आनन्द'

(४)

कुसङ्गसे पतन और सद्व्यवहारसे सुधार

हमारे पड़ोसमें एक ब्राह्मणपरिवार रहता था। माता-पिता पुराने विचारोंके धर्मभीरु सनातनी थे, परंतु उनके दोनों लड़के हालकी हवामें उड़नेवाले थे। बात यह हुई कि ब्राह्मण देवताके एक यजमान थे धनी। उनके मनमें सद्भावना जागी, उन्हें दया आयी और उन्होंने

ब्राह्मणके दोनों पुत्रोंको उच्च शिक्षा दिलाकर सम्पन्न-सुखी बनानेका निश्चय किया। ब्राह्मण देवताने कहा भी कि 'इन्हें संस्कृत पढ़ाकर संध्या सिखानी है और सनातन धर्मके रहस्योंको जाननेवाले सदाचारी पण्डित बनाना है। ब्राह्मणके लिये धनका कोई महत्त्व नहीं है। हमारा संतोष, सदाचार तथा सादगीभरी गरीबी ही हमारी शोभा है; क्योंकि हमें उसमें संतोष है और हम किसी भी अभावकी पीड़ासे दुखी नहीं हैं।' किंतु यजमानके मनमें पण्डितजीकी गरीबी खलती थी। वे उनके संतोषका मूल्य तथा महत्त्व नहीं समझते थे। उन्हें यह पता नहीं था कि असंतोषी धनी भी बहुत दुखी रहता है। उनकी नीयत अच्छी थी। अतएव उन्होंने अनुनय-विनय करके पण्डितजीको समझा दिया। पण्डितजी तर्कसे समझे तो नहीं, परंतु यजमानकी हितैषिताके सामने कुछ बोल नहीं सके। यजमानने यह सोचकर कि लड़के घर रहेंगे तो उनका विकास नहीं होगा, उनके रहने तथा खाने-पीनेकी व्यवस्था स्कूली पढ़ाईसे लेकर कालेज तक बोर्डिंगमें कर दी। यजमान कुसङ्गके दुष्परिणामकी बात भूले हुए थे। अस्तु,

लड़के सदाचारी ब्राह्मणका घर छोड़कर उच्छृङ्खलता-भरे छात्रावासोंमें रहकर शास्त्रज्ञानसे तो वञ्चित रहे ही, क्रमशः असदाचारी, अभक्ष्यभोजी, धर्म तथा भगवान्में अविश्वासी, यथेच्छाचारी, उच्छृङ्खल बनने लगे। उनको अब माता-पिताके प्रति उदासीनता, घरकी जीवन-पद्धतिसे घृणा, धर्मसे द्वेष तथा ब्राह्मणोचित वेश-भूषा, खान-पान, आचार-विचारमें असभ्यता दिखलायी देने लगी। वे कोट-पतलून पहनने और टाई लगाने लगे। माता-पिताका परिहास तथा उनकी उपेक्षा तो उनका स्वभाव ही बन गया। इसी बीच यजमान महोदयका देहावसान हो गया। ये दोनों भाई एक शराबके कारखानेमें तथा दूसरे एक बड़े होटलमें मैनेजर हो गये। उनके जीवनमें उच्छृङ्खलता-के साथ ही असंतोष था, दुःख था। वे दिन-रात मानसिक अभावोंकी आगमें जलते थे। माता-पिताको बड़ा दुःख था, पर वे बेचारे निरुपाय थे। उनके सारे प्रयत्न असफल हो चुके थे। सङ्ग-दोषसे वे दोनों शिकारके व्यसनी हो गये। जब अवकाश मिलता या कोई शिकारी पार्टी आती, तब जरूर निर्दोष पशु-पक्षियोंकी हत्या करने जाते; पता नहीं कितने प्राणियोंका इन्होंने वध किया होगा। पर भगवान्की लीला विचित्र है।

इनके एक ममेरे भाई थे—शशिकान्त द्विवेदी। उन्होंने एम्० ए० पास किया था। परंतु बचपनसे ही वे अपने सदाचारी, कट्टर निरामिष-भोजी, ब्राह्मणोचित व्यवहार एवं दृढ़ निष्ठावाले पिताकी सेवामें रहे। पिताने आरम्भसे ही इन्हें सदाचार, शास्त्र-निष्ठाकी शिक्षा दी। घरमें ही पढ़ाया। भाग्यसे उन्हींके एक सम्बन्धी दृढ धर्मात्मा आचार्य इन्हें मिल गये। अतएव वे अंग्रेजीमें एम्० ए० होकर भी सदाचारी रहे और ब्राह्मणोचित व्यवहारसे तनिक भी विचलित नहीं हुए। पता नहीं क्यों एक दिन उनके मनमें अपने फुफेरे भाइयोंसे मिलनेकी तीव्र इच्छा हो गयी और उस समय उनके घर पहुँचे, जब दोनों भाई बंदूकें लेकर शिकारको जा रहे थे। शशिकान्तको आते देखकर कुछ देर ठहर गये। शशिकान्तने उनकी चालढाल, वेश-भूषा, बोल-चाल तथा कार्यकलापसे उनकी स्थितिको समझ लिया। शशिकान्तके मनमें दया और प्रीतिका उदय हो आया। उन्होंने मन-ही-मन निश्चय किया, इन्हें कुमार्गसे हटाकर ठीक राहपर लानेका। उन्होंने प्रेम तथा सद्व्यवहारका साधन अपनाया। उनके दोषोंकी चर्चा नहीं की और बड़े स्नेहसे मधुर शब्दोंमें यह कहकर चलने लगे कि 'आज तो तुमलोगोंको जानेकी जल्दी है। भैया, मैं फिर आऊँगा। तुमलोगोंसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। तुमलोगोंसे बहुत दिन बाद मिला। सचमुच तुम-लोग मुझे बड़े प्यारे लगते हो। अब तो तुमसे बार-बार मिलूँगा।' वे भी मधुर शब्द सुनकर मुग्ध-से हो गये। बोले—'भैया! तुम्हें आपत्ति न हो तो हमारे साथ चलो। देखना, शिकार कैसे खेला जाता है।' शशि-कान्तने कहा—'तुम्हारे साथ जानेमें तो मुझे प्रसन्नता

है; परंतु भैया, मैं कायर हृदयका आदमी हूँ। मुझसे किसीके द्वारा किसी भी प्राणीका मारा जाना देखा नहीं जाता। शायद मैं बेहोश हो जाऊँ। अतः आज तो नहीं, फिर कभी साहस बटोरकर तुम्हारे साथ चलूँगा।' वे दोनों भाईकी बुजदिलीपर हँस दिये। शशिकान्त चला गया, अपने स्नेहके निशान उनके हृदयोंपर छोड़कर।

दो-तीन दिनोंके बाद वे फिर आये। आज वे घरसे बहुत-सी चीजें उन लोगोंको खिलानेके लिये बनवाकर लाये थे। वे बड़े प्रेमसे मिले। शशिकान्तने अपने हाथों परसकर उन दोनोंको भोजन करवाया। उन्होंने जब वे सात वर्षके थे, तभीसे छात्रावासोंमें रहना शुरू कर दिया था। ऐसा भोजन कभी मिला ही नहीं था। आज उन्हें बड़ी ही प्रसन्नता हुई। वे बार-बार बड़ाई करने लगे भाईके स्नेहकी तथा उनके यहाँकी आयी हुई चीजोंकी।

किसीको अपने अनुकूल बनाना हो, अपनी बात उसे मनवानी हो तो उसका उपाय उसके दोष बताकर उसपर नाराज होना, उसे डाँट-डपट करना, घृणा करना, निन्दा करना, उन्हें नीच मानना आदि नहीं है; उसका उपाय है—उसके अंदर सचमुच जो भी अच्छी बातें हों, गुण हों (अच्छी बात या गुण थोड़े-बहुत सभीमें होते हैं), उनकी निष्कपट प्रशंसा करना, उसके साथ हृदयसे प्रेम करना, उसके साथ सक्रिय सद्व्यवहार करना और आवश्यकतानुसार उसकी सेवा करना बिना अहसान जनाये। शशिकान्तने उन भाइयोंके साथ यही व्यवहार किया। जब उन दोनोंका शशिकान्तके प्रति विश्वास बढ़ गया, आत्मीयता जाग उठी, उसे वे अपना परम हितैषी मानने लगे, तब धीरे-धीरे शशिकान्तने रोज आकर अनेक युक्तियाँ तथा बुरे कार्योंके बुरे परिणामके उदाहरण—सच्चे दृष्टान्त देकर उन्हें असदाचार, यथेच्छाचार, अभक्ष्यभोजन, माता-पिताकी अवज्ञा, हिंसा आदि कार्योंके दोष समझाना शुरू किया। उनपर असर प[ड़ा]। वे सचमुच बदलने लगे। एक दिन वे शिकारको गये, शशिकान्तको भी साथ ले गये। वहाँ एक हरिनके बच्चेको गोली लगी। होनीकी बात, उसकी माँ हरिनी दौड़ी आयी, उसने बड़ी करुण दृष्टिसे मरे बच्चेकी ओर देखा, फिर रोषभरी दृष्टिसे शिकारियोंकी ओर। तदनन्तर वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी और बच्चेकी लाशके पास ही उसने प्राण त्याग कर दिये। शशिकान्तको अवसर मिला, उन्होंने दोनों भाइयोंको समझाया—हरिनीके दुःखकी व्याख्या की, जिसे सुनकर उन दोनोंके हृदय द्रवित हो गये। उन्होंने भविष्यमें शिकार न खेलनेकी—प्राणिमात्रकी कभी हिंसा न करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा की। आज वे बहुत ही बदले हुए घर लौटे। उनके हृदयमें अबतककी अपनी हिंसा-वृत्ति तथा अन्यान्य दोषोंके लिये पश्चात्तापकी अग्नि जल उठी। पश्चात्ताप ही वास्तविक प्रायश्चित्त है। उन्होंने सचमुच अपनेको सुधारना चाहा, शशिकान्तके प्रति आत्मसमर्पण कर दिया और सुधारके लिये प्रार्थना की तथा उसकी हरेक बात माननेका वादा किया। शशिकान्तने उनकी बड़ी प्रशंसा की। उनका जीवन बदल गया। वे घर आये। माता-पिताके चरणोंमें गिरकर उनसे क्षमा माँगी। माता-पिता आज बड़े सुखी थे। उनका रोम-रोम खिल रहा था और रोम-रोमसे आशीर्वादकी सहज सुधाधारा निकल रही थी। उन्होंने शराबके कारखाने और होटलकी नौकरी छोड़ दी। उन्हीं यजमानके लड़कोंकी चेष्टासे उन्हें पहलेकी अपेक्षा अधिक अर्थोपार्जनके निर्दोष काम मिल गये। दोनोंके जीवन पवित्र ब्राह्मणजीवन हो गये। खान-पान, आचार-विचार सब शुद्ध हो गये। दोनोंके विवाह हो गये। शशिकान्तको बड़ी प्रसन्नता थी और वे भी शशिकान्तके प्रति हृदयसे कृतज्ञ थे, अपनेको सदा उनके ऋणी मानते थे।

—सदानन्द शर्मा

प्रकाशित हो गयी ! एक नयी पुस्तक !! प्रकाशित हो गयी !!!

श्रीमहामन्त्रराजस्तोत्रम् [हिंदी भाषासहित]

(निर्माता—पण्डितप्रवर स्वामी श्रीलक्ष्मणजी शास्त्री; अनु०—साहित्याचार्य पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

आकार २०×३० सोलह पेजी, पृष्ठ-संख्या ५६, सुन्दर बहुरंगा चित्र, मूल्य पचीस पैसे, डाकखर्च अलग।

यों तो रामनामका अवलम्बन लेकर कविकुलगुरु आदिकवि वाल्मीकि तथा गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितका आपादचूल छन्दोबद्ध निर्माण कर ही दिया है। साथ ही अन्यान्य कवियोंद्वारा रचित रामनामसम्बन्धी अनेकविध स्तोत्र भी जनताके समक्ष उपस्थित हैं, जिनसे भावुक भक्त प्रतिदिन लाभ उठा रहे हैं। परंतु यह महामन्त्र-राज-स्तोत्र कविकी अद्भुत कृति है। यह रामनाम-स्तोत्रोंमें अपना निराला स्थान रखता है। इसकी भाषा सरल और सुबोध तथा शैली मनोहर है। वसन्ततिलकावृत्तमें गुम्फित होनेके कारण इसके श्लोक चुम्बककी भाँति मनको आकर्षित कर लेते हैं। छपाईमें पूर्वार्ध और उत्तरार्धमें विभिन्नता कर देनेसे इसकी सुन्दरतामें चार चाँद लग गया है।

प्रस्तुत स्तोत्रमें ११८ श्लोक हैं, जिनमें ११६ श्लोकोंमें स्तोत्र समाप्त किया गया है। प्रत्येक श्लोकमें नौ रामनाम हैं। इस प्रकार प्रतिदिन २१ पाठ करनेसे २१९२४ रामनामकी संख्या पूरी हो जाती है, जो प्रतिदिनकी २१६०० श्वास-संख्यासे भी अधिक है। इस स्तोत्रकी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसका पाठ करनेसे भगवन्नामका जप अनायास ही हो जाता है। अतः यह आबाल-वृद्ध, अध्यापक-छात्र, पढ़-अपढ़—सभीके लिये अत्यन्त उपयोगी एवं लाभप्रद स्तोत्र है।

इसके एक श्लोकका नमूना—

पूर्वं भवान् दशरथस्य गृहेऽर्कवंशे कौशल्यया समभवत् खलु रामनामा।
श्रीराम राम "रविवंशज" राम राम श्रीराम राम शरणं मम राम राम॥

नौ पुस्तकोंके नये संस्करण

१-**गीताभवन-चित्र-दर्शन**—गीताभवन, ऋषिकेशके ३५ बहुरंगे, १ सादे चित्रोंका दर्शन और संक्षिप्त परिचय, ... ३.००
आकार १०×७॥, संस्करण ५, पृष्ठ-संख्या ४०, मूल्य १.५०
२-**ईश्वरकी सत्ता और महत्ता**—संस्करण ५, पृष्ठ-संख्या ४८०, मूल्य
३-**तत्त्व-चिन्तामणि भाग ७ (बड़ा)**—ले० श्रीजयदयालजी गोयन्दका, संस्करण ४, पृष्ठ-संख्या ५२०, सचित्र मूल्य १.२५
४-**गीतामें भगवान् श्रीकृष्णका परिचय**—ले० आचार्य अक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय एम्० ए०, संस्करण २, ... १.२५
पृष्ठ-संख्या २८०, सुन्दर तिरंगा चित्र, मूल्य
५-**परमार्थ-पत्रावली चतुर्थ भाग**—ले० श्रीजयदयालजी गोयन्दका, प्रस्तुत पुस्तकमें श्रीगोयन्दकाजीके ९१ .६०
पत्रोंका संग्रह है, जो सर्वसाधारणके लिये बहुत ही उपयोगी है। संस्करण २, पृष्ठ-संख्या २१२, मूल्य ... .६०
६-**शिक्षाप्रद पत्र**—ले० श्रीजयदयालजी गोयन्दका, संस्करण ३, पृष्ठ-संख्या २४२, सचित्र, मूल्य ... ... .२५
७-**प्रेमी भक्त उद्धव**—संस्करण ११, पृष्ठ-संख्या ६४, रंगीन चित्र १, मूल्य ... ... .२०
८-**अपरोक्षानुभूति**—शंकरस्वामिकृत सानुवाद, संस्करण १२, पृष्ठ-संख्या ४०, मूल्य .१८
९-**भारतमें आर्य बाहरसे नहीं आये**—ले० श्रीनीरजाकान्त चौधरी (देवशर्मा), संस्करण दूसरा, पृष्ठ-संख्या ३६, मू० .१८

सभी पुस्तकोंका डाकखर्च अलग—

पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेसे पहले स्थानीय विक्रेताओंसे प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये, इससे भारी डाकखर्चकी बचत हो सकती है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

'कल्या[illegible]का 'उपासना-अङ्क'

'कल्याण'का आगामी जनवरी १९६८ का विशेषाङ्क 'उपासना-अङ्क' प्रकाशित किया जा[illegible] ऐसा निश्चय हुआ है। इस अङ्कमें उपासनासम्बन्धी प्रायः सभी विषयों तथा विभिन्न उपासना-पद्धतियों[illegible] सम्बन्धमें विभिन्न प्रकारके लेख रहेंगे। विषय-सूची जूनके अङ्कमें प्रकाशित होगी, अतएव उपासना[illegible] सम्बन्धमें अधिकारी विद्वान्, अनुभवी उपासक निबन्ध भेज सकते हैं। प्रकाशनका निश्चय ले[illegible] देखनेपर ही हो सकेगा।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

सम्पादक—'कल्याण', गोरखपु[illegible]

श्रीगीता-रामायणकी आगामी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक-शिक्षाका प्रसार करने[illegible] लिये परीक्षाओंकी व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको योग्यतानुसार पुरस्कार भी दिया जाता है। परीक्षाओं[illegible] के स्थान-स्थानपर लगभग ५०० केन्द्र भी स्थापित हैं। तथा और भी नियमानुसार स्थापन किये जा सकते हैं। आगामी गीता-परीक्षाएँ दिनाङ्क १९ एवं २० नवम्बर १९६७ को तथा श्रीरामायणकी परीक्षाएँ दिनाङ्क ७ एवं ८ जनवरी १९६८ को होनेवाली हैं।

केन्द्र-व्यवस्थापकोंसे निवेदन है कि सभी परीक्षाओंके लिये आवेदनपत्र एवं नवीन केन्द्रोंके लिये प्रार्थनापत्र दिनाङ्क ३० अगस्त १९६७ तक भेज देनेकी कृपा करें।

विशेष जानकारीके लिये पत्र लिखकर नियमावली मँगा सकते हैं।

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, पो० स्वर्गाश्रम (देहरादून)

ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके द्वारा लिखित मानव-जीवनको सरलतासे उच्चतम आध्यात्मि[illegible] आदर्शोंकी ओर अग्रसर करनेवाली सरल, सुन्दर, शिक्षाप्रद सचित्र और सस्ती आठ पुस्तकें

१—आत्मोद्धारके साधन—धर्म, निष्कामकर्म, भक्ति, प्रेम, ज्ञान आदि ३० लेखोंका संग्रह, पृष्ठ-संख्या ४६४, रंगीन चित्र ४, मूल्य ... ... [illegible]

२—भक्तियोगका तत्त्व—भक्ति-सम्बन्धी २९ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ-संख्या ४५६, रंगीन चित्र ४, मू० ... [illegible]

३—कर्मयोगका तत्त्व—कर्मयोग-सम्बन्धी ३१ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ-संख्या ४२०, दो तिरंगे, तीन सादे चित्र, मू० ... [illegible]

४—महत्त्वपूर्ण शिक्षा—१७ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ-संख्या ४७६, रंगीन चित्र ४, मू० १.००, सजि० ... [illegible]

५—परम साधन—साधनसम्बन्धी १६ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ-संख्या ३७२, तिरंगे चित्र ५, मू० १.००, सजि० ... [illegible]

६—परमशान्तिका मार्ग—२४ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ-संख्या ४१६, चित्र रंगीन ४, सादे २, मू० १.००, सजि० ... [illegible]

७—ज्ञानयोगका तत्त्व—२७ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ-संख्या ३८४, चित्र रंगीन ३, मू० १.००, सजि० ... [illegible]

८—प्रेम-योगका तत्त्व—२२ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ-संख्या ३८०, चित्र रंगीन ५, सादा १, मू० १.००, सजि०

सभी पुस्तकोंका डाकखर्च अलग।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपु[illegible]

कल्याण

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,५०,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़ २०२४, जून १९६७

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ८.५० विदेशमें १५.६० (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत-चित-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण भारतमें ५[illegible] विदेशमें ६[illegible] (१० [illegible]

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

महाभावरूपा श्रीराधा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

अविरतभवभावनातिदूरं भवविमुखैर्मुनिभिः सदैव दृश्यम् ।
भवजलधिसुतारणाङ्घ्रिपोतं शरणमहं रघुनन्दनं प्रपद्ये ॥
रतिपतिशतकोटिसुन्दराङ्गं शतपथगोचरभावनाविदूरम् ।
यतिपतिहृदये सदा विभातं रघुपतिमार्तिहरं प्रभुं प्रपद्ये ॥

वर्ष ४१ | गोरखपुर, सौर आषाढ २०२४, जून १९६७ | संख्या ६ पूर्ण संख्या ४८७

महाभावरूपा श्रीराधा

दुर्लभ परम त्यागमय पावन प्रेम-मूर्ति आदर्श महान ।
महाभावरूपा श्रीराधा, जिनके प्रेमवश्य भगवान ॥
नहीं तनिक भी स्व-सुख-वासना, नहीं मोह-माया-मद-मान ।
प्रियतम-पद पूर्णार्पित जीवन, जगके सारे द्वन्द्व समान ॥
मुक्ति-बन्ध, वैराग्य-भोगके ग्रहण-त्यागका कभी न ध्यान ।
प्रियतम-सुख ही सब कार्यों में करता नित्य प्रेरणा-दान ॥
प्रेममयी शुचितम श्रीराधाके पद-रज-कण रसकी खान ।
वे स्वीकार करें इस जन नगण्यके नमस्कार निर्मान ॥

याद रक्खो—तुम सबसे पहले स्वरूपतः नित्य एक आत्मा हो, फिर मनुष्य हो, फिर भारतवासी हो, फिर हिंदू हो, फिर अमुक-प्रदेशवासी हो, फिर अमुक-भाषा-भाषी हो, फिर अमुक-स्थानवासी हो, फिर अमुक परिवारके सदस्य हो, फिर माता-पिता, पत्नी-पति, पुत्र-पौत्र, स्वामी-सेवक आदि कुछ हो ।

याद रक्खो—आत्माके अतिरिक्त ये सभी स्वरूप तुम्हारे यथार्थ स्वरूप नहीं हैं । ये तो अनित्य संसारके अनित्य क्षेत्रोंमें कामचलाऊ नाम-रूप हैं । इन सबमें यथायोग्य व्यवहार करके जीवन-यात्रा चलानी है । पर यह सदा ध्यान रखना है कि अपने इन विभिन्न नाम-रूपोंके अभिमानमें मनुष्येतर प्राणियोंको, भारतके अतिरिक्त अन्यान्य-देशवासियोंको, हिंदूके अतिरिक्त अन्यान्य-धर्मजातिवालोंको, अपने प्रदेशके अतिरिक्त अन्यान्य-प्रदेशवासियोंको, अपनी भाषाके अतिरिक्त अन्यान्य-भाषा-भाषियोंको, अपने नगर-गाँवके अतिरिक्त अन्यान्य-स्थाननिवासियोंको, अपने परिवारके अतिरिक्त अन्यान्य परिवारोंके सदस्योंको, अपने सिवा अन्य सबको तुम 'पर' कहीं न समझ बैठो और कहीं अपने कल्याणके मोहमें दूसरोंका अकल्याण चाहने और करने न लग जाओ ।

याद रक्खो—किसी भी दूसरेका अकल्याण या अहित अपना ही अकल्याण या अहित है—वैसे ही, जैसे अपने एक ही शरीरके विभिन्न अङ्ग अपना ही शरीर हैं । किसी भी अङ्गपर चोट पहुँचाना अपने ही शरीरको चोट पहुँचाना है और कहीं भी चोट लगनेपर उसके दर्दका अनुभव अपनेको ही होता है । इसी प्रकार एक ही आत्माके ये सब विभिन्न नाम-रूप हैं । इनमें कोई भी कभी भी न तो 'पर' (दूसरा) है और न दूसरा हो सकता है ।

याद रक्खो—इससे भी महत्त्वकी बात यह है कि आत्मारूपमें स्वयं श्रीभगवान् ही प्रकाशित हैं । साथ ही चेतन आत्माके अतिरिक्त जड प्रकृतिके रूपमें भी उन्हींकी मङ्गलमयी लीला प्रकाशित है, जो उन लीलामयसे सदा सर्वथा अभिन्न है । अतएव जड-चेतन जो कुछ भी है—सभी श्रीभगवान् ही हैं । वे ही लीलामय विभिन्न नाम-रूप धारण करके लीला कर रहे हैं । यदि तुम भक्त हो—या बनना चाहते हो, अथवा एकमात्र सत्यके अन्वेषक हो तो तुम्हें सदा-सर्वदा सभी नाम-रूपोंमें एकमात्र भगवान्‌को ही प्रकट समझकर सदा सभीका हित, सभीका कल्याण चाहना-करना चाहिये ।

याद रक्खो—किसी भी प्राणीका असत्कार करना, किसीका अहित करना, किसीको भी दुःख पहुँचाना अपने परमाराध्य भगवान्‌का ही असत्कार-अहित करना है और भगवान्‌को ही दुःख पहुँचाना है । और यह महापाप है, अतएव इससे सदा बचे रहो । सदा सावधानीके साथ इस प्रकारकी कोई भी चेष्टा कभी मत करो ।

याद रक्खो—जो समस्त नाम-रूपोंवाले प्राणियोंमें भगवान्‌को देखकर सदा-सर्वदा सबका सम्मान करता है, सबकी सेवा करता है, सबको सुख पहुँचाता है और सबका हित करता है, उसके द्वारा सदा भगवान् ही सम्मानित, सेवित, सुखी होते हैं और हित प्राप्त करते हैं । वह सदा भगवान्‌की ही पूजा करता है । भगवान् उसकी इस नित्यपूजासे परम प्रसन्न होकर उसे अपना स्वरूपदान देते हैं ।

याद रक्खो—यदि सबमें अपने आत्माको समझकर सबका सम्मान, सेवा, हित करते हो, सबको सुख पहुँचाते हो, तब तो सदा ही आत्मसंतुष्टि प्राप्त होती रहती है और सदा ही आत्मरमण करते हुए तुम अपने स्वरूपमें स्थित रहते हो ।

'शिव'
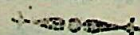
भविष्यके विषयमें संकल्प भावी जन्मका कारण होता है

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके उद्गार)

भगवान्‌का विधान मङ्गलकारक है

जो लोग वृथा संकल्प करते रहते हैं, उनके संकल्प सत् नहीं होते। संकल्पके विषयमें एक रहस्यकी बात यह है कि जो मनुष्य अपना कल्याण चाहते हैं, उनको भविष्यका कोई भी संकल्प नहीं करना चाहिये। भविष्यके लिये किया हुआ संकल्प भावी जन्मका कारण होता है। आपके मनमें यह संकल्प हुआ कि मैं कल कलकत्ते जाऊँगा और किसी कारणसे आज आपकी मृत्यु हो गयी तो फिर आपको उस संकल्पके कारण दूसरा जन्म लेकर कलकत्ते जाना पड़ेगा। इसलिये कल्याणकामी मनुष्यको यही समझना चाहिये कि मुझको कुछ भी नहीं करना है। जो कुछ हो रहा है, उसे देखते रहना चाहिये। एक क्षणके बाद मुझे यह काम करना है, यह संकल्प भी नहीं करना चाहिये। यदि कहा जाय कि 'ऐसा संकल्प न करनेसे कार्य कैसे होगा ? भोजन करना है, नीचेसे ऊपर जाना है, ऊपरसे नीचे उतरना है, इसके लिये पहले तो मनमें संकल्प होगा ही, तभी उसके अनुसार क्रिया होगी।' यह कहना ठीक है। पर इस विषयमें विकल्पसहित ही संकल्प करना चाहिये। विकल्पसहितका अभिप्राय यह है कि जैसे ऊपर जानेकी आवश्यकता है, यह ठीक है; पर ऊपर जाना बन जाय तो बन जाय, न बने तो न बने। भोजन करनेका समय हो गया तो भोजनके लिये वहाँसे चल दिये। भोजन मिल गया तो खा लिया, नहीं तो नहीं। कोई संकल्प नहीं। एक लक्ष्यको रखकर चलना है, साथमें उस संकल्पके साथ यह विकल्प है—'हो जाय तो अच्छी बात है; न हो तो अच्छी बात है। अमुक काम करनेका विचार है, कोई निश्चय नहीं। जो कुछ बन जाय, वही सत्य है।' किसीने पूछा कि 'अब आपको क्या करना है ?' तो भीतरसे यह आवाज आनी चाहिये कि 'कुछ भी करना नहीं है।' जैसे महात्मा—कृतकृत्य पुरुषको तो कुछ करना शेष रहता ही नहीं, वैसे ही साधक पुरुषको भी अपने हृदयमें यह भाव रखना चाहिये कि मुझे कुछ करना नहीं है। वर्तमानमें जो भजन-ध्यान हो रहा है, वह वर्तमान क्रिया ही हो रही है, भविष्यके लिये नहीं। वर्तमान क्रियामें जो साधन चल रहा है, उसके विषयमें उसकी यही समझ हो कि होनी चाहिये 'ऐसी अवस्थामें प्राण चले जायँ तो कोई हर्ज नहीं है। भविष्यमें तो मेरे लिये कुछ करना शेष है नहीं। जो कुछ हो रहा है, परमात्माकी इच्छासे हो रहा है। जो भी हो रहा है, सब ठीक हो रहा है। मेरे द्वारा जो कुछ हो रहा है, वह भी परमात्माकी इच्छासे हो रहा है। परेच्छा, अनिच्छासे जो हो रहा है, वह भी परमात्माकी इच्छासे हो रहा है, मुझको तो कुछ करना है ही नहीं। मेरे द्वारा भी जो कुछ भी परमात्मा करवा रहे हैं, वह मेरे लिये मङ्गलकी बात है। उनकी जैसी इच्छा हो, करवायें। मुझे तो कुछ भी करना है नहीं।' मनमें ऐसा निश्चय रक्खे कि 'जो कुछ हो रहा है, सब स्वाभाविक ही हो रहा है। परमात्मा करवा रहे हैं, उनकी मुझपर दया है।' इस प्रकारसे निश्चिन्त होकर रहे। जैसे कोई मनुष्य टिकट खरीदकर गठरी-मोटरी लिये ट्रेनपर बैठनेके लिये तैयार है और ट्रेनकी बाट देख रहा है, इसी प्रकारसे मनुष्यको समस्त कार्योंसे निपटकर मृत्युकी प्रतीक्षा करते रहना चाहिये। यह बहुत ही उत्तम भाव है। महात्मा पुरुषका जो स्वाभाविक भाव है, साधकके लिये वही साधन है।

अतः मनुष्यमात्रका कर्तव्य है कि परमात्माको आत्मसमर्पण करके यह निश्चय रक्खे कि परमात्मा मेरे द्वारा जो करवा रहे हैं सो ठीक करवा रहे हैं; जो कुछ अनिच्छा-परेच्छासे हो रहा है, ठीक हो रहा है। ऐसा भाव रक्खे कि भगवान्‌का जो विधान है, वह वास्तवमें न्याय है और मेरे लिये मङ्गलकारक है। साधकका यह भाव उच्चकोटिका है।

अनिच्छासे जैसे किसीका लड़का मर गया, शरीरमें रोग हो गया, घरमें आग लग गयी तो बहुत आनन्दकी बात है। इसके विपरीत लड़का पैदा हो गया, घरमें लाख रुपये आ गये या शरीर स्वस्थ हो गया—तब भी आनन्दकी बात है। चाहे कोई मान करे या अपमान, निन्दा करे या स्तुति—दोनोंमें तनिक भी अन्तर नहीं। जैसी निन्दा, वैसी ही स्तुति। जैसा मान, वैसा ही अपमान। जैसा मित्र, वैसा ही शत्रु और जैसा सुख वैसा ही दुःख। इस प्रकार जिनका सर्वत्र समभाव है, वे ही पुरुष श्रेष्ठ हैं। ऐसे महात्माके जो लक्षण शास्त्रोंमें बताये गये हैं, उनको लक्ष्य बनाकर जो अभ्यास करता है, वह शीघ्र महात्मा बन जाता है। यह बड़ी मूल्यवान् वस्तु है। महात्मामें तो यह स्वाभाविक है, साधकके लिये आदर्श साधन है। जो मनुष्य साधन मानकर इस प्रकार अभ्यास करता है, वह आगे चलकर शीघ्र ही महात्मा बन जाता है। किसी आदमीने गाली दी तो आनन्द; प्रशंसा की तो आनन्द; उनमें किंचित् भी भेद न समझे। यों समझे कि निन्दा-स्तुति दोनों ही वाणीके विषय हैं—आकाश-के गुण हैं, शब्दमात्र हैं। इनमें भला और बुरा क्या है? निन्दा और स्तुति होती हैं नामकी। मैं नामसे रहित हूँ। मान-अपमान होता है रूपका—देहका, मैं इस रूप या देहसे सर्वथा पृथक्—रहित हूँ। न मेरा मान है, न मेरा अपमान है; न मेरी निन्दा, न मेरी स्तुति। इनसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकारका ज्ञान आत्माका कल्याण करनेवाला है।

(संग्रहकर्ता और प्रेषक श्रीशालिगराम)

मनन-माला

(लेखक—ब्र० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

[गतवर्ष पृष्ठ १०९१ से आगे]

५०—चित्त आत्माके नामसे तथा शरीरके नामसे अनेक प्रकारकी इच्छाएँ करता है और कर्म भी शरीरसे करता है। आत्मा सदा मुक्त है और आत्मा कोई कर्म नहीं करता और न कोई भोग भोगता है। आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिसे असङ्ग है; अतएव आत्माके लिये चित्त जो करनेके लिये कहे, उसे न करे। वस्तुतः चित्तको कुछ करना-कराना नहीं रहता। आत्मा नित्य है और मुक्त है, सुख-दुःखसे रहित है और शरीरको मृत्यु-पर्यन्त अपना प्रारब्ध भोगना है, फिर चित्तको करना क्या है? चित्तको शरीरकी प्रकृतिके अनुसार इच्छामात्रसे रहित होकर अपना अभिनय करना है और आत्मा उसका साक्षी है। मैं साक्षी आत्मा हूँ—कर्त्ता नहीं हूँ, भोक्ता भी नहीं हूँ। जन्म-जरा और मरणसे रहित, नित्य हूँ—इस प्रकारका चिन्तन करता रहे।

५१—हम शरीर बनकर कर्म करते हैं, ऐसा न मानकर आत्मा रहकर शरीरके द्वारा शरीरकी प्रकृतिके अनुसार अभिनय करना है और वह भी असङ्ग बुद्धिसे। लाभ-हानि, हर्ष-शोक, सुख-दुःख—सबमें समानचित्त रहकर प्रकृतिके अनुसार कर्म करते जाओ।

५२—मैं आत्मा हूँ—शरीर, इन्द्रिय, मन या बुद्धि नहीं हूँ; इन सबसे असङ्ग हूँ। इस अभ्यासको सिद्ध करनेके लिये पहले सब प्रकारकी चिन्ताका त्याग करो। प्राणीमात्रको मुख्यतः दो प्रकारकी चिन्ता होती है—मेरे और मेरे सम्बन्धीकी क्या हालत होगी? इस चिन्तासे मन घिरा रहता है; इसलिये मनको निश्चयपूर्वक बतलाये कि सबको सबके प्रारब्धके अनुसार जो होनेवाला होगा, वह होगा। चिन्ता करनेसे उसमें कोई अन्तर नहीं पड़नेवाला है। तुम्हारा जो कर्तव्य-कर्म है, उसे किये जाओ। बाकी जो होनेवाला होगा, वह होगा—ऐसा समझकर चिन्ताविहीन और अशान्तिरहित हो जाओ। जलन और चिन्ता करनेसे क्या काम बनेगा? शास्त्र शरीरसे स्वकर्म करनेका निषेध नहीं करता। चिन्ता और उद्वेगरहित होकर प्रसन्न मनसे स्वकर्म करते जाओ; जो तुमसे शान्त मनसे करते बने, वह करो। पर चिन्ता और उद्वेग न करो; क्योंकि इसका कुछ फल ही नहीं है।

दूसरी चिन्ता यह होती है कि शरीरपात होनेके उप-रान्त मेरा क्या होगा। ज्ञान और स्व-स्वरूपके स्मरणके बिना इस चिन्ताका शमन नहीं होता। मैं आत्मा हूँ, मैं

कभी जन्मा नहीं, कभी बद्ध नहीं हुआ, मैं मरनेवाला नहीं हूँ। जन्म-वृद्धि, जरा और मृत्यु तो शरीरके होते हैं और मैं तो इन सबसे असङ्ग आत्मा हूँ—यह स्मरण नित्य बारंबार करते रहनेसे ही चिन्ता मिटती है। चिन्ताको दूर करनेका इसके सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं है।

५३—मैं आत्मा हूँ और मैं कर्ता या भोक्ता नहीं हूँ—ऐसा निश्चय करके आत्माके नामपर चित्त कर्त्तापनको करता है और भोगोंकी इच्छा करके भोग भोगता है और नाम लगाता है आत्माका। चित्तके इस सारे करतबको बंद करना है। इस कारण प्रयत्नपूर्वक सब भोगोंकी इच्छाका त्याग करे। भोगकी इच्छाका त्याग किये बिना, और 'मैं अकर्ता हूँ—' इसका सतत भान रक्खे बिना, 'मैं आत्माके रूपमें सदा मुक्त ही हूँ'—इस मुक्तिका अनुभव चित्त नहीं होने देगा। अतएव भोगकी इच्छामात्रका त्याग करे और मैं कर्त्ता नहीं हूँ, बल्कि मैं साक्षी आत्मा हूँ—यह सदा ध्यानमें रक्खे।

५४—परमात्मा सबमें है और वह सबमें रहनेवाला परमात्मा आत्मा कहलाता है। अतएव सबमें जो आत्मा है, वह परमात्मा स्वयं ही आत्मारूप बना है। परमात्मा सबमें है और सर्वत्र है। जैसे जल जमीनके भीतर है, परंतु जमीनको खोदनेसे मिलता है, उसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र है, परंतु वह श्रद्धायुक्त भक्तिसे ही प्रकट होता है। जैसे काठमें अग्नि है, दूधमें घी है, परंतु वह सहज ही प्रत्यक्ष नहीं दीखता, बल्कि युक्तिपूर्वक मथनेसे प्राप्त होता है; उसी प्रकार परमात्मा सबमें और सर्वत्र है, परंतु वह श्रद्धापूर्वक भक्ति किये बिना प्रकट नहीं होता, अनुभवमें नहीं आता। वह सबमें और सर्वत्र है; इसलिये जिसमें श्रद्धा बैठे, उस मूर्त्तिको या व्यक्तिको परमात्मस्वरूप जानकर भक्ति करे। यों करनेसे वह प्रकट होगा।

५५—इसी कारण मूर्त्तिपूजा सुगम है। परमात्माकी मूर्त्ति तो है ही नहीं। तथापि साकार मूर्त्तिमें वह व्यापक है। जहाँ देखो, वहाँ परमात्मा है। ऐसी कोई जगह नहीं, जहाँ वह न हो। ऐसी कोई चीज नहीं, जिसमें वह न हो। उसके बिना जगत्का अस्तित्व ही नहीं है। अर्थात् परमात्मा स्वयं जगद्रूपमें दीखता है। आत्माकी मुक्तिका प्रश्न ही नहीं है। वह तो सदा मुक्त है ही। उसको जन्म-जरा, मृत्यु और विकार—इनमेंसे कुछ भी नहीं होता। प्रयत्न करना है तो केवल मनको; चित्तको शान्त करनेका—चित्तको संकल्परहित, वासनारहित करके परमात्मामें मिला देनेका। और इसीका नाम विदेहमुक्ति है। चित्त (सूक्ष्म शरीर) के ही एक देहसे दूसरे देहमें जानेका नाम संसार है। चित्त ही इच्छा और कर्म करता है। सुख-दुःखको चित्त ही भोगता है। यह चित्त जबतक देह है, तबतक शान्त-संकल्प और वासना-विहीन रहे तथा शरीरसे बिना आसक्ति और आग्रहके, शरीरकी प्रकृतिके अनुसार कर्म करे तथा फलकी इच्छाका त्याग करे तो उसको जीवन्मुक्तिका अनुभव होता है। श्रेयकी साधना करनेवाला भी चित्त ही है। अतएव चित्त इस शरीरसे क्या करे—इसका विचार करना चाहिये।

५६—इस लोक और परलोकके सारे लोकोंमें दुःख भरा है। देह चाहे लौकिक हो या पारलौकिक, वह विकारी और विनाशशील है—ऐसा निश्चय करके इस लोक और परलोकके भोगोंकी इच्छामात्रका त्याग करके, परमात्मा जो घट-घट व्यापक है; उसका नित्य भजन, चिन्तन और स्मरण करे तथा शरीरसे जो कुछ करना हो, वह परमात्माकी प्राप्तिके लिये करे। परमात्माके सिवा दूसरी किसी वस्तुकी इच्छा न करे।

५७—इसके लिये शरीरकी प्रकृतिके अनुसार जो कुछ कर्म हो, उसको कर्तव्य समझकर आसक्तिरहित और बिना फलकी इच्छाके करता रहे। ऐसा करनेसे चित्त शान्त होकर परमात्मामें समयानुसार लीन हो जायगा।

५८—फिर मनमें यदि ऐसा हो कि कर्म ही न करूँ, तो इसके लिये दो विचार करे। एक तो यह है कि कर्म किये बिना हठपूर्वक कदाचित् स्थूलशरीर तो कुछ समय बैठा रह सकता है, पर चित्त तो बेकार क्षणभर भी नहीं बैठ सकता, और स्थूलशरीरको हठपूर्वक शान्त रखकर मनसे संकल्प-विकल्प करते रहनेका कोई अर्थ ही नहीं है। यदि कुछ आवश्यक है तो चित्तको शान्त करना आवश्यक है। जो चित्तका किया होता है, वही किया हुआ माना जाता है। बाकी जिस कर्ममें चित्तकी आसक्ति, आग्रह या फलकी इच्छा नहीं होती, वैसे शरीरद्वारा किये हुए कर्म चित्तको बन्धनमें नहीं डालते। कर्ममात्रका कर्ता तो प्रकृतिरूप यह शरीर है और शरीर विभिन्न प्रकृतिके बने होते हैं। जैसे गत युद्धमें जर्मन लोगोंने यह निश्चय किया था कि मनुष्यके शरीरके रक्तकी छः जातियाँ हैं। सारांश यह है कि मनुष्यका रक्त इन छः जातियोंमेंसे मुख्यतः किसी एक

जातिका होता है। इसी प्रकार शास्त्रोंने यह निश्चय किया है कि प्रत्येक मनुष्य चार जातिमेंसे किसी एककी प्रकृतिका होता है। जैसे एक जातिका रक्त दूसरी जातिके रक्तवाले मनुष्यमें डाला जाय तो वह दुःखद या घातक हो जायगा, उसी प्रकार एक प्रकृतिका मनुष्य यदि अपनी प्रकृतिके विरुद्ध कर्म करे तो वह दुःखको प्राप्त होता है। अतएव सबको अपने शरीर और मनकी प्रकृतिका निश्चय करके तदनुकूल कर्म करना चाहिये, तभी सुख-शान्ति और आनन्द होगा।

५९–मनुष्य माने या न माने; परंतु जो अपना शरीर है, वह त्रिगुणात्मक प्रकृतिका ही बना हुआ है और इसके अनेक भेद हो सकते हैं, परंतु मुख्यतः चार भेद शास्त्रोंमें लिखे हैं—वे प्रकृतिके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं। सात्त्विक गुणप्रधान ब्राह्मण है; जिसमें सत्त्व प्रधान और रजोगुण गौण हो, वह क्षत्रिय है; जिसमें रजोगुण मुख्य और तमोगुण गौण हो, वह वैश्य है तथा तमोगुण प्रधान शूद्र है। प्रकृतिके अनुसार काम करनेसे मन क्षोभरहित और शान्त रहता है और प्रकृति-विरुद्ध कर्म करनेसे मनमें सदा क्षोभ रहता है।

६०–कर्मको लेकर मनुष्य उच्च-नीच नहीं होता क्योंकि सबके भीतर प्रभु समानरूपसे विराज रहे हैं। मनुष्य किस प्रकार कर्म करता है, इसे देखकर उसकी अच्छाई-बुराई जानी जाती है। अपने कर्तव्यरूपमें, आसक्ति और आग्रह छोड़कर तथा फलकी इच्छाके बिना, प्राणिमात्रमें अवस्थित परमेश्वरके प्रीत्यर्थ जो कर्म किया जाता है, उस कर्मका कर्त्ता सदा श्रेष्ठ होता है—फिर चाहे वह भंगीका काम करता हो, खेती करता हो या राज्य करता हो, अथवा उपदेशका काम करता हो। कर्म ऊँचा-नीचा नहीं होता, उसका भाव ऊँचा-नीचा होता है। शुद्धभावसे परमात्माकी सेवाके रूपमें जो कर्म होता है, उसका कर्त्ता सदा श्रेष्ठ है। इस जगद्रूपी नाटकमें चारों वर्णरूपी पात्रोंकी आवश्यकता है। प्रत्येक मनुष्य इस जगद्रूपी नाटकका पात्र है। सब पात्रोंको आसक्ति, अहंता और फलेच्छासे रहित होकर अपना अभिनय करके जगन्नाटक-के स्वामीको प्रसन्न करना है। अतएव अभिनयका जो पार्ट मिला है, उसको ऊँचा-नीचा न समझकर अच्छी रीतिसे अभिनय करना और अभिनय करते समय यह सदा स्मरण रखना कि इस अभिनयसे पृथक् मैं आत्मा हूँ—इसीका नाम योग है।

६१–अपने प्राप्त कर्मको करते हुए चित्तमें विकार न आने दे। शीत-उष्ण, मान-अपमान, जय-पराजय, हर्ष और शोकके प्रसङ्गमें मनको सदा शान्त और निर्विकार रक्खे। जिसका चित्त सदा विकाररहित, शान्त और एक रस रहता है, वह जीवन्मुक्त है। विकार उत्पन्न होनेवाले प्रसङ्गोंमें भी चित्तको निर्विकार रखना ही जीवनका ध्येय है। और यही जीवन्मुक्तिका सच्चा अभ्यास है।

६२–सबमें परमात्मा है, परमात्मामें सब है, परमात्मा ही सर्वरूप हो रहा है—ये तीनों निष्ठाएँ जीवन्मुक्तिके अभ्यासके लिये आवश्यक हैं और ये तीनों ही सत्य हैं। मेरे साथ-साथ यह सब कुछ परमात्म-स्वरूप है, इस अभ्यासमें उपर्युक्त तीनों अभ्यास सम्मिलित हैं। अतएव यह अभ्यास नित्य करे, यह सबमें श्रेष्ठ साधन है। जो कुछ अनुभवमें आता है, वह सब परमात्मस्वरूप है—यह परम सत्य सिद्धान्त है, इसको अनुभवमें लानेका प्रयत्न करनेका नाम ही सच्चा योगाभ्यास है। जिससे सब परमात्मस्वरूपमें अनुभूत होते हैं, वह सच्ची ज्ञान-निष्ठा है। परमात्माके सिवा दूसरा कुछ सत्य है ही नहीं और जो कुछ भासता है, उसे मृग-मरीचिकाके जलके समान मिथ्या समझे। परमात्मा सत्य है, वह तीनों कालमें अबाधित, एक, अखण्ड, अजर, अमर और सर्वव्यापक है और इसके सिवा उसमें जो कुछ भासता है, वह मिथ्या है। यह चिन्तन सदा करता रहे।

६३–परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, सर्वशक्तिमान् है—यह सभी कहते हैं। यदि परमात्मा सर्वत्र है तो जगत् कहाँ है! जहाँ जगत् होता है, वहाँ परमात्मा नहीं होता और जहाँ परमात्मा होता है, वहाँ जगत् नहीं होता। एक ही जगहमें दो वस्तुएँ नहीं हो सकतीं। तथापि जो दीखता है, वह दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान, पानीमें छायाके समान, मरुभूमि-में जलके समान तथा जादूगरके झूठे रुपयेके समान मिथ्या दीखता है। इसी प्रकार परमात्मा सत्य है, सर्वत्र है और उसमें यह जगत् मिथ्या भासता है—इस सत्यको जानकर चित्तको सदा अविकारी और शान्त रखकर शरीरसे कर्तव्य कर्म करता रहे और आसक्ति, आग्रह तथा फलेच्छा-का त्याग करे।

६४–परमात्मा सर्वत्र है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, वह सब प्राणियोंका अकारण सुहृद् है और वह परमात्मा ही मेरा वास्तविक स्वरूप है। वही प्राणिमात्रका अन्तरात्मा

है, और वह आत्मा मैं हूँ। यह जान लेनेपर भी मन अनेक जन्मोंके संस्कारोंके कारण इसे मानता नहीं, बुद्धि इसे स्वीकार नहीं करती। हम कैसे हैं ? गीता कहती है—जैसी श्रद्धा, वैसा स्वरूप। हमारी जैसी श्रद्धा है, वैसा ही हमारा आत्मा है। वैसे ही हम हैं। श्रद्धाका आधार बुद्धि है। बुद्धिमें संसार जैसा दृढ़ होता है, वैसी श्रद्धा होती है। इसलिये जबतक बुद्धि शुद्ध न हो जाय, तबतक आत्मज्ञान दृढ़ नहीं होगा, तबतक आत्मसाक्षात्कार नहीं होगा।

गीताकी साहित्य-सुषमा

(लेखक—स्व० डा० क्षेत्रलाल साहा, एम्० ए०, डी० लिट्०*)

विश्व जिसकी कल्पना है, गीता भी उसीकी कल्पना है। विश्व-काव्यके कवि और गीता-काव्यके कवि एक ही हैं। विश्वके बारेमें हम कितना ज्ञान रखते हैं ! यही बात गीताकी भी है। अन्धकारमय आकाशमें जैसे शत-सहस्र नक्षत्र प्रकाशित हैं, उसी प्रकार गीतामें शब्दसमूह प्रकाशित हो रहे हैं। हम उनमें ज्योतिर्बिन्दुकी कल्पना करते हैं, परंतु वे एक-एक विशाल जगत् हैं। गीतामें एक इन्द्रजालका खेल है। जिसको हम जो समझते हैं, वह वह वस्तु नहीं है, बल्कि कुछ और ही है। प्रत्येक श्लोक मानो भावमें, आभासमें, गुञ्जनमें, चमकमें, दमकमें, क्या-क्या कहकर चला जाता है। चित्तको व्याकुल करके, बुद्धिको अभिभूत करके छिप जाता है। फिर जैसे-का-तैसा रह जाता है—एक अचञ्चल नक्षत्रके समान। गीताका कवि जादू जानता है। एक अजब यन्त्र हाथमें लेकर सैकड़ों दर्शकोंको दिखलाकर चला जाता है। कोई आम देखता है, कोई सेब, कोई जामुन, कोई बैर, कोई अनार, कोई अमरूद और कोई अंगूर। तत्पश्चात् सब विवाद करते हैं। कोई कहता है—मैंने चखकर देखा है, यह आम है। दूसरा एक कहता है कि यह अंगूर है, इसमें कोई संदेह नहीं। मायावी श्रीकृष्णने व्यास मुनिको अद्भुत काव्यकी दिशा दिखला दी थी।

गीता काव्य है तथा विश्वके समस्त काव्योंका प्राणभूत काव्य है। गीताकी इस प्रकृतिसे इसका अनुभव किया जाता है। यह दर्शन-काव्य है, दार्शनिक काव्य नहीं। यह ज्ञान-विज्ञान-काव्य है, वैज्ञानिक काव्य नहीं है। दर्शनका व्यापार होता है केवल ज्ञानको लेकर। काव्यका व्यापार जीवन और हृदयके ऊपर अवलम्बित होता है। जीवंत, प्राणवान्, गतिमान् दर्शन गीतामें अभिव्यक्त हो रहा है। इसीसे गीता-काव्य है, अद्वितीय काव्य है, इसकी कहीं तुलना नहीं है। काव्यमें सौन्दर्यका होना आवश्यक है। गीता सौन्दर्यसे पूर्ण है। भावमयी सुषमासे भरपूर है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।' गीतामें निगूढ़तम रसकी स्फूर्ति है। इसी कारण बुद्धिके द्वारा गीता समझमें नहीं आती। भाव और भक्तिकी आवश्यकता होती है। यह केवल ज्ञान-तत्त्वकी समालोचना (Critique of Pure Reason) नहीं है। यह चिदानन्द द्वारमें सर्वस्वरूपकी पूर्ण उपलब्धि है। इसको शुष्क तत्त्वग्रन्थ या गुरुतर और दृढ़तर धर्मग्रन्थ मानकर ही हम नाना प्रकारकी गड़बड़ी पैदा करते हैं। यह तत्त्व और धर्म तो अवश्य ही है, किंतु यह साक्षात् तत्त्व-संदर्शन और धर्म-संजीवन है। भेद अनेक हैं। नीति और नीतियुक्त जीवन एक वस्तु नहीं है।

समस्त विश्वतत्त्व गीताकी रूपमूर्त्ति बन रहा है। दर्शन गीतामें स्पर्शन-योग्य देह धारण कर रहा है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग, त्वक्-मांस-शोणित आदिसे युक्त देह है। इसी कारण किसी निर्दिष्ट तत्त्वकी दृष्टिसे गीताका अध्ययन करनेपर गीताकी अर्थ-संगति नहीं होती। जिस प्रकार केवल त्वक् या अस्थि या स्नायु या मनका अनुसंधान करनेसे पूर्ण मनुष्यकी उपलब्धि नहीं हो सकती। उसी प्रकार सांख्य, वेदान्त, योग, कर्म, ज्ञान, भक्ति—किसी भी एक सूत्रके पकड़नेसे गीताका स्वरूप-बोध नहीं होता। गीता सांख्य-वेदान्त-धर्म-ज्ञान-भक्तिमयी हृदय-मनः-प्राण-चञ्चला ब्रह्मज्योतिर्मयी देवी है। सुर-नर-मुनिगण उसका दर्शन करनेके लिये व्यग्र हैं।

* स्वर्गीय श्रीसाहा महोदय बहुत बड़े विचारशील विद्वान् तथा 'कल्याण'के पुराने लेखक थे। इन्होंने अपने दृष्टिकोणसे गीतापर नवीन ढंगसे विचार किया और उसे लिपिबद्ध करके भेजा था। उसीको यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। —सम्पादक

ददृशुस्ते ततो देवीमीषद्धासां व्यवस्थिताम्।
सिंहस्योपरि शैलेन्द्रशृङ्गे महति काञ्चने॥
(दु० स० अ० ७। ३)

इसी कारण गीता—

गङ्गा गीता च सावित्री सीता सत्या पतिव्रता।
अर्द्धमात्रा चिदानन्दा भवघ्नी भ्रान्तिनाशिनी॥

ये सब बातें उत्प्रेक्षा या अर्थवाद नहीं हैं। गीताकाव्य मूर्तिमयी तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी है। सचमुच काव्यका विशेषत्व यही है। इसमें 'अनेक' अर्थात् बहुतमें एककी प्रतिष्ठा होती है तथा एक अनेक रूपावरणमें मूर्तिमान् और क्रियावान् होता है। काव्यमें एक केन्द्रीभूत प्राण-वस्तु होती है। वह सारे अंशभूत अङ्ग-प्रत्यङ्गको अङ्गाङ्गीभावमें गूँथकर अपने साथ एकीभूत करती है, प्राणयुक्त करती है, नियन्त्रित करती है और नाना प्रकारके कार्योंमें प्रेरित करती है। वे कार्य पृथक्-पृथक् अनेक नहीं रहते, एकका अनुगमन करके एक हो जाते हैं। अखण्डरूपमें प्राण प्रत्येक अङ्गमें प्रतिबिम्बित होता है। प्रत्येक अङ्ग इस प्राणके अनुस्यूत होकर प्राणका दर्पण-स्वरूप हो जाता है। यह जो वृक्ष है, इसकी शाखा, प्रशाखा, पल्लव, पत्र, पुष्प, फल—कुछ भी वृक्ष नहीं है; तथापि सब ही वृक्ष हैं। प्रत्येक अंश ही इस सजीव वृक्षकी पूर्णताके साधनमें तथा जीवनानुभावमें नियुक्त है।

जैव सृष्टिका यही नियम है, कला-सृष्टिका भी यही नियम है। समष्टिके साथ व्यष्टिका भाव, परिमाण, आकार, संख्या आदिकी संगति और सामञ्जस्य स्थापित होनेपर ही सुषमाकी सृष्टि होती है। गीता सर्वत्र सुषमामयी है। गीता अष्टादश अध्यायोंमें विभक्त है। परंतु जान पड़ता है कि पहले गीताका कोई अध्याय-विभाग नहीं था। अध्याय-परिच्छेद-शून्य पूर्णाङ्गी गीता रचे जानेके बाद व्यासजीने सर्वसाधारणकी सुविधाके लिये गीताका अध्याय-विभाग कर दिया। गीताकी तत्त्व-विवृति इस प्रकार निरवच्छिन्न प्रवाहमें चली गयी है, कहीं भी छिन्न नहीं है, कहीं भी व्यवधान नहीं पड़ता। प्रत्येक अङ्ग दूसरे अङ्गसे संयुक्त है, मानो एक देह हैं। जान पड़ता है ऋषि सम्पूर्ण गीतामें केवल एक ही बात कहना चाहते हैं, केवल एक ही गीति—कविता लिखना चाहते हैं, केवल एक ही रागिणीका आलाप करना चाहते हैं। तथापि वे इस प्रकारसे करते हैं, मानो उसी एक ही बातमें विश्वकी सारी बातें प्रकाशित हो जाती हैं, मानो उसी एक कवितामें विश्वके सारे रस-रूप अभिव्यञ्जित होते हैं, मानो उसी एक रागिणीमें ही विश्वका सारा संगीत झंकृत हो उठता है।

गीताके अवयव-संस्थानमें एक सुचारु शृङ्खला है। गीताके अध्यायोंकी संख्या अष्टादश है। प्रथम अध्याय उपक्रमणिका है—सारी गीतोपनिषद्का अधिष्ठान (back ground या setting) है। शेष अध्याय उपसंहार है, समस्त प्रतिपादित विषयोंका संग्रह (synopsis) है। धृतराष्ट्रकी जिज्ञासासे संजयके मुखद्वारा गीताका प्रारम्भ होता है। सबके अन्तमें संजयकी उक्ति पाँच श्लोकोंमें अति मनोरम रूपमें गीताकी परिसमाप्ति है। संजय कहते हैं—'मैंने कृष्णार्जुनकी यह रोमाञ्चकारिणी अद्भुत कथा सुनी है, व्यासकी कृपासे वक्ता स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्णके श्रीमुखसे यह निगूढ़ और परम तत्त्व सुना है। केशवार्जुनका यह अद्भुत संवाद मैं जितना ही स्मरण करता हूँ, उतना ही पुलकित हो रहा हूँ। मैं श्रीहरिके अति अद्भुत रूपको जितना ही स्मरण करता हूँ, उतना ही महान् विस्मयसे अभिभूत होता हूँ।' 'अद्भुत' शब्द तीन बार, 'संस्मृत्य' दो बार तथा 'हृष्यामि' दो बार प्रयुक्त हुआ है। इससे संजयकी महान् भावाविष्ट अवस्था अति उज्ज्वल रूपमें व्यक्त होती है। संजय गीताके रूप, काव्यैश्वर्यमें तन्मय हैं।

द्वितीय अध्यायसे एकादश अध्यायतक गीताका प्रथमार्द्ध है तथा द्वादशसे सप्तदश अध्यायपर्यन्त द्वितीयार्द्ध है। प्रथमार्द्धके दो भाग हैं। द्वितीयसे षष्ठ अध्यायतक तथा सप्तमसे एकादश अध्यायतक। द्वितीयार्द्धके भी दो भाग हैं—द्वादशसे पञ्चदश अध्यायतक और षोडशसे सप्तदश अध्यायतक। इन चार विभागोंमेंसे प्रथम विभागमें जीवात्मतत्त्व विवृत हुआ है। तृतीय और चतुर्थ विभागमें भी (१२ से १७ वें अध्याय तक) जीवात्मतत्त्व है। परंतु उनमें बहुत भेद है। प्रथम विभागमें जीवात्माका आत्मांश प्रधान है और वह आत्मांश परमात्माभिमुख है। तृतीय और चतुर्थ विभागमें जीवात्माका जीवांश प्रधान है और वह जीव प्रकृति-अभिमुख है। तृतीय और चतुर्थ भागका अन्तर यह है कि तृतीयमें प्रधानतः जीवकी दैवसम्पद् और चतुर्थमें आसुरभाव उक्त हुआ है।

दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।
(अ० १६। ६)

संक्षेपमें, प्रथम भागमें परमात्मसाधन-प्रयासी ब्रह्मभावाकाङ्क्षी आत्माकी कथा है। द्वितीय भागमें परमात्मतत्त्वकी विवृति है। तृतीय भागमें आत्मा और प्रकृतिका सम्बन्ध है, प्रकृतिगत आत्मा है। चतुर्थ इनसे निम्न स्तरमें है, वहाँ तामसी प्रकृतिके अनुगत आत्मा है।

दूसरे देखनेपर प्रथमार्द्धमें आत्मतत्त्व ब्रह्मतत्त्वमें योगयुक्त हो रहा है। द्वितीयार्द्धमें आत्मतत्त्व प्रकृतितत्त्वमें विलीन हो रहा है और यहीं भक्तितत्त्वके प्रेमाञ्जनसे प्रकाशित दृष्टिसे देखनेपर ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण और श्रीराधा अति मनोहर युगल-मिलनमें प्रभासित हो रहे हैं तथा दूसरी ओरसे देखें तो ज्योतिर्मयी हर-पार्वतीकी मूर्ति दीखती है। एक ओरसे किशोर-किशोरी प्रेममयी हैं और दूसरी ओरसे जनक-जननी स्नेह-कल्याणमयी हैं; परंतु गीतामें प्रधानतः राधा-कृष्ण आभासित नहीं हैं। शिव-दुर्गा ही प्रतिभासित हो रहे हैं। यह बात अद्भुत-सी लग सकती है, परंतु है सत्य। इसपर आगे विचार करेंगे। श्रीरामकृष्ण परमहंसदेवका मैंने एक चित्र देखा है। उसमें लंबे और सीधे कुछ ऐसे काँचके टुकड़े लगाये गये हैं कि सामनेसे देखनेपर जान पड़ता है कि रामकृष्णदेव भक्ति-भक्तरूप हैं, दूसरी दृष्टिसे देखनेपर दीखता है कि सृष्टि-संहारकारिणी महाकालीके पदतलमें सकल मङ्गलमय शिव हैं। विपरीत दिशासे देखनेपर जान पड़ता है कि श्रीराधा-कृष्ण युगल —प्रेम-मिलनमें मिल रहे हैं। गीताके अन्तरङ्ग भावरूपी ध्यान-नेत्रसे देखनेपर यही भाव प्रतिभात होता है। सामनेसे कर्म-ज्ञान-भक्तिविधायिनी जीव-प्रकृति एक दृष्टिसे राधा-कृष्ण हैं और दूसरी दृष्टिसे शिव-दुर्गा हैं।

गीतामें किसी निर्दिष्ट खण्डित तत्त्वकी व्याख्या नहीं है।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
(श्रुति)

गीतामें यही पूर्णत्वयुक्त समस्त मूर्त्त प्रकाशित है।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(भागवत)

—इसीकी प्रकाशरूपमयी गीता है। जीवात्माने देह धारण करके संसारमें प्रवेश किया। यही मानव-जीवनका आरम्भ है। जीव क्या है? आत्मा क्या है? देह क्या है? संसार क्या है? यह सब प्रारम्भिक जिज्ञासा है, प्रथम प्रश्न है। संसार कर्मक्षेत्र है, कर्ममय है। कर्म ही संसार है। संसार जगत्में है, संसारके लिये ही जगत् है। जगत्में जो कुछ है, सब कर्म है। जगत् ही कर्म है, जगत् कार्य भी है। किस क्रियाका कार्य है? विसर्पण-क्रियाका कार्य है। किसका विसर्जन?—ब्रह्मका अर्थात् भगवान्का। क्या विसर्जन? भगवत्ताका विसर्जन। किसके प्रति? निज प्रकृतिके प्रति। विश्वसृष्टि एक त्यागकी लीला है। तत्त्व तो 'एकमेवाद्वितीयम्' है, इसमें त्याग कैसे होगा? —होगा। ब्रह्म उनका पूर्ण स्वभाव है। उन्होंने अपना सर्वस्व अपनी प्रकृतिको दान कर दिया। प्रकृति ब्रह्मके ही अन्तर्गत है, उसकी स्वगत है, वे अखण्ड-अद्वय होकर भी दानके लिये भिन्नवत् हो गये, दो हो गये—ब्रह्म हो गये और प्रकृति हो गये। इस प्रकार एक होते हुए भी उनकी एक महती शक्ति है। उस शक्तिका नाम माया है। यह सब विविध भेदरूप अनेकीभाव वे क्यों करते हैं? बादरायण कहते हैं—'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्।'

हम सहज ही इसका अर्थ समझ सकते हैं। ब्रह्म आनन्दमय है, रसमय है—'रसो वै सः।' जो परानन्द है, वही प्रेम है। प्रेम विसर्जनात्मक है। अपनेको दान कर देनेकी उत्कट इच्छाका नाम ही प्रेम है। ब्रह्म प्रेममय हैं, अतएव आत्मदान उनके लिये अत्यन्त आवश्यक है। ब्रह्मकी यह इच्छा ही द्वैतभाव सृजन करती है। काम और काम्य, पुरुष और प्रकृति, स्वभाव और अभाव, पाजिटिव और नेगेटिव आकर्षणमयी विभिन्न विद्युत्शक्ति—स्तर-स्तरमें इस प्रकारके भावोंके विकासमें विश्व अभिव्यक्त होता है।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि-
मनसोरेतः प्रथमं यदासत्।
(श्रुति)

आनन्द, रस, प्रेम, काम—सब तत्त्वतः एक हैं। इसी कारण श्रुति कहती है—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।

विश्व-सृष्टिकी यही आदि-कथा है। गीताकी एक बात बहुत रहस्यमय जान पड़ती है—

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।
(८।३)

(७)

कर्म किसे कहते हैं ? जिस विसर्जनसे जीवभावका उद्भव होता है, वही कर्म है । ब्रह्मका वह आत्म-समर्पणका व्यापार यहाँ सूचित होता है । एक ओर राधा-कृष्णकी प्रेमलीला है सर्वशिरोमणि और दूसरी ओर है जीवगणका मौन आकर्षण । सबसे नीचे अणु-परमाणुकी संयोगशीलता । सर्वत्र वस्तुतः आत्मसमर्पणकी आकाङ्क्षा है ।

इसमें एक विशेष बात है । ब्रह्मने प्रकृतिके प्रति आत्म-समर्पण किया, इससे प्रकृति ब्रह्ममयी हो गयी और ब्रह्म प्रकृतियुक्त हो गये । ब्रह्मका विभाग नहीं होता, अतएव समस्त ब्रह्म ही प्रकृतिगत हो गया । परंतु सबसे बढ़कर आश्चर्यकी बात यह है कि यह सब होते हुए भी ब्रह्म ज्यों-का-त्यों ही रहा, उसके स्वरूपमें न तो कोई व्यत्यय हुआ, न कोई अंश-विभाग ही हुआ । अतएव श्रुति कहती है—

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

श्रुति और भी कहती है—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।

दोनों बातोंका समन्वय कैसे होगा, यह विचारणीय है । परंतु इधर कुछ और ही बात हुई—

न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥

(गीता १० । ३९)

गीताके नवम अध्यायके ४-६ श्लोकमें यह विषय उक्त है । चण्डीदासका एक पद है । श्रीकृष्ण श्रीराधाजीसे कहते हैं—

जपिते तोमार नाम, वंशीधारी अनुगाम तोमार चरणेर परिवास ।
तुया प्रेम साधि गोरी, आइनु गोकुल पुरी बरज मण्डले परमाय ॥

इस पदमें जो निगूढ़ अर्थ है, वह इस ज्ञानालोकमें देखा जा सकता है । तुम्हारे चरणोंका परिवास कितना सुन्दर है ! अर्थात् मैं तुम्हारे प्रेमवश निर्गुण ब्रह्म होकर भी सगुण भगवान् बनता हूँ । इसी कारण श्रीकृष्ण व्रजाङ्गनाओंके 'गुण'-निधि हैं ।

(८)

कर्मसे ही विश्वकी उत्पत्ति है । कर्मको लेकर ही मनुष्य-जीवनका आरम्भ है । कर्म ही जीवन है; क्योंकि कर्म ही गति, चेष्टा और परिवर्तन है । जीवन भी वही है । सद्योजात शिशुकी भाव-गतिको ध्यानपूर्वक देखनेसे ज्ञात हो जाता है कि जीवनका अर्थ क्या है । चञ्चलता ही जीवन है । चञ्चलता अर्थात् केवल चलना । इसकी विरोधिनी स्थिरता है । जगत् भी केवल चलता है, इसी कारण इसका नाम जगत् है । जगत्का अर्थ है—नित्यगति, चञ्चल । हीराक्लीतसने यूनानमें इस तत्त्वका प्रचार किया था कि प्राकृतिक प्रेरणासे ही लोग काम करते हैं—

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

(गीता ३ । ५)

स्वाभाविक कर्म सुखका हेतु है । विश्वमय कर्मका एक-एक अंश एक-एक आदमीके भागमें अर्थात् भाग्यमें आया है । यही प्राप्त कर्म अर्थात् स्वभावगत कर्म यदि चित्त अस्वीकार करता है और उसके सम्पादनसे विमुख होता है, तब विचार आरम्भ होता है । जिसके करनेमें सुखानुभव होता है, क्या वही कर्त्तव्य है ? कार्य तो एक नहीं है, अनेक हैं । कौन-सा कार्य करें ? किस उद्देश्यसे करें ? कामनाको पूर्ण करनेके लिये तो बहुत-से कर्म किये गये । परंतु कामनाका कहीं अन्त नहीं दीखता । कर्म जालके समान हमको फँसाये रखता है । जो कुछ करना होता था, पहले उसे मैं ठीक समझ पाता था, देख पाता था । पर अब तो सब अस्पष्ट हो गया है । पद-पदपर कर्म-संशय और कर्म-संकट उपस्थित होता है । कर्म-परित्याग असम्भव हो जाता है । स्थिर होकर मैं बैठ नहीं सकता, खड़ा नहीं हो सकता । सामने कर्मकी पुकार है, पीछेसे केवल कर्म ढकेलता है । पर कर्ममें प्रीति कहाँ है ? कर्म तो भयावह है । मैं क्यों कर्म करूँ ? कौन कर्म करेगा ? कर्मका फल अति दारुण है । मैं कर्म नहीं करूँगा, नहीं कर सकूँगा । इसी स्थितिमें गीताका प्रारम्भ होता है । इसीका नाम माया-जाल है । इस अवस्थामें गुरुके चरणोंका आश्रय लेना पड़ता है । इसी कारण अर्जुनने कहा है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

(९)

धर्म-तत्त्व या नीतितत्त्वकी आलोचना करना गीताके

उद्देश्य नहीं है। गीताने बतलाया है कि किस प्रकारसे जीवन-यापन करना चाहिये। 'जीवनमें ही सारे तत्त्वोंका समावेश है। कर्म कौन करता है?—प्रकृति। किसके लिये? पुरुषके लिये। पुरुषके भोग और मोक्षके लिये। पुरुष कौन है?—पुरुष आत्मा है। अर्जुन! तुम्हारे सामने अति भयानक भ्रम उपस्थित हुआ है। आत्मीय स्वजनोंकी मृत्युकी चिन्तासे तुम आकुल हो रहे हो। भ्रम है! भ्रम है! मनुष्य देह नहीं है, आत्मा है। देहका विनाश होता है, आत्मा अविनाशी है। आत्माके जन्म-मरण नहीं है। आत्माने कितने देह धारण किये हैं, भविष्यमें कितने देह धारण करेगा—इसकी इयत्ता नहीं है। जैसे जीर्ण वस्त्रका परित्याग किया जाता है, वैसे ही मृत्यु भी है। तुम युद्ध करो।'

जन्म-मृत्युका प्रश्न मनुष्य-जीवनमें सबसे बड़ा प्रश्न है। इस बातको अच्छी तरह समझे बिना जीवन-यापन करना अँधेरेमें चलनेके समान है। आत्माके तत्त्वको बिना समझे जीवनका लक्ष्य स्थिर नहीं हो सकता। परंतु आत्मतत्त्व अति दुरूह है, अति निगूढ़ है।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा
नहि सुविज्ञेय अणुरेष धर्मः। (श्रुति)

आत्माका विवरण सुननेसे ही आत्मज्ञानकी उपलब्धि नहीं हो जाती। आत्मा अज, नित्य और शाश्वत है। विरज, विमृत्यु, विशोक, सत्यकाम, सत्यसंकल्प है। अणुसे भी अणु है। महान्से भी महान् है। अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकार्य है। इसका अनुभव होना बहुत ही कठिन है, इसी कारण गीता एकाध्यायिनी नहीं है, अष्टादशाध्यायिनी है। फिर भी इस वर्णनको अवहित चित्तसे सुनना आवश्यक है। एक सार बात याद रखनेयोग्य है। नीति और धर्मका साधन, भजन, जप-तप, दान-यज्ञ, ज्ञान-भक्ति—जो कुछ मनुष्यके लिये करणीय या पालनीय है, सब कुछ आत्माको जाननेके लिये है और आत्माको जाननेका अर्थ है आत्माको प्राप्त करना। जबतक हम आत्माको नहीं जान लेते, तबतक मानव-जीवन अधिकांशमें अपूर्ण रहता है। तब फिर आत्माकी आराधना न करके ईश्वरकी आराधना क्यों करें? इसलिये कि ईश्वरको पानेपर ही आत्माकी पूर्णरूपसे प्राप्ति हो सकती है—यह अति अपूर्व, अति आश्चर्यजनक तत्त्व है। "अर्जुन! सुनो—एक-एक करके सब बतलाना है। जो सबसे निकट है, सबसे सहज है, सबसे अधिक प्रत्यक्ष है, वहींसे आरम्भ किया जाता है। वह क्या है? क्या तुम जानते हो? वह कर्म है, अतएव कर्मयोग सुनो।

"प्रापञ्चिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक—विश्वमें जो कुछ है, सभी कुछ स्रोतके समान है। आत्मासे प्रवाहित होकर आत्मामें जाकर मिल रहा है। सब कुछ योगवर्त्म है। मनुष्य-जीवनमें जो कर्म है, वह भी एक स्रोत है। वह कर्मस्रोत किस प्रकार ब्रह्मसागरमें पड़ता है, यही आगे बतलाना है। यही कर्मयोग है। विश्वके विभिन्न स्रोत पृथक्-पृथक् नहीं हैं। सभी परस्पर संयुक्त हैं। कब कौन-सा स्रोत कैसे किसके साथ मिलता है, किस प्रकार जाल बुनकर एक साथ मिल जाता है और फिर पृथक् रूपमें प्रवाहित होता है—इसका पता लगाना बहुत ही कठिन कार्य है। तथापि जहाँतक सम्भव होगा, पृथक्-पृथक् करके बतलाया जायगा। परंतु फिर भी पृथक्-पृथक् नहीं होगा।

"कर्म आवश्यक है, परंतु कर्म इतने जाल-जंजालमें फँसाकर यन्त्रणा क्यों देता है?—कामनाके कारण। कामना करके अर्थात् सुखकी इच्छासे कर्म करनेपर दुःख होना अनिवार्य है, सांसारिक क्षणस्थायी सुखसे क्या लाभ होगा? अनन्त सुखके सिन्धु जो भगवान्, परमात्मा हैं—उन्हींको प्राप्त करनेके लिये कर्म करो। बात समझमें नहीं आ रही है, आ जायगी। पहले कामनाका परित्याग करो। वासना कुहासाके समान है, आशा कु-आशा है। ज्ञानके सूर्यको आवृत कर रखती है। सुखाशाके अभ्यासका त्याग करो। कर्मका त्याग नहीं हो सकता। उसके लिये चेष्टा न करो। 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।' कर्म शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्यका मूल है। कर्मशक्ति नदीके समान है। बहती जायगी। बंद करोगे तो सड़न पैदा होगी। वृक्ष-लता, शस्यादि सड़ जायँगे। देशका अधःपतन होगा।

"व्यर्थकी वासनाका त्याग करके, इन्द्रियसंयम करके स्थिर होकर कर्त्तव्य कर्म करते रहनेसे ही तुम्हारा ज्ञानालोक प्रकाशित होगा। बुद्धि निर्मल होगी। अब ज्ञानकी बातें कही जाती हैं सुनो।

"ज्ञानोदयका प्रथम लक्षण है—कर्मराज्यका आलोकित होने लगना। धीरे-धीरे यह स्पष्टरूपमें दिखायी देने लगता है कि सब कुछ शृङ्खलामें गुँथा हुआ है। श्रेणीबद्ध, स्तर-स्तरपर कर्म-सुकर्म, कुकर्म-अकर्म—सारे भेद क्रमशः समझमें

आने लगते हैं। इसमें एक आश्चर्यकी बात दीख पड़ेगी। जिसको तुम केवल अज्ञानात्मक कर्म समझते थे, वह केवल शुष्क कर्म नहीं है। वह भी ज्ञान है। कर्ममात्रको ही ज्ञानमें परिणत किया जा सकता है। रासायनिक प्रक्रियाके द्वारा भौतिक पदार्थको जैसे कठिनावस्थासे तरलावस्थामें तथा तरलावस्थासे वायवीयावस्थामें परिणत करते हैं, उसी प्रकार कठिन कर्मको भावमय ज्ञानमें परिणत किया जा सकता है। केवल यही नहीं। कर्म जितना ही निष्काम होता है और ज्ञान जितना ही निर्मल होता है, उतना ही कर्म बिना प्रयासके ज्ञानमें पर्यवसित हो जाता है। चाहे कितना ही घनिष्ठ भावसे कर्म क्यों न करें, जान पड़ेगा कि ज्ञानानुशीलन ही किया जा रहा है। कर्मसे ज्ञान तत्त्वतः पृथक् नहीं है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ॥
(गीता ५ । ४)

''ज्ञानके साधनमें आरोहण करनेपर कर्मका परित्याग नहीं किया जा सकता, ऐसी बात नहीं है। परंतु कर्मका त्याग न करना ही श्रेय है; क्योंकि कर्मका परित्याग करके ज्ञानका आश्रय लेनेपर तामसिक आलस्य और अवसादके घोर अन्धकारमें पड़कर अन्तमें ज्ञानतकको खोकर अधःपतित होनेका विशेष भय रहता है।

''संन्यास बहुत श्रेष्ठ है। परंतु संन्यासके लिये कर्मत्याग आवश्यक नहीं है। इसके अतिरिक्त केवल कर्मत्याग करनेसे ही कोई संन्यासी नहीं हो जाता। लौकिकी नीति भी यही कहती है—

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां
गृहे तु पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः।

''तब संन्यासी कौन है? जिसमें आकाङ्क्षा नहीं है, द्वेष नहीं है, जो सुख-दुःख, लाभालाभ, इष्टानिष्ट, शत्रु-मित्र, सबको अविकृत चित्तसे एक दृष्टिसे देखता है, वही संन्यासी है; कर्मक्षेत्र ही इस संन्यास-साधनका उत्कृष्ट स्थान है। सम्पूर्ण वासनाविहीन अहंकारशून्य कर्मानुशीलन ही श्रेष्ठ संन्यास है। मेरे भीतर जो 'मैं' है, वह मैं तो कुछ भी करता नहीं है। इन्द्रियाँ विषयोंमें विचरण करती हैं। मैं जानता हूँ, देखता हूँ—बस, इतना ही मात्र। इस कर्म-प्रवाहके बुरे-भलेके साथ, लाभ-हानिके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। देह, मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि मिल-जुलकर अपना-अपना काम करते हैं, उनमें न मैं बाधा दूँगा और न योग ही दूँगा। प्रकृति ईश्वरके निर्देशानुसार कार्य करती जा रही है। सारे कार्य उसीके हैं और उसीके रहें। यदि कहीं मेरा कार्य है, ऐसी धारणा होती है तो उसे ईश्वरको समर्पण कर देनेमें ही सुविधा है, उसीमें सुख है। दूसरेका जो है, वह दूसरेका ही रहे। दूसरेकी वस्तु उसको दे दें, तो भी हमको प्रचुर लाभ है। ब्रह्मके सिवा दूसरा कौन पर (दूसरा) है? सुख चाहनेसे ही दुःख होता है, सुख-वासना त्याग करनेपर सुख-ही-सुख है। मैं आत्मा हूँ। आत्माको लेकर एकान्तमें रहते हुए प्रकृतिकी कर्मलीला देखते रहना अपार सुखका हेतु है। कैसी सुन्दर बात है! जो कुछ सुख है, सब हमसे ही है; जो कुछ शान्ति, तृप्ति, आनन्द, ज्योति है—सभी कुछ तो हमारे भीतर है। हम कर्म करते हैं, ज्ञान प्राप्त करते हैं, कर्म करके भी कर्मत्याग करते हैं, संन्यास करते हैं, हमारे भीतर आनन्द और ज्योतिका अटूट स्रोत है—इस बातको ध्यानस्थ होकर देखो!

''ध्यानयोगी पतञ्जलिके द्वारा प्रदर्शित अध्यात्म-साधन प्रारम्भ हुआ कि चित्त स्थिर और निर्विकार हुआ। मैं अपनेमें अर्थात् आत्मामें अधिष्ठित दीपशिखाको प्रज्वलित करता हूँ, परंतु निष्कम्प। कामनाकी वायु वह नहीं रही है। इन्द्रियानुभवसे अतीत सुख केवल बुद्धिद्वारा अनुभूत हो रहा है। अति गम्भीर, अति निविड़ सुख है। जान पड़ता है सब सुखोंका सार है। यही तो परम लाभ है! यह जब प्राप्त हो गया, तब और कुछ भी आवश्यक नहीं रहा। फिर दुःखका भय नहीं रहा, सुखका साम्राज्य प्रतिष्ठित हो गया है। सुखके साथ-साथ ज्ञान, मानो ज्ञान ही सुख है और सुख ही ज्ञान है। कैसा अद्भुत ज्ञान है! विश्वमें जो कुछ है, जो कोई है, सब कुछ भी तो मेरे भीतर है, यह कैसी विस्मयकी बात है! और मैं ही सर्व भूतोंमें हूँ। कुछ भी तो मुझसे अतिरिक्त नहीं है।

''तो क्या आत्मा ही विश्वकी प्रतिष्ठा है? अवश्यमेव। इस आत्मज्योतिके पीछे जो दूसरी ज्योति दिखायी देती वह और भी उज्ज्वलतर ज्योति है, ये हैं अधिष्ठानरूपमें लि परमात्मा। यहींपर चैतन्य, सच्चिदानन्द हैं, उनका आभ मेरी आत्मा है, यह उन्हींकी छाया है। ज्योतिकी छ ज्योतिरूप है, हम आभासचैतन्य हैं, हम चिच्छाया हैं इस ज्योतिश्छायाके साथ-साथ परमात्माकी एक तमस्क

है, उसका भी अनुभव हो रहा है। उसके आठ अङ्ग हैं—बुद्धि, मन, अहंकार, व्योम, वायु, वह्नि, जल, भूमि। आभास-चैतन्यरूपी आत्माकी यह तमश्छाया ही उपाधि है। ये दो छाया परमात्माकी दो प्रकृति हैं—परा और अपरा। परमात्माकी पराप्रकृतिरूपिणी जीवभूता आत्मा है और अपरा प्रकृति विश्व-बीजमयी, विश्वजननी है। इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सब कुछ इन्हीं तीनोंके अन्तर्गत है। परमात्मा, परा प्रकृति और अपरा प्रकृति!

"विश्वमें सब कुछ ब्रह्म है, सब कुछ आत्मा है। इसमें दो भाव लक्ष्यमें रखने योग्य हैं—एक क्षर और दूसरा अक्षर। दृश्यमान जगत्का जो नित्य चञ्चल, नित्य परिवर्तनमय विभाव है, वही क्षर ब्रह्म है और इसके भीतर, इसके परपारमें जो दूसरा एक निश्चल, निर्विकार, नित्य, निरञ्जन, सर्वातिशायी, सनातनभाव है, वही अक्षर ब्रह्म है। इनमें विभिन्न भूतभाव धारण करके जो आत्मा स्थित है, उसका नाम अधिभूत है। समस्त विश्वके अन्तर्यामीरूपमें जो है, वह अधिदैवत है। प्रत्येक व्यष्टि देहके अन्तर्देशमें जो है, वह अधियज्ञ है। अधिदेवता ही परम पुरुष है। मृत्युकालमें उसी परम पुरुषका ध्यान करते हुए प्रयाण करनेपर फिर संसारमें लौटकर नहीं आना पड़ता। यह जो अपरा प्रकृतिके विषयमें कहा गया है, इसीका नाम अव्यक्त है। इसीसे कल्पके आदिमें विश्वका उद्भव होता है तथा कल्पके अन्तमें इसीमें विश्व विलीन हो जाता है—सब कुछ विलीन हो जाता है। रह जाता है केवल इस अव्यक्तसे विलक्षण एक अव्यक्त सनातन तत्त्व। वही ब्रह्म है, वही भगवान् है, वही परम गति है, वही परम ध्यान है, वही परम पुरुष है, उसे भक्तिके द्वारा प्राप्त कर सकते हैं।"

श्रीकृष्णने कहा—'पार्थ! सुनो। अति उत्तम, अति गुह्य, अति अन्तरङ्ग एक तत्त्व अब तुम्हें बतला रहा हूँ। सावधान होकर सुनो। यह आत्मा, यह ब्रह्म, यह परा-अपरा प्रकृति, यह परम सुन्दर, यह क्षर-अक्षर अधिदैवत, अधियज्ञ आदि जो कुछ है, सब कुछ मैं हूँ। मैं अप्रकाश्य रूपसे विश्व-ब्रह्माण्डमें व्याप्त हो रहा हूँ। मुझमें ही सब भूत अवस्थित हैं; तथापि मैं किसीमें नहीं, मुझमें ही सर्वभूत हैं, यह भी ठीक नहीं; क्योंकि मैं सब सम्बन्धोंसे परे हूँ। तथापि मैं सब भूतोंको धारण कर रहा हूँ, तथा पालन कर रहा हूँ, यही मेरा ऐश्वर योग-रहस्य है।

'अव्यक्तसे विश्वकी उत्पत्तिकी बात जो मैंने कही है, वह मेरे संकल्पाधीन है। मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति जगत्का सृजन करती है।' श्रीभगवान् कुछ हँसते हुए बोले, "मेरे इस मानुषी तनुको देखकर मुझको मनुष्य मत समझना। मैं ही विश्व-ब्रह्माण्डका अधिपति हूँ—इस बातको जो नहीं जानता, उसका जीवन व्यर्थ है। वह असुरजातीय है। महात्मा-लोग मेरा ही भजन करते हैं। तुम मेरे ही नाम-गुण आदिका कीर्तन करो। मेरी ही पूजा-अर्चना करो, मेरे ही प्रति भक्तिमान् बनो। पिता-माता, वेद-वेदान्त, प्रभव-प्रलय, मृत्यु-अमृत, सत्-असत्—सब कुछ मैं हूँ।

"मैं ही सबका आश्रय हूँ। वेदोक्त कर्म करके स्वर्ग प्राप्त कर सकते हो; किंतु पुण्यके समाप्त हो जानेपर पुनः मृत्युलोकमें लौट आना पड़ेगा। परंतु मेरी आराधनासे सर्वोत्तम गति प्राप्त होती है। सारी चिन्ता मेरी ओर प्रवाहित हो, सारी भक्ति-प्रीति मुझमें ही व्यस्त हो, सारे यज्ञ मेरे ही उद्देश्यसे किये जायँ, तब निश्चय ही मेरी प्राप्ति होगी।"

इस नवम अध्यायसे ही भक्तियोग प्रारम्भ होता है। अर्जुन सुन-सुनकर विस्मित और आनन्दित है, मोहका आवरण हट रहा है। अर्जुन कहने लगे—'श्रीकृष्ण! सचमुच तुम ही परब्रह्म हो, तुम्हीं परम पुरुष हो। तुम्हीं भगवान् हो। सब लोग यही कहते हैं। योगी-ऋषि आदि सबके मुँहसे यही वाणी निकलती है। मैं आज समझा—तुम सर्वमय हो, तुम सर्वस्वरूप हो, परमात्मा हो, परमेश्वर हो। तुम्हारा विशिष्ट उत्तम उज्ज्वल प्रकाश कहाँ-कहाँ है, मुझको विशेष रूपसे बतलाओ। जिधर ही चिन्तन करता हूँ, जिधर ही दृष्टि जाती है, सर्वत्र मानो मैं तुम्हींको देख रहा हूँ। तुम्हींको पा रहा हूँ।'

यहाँ विभूतियोग विवृत हुआ है। जगत्में जो कुछ श्रेष्ठ है, जो कुछ गौरवविशिष्ट है, जो कुछ महिमान्वित है, जो कुछ सुन्दर है, जो कुछ प्रधान है, जो कुछ प्रभावयुक्त है, जो कुछ शक्तिशाली है, जो कुछ ज्योतिष्मान् है, सभी श्रीकृष्ण है, श्रीकृष्णकी विभूतिका अन्त नहीं है।

अर्जुनने कहा—'केशव! तुम्हारी इस विभिन्न विभूतियोंके वैभवको मैंने समझा। अब अपनी समस्त विश्वव्यापी, विश्वरूप, ब्रह्माण्डव्यापिनी महीयसी सर्वैश्वर्यमयी मूर्ति एक बार मुझको दिखाओ।' श्रीकृष्ण बोले—'देखो, इन प्राकृत नेत्रोंसे वह रूप नहीं देखा जाता। तुमको दिव्य चक्षु देता हूँ। मेरे उस सर्वाश्चर्यमय रूपको देखो।' अर्जुनने विश्वरूप देखा।

सहस्रों सूर्य एक साथ उदय होनेपर विश्वमें जैसी विराट् ज्योति प्रकाशित हो सकती है, उससे भी उज्ज्वल, अपूर्व अनन्त ज्योति मूर्ति प्रकाशित हो उठी।

अनन्त मुख, अनन्त नेत्र, अनन्त बाहु, अनन्त चरण—समस्त अद्भुत दर्शन। शत-शत दिव्य वर्ण, शत-शत दिव्य आभरण, शत-शत उद्यत आयुध, दिव्य माल्य, दिव्य गन्धका अनुलेपन—समस्त ज्योतिर्मय! असीम आकाश, अनन्त अन्तरिक्ष, निखिल विश्वब्रह्माण्डको व्याप्तकर अप्रमत्त, सुप्रदीप्त अनलार्कद्युति! कैसा अद्भुत! कैसा उग्र! कैसा दुर्निरीक्ष्य रूप! ब्रह्मा, प्रजापति, देवगण, ऋषिगण, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किंनर, दैत्य-दानव—सभी इस विराट् ज्योतिर्मय देहमें विराजित हैं! रुद्रगण, आदित्यगण, वसुगण, विश्वेदेव-गण, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितृगण—सभी विस्मित नेत्रसे इस विशाल रूपप्रभाको देख रहे हैं। कैसा भयंकर रूप है! उधर संहाररूपी रुद्र ज्वलंत मुख फैलाकर समस्त भूतवृन्दको ग्रास बना रहे हैं। कैसा भीषण आकर्षण है! दुर्दमनीय वेगसे दौड़-दौड़कर सभी इस प्रदीप्त मुखकोटरमें प्रवेश कर रहे हैं। कैसा करालदंष्ट्र मुख है। कैसी लपलपाती वह्निशिखामयी जिह्वा है, जगत्के वीरवृन्द स्रोतमें प्रवाहित जलके वेगके समान दौड़कर इस प्रज्वलंत प्रकाण्ड वक्त्रमें प्रवेश कर रहे हैं, जैसे ज्वलंत अनलमें पतङ्गोंके समूह प्रवेश करके संहारको प्राप्त हो रहे हों।

अर्जुनने इस महाविस्मयजनक रूपको देखकर प्रत्यक्षतः समझ लिया कि श्रीकृष्ण ही अनन्त, अक्षर, परम पुराण पुरुष हैं, श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, श्रीकृष्ण ही विश्वके निधान हैं। उस ज्वलंत ब्रह्मज्योतिको अर्जुन सहन न कर सके। श्रीकृष्णने रुद्र-तेजको संवरण करके मानवरूप धारण किया। गीताका प्रथमार्द्ध यहीं समाप्त होता है। द्वितीय अध्यायसे धीरे-धीरे, स्तर-स्तरपर जो महाभावारोह चला, वह ग्यारहवें अध्यायमें जाकर सर्वोच्च शिखरपर प्रतिष्ठित हो गया। इसके आगे अब आरोह नहीं है, अब अवरोह है। वस्तुतः अवरोह असम्भव है, महान् ब्रह्मभावके अनन्त विमानमें ऊपर-नीचेका कोई भेद नहीं है। उत्प्रेक्षाके रूपमें 'अवरोह' शब्दका प्रयोग यहाँ किया गया है। गीता मानो एक उज्ज्वल वर्णमय इन्द्र-धनुषका मण्डलार्द्ध है, विश्वरूपदर्शन इस मण्डलका शिखर है।

गीताकी ब्रह्माभिमुखी तत्त्वज्ञानविवृति सम्पन्न हुई। अब जीवाभिमुख तत्त्वज्ञानका आख्यान है। जीवका जो पुरुष-भाव है। जिस भावपथका अनुसरण करके विश्वरूपमें प्रवेश किया जाता है, उसे कह चुके। इसको अध्यात्मभाव, ब्रह्मभाव अथवा भगवद्भाव भी कहते हैं। अब जीवका प्रकृतिभाव कहा जायगा। पहले पराप्रकृतिरूप भक्तियोगका द्वादश अध्यायमें वर्णन है। इस अध्यायका भक्तियोग नया नहीं है। नवम, दशम और एकादश अध्यायमें भी भक्तियोग चला है। भक्तिके कतिपय लक्षण इनमें प्रदर्शित हुए हैं। यह भी पञ्चम-षष्ठादि अध्यायोंमें पहले आभासित हुआ है।

ज्ञानयोगकी साधना करनी है। भक्तियोगकी साधना करनी है। परंतु कौन किसको जानेगा? कौन किसकी भक्ति करेगा? ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान, भक्ति-भक्त-भगवान्—दूर-दूर नहीं हैं। तीर्थयात्रा नहीं करनी पड़ेगी। दो तत्त्व युक्त—युगलरूप होकर रहते हैं। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, प्रकृति और पुरुष—ये अनादि मिलनमें मिले हुए हैं। मायाकी छायाके अन्तरालमें विच्छेद-विभ्रम होता है। यही दुःख है, यही बन्ध है, यही संसार है, यही पाप है। सब छाया—कौतुक है, इन्द्रजाल है। इस इन्द्रजालके प्रभावको अतिक्रमण करनेके लिये ही साधना है।

हमलोग जीवात्मा नामसे एक तत्त्व समझते हैं, परंतु ऐसा है नहीं; जीव और आत्मा—दो पृथक् तत्त्व हैं। जीव प्रकृति है, परब्रह्मकी परा प्रकृति है; आत्मा पुरुष है और इस आत्मभूत पुरुषमें भी एक द्वैतभाव है। इसका एक अंश पुरुष है और दूसरा अंश प्रकृति है; जो भगवत्स्वरूप और भगवत्-शक्ति है। गीतामें इसको स्पष्टरूपसे नहीं कहा गया है। भागवत और वैष्णवदर्शनमें यह विषय विस्तार-पूर्वक प्रकाशित और आलोचित हुआ है। गीतामें जो परा प्रकृतिकी बात कही गयी है, उसीमें ये युगल तत्त्व छिपे हैं। परा प्रकृति चिच्छाया है। यह चित् पुरुष है और छाया प्रकृति है। यह छाया ही गोपी है और यह चित् नन्दनन्दन श्रीकृष्ण हैं। गीतामें सब कुछ है, केवल यह बात नहीं है। परंतु फिर भी है, चतुरचूडामणि श्रीकृष्णने इसको कुशलता-पूर्वक अन्तरालमें छिपा रक्खा है। इसी बातको बतलानेके लिये श्रीव्यासजीने भागवतकी रचना की। गीतामें विश्वकी अन्तिम बात कह दी गयी है। देव-मानव-दर्शनका अन्तिम सिद्धान्त गीता है। परंतु इस अन्तिम सिद्धान्तके भीतर एक रहस्य छिपा था, उसीको बतलानेके लिये भागवत पुराण है। गीता पढ़नेपर—

मने हय कि एकटि शेष कथा आछे।
से कथा हइले बला सब बला हय॥

कल्पना काँदिया फिरे तारि पाछे पाछे।
तारि तरे चेये आछे समस्त हृदय ॥ ×××
मने हय कत छन्द, कत ना रागिणी।
कत ना आश्चर्य गाथा, अपूर्व काहिनी ॥
जत किछू रचियाछे जत कविगणे।
सब मिलितेछे आसि अपूर्व मिलने ॥

अर्थात् जान पड़ता है कि एक कथा शेष रह गयी है, उस कथाके कहनेपर सब कुछ कहना हो जाता है। कल्पना रो-रोकर उसीके पीछे-पीछे घूमती है, उसीके लिये सारा हृदय अपेक्षा करता है। कितने ही छन्द, कितनी ही रागिणियाँ, कितनी ही अद्भुत गाथाएँ, अपूर्व कहानियाँ, जो कुछ जिन कवियोंने प्रणयन किया है, जान पड़ता है वह सब इस अपूर्व मिलनमें आकर मिल जाता है जिस कथासे, वही कथा श्रीमद्भागवत है।

क्षेत्र-तत्त्व क्या है ? सांख्य-दर्शनमें जिसे लिङ्गशरीर कहा है, वही क्षेत्र है। जिसका अवलम्बन करके आत्मा संसारमें आवागमन करता है, जन्म-मृत्युके स्रोतमें बहता है, वही भोगायतन अतिवाहिक शरीर क्षेत्र है, वही जीव है। बुद्धि, अहंकार, मन, दस इन्द्रियाँ, पञ्च तन्मात्राएँ—इन अठारह तत्त्वोंकी समष्टिसे प्रसूत लिङ्गशरीर है। 'सप्तदशैकं लिङ्गम्'—यह सांख्यका मत है। गीता कुछ चिन्तन करके इनके साथ प्रारम्भमें अव्यक्त और अन्तमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, देह, चेतना, धृति—इन तेरह तत्त्वोंको जोड़कर इकतीस तत्त्वोंवाले क्षेत्रका निर्देश करती है। जो इस क्षेत्रके भीतर रहकर इसको जानते हैं, इसका भोग करते हैं, इससे प्रेम करते हैं, इसका शासन करते हैं, संयमन करते हैं, वे ही क्षेत्रज्ञ पुरुष हैं, वे ही आत्मा हैं, वे क्षेत्र नाम्नी प्रकृतिके साथ एकीभूत होकर रहते हैं, इस कारण अपने स्वरूपको भूल जाते हैं।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
× × × ×
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्न
अनीशया शोचति मुह्यमानः ॥

जिस साधनके द्वारा पुरुष अपने तत्त्वको जान सकता है तथा श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर सकता है उस साधनाकी फल-समष्टिको गीताने 'ज्ञान' नामसे अभिहित किया है। ब्रह्म इस ज्ञानका विषय है, क्षेत्रज्ञ इसका ज्ञाता है, क्षेत्र प्रकृति-सम्भूत है। प्रकृति त्रिगुणमयी है। सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण हैं। सत्त्व प्रकाश करता है, आलोक लाता है; रज क्रियात्मक है, गति-शक्ति-वेग रूप (Force, energy) है। तम अवरोधक है, स्तब्धता-अन्धकाररूप (Inertia) है। चतुर्दश अध्यायमें इस त्रिगुणके गुण-दोषादिका विशेषरूपसे वर्णन किया गया है। इस त्रिगुणमयी प्रकृतिके अधीन होकर जीव संसारी बनता है। संसार एक अद्भुत अश्वत्थ वृक्ष है, इसका मूल ऊपरकी ओर ब्रह्ममें संलग्न है। सारी शाखा-प्रशाखाएँ निम्नाभिमुखी हैं। वैराग्यशस्त्रसे इस वृक्षको काटकर परम पदका संधान करना पड़ता है। यही परमपद ब्रह्मधाम, विष्णुपद, श्रीकृष्णलोक है। दूसरे अध्यायसे दसवें अध्यायतक अध्यात्म-साधनकी प्रणाली कही गयी है। कर्म-ज्ञान-विज्ञान-संन्यासादि योगका अनुशीलन ही इस संसारवृक्षको काटने तथा ब्रह्मपद या भगवान्‌के पादपद्मकी प्राप्तिके विभिन्न उपाय हैं। ब्रह्मके अधिभूत नामक क्षरभावकी बात कही गयी है। कूटस्थ अक्षरभावकी बात भी नाना प्रकारसे वर्णित है। क्षर यह विश्वजगत् है; अक्षर अनन्त-अव्यक्त, अनिर्देश्य, अचिन्त्य ब्रह्म है। इन दोनोंसे विलक्षण, इन दोनोंसे श्रेष्ठ, इन दोनोंकी प्रतिष्ठास्वरूप एक तृतीय भाव है, उसका नाम है पुरुषोत्तम। श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम हैं। जीव भक्तिमार्गके द्वारा संसारसे मुक्त होकर श्रीकृष्णके पादपद्मकी सेवा प्राप्त करता है।

जिन कर्मों, चिन्तनों, भावों तथा अन्य उपायोंके द्वारा परमात्म-साक्षात्कार प्राप्त होता है, वे ही सब बातें द्वितीयसे पञ्चदश अध्यायतक कहकर, इन सब दैवी गुणसम्पद्का विषय विस्तारपूर्वक वर्णन करके अन्तमें सोलहवें अध्यायमें भगवान्‌ने असुरभावका तामसिक-राजसिक चरित्रका सजीव चित्र खींच दिया है। सत्रहवें अध्यायमें सत्त्व-रज-तमोगुणके तारतम्यके अनुसार कर्म-जीवनके—जप-तप-यज्ञ-दान-व्रत-पूजा आदिके जो भेद हैं, उनका विशेष विवरण दिया है। अठारहवें अध्यायमें उपसंहार है। द्वितीयसे सप्तदश अध्यायतकके प्रतिपाद्य-प्रतिपादित सारे विषयोंको संक्षेप रूपमें तथा और भी अभिनव रूपमें अनुरञ्जित करके इस अध्यायमें सुन्दरतापूर्वक ग्रथित कर दिया गया है। सबके अन्तमें गीताका सर्वसार अन्तरतम रस, परम निष्कर्ष दो श्लोकोंमें मानो बड़े आग्रहसे, अत्यन्त स्नेहानुग्रहभावसे,

मानो अपने हृदयकी आकुलताको मिलाकर श्रीभगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

यहाँ श्रीमद्भगवद्गीता समाप्त हो जाती है। 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'—जिस तत्त्वको जान लेनेपर सब तत्त्व जान लिये जाते हैं, उसी तत्त्वको प्रतिपादित करना, प्रकाशित करना गीताका उद्देश्य है। गीता किसी तत्त्वका पृथक विचार नहीं करती। ॐमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत। ॐमिति ह्युद्गायतितस्योपाख्यानम्। (श्रुति)

'ॐ' इस वर्णका नाम उद्गीथ है। इसको परमात्माकी प्रतिमा जानकर उपासना करे। ॐकार उच्चारण करके सामगान किया जाता है। इसी कारण ॐकारको उद्गीथ कहते हैं, यह उसका उपव्याख्यान है।

स एष रसानां रसतमः। परमः परार्द्धोऽष्टमो उद्गीथः ॥ (श्रुति)

गीता भी उसी प्रकार सब रसोंका रस, सब तत्त्वोंका तत्त्व, सब दर्शनोंका दर्शन है। परमात्माका परमधाम यह गीता है, इसमें पृथक् रूपसे एक भी बात नहीं कही गयी है। विश्लेषणके रूपमें किसी विषयका विचार नहीं किया गया है। एक बीजसे जैसे एक महान् वृक्ष अङ्कुरित—संवर्द्धित होकर चारों ओर शत-शत शाखा-प्रशाखाओंमें पल्लवित और पुष्पित होकर विकासको प्राप्त होता है, गीता भी ठीक उसी प्रकार है। गीताका प्रत्येक अंश विकसित अङ्ग-प्रत्यङ्ग है। वह उसमें संगृहीत बहुत-सी चीजोंका एकत्र समावेश नहीं है। गीता ज्ञान-महीरुह है, तत्त्व-कल्पतरु है, प्रेम-पुष्पित पारिजात-पादप है, अमृतमयी भक्ति-कल्पलता है।

मनुष्योंसे तो ये पशु-पक्षी ही अच्छे !

[जो दया, कर्तव्य, प्रेम और स्वामिभक्ति समझते हैं]

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, दर्शनकेसरी, विद्याभूषण)

पत्र-पत्रिकाओंमें पशु-पक्षियोंके सदाचार, प्रेमके अनेक समाचार प्रकाशित होते रहते हैं। यहाँ उनमेंसे कुछ पाठकोंकी जानकारीके लिये दिये जाते हैं। इनसे यह स्पष्ट होता है कि जिन जानवरोंको हम अबोध और हिंसक मानते हैं, उनकी भी सदुद्देश्योंके सम्पादनमें बड़ी प्रवृत्ति होती है। कुछ प्रसङ्ग देखिये—

स्वामिभक्त गरुड़

बाकूका एक समाचार है—

अजरबेजानके एक गडरियेके पास एक सुन्दर गरुड़ था। उस गडरियेका नाम अलीपू तथा गरुड़का नाम फेखलीवान था। यह गरुड़ उस गडरियेका चौबीस घंटेका साथी था। साथ-साथ रहते-रहते वह गरुड़ अपने स्वामीको बहुत प्रेम भी करने लगा था। वह उसके इर्द-गिर्द रहता, मानो दोनों ही सुख-दुःखके संगी-साथी हों। प्रायः सोते समय भी गरुड़ अपने स्वामीके पास रखवाली किया करता था। गडरिया भी उसे जी-जानसे चाहता था और अच्छे-से-अच्छा भोजन खिलाया करता था। बस, यह समझिये कि उनके दो शरीर और एक आत्मा थी।

एक दिनकी बात है। संयोगसे दिनभरके कामसे थककर बेचारा गडरिया खेतके किनारे एक छायादार वृक्षके नीचे विश्राम कर रहा था। उसकी भेड़ें समीपकी कँटिदार झाड़ियोंमें चर रही थीं। गरुड़ पास ही बैठा था। गडरियेकी आँख लग गयी और वह गहरी निद्रामें सो गया। अचानक गरुड़की तीखी आँखोंने देखा कि समीपके एक बिलसे एक साँप निकला। वह कुछ देर इधर-उधर देख गडरियेको सोते पाकर उधर ही बढ़ा। सर्प बड़ा जहरीला था। गरुड़को तुरंत ऐसा लगा कि यह विषैला सर्प उसके प्रिय स्वामीको काट लेगा और उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जायगी।

गरुड़ फौरन उड़ा, सर्पपर निशाना बाँधा और अपनी चोंचसे उसपर आक्रमण कर दिया। थोड़ी देरतक सर्प इस आकस्मिक आक्रमणको पहचान न सका। वह कभी इधर, तो कभी उधर भागता। इतनेपर भी जब वह दुष्ट सर्प न माना, तो गरुड़ने उसे अपनी तीखी चोंचमें उठा लिया। घायल सर्प भी प्रतिशोधकी भावनासे तिलमिला रहा था। चोट खाये हुए सर्पने अपनेको गरुड़के चारों ओर लपेट लिया। यह द्वन्द्व चल ही रहा था कि शोर सुनकर गड़रिया जाग उठा।

किंतु तबतक उस स्वामिभक्त गरुड़के प्राणपखेरू उड़ चुके थे। सर्प भी अधमरा हो चुका था। गड़रियेने उसे मार डाला। गरुड़के बलिदानकी कहानी वहाँके लोगोंमें चर्चाका विषय है। जानवरोंमें भी अपने स्वामीकी रक्षाका भाव पाया जाता है।

चीलझपट्टा

समस्तीपुर (विहार) का एक अद्भुत समाचार प्रकाशित हुआ है। अंगारघाट चिकित्सालयमें कार्य करनेवाली एक नर्सके कागजमें लिपटे हुए प्रमाणपत्रों एवं नियुक्तिपत्रको रोटीके टुकड़ेके संदेहमें एक चील झपट्टा मारकर ले उड़ी।

बात यों हुई कि नर्स वहाँ गुदड़ी बाजारमें स्थित अपने मकानकी छतपर उक्त प्रमाणपत्रोंको दिखलानेके लिये खोल रही थी। चीलने समझा कि वह रोटीकी पोटली खोल रही है और भोजन पानेकी तैयारी कर रही है। वह थोड़ी देर ऊपर उड़ी, फिर एक ही झपट्टेमें पूरा पैकेट पंजोंमें लेकर आकाशमें उड़ गयी।

नर्सकी तो जैसे जान ही निकल गयी। उसके इन प्रमाणपत्रोंपर ही उसकी नौकरी आधारित थी। वह बड़ी परीशान हुई। देरतक आकाशमें उड़ती हुई उस दुष्टाका उड़ना देखती रही। उसकी आँखें वह जिधर जाती, उधर ही लगी रहीं, वह मन-ही-मन प्रार्थना कर रही थी कि पैकेट किसी प्रकार छूटकर उसकी छतपर आ गिरे तो कितना अच्छा हो। उसका खोया हुआ खजाना उसे फिर मिल जाय। पर हाय! ऐसा न हुआ। चील आँखोंसे ओझल हो गयी। निराश और विक्षुब्ध हो दुखी नर्स बदहवास हो मकानकी छतपर बैठ गयी।

वह अपने दुर्भाग्यपर दोनों हाथ मल-मलकर परीशान हो रही थी। न जाने उस चीलने वे बहुमूल्य प्रमाणपत्र और नियुक्तिपत्र कहाँ फेंके होंगे।

लगभग एक घंटेतक वह भगवान्‌की प्रार्थना करती रही।

आश्चर्यकी बात है कि कोई आध घंटेमें वही चील उड़ती-उड़ती फिर उसी मकानकी छतपर उस पैकेटको गिरा गयी। कुछ देर उड़कर उसने ऐसा निशाना बाँधकर उस पैकेटको गिराया कि वह उसी छतपर गिरा। अपना खोया हुआ प्रमाणपत्रोंका पैकेट पाकर वह नर्स उस उपकारी चीलकी बुद्धिकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकी। पैकेटमें कई जगह चोंच मारकर चीलको मालूम हो गया था कि उसमें खाने योग्य कोई वस्तु नहीं थी। अपनी गलतीपर दुखी होकर वह फिर उसी मकानकी छतपर उड़ती हुई आयी और लिपटे हुए कागज वापस पटक गयी।

गलती कभी भी सुधारी जा सकती है। यह संसार ईमानदारी और सज्जनताकी नींवपर ही टिका हुआ है। पक्षी-तक परोपकार करते हैं, फिर परमार्थकी दैवी प्रवृत्ति मनुष्यकी तो सबसे प्रमुख वृत्ति है।

कीर्तनप्रेमी सर्पने सबको आश्चर्यमें डाला

देवरियाका एक समाचार यों प्रकाशित हुआ है—

घटना जनपदकी तहसील सलेमपुरके अन्तर्गत ग्राम माड़ोपारकी बतायी गयी है। वहाँके ग्रामप्रधानने इस घटनाका समाचार भेजा है।

सूचनाके अनुसार ११ जनवरी ६५ को उस ग्राममें एक अखण्ड कीर्तन था। भक्तमण्डली तन्मय भावसे भगवान्‌का पूजनकर धार्मिक भजन गा रही थी। चारों ओर भक्तिरसका पवित्र वातावरण छाया हुआ था। श्रोतासमाज भी मधुर-स्वरमें भजन गुनगुना रहा था। पवित्र दैवी वातावरणमें जैसे दुष्कर्म, दुष्ट हिंसक भावनाएँ दब गयी थीं। पापाचारी पुरुषोंकी कठोर वृत्तियाँ मानो नष्ट हो गयी थीं। ईश्वरकी प्रार्थनामें द्वेष और दुर्गुण मानो दूर हो गये थे। पाप और मल-विकार गायब हो गये थे। इसी बीच संगीत-माधुर्यसे प्रभावित एक सर्प न जाने कहाँसे आया और अखण्ड कीर्तन-के मञ्चपर चढ़ गया। औरोंकी तरह वह भी वहीं फन ऊँचा किये बैठ गया।

पहले तो सब बड़े भयभीत हुए, किंतु उस भक्त सर्पने किसीको कुछ भी परीशान न किया। वह तन्मय हो चुपचाप कीर्तन सुनता रहा, भाव-विभोर होता रहा। गाँववालोंने जब यह सुना तो उसके दर्शन करनेवालोंका ताँता बँध गया। कीर्तन पूर्ववत् चलता रहा, कीर्तनप्रेमी सर्प बिना हिले-डुले भक्तिरसका आनन्द लेता रहा। वह वैसे ही बैठा रहा। न थका, न ऊबा! कीर्तन समाप्त होते ही वह जल्दीसे न जाने कहाँ रफूचक्कर हो गया। गाँववालोंके आश्चर्यका ठिकाना न रहा।

कहा भी है—

अरने शकेम ते वयं यमं देवस्य वाजिनः।
अति द्वेषांसि तरेम॥ (ऋग्वेद ३। २७। ३)

अर्थात् जिन्हें मोक्ष-प्राप्तिकी कामना हो, उन्हें चाहिये कि वे द्वेष और दुर्गुणोंसे बचकर धर्मपथपर चलते रहें। इसके लिये उन्हें विद्वान् पुरुषोंका सत्सङ्ग करना चाहिये और उत्तम रीतियोंको धारण करना चाहिये।

स्वामिभक्त गधा

अलवर (राजस्थान) की एक घटना विस्मयका कारण बनी हुई है।

ईदू नामक एक मुसल्मान धोबी जयसमंद तालाबपर कपड़े धो रहा था। यह उसका नित्यप्रतिका कर्म था। उसका जुम्मी नामक गधा भी प्रतिदिन उसके साथ घाटपर भीगे कपड़े ढोकर ले जाया करता था। दोनों प्रतिदिन साथ ही मेहनत करते थे। जब ईदू तालाबमें कपड़े धोता रहता, जुम्मी पास ही घास चरता रहता था। बहुत दिनों-तक साथ-साथ रहनेके कारण ईदू और जुम्मी एक दूसरेकी आदतोंसे भलीभाँति परिचित हो गये थे। सुख-दुःखको पहचानते थे। वे एक-दूसरेकी भाषाको चाहे न समझते हों, किंतु भावोंकी गुप्त मूक भाषासे—एक दूसरेके मनोभावोंसे पूर्ण परिचित रहते थे।

एक दिन ईदू कुछ जल्दीमें था। घबराहटमें उसे ऐसा लगा जैसे कोई कछुवा जलमें हो। डरकर वह यकायक निकलने लगा तो बेचारेका पाँव फिसल गया।

पानी काफी गहरा था। दुर्भाग्य यह हुआ कि धोबी जलमें तैरना भी नहीं जानता था। अब ईदू पानीमें छटपटा रहा था। जोर-जोरसे 'जुम्मी! जुम्मी!!' चिल्ला रहा था। पता नहीं कैसे गधेको यह आभास हुआ कि उसका मालिक खतरेमें है और उसकी मदद चाहता है। वह क्या करे? किसे सहायताके लिये पुकारे?

उसने पानीमें छलाँग लगा दी और तैरकर अपने स्वामीके पास जा पहुँचा। ईदूने उसकी पूँछ पकड़ ली और उसके सहारे अपनी जान बचा ली।

अब ईदू और जुम्मी दोनों किनारेपर खड़े थे। जुम्मीको प्रसन्नता थी कि उसने अपने स्वामीकी प्राणरक्षा कर ली थी।

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः॥ (अथर्ववेद २। १५। १)

अर्थात् पृथ्वी, आकाश (पशु-पक्षी, कीट-पतंग) इत्यादि परमात्माके अनुसार सदैव जगत्का उपकार करते रहते हैं, वैसे ही धार्मिक वृत्तिवाले श्रेष्ठ पुरुषको भी चाहिये कि वह पापोंको त्यागकर सुकर्मोंद्वारा लोकोपकारके काम करे और इस प्रकार परोपकारके कामोंद्वारा निर्भय और सुखी रहे।

मैनाने चोरोंको भगाया

न्यूयार्कका एक समाचार है—

जार्जियामें एक फर्नीचरकी दूकानसे सेंध मारनेवालोंको खाली हाथ लौट जाना पड़ा। घटना इस प्रकार बतायी जाती है कि फर्नीचरकी उक्त दूकानमें चोरोंने सेंध मारी तो अचानक ही उन्हें बड़ी जोरकी आवाज सुनायी दी—

'आप क्या चाहते हैं? आप क्या चाहते हैं? आप क्या चाहते हैं?' आवाज काफी तेज थी, जैसे कोई मानव-स्वर बोल रहा हो।

चोरोंको यकायक यह डर लगा कि लोग जाग पड़े हैं और वे अब पकड़ लिये जायँगे। पहले तो उन्हें आश्चर्य हुआ कि कहाँसे यह आवाज आ रही है। वे कुछ देर इधर-उधर देखते रहे। फिर भी आवाज आती रही। आखिर खतरेसे डरकर वे ताबड़तोड़ भागे।

बादमें मालूम हुआ कि वहाँ कोई भी आदमी मौजूद नहीं था। यदि चोर चाहते, तो सारा रुपया चुरा ले जाते।

आवाज देनेवाली एक भारतीय मैना थी। उसका स्वर पुरुषकी तरह साफ था। वह बिल्कुल आदमीकी तरह एक ही वाक्य बोलना जानती थी, 'आप क्या चाहते हैं?'

दूकानके मालिकने केवल ग्राहकोंसे यह वाक्य कहलवानेके लिये उस मैनाको दूकानपर रक्खा था।

लखनऊमें कुत्तोंकी गश्त

लखनऊका एक समाचार है। गतवर्ष अपराधोंकी रोक-थामके लिये रातको पुलिसके सुराग लगानेवाले कुत्तोंकी गश्त भी जारी कर दी गयी है। यह गश्त खुफिया पुलिसने सिविल पुलिसके सहायतार्थ आरम्भ की है।

प्रयोगके रूपमें की गयी यह गश्त सफल रही है। कुल ६ कुत्ते गश्तमें लगाये गये हैं, जो दो-दो करके रोज अदल-बदलकर अमीनाबाद और गणेशगंजमें गश्त लगाते बताये जाते हैं। कहते हैं पिछले दिनों इन कुत्तोंकी सुरागपर रेलवेकैन्टीनके कर्मचारी कल्लूको पकड़ लिया गया, जो कैन्टीनकी तिजोरी तोड़कर चार सौ रुपये नकद और बहुत

सा सामान चोरी करके जा रहा था। बताया गया है कि ये चतुर कुत्ते हेड कानेस्टबिल कुँवर बहादुरसिंह, मोहम्मदकासिम और देवीदत्तके हमराहमें थे।

परमात्माने कुत्तों-जैसे पशुओंतकको कितनी समझ-बूझ दी है कि वे सज्जन और दुर्जनमें विवेक कर सकते हैं। चोरों और डकैतोंको पहचान सकते हैं।

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति
यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते
राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः॥
(अथर्ववेद ४।१६।२)

'मनुष्य कितना ही छिपकर पाप क्यों न करे, परमात्मा उसे जान लेता है और उसका उचित दण्ड भी देता है। इसलिये समझदार मनुष्यको हर प्रकारके पापसे सदैव बचते रहना चाहिये।'

असद् भूम्याः समभवत् तद्यामेति महद्व्यचः।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु॥
(अथर्ववेद ४।१९।६)

'दुष्टतापूर्ण कर्म चाहे छोटे हों अथवा बड़े अन्तमें करनेवालोंका सर्वनाश करते हैं। उनका प्रतिफल उन्हें ही भोगना पड़ता है।'

कुत्तोंद्वारा अंधोंका मार्ग-दर्शन

नयी दिल्लीसे एक समाचार मिला है। कुत्ते मनुष्यके सर्वोत्तम मित्र होते हैं; यही नहीं, अंधोंके लिये वे अच्छे मार्गदर्शक भी हो सकते हैं। कई देशोंमें प्रयोग करके यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रशिक्षित कुत्ते अंधोंके लिये अत्यन्त सहायक सिद्ध होंगे। प्रशिक्षित कुत्ता अंधे मनुष्यका कहीं भी जानेके लिये मार्ग-दर्शन कर सकता है, बशर्ते एक बार पहले वह वहाँ हो आया हो। यहाँतक कि कुत्ता अंधे मनुष्यके साथ विश्वास एवं सुरक्षापूर्वक बस-यात्रा करनेमें भी सहायक हो सकता है। भारतमें अंधोंके प्रति द्रवित होकर श्वान-आवास बनवाने एक योजना बनायी है, जिसके अन्तर्गत अंधोंकी सहायता देनेमें कुत्तोंको प्रशिक्षित करनेके लिये शीघ्र ही एक प्रशिक्षण-केन्द्र स्थापित किया जायगा। संसारभरमें सबसे अधिक बीस लाख अंधे भारतमें हैं।

जब पशुतक अनेक उपयोगी तत्त्वोंमें मनुष्यका पथ-प्रदर्शन करते हैं, तब बुद्धि रखनेवाले मनुष्यका भी यह पवित्र कर्त्तव्य हो जाता है कि वह भूले-भटकोंको सत्य, न्याय, विवेक और कर्त्तव्यका मार्ग दिखाता रहे। हम मानव-जीवनकी विशाल सम्भावनाओं और सदुद्देश्योंको समझें और उसकी विशेषताओंका सदुपयोग करते हुए भौतिक और आध्यात्मिक प्रगतिका मार्ग प्रशस्त करें। भगवान्‌ने हमें अन्तरात्मा और विवेक दिये हैं, तो उनका उपभोग इस प्रकार करें कि हम वस्तुतः समझदार और सच्चे बुद्धिमान् भी कहला सकें। हम दूसरोंका अधिक-से-अधिक उपकार और सेवा करें, निःस्वार्थ भावसे सेवा करें। पुण्य परमार्थकी दृष्टिसे ही किया जाना चाहिये। पशु-पक्षी अपने उपकारोंका कोई बदला नहीं चाहते, उसी प्रकार हम भी अपने पुण्य-परमार्थका बदला न चाहें। बदलेका भाव आते ही प्रत्येक सेवा व्यावसायिक हो जाती है।

भगवान् ही रक्षक

फफूँद (इटावा) का एक समाचार है। यहाँ उस समय लोग आश्चर्यचकित रह गये, जब श्रीरामनारायणके यहाँ लोग आरा मशीनपर बीस दिन पहले ही डाली गयी एक लकड़ीकी सिल्लीमेंसे दो तोतेके बच्चे जीवित निकल पड़े। उनके बचनेकी कोई आशा नहीं थी। उन्होंने तोतेके बच्चोंकी रक्षा करते हुए पास ही बैठा एक सर्प भी देखा। सर्प तो आरा मशीनकी भेंट चढ़ गया, पर उसने तोतेके उन निरीह बच्चोंको न मरने दिया। शुभ कार्यमें किया हुआ यह बलिदान किसी युद्धमें शहीद होनेसे क्या कम है!

सोपानभूतं स्वर्गस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम्।
तथाऽऽत्मानं समाधत्स्व भ्रश्यसे न पुनर्यथा॥

याद रखिये, सुरदुर्लभ मानव-शरीर जो बड़े पुण्योंसे प्राप्त होता है, स्वर्ग-प्राप्तिका सोपान है। इसे शुभ कर्मोंमें ही लगाना चाहिये, ताकि मनुष्य अवनति, पथभ्रष्टता और पतनकी ओर अग्रसर न हो सके।

भक्त गाय

पाली (राजस्थान) जिलेमें और उसके आसपासके गाँवोंमें एक भक्त गायकी चर्चा बच्चे, बूढ़े और जवान—हर किसीसे सुननेको मिल सकती है। पालीसे १३ मील दूर पूनागर गाँवमें एक छोटी-सी पहाड़ी—टेकरी है। उसपर दुर्गा देवीका एक छोटा-सा मन्दिर है। इसी गाँवकी एक गाय प्रतिदिन ऊँची पहाड़ी चढ़कर दुर्गाके पवित्र मन्दिरमें जा पहुँचती है और भक्तिभावसे मन्दिरके सामने बैठी रहती है।

चाहे मौसम कैसा भी हो, अपने घरसे खुलते ही वह पहले मन्दिरमें दर्शनोंके लिये अवश्य जाती है। गायके मालिकने उसकी इस भक्तिभावनामें कई बार बाधा डालनेका प्रयत्न किया है, किंतु गाय कभी नहीं मानी। सात वर्षोंसे उसका यह दर्शन करनेका क्रम निरन्तर चल रहा है। उसे देखनेके लिये सैकड़ों लोग वहाँ आते हैं और कुछ खाद्य पदार्थ भेंट करते हैं। कहते हैं यह गाय आजतक गर्भवती नहीं हुई है। भक्त कन्याकी तरह यह कामवासनासे सर्वथा दूर रहकर दुर्गाकी आराधनामें निमग्न है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

> श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
> ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
> (४। ३९)

याद रखिये, साधनपरायण, इन्द्रियोंको नियन्त्रणमें रखनेवाले, श्रद्धावान् व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त करते हैं और इस प्रकार ज्ञानप्राप्त व्यक्ति ही परमात्माको प्राप्त करते हैं। भक्ति क्षणिक भावुकताका या आवेशका नाम नहीं है, वरं साधनाकी कठिनाइयोंको झेलनेकी कसौटी है। आवेशपूर्ण श्रद्धासे जीवनमें कोई लाभ नहीं होता; किंतु जो लोग दृढ़तापूर्वक साधनकी कठिनाइयोंको सहन करते हैं, उनकी श्रद्धा और भी तेजस्विनी बनती है और मनपर तथा इन्द्रियोंपर संयम करना आसान हो जाता है।

बंदरोंने तोतेके बच्चेको पाला

शहबाजपुरके निकट कलड़ी गाँवसे बंदरोंद्वारा एक तोतेके बच्चेके पालनेके समाचार मिले हैं। बताते हैं कि एक दिन एक बाजने तोतेके एक बच्चेपर झपट्टा मारा। मामूली खरोंचके बाद बचा बच गया, किंतु दुष्ट हिंसक बाजके लगातार झपट्टोंके कारण उसके लिये अपनी जान बचाना मुश्किल हो गया।

यह सारा दृश्य वहाँ विद्यमान बंदरोंका एक दल देख रहा था। एक मोटा-ताजा बंदर आगे बढ़कर तोतेके बच्चेके पास आया, तो नयी मुसीबत आयी जान प्राणोंकी भिक्षा माँगनेके स्वरमें वह तेजीसे चें-चें, चें-चें करने लगा। बंदरने दयाभावसे प्रेरित होकर उसे आहिस्तेसे पकड़ लिया। उसे प्यारसे सीनेसे चिपकाया। बच्चेका गुप्त भय दूर हुआ तो उसने चिल्लाना बंद कर दिया। दूसरे बंदर भी दयार्द्र हो उठे। वे पाससे कुछ पके बेर तोड़ लाये और बच्चेको बड़े वात्सल्य भावसे खिलाया। दुष्ट बाज बड़ी देर-तक अपने शिकारकी खोजमें चक्कर काटता रहा, पर बंदरोंने उस बच्चेको बचाया रक्खा। अन्तमें बंदरोंद्वारा उसे पूर्ण सुरक्षित जानकर वह निराश होकर उड़ गया।

> यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ती यथ ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु।
> यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूँषि कल्पयैषाम्॥
> (ऋग्वेद १०। १८। ५)

मनुष्यो! हमारा जीवन-क्रम इस प्रकार चले, जैसे दिनके बाद दिन और ऋतुके बाद दूसरी ऋतु आती है। कभी कोई छोटी आयुवाला बड़ी आयुवालेके सामने न मरे।

भैंसने गायका बछड़ा पाला

मुरादाबाद (मध्यप्रदेश) से श्रीजसवंतसिंह यादवने समाचार दिया है कि उनकी गाय एक बछड़ेको जन्म देनेके बाद किसी बीमारीके कारण मर गयी। अब उसे कौन दूध पिलाये? कौन पाले? बिना दूध पिये बछड़ेका जीवन बड़े खतरेमें था। निरीह और अबोध बछड़ेको देखकर सब परेशान हुए।

संयोगसे वह बछड़ा एक भैंसके पास था, जो दूध देती थी। बछड़ा उठा और उस भैंसके थनोंमें दूध पीने लगा। सबको डर था कि भैंस उसे लात मारकर दूर पटक देगी, पर भैंसका वात्सल्य जग उठा! बछड़ेको मारनेके स्थानपर उसने बड़े प्यारसे उसे चाटना शुरू किया। बछड़ा दूध पीता रहा और भैंस उसे चाटती रही। बछड़ा अपनी माताके मरनेका सारा दुःख भूल गया। आश्चर्यकी बात यह है कि उस भैंसके खुद उसका पाड़ा भी है। दोनों ही उसका दूध पीते हैं और उसे माँ मान रहे हैं।

कौएकी दयालुता

कुछ दिन पूर्व रोडेशियाकी घटना है, एक छोटा-सा कुत्तेका बच्चा भटककर जंगलमें चला गया और वहाँ एक दलदलमें फँस गया। दुर्भाग्यसे वहाँ उसकी सहायताके लिये कोई भी नहीं पहुँचा। वह निकलनेके लिये छटपटाता रहा, भूखसे व्याकुल हो गया; पर किसीने उसकी खबर न ली।

छः दिनतक वह जीवन और मौतके बीचमें झूलता रहा। भूखसे उसकी अँतड़ियाँ सूख रही थीं। ईश्वरकी अनुकम्पा देखिये, कुत्तेके बच्चेकी यह दर्दनाक हालत डाल-

पर बैठे हुए एक कौएने देखी। उसका नन्हा-सा मन दयार्द्र हो उठा। वह प्रतिदिन शहरसे रोटीके टुकड़े ला-लाकर उस कुत्तेको खिलाता और उसके जीवनकी रक्षा करता रहा।

कौएको बार-बार जंगलकी ओर रोटी ले जाते देख चरवाहोंको बड़ा कौतूहल हुआ। वे उसके पीछे-पीछे गये, तो उन्हें कौआ रोटीके टुकड़े कुत्तेके पास डालता हुआ मिला। उसीसे वह कुत्ता जीवित बचा रहा था।

चरवाहे कौएकी दयालुताको देखकर नतमस्तक हो गयें। कुत्तेको दलदलमेंसे निकाला गया और शहर भेज दिया गया, किंतु कौएकी दयालुता लोगोंके हृदयमें घर कर गयी।

अव जहि यातुधानानव कृत्याकृतं जहि।
अथो यो अस्मान् दिप्सति तमु त्वं जह्योषधे॥
(अथर्ववेद ५ । १४ । २)

अन्न जैसे भूख मिटाता है, वैसे सद्‌गुणको अपने जीवनमें धारणकर हम दोष-दुर्गुणोंको दूर भगायें।

याभिः शचीभिर्वृषणा परावृजम् प्रान्धं
श्रोणं चक्षस एतवे कृथः।
याभिर्वर्तिकां ग्रसितामुञ्चतं ताभिरू पु
ऊतिभिरश्विना गतम्॥
(ऋग्वेद १ । ११२ । ८)

अर्थात् समाजमें जो भी अपाहिज, अंधे, लँगड़े, लूले (बीमार, दुर्बल, निर्धन, क्षतिग्रस्त) आदि हों, वे हमारी घृणाके पात्र नहीं हैं। हमें उन्हें अपना बन्धु मानना चाहिये और उनके साथ भी दयालुताका व्यवहार करना चाहिये। हम सभी ईश्वरके एक विशाल परिवारके सदस्य हैं। सबमें समान रूपसे प्रेमभाव रहना चाहिये।

जो मनुष्य दीन-दुखी और गिरे हुएको ऊपर उठानेमें कठिनाई और बाधाओंसे घबराता नहीं, उसकी रक्षा परमात्मा करता है।

काम (ऐन्द्रिय भोगों) का प्रयोजन

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता॥
(श्रीमद्भा० १ । २ । १०)

'वरं ब्रूहि !' उस दिन उस नीरव रात्रिमें पता नहीं क्यों उसकी निद्रा टूट गयी। वैसे वह इतनी गाढ़ निद्रा सोता है कि सिरपर ढोल बजे तो कदाचित् नींद टूटे। पूरा कक्ष प्रकाशित था और एक देवता उसके समीप खड़े थे। देवता इसलिये कि प्रकाश उनके शरीरसे ही निकल रहा था—जैसे किसी धुएँके समान प्रकाशित पदार्थके द्वारा उनकी देहका निर्माण हो। साथ ही वे उसे वरदान माँगनेको कह रहे थे—वरदान माँगनेको या तो कोई देवता कहेगा या ऋषि। वे ऋषि नहीं हो सकते, क्योंकि ऋषियोंके जटा-जूट होते होंगे और वे इतने रत्नाभरण धारण क्यों करने लगे।

'धन्यवाद !' वह भी अद्भुत अक्खड़ है—ऐसा कि आपको ऐसे अक्खड़ जीवनमें कम मिले होंगे। शय्यापर उठकर बैठ गया था वह; किंतु उसने उठकर खड़े होने, देवताकी वन्दना-अभ्यर्थना करनेका कोई उपक्रम नहीं किया। भय भला क्या लगना था—जो वरदान माँगनेको कह रहा था, उससे भयकी तो कोई बात भी नहीं। वैसे भी उसे भय लगता होता तो सर्वथा एकाकी पर्वतपर अन्य गृहोंसे दूर वह आवास स्वीकार नहीं करता।

'मैंने तो आपको बुलाया नहीं था। आपसे कभी कोई प्रार्थना मैंने भूलसे भी नहीं की होगी।' देवता खड़े थे और अपने शयनके आसनपर बैठे-बैठे ही वह उनसे कहे जा रहा था। साथ ही ऊपरसे नीचे और नीचेसे ऊपरतक देवताको देख रहा था बार-बार; उसने जो पढ़ा-सुना है, उसमेंसे कोई लक्षण मिल जाय तो

देवताको वह पहचान ले। देवताके चरण भूमिका स्पर्श नहीं कर रहे थे—इसके अतिरिक्त और कोई लक्षण उसे ऐसा नहीं मिला, जिससे वह उनका नाम जान सकता। अतः बोला—'आपको स्वीकार हो तो आसन ग्रहण कर लें और मैं जल पिला दे सकता हूँ।'

परिचय उसने पूछा नहीं। नाम-धाम-काम, वह किसीसे भी मिले, पूछना उसके स्वभावमें नहीं है। लोग उससे पूछते हैं तो उसे झल्लाहट ही होती है; किंतु देवता—देवताका परिचय जानना भी उसे आवश्यक नहीं लगा। अपने तख्तेपर (क्योंकि वह तख्तेपर ही सोया था) एक ओर थोड़ा खिसक गया, जैसे देवताको बैठना हो तो उसीके बराबर बैठ जाय। ऐसे देवताको आसन दिया जाता है ? देवता क्या प्यासा आया होगा उसके यहाँ पानी पीने ? किंतु यह बात भी सच है कि उसके पास देवताको भेंट करनेके लिये उस समय कुछ नहीं था। दूसरा तख्ता भी कमरेमें नहीं था और न मुखमें डाला जा सके, ऐसा कोई पदार्थ था। रात्रिमें पुष्पका तो प्रश्न ही नहीं उठता। आप कह सकते हैं—'उसे उठकर खड़े हो जाना था। जल हाथमें लेकर निवेदन करना था।' यह सब उसने नहीं किया। उसे यह आवश्यक नहीं जान पड़ा।

'वरं ब्रूहि !' देवताने भी जैसे दूसरा वाक्य सीखा ही न हो। उन्होंने आसन ग्रहण नहीं किया। जलकी उन्हें आवश्यकता नहीं थी। वैसे देवताको सदा मनुष्यके दानकी आवश्यकता होती है। मानवका श्रद्धा-दान, हव्य-कव्य न मिले तो स्वर्ग और पितृलोकमें दुर्भिक्ष पड़ जाय। इसलिये देवताको मनुष्यसे अपेक्षा नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

मनुष्य देवताओंको तृप्त करे हवन-पूजनादिसे और देवता यथावत् वृष्टि, वायु, महामारी आदिका नियन्त्रण करके मनुष्यको सुखी-समृद्ध बनाते रहें—व्यवस्था यही है। केवल परमात्मा पूर्णकाम, नित्य निरपेक्ष है। उसे मनुष्य जो कुछ देना चाहता है—देनेका उद्योग करता है, वह अनन्तगुणित होकर लौट आता है उसीके समीप; किंतु देवता तो ऐसे नहीं हैं। अतः उसका भाव था—'तुम वरदान देने आये—मुझे वरदान चाहिये कि नहीं, यह भिन्न प्रश्न है; किंतु मैं तुम्हें जल पिला दे सकता हूँ, यदि तुम पीना चाहो।'

देवताको प्यास नहीं होगी। पर्वतोंमें ग्रीष्ममें भी शीत रहता है। वहाँ रात्रिमें उसे भी प्यास कभी नहीं लगती और सुना है कि देवताओंकी क्षुधा-पिपासा मनुष्यसे सर्वथा भिन्न होती है। वे भोज्य वस्तुओं एवं जलको भी केवल सूँघकर तृप्त होते हैं। मुखसे खाने-पीनेकी आवश्यकता उन्हें नहीं होती।

देवता भी हो और चोर भी हो, ऐसा नहीं हुआ करता। इसलिये जबतक कोई मनुष्य अपनी ईमानदारी-से उपार्जित वस्तुको देवताके अर्पण न करे अर्थात् श्रद्धा-प्रेमसे अपने ठीक स्वत्वकी वस्तुको ग्रहण करनेका अधिकार देवताको न दे, देवता कोई पार्थिव वस्तु ग्रहण नहीं कर सकता—उसे सूँघ नहीं सकता। उसने देवताको जल पिलानेकी बात कही थी। देवता प्यासा होता तो उसके लोटेमें भरे जलको बिना स्पर्श किये घ्राण-ग्राह्य बना ले सकता था।

'वरं ब्रूहि !' देवताको पता नहीं क्यों वरदान देनेकी धुन चढ़ी थी और वह चाहता था कि वरदान देकर झटपट चला जाय; किंतु जिसे वरदान लेना था, उसे कोई शीघ्रता या तत्परता उसमें नहीं जान पड़ती थी।

× × ×

'वह कौन है ?' आप अवश्य जानना चाहते होंगे; किंतु नाम-धाम-काम कोई पूछे तो उसे झल्लाहट होती

है । कहता है—'व्यक्तिका क्या परिचय ? कल उत्पन्न हुआ, परसों मर जायगा । मिट्टीके ढलेको एक आकार मिल गया—इस खिलौनेका भी कोई परिचय हुआ करता है ?'

'तुमने साधुवेष क्यों ग्रहण नहीं किया ?' एक महात्माने उससे एक बार पूछा था । पूछना उचित था; क्योंकि जिसके कुल-परिवारमें कोई नहीं, जिसकी कहीं कोई झोंपड़ीतक नहीं, वह क्यों अपनेको गृहस्थ कहता है ? वह धोती, कमीजमें क्यों रहता है ? समाजकी वर्तमान परिपाटीको देखते उसे ऐसे ढंगसे क्यों रहना चाहिये ?

'मैं क्यों साधुवेष ग्रहण करता ? क्या प्रयोजन था इसका ?' उसने प्रश्नके उत्तरमें प्रश्न कर लिया था । कहा न कि वह अद्भुत अक्खड़ है । कहने लगा—'सहज प्राप्त 'क्यों है ?' यह प्रश्न अनुचित है । 'उसमें परिवर्तन क्यों किया जाय ?' प्रश्न यह ठीक है ।'

'दूसरे साधुवेष किसी प्रयोजनसे ग्रहण करते हैं ?' महात्माने पूछा ।

'दूसरोंकी बात मैं कैसे कह सकता हूँ ।' वह बोला । 'वैसे साधुवेष-ग्रहणके चार प्रयोजन मेरी समझमें आते हैं । उत्तम प्रयोजन—संसारसे वैराग्य हो गया हो और कुटुम्ब-परिवारका बन्धन अन्तर्मुख होनेमें बाधा दे रहा हो । मध्यम प्रयोजन—आसक्ति कहीं हो नहीं और साधन-भजन करनेमें पूरा समय लगाना हो । शरीर-निर्वाहके लिये अप्रयास भिक्षा मिल जाया करे । निकृष्ट प्रयोजन—योग्यता हो या न हो, किंतु दूसरोंसे सम्मान पाने, पैर पुजवानेकी इच्छा प्रबल हो । अधमतम प्रयोजन—सम्मान-सम्पत्ति, भोग भरपूर चाहिये; किंतु कुछ उद्योग करनेकी इच्छा-शक्ति न हो ।'

जिसके कुटुम्ब-परिवार, घर-द्वार, कोई है ही नहीं, उसके लिये इस बन्धनसे छुटकारेका प्रश्न नहीं उठता था । शरीर-निर्वाहके लिये उसे जितना कम श्रम करना पड़ता है, जितनी स्वच्छन्दता उसके श्रममें है, उतना तो भिक्षाजीवीको भी करना ही पड़ता है । सम्मान उसे सहज प्राप्त है और संग्रहकी सनक उसे है नहीं । वह कहता है—'मैं प्रायः अस्थिर रहता हूँ । एक तौलिया भी अधिक रख लूँ तो उसे ढोते फिरना होगा । बात त्यागकी नहीं है, समझदारीकी है । जितनेसे ठीक-ठीक जीवन-निर्वाह हो जाता है—सुखसे, सुविधासे, सामाजिक शिष्टताको रखते हो जाता है, उतना रखता हूँ । अधिकको ढोते फिरनेकी मूर्खता नहीं कर सकता ।'

अब किसके मुखमें दो हाथकी जिह्वा है कि उससे कहेगा—'बिना साधुवेष लिये ज्ञान नहीं होता या भगवत्प्राप्ति नहीं होती ।'

'भाई मेरे ! ज्ञान या भगवद्दर्शन मनुष्यको होता है, कपड़ेको नहीं,—यह उसकी बात ठीक नहीं है; ऐसा तो न कोई शास्त्र कहता और न किसी संतने कभी कहा है ।'

'भोगे रोगभयं'—अधिक जिह्वा-लोलुप बनोगे तो पेट खराब हो जायगा और सामान्य रसास्वादके सुखसे भी वञ्चित कर दिये जाओगे !

अधिक काम बढ़ेगा तो वह शक्ति प्रकृति छीन लेगी । स्नायु-दौर्बल्य, हृदय-दौर्बल्य एवं और पता नहीं कितने कष्टसाध्य—असाध्य रोगोंकी भीड़ खड़ी है कि तुम इस ओर बढ़ो और वे बलात् तुम्हारी देहको अपना आवास बना लें ।

'भोग जीवनके लिये हैं, जीवन या देह भोगके लिये नहीं है ।' यह या ऐसी बातें हम-आप सबने पढ़ी-सुनी हैं । इनको जीवनमें किसने कितना अपनाया है, यह भिन्न बात है । किंतु यह सत्य तो

स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जिसने जितना अधिक इन्हें अपनाया है, उतना स्वस्थ एवं सुखी है वह। जिसने जितनी इनकी उपेक्षा की है, वह उतना रोगी—दुखी है।

उसका अपना ढंग है। कहता है—'अनावश्यक संग्रह करके उसकी चिन्ता करते रहना और उसे ढोते फिरना मूर्खता है। मैं अपने आपको स्वयं मूर्ख नहीं बना सकता। इससे भी बड़ी मूर्खता है किसी इन्द्रियके पीछे इतना पड़ना कि उसकी शक्ति—उसकी उपयोगिता ही नष्ट हो जाय। एक समय जीभके बहकावेमें जो आया—दूसरे समयके उपवाससे ही उसका छुटकारा हो जाय तो बहुत कुशल हुई। अन्यथा पेट-दर्द, सिर-दर्द आदि पता नहीं क्या-क्या उपहार सिर पड़नेवाले हों।'

'इन्द्रियाँ शैतानकी पुत्रियाँ हैं। इनके बहकावेमें आये और यहीं रोगोंका नरक तैयार।' उसका अपना विवेचन है। 'इन्द्रियोंकी तृप्ति तो कभी होनेकी नहीं, यह वे कहते हैं जो इनका स्वभाव बिगाड़ देते हैं। अन्यथा इन्द्रियोंका काम तो इसको—अपने विषयको व्यक्त करनामात्र है। जीवनके लिये जितना उपयोगी है—उतना रस-पदार्थ-भोगसेवन समझदारी है।'

× × ×

'वरं ब्रूहि !' अब ऐसे व्यक्तिको वरदान देने देवता आ गये हैं। क्यों आ गये हैं, यह बात तो वे ही जानते होंगे। देवताओंको भी सम्भव है कि ऐसा कुछ व्यसन होता हो।

'आप क्या दे सकते हैं ?' उसने देवताकी ओर ऐसे ढंगसे देखा कि उस दृष्टिमें जिज्ञासाका भाव तो सर्वथा नहीं था।

'धन-रत्न, बल-यश, पद-प्रभुत्व, सिद्धियाँ !' देवताके स्वरमें गम्भीरताके स्थानपर उल्लास अधिक था। जैसे वरदान उसे न मिलकर स्वयं देवताको मिलनेवाला हो—'स्वर्ग एवं स्वर्गसे सम्बन्धित गन्धर्वादि लोकोंमें जो प्राप्य है, वह भी।'

'अच्छा, तो तुम मुझे मूर्ख बनाने आये हो ?' वह खुलकर हँसा। अच्छा हुआ; क्योंकि सम्भावना इसकी भी थी कि वह क्रुद्ध हो जाता और देवताको झिड़क देता। किंतु देवताको 'आप'के स्थानपर वह 'तुम' तो कहने ही लगा था।

'ऐसा तो नहीं है।' देवता भी चौंका। उस बेचारे देवताको भी ऐसा व्यक्ति कभी मिला नहीं होगा। उसने बड़े गम्भीर भावसे कहा—'प्रतिभा, कला, विद्याका वरदान भी चाहो तो माँग सकते हो।'

'अनावश्यक पदार्थ और पैसा जैसे भार है, वैसे ही विद्या-प्रतिभा भी भार ही है।' उसने देवताकी ओर ऐसे देखा, जैसे किसी मित्रको समझा रहा हो—'तुम देख रहे हो कि ऐसी कोई आवश्यकता जीवनके लिये नहीं है, जो मुझे उपलब्ध नहीं है। जीवनके लिये जो पदार्थ, जो धन, जितनी बुद्धि-विद्या आवश्यक है, मेरे पास वह है। मुझे इससे अधिकका लोभ नहीं है।'

'सिद्धियाँ……' देवताने कहना चाहा।

'बको मत !' बेचारे देवताको डाँट दिया गया। 'मैं मनुष्य हूँ। पक्षी आकाशमें उड़ते हैं और मछली जलमें डूबी रहती है। चींटी नन्ही है और हाथी भारी। तुम्हारी ऐसी कौन-सी सिद्धि है, जो किसी पशु-पक्षी अथवा कृमिमें सहज नहीं है ? मनुष्यके मनमें तुम प्रकारान्तरसे पशु-पक्षी या कीटके गुणका लोभ उत्पन्न करना चाहते हो ?'

'मनुष्यको भी पद-प्रतिष्ठाकी स्पृहा होती है।' देवता पता नहीं क्यों डाँट खाकर भी रुष्ट नहीं हुआ था। वह सम्भवतः असफल होकर जानेको उद्यत नहीं था।

उसने कहा—'आपके समीप सामग्री थोड़ी ही है। शरीर सदा स्वस्थ ही रहे, इसका आश्वासन नहीं है। आपको इस ओरसे मैं निश्चिन्त कर दे सकता हूँ।'

आश्चर्यकी बात यह है कि डाँटे जानेके पश्चात् देवताने उसे 'तुम'के स्थानपर 'आप' कहना प्रारम्भ कर दिया था; किंतु इस ओर उसने ध्यान नहीं दिया। वह कह रहा था—'तुम देवता हो; अतः तुम्हें जानना चाहिये कि मेरे लिये मेरे स्वास्थ्य और मेरे संग्रहका क्या अर्थ है। मेरे शरीरकी शक्ति, मेरी बुद्धि, मेरी विद्या कितनी अल्प है—यह तुमसे अज्ञात नहीं होना चाहिये। इतना होनेपर भी मेरी निश्चिन्तता, मेरी सुव्यवस्था तुम देख सकते हो।'

'किंतु यह सब तो इस समय है।' देवताने बड़े संकोचसे कहा। 'भाग्य अबतक आपपर सानुकूल रहा है।'

'किसका भाग्य सानुकूल रहा है?' उसने व्यंग-पूर्वक पूछा। 'परिवार, परिच्छद, पाथेय एवं अध्ययनका उच्छेद सानुकूल प्रारब्ध ही किया करता है?'

देवताको भी नहीं सूझ रहा था कि वह इसका क्या उत्तर दे। वह मौन रह गया। दो क्षण रुककर उसने कहा—'तुम देवता सही, तुम्हारी दिव्य दृष्टिकी भी सीमा है। तुम उस नटखटको नहीं देख सकते, यह तुम्हारा दोष तो नहीं है। तुम जानते हो?'

कोटि-कोटि विश्वोंके वैभवकी अधिदेवी—
इन्दिरा बढ़कर दूर खड़ी चरणोंसे
चाहती है क्षुद्रतम सेवाका सम्मान!
थर-थर काँपते हैं चरण महाकालके—
जिसके भ्रूभङ्गसे,
कन्हाई वह मेरा है!
तुम दोगे मुझको वरदान?

'देव!' जैसे कोई बड़ी भूल हो गयी हो—देवता इस प्रकार केवल एक शब्द बोल सका और क्योंकि वह देवता था, उसे वहाँ अदृश्य होनेमें कहाँ क्षण लगना था।

'स्वप्न भी कैसे-कैसे आते हैं!' वह सबेरे कह रहा था। जब उसे ही स्मरण नहीं कि रात्रिमें वह सचमुच उठकर बैठा था या उसने स्वप्न ही देखा था, तब ठीक बात क्या है, कैसे कही जा सकती है।

'ठीक बात इसमें इतनी अवश्य है' वह कहता है—'समस्त भोग जीवनके लिये हैं—मनुष्यको यह तथ्य ठीक समझमें आ जाय तो उसे न इन्द्रियाँ मूर्ख बना सकतीं और न कोई देवता। मनुष्य जब इस सत्यको छोड़कर इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लोभमें पड़ता है, उसे केवल मूर्ख ही नहीं बनना पड़ता, रोगी बनना पड़ता है और कष्टोंकी परम्परामें जकड़ा जाकर विवश हो जाना पड़ता है।'

भजनके लिये प्रेरणा

भजो रे भैया राम गोविंद हरी।
जप तप साधन कछु नहिं लागत खरचत नहिं गठरी॥
संतति संपति सुख के कारन जासों भूल परी।
कहत कबीर जा मुख में राम नहिं ता मुख धूल भरी॥

—संत कबीर

वैराग्य, सत्सङ्ग और भगवत्प्राप्ति

(लेखक—आचार्य श्रीरामप्रतापजी शास्त्री)

यह भारत है, जहाँ जन्म लेनेके लिये देवता भी लालायित रहते हैं—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥

मनुष्य-जीवनका एक-एक श्वास अमूल्य है; क्योंकि ईश्वर-कृपासे उत्तम देश, काल और सत्सङ्ग पाकर यह मानव एक क्षणमें ही परमपदको प्राप्त कर सकता है। आधा क्षण भी कल्याणके लिये पर्याप्त कहा गया है—'क्षणार्धं क्षेमार्थम्।' परंतु हमलोग मोहरूपी मदिराको पीकर ऐसे मोहित हो रहे हैं कि उसका नशा तो कभी उतरनेवाला ही नहीं दीख पड़ता। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको इस मोह-बन्धनकी निवृत्तिके लिये शरीर और संसारकी अनित्यतापर विचार करते हुए भोगेच्छामात्रका परित्याग करनेका आदेश दिया है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले भोग हैं, वे सब-के-सब आदि-अन्तवाले हैं—अनित्य हैं। बुद्धिमान् जन इन विषयोंमें कभी नहीं अनुरक्त होते।' बस, इसीलिये समस्त तपोंमें वैराग्य परम तप है—

तपसामपि सर्वेषां वैराग्यं परमं तपः।

जबतक सांसारिक पदार्थोंमें राग है, तभीतक बन्धन है और रागके छूटनेपर ही वैराग्य बनता है। वैराग्य भीतरी त्यागके भावका वाचक है। संसारमें जितने धन-धान्य हैं, जितनी स्त्रियाँ (या पुरुष) हैं, जितनी सामग्रियाँ हैं, वे सब एक साथ ही किसी व्यक्तिको मिल जायँ, तब भी उनसे उसे तृप्ति होनेकी नहीं—

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

इसका यही कारण है कि यह जीव ईश्वर—परमात्माका अंश है, इसकी पिपासा इन जड भौतिक पदार्थोंसे शान्त ही नहीं हो सकती। यह तो परमात्माके मिलनेपर ही सम्भव है। चेतनकी भूख जड पदार्थोंसे भला कैसे मिट सकती है। चाहे ब्रह्माकी आयु समाप्त हो जाय, पर भोगोंसे, उनके संग्रहसे जीवकी भूख कभी नहीं मिट सकती। उसे शान्ति कहाँ? शान्ति तो तभी मिलेगी, जब कामनाओंका अन्त हो जायगा। संसारके पदार्थोंमें तथा स्वर्गके पदार्थोंमें जो सुख है; वे सब मिलकर भी तृष्णा-नाशके सुखके सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं हैं।

न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः।
यत्सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तजीविनः॥

यदि सुख होता तो राजा-महाराजागण राज्यके सुखोंका त्याग क्यों करते? राजा भर्तृहरिने कहा है—

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलने क्षमः॥

'अकेला, स्पृहारहित, शान्तचित्त, करपात्री और दिगम्बर होकर हे शम्भो! मैं कब अपने कर्मोंको निर्मूल करनेमें समर्थ हो सकूँगा?' ठीक भी है, रहनेयोग्य—ठहरनेयोग्य एक वैराग्यको छोड़कर निर्भय स्थान भी तो दूसरा नहीं है—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

'भोगोंमें रोगादिका भय, कुलमें गिरनेका भय, धनमें राजाका भय, मानमें दीनताका भय, बलमें शत्रुका भय, रूपमें बुढ़ापेका भय, शास्त्रमें विवादका भय, गुणोंमें

दुर्जनका भय और शरीरमें मृत्युका भय तो सदा ही बना रहता है। यहाँ पृथ्वीमें मनुष्यके लिये सभी वस्तुएँ भयावह हैं, एक वैराग्य ही सर्वथा भयरहित है।'

भर्तृहरिजी कहते हैं—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याता-
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

'हमने भोगोंको नहीं भोगा, भोगोंने ही हमें भोग लिया—समाप्त कर दिया। अरे! इस आशा-पिशाचिनी-के ही कारण तो इस जीवनकी सारी दुर्दशा हो गयी, फिर भी इसका पिण्ड हमसे न छूट सका।'

भगवान् शंकराचार्यके वचन हैं—

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशा पिण्डम्॥

'अङ्ग गल गये, बाल सफेद हो गये, शरीर हिलने लगा, दाँत गिर गये, वृद्ध होनेपर डंडेका ही आश्रय रह गया। फिर भी आशाने पिण्ड न छोड़ा।' जहाँ गगन-चुम्बिनी अट्टालिकाएँ खड़ी थीं, आज वहाँ खँडहर ही दिखायी पड़ते हैं। जिसके हृदय-में वैराग्य है, उसे शरीरके जानेका भय नहीं। शरीर कल जाता हो तो आज ही चला जाय।

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥

विषय-पदार्थ चाहे दीर्घकालतक रहें, पर एक दिन अवश्य जानेवाले हैं। चाहे हम उनका त्याग करें या वे हमें त्याग दें, उनका वियोग अवश्य ही होगा; पर संसारी मानव स्वयं उनका त्याग करनेको तैयार नहीं है। जब विषय-पदार्थ स्वतन्त्रतासे हमारा परित्याग करते हैं, तब हमारे मनको बड़ा कष्ट पहुँचता है। परंतु यदि हम उनका स्वयं परित्याग कर दें तो हमें अनन्त सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है—ये ही पदार्थ मनसे छोड़ देनेपर सुख देनेवाले बन जाते हैं।

इसीलिये भर्तृहरिजीने कहा है—

अजानन् दाहार्त्तिं पतति शलभस्तीव्रदहने
न मीनोऽपि ज्ञात्वा बडिशयुतमश्नाति पिशितम्।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान्
न मुञ्चामः कामानहह! गहनो मोहमहिमा॥

'पतिंगा इस बातको नहीं जानता कि जलनेपर कैसी पीड़ा होती है, इसीलिये वह प्रचण्ड ज्वालामें कूद पड़ता है। मछलीको भी बंसीमें लगा हुआ मांसका टुकड़ा खाते समय पता नहीं रहता कि उसके भीतर लोहेका काँटा है। परंतु हमलोग तो यह जानते हुए भी कि विषय-भोग विपत्तिके जालमें फँसानेवाले हैं, उन्हें नहीं छोड़ पाते। अहो! कितना बड़ा और घना मोह—अज्ञान है।' अस्तु, वैराग्यरूपी शस्त्रसे ही इसकी जड़ काटी जा सकती है—

असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।

वैराग्यरूपी शस्त्रसे ही इस मोहकी जड़ समाप्त की जा सकती है। पर वह भी सहसा सम्भव नहीं है।

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥

सत्सङ्गसे तात्पर्य है—सत्में आसक्ति। यह 'सत्' शब्द गीतामें परमात्माके लिये ही प्रयुक्त हुआ है—

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।

जिसका कभी अभाव नहीं होता है—

नाभावो विद्यते सतः।

ऐसी अव्यय नित्य सद् वस्तु परमात्मा ही हैं—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥

वह सत्ता जिससे सम्पूर्ण संसार व्याप्त है 'सत्'—परमात्मा ही है। भगवान्ने स्वयं कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

'मैंने ही अव्यक्त रूपसे इस समस्त जगत्को व्याप्त कर रक्खा है।' जिसका वर्णन श्रुति इस प्रकार करती है—

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।

अर्थात् वह सृष्टि करके स्वयं ही स्थावर-जंगम सभी भूतोंमें व्याप्त हो गया। अब ये परमात्मा उन्हींको मिल सकते हैं, जो उपर्युक्त भावको समझकर सर्वत्र समदृष्टि रखकर समस्त प्राणियोंके प्रति राग-द्वेषका परित्याग करके समदृष्टियुक्त व्यवहार करनेमें निपुण हैं।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—जो पुरुष मेरा ही कर्म करता है, मेरे ही परायण है, मेरा ही भक्त है, आसक्तिसे रहित है और समस्त प्राणियोंमें वैररहित है, वह मुझे ही प्राप्त करता है। भगवान्ने यहाँ 'सङ्गवर्जितः' कहा है, विवेकीजन सङ्ग—आसक्तिको आत्माका अच्छेद्य बन्धन मानते हैं; किंतु वही सङ्ग या आसक्ति संतोंके प्रति जब हो जाती है तो मोक्षका खुला द्वार बन जाती है। इसका कारण यह है कि सत्पुरुषोंके समाजमें सदा पवित्र-कीर्ति श्रीहरिके गुणोंकी चर्चा होती ही रहती है—जिससे विषय-वार्ता पास ही नहीं आने पाती और जब नित्यप्रति भगवच्चर्चा-वार्ता-कथाका सेवन किया जाता है, तब वह मोक्षाभिलाषी पुरुषकी बुद्धिको भगवान् वासुदेवमें लगा देती है—

यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो-
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे॥

(श्रीमद्भागवत ५। १२। १३)

'जो लोग दुस्तर संसार-सागरसे पार जाना चाहते हैं अथवा जो लोग भाँति-भाँतिके दुःख-दावानलसे दग्ध हो रहे हैं, उनके लिये पुरुषोत्तम भगवान्की लीला-कथारूप रसके सेवन किये बिना और कोई साधन नहीं है। बस, इसीसे वे अपना अभीष्ट प्राप्त कर सकते हैं।' सत्-कथा, हरि-कथाको छोड़कर और सभी असत् है—

मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा
न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः।
तदेव सत्यं तदु हैव मङ्गलं
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम्॥

(श्रीमद्भागवत १२। १२। ४८)

'जिस वाणीद्वारा भगवान्के नाम, गुण, लीलाका कथन नहीं होता, वह भावयुक्त होनेपर भी व्यर्थ—सारहीन है, सुन्दर होनेपर भी असुन्दर है। जो वचन भगवद्गुणोंसे पूर्ण रहते हैं, वे ही परम मङ्गलमय हैं और वे ही परम सत्य हैं।' सत्सङ्ग-सुधाके परम पिपासु भक्तराज ध्रुव सत्सङ्गके लिये भगवान्से प्रार्थना करते हैं—

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो
भूयादनन्त महताममलाशयानाम्।
येनाञ्जसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिं
नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः॥

(श्रीमद्भागवत ४। ९। ११)

'परमात्मन्! जिनकी आपमें अविच्छिन्न भक्ति है, उन निर्मल-हृदय सत्पुरुषोंका सङ्ग मुझे दीजिये; उनके सङ्गसे आपके गुणों और लीला-कथा-सुधाको पी-पीकर मैं उन्मत्त हो जाऊँगा, जिससे सहज ही संसार-सागरसे मुक्ति मिल जायगी।'

इस प्रकार भगवान्की अविचल भक्ति, स्मृति सारे पाप-ताप और अमङ्गलोंको विनष्ट कर देती है और उसीसे अन्तःकरण परम शुद्ध हो जाता है एवं पर-वैराग्यसे युक्त भगवान् श्रीहरिके स्वरूपका सम्यक् ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त होता है—

सत्सङ्गत्वे निस्सङ्गत्वं निस्सङ्गत्वे निर्मोहत्वम्।
निर्मोहत्वे निश्चलतत्त्वं निश्चलतत्त्वे जीवन्मुक्तिः॥

चंडौतकी महासती

[११ जनवरी सन् १९६६ की सत्य घटना]

(लेखक—श्रीबलरामजी शास्त्री, आचार्य, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

प्रस्तुत प्रसङ्गमें हमीरपुर जिला, उत्तर प्रदेशकी एक सती स्त्रीकी चर्चा की जा रही है, जो ११ जनवरी १९६६ को चंडौत गाँवमें दिनमें ही हजारों व्यक्तियोंके सम्मुख अपने मृत पतिके शवके साथ जलकर सती हो गयी। उस सतीको अपने पतिके शवके साथ जलकर प्राण न देनेके लिये वहाँकी जनता और चंडौत चौकीकी पुलिसने बहुत बार प्रयत्न किया। उसे बलपूर्वक एक कोठरीमें बंद भी किया गया। कोठरी बंद करके पहरा भी बैठाया गया, किंतु उस सतीके प्रभावसे वे सभी बन्धन बेकार हो गये और हजारों लोगोंके सम्मुख सती अपना अलौकिक दैवी प्रभाव दिखलाकर पतिके शवके साथ विधिवत् सती हो गयी। घटनाका उल्लेख निम्न प्रकारसे है—

उत्तर प्रदेशके बुंदेलखंडमें हमीरपुर एक जिला है। हमीरपुरसे पचास मील दूर राठ तहसील है। राठसे पचीस मील दूर चंडौत नामक गाँव है। हमीरपुरसे चंडौत जानेके लिये बस या लारीसे राठ होकर ही जाना पड़ता है। इस प्रकार जिलेके मुख्यावाससे चंडौत पचहत्तर मील दूरस्थ है। चंडौतके लिये वर्षा ऋतुमें जानेका कोई साधन नहीं है। जरियातक एक लारी चलती है। जरियासे चंडौत नौ मील है। बहुत ऊबड़-खाबड़ रास्ता है। ऊँची-नीची कँकरीली-पथरीली कच्ची सड़क है। इसी सड़कपर राठसे चंडौततक बरसातके बाद एक लारी चलती है। यह सब लिखनेका तात्पर्य यह है कि हमीरपुर जिलाका मुख्यावास स्वयं यमुना और बेतवाके बीचमें टापूके रूपमें है। दोनों नदियोंमें पुल न होनेसे हमीरपुरकी यात्रा बहुत कठिन मानी जाती है। हमीरपुरसे चंडौत पचहत्तर मील दूरस्थ है। चंडौतमें समाचारपत्र नहीं पहुँच पाते और न तो ऐसे संवाददाता हैं, जो ऐसी घटनाओंको समाचारपत्रोंमें दे सकें। फलतः ऐसी घटनाका समाचार पाठकोंतक पहुँच न सका होगा। इस युगमें हजारोंके बीचमें अपने अलौकिक प्रभावसे जनताको प्रभावित करके साठ वर्षकी वृद्धा अपने पतिके शवके साथ सती हो गयी और सब लोग उस सतीके प्रभावसे प्रभावित होकर उसे सती होनेसे विरत नहीं कर सके। पुलिस भी किंकर्तव्यविमूढ हो गयी। यह सब इसी युगमें ११ जनवरी १९६६ को हुआ। ऐसे समाचारको भारतीय पत्र भी प्रकाशित न कर सके। यह होता भी कैसे? उस समाचारको न तो भेजा गया, न प्रकाशित ही हो सका।

सतीका जीवनवृत्त

श्रीमती रौशीली उपनाम मयनियाँ जातिकी केवट थीं। रौशीली देवीका विवाह श्रीघंजू केवटसे हुआ था। घंजू चंडौतके निवासी थे। एक झोपड़ी बनाकर रहते थे। घंजू केवट थे, अतः उनके परिवारके लोग अपना छोटा-मोटा कार्य करते हैं, मजदूरी-खेती आदि भी करते हैं। श्रीमती रौशीली केवट जातिकी स्त्री होते हुए भी अभक्ष्य पदार्थ (मछली, मांस) नहीं ग्रहण करती थीं। अपने पतिको ही ईश्वर मानकर उनकी सेवा करती थीं। कथा-पुराण सुननेका उनका बहुत ध्यान रहता था। वे चारों धामों (तीर्थों) में जाकर दर्शन कर आयी थीं। उनके व्यवहारसे घर और पास-पड़ोसके सभी लोग प्रभावित थे। यदा-कदा उनके पति उन्हें ताड़ना देते, फटकारते; किंतु वे उसका उत्तरतक नहीं देती थीं। साठ वर्षकी अवस्थामें उनका प्रभाव उनके पुत्रों, पौत्रों, पौत्रियों और पुत्रवधुओंपर इतना था कि कोई भी उनके आदेशके पालनमें आनाकानी नहीं कर सकता था। समय-समयसे वे पुराणों और धार्मिक कथाओंके उपदेशको भी परिवारवालोंको सुनाया करती थीं। सबको सन्मार्गपर चलनेका लाभ समझाती थीं।

१० जनवरी १९६६ की घटना

१० जनवरी १९६६ की रात, जिस दिन भारतके लाल श्रीलालबहादुर शास्त्रीको विधाताने हमसे छीन लिया था, उसी दिन सायंकाल सात बजे चंडौतके श्रीघंजू केवट तीन-चार दिनकी साधारण बीमारीके बाद इस लोकसे विदा हो गये। उस समय उनकी अवस्था पैंसठ वर्षकी थी, श्रीमती रौशीलीदेवी अपने बीमार पतिकी सेवामें दिन-रात लगी रहीं और उन दिनों वे अपने भोजन, नित्य-नियम आदिके कार्योंको भूल गयी थीं। पतिकी मृत्यु हो जानेसे वे शान्तचित्तसे कुछ विचार करने लगीं। घरके लोग रोने लगे। श्रीमती रौशीलीदेवी मौन थीं। थोड़ी देर बाद अपना मौन भङ्ग करके उन्होंने अपने पुत्रों, पौत्रों आदिको रोने-चिल्लानेसे रोक दिया। सब लोग उनकी गतिविधि तथा उपदेश सुनकर आश्चर्यचकित थे। श्रीमती रौशीलीदेवीने अपना निर्णय सुनाते हुए कहा—'बच्चो! मैं अपने पतिके साथ सती होऊँगी। यह मेरा दृढ़ निश्चय है। तुमलोग रोना-पीटना बंद करो।' श्रीमती रौशीलीदेवी रातभर अपने पतिके शवको अपनी गोदीमें लेकर बैठी रहीं और राम-राम कहती रहीं। उनके लड़कोंको अपनी माँके कथन-पर पूरा विश्वास था—भरोसा था, अतः उन्होंने डरकर अपने पड़ोसियोंसे अपनी माँका निश्चय कह सुनाया। पड़ोसियोंके घरमें रातभर यही चर्चा रही। सबने लड़कोंको समझाया कि 'सती होना अपराध है। तुम-लोग अपराधमें गिरफ्तार हो जाओगे। अपनी माँको सती न होने दो।' गाँवके लोग श्रीमती रौशीलीदेवीके दृढ़ निश्चयको केवल विडम्बना समझ रहे थे। जो धार्मिकजन सतीकी भावनाओं और विचारोंको जानते थे, वे उनके लड़कोंको समझाने लगे—सती होना अपराध माना गया है और इस अपराधमें तुम सब फँस जाओगे। अपनी माँको सती न होने दो। दूसरे दिन अर्थात् मङ्गलके दिन ११ जनवरीको प्रातः आठ बजते-बजते सम्पूर्ण गाँवके लोग श्रीमती रौशीलीदेवीकी प्रतिज्ञाको सुनकर एकत्रित होने लगे। देखते-देखते उनके मकानके सामने एक भारी भीड़ इकट्ठी हो गयी। लोग रौशीलीदेवीको समझाने लगे, किंतु उन्होंने सबको अपना दृढ़ निश्चय बतला दिया।

सती होनेका दृढ़ निश्चय

श्रीमती रौशीलीदेवी सधवा स्त्रीकी भाँति अपने शरीरको सुसज्जित करके सती होनेके लिये तैयार हो गयीं। नयी साड़ी पहनीं। आँखोंमें काजल, माथेपर सिंदूर लगाया और राम-राम कहती हुई उन्होंने अपने पुत्रोंसे चिता लगानेके लिये कहा। गाँववालोंने पुनः सतीको समझाया; किंतु उनके ऊपर किसीके समझानेका कोई प्रभाव नहीं था। अन्तमें किसीने प्रस्ताव किया—'माताजी! यदि आप सती होना चाहती हैं तो अपना कुछ प्रभाव हमलोगोंको दिखलायें। सती स्त्री अपने प्रभावसे असम्भवको सम्भव कर देती हैं।' सतीका प्रभाव देखनेके लिये सबने उत्कण्ठा व्यक्त की।' गाँव-वालोंका प्रस्ताव सुनकर सतीने आज्ञा दी, 'तुमलोग पानके दो बीड़े लाओ।' सतीकी आज्ञा होते ही पानका बीड़ा लाया गया।

सतीका प्रभाव

गाँव चंडौतके बहुत-से नर-नारी वहाँ उपस्थित थे। पानके बीड़े सतीके हाथमें दिये गये। सतीने एक बीड़ा अपने पुत्र सरमनको दिया और कहा कि अपने पिताके मुखमें पानका बीड़ा डाल दो और दूसरा पानका बीड़ा सती स्वयं पाने लगी। गाँववालोंने देखा कि मृतक घंजूके शवने जँभाई ली और पानका बीड़ा मुखमें पड़ते ही उसके होठ हिलने लगे। शवका मुख लाल हो गया। होठोंका हिलना बंद हो गया। गाँववालोंने अपनी आँखोंसे इस दृश्यको देखा। गाँवके लोगोंके मनमें कुछ भय उत्पन्न हुआ। कुछ लोग सतीके पक्षमें हो गये। कुछ लोग चंडौत गाँवकी पुलिसचौकीपर पहुँचकर पुलिस बुला लाये। पुलिसके आनेपर और सतीका होना अपराध मानकर कुछ लोग

बलपूर्वक सतीको एक कमरेमें बंद करनेपर उतारू हो गये। मृतक शरीरको लोगोंने बाहर किया और श्रीमती रौशीलीदेवीको एक कोठरीमें बलपूर्वक बंद कर दिया गया। यह सब पुलिसकी सम्मतिसे हुआ। उस कोठरीमें ताला लगाया गया। गाँवके श्रीविश्वनाथ चौकीदारको पहरेपर लगाया गया! चौकीदार पहरा देने लगा। सतीने उस समय अपने बच्चोंको बतलाया कि मृतक शरीरको जलानेके लिये मेरे कहनेके अनुसार चिता सजाओ। सतीने अपनी सम्मतिसे चिताकी भूमिका निर्णय किया और सतीके कथनानुसार उसी स्थानपर चिता लगायी गयी। कुछ लोग शवको लेकर चितापर रख आये। चितापर शव रखकर आग लगायी गयी; किंतु चिताकी लकड़ियोंमें आगका प्रभाव नहीं होता था और चिता धू-धू करके रह जाती थी। सरमन घर वापस आया और चितामें घी डालने और हवनकी सामग्री छोड़कर चिताको प्रज्वलित करनेकी बात कही। सबने उसकी इच्छाका समर्थन किया। श्रीमती रौशीली-देवी जिस कोठरीमें बंद की गयी थीं, वह कोठरी सर्वसाधारणके लिये दृश्य थी। कोठरीमें ताला बंद था। चौकीदार पहरेपर था। लोगोंने देखा कि कोठरीके किवाड़ एक वार हिल उठे। चौकीदार कोठरीके किवाड़को पकड़कर सावधान होकर खड़ा था। सहसा दूसरी बार भी किवाड़ हिले और ताला अपने-आप खुलकर गिर गया। साँकल अपने-आप खुली। साथ ही दोनों किवाड़ भी अपने-आप खुल गये। कोठरीका ताला अपने-आप खुला, साँकल अपने-आप खुली और दोनों किवाड़ अपने-आप खुले——इसे गाँवके सभी लोग मानते हैं। इसे बहुतोंने देखा। सतीके इस प्रभावसे सब लोग स्तब्ध थे। पुलिसवाले भी किंकर्तव्यविमूढ़ थे। दरवाजा खुलते ही रौशीलीदेवी उस कोठरीसे बाहर हो गयीं और इतने वेगसे दौड़ीं कि देखनेवाले हताश हो गये। देखते-देखते वे प्रज्वलित चितापर बैठ गयीं। उनके बैठते ही चिता भी सहसा जल उठी। सतीने पतिके शवको अपनी गोदमें लिया और क्षणभरमें आग सम्पूर्ण चितामें दौड़ गयी। सतीकी साड़ी पहले जलने लगी तो कुछ लोग पासमें रखे ज्वारके कुछ डंठल डालने लगे। सतीने उन्हें ऐसा करनेसे रोका और कहा—'यह गौका भोजन है, इसे न जलाओ।' सती इतना कहकर ध्यानमग्न हो गयीं और पतिके साथ स्वर्ग चली गयीं। सतीके इस कृत्यको देखकर गाँवके लोग अपनी भावनाको छिपा न सके और कितने लोगोंने अपने शरीरके वस्त्र चितापर फेंक दिये, कितनोंने रुपये-पैसे फेंके, कितने घरसे घी आदि लाकर चितापर चढ़ा गये और देखते-देखते पति-पत्नीके शव भस्म हो गये। लोगोंने सतीकी भस्मको अपने माथेपर लगाया और सतीका जय-जयकार करने लगे। थोड़ी देरमें कई हजार जनसमुदाय इकट्ठा हो गया। गाँववालोंने मुझे यह भी बतलाया कि सती जब चिताकी ओर दौड़ीं तो उन्हें पुलिस और कुछ लोगोंने बलपूर्वक रोकनेका प्रयत्न किया; किंतु सतीने उनसे कहा, 'मुझे सती होनेमें जो बाधा डालेगा, उसे इसका भयानक परिणाम भुगतना पड़ेगा।' धार्मिक भावनासे प्रेरित जन-समुदाय सतीको रोक न सका और सती अपने प्रभावसे सबको चकित करके अपने पतिके साथ स्वर्ग सिधार गयीं।

गाँवके सब लोग यह मानते थे कि सती होना अपराध है। पुलिसके एक-दो सिपाही भी सतीको रोकना चाहते थे; किंतु सतीमें न जाने कहाँसे दौड़ने-की शक्ति आ गयी थी कि साठ वर्षकी अवस्थामें वे बिजलीकी भाँति दौड़कर चितापर चढ़ गयीं और अल्प समयमें जलकर सती हो गयीं। उन्हें किसीने रोकनेका साहस नहीं किया। विधान (कानून) पृथक् है और सतीका दृढ़ निश्चय पृथक् था। सतीका दृढ़ निश्चय सफल हुआ। लोग देखते ही रह गये। पुलिसके सिपाही कर ही क्या सकते थे। जो होना था, वह होकर ही रहा।

सती-परिवारमें सतीके तीन लड़के—छामन, सरमन और सुसुवा हैं और बाबूराम, शिवराम, आशाराम, कैलासपति पौत्र हैं। अनेकों पौत्रियाँ हैं। सब सानन्द रहकर सती माताका गुणगान करते हैं। जनवरी १९६६ को एक बजे दिनमें सती रौशीलीदेवीने अपना शरीर त्याग दिया और प्राचीन भारतीय सती-परम्पराकी लोकमें एक कड़ी जोड़कर भारतीय सती नारियोंकी यशोगाथाको अमर कर गयीं। सती अपने नश्वर शरीरको त्यागकर इस युगमें अपना नाम तो अमर कर ही गयीं, साथ ही नये युगके सामने यह प्रत्यक्ष प्रमाणित कर गयीं कि हमारा हिंदू-धर्म कितना महान् है, कितना विशाल है ! सती-सावित्री, द्रौपदी-सीताकी कहानी भी सत्य है—शाश्वत है।

चंडौत गाँवमें सतीका चबूतरा बनवाकर गाँववाले प्रत्येक मंगलवारके दिन सतीके नामपर मेला लगाते हैं। पास-पड़ोसकी जनता सतीके चबूतरेपर एकत्रित होकर सतीकी पूजा-अर्चना करती है। सती-परम्परामें सन् १९६६ की यह घटना नयी परम्परा, नयी दिशामें मुड़कर पथभ्रष्ट होनेवाली नारियोंके लिये ही नहीं, अपितु पथभ्रष्ट पुरुषोंके लिये भी चंडौतकी सतीकी यह (गाथा) शिक्षा ग्रहण करनेके लिये प्रेरित करती है। बुंदेलखंडमें जानेपर इस लेखके लेखकको भी सतीकी गाथा सुनने और चंडौत गाँवके सतीके चबूतरेका दर्शन करनेका अवसर मिला। फलस्वरूप यह निबन्ध सेवामें प्रस्तुत किया जा सका।

सहेली

[कहानी]

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

(१)

सरलाने जब देखा कि उसके पूज्य माता-पिता उसके विवाहके व्ययकी व्यवस्था न कर सकनेके कारण चिन्तासे घुले जाते हैं, तब वह संसारकी असारताको समझ हरिभजनमें अपना तन सुखाने लगी। वह नित्य सुन्दर सिंहासनपर विराजमान भगवान् श्रीराधाकृष्णजीके मनोहर चित्रके सम्मुख, कमरेके कपाट बंदकर, भक्तिरसमें मग्न हो, भक्तिमती मीराबाईके भजन गाकर कीर्तन किया करती थी। प्रत्येक परीक्षामें प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण होनेके कारण कालेजके पिता-तुल्य अध्यापक उससे सदा प्रसन्न रहकर उसकी सादगी, सरलता एवं विनय-शीलताकी अन्यान्य आधुनिक रंगमें रँगी छात्राओंसे तुलना किया करते थे।

एक रविवारके दिन सरलाकी सहेली रमाने आकर मन्दहास्यके साथ धीरेसे उससे कहा—"तुम्हारा मेरा परिचित धनवान्का सुन्दर पुत्र रामेश्वर तुमसे 'लव मैरेज' करनेको प्रस्तुत है और चाहता है कि तुम यह सादापन छोड़कर जरा ढंगसे रहा करो।"

इतना सुनते ही सरलाके चेहरेपर दुःख और क्रोधकी रेखाएँ उभर आयीं। वह दुःखभरे स्वरमें बोली—"रमा बहिन ! तुम्हें ऐसी बात मुझसे कभी नहीं कहनी चाहिये। हम पवित्र आर्य कुमारी हैं, हमारे माता-पिता विधिसहित जिनके साथ विवाह करेंगे, वे ही हमारे पूज्य और प्रियतम पति होंगे। तुमने भी तो भारतीय नारीके महान् आदर्शोंको रामचरितमानस-में पढ़ा है। भाई रामेश्वरसे कहो कि किसी बहनके हाड़-मांस-

पर रीझना * घोर अन्याय और महापाप है। हमारी संस्कृतिमें विवाहित पति चाहे कैसा ही हो, उसका अपमान करनेसे नरक-यातनाकी प्राप्ति होना बताया गया है—

वृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥
(रामचरितमानस)

हमें इसी महान् आदर्शपर चलकर सदैव अपनी भारतीय संस्कृतिकी रक्षा करनी है। आजका भारी दोष 'लव मेरिज' करना ऐसी भयंकर भूल है, जिसने अनेक घरोंको बसाया नहीं, बल्कि तलाकके रूपमें उजाड़ कर हिंदू-समाजपर कलङ्क लगाया है।'

सरलाकी बातें सुनकर रमा सकुचा गयी और प्रसङ्ग बदलते हुए बोली—तुम अपने शरीरके साथ, जो भगवान्का मन्दिर है, इतना अन्याय क्यों कर रही हो ! जानती हो—

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम।

सरलाने हँसकर कहा—'प्रिय सखी ! त्यागमय सादे जीवनमें ही तो यथार्थ सुख है। मैं आजकलकी नयी परिधान-शैलीकी फेशनेबल पोशाक नहीं पहनती। मेरी समझसे आर्यनारीके लिये इसीमें गौरव है। मेरे विचारसे तो स्कूल-कालेजोंमें जो छात्र-छात्राओंकी प्रेम-लीला-सम्बन्धी दुर्घटनाएँ हुआ करती हैं, उसका प्रधान कारण निर्लज्जतापूर्ण चटक-मटकका पहनावा ही है, जिसने नारियोंके मुख्य गुण लज्जा, शील-संकोच, नम्रता, विनयशीलता एवं भारतीय संस्कृतिको तिलाञ्जलि देकर उच्छृङ्खलताको सहारा दिया है। यह हमारे लिये अत्यन्त लज्जाकी बात है। मैं तो सदा शुद्ध, श्वेत, खादीकी धुली हुई ढीली पोशाक पहनती हूँ और इसी पोशाकमें निस्संकोच भावसे लंबा मार्ग पार करती हुई जब महाविद्यालयमें जाती हूँ, तब वहाँ छात्रोंसे हाथ जोड़कर 'भाई साहब, जय श्रीराम' कहकर प्रणाम करती हूँ। बदलेमें वे भी हाथ जोड़कर 'बहनजी, जय श्रीराम' कहकर एक शुद्ध भावना बनाकर मुझे प्रणाम करते हैं। इस मानवोचित व्यवहारसे सात्त्विक भाव, सद्भावना, सद्विवेक एवं सद्विचारोंका उद्गम दोनों ओरसे होता है, जिससे हमारा आगेका जीवन श्रेष्ठ, शुद्ध, धर्मशील, कर्मशील एवं कर्त्तव्य-परायण बनना है और हम निर्विकार भावसे व्यक्ति, समष्टि, समाज, घर, गाँव, नगर और सारे देशकी निःस्वार्थ सेवा करनेमें समर्थ होती हैं।"

सरलाकी बातें सुनकर रमा विचारोंमें खो गयी। किंतु बचपनसे कृत्रिम बनाव-शृङ्गार करनेमें अभ्यस्त होनेके कारण इसे छोड़नेमें उसे दुःख दिखायी देने लगा। फिर भी वह सरलाको प्रसन्न करनेके हेतु बोली—'प्रिय सहेली ! आज तुमने खरी बातें सुनाकर मेरी आँखें खोल दी हैं। आजसे मैं भी ऐसा ही करूँगी और अन्य सहेलियोंको भी इसके लिये प्रोत्साहन देती रहूँगी।'

(२)

दिन बीत गये। दोनों सहेलियोंका विवाह हो जानेसे वे बिछुड़ गयीं। सरलाके श्वशुर-गृहसे थोड़ी दूर पाप-तापनाशिनी भगवती भागीरथी बहकर उस क्षेत्रको पवित्र कर रही थी। सरला नित्य प्रातःकाल पड़ोसकी महिलाओंके साथ उसमें स्नान करनेको जाती और स्नानान्तर हाथ जोड़कर प्रार्थना करती—'गङ्गा माँ ! हम अनेक दोषोंसे भरे हैं; पर भरोसा यही है कि तेरे पड़ोसमें बसते हैं। * इसी लाभसे हमारे सभी कल्मष धुल जायँगे।' सरला चक्कीसे घरका आटा पीसती और कुएँसे जल खींचकर भर लाती थी। इन

* "हो बिके जहाँ तुम बिना दाम,
वह नहीं और कुछ—हाड़-चाम !"
(महाकवि निराला—"तुलसीदास काव्य")

* भागीरथी हम दोस भरे, पै भरोस यही कि परोस तिहारे।
(स्व० पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी, "गंगा को शुभ संदेश")

कार्मोंमें व्यायाम हो जानेसे उसका शरीर सदा स्वस्थ, बलिष्ठ और मन प्रफुल्ल बना रहता था।

सरलाकी ससुरालके लोग रोजी कमाते तो थे, पर उनके घरमें बरकत नहीं रहती थी। कारण यह था कि वे लोग प्रातः देरसे उठकर भोजन बनाने-खानेमें लग जाते थे। भगवान्‌के भोग लगाना तो दूर रहा, घरकी सफाई भी बादमें होती थी। इस दोषको सरलाने अनुनय-विनय करके दूर करवाया, जिससे घरमें पवित्रता आ गयी।

एक दिन गणेश नामके एक अभ्यागतने आकर अपनी व्यथा सुनाते हुए सरलासे खानेको रोटी माँगी। सासने मना किया। सरला हाथ जोड़कर विनय करने लगी—'माताजी! इसे दो रोटी दे देनेमें क्या हानि है। यह बेचारा दूर बैठकर खा लेगा—ठंडा जल पी लेगा। पेट भर जानेसे हमें असीसें देगा। हम पुण्यके भागी होंगे।' सरलाकी बात समझकर सासने आज्ञा दे दी, भोजनसे तृप्त होकर गणेश अनेक असीसें देता हुआ सरलाके चरण-स्पर्श करनेको आगे बढ़ा। सरलाने तुरंत टोंकते हुए कहा—'मेरे चर्म-चरणोंको छूनेसे कोई लाभ नहीं। आप दीनोंके दुःख-दोष-दारिद्र्यको दलनेवाले द्वारकाधीश भगवान्‌का भजन करते रहिये। अन्नदाता वे ही हैं।' इस प्रकार सरलाके द्वारा घरकी स्थितिके अनुसार सदा दान-पुण्य होता रहता था, जिसके फल-स्वरूप उसके घरमें सुख-शान्ति, बरकत और आनन्द बने रहने लगे।

इधर, रमाकी ससुरालमें वस्त्र-व्यवसायसे खूब लाभ होता था। पति सुरेशकुमार ईमानदारी, दयाधर्म, दान-पुण्यको महत्त्व न देकर लोभवश कईगुना अधिक नफा जोड़कर ग्राहकोंको ठगनेमें तनिक भी संकोच नहीं करता था। इससे शनैः-शनैः उसकी साख घटनेके साथ ही बिक्री भी बहुत कम होने लगी। सुरेशकुमार जुएके व्यसनसे धन बढ़ानेके प्रयत्नमें निजकी पूँजी भी खोने लगा। रमा घरका कोई काम न कर दिनभर नये-नये बनाव-शृङ्गारमें लगी रहती थी। उसके लिये बहुमूल्य वस्त्रादि आते रहे। वह समझती रही—'मैं करोड़पतिकी पत्नी, सेठानी हूँ।' गृहकार्यमें शारीरिक परिश्रम न करनेसे उसका स्वास्थ्य क्रमशः गिरने लगा। सुन्दर स्वास्थ्य, ऐशोआराम, पूँजी, उपार्जन—सभी धीरे-धीरे घटते हुए नष्ट-से हो गये। अब तो रमा उनकी यादमें घुलने लगी। दूकानका दीवाला निकल जानेके कारण ऋणदाताओंको रुपयेमें एक आनेके हिसाबसे चुकता करके चिन्ताग्रस्त हो सुरेशकुमार घर बैठ गया। मकान बेचकर कुछ दिन तो गुजारा चलाया, परंतु फिर एक समय भी भोजन न मिलनेकी नौबत आ गयी। कहाँ माँगने जायँ, इसी चिन्तामें पति-पत्नीके दिनभरके घड़ी-घंटे बड़ी कठिनाईसे बीतने लगे—

> अय्याम मुसीबतके तो काटे नहीं कटते।
> दिन ऐश के घड़ियोंमें गुजर जाते हैं॥

विपत्तिमें भगवान्‌की याद आती है। रमाको एक चायपार्टीमें विदुषी सहेली चम्पाने पहले कभी 'ॐ रां रामाय नमः' मन्त्रकी बड़ी भारी महिमा बतायी थी। उसे यादकर, अपना संकट मिटानेके हेतु दोनों पति-पत्नी श्रद्धा-भक्तिके साथ इस मन्त्रका जप करने लगे, जिससे उनके मनको बहुत शान्ति मिली। स्वार्थ-परताके कारण रमेशकुमारके तो कोई अभिन्न मित्र बन नहीं पाया था। किंतु रमाको सरलाकी याद आयी। तथापि लज्जा और अपमानके निरर्थक विचारोंके कारण उसे सरलाके पास जानेका साहस नहीं होता था—यह बात मन्त्र-जपसे निकल गयी। विचार शुद्ध बन गये। वह निरभिमान होकर सरलाके पास गयी। सरला तो इसे देखते ही मानो रङ्कको निधि मिल गयी हो, इस भाँति प्रसन्नतापूर्वक शीघ्र उठकर उससे लिपटकर मिली। एक सुन्दर ऊँचे आसनपर उसे बिठाया और प्रेमाश्रु बहाते हुए कुशल-प्रश्न करने लगी। किंतु रमाकी

दुर्दशाके बारेमें थोड़ी चर्चा भी इस विचारसे नहीं की कि 'इसके मनको दुःख होगा ।' उसने रमाके शिशुको वात्सल्यभावपूर्वक रमाकी गोदसे अपनी गोदमें उठा लिया और मातृवत् प्रेम उमड़ आनेसे उसे बार-बार चूमने लगी एवं आँचलमें इस प्रकार छिपा लिया, मानो अपने ही उदरके शिशुको स्तनोंका दूध पिला रही हो। बातचीतमें उसने रमाके मनकी बात जान ली। सहानुभूति दिखाते हुए मधुर वाणीमें बोली—'प्रिय बहन! चिन्ता मत करो। भगवान्‌की कृपापर विश्वास रक्खो। उनका स्मरण करो। उनकी कृपासे सब मङ्गल होगा।'

सरलाने कुछ रुपये बचा रक्खे थे। वह चुपके-से रमाके हाथोंमें रखते हुए बोली—'बहन! इस फूलपत्तीको स्वीकारकर मुझे उपकृत करो। मैं जीजाजी रमेश-कुमारजीका अच्छा काम लगवा देनेका प्रयत्न अपने पतिदेवके द्वारा कराऊँगी। भगवत्कृपासे शीघ्र ही सफलता मिलेगी।' सरलाके आशातीत प्रेम और अपनत्वभरे व्यवहारसे रमा आश्चर्यचकित हो गयी। सोचने लगी—'दुनियादारीमें स्वार्थ-साधनके लिये तो मनुहारके साथ जगत्‌के लोग चुपके-चुपके चूरमा लाकर खिलाते हैं, पर बिना स्वार्थके छाछकी राबड़ी भी नहीं पिलाते।* सरला तो निःस्वार्थ प्रेमकी मूर्ति, चतुर और समझदार नारी है, वह भला अवसरसे लाभ उठाना कैसे भूल सकती है। अवसरका लाभ भी बहुत दिनोंतक बना रहता है।'†

इन विचारोंके साथ कृतज्ञ हृदयसे विदा लेते समय रमाने सरलाका प्रेमपूर्वक गाढ़ आलिङ्गन किया।

* मतलब री मनुवार, जगत जिमावै चूरमो।
बिन मतलब री बार, राब न पावै 'राजिया' ॥
(राजस्थान—मारवाड़में प्रचलित सोरठे)

† समजणहार सुजाण, नर औसर चूकै नहीं।
औसर रो ओसाण, रहै घणा दिन 'राजिया' ॥
(राजस्थान—मारवाड़में प्रचलित राजियाके सोरठे)

उस समय दोनोंकी आँखोंसे स्नेहबिन्दुओंकी अविरल धारा बह चली थी। घर पहुँचकर उसने सब समाचार पतिदेवको सुनाये। दोनों मिलकर भगवान्‌का विश्वास-पूर्वक भजन करने लगे।

× × × ×

सुने री मैंने निर्बलके बल राम।

रमेशकुमार अपनी नवनिर्मित कुटियामें बैठा यह भजन गुनगुना रहा था। इतनेमें ही एक व्यक्तिने आकर कहा—'आपके प्रार्थना-पत्रपर आपको ऊँचा पद मिल गया है।' यह हर्षसूचक समाचार सुनकर रमेश-कुमारने मन-ही-मन अपने इष्टदेव श्रीनीलाचलनाथको अनेकशः धन्यवाद देकर नमस्कार किया और उस आगन्तुकको मिष्टान्नका भोजन कराया। इसके पश्चात् दीनप्रतिपालक, भक्तवत्सल, भयापहारी, सब सुखदायक भगवान्‌की पूजा-आरती करके साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम करते हुए हाथ जोड़ प्रार्थना की—'नारायण! आप अहैतुकी कृपा करते हैं। अब ऐसी दया करो कि हम आपका चौबीसों घंटे भजन करते रहनेमें कभी थोड़ा भी प्रमाद न करें।' और प्रतिज्ञा की कि 'प्रथम वेतनका रुपया भगवान्‌के अटका चढ़ानेको भेजूँगा।'

× × × ×

पहनो पहनो सुहागिन ज्ञान-गजरा।
पहनो पहनो.......................... ॥

बाजारके बीच ऊँचे मञ्चपरसे भजनोपदेशक रामप्रसाद-जीने यह गायन मीठे स्वरोंमें गाया। हजारों श्रोताओंमें रमा-सरला भी थीं। सरला बोली—'सखी! वास्तवमें कर्तव्य और परोपकारका ज्ञान समयपर हो जाना हम गृहिणियोंका दिव्य गुण है। मैं तुमको बताऊँ—मैं अपने भतीजेके विवाहमें उत्तूपुरा ग्रामको जा रही थी। मार्गमें एकाएक भारी वर्षा हो जानेसे इतना कीचड़ हो गया कि उसमें गाड़ी-बैल फँस जानेसे हम बड़े संकटमें पड़ गये। इतनेमें ही एक पथिकने हमारी कठिनाई देख-कर पासके गाँवसे पाँच-सात व्यक्तियोंको ला गाड़ी-बैल

कीचड़से निकलवाये और हमें पहुँचानेको उत्तूपुरातक पैदल-पैदल कीचड़में चलकर गया। मुझे उसके इस परोपकारी कामपर बड़ा आश्चर्य हुआ, पूछ बैठी—'भैया, तुम कौन हो ? हमारे लिये तुमने बड़ा कष्ट उठाया। यदि तुम ठीक समयपर आकर हमारी सहायता न करते तो इस निर्जन वनमें रात हो जानेपर हमारी क्या दुर्दशा होती।' वह बोला—'माताजी! मैं वही गणेश हूँ, जिसे आपने उस दिन भोजन देकर भूखों मरनेसे बचाया था। वही आपका अन्न-जल यहाँ उमड़ा है। मैं आपका सदा दास रहूँगा।' बात सच्ची थी। मैं तो सुनकर दंग रह गयी बहन!

अब तो रमाका जीवन ही बदल गया। दोनों पति-पत्नी नित्य नियमसे पवनकुमार श्रीहनुमान्‌जी महाराज-को ऊँचा सुन्दर आसन देकर विधिपूर्वक श्रीरामचरित-मानसका पाठ किया करते थे। उसीमें उन्होंने पढ़ा—

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना।
सत हरिभजन जगत सब सपना॥

अतः वे हर समय एवं चर्खेसे सूत कातते समय भी निरन्तर रामनामका जप किया करते थे। चर्खेके सूतसे मोटा खद्दर बुनवाकर पहनते। प्रतिदिन संध्या-समय बाहर निकल जाते और बहुत दूर-दूरतक जाकर निर्धनों, अनाथों, दीन-दुखियोंकी खोज करके उनकी अन्नवस्त्रादिसे यथाशक्ति सहायता करते थे। उनके बच्चोंके लिये अपने हाथकते सूतके वस्त्र सीकर वितरण करते, और असहाय स्त्री-पुरुषोंको गुप्तदान दिया करते थे। इसी प्रकार उनका सादा जीवन व्यतीत हुआ।

मानव-कर्तव्य

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

आत्मा चेतन—नित्य क्रियाशील है, जडकी तरह निष्क्रिय नहीं; इसलिये प्रत्येक प्राणी हर समय कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। पर उनकी अधिकांश क्रियाएँ प्राकृतिक और गतानुगतिक संस्कारवश होती हैं। पर मनुष्यमें विचार या विवेककी अधिकता होनेसे वह प्रत्येक क्रिया क्यों करता है, कैसी क्रिया करनी चाहिये, उससे लाभ है या हानि—इत्यादि विषयोंपर विचार करता रहता है। इसलिये पशु-पक्षी आदि प्राणियोंकी क्रियाओं और मनुष्यकी क्रियाओंमें एक महत्त्वपूर्ण अन्तर दिखायी देता है।

उदाहरणार्थ—अपनी संतानका पालन-पोषण पशु-पक्षी भी करते हैं, और मनुष्य भी करते हैं। पर उन दोनोंके पालन-पोषणमें पर्याप्त अन्तर दिखायी देगा। मनुष्य बहुतसे कामोंको अपना आवश्यक कर्तव्य मान लेता है। पशु-पक्षी ऐसा नहीं मानते। वे या तो अपने संस्कार या स्वभाववश या दूसरोंके अनुकरणमें क्रियाएँ करते हैं, कर्तव्य मानकर नहीं। कर्तव्यमें एक जिम्मे-दारी आती है। साधारण क्रियासे कर्तव्यमें एक विशेषता होती है। करने योग्य काम अनेक होते हैं। पर वे सभी एक कोटिके नहीं होते। इसलिये कर्तव्यमें भी भेद किया जाता है। मनीषियोंने सबसे बड़ा कर्तव्य तो धर्मका संग्रह बतलाया है—

कर्तव्यो धर्मसंग्रहः।

साधारणतया जिनसे हम जीवनमें अनेक प्रकारके लाभ उठाते हैं, उनका हमारे ऊपर उपकार होता है। इसलिये उनकी सेवा करना, उनकी हर प्रकारसे सहायता करना, उनका हित-सुख-साधन करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। एक तरहसे वह ऋण चुकाने-जैसा

कर्तव्य है। बहुत-से व्यक्तियोंसे यद्यपि हम उपकृत नहीं होते, फिर भी उनकी सेवा करना हमारा कर्तव्य होता है। इसीलिये परोपकार, दान आदि प्रवृत्तियाँ मानव-कर्तव्यके अन्तर्गत मानी जाती हैं। समाजसे हम प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें बहुत कुछ लाभ उठाते हैं; अतः समाज-सेवामें हमें तन, मन, धन लगाना ही चाहिये।

मानवजीवन एक दूसरेपर आश्रित-सा है। जन्मसे लेकर मरणतक अनेक व्यक्तियोंद्वारा हमारा पालन-पोषण, संरक्षण, संवर्धन अर्थात् अनेक प्रकारका विकास होता रहता है। इसलिये बालकसे लेकर वृद्धतक सभी व्यक्तियोंके साथ हमारा कर्तव्यका बन्धन जुड़ जाता है। यदि हम उस कर्तव्यका पालन न करें तो हमारे इस जीवनका कोई विशेष मूल्य नहीं रहता। दूसरे व्यक्तियों-का हमारे प्रति कर्तव्य है तो हमारा उनके प्रति। किन्हींके प्रति साधारण कर्तव्य होता है तो किन्हींके प्रति विशेष—इतना ही अन्तर समझिये। जिन कार्योंसे अपना और दूसरोंका कल्याण हो, वे कार्य सबसे पहले करने योग्य हैं। कम-से-कम दूसरोंका हमारे द्वारा कुछ भी अकल्याण न हो जाय, इसका तो हमें सदा ध्यान रखना ही चाहिये। धर्म-गुरुओंद्वारा हमें पाप और पुण्य या धर्मका बोध मिलता है, जिससे हमारा इहलोक और पारलौकिक जीवन सुधरता है। इसलिये उनके प्रति हमारा विशेष कर्तव्य होता है। इसी तरह माता-पिता आदि उपकारी जनोंका हमारे जीवन-निर्माणमें बहुत बड़ा हाथ है; इसलिये उनके प्रति भी दूसरोंकी अपेक्षा हमारा कुछ विशेष कर्तव्य हो जाता है। पारिवारिक जनों, समाज तथा देशके लोगोंके प्रति, गुरुजनों एवं माता-पिताकी अपेक्षा कर्तव्य कुछ कम होता है। यही तारतम्य सर्वत्र दिखायी देता है।

मानवके लिये सबसे पहला काम है—अपनी आत्माका उत्थान। इसीलिये धर्मको मुख्य कर्तव्य माना गया है। यह मनुष्य-जीवन बहुत लंबे कालके बाद और बहुत पुण्यसे मिलता है। और इसमें धर्मकी आराधना-जैसा कार्य जैसा मनुष्य कर सकता है, वैसा अन्य कोई भी प्राणी नहीं कर सकता। इसीलिये कहा गया है कि मनुष्य-जन्मके बिना मुक्ति नहीं मिल सकती।

धर्म अनेक प्रकारके बतलाये गये हैं और उन्हें वैसे तो साधारण कर्तव्यसे बहुत ऊँचा माना गया है। पर करने योग्य कार्यको यदि हम कर्तव्य कहें तो सबसे पहले करनेका काम तो यही है कि अनादि कालसे जो कर्म हमें बाँधते आ रहे हैं, उनमेंसे सबसे पहले अशुभ कर्मोंके बन्धनको हम रोकें और शुभ कर्मोंमें प्रवृत्त हों। अन्तमें तो शुभ और अशुभ दोनोंसे ही पृथक् हो जाना है और तभी मुक्ति मिलेगी। धार्मिक कार्य हमें अशुभ प्रवृत्तियोंसे बचाकर शुभ प्रवृत्तियोंमें जुटे रहनेकी प्रेरणा देते हैं।

मनुष्य प्रतिपल कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। इसीलिये गीतामें कहा गया है कि कर्मोंकी आसक्ति और फलकी आशाका त्यागकर कर्तव्य-कर्म करते जाओ। वास्तवमें हमने बहुत-से कर्तव्य मान रखे हैं और जब-तक आसक्ति है, तबतक यह जाल बिछा ही रहेगा। इसीलिये हमें अपने माने हुए कर्तव्योंकी भी छटाई करनी होगी। जिन कर्तव्योंसे आत्माका उद्धार होता हो, उनको प्रथम कर्तव्य माना जाय और अवशेषको साधारण कर्तव्य। जिनसे आत्माकी अवनति हो, ऐसे कामों-को तो कर्तव्य मानना ही नहीं चाहिये। कर्तव्यके पालनसे आनन्दकी अनुभूति होती है, न करनेसे आत्मग्लानि; अतः कर्तव्यपालनमें सजग रहना है।

दक्षिण भारतकी तीर्थयात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसादजी श्रीवास्तव)

[गताङ्क पृष्ठ ९३९ से आगे]

दिनाङ्क १८ सितम्बरके अपराह्न केरलकी राजधानी त्रिवेन्द्रम्‌से हम कन्याकुमारीके लिये विदा हो गये। जिस समय हमने मोटर-बससे त्रिवेन्द्रम् छोड़ा, उस समयसे कन्याकुमारी पहुँचनेतक मोटर-बसमें केरलपर हमारी चर्चा होती रही। यह शायद इसलिये कि स्वाधीनताके बाद केरलकी राजनीति जैसे-जैसे नये-नये रंग लायी, वैसे अबतक देशके किसी अन्य प्रदेशके राज्यकी नहीं। आखिर केरलकी राजनीतिमें ये नये-नये गुल कैसे खिले; यह एक विचारका विषय है, जो सभी विचारशील व्यक्तियोंके सामने अनेक प्रश्न-सूचक चिह्न रखता है। केरल राज्यकी इस समयकी सरकार कांग्रेस और प्रजा-समाजवादी दलकी मिली-जुली सरकार थी, जिसे अन्य कुछ स्वतन्त्र सदस्योंका समर्थन भी प्राप्त था। इसके पहले केरलमें साम्यवादी सरकार थी, उसके पहले राष्ट्रपतिका शासन और सबसे पहले कांग्रेस-दलकी हुकूमत। सम्भव है आगे फिर भी कांग्रेस दलकी ही हुकूमत आ जाय। हमारे सामने प्रश्न यह नहीं कि केरलमें आगे कांग्रेस-दलकी हुकूमत कैसे बने अथवा अन्य दलोंको हम कैसे विजयी करें; वरं केरलमें स्वाधीनताके पश्चात् इस थोड़े-से समयमें जो परिवर्तन हुए, उनकी वजह क्या है—इसपर गौर करना ही हमें अभीष्ट है। आखिर इस क्षेत्रमें ऐसी राजनीतिक उथल-पुथल और साम्यवादियोंके ऐसे दौर-दौरेका क्या कारण है। गरीबीमें साम्यवाद पनपता है, यह एक मानी हुई बात है। परंतु भारतमें क्या केवल केरल ही गरीब प्रान्त है? केरलसे कहीं अधिक गरीबी उड़ीसामें है। अतः गरीबी एक कारण होते हुए भी इस समस्याके अन्य कारण भी हैं। केरल देशका सर्वाधिक शिक्षित प्रदेश है या यों कहना चाहिये कि जितने प्रतिशत शिक्षित केरलमें हैं, उतने अन्य प्रदेशमें नहीं। गरीबीके क्लेशोंका निवारण साम्यवादसे सम्भव है—यह यहाँके लोगोंका विश्वास है। दूसरी बात जो है, वह है हमारी शिक्षा-प्रणालीका सदोष होना। वर्तमानमें हमारी शिक्षा-प्रणाली केवल आजीविकाका एक साधन बन गयी है। और हर शिक्षित व्यक्ति, चाहे वह नीचेके किसी पदपर हो अथवा ऊँचे किसी बड़े ओहदे-पर, अपनी प्राप्त शिक्षा-योग्यताको वह अपनी आजीविकाकी कसौटीपर कसता है। आर्थिक दृष्टिसे अथवा भौतिक-सुख-साधनोंके अभावमें, जिनसे कभी मानवकी तृप्ति हो भी नहीं सकती, उसके मनमें असंतोष होता है और यह असंतोष बुद्धि-वैषम्यपर आधारित होनेके कारण समाज विषमताके प्रति विद्रोही हो उठता है। आगे चलकर यही वर्ग-संघर्षका रूप धारणकर हिंसा-प्रवृत्तिप्रधान साम्यवादका पोषक बन जाता है। सामाजिक विषमताकी आधार-भित्ति आर्थिक विषमता ही है, और यह आर्थिक विषमता किसी भी देश अथवा समाजसे शनैःशनैः ही दूर की जा सकती है, जादू अथवा किसी नैसर्गिक उपायसे कदापि नहीं। हमने विषमताकी इस खाईको पाटनेके लिये समाजवादी समाज-रचनाके जिस सिद्धान्तको स्वीकार किया है, उसकी पूर्तिके लिये अपने उपलब्ध साधनोंको देखते हुए हमें काफी श्रम, समय और धैर्यकी आवश्यकता है। किंतु देशका एक ऐसा वर्ग, जो साम्यवादके द्वारा येन केन प्रकारेण तुरंत इस खाईको पाटनेपर आमादा है, हमारे राजनीतिक क्षेत्रमें यत्र-तत्र उथल-पुथल मचाता नजर आता है। भारतकी जैसी सामाजिक रचना है, विश्वके अन्य किसी देशकी नहीं। भारत एक सांस्कृतिक देश है, यहाँ अर्थ और भौतिक उपलब्धियोंसे बड़ी भी कोई वस्तु है और वह है हमारा अध्यात्म। अध्यात्मकी संस्कृतिपर अमिट छाप है। भारतीय संस्कृति, जिसका विश्वमें बोलबाला है, भारतीय अध्यात्मकी ही देन है। यानी सही मानेमें हमारी संस्कृतिका आधार ही अध्यात्म है। संग्रह विग्रहका हेतु होता है और इसीलिये हमारा अध्यात्म संग्रहका नहीं, अपितु अपरिग्रहका पोषक है। संसारके आज बड़े-बड़े समृद्ध राष्ट्र भौतिक दृष्टिसे ज्यों-ज्यों समृद्धिके शिखरकी ओर बढ़ रहे हैं, एक नये वाद-विग्रहको वे इस प्रगतिके साथ ही जन्म भी देते जा रहे हैं। इस बढ़ते हुए विग्रहकी समाप्तिके लिये आज विश्वमें प्रधान रूपसे दो ही मार्ग हमारे सामने नजर आ रहे हैं—एक समाजवाद, दूसरा साम्यवाद। अपने ढंगका

समाजवादी समाज-रचनाका सिद्धान्त हमने स्वीकार भी किया ही है। दूसरा, जिससे वर्तमानमें और आगे भी हमें टक्कर लेनी है, वह है रूस अथवा चीनका साम्यवाद। समाजवाद हो, साम्यवाद हो अथवा अन्य कोई वाद, भारतमें भारतकी जलवायु, यहाँकी मिट्टी और संस्कृतिके अनुरूप ही कोई वाद पनप सकता है। भारत सनातन कालसे ही सहृदयता, सहिष्णुता, सेवा, सौहार्द और परस्परके सद्भावका स्रष्टा रहा है। इन विशिष्ट गुणोंके कारण ही भारतीय संस्कृति समन्वयकी संस्कृति है—जिसमें वैर-बुराई, हिंसा-प्रतिहिंसा आदि दुर्गुणोंको कोई स्थान नहीं है। ऐसी संस्कृतिवाले देशमें ऐसा कोई वाद, जिसमें हिंसा और शक्ति-प्रयोगकी सम्भावना हो, पनप नहीं सकता। यदि हमारे अज्ञान और प्रमाद तथा असावधानीसे पनप भी गया तो वह हमारी सनातन संस्कृतिके विपरीत होगा। इतना ही नहीं, वह भारतकी भाग्यहीनताका एक ऐसा बढ़ता हुआ भयावह कदम होगा, जिसके हर पगके साथ भारतकी भारतीयता लुप्त और उसकी संस्कृति सुप्त होती जायगी।

इस भयावह स्थितिसे अपनेको बचाये रखनेके लिये हमें ऐसे किसी वादसे बचने अथवा उसके मुकाबिलेकी जरूरत न होकर जरूरत इस बातकी है कि हम अपनेको इस बातके लिये राजी करें और तैयार रक्खें कि विश्वका कोई भी ऐसा वाद, जो हमारे विचारों, हमारी सामाजिक रचना और संस्कृतिसे मेल नहीं खाता, यदि भारतकी ओर बढ़े तो हम उसकी मुकाबिला कर सकें और उसे ऐसी शिकस्त दे सकें कि वह यहाँकी जलवायुमें कभी पनपे ही नहीं। इसके लिये हमें अपनी शिक्षा-प्रणालीमें आमूल परिवर्तन करना होगा और इस परिवर्तनमें भारतीय संस्कृतिके मूल आधार, अध्यात्मका, जिसकी विभिन्न शाखाओंके बदौलत ही हमारी संस्कृतिका वह विशिष्ट रूप है, जिसका आज सारे विश्वमें आदर है—एक महत्त्वपूर्ण पाठ्यक्रमके रूपमें अनिवार्य रूपसे प्रारम्भ करना होगा। हमारे शिक्षाशास्त्रियोंद्वारा समय-समयपर सरकारका ध्यान इस तथ्यकी ओर आकृष्ट किया जाता रहा है, किंतु दुर्भाग्यसे सरकारने जीवनके इस महत्त्वपूर्ण अङ्गकी अभीतक उपेक्षा ही की है। इसके विपरीत हर ऐसे संकटपर, जो हमारी संस्कृति और हमारी राष्ट्रीयताके लिये चुनौती बनकर आता है, उसके मुकाबिलेके लिये हमारा अध्यात्म ही सर्वप्रथम सबसे आगे आता है। अपरिग्रह, शौर्य, वीरता, दया, क्षमा, दान, संयम और उत्सर्ग आदि भावनाओंको, जो हमारी संस्कृतिका शृङ्गार हैं, उद्दीप्त करनेमें अध्यात्मसे अधिक और कौन समर्थ है? आजकी भारतीय शिक्षाप्रणाली न केवल अध्यात्मसे अछूती है, वरं उसमें भारतीयताका ही अभाव है। जैसी शिक्षाप्रणाली होती है, वैसी ही नयी पीढ़ी बनती है। तिरुपति विश्वविद्यालयकी शिक्षाप्रणालीके सम्बन्धमें लिखते हुए हमने मुसोलिनीके समयकी इटली और हिटलरके समयकी जर्मनीकी शिक्षा-प्रणालीका उल्लेख करके यह कहा है कि उस समयकी इटली और जर्मनीकी उस शिक्षा-प्रणालीद्वारा शिक्षित नयी पीढ़ी यह मानने लगी थी कि इटलीका उपकार फासिस्टवादसे और जर्मनीका उपकार नास्तिवादसे ही हो सकता है। हमें भय है कि यदि हमारी शिक्षा-प्रणालीमें आमूल परिवर्तन नहीं हुआ तो केरलमें जो कुछ हुआ, उसकी पुनरावृत्ति होगी और न केवल केरल, वरं भारतके अन्य स्थान भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहेंगे। और ऐसी स्थितिमें स्वाभाविक ही है कि हम अपने अज्ञानके कारण अपने निर्दिष्ट पथसे अनायास ही पथ-भ्रष्ट हो किसी ऐसे वादके झमेलेमें पड़ जायँ, जो न केवल अभारतीय हो वरं भारतकी सांस्कृतिक सत्तासे सर्वथा बेमेल हो। यदि यह हुआ तो भारत भारत न रहकर एक अस्तित्वहीन व्यक्तिकी भाँति किसी गुट-विशेष अथवा वाद-विशेषका कठपुतला बन जायगा। हमें विश्वकी तेजीसे बदलती हुई परिस्थितियोंमें सदा चौकन्ना रहना है और भारतकी सांस्कृतिक प्रभुसत्ताकी रक्षाके लिये उत्तरदायी भारतकी नयी पीढ़ीको अपनी निजकी शिक्षा-प्रणालीद्वारा शिक्षितकर हर ऐसे विदेशी वादके मुकाबिलेके लिये तैयार करना है, जो हमारी सार्वभौमिकता, हमारी स्वाधीन सत्ताके लिये एक चुनौतीके रूपमें हमारे सामने आये। हम अपना अस्तित्व बनाये रख सकें, यही आजकी हमारी महती आवश्यकता है और अतीतके अनुभवोंसे भी हमें यही सीख और शिक्षा मिलती है कि हम किसी वाद-बहाव अथवा भौतिक प्रगतिके किसी ऐसे आकर्षक कठघरेमें जानेसे अपनेको बचाये रक्खें, जो आगे चलकर जीवनके स्वाधीन स्रोतोंके लिये एक कैद सिद्ध हो। यह सब हमारी शिक्षापर निर्भर करता है—ऐसी शिक्षापर, जिसका हर

पाठ स्वावलम्बन, स्वाभिमान, स्वातन्त्र्य-प्रेम और स्वराष्ट्र-प्रेमसे प्रारम्भ होता है।

त्रिवेन्द्रम्‌से कन्याकुमारीके इस रमणीक मार्गको देखते संध्याके सुहावने मौसममें ठीक छः बजे हमारी मोटर-बस कन्याकुमारीके बस-स्टैंडपर जा रुकी। बससे उतरते ही असबाब उतार आवासकी तलाश की और कन्याकुमारी-मन्दिरके निकट एक सुन्दर आवासगृहमें अपना डेरा डाल दिया।

कन्याकुमारीके धार्मिक महत्त्वपर विचार करनेसे पूर्व हम इसके प्राकृतिक गौरवको लेते हैं, जो हर देश, हर धर्म, हर विश्वास और हर रुचिके पर्यटकको सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता है।

कन्याकुमारी तीन ओर समुद्रसे घिरा है। इसके पूर्वमें बंगालकी खाड़ी, पश्चिममें अरब सागर और दक्षिणमें हिंदमहासागर है। यहाँ भारतकी सीमाका अन्त हो जाता है, जहाँ पर्यटक खड़ा होकर सूर्यका उदय और अस्त देख सकता है।

कन्याकुमारीके सूर्योदय और सूर्यास्तका मनोमुग्धकारी रूप भारत ही नहीं, सारे संसारमें प्रसिद्ध है। गोविन्ददास कन्याकुमारीके सूर्योदय और सूर्यास्तके मुग्धकारी स्वरूपके पहले भी दर्शन कर चुके थे, किंतु हम सबके लिये तो इन दोनों ही दृश्योंने एक अदेखे आकर्षणके रूपमें कन्याकुमारी-आगमनके साथ ही अपनी ओर आकृष्ट कर रक्खा था और हम अधीरभावसे उस सुनहरे प्रभातकी प्रतीक्षा लिये रातको अपने बिस्तरोंपर सोये, जिसके दर्शन बिना कन्याकुमारी-दर्शन सफल और सार्थक नहीं माना जाता। निशा गत हुई और आगत प्रभातके संदेशवाहक मुर्गेने ज्यों ही बाँग लगायी, हमने अपने बिस्तर छोड़ दिये और नित्य-नेमसे निवृत्त हो प्रभातके जनक प्रभाकरके दर्शनके लिये उनके प्रवेशके पूर्व ही अपने आवासगृहके निकट लहलहाते सिन्धु-तटपर खड़े हो सूर्य-दर्शनके सुहावने क्षणकी प्रतीक्षा करने लगे। प्रतीक्षाकी घड़ियाँ क्षण-क्षण बीतने लगीं, इसी समय सुदूर बंगालकी खाड़ीमें चञ्चल लहरें प्रसव-पीड़ासे थिरकती हुई हमारे दृष्टिपथसे टकरायीं। हम टकटकी बाँधे उन लहरोंको देख रहे थे, देखते रह गये। सिन्धुकी प्रसव-पीड़ाको हम अनुभव कर रहे थे कि उनकी उस थिरकनमें एक आह्लाद, एक उल्लास, एक आभाके मुग्धकारी स्वरूपके हमें दर्शन हुए। शिशुकी भाँति कल्लोलें करता बाल-रवि अपनी कलाओंकी आभामें दमकता जब समुद्रकी जल-सतहसे ऊपर उठा तो जान पड़ा, निराकार साकार हो गया। दृश्यसे ऐसा भासता था मानो रत्नाकरने रवि-रत्नको जन्म दिया हो। उधर रत्नाकर अपनी ऊर्मियोंके उफानमें उल्लास भरता, कभी कोलाहल-सा करता रविका जन्मोत्सव मना रहा था। इधर हमारे निकट खड़ा बालचरोंका समूह किलकारी मार और कूद-कूदकर अपने द्विगुणित उत्साहसे जलधिके घर हुए शिशु-जन्मकी सूचना दे धूम मचा रहा था। उदधिकी गोदमें ललकते शिशु-से प्रभाकरकी प्रभामें उनके निकट ही हमें अनेक पंक्तिबद्ध वर्तमान तनी नावें दृष्टिगोचर हुईं, जो मानो रातभर रत्नाकरके उदरसे रत्नोंका मन्थन करनेके बाद अपना पड़ाव डाले अब विश्राम ले रही थीं। रवि-जन्मके साथ उदधिकी ऊर्मियोंमें ज्यों ही हलचल बढ़ी, नावें भी गतिशील हो गयीं और नावोंके मछुवे, जो रातभर अपने कार्य-व्यापारमें लगे रहे, सूर्य-किरणोंके बढ़ते हुए प्रकाशमें अपनी और सिन्धुकी उपलब्धिका संदेश ले लौट पड़े। एकटक कुछ देरतक हम सूर्यके शैशवको, उसके मनोहारी रूपको देखते रहे। उदीयमान बालरवि उदधिकी उत्ताल तरंगोंसे अठखेलियाँ करता हुआ कुछ ही क्षणोंमें अपनी प्रखर किरणोंसे भूमण्डलको आलोकित करता गगनमण्डलकी सैर करने लगा। उसके सामर्थ्य, शौर्य और तेजसे व्याप्त इस रूपसे अनायास ही हमारे नेत्र नत हो गये और हमने नतमस्तक प्रणाम करके विदा ली। संध्याको गांधी-मन्दिरकी छतपर अस्ताचलगामी सूर्यको देखने हमलोग फिर एकत्र हुए। अपनी समस्त आभा, आलोक और रश्मियोंको अपनेमें समेट अस्त होता हुआ सूर्य ऐसा जान पड़ा मानो अरब-सागरमें जल-समाधि ले रहा हो। अपने समग्ररूपसे अस्त हो रहे सूर्यका यह दृश्य जब हम देख रहे थे, हमारे अन्तरङ्गमें नाना विचारों, नाना भावनाओंकी सृष्टि होने लगी। प्रभातके उदित बालरविकी भाँति एक बात मनमें आती और अन्तःकरणमें अपने विस्तारके साथ अस्ताचलगामी अरबसागरमें लीन हुए

सूर्यकी भाँति ही हमारे अन्तःकरणमें ही विलीन हो जाती। आज ही उदित रविके मुग्धकारी स्वरूपके हमने दर्शन किये थे और उसके समाधिस्थ स्वरूपको भी हम देख चुके थे। इस समय हमारी आँखोंके सामने भारतका सम्पूर्ण इतिहास एक चित्रपटकी भाँति घूमने लगा। भारतकी धरतीपर उत्कर्ष और अपकर्ष, उत्थान और पतनके न जाने कितने दृश्य यह सूर्य देख चुका है, भारतका भाग्य-सूर्य न जाने कितनी बार इस प्रकार उदित और अस्त हुआ है; किंतु यह अविचल योगीकी तरह अपने उसी रूपमें, उसी गतिसे और उसी स्थानमें उदित होकर उसी स्थानमें आदिकालसे अस्त होता आ रहा है— उस निष्काम योगीकी तरह, जिसका जीवन-लक्ष्य साधना है और साध्य है समाधि। इन्हीं भावनाओंमें डूबे गांधी-मन्दिरकी छतसे वापस हो हम सिन्धुतटपर पहुँचे। अपार सागर उत्ताल तरङ्गोंमें लहरा रहा था। इधर हमारे अन्तःकरणमें भावनाओंका एक सागर लहलहा उठा।

जिस गांधीमन्दिरके छतसे हमने अभी अस्त होते सूर्यके दर्शन किये, उस मन्दिरके देव, भारतीय स्वाधीनताके अधिष्ठाता महात्मा गांधी भी एक सूर्य ही तो थे, जो भारतके तिमिराच्छन्न गगन-मण्डलमें सूर्यके सदृश उदित होकर अपनी आभा, आलोक और प्राणदायिनी प्रखर रश्मियोंसे स्वाधीनताके सूर्यकी स्थापना कर विदा हो गये। अरबसागरमें लीन हुए प्रभाकरकी भाँति, समाधिस्थ संन्यासीकी भाँति अपनी साधनाके अन्तिम लक्ष्यपर पहुँच सो गये। पर नहीं। प्रभाकर अपनी आभा, अपने समस्त आलोक और समूल अस्तित्वसे ही अस्त होता है; बापूने ऐसा नहीं किया। वे गये; पर अपने पीछे स्वाधीनताका वह चमचमाता सूर्य-प्रकाश दे गये, जिसके प्रकाशमें ही मानव-जीवन और उसके सभी अङ्ग प्रकाशित होते हैं और जिसके अभावमें व्यक्ति, समाज और देशका जीवन, निशा-सा नीरस और अन्धकारमय बन जाता है। फिर रत्नाकरमें लीन हुए अपनी कलाओंसहित मोहन अपनी कलाओं, अपने आदर्शों और अपने सिद्धान्तोंको हमें सौंप गये, जिनके सहारे हम और हमारी पीढ़ियाँ आज और आगे स्वाधीनताके प्रकाशमें पग-पर-पग बढ़ते हुए अपना जन्म और जीवन सफल कर सकेंगी। बापूका भौतिक शरीर नष्ट हुआ। इस भौतिक विश्वमें कौन वस्तु स्थायी है ! जो स्थायी है, शाश्वत है, सत्य है, चिरंतन है, उस सत्यकी स्थापनामें अपनेको समर्पित करनेवाला व्यक्ति भौतिक रूपसे इस भौतिक सृष्टिसे विदा होनेपर भी सदा इसमें कायम रहता है, अमर बना रहता है। जीवनका जो आदर्श अपने जीवनमें बापूने बनाया, वह उनके समग्र जीवनके रूपमें आज हमें एक ऐसे सत्यका साक्षात्कार करा रहा था, जिसके सहारे निर्बल-से-निर्बल, असहाय, दीन-दुखी, दुर्बल और दरिद्र, पीड़ित व्यक्तिके भी कण्ठसे आज यही आवाज निकल रही है—हममें स्वाभिमान है, स्वदेशप्रेम है, हम बलिदानी हैं, स्वतन्त्र भारतवासी हैं। आज एक उल्लास, एक आनन्द, एक भावमस्तीमें रह-रहकर जी करता जी भर इस लहलहाते सिन्धुको देख लें और जी भर सिंधु हमें देख ले। आज उदधिकी उठती हुई ये ऊर्मियाँ कितनी मोहक, कितनी सुहावनी थीं, हवाके चलते हुए झोंके जो सिन्धुसे हमारा समागम करा रहे थे, जब अपने शीतल प्रवाहसे कभी हमारे कपोलोंको सहलाते, उनपर जलकण बरसाते, कभी कानमें कुछ कहते हमारे ऊपर और आसपाससे गुजरते, जान पड़ता ये भी आज अपनी मस्तीमें झूम रहे हैं, अथवा सिन्धुसे हमारा और हमसे सिन्धुका संदेश वहन कर रहे हैं। जान पड़ा, आज हम जितने खुश हैं, खुशहाल हैं, उतने कभी नहीं थे। रत्नोंके आगार रत्नाकरके सम्मुख खड़ा कौन दुखी, अतृप्त और दीन रह सकता है। हम आज स्वाधीन थे और खड़े थे स्वाधीनदेशके एक स्वाधीन सिन्धुतटपर। आज यह लहराता अपार सागर हमारा था और हम उसके। आज न केवल हमपर और हमारे इस विस्तीर्ण सिन्धुपर ही हमारा अधिकार था, वरं इस बहती हुई हवापर, इसके ऊपर निर्मल नभपर, नीचे शस्य-श्यामला भूमिपर और उसके कण-कणपर, जलधिके प्रत्येक जलकणपर हमारा ही अधिकार था—केवल हमारा अधिकार। मातृभूमिके दो ममताभरे प्यालोंके सदृश हमने ललककर एक ओर सिन्धुका स्पर्श किया, दूसरी ओर उसके तटकी पावन मिट्टीका। जीव और देहके रूपमें दोनोंका कैसा पावन और प्राणदायी सम्बन्ध है! एक घट है तो दूसरा अमृत। भारतका और उसके तटपर लहराते

विस्तीर्ण जलधिका यही सम्बन्ध है। भारतके सीमाङ्कनमें हिमालयसे लेकर कन्याकुमारीकी बात कही जाती है—'लोट रहा चरणोंमें सागर, सिरपर मुकुट 'हिमालयका' के गीत गाये जाते हैं। देशके छात्रोंको पाठ्य-पुस्तकोंमें उत्तरमें हिमालयकी महिमा और दक्षिणमें कन्याकुमारीका यशोगान पढ़ाया जाता है तथा देशके मानचित्रमें इन दो दिशाओं, दो ध्रुवोंको सगौरव दिखाया जाता है। गतवर्ष हमलोगोंने उत्तराखण्डकी यात्रामें देशकी उत्तरी सीमाके प्रहरी नगाधिराज हिमालयका भ्रमण किया था, उसकी महिमाका निकटसे स्वयं उसके अतिथि बन साक्षात्कार किया था, आज हमलोग देशके द्वितीय ध्रुवको कन्याकुमारीके आँचलमें, जिसके चरणोंमें सृष्टि-लयकी सामर्थ्यवाला सिन्धु लोट रहा है, अपने सामने देख रहे थे। कैसा मनोरम दृश्य था। पयोधिकी उत्ताल तरङ्गें पल-पल अपने तटकी पृथ्वीका आलिङ्गन-चुम्बन कर लौट जातीं, फिर-फिरकर आतीं! सेवा, सत्कार और समर्पणकी भावनासे भरे उदधिकी ऊर्मियोंमें कितनी शक्ति और भाव-भक्ति भरी हुई थी, इसकी कल्पना करते ही हमारे भीतर स्वाभिमान, देशाभिमानका सागर उमड़ पड़ा। धन्य है भारतभूमि और धन्य हैं भारतमें जन्म लेनेवाले नर-नारी, जिन्हें ऐसी दिव्य, पवित्र और अलौकिक धरा मिली।

संध्याके झुलपटेमें हमलोग उल्लासभरे मनसे अपने निवासस्थानपर लौट आये।

ऐतिहासिक और पौराणिक मान्यताओंसे सिद्ध होता है कि कन्याकुमारी प्राचीन कालमें भी महत्त्वका स्थान रहा होगा। एक पौराणिक मान्यताके अनुसार गोआसे कन्या-कुमारीतककी भूमि, जिसे आजकल केरल कहा जाता है, विष्णुके छठे अवतार श्रीपरशुरामके प्रयत्नोंके फलस्वरूप प्रकट हुई थी। कहा जाता है कि जब ब्राह्मणोंको दान करनेके लिये परशुरामको भूमिकी आवश्यकता पड़ी तो उन्होंने समुद्रके देवता 'वरुण' पर दबाव डाला। वरुणकी आज्ञा पाकर परशुरामने जब गोआसे अपनी कुल्हाड़ी उछालकर फेंकी तो वह कन्याकुमारीको पारकर समुद्रमें जा गिरी। बीचमें समुद्रने स्थान खाली कर दिया और गोआसे कन्याकुमारीतककी भूमि ऊपर आ गयी, जिसे आजकल केरल कहते हैं। किंतु यह ऐतिहासिक सत्य नहीं। इतिहासविज्ञोंके अनुसार यह स्थान शताब्दियों पूर्व पाण्ड्य राजाओंके अधीन था, जिन्होंने प्रचुरकालपर्यन्त सम्पूर्ण तमिळनाडपर राज्य किया। कन्याकुमारीकी शिल्प और वास्तुकला तथा लोगोंके रहन-सहनके ढंगपर तमिळ-प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। मन्दिर भी तमिळ-निर्माणशैलीके आधारपर बने हुए हैं। इससे उक्त ऐतिहासिक तथ्यकी पुष्टि होती है। और भी ऐसे अनेक प्रमाण हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि कन्याकुमारी प्रचुरकालतक पाण्ड्य राजाओंके अधीन रहा। देवी 'कुमारी' पाण्ड्य-राजकुलकी भी आराध्य-देवी थीं। परशुरामवाली कहानीके अतिरिक्त यह जनश्रुति भी है कि प्राचीनकालमें कन्याकुमारीके दक्षिणमें भी भूमि थी, जिसे बादमें समुद्र बहा ले गया; किंतु इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

कन्याकुमारीके नामकरणके सम्बन्धमें अनेक धारणाएँ हैं और इस जिज्ञासाको शान्त करनेके लिये भी हमें जन-श्रुतियोंका आश्रय लेना पड़ता है। राजा भरत, जिनके नामपर हमारे देशका नाम भारत पड़ा, कहा जाता है कि उनके आठ पुत्र एवं एक पुत्री थी। जब राजा भरतने राज-काजसे संन्यास लेना चाहा, तब उन्होंने राज्यके नौ भाग किये और अपनी प्रत्येक संततिको एक-एक भाग सौंप दिया। देशका दक्षिणी भाग उनकी पुत्रीको मिला। तभीसे इस क्षेत्रका नाम कुमारी पड़ गया। पौराणिक आधारपर देवी पराशक्तिने भी यहीं अवतरित होकर तप किया। एक अन्य पौराणिक मान्यताके अनुसार एक बार असुरोंका देवताओंसे अधिक प्रभाव हो गया। परिणामस्वरूप अधर्म धर्मपर हावी होने लगा। सर्वत्र अज्ञान और अन्याय फैलने लगा। स्त्रियोंका सतीत्व भङ्ग होने लगा और असुराधिपति बाणासुरका तीनों लोकोंपर साम्राज्य हो गया। उसने देवताओंको स्वर्गसे निकाल दिया और ऋषियों-मुनियोंको कठोर यन्त्रणाएँ दीं। इन सब अत्याचारोंसे दुखी होकर पृथ्वी माता संसारके रक्षक भगवान् विष्णुके पास गयीं और उनसे अधार्मिक शक्तियोंके नाशकी प्रार्थना की। भगवान् विष्णुने पृथ्वीको उत्तर दिया कि केवल पराशक्ति ही बाणासुरके नाशमें समर्थ है। अतः देवताओंको उसीकी आराधना करनी चाहिये। भगवान् विष्णुसे आज्ञा पाकर देवताओंने एक बृहत् यज्ञका अनुष्ठान किया, जिसमें पराशक्ति प्रकट हुईं। पराशक्ति

तुरंत एक छोटी-सी बालिकाके रूपमें पृथ्वीपर उतरीं और तप करने लगीं। जब वे युवावस्थामें पहुँचीं, तब भगवान् शिवका उनसे प्रेम हो गया। दोनोंके विवाहकी तैयारियाँ होने लगीं। नारदजीको इससे चिन्ता हुई कि यदि दोनोंका विवाह हो गया तो बाणासुर-वध टल जायगा। जब विवाहके लिये नियत समयपर शिवजी चले, तब शुचीन्द्रम्से तीन मीलकी दूरीपर नारदजी एक मुर्गेका रूप धारणकर बाँग देने लगे। शिवजीने समझा कि विवाहका समय बीत चुका है और वे निराश होकर शुचीन्द्रम् वापस लौट आये। उधर कुमारी पराशक्तिने आजीवन अविवाहित रहनेका प्रण कर लिया। इसी समय विवाहके लिये तैयार किये गये सभी खाद्यपदार्थ रेतके रूपमें परिवर्तित हो गये और कहा जाता है कि इसीलिये कन्याकुमारीकी रेतमें अनेक रंग हैं। नारदजीद्वारा मुर्गेके रूपमें बाँग देने मात्रसे शिवजीके यह समझ लेनेपर कि विवाहका समय बीत गया है, सहसा हम विश्वास न करें—यह अस्वाभाविक नहीं। किंतु पौराणिक आख्यानोंमें हमें ऐसी बहुत-सी घटनाएँ और उदाहरण मिलते हैं जिनमें देव-कल्याण अथवा लोक-कल्याणके निमित्त आदिपुरुष अथवा अवतारीको हम जनसाधारणके सदृश कार्य करते तथा उसके अनुरूप मति-भ्रमसे भ्रमित होते देखनेके अनेक अवसर पाते हैं। और बहुधा इन प्रसङ्गोंकी रचना और उसका हेतु भी एक पावन और सर्वमङ्गलभावसे प्रेरित होता है। फिर प्रेम अथवा मोह, जिसमें पड़े शिवजी वरका रूप धारणकर अपने लिये वधू लेने जा रहे थे, स्वयंमें एक ऐसा आवरण है, जिसमें मति-भ्रम असंगत नहीं, अपितु सर्वथा संगत ही है। इसपर भोलेनाथ! अतः नारदजीको अधिक परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ी और अपने भोलेनाथको बरगलानेके लिये उन्होंने मुर्गेका एक सहज स्वरूप धारणकर ही अपना मनोरथ साध लिया।

उधर बाणासुरने कुमारी पराशक्तिके सौन्दर्यका वृत्तान्त सुन उनसे विवाहकी इच्छा प्रकट की। कोई अन्य उपाय न देख उसने उन्हें बलपूर्वक प्राप्त करना चाहा। दोनोंमें पर्याप्त समयतक घोर युद्ध हुआ और अन्तमें पराशक्तिने उसका चक्रायुधसे वध कर दिया। यहाँकी जनता आज भी देवी पराशक्तिके इस कृत्यके प्रति कृतज्ञ है और 'बाणासुर-वध'-दिवस आज भी 'नवरात्र पर्व'के रूपमें यहाँ समारोहपूर्वक मनाया जाता है। नवरात्रके अतिरिक्त वैशाख अथवा मई मासमें एक अन्य पर्व भी मनाया जाता है और यह भी देवी पराशक्तिसे सम्बन्धित है। यह पर्व दस दिनतक मनाया जाता है। प्रत्येक दिन और रात्रिमें देवीका जुलूस निकाला जाता है, जो प्रमुख मार्गोंमें घूमता हुआ एक सरोवरपर जाकर समाप्त हो जाता है।

जैसा कि प्रारम्भमें कहा गया है, कन्याकुमारी तीन ओर समुद्रसे घिरा हुआ है। इसके तीनों ओर समुद्र-तटके साथ-साथ सावित्री, गायत्री, सरस्वती, कन्या, माथरू, विथरू आदि अनेक पवित्र घाट हैं। तीनों ओर तीन विशेष स्नान-घाट भी हैं, जिनमें सोलह-सोलह स्तम्भोंपर एक मण्डप निर्मित है। इन मण्डपोंमें पंडे मन्त्रोच्चारके साथ यात्रियोंको स्नान-पूजन कराते हैं। कन्याकुमारीके इन घाटोंका धार्मिक महत्त्व भी कम नहीं है। लोगोंमें विश्वास है कि इन घाटोंपर स्नान करनेसे पाप-निवृत्ति होती है। इस सम्बन्धमें एक कहावत भी है कि पाप-निवृत्ति और पुण्य-प्राप्तिके लिये काशीमें गङ्गास्नान और कन्याकुमारीमें समुद्रस्नान समान फलदायी हैं।

कन्याकुमारीके ये ही प्राकृतिक और धार्मिक आकर्षण हजारों भारतीय एवं विदेशी पर्यटकोंको प्रतिवर्ष यहाँ खींच लाते हैं। उनकी सुविधा और आवास-व्यवस्थाके लिये सरकार और जनताकी ओरसे कुछ उल्लेखनीय कार्य किये गये हैं। देवस्थानम् और कुछ राजकीय भवन आवासके लिये यहाँ उपलब्ध हैं। केप होटल और रेस्ट हाउस भी हैं, जो आधुनिक साधन-सुविधाओंसे युक्त हैं। समुद्रतटपर एक "स्विमिंग-पूल" भी बनाया गया है, जिसमें यात्री बिना किसी खतरेके स्नान कर सकता है।

वर्तमान कन्याकुमारी एक छोटे-से ग्रामके रूपमें है, जिसकी जनसंख्या १९५१ की जनगणनाके अनुसार पाँच हजार है। यहाँ रोमन कैथोलिक ईसाइयोंका बाहुल्य है। यहाँके निवासी अधिकतर ईसाई हैं और समुद्रतटपर अपने छोटे-छोटे घरोंमें रहते हैं। उनका गिरजाघर भारतके प्राचीनतम और विशालतम गिरजाघरोंमेंसे एक है, जहाँ एक हजार लोग एक साथ बैठ सकते हैं। कुछ मुसल्मान भी हैं और उनकी एक मस्जिद है।

कन्याकुमारीमें एक पुराने किलेके अवशेष भी दर्शनीय हैं। वट्टकोट्टाई समुद्रतटसे तीन मीलकी दूरीपर स्थित होनेके कारण इसे वट्टकोट्टाई फोर्ट (Vattakkottai Fort) कहते हैं। प्राचीन दुर्ग-निर्माण-कलाका परिचय देनेके लिये इसमें अभी भी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। बताया जाता है कि मार्तण्डवर्माके शासनकालमें उनके प्रधान सेनापतिने इस दुर्गका सुरक्षाकी दृष्टिसे निर्माण कराया था। आजकल यह दुर्ग बाल स्काउटों, पर्यटकों एवं संध्या-भ्रमणके लिये आनेवालोंका अड्डा बना रहता है।

कन्याकुमारी-मन्दिरके अतिरिक्त यहाँके काशी-विश्वनाथ-मन्दिरका भी धार्मिक दृष्टिसे पर्याप्त महत्त्व है। कहते हैं कि जब देवी कुमारी (पराशक्ति) ने बाणासुरका वध किया, तब उनका चक्रायुध यहीं आकर गिरा। उसीकी स्मृतिमें यहाँ यह मन्दिर बनाया गया है। यह कन्याकुमारीसे एक मीलकी दूरीपर है।

कन्याकुमारी आनेवाला कोई भी पर्यटक प्रायः मरुत्वामला पहाड़ीके दर्शन किये बिना नहीं जाता। कहते हैं, रामायण-कालमें जब हनुमान्‌जी लक्ष्मणजीके उपचारके लिये संजीवनी बूटीसे युक्त पहाड़ लेकर जा रहे थे, तब उसका एक भाग यहाँ गिर पड़ा। लोगोंका विश्वास है कि इस स्थानपर थोड़ा समय वितानेसे ही बड़े-बड़े रोग और व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

कन्याकुमारीका एक प्रधान आकर्षण यहाँका गांधी-मन्दिर है। १८ फरवरी १९४८ को गांधीजीकी अस्थि-भस्म यहाँ समुद्रमें प्रवाहित करनेके लिये लायी गयी थी। प्रवाहित करनेसे पूर्व यहाँ जिस स्थलपर यह अस्थिपात्र रक्खा गया था, उसी स्थलपर एक दीर्घाकार सुन्दर दुमंजिले भवनका निर्माणकर उसे गांधीमन्दिर नाम दिया गया। भवनके नीचेके भागमें जिस स्थानपर बापूका भस्मपात्र एक चौकीपर रक्खा गया था, आज भी भवनके केन्द्रमें वह चौकी स्थायीरूपसे उसी स्थानपर सुरक्षित कर दी गयी है। इस मन्दिरका निर्माण त्रावणकोर-कोचीन सरकारने राष्ट्र-पिताके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलिके रूपमें कराया था। २० जून १९५४ को इसकी आधारशिला आचार्य कृपलानीने रक्खी और अक्टूबर १९५६ में यह तीन लाखकी लागतसे बनकर तैयार हो गया। इस मन्दिरकी छतमें एक ऐसा खोल बनाया गया है, जिससे प्रति दो अक्टूबरको गांधीजीके जन्मदिवस पर सूर्यकी किरणें इस खोलसे होती हुई उपर्युक्त चौकीपर पड़ती हैं। आगन्तुक और पर्यटक सभी श्रद्धाभावसे इस चौकीपर अपनी श्रद्धाञ्जलि और श्रद्धा-सुमन भेंट करते हैं। मन्दिर समुद्र-तटपर बना होनेके कारण इसका आकर्षण अत्यधिक बढ़ गया है।

कन्याकुमारीका एक और अन्य महान् आकर्षण यहाँका 'विवेकानन्द रॉक' है। सन् १८९२ में भारतके आध्यात्मिक पुनर्जागरणके प्रतीक स्वामी विवेकानन्दने रामेश्वरम् एवं मदुराईके बाद कन्याकुमारीकी यात्रा की थी। यहाँ पहुँचते ही समुद्रमें स्थित एक शिलापर बैठकर स्वामी विवेकानन्द ध्यानमग्न हो गये थे और घंटों उसपर बैठे मनन-चिन्तन करते रहे। इसलिये इस चट्टानका एक दर्शनीय और धार्मिक महत्त्व हो गया है। इस चट्टानको, जिसपर बैठकर स्वामी विवेकानन्दने मनन-चिन्तन किया था, 'विवेकानन्द रॉक' कहते हैं। यह समुद्रके मध्य स्थित है और पर्यटक नाव-द्वारा इसे देखने जाते हैं। स्वामीजीकी स्मृतिमें यहाँ एक विवेकानन्द-पुस्तकालय भी है, जिसमें हिंदूधर्म, दर्शन एवं साहित्यिक पुस्तकों—लगभग पाँच हजार पुस्तकोंका सुन्दर संग्रह है। अब तो वहाँ एक विशाल मन्दिरका निर्माण हो रहा है।

स्वामी विवेकानन्द आधुनिक भारतकी कुछ गिनी-चुनी विभूतियोंमेंसे एक थे। जिन स्वामी रामकृष्ण परमहंसके वे शिष्य थे, उन स्वामी रामकृष्ण परमहंसका भारतमें एक अद्वितीय स्थान हो गया है—इसी संतपरम्परामें स्वामी विवेकानन्दने उस समय, जब भारत पराधीन था, भारतीय अध्यात्म और भारतीय संस्कृतिके संदेशको सुदूर अमरीका-तक पहुँचाया और इस संदेशका वहाँ प्रतिफल मिला अमेरिकामें रामकृष्ण-आश्रमकी स्थापनाके रूपमें। स्वामी विवेकानन्दके मेधावी एवं विद्वत्तापूर्ण व्यक्तित्वका अमरीकामें पर्याप्त प्रभाव पड़ा और वहाँ उनके एक बहुत बड़ी संख्यामें प्रशंसक और अनुयायी बन गये। भारतको इस महा-पुरुषने उस कालमें जो एक सबसे प्रधान बात सिखायी—वह था उनका अभय-मन्त्र। भय मानव जातिके विकासमें एक सबसे बड़ी जटिलता है, बाधा है। वह मानवको न केवल मानवीय उपलब्धियोंसे वञ्चित रखता है वरं प्राकृतिक प्राप्तियोंकी दिशामें भी परमुखापेक्षी और परावलम्बी बना देता है।

(क्रमशः)

कामके पत्र

(१)

असुरतन्त्रके दूर करनेका उपाय

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण ! आपका कृपापत्र मिला। 'जनतन्त्र या असुरतन्त्र' शीर्षक लेख आपने पत्रोंमें पढ़ा, आपको अच्छा लगा सो आपकी कृपा है। आपने लिखा कि 'असुरतन्त्रके दूर करनेका कोई उपाय लिखना चाहिये था।' इसके उत्तरमें निवेदन है कि असुरतन्त्रके मिटनेका साधन दैवीतन्त्रकी स्थापना है। श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायमें दैवी और आसुरी सम्पदाका वर्णन है। असुर-मानवका सिद्धान्त और लक्ष्य होता है इन्द्रियोंके भोगोंकी प्राप्ति और उन्हें भोगना, साधन चाहे जैसा भी हो। देव-मानवका लक्ष्य और उद्देश्य होता है—भगवान् और भगवान्की प्राप्ति तथा उसके साधन होते हैं—भगवान्के अनुकूल कार्य और भोग-वासनाका त्याग।

एक युग था, जब देशमें क्रान्तिकारी हिंसायुक्त आन्दोलन था। उसके बाद गांधीजीका असहयोग आन्दोलन आया, जिसमें अहिंसाकी प्रधानता थी। इन दोनों ही प्रकारके आन्दोलनोंमें सम्मिलित होनेवाले, साथ देनेवाले अधिकांश लोगोंका—खास करके हजारों-हजारों नवयुवकोंका—लक्ष्य था देशकी स्वतन्त्रता और उसका साधन था—विशुद्ध देशप्रेम, देशके लिये कष्ट-सहन और बलिदान, अपने सुखका सब तरहसे त्याग। देशके लिये त्याग करनेका बदला उस समय केवल उनका देश-प्रेम ही था। क्रान्तिकारी युगको तो मैंने देखा है, उसमें तो उनको समाजसे तिरस्कार मिलता, घरवालोंसे बहिष्कार मिलता, सरकारसे यातनाएँ मिलतीं; पर वे इन बातोंमें बड़ा गौरव और सुख मानते कि देशके लिये हमारा बलिदान हो रहा है, हम जेल जा रहे हैं या फाँसीपर चढ़ रहे हैं। गांधीजीके असहयोग-आन्दोलनमें आगे चलकर सम्मान मिलने लगा था, जो प्रलोभनकी वस्तु थी; पर उस समय भी उद्देश्य देश-प्रेम था, देशको स्वाधीनताकी प्राप्ति करानी थी। पर जबसे हाथमें सत्ता आयी, देशके स्थानपर अधिकांशतः व्यक्तित्व सामने आ गया और जहाँ देशका स्वार्थ और व्यक्तिका (देशभक्तका) अपना स्वार्थ परस्पर विरोधी होते हैं, वहाँ व्यक्ति देशके स्वार्थपर विजयी होता है; क्योंकि उसीके हाथमें देशकी सेवा और देशकी उन्नतिका भार रहता है। वही जब देशको न देखकर अपने स्वार्थकी सिद्धि करने लगता है, तब देश-प्रेम उसकी स्वार्थ-सिद्धिका साधन बनकर देशको तबाह कर देता है। यही आज हो रहा है, यही असुरतन्त्रका कारण है। एक ही दलके लोग, एक ही नीतिको माननेवाले लोग जब परस्पर लड़ते हैं, अपनी शक्ति, अपने साधन, अपनी कला एक दूसरेको गिरानेमें लगाते हैं, तब देश कहाँ सामने रहता है? आज देशकी यही स्थिति है और इसीलिये देशमें भ्रष्टाचार, अनाचार और अत्याचार फैल रहे हैं। इनके नाशका उपाय है—आत्मसुखकी इच्छाका, सुखोपभोगकी वासनाका त्याग और जनसुख एवं देशके सुखमें ही अपनेको सुखी माननेकी प्रवृत्ति। भगवान्की कृपासे, अच्छे भाग्यसे जब कभी देशमें देशसेवकोंकी बुद्धि इस प्रकार व्यक्तिगत स्वार्थोंको छोड़कर देशके स्वार्थको अपना स्वार्थ बताने लगेगी और देशके कल्याणार्थ हर तरहके त्यागके लिये जब देशभक्त तैयार होंगे, तब अपने-आप ही दैवीसम्पदाका प्रसार होगा और देवतन्त्रका उदय होगा।

एक वाक्यमें कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि असुरतन्त्रका उद्देश्य है—भोग-वासनार्थ

देवतन्त्रका उद्देश्य है—भगवान् या समष्टिकी सेवा। आपने बड़े विस्तारसे लिखनेका आदेश दिया, पर मैंने संक्षेपमें सार बातें लिख दी हैं। आशा है, इससे आपको संतोष होगा। शेष भगवत्कृपा।

(२)

भगवत्कृपाकी वर्षा

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। पहले भी कई पत्र मिल चुके हैं। साधनाकी व्यक्तिगत बातें प्रायः सबके सामने प्रकट करनेकी नहीं हुआ करतीं। तथापि आपका आग्रह है, इसलिये केवल इतना लिख रहा हूँ और सभीसे यही कहता भी हूँ तथा यह सत्य भी है कि मुझमें अपनी दृष्टिसे मुझे अनेक-अनेक दुर्बलताएँ प्रतीत होती हैं। साधनाका और भगवत्प्रेमका जो स्वरूप कल्पनामें आता है, वह तो कहनेमें नहीं आता और जिसको लोगोंके सामने कहा जाता है, उसके अनुसार देखनेपर अपनेमें बड़ी त्रुटियाँ प्रतीत होती हैं; पर साथ ही यह अवश्य अनुभव होता है कि भगवान्‌की अहैतुकी कृपा किसीकी साधनाको नहीं देखती। वह तो जो उसपर विश्वास करता है, उसपर अकारण ही सदा बरसती रहती है और उसे सब प्रकारसे विशुद्ध बनानेमें लगी रहती है। मुझे यह विश्वास अवश्य है और मैं यह अनुभव भी करता हूँ कि भगवान्‌की अहैतुकी कृपा मेरे ऊपर निरन्तर बरस रही है और अगर मेरेमें कोई अच्छापन दिखायी देता है तो वह उस भगवत्कृपाकी ही कृपाका फल है।

सम्मानकी चाह मनुष्यमें बहुत दूरतक बनी रहती है। मनुष्य भगवान्‌के नामपर अपने व्यक्तित्वका प्रचार और अहंकी पूजा करवाने लगता है। यह उसकी एक कमजोरी है। आपने मेरे सम्बन्धमें पूछा सो मुझे यही कहना चाहिये और यही लगता भी है कि इस कमजोरी-से मैं बचा नहीं हूँ। आपके कथनानुसार पुस्तकोंपर मेरा नाम छपता है, 'कल्याण' में नाम छपता है, संस्थाओंके साथ नाम जुड़ा रहता है—इन सबमें मेरे मनमें यश प्राप्त करनेकी कामना न हो—यह कौन कह सकता है? आप नहीं मानते—यह आपकी गुणदृष्टि है। वस्तुतः अन्तर्यामी भगवान् ही सब जानते हैं। मैं तो अपने सामने भी अपनी प्रशंसा सुनता हूँ और उद्विग्न होकर कोई घोर प्रतीकार नहीं करता—यह भी कमजोरी ही है। पर यह सब होते हुए भी आप तो बहुत ऊँचा मानते हैं, आपकी इस मान्यताके लिये मैं क्या कहूँ? पर इतना तो मैं भी मानता हूँ कि भगवान्‌की कृपाका बल मेरे साथ है और वह मेरे सारे बाधा-विघ्नोंको निरन्तर हटाता रहता है और मैं अपने लक्ष्यकी ओर सतत अग्रसर हो रहा हूँ। मेरा मार्ग क्या है, कैसे अग्रसर हो रहा हूँ, उसमें क्या-क्या कठिनाइयाँ और सुविधाएँ हैं—ये सब चीजें बतानेकी नहीं होतीं। आपने कृपापूर्वक पत्र लिखे और समयपर मेरा उत्तर न जानेसे भी आप अप्रसन्न नहीं हुए—यह आपकी कृपा है। मैं बहुत ही कम पत्र लिख-लिखा पाता हूँ। आपके लंबे-लंबे पत्रोंका भी यह बड़ा ही संक्षिप्त उत्तर है। मेरा विनीत अनुरोध है कि आप इसीमें संतोष कर लें। शेष भगवत्कृपा।

(३)

भगवान्‌की वस्तु सदा भगवान्‌की सेवामें लगाते रहिये

प्रिय महोदय, सादर हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। इस समय तो बिहार, उत्तरप्रदेश तथा राजस्थानके कुछ भागोंमें भयानक अकाल है; पर अकाल न होनेकी स्थितिमें भी भारतवर्षमें इतने गरीब हैं, जिनको रोज भरपेट भोजन नहीं मिलता, तन ढकनेको कपड़ा नहीं मिलता। दूध, चिकित्सा, आरामका घर आदि तो बहुत दूरकी बातें हैं। फिर आजकल भयंकर महँगीने तो मानो प्राणियोंपर राक्षसी धावा ही बोल दिया है। इस अवस्थामें जिनके पास जो कुछ भी साधन है, उसके द्वारा इन अभावग्रस्त प्राणियोंकी—

अपने ही जैसे प्राण-मनवाले मानवोंकी सेवा करनी चाहिये। यह धर्म है और इसकी उपेक्षा बहुत बड़ा पाप है।

सच तो यह है कि यहाँ कुछ भी किसीका नहीं है, सभी भगवान्‌का है और उसे यथासाध्य आवश्यकतानुसार प्राणिमात्रकी सेवाके द्वारा भगवान्‌की सेवामें लगाना है। वस्तुतः सभी प्राणी भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति हैं। अतएव इनकी सेवामें किसी वस्तुका अर्पण करना भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌की सेवामें लगाना मात्र है। यह ईमानदारी है, कोई महत्त्वकी बात नहीं। श्रीमद्भागवतमें देवर्षि नारदजीके वाक्य हैं—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥
(७।१४।८)

अर्थात् जितनेसे अपना पेट भरे, उतनेपर ही मानवोंका अधिकार है। जो इससे अधिकपर अपना अधिकार मानता है, वह चोर है; उसे दण्ड मिलना चाहिये।

देवर्षि नारदजीके इन शब्दोंपर ध्यान दीजिये। हमारा कुछ है ही नहीं। उदर-पोषण भरकी वस्तु स्वामीने हमें दी है। इससे अधिकको अपनी वस्तु मानना तो बेईमानी—चोरी है। हमें यदि भगवान्‌ने कोई वस्तु दी है तो वह इसी प्रकार दी है कि जैसे भला मालिक किसी सेवकको उसे ईमानदार मानकर अपनी वस्तु सँभालके तथा आवश्यकतानुसार अपनी सेवामें लगानेके लिये देता है, न कि उसे व्यर्थ खोने या अपनी मानकर यथेच्छ भोगनेके लिये। अतएव जहाँ-जहाँ जिस-जिस वस्तुका अभाव है, वहाँ-वहाँ भगवान् मानो अपनी उस-उस वस्तुको माँगते हैं और जिस-जिसके पास जो-जो वस्तु है, वहाँ-वहाँपर प्रसन्न चित्तसे देनी चाहिये।

जहाँ अन्नका अभाव है वहाँ भगवान् अन्न माँगते हैं; जहाँ जलका अभाव है, वहाँ जलकी इच्छा करते हैं; जहाँ वस्त्रका अभाव है, वहाँ वस्त्र चाहते हैं; जहाँ रोगीकी चिकित्सा या सेवाका अभाव है; वहाँ वे चिकित्सा और सेवाकी माँग करते हैं और जहाँ रहनेको स्थान नहीं है, वहाँ भगवान् स्थान चाहते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य वस्तुएँ भी। अतएव जिस-जिसके पास जो-जो वस्तु है, उस-उसको वह वस्तु जहाँ भगवान् उसे चाहते हैं—अवश्य देनी चाहिये।

जो लोग भगवान्‌की वस्तु समुचितरूपसे तथा नेकनीयतीसे भगवान्‌की सेवामें न लगाकर स्वयं भोगते हैं, वे भगवान्‌के साथ बेईमानी तथा धोखेबाजी करते हैं। इसके परिणाममें वे दण्डके भागी होंगे ही। आज चाहे वे इस बातको न मानें, न परवा करें। जहाँ लाखों-करोड़ों अपने-ही-जैसे बहिन-भाइयोंको भरपेट रूखा-सूखा अन्न भी नहीं मिलता, वहाँ कुछ लोगोंको बढ़िया-बढ़िया मेवा-मिठाई आदि खाने, व्यर्थ खोने या अपने ही लिये सुरक्षित अन्नादि जमा रखनेका क्या अधिकार है? जहाँ लाखों-करोड़ों बहनें तन ढकनेके लिये एक मोटी साड़ी भी नहीं पातीं, वहाँ कुछ बहिनोंका पाँच-पाँच सौ, हजार-हजारकी एक-एक साड़ी पहनना पाप नहीं तो और क्या है? जहाँ लाखों-करोड़ों भाइयोंको धोतीके सिवा और कोई कपड़ा नहीं मिलता, वहाँ कुछ भाइयोंको बढ़िया कपड़े, सैकड़ों रुपये सिलाई देकर सूट बनवाने-पहननेका और पेटियोंमें संग्रह कर रखनेका कार्य वस्तुतः असत्कार्य या घोर पाप ही तो है। अतएव मेरी प्रार्थना तो सबसे यही है कि अपने जीवनको सादा बनायें; फैशन, विलासिता तथा फिजूलखर्चीका त्याग करें। अनावश्यक आवश्यकताओंको न बढ़ायें, थोड़ेमें ही अपना काम चलायें तथा शेष सबको भगवान्‌की वस्तु मानकर भगवान्‌की सेवामें लगाते रहें। संग्रह तो रखना ही नहीं चाहिये। अधिक वस्त्रोंका—वस्तुओंका संग्रह होगा और मरते समय यदि उनमें

मन रह जायगा तो उन्हीं वस्तुओंमें कोई कीड़ा बनकर रहना पड़ेगा । बहुत कीमती कपड़े नहीं पहनने चाहिये । जो भाई हजार-पाँच सौका एक सूट पहनते हैं, वे सौ-पचासका पहनें और बचे हुए नौ-सौ या साढ़े चार सौमें नब्बे या पैंतालीस दस-दस रुपयेकी धोतियाँ खरीदकर उन लोगोंको दे दें, जिनके पास धोती नहीं है और जो उसको जुटानेमें असमर्थ हैं । इसी प्रकार एक हजारकी साड़ी पहननेवाली बहिन पचासकी साड़ी पहन लें और शेष नौ सौकी नब्बे साड़ियाँ खरीदकर उन बहिनोंके तन ढक दें, जिनके पास साड़ीका अभाव है । इसी प्रकार अन्यान्य वस्तुएँ भी ।

वर्तमानमें अकालके समय तो ऐसा करना विशेष कर्तव्य है । वैसे जीवनमें सदा ही ऐसा ही व्यवहार करना चाहिये । और जिनके पास बहुत अधिक साधन हैं और जो बहुत कमाते हैं, उन्हें तो अपने सभी साधनोंको अभिमानरहित होकर भगवान्‌की सेवामें लगाते रहना चाहिये । यह याद रखना चाहिये कि भगवान् अपनी वस्तु अपनी सेवामें स्वीकार कर रहे हैं—यह उनकी कृपा है । इसमें न तो अभिमानकी बात है न किसी प्रकारसे किसीपर अहसान करनेकी । अपनेको उपकार करनेवाला दयालु दाता और लेनेवालोंको उपकारके पात्र, दीन, भिक्षुक न मानकर यही मानना चाहिये कि 'भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌के इच्छानुसार भगवान्‌की सेवामें लगी है । भगवान्‌ने ही उसे ग्रहण किया, मेरा इसमें क्या है । मुझसे भगवान्‌ने इस कार्यमें सेवा ली, यह भगवान्‌की कृपा और मेरा सौभाग्य है ।'

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।

एक उदार दाता भक्त सदा संकोचसे भरे दान देते समय भी नेत्रोंको झुकाये रखते थे । किसीके पूछनेपर उन्होंने नीचे नेत्र रखनेका कारण बताया—

देनहार कोउ और है देत रहत दिन-रैन ।
लोग भरम हम पै धरैं, या सो नीचे नैन ॥

शेष भगवत्कृपा ।

(४)

प्रातःस्मरणीय महात्माओंकी जूठन

प्रिय महोदय,

सादर प्रणाम । आपका कृपापत्र मिला । आपका लिखना सर्वथा सत्य है । मैंने भक्ति-प्रेम आदिके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है—कहा है, उसमें अधिकांशमें श्रीगौड़ीय सम्प्रदायके प्रातःस्मरणीय नित्य-वन्दनीय महात्माओंकी अनुभूत वाणी ही प्रधान रूपसे आधार है । यद्यपि श्रीराधामाधवकी मुझपर अनन्त कृपा है, निरन्तर कृपा बरस रही है—इससे मुझ तुच्छ तथा नगण्य जीवको भी बड़े-बड़े महानुभावोंके चरणानुगत होकर किसी अंशमें स्वयं भी कुछ प्राप्त करनेका सौभाग्य मिला है और वह अनुभूति उत्तरोत्तर बढ़ रही है, तथापि यह तो सर्वथा सत्य ही है कि मेरे भाषण और लेख उन प्रातःस्मरणीय महात्माओंका ही महाप्रसाद या पवित्र जूँठन है । अलग-अलग किन-किनके नाम बताऊँ—मैंने बहुतोंसे बड़ा लाभ उठाया है और अब भी उठा रहा हूँ । उन सभीका बहुत बड़ा ऋणी हूँ; पर साथ ही उनका इतना कृपापात्र हूँ कि वे मुझे निरन्तर अपना एक तुच्छ जन समझकर देते ही रहते हैं—ऋणरूपमें नहीं, वात्सल्य-स्नेहके रूपमें । यह उनकी सहज ही महान् उदारता है ।

शेष भगवत्कृपा ।

(५)

सभी क्षेत्रोंमें आदर्श पुरुष हैं

प्रिय महोदय,

सादर हरिस्मरण ! आपका कृपापत्र मिला । अवश्य ही वर्तमान समयमें भी ऐसे बहुत-से सज्जन सभी क्षेत्रोंमें वर्तमान हैं, जो भारतीय संस्कृतिके परमोज्ज्वल प्रकाशरूप हैं । पर ऐसे सज्जन न तो अपना विज्ञापन करते हैं, न वे यह चाहते ही हैं कि उन्हें लोग जानें-मानें । करोड़ों मानवोंमें, पता नहीं, कितने ऐसे होंगे, जिनके चरित्र अत्यन्त पवित्र और आदर्श हैं । जिन क्षेत्रोंके लोगोंके सम्बन्धमें आपने पूछा, उन

क्षेत्रोंमें भी ऐसे बहुत-से सज्जनोंसे मेरा काम पड़ा है और मैं उन्हें जानता हूँ, जो परम आदर्शचरित्र हैं।

साधुओंमें मैं ऐसे महात्माओंको जानता हूँ, जो सचमुच बड़े विरक्त और परम त्यागी, सदाचारी हैं। उनमें कौन ब्रह्मनिष्ठ हैं—परमात्माको प्राप्त हैं, यह तो मैं नहीं कह सकता; क्योंकि यह स्थिति तो स्वसंवेद्य है। एक महात्माको मैंने देखा है, जो बहुत बड़े दार्शनिक विद्वान् हैं, पर जिनमें विद्याका जरा भी अभिमान नहीं और जिनका अत्यन्त त्यागपूर्ण, विरक्त जीवन है।

धनियोंमें भी ऐसे बहुत-से हैं। एक ऐसे सज्जन हैं, जो अपने लिये कंजूस हैं और दूसरोंके लिये बड़े उदार हैं। सदाचारी हैं, व्यसनरहित तथा अभिमान-शून्य हैं। अत्यन्त साधारण रहन-सहन रखते हैं। विनम्र हैं, भगवद्भक्त हैं। एक दूसरे धनी सदाचारी महापुरुष हैं, जिन्होंने पैसा कमाया ही धर्म तथा जनताकी सेवाके लिये। उम्रभर सेवा करते रहे।

एक डिप्टी कलक्टर हैं, जो अनुचित अर्थ ग्रहण नहीं करते, अपने नियमित नौकरीके पैसोंसे परिवार-पालन करते हैं। एक दिन मैंने पूछा,—उस दिन महीनेके अन्तकी ३० तारीख थी। उन्होंने कहा—मेरे पास आज चार आने पैसे हैं। इस महीनेके वेतनके पैसे मिलेंगे तो काम चलेगा।' एक पोशाक है, जिसे बाहर जाते हैं तब पहन लेते हैं, बड़े मितव्ययी हैं और अपनी इस स्थितिमें संतुष्ट हैं।

एक टेक्सटाइल विभागके उच्च अधिकारी थे, अब उन्होंने अवकाश ग्रहण कर लिया है। बड़े-बड़े प्रलोभन आनेपर भी उन्होंने ऊपरका एक पैसा नहीं लिया, बड़ी सादगीसे जीवन बिताया। साइकलसे आफिस जाते-आते थे। आफिससे ऊपर-नीचेके अधिकारी उनसे उतने प्रसन्न नहीं रहते थे; क्योंकि वे उनको अपनी अनुचित आयमें बाधक समझते थे। बड़े निर्मल-हृदय, विनम्र, सदाचारी तथा भक्त पुरुष हैं।

एक पुलिसके उच्च अधिकारी थे, जिन्होंने सारी उम्रमें कभी घूस नहीं ली, कभी मिथ्या मुकदमा नहीं बनाया। कमाईमेंसे गरीबोंकी सेवा करते और स्वयं बड़ी कठिनाईसे जीवन चलाते रहे। पर बड़े प्रसन्न थे। उन्हें अपनी सादगी तथा ईमानदारीका गौरव था।

एक नेता हैं, जो पहले कहीं किसी पंचायतके उच्च अधिकारी थे। अच्छे कुलके, ईमानदार, अपनी धुनके पक्के, जनताकी सेवा तथा जनताके सुख पहुँचानेके लिये अथक परिश्रम करनेवाले, देश तथा जनताकी सेवामें अपना सारा समय, शक्ति, धन लगानेवाले, कुटुम्बसे लापरवाह, सेवाकी धुनमें घरकी जमीन-मकान-जायदाद बेचकर काम चलानेवाले, पर मित्रों-बान्धवोंके द्वारा दिये जानेपर भी किसी भी हालतमें पैसा स्वीकार न करनेवाले फक्कड़ आदमी हैं। मैं उनकी कुटुम्बके प्रति लापरवाही तथा जमीन-जायदाद बेचनेके कार्योंका समर्थन नहीं करता, पर उनकी धुन देखकर तो सभी चकित हो जाते हैं। अभी-अभी उन्हें कई लाख रुपये किसी वोटके सौदेमें मिल रहे थे, पर उन्होंने स्वीकार नहीं किया और नयी सरकार बननेतक दबाव पड़नेके डरसे एकान्त-सेवन करते रहे। संग्रह करने योग्य मनुष्य हैं।

मिनिस्टरोंमें भी ऐसे बहुत-से हो चुके हैं, अब भी होंगे, जिन्होंने ऊँचे-से-ऊँचे पदोंपर आसीन होकर भी अपने घरकी ओर नहीं देखा, फकीर ही बने रहे। नया मकान बनाना तो दूर रहा, पुराने घरकी मरम्मत भी नहीं करवायी। भाड़ेका घर भी नहीं बदला।

इसी प्रकार सभी क्षेत्रोंमें परम पवित्र आचरणोंवाले सज्जन हैं। स्त्री-समाजमें तो पुरुषोंसे कहीं अधिक आदर्श चरित्रवाली त्यागमूर्ति देवियाँ हैं। इन सभीके चरणोंमें मैं सभक्ति नमस्कार करता हूँ।

दुःख तो इस बातका है कि नवीन निर्माणमें ऐसे पुरुषों तथा स्त्रियोंकी संख्या उत्तरोत्तर घट रही है, जो देशके लिये भयानक दुर्भाग्यकी बात है।

शेष भगवत्कृपा—

गोरक्षा-आन्दोलन

एक वर्षतक बहुत प्रयत्न करनेपर भी सम्पूर्ण गोहत्या-बंदीका कानून नहीं बन पाया। न सरकारसे कोई आश्वासन ही मिला। आशा हो चली थी कि सरकार सम्पूर्ण गोवध-बंदीकी घोषणा कर देगी; पर वह आशा सफल नहीं हुई। सम्भव है हमारे मानस तथा आचरणमें कोई ऐसा दोष रहा हो, जिसके कारण उच्च अधिकारियोंका मन नहीं बदला। गोवध-बंदीके लिये जो असंख्य लोगोंने प्रयत्न किया, त्याग किया, देवाराधन किया, वह सब पुण्य तो है ही। और मनुष्यको इतना ही वास्तवमें करना है कि भगवान् जैसी बुद्धि दें, उसके अनुसार सबका मङ्गल चाहते हुए भगवान्के आश्रयसे कर्तव्य-सम्पादनमें लग जाय, उसमें प्रमाद न करे। कर्तव्य-कर्म पूर्णरूपसे सम्पन्न होगा या नहीं अथवा कर्म सम्पन्न होनेपर भी उसका फल अनुकूल होगा या प्रतिकूल—यह मङ्गलमय भगवान्पर छोड़ दे।

पर कर्मकी दृष्टिसे, जो कुछ किया गया है, उसके फलस्वरूप कानूनके द्वारा सम्पूर्ण देशमें गोहत्या सर्वथा बंद होनी ही चाहिये; पर प्रयत्नमें शिथिलता नहीं आनी चाहिये। खेदका विषय है कि इधर प्रयत्नमें काफी ढिलाई आ गयी। सत्याग्रह निश्चय ही अभी जारी है और वह जारी रहना चाहिये तथा उसमें शान्तिपूर्ण तीव्रता आनी चाहिये। सत्याग्रहियोंकी संख्या बढ़नी चाहिये। स्थान-स्थानपर आन्दोलन चलना चाहिये। साथ ही देवाराधन, भगवदाराधन भी सतत चालू रहना चाहिये। मेरी प्रार्थना है कि देशभरमें एक बार फिरसे गोरक्षाके लिये देवाराधन तथा ईश्वराराधन आरम्भ हो जाय। ऐसा अनुमान किया जाता है कि वर्तमान केन्द्र-सरकारके अधिकारियोंका रुख इस समय कुछ अनुकूल है। सरकार समिति बनाने जा रही है। विधेयक भी पेश है। यदि इस समय देशमें जोरका आन्दोलन हो तो उसका सरकारपर काफी प्रभाव पड़ सकता है।

ऐसा ज्ञात हुआ है कि शीघ्र ही साधु-महात्मा लोग जोरोंसे सत्याग्रह शुरू करनेवाले हैं। और लोग भी सचेष्ट हैं। सबको उन्हें उत्साहित करना चाहिये तथा क्रियात्मक सहयोग भी देना चाहिये। गोमाताके सारे वंशकी रक्षा होनी चाहिये—उपयोगी और अनुपयोगीके पापमय प्रश्नको छोड़कर।

पर कानूनन गोहत्या-बंदीके साथ ही निम्नलिखित कार्य भी साथ-ही-साथ करनेकी बड़ी आवश्यकता है और उनमें सरकारोंका सहयोग भी परमावश्यक है—

(१) गायोंकी नस्ल-सुधारका काम हो, अच्छे सुपुष्ट बैल तैयार किये जायँ तथा बहुत अधिक दूध देनेवाली गायोंसे ही सबल साँड़ोंका सम्पर्क विशेषरूपसे कराया जाय। अनुपयोगी गौओंके तथा निर्बल रोगी साँड़ोंके द्वारा गोवंशकी वृद्धि न करायी जाय।

(२) अच्छे साँड़ काफी संख्यामें तैयार कराये जायँ।

(३) अपाहिज पशुओंके लिये सुव्यवस्थित गोसदन खोले जायँ और उनमें उन पशुओंके जीवन-निर्वाहके लिये चारे-पानीकी व्यवस्था हो।

(४) अधिक-से-अधिक चारा बोकर चारा पैदा किया जाय। प्राकृतिक घासके ऊपर निर्वाह होना कठिन है। भारतमें करोड़ों एकड़ भूमि ऐसी बनायी जाती है, जिसमें सिंचाईका साधन या वर्षा होनेपर सफल खेती हो सकती है।

(५) स्थान-स्थानमें गोचरभूमि छोड़ी जाय ।

(६) गायोंके खाने-पीनेकी चीजोंका निर्यात किसी रूपमें भी न हो, इसकी व्यवस्था की जाय ।

(७) जबतक सर्वत्र गोवध-बंदीका कानून न बन जाय, तबतक गायोंका निर्यात कम-से-कम उन प्रदेशोंमें न हो, जहाँ पशु-हत्या निर्बाध होती है ।

(८) कसाइयोंके हाथोंमें गाय कतई न जाय, इसकी सुदृढ़ व्यवस्था हो ।

(९) जहाँतक सम्भव हो, प्रत्येक गृहस्थ एक-एक गाय पालन करनेका व्रत ले ।

(१०) नगरपालिकाओंने जहाँ घरोंमें गायें रखनेपर रोक लगा रक्खी है, वहाँ गंदगी न फैले—इसकी व्यवस्था करके सबको गाय रखनेकी अवश्य छूट दे ।

(११) प्रतिदिन सम्पूर्ण गोरक्षाके लिये भगवान्से प्रार्थना की जाय ।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

जनतन्त्रकी रक्षा कैसे हो ?

देशमें चुनाव समाप्त हो गये । सभी जगह नयी सरकारें बन गयीं—कहीं कांग्रेसकी, कहीं विविध दलोंकी मिली-जुली; पर अभीतक कहीं भी शान्तिके साथ केवल देश-कल्याणकी भावनासे सरकारें काम नहीं कर पा रही हैं । इसका कारण है—पद-लोलुपता, अभिमान, आपसकी फूट, एक-दूसरेको अपदस्थ करनेकी इच्छा और क्रिया, परस्परमें कटु आलोचना और एक दूसरेपर मिथ्या अथवा बढ़ाया हुआ दोषारोपण । इस अवस्थामें स्वाभाविक ही देश तथा देश-हित सामने नहीं रहता—रहता है व्यक्तित्व, रहता है अहं और रह जाता है दलगत या अधिकांशतः व्यक्तिगत स्व-अर्थ । यह निश्चित है कि 'स्व' जितना सीमित होता है, उतना ही गंदा होता है और जितना विस्तृत तथा व्यापक होता है, उतना पवित्र । 'स्व' जहाँ देशसे निकलकर दलमें या व्यक्तिमें आ जाता है, वहाँ देशका हित विस्मृत या अत्यन्त गौण हो जाता है और दलका या व्यक्तिका स्वार्थ मुख्य बन जाता है । यही आज प्रायः हो रहा है ।

कांग्रेस हो या अन्य कोई भी दल, हम हैं तो सब भारतीय ही । हमारा सभीका लक्ष्य होना चाहिये—'भारतका कल्याण' (और भारतके कल्याणद्वारा विश्वका कल्याण) । पर जबतक हमारे चरित्रमें सत्य, अहिंसा, प्रेम, भोग-लिप्साका और अर्थका त्याग, सादगी, मितव्ययिता, संयम, परमत-सहिष्णुता, अधिकार-मदका अभाव, अभाव-ग्रस्त दुखी जनताके दुःखोंको अपना दुःख माननेकी वृत्ति, समन्वयात्मक सहयोगकी भावना तथा ईश्वरका भय नहीं आता, तबतक कांग्रेसकी या किसी भी दलकी सरकारें हों और वे एक दूसरेपर चाहे जितना दोषारोपण करती रहें, उनसे देशका कल्याण नहीं होगा ।

जैसे चुनावके समय स्वतन्त्र तथा स्वस्थ निष्पक्ष चुनाव नहीं हुआ और जनतन्त्रके नामपर ऐसी-ऐसी बातें हुईं, जो जनतन्त्रके सिद्धान्तका ही नाश करनेवाली थीं । साम, दाम, दण्ड और भेद—चारों ही उपायोंसे काम लिया गया । वैसा ही—सरकारोंके निर्माणके समय भी हुआ । एक-एक वोटके लिये लाख-लाख रुपयोंका प्रलोभन दिया गया, भय दिखाया गया, अपने दलकी मिथ्या प्रशंसा तथा प्रतिपक्षी दलकी अनर्गल मिथ्या निन्दा की गयी, भेद-नीतिसे बरगलाया गया, आपसमें फूट पैदा की गयी और आगे बैर लेनेकी धमकियाँ दी गयीं आदि । और वस्तुतः इन नीतियोंपर बनी सरकारोंका सहज ही वास्तविक देश-हितके काममें लग जाना बहुत

ही कठिन है; क्योंकि सरकारमें जिन्होंने विभिन्न पद प्राप्त किये हैं, प्रायः सभीका चित्त अभी अशान्त है। वे निश्चिन्त तथा शान्तमनसे देशके हितकी बात सोचें कैसे ? यह किसी दल या व्यक्ति-विशेषकी बात नहीं है। दल तथा व्यक्ति—सब हम ही तो हैं। पराया है कौन ? सीमित स्वार्थने हमारी बुद्धिको तमसाच्छन्न कर दिया है और इसीसे हम अच्छी नीयत होनेपर भी तथा बुराई करनेकी इच्छा न होनेपर भी—'अनिच्छन्नपि', 'बलादिव' भलाईका त्याग और बुराईका ग्रहण कर रहे हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है। ऐसी परस्पर-विरोधी सरकारें बननेके बदले सबकी मिली-जुली राष्ट्रीय सरकारें बनतीं तथा महात्मा गांधीके आदर्शको सामने रखकर रचनात्मक कार्यक्रम सामने रखतीं तो बड़ा कल्याण होता। अभी तो हमारी सारी शक्ति, साधन, विचार, क्रिया परस्परके गिरानेमें खर्च हो रही हैं। इसका कारण यही है कि हमारा जीवन-स्तर ही नीचा हो गया है। यह सभा-मञ्चके व्याख्यानों तथा वक्तव्योंसे नहीं उठ सकता। न कोई कानून ही हममें सुधार कर सकता है। यही कारण है कि अंग्रेजोंके जानेके बादसे घूसखोरी, विलासिता, चरित्रहीनता, वैर-विरोध, हिंसा-प्रतिहिंसा आदि दोष हमारे अंदर बढ़े हैं। यह राष्ट्रव्यापी रोग बातोंसे दूर नहीं होगा। इसके लिये चरित्रशुद्धि तथा चरित्रकी उच्चताकी परमावश्यकता है, जिसका आधार हमारी शिक्षा है। अतएव शिक्षा-पद्धतिमें शीघ्र-से-शीघ्र आमूल परिवर्तन करना होगा। जबतक धर्मशिक्षा नहीं होगी, तबतक सुधारकी आशा बहुत ही कम है।

वर्तमानमें तो सबसे पहले यह काम होना चाहिये कि दलोंकी भावनाको भूलकर सभी सरकारें परस्परमें सहयोग, प्रेम तथा समन्वयात्मक नीतिसे शासन करें। परस्परमें प्रेम तथा आदरका व्यवहार करें। सरकारके उच्च अधिकारी खण्डन-मण्डन छोड़कर केवल देश-हितकी पवित्र दृष्टिसे ही सब बातें सोचें तथा करें। एक प्रदेश दूसरे प्रदेशके अभावको पूर्ण करे तथा एक ही शरीरके विभिन्न अङ्गोंकी भाँति सब सबकी पुष्टि तथा सबके स्वास्थ्य-साधनमें लगे रहें। स्वयं अपने उज्ज्वल तथा पवित्र चरित्रसे सभी विभागोंके सरकारी कर्मचारियोंके तथा जनताके चरित्रको उज्ज्वल तथा पवित्र बनायें और भगवान्‌से प्रार्थना करें कि वे किसीका भी विनाश न करके, सबको सद्‌बुद्धि प्रदान कर, सबको सबका हितैषी तथा सबका कल्याण साधन करनेवाला बनायें। भगवान् सबका मङ्गल करें।

प्रभु-पद-प्रीतिकी प्रेरणा

मन करि ले साहिब से प्रीत।
सरन आये सो सब ही उबरे, ऐसी उन की रीत॥
सुंदर देह देखि मत भूलो, जैसे तृन पर सीत।
काँची देह गिरै आखिर को, ज्यों वारू की भीत॥
ऐसो जन्म बहुरि नहिं पैहौ, जात उमिरि सब बीत।
दास कबीर चढ़े गढ़ ऊपर, देव नगारा जीत॥

—संत कबीरदास

पढ़ो, समझो और करो

(१)

विनयके अवतार लालाबाबू

विनय विद्वान् एवं गुणी पुरुषोंका भूषण है । जो व्यक्ति धनी, विद्वान् और वीर होनेपर भी विनयी है, वह महान् है । एक श्लोक है—

नभोभूषा पूषा कमलवनभूषा मधुकरो
वचोभूषा सत्यं वरविभवभूषा वितरणम् ।
मनोभूषा मैत्री विमलकुलभूषा सुचरितं
सदोभूषा सूक्तिः सकलगुणभूषा च विनयः ॥

बंगालमें ऐसे ही विनयके अवतार श्रीलालाबाबू थे । वे सात्त्विक, वैराग्यवान्, विनयी और सरल-चित्त पुरुष थे । उनकी दानशीलताकी ख्याति दूर-दूर तक फैली थी । स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध—सभीके मुखसे लालाबाबूकी प्रशंसा ही सुनी जाती थी ।

लालाबाबू अपने अतुल ऐश्वर्यको त्यागकर एक साधारण अवस्थाके सामान्य व्यक्तिकी तरह शुद्ध मनसे परमार्थकी चिन्तामें लग गये । वे अकालग्रस्त, दीन-दुखियोंको बड़ी उदारतासे तथा विनम्रतासे अन्न-वस्त्रका दान किया करते थे ।

उन्होंने वृन्दावनमें एक सदाव्रत स्थापित किया था । जो भी भूखे वहाँ जाते, सबको मुफ्त भोजन मिलता था ।

लालाबाबूने वृन्दावनमें भगवान् श्रीकृष्णका विशाल मन्दिर भी बनवाया था ।

सारी वंग-भूमिमें घर-घर लालाबाबूके पुनीत कार्योंकी प्रशंसा होने लगी; किंतु विनयी लालाबाबूके कानोंमें अपनी प्रशंसाकी चर्चा खटकने लगी । जिस महापुरुषने अहंकारको पैरोंतले दबाकर विनय एवं दैन्यको मस्तिष्कका मुकुट बनाया और सारी धन-सम्पत्तिको परोपकार-व्रतमें लगा दिया, वह अपनी प्रशंसा कैसे सुन सकता था ।

वे तो अपनी निन्दा करनेवाले मनुष्योंसे प्रेम करते थे । जब उनकी प्रशंसा चारों ओर होने लगी, तब वे बंग भूमि त्यागकर वृन्दावन चले आये ।

श्रीकृष्णरायजीके मन्दिरमें ही निवासकर वे भजन-चिन्तनमें लीन रहने लगे ।

पर अबतक उन्होंने दीक्षा ग्रहण नहीं की थी । उन दिनों भक्तिमार्गके एक संत बाबा कृष्णदासजी वृन्दावनमें ही निवास करते थे । कृष्णदासजीने 'भक्तमाल' ग्रन्थका बँगलामें अनुवाद किया था । लालाबाबूने इन्हीं वैराग्यवान् भक्त एवं विद्वान् महात्मासे दीक्षा लेनेका निश्चय किया ।

बाबा पहले ही लालाबाबूके आदर्श गुणोंसे परिचित थे । वे हृदयसे लालाबाबूसे स्नेह करते थे । जब लालाबाबू दीक्षा लेनेके लिये बाबाजीके पास पहुँचे, तब बाबाजी बोले—'तुम्हें मन्त्र देनेमें अभी देर है, कुछ समय और ठहरो । तुम्हारे विनयकी अभी और परीक्षा होगी ।'

लालाबाबू बाबाजीकी बात सुनकर विस्मय और विषादमें डूब गये । उनके स्थानपर कोई अभिमानी पुरुष होते तो वे ऐसे अवसरपर दूसरे गुरुकी तलाशमें लगते ! पर लालाबाबूका तो इन्हीं बाबाजीसे दीक्षा लेनेका निश्चय था । उन्होंने सोचकर देखा कि सचमुच उनके जीवनमें अभीतक विनयका पूर्णरूपसे अवतरण नहीं हुआ है । वे विचार करने लगे—

'मैं यद्यपि ठाकुरद्वारेमें एक मुट्ठी भगवान्‌का प्रसाद पाकर आठों पहर उनका नाम जपा करता हूँ, फिर भी मेरे मनसे वैमनस्य, भेदभाव आदि अभी दूर नहीं हुए हैं । मैं सेठजीके सदाव्रतकी तरफ भिक्षा लेने कहाँ गया हूँ । मेरे मनमें अब भी उनके प्रति घृणा एवं ईर्ष्याके भाव हैं । मेरा अन्तःकरण पूर्णरूपसे पवित्र नहीं हुआ है । शत्रु-मित्र, मान-अपमान आदि भेदभावके रहते अहंकार पूरी तरहसे नष्ट नहीं हो सकता ।'

बात यह थी कि जयपुरके एक धनवान् सेठ भी भगवान्‌के भक्त थे । उन्होंने भी वृन्दावनमें भगवान् मुरली-मनोहरका एक रमणीय मन्दिर बनवाया था और एक सदाव्रत भी साधु-संतोंके लिये खोल रक्खा था ।

मथुराके आस-पास इनकी काफी जमीन थी । इसी इलाकेमें लालाबाबूकी भी जमीन थी, जिसकी वार्षिक आय एक लाख रुपयेके लगभग थी । इसी जमीनके सम्बन्धमें दोनों (सेठ और लालाबाबू) में कई दिनोंसे विवाद चल रहा था । झगड़ेके कारण बोल-चाल भी बंद थी ।

लालाबाबू सब जगह भिक्षा माँगने जाते थे किंतु सेठजीके ठाकुरद्वारेकी तरफ उनके पैर नहीं उठते थे । अब इस वैमनस्यका उन्हें अन्त करना था । स्थितप्रज्ञ संत पुरुषके लिये, सच्चे भक्तके लिये अब कौन-सी शत्रुता, ईर्ष्या और कलह । उन्होंने सेठजीके सदाव्रतकी ओर जानेका

निश्चय कर लिया और एक दिन वे सेठजीके सदाव्रतपर पहुँच ही गये।

बंगालके धनी पुरुषको सेठजीके सदाव्रतपर भिक्षुकके वेषमें देखकर मन्दिरके सब कर्मचारी, पुजारी आदि आश्चर्य करने लगे। वे लालाबाबूको भिक्षा देनेमें भी संकोच करने लगे; क्योंकि मन्दिरके मालिकके नाराज होनेका भी उन्हें भय था। दैवयोगसे उस समय सेठजी वहाँ उपस्थित थे। जब सेवकके द्वारा उन्होंने सुना कि लालाबाबू भिक्षा माँगने आये हैं, तब वे नंगे पैरों ही दौड़कर लालाबाबूके पास पहुँचे। लालाबाबूका साधारण वेष और अतुल वैराग्य देख सेठजीका शत्रुभाव सहसा सर्वथा लुप्त हो गया। वे लालाबाबूके पैरोंपर गिर पड़े। लालाबाबूने सेठजीको उठाकर हृदयसे लगा लिया। आज दोनोंके बीच मनोमालिन्य नष्ट हो गया। दोनोंके हृदय पवित्र हो गये। अब शत्रुताकी जगह मित्रताने ले ली। भिक्षा लेकर ज्यों ही लालाबाबू बाहर आये तो देखा कि बाबा कृष्णदास खड़े हैं।

लालाबाबू बाबाजीके चरणोंमें गिर पड़े। बाबाजीने बड़े यत्नसे उन्हें उठाकर गले लगाया और कहा—'लालाजी! आज तुम्हें दीक्षा दी जायगी। तुम आज परीक्षामें उत्तीर्ण हो गये।'

लालाबाबूके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहने लगे!

गुरु-शिष्यका यह मिलन अद्भुत था। ऐसे थे विनयके अवतार लालाबाबू।

(लेखक—प्रा० श्याममनोहर व्यास एम्० एस्-सी०)

(२)

अनजानमें अपराधका दुष्परिणाम और आराधनासे शुभफलकी प्राप्ति

यह उस समयकी एक बिल्कुल सत्य घटना है, जब कि कलकत्तेमें यूरोपियन प्रतिष्ठानोंकी तूती बोलती थी। एक बहुत बड़ी जहाजी कम्पनी थी, जिसके विशाल जहाज सुदूर पूर्व एवं अन्यान्य विदेशोंमें माल लाने, ले जानेका कार्य करते थे। आज भी यह प्रतिष्ठान यहाँ कायम है।

हाँ, तो उन दिनों इस कम्पनीके सबसे बड़े साहब—प्रधान डाइरेक्टर एक अंग्रेज सज्जन थे, जो कुछ ही समय पहले विलायतसे आये थे। उनका सुपुत्र उच्च विद्याध्ययन-हेतु अपनी माताके सहित विलायतमें ही था। ये डाइरेक्टर महोदय अपनी अद्भुत एवं पैनी सूझ-बूझ, गहरी दूरदर्शिता, विलक्षण प्रतिभाके बलपर यहाँ काफी लोकप्रिय हुए और यहाँके लोगोंमें अच्छी तरह घुल-मिल गये।

साहबके विशाल कार्यालयके बिल्कुल पास एक अत्यन्त प्राचीन पीपलका पेड़ था। एक बार जब कि इमारतमें मरम्मतका कार्य चल रहा था, तब उसे अनावश्यक समझकर इन्हीं बड़े साहबके आदेशसे काट दिया गया। किसीने भी साहबको इसके लिये नहीं रोका, अन्यथा वे उसे कभी न कटाते। पेड़के कटकर गिरते समय एक विचित्र चरमराहटकी भयंकर आवाज हुई, जैसे कोई जोरसे देरतक कराह रहा हो। यह मार्मिक ध्वनि बहुत लोगोंको सुनायी पड़ी और लोग घटना-स्थलपर देखनेके लिये एकत्रित हो गये। आकर उन्होंने जो कुछ देखा, उससे वे आश्चर्यसे चकित हो गये एवं किसी भावी आशङ्कासे आतङ्कित हो गये। पेड़मेंसे लाल-लाल रक्तकी-सी निरन्तर धारा बह रही थी। लोग तरह-तरहकी बातें बनाने लगे। कोई कुछ कहने लगा, कोई कुछ। जितने मुँह उतनी बात।

पेड़ कटनेके ठीक सवा महीने बाद साहबके यहाँ अत्यन्त पीड़ा देनेवाली दैवी घटनाएँ घटीं। करोड़ों रुपयोंके मालसे लदे हुए उसके दो जहाज सुदूर देशोंमें अचानक डूब गये। जहाज बिल्कुल नये थे, अतः बीमा कम्पनियोंने भी बिना पूरी जाँच-पड़ताल किये दावोंकी तुरंत अदायगीसे साफ-साफ इन्कार कर दिया, जिससे कम्पनीके व्यावहारिक लेन-देनमें भी एक बड़ी बाधा उत्पन्न हो गयी और एक प्रकारसे आर्थिक संकट उपस्थित हो गया। फिर भी यह संकट तो कष्टसाध्य था; पर इससे भी एक बड़ा संकट उनके सामने और आ गया। उन्हें समुद्री केबल या फोनके जरिये यह हृदयविदारक खबर मिली कि उनका एकमात्र किशोर पुत्र मरणासन्न अवस्थामें गत दो दिनोंसे लंदन अस्पतालमें पड़ा है। डाक्टरोंने उसकी बीमारीको असाध्य एवं अपनी शक्ति-सामर्थ्यसे बाहर घोषित कर दिया। इस समाचारसे साहबको बड़ी मर्म-वेदना हुई। अब क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? कम्पनीका प्रधान होनेके नाते वह इस समय कुछ ऐसी विकट परिस्थितियोंमें जकड़ा हुआ था कि उसका थोड़े समयके लिये भी भारतसे बाहर जाना सम्भव नहीं था। भयंकर विपत्तिमें फँस गया। आर्थिक चिन्तासे भी यह काफी भयंकर थी। साहब इस भयानक चिन्तासे अर्धविक्षिप्त-सा हो गया। वह गत दो दिनोंसे अपने बँगलेसे बाहर नहीं निकला। पुत्रकी बीमारी उसे खाये डालती थी। दिनमें

तीन-चार बार विलायतसे समाचार आता—पुत्रकी हालत ज्यों-की-त्यों है ।

उसी कम्पनीमें एक बहुत पुराना एवं विश्वासी ईमानदार हिंदुस्तानी वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध हेड जमादार था, जो अपनी वफादारी, कर्तव्यपरायणता एवं अपनी स्पष्टवादिताके लिये प्रसिद्ध था । सारी कम्पनीमें उसकी इज्जत थी । बड़े साहब भी उसे बहुत मानते एवं उसकी इज्जत करते थे । वह दरवान साहबके कुछ मुँहलगा भी था । जो काम कम्पनीके बड़े-बड़े पदाधिकारी साहबसे नहीं करा सकते थे, वह काम व्यवहार एवं नीतिकुशल दरवान चुटकियोंमें साहबसे करा लेता था ।

इधर दो दिनोंसे साहबको दफ्तरमें आया न देखकर दरवानको चिन्ता हुई और वह उसी संध्याको उनके घर पहुँचा । साहबका कमरा बंद और बाहर बेहराको देखकर उसका माथा ठनका । बेहरेसे पूछनेपर ज्ञात हुआ कि साहब दो-तीन दिनोंसे न तो कुछ खाता-पीता है और न सोता ही है । पागलकी भाँति एक हाथमें भरी पिस्तौल लिये कमरेमें चक्कर काटता रहता है । यह सुनकर दरवानने घबराकर किसी प्रकार कमरेमें प्रवेश किया । देखा, दुखी साहब सचमुच पागलकी भाँति कमरेके अंदर चक्कर काट रहा है । दरवान-को देखते ही साहबने पुनः दरवाजा बंद कर लिया और दरवान-को देखकर उसकी आँखोंसे अश्रुपात होने लगा; आत्मीयजन-को देखकर आत्मीयता फूट पड़ती है । साहबने भरे कण्ठसे दरवानसे कहा—'एक ही साथ दो भयंकर विपत्तियाँ आ पड़ीं । पर दूसरी तो अत्यन्त भयंकर है । पता नहीं क्या होगा । कुछ सूझता नहीं, क्या करूँ । एकमात्र पुत्र मृत्युके मुखमें पड़ा है, जिसकी चिन्ता मुझे खाये जाती है और ऐसा अभागा हूँ कि इच्छा होते हुए भी इस समय परिस्थिति-वश इंगलिस्तान जा नहीं सकता ।'

'प्रभुपर विश्वास रक्खें—सब ठीक हो जायगा । लड़का भी बच जायगा एवं डूबे हुए जहाजोंका भी पता चल जायगा ।' दरवानने उन्हें धैर्य बँधाया ।

'कैसे धीरज धरूँ—घायलकी गति घायल ही जानता है । मुझे कुछ नहीं सूझता ।' साहबने कहा ।

'तो एक बात कहूँ ?'—दरवान बोला 'बुरा मत मानियेगा, क्योंकि शायद छोटे मुँह बड़ी बात होगी । 'बेहिचक बोलो—तुम्हारी बातोंकी उपेक्षा मैंने कब की है ?' साहबने फरमाया ।

'तो साफ-साफ सुन लीजिये, साहब ! यह सब हरे पीपलके पेड़ काटनेसे ही हुआ है । हमारे धर्ममें पीपलके पेड़को भगवान्का स्वरूप माना गया है । हमलोग तो उसे काटनेकी कल्पना स्वप्नमें भी नहीं कर सकते'—दरवानने कहा ।

'लेकिन पेड़ कटवाते समय स्टाफके किसी व्यक्तिने मुझसे ऐसा कुछ नहीं बताया । खैर, उनकी बात छोड़ो । तुमने मुझे पहले यह सब क्यों नहीं बताया, जो अब पीछे बता रहे हो, जब कि मेरा सर्वस्व जा रहा है ? तुम्हारी हर बातकी मैं कद्र करता हूँ, यह तो तुम जानते ही हो ।' साहबने गम्भीर स्वरसे कहा ।

'आपका कहना सत्य है, साहब ! पर मुझे बतानेका अवसर ही कब मिला । कटनेके पूर्व मुझे अन्य बंदूक-धारियोंके होते हुए भी बड़े बाबूने शायद जान-बूझकर खजानेके साथ बैंक भेज दिया । वापस आया तो पेड़ कटा था । मैं लाचार था ।' दरवानने उत्तर दिया ।

'अब हुआ सो हुआ । यदि इस कष्ट-निवारणका कोई उपाय हो तो बताओ—मुझसे यह महान् अपराध तो हुआ है, पर हुआ है गैरजानकारीसे । किसीने कुछ नहीं बताया । अतः वैसे मैं निरपराध हूँ । निरपराधको तो भगवान् भी क्षमा कर देता है ।'

'साहब ! हमारे प्रभु बड़े दीनदयालु हैं । उन्हें यदि विश्वासपूर्वक याद किया जाय तो वे अवश्य आपकी प्रार्थना सुनेंगे'—दरवान बोला ।

'तो तुम्हीं कुछ करो ।' साहब बोला ।

'जी नहीं—मैं तो दरवानी करता हूँ । यह मेरा काम नहीं । यह कार्य किसी अच्छे विद्वान् कर्मकाण्डी अधिकारी ब्राह्मण पण्डितका है । मेरी जान-पहचानके एक अच्छे सज्जन हैं । मैं उनसे सारी व्यवस्था समझकर बताऊँगा ।' दरवान बोला ।

'शुभ काममें देर क्यों—अभी जाओ एवं उन्हें साथ लेकर आओ । मेरी कार ले लो ।' साहबने आशाजनक शब्दोंमें कहा ।

'तो ठीक है—मैं जाता हूँ; और यदि मिल गये तो उन्हें अभी साथ लेकर आता हूँ । पर यह पिस्तौल आप मुझे दे दीजिये । इस स्थितिमें आपके हाथ इसका रहना ठीक नहीं । इससे अनर्थ भी हो सकता है । प्राणरक्षार्थ होनेकी बजाय यह प्राणघातक भी हो सकता है ।' साहबने उसकी

वफादारीपर प्रसन्न हो पिस्तौल उसे सौंप दिया । धन्य है उसकी आत्मीयता, नेकनीयती एवं वफादारीको ।

दरवान सीधे अपनी जान-पहचानके एक कर्मकाण्डी विद्वान् पण्डितके यहाँ पहुँचा, जो शास्त्रीजीके नामसे प्रसिद्ध थे । शास्त्रीजीसे उसने सारी बातें बतायीं और पूछा कि क्या 'इस अनजानी भूल एवं समस्याका किसी प्रकारसे कोई शास्त्रीय हल या रास्ता निकल सकता है, जिससे साहबको सुख-शान्ति मिले ?' शास्त्रीने कई ग्रन्थोंको उलटने-पलटनेके बाद कहा—'यदि पुनः एक पीपलका छोटा पौधा उसी जगह लगवा दिया जाय और उसका पूजन आदि कराकर वहीं महारुद्र-यज्ञ विधिविधानसहित किया जाय तो दीन-दयालु प्रभु उनका वर्तमान संकट दूर कर सकते हैं । यह मेरा विश्वास है ।'

यह सुनते ही दरवान उन्हें साथ लेकर पुनः साहबके यहाँ पहुँचा और शास्त्रीजीसे साहबकी सारी बातचीत महा-रुद्र-यज्ञ बाबत करा दी । शास्त्रीजीने साहबको हर प्रकारसे ढाढस बँधाया—'आप अब किसी प्रकारकी चिन्ता न करें; क्योंकि हम सब लोग अपनी जानमें उस सर्वोपरि दयालु न्यायकर्ता प्रभुके सामने आपकी अनजानमें हुई भूलको क्षमा करनेकी प्रार्थनामें कोई कसर नहीं रक्खेंगे ।' आप मुझे कलसे ही उसी जगहपर ग्यारह ऋत्विजोंजहित महा-रुद्रयज्ञ करनेकी आज्ञा एवं संकल्प दें । मैं कलसे ही अपने निर्देशनमें वहाँ महारुद्रयागका आयोजन कराता हूँ ।' शास्त्रीजीने कहा ।

'अवश्य-अवश्य पूरी लगन तथा परिश्रमसे प्रयोग शुरू करें । किसी बातकी कमी नहीं रक्खें । बिल्कुल विधिविधान-सहित ही काम होना चाहिये ।' यह कहकर साहबने शास्त्रीजीको विदा किया ।

अब क्या था शास्त्रीजीने ग्यारह चुने-गिने श्रद्धा-सम्पन्न-सदाचारी ऋत्विजोंसहित वहाँ महारुद्रयाग आरम्भ कर दिया, जिससे उस मुहल्ले एवं आस-पासके क्षेत्रोंमें हर्षकी लहर दौड़ गयी । झुंड-के-झुंड लोग दर्शनार्थ आने लगे एवं पहले जो लोग साहबके इस अनजाने कुकृत्यकी निन्दा करते थे, वे सब अब प्रशंसा करने लगे । सबके मुँहसे यही आवाज निकलने लगी कि साहबका संकट अवश्य दूर होगा । साहब भी दिनमें एक बार वहाँ आता और अपने मर्यादित स्थानतक जाकर श्रद्धापूर्वक दर्शन करता, जिससे उसे बड़ा मानसिक बल मिलता । यज्ञारम्भ होनेके कुछ ही पूर्व साहबको जहाँ समाचार मिला था कि पुत्रकी हालत वैसी ही है, वहाँ अब यह समाचार मिला कि—'एक ग्यारह विशिष्ट चिकित्सकोंने विचार-विमर्श करके आखिरी इलाज इंजेक्शन दिया है, जिसके कुछ घंटोंके अंदर होश आ जायगा तो फिर कुछ आगे किया जायगा ।' महान् आश्चर्यकी बात कि जहाँ उसके बचनेकी कोई उम्मीद नहीं थी, वहाँ यज्ञारम्भ होनेके ३६ घंटोंके अंदर ही फिर टेलीफोन आया कि 'लड़केको अचानक किंचित् होश आया है, जब कि लेशमात्र भी आशा नहीं थी । इससे डाक्टरोंको कुछ आशा हुई है; पर निश्चित रूपसे अभी कुछ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि बालक अभी अनर्गल बक रहा है ।' डूबतेको तिनके-का सहारा बहुत होता है । साहबकी यही हालत थी । यह समाचार सुनते ही ऋत्विज लोग भी और अधिक आशान्वित होकर जी-जानसे अनुष्ठान करने लगे । अगले २४ घंटों बाद पुनः टेलीफोनद्वारा साहबको सूचना मिली कि 'लड़के-की हालत पहलेकी अपेक्षा कुछ ठीक है । रुपयेमें दो आना हालत सुधरी है । डाक्टर बराबर आशान्वित होते जा रहे हैं ।' इसी प्रकार उत्तरोत्तर पुत्रकी हालतमें बराबर थोड़ा-थोड़ा सुधार होने लगा ।

इधर अनुष्ठान आरम्भ होते ही साहबका मानसिक बल निरन्तर बढ़ने लगा । उसका मनोबल असाधारण एवं आश्चर्यजनक ढंगसे ऊँचा उठने लगा । जहाँ वह बिल्कुल निराश एवं घबराया-सा रहता था, वहाँ उसमें भी आशाका संचार होने लगा—'व्यापारमें घाटा-नफा रहेगा, इससे क्या डरना; बल्कि स्थितिका सामना करना चाहिये । मेरी कम्पनीकी तो यहाँ तथा सारे अन्ताराष्ट्रीय बाजारमें साख है । शेयर निकालकर पूँजी ली जा सकती है या लोनपर भी पूँजी मिल जायगी । जाँच-पड़तालके बाद तो बीमा कम्पनीसे बीमाके रुपये मिलेंगे ही, फिर चिन्ता क्यों ।' महारुद्रीके प्रभावसे उसके आत्मबल एवं विश्वासमें अत्यधिक दृढ़ता आ गयी और जहाँ वह इन विपत्तियोंसे बिल्कुल कर्तव्य-विमूढ और हतोत्साह हो चला था, वहाँ अब पुनः उसमें नवीन शक्तिका संचार हुआ । पाँचवें दिन उसे रातमें दृष्टान्त हुआ कि जैसे कोई जटा-जूटधारी व्याघ्रचर्म एवं कमण्डल लिये एक संन्यासी महात्मा उससे कह रहा है—'चिन्ता मत करो । बहुत शीघ्र सब कुछ ठीक हो जायगा ।' यह देखकर उसे महान् आश्चर्य हुआ । वह भगवान् शंकरके प्रति पूर्ण

आस्थावान् एवं श्रद्धालु हो गया। उसने अचानक यह सारा परिवर्तन अपनी खास डायरीमें लिखा।

अब तो नित्य प्रतिदिन ही उसके पुत्रके उत्तरोत्तर सुधारके समाचार आने लगे। महायज्ञकी समाप्तिके साथ-साथ ही साहबको खबर मिली कि 'डाक्टरोंने रोगपर काबू पा लिया है और आपका पुत्र अब खतरेसे बाहर है। रुपयेमें आठ आना हालत ठीक है; पर अभी कमजोरी आदिके कारण उसे एक मासतक वहीं अस्पतालमें रहना होगा।' यज्ञकी समाप्ति होते-होते साहबको अपने पुत्रका पत्र भी मिला, जिसमें लिखा था कि उसे गत रात एक विचित्र दृष्टान्त हुआ, जिसमें दिखायी दिया कि एक जटा-जूटधारी महात्मा उसके सिरपर हाथ फेर रहा है और प्रसन्न मुद्रामें कहता है—'चिन्ता मत करो, अब तुम्हारा संकट टल गया है।' यही बात साहबने अपनी डायरीमें दर्ज करते हुए सनातनधर्मकी उदारता, महत्त्व, मर्यादाकी परिपुष्टि की। इधर बीमा कम्पनीसे खबर मिली कि 'दोनों डूबे हुए जहाज पकड़े गये हैं एवं पूर्ण तहकीकात जारी है। माल मिलनेका भी प्रयत्न जारी है। अतः कुल नुकसानका आधा रुपया अविलम्ब शिपरको देनेकी व्यवस्था की गयी है। आधा तहकीकात समाप्त होनेपर मिलेगा।'

अब क्या था। साहबकी कामनाएँ पूर्ण हुईं। उसने दिल खोलकर ऋत्विजोंको दान-दक्षिणादि देकर और हर प्रकारसे संतुष्ट किया। उन ऋत्विजों एवं सभी लोगोंने अब साहबसे आग्रह किया कि जिन भगवान् शंकरकी असीम कृपासे आप संकटमुक्त हुए, उन्हींका इसी चौतरेपर जहाँ महारुद्र-यज्ञ हुआ है एवं पीपलका वृक्ष लगाया गया है, अब एक छोटा-सा मन्दिर बन जाना चाहिये, ताकि यह महत्त्वपूर्ण घटना युग-युगान्तरतक ऐतिहासिक एवं प्रेरणाप्रद बनी रहे। औघड़दानी आशुतोष भगवान् शंकरने आपपर पूर्ण कृपा की है और आपके आराध्यदेव भी अब हो गये हैं।' साहबने इसे बड़ी प्रसन्नतासे स्वीकार किया; क्योंकि वह उनकी दैवी कृपासे पूर्ण प्रभावित था। अब क्या था, लगते हाथ बड़ी धूम-धामसे उसी जगह एक छोटा-सा शिव-मन्दिर बना एवं विधिवत् भगवान् शिव-लिङ्गकी प्राण-प्रतिष्ठा हुई। उस समयके जलसे एवं जनसमूहमें एक विलक्षण मार्मिक दृश्य उपस्थित हुआ, जब कि सजल नेत्रोंसे साहबने हेड जमादारको बुलाकर माला पहनाते हुए सहर्ष कहा—'आजकी इस सारी प्रसन्नताका श्रेय इन्हें ही है। इन्होंने मुझे हर प्रकारसे बचा लिया; नहीं तो, न जाने मैं क्या कर डालता। मैं इनका सदैव कृतज्ञ रहूँगा।' 'यह आप क्या कह रहे हैं'—हेड जमादार बोला। 'करनेवाला प्रभु है। यह शरीर तो निमित्तमात्र है।' यह कहते-कहते प्रसन्नतासे उसके भी नेत्र भर आये। उपस्थित सज्जनोंने देखा कि दोनों ही महानुभावोंके अश्रुपात हो रहे हैं। अपूर्व दृश्य था। अब और अधिक कहने-सुननेकी कोई आवश्यकता नहीं रह गयी थी। साहब गद्गद हो जमादार-को निहार रहा था और जमादार मालिकको। आज भी कलकत्ता शेयरबाजारके निकट स्थित वह भगवान् शिवका देवालय असंख्य-असंख्य जनताकी श्रद्धा-भक्ति-भावनाका प्रतीक बना हुआ है। आज भी वह अपनी आपबीती सुनाकर लोगोंको सत्प्रेरणा दे रहा है।

—वल्लभदास बिन्नानी 'ब्रजेश', साहित्यरत्न, साहित्यालंकार

(३)

गँवार लड़की कैसे सुसभ्य बनी

(डाक्टर दम्पतिका आदर्श व्यवहार)

भरौंचमें डाक्टर नटवरलाल एम्० पारीख और उनकी धर्मपत्नी शान्ता बहिनके जीवनकी एक विशिष्टता है। वे मानते हैं कि प्रभुके सिरजे हुए सब एक समान हैं।

जन-सेवामें प्रभु-सेवा है, इस सिद्धान्तको यथाशक्य जीवनमें उतारनेवाली इस आदर्श दम्पतिके यहाँ धनु नामकी एक दस वर्षकी गड़ेरियेकी लड़की घरके काम-काजके लिये रहती थी। धनु बासन माँजती, कपड़े धोती, बच्चोंको सँभालती—सारांश यह कि डाक्टरके घरका सारा काम-काज करती थी। सबको समान दृष्टिसे देखनेवाले डाक्टर दम्पति उस लड़कीको अपनी सगी लड़कीके समान मानते थे। घरके सभी लोग उसके प्रति स्नेह रखते थे।

धनु गड़ेरियाकी लड़की थी। उस घरमें काम-काजके लिये जब आयी, तब वह दूसरी गड़ेरियाकी लड़कियोंके समान गँवार थी। कपड़ा कैसे पहनना चाहिये, स्वच्छ कैसे रहना चाहिये, विवेकसे कैसे बर्तना चाहिये—इसका उसे जरा भी ज्ञान न था।

परंतु उस डाक्टर दम्पति और उनमें भी खासकर शान्ता बहिनने उसे संस्कारी बनानेका प्रयत्न शुरू किया। फलतः घरके संस्कार और स्वच्छ वातावरणका उसके ऊपर

प्रभाव पड़ा। धीरे-धीरे धनुकी रात्रि-पाठशालामें पढ़ाई भी शुरू हो गयी।

अन्तमें धनु बिल्कुल बदल गयी और इन संस्कारोंके रंगमें रँग गयी। बाहरी आदमियोंको तो ऐसा लगता था कि वह धनु डाक्टरकी ही लड़की है। दिन-पर-दिन बीतने लगे। धनु नवयुवती और विवाहके योग्य हो गयी। गड़ेरियोंमें उस समय बचपनमें ही विवाह हो जाता था। धनुकी सगाई बचपनमें ही सजोद नामक गाँवमें एक गड़ेरियेके लड़केके साथ हो गयी थी।

वह गड़ेरियाका लड़का एक किसानके घर नौकरी करता। जिस किसानके यहाँ वह लड़का नौकरी करता था, उसकी तबीयत खराब हुई और उसी डाक्टरकी दवा उसने शुरू कर दी, जिसके घर धनु नौकरी करती थी। दवासे फायदा होने लगा। बीमारी बिल्कुल दूर हो गयी; तब उस रोगीने डाक्टरके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए एक बातका स्पष्टीकरण किया। उसने डाक्टरको यह बताया कि उनके घर जो लड़की काम करती है, उसकी सगाई उसके घर नौकरी करनेवाले लड़केके साथ हो चुकी है। परंतु उसे ऐसा लगता है कि 'इन दोनोंके बीच जमीन-आसमानका अन्तर है। कहाँ आपके यहाँ काम करनेवाली लड़कीके संस्कार और कहाँ यह उजड्ड और अज्ञानी लड़का! इन दोनोंमें कोई मेल सम्भव नहीं।'

बात भी बिल्कुल सच्ची थी। अन्तमें किसानके कहनेसे वह लड़का ३००) रुपये देकर सगाई तोड़नेपर राजी हो गया। उसे ३००) रुपये देकर डाक्टरने सगाई तुड़वा दी।

लड़की अवस्थापन्न हो गयी थी और विवाहके योग्य थी। इस कारण डाक्टरकी इच्छा हुई कि उसका विवाह किसी गड़ेरियेके साथ कर दें। वरके लिये खोज होने लगी। इसी बीच सूरतके निवासी और पनामामें रहनेवाले कालीदास नानालाल नामक अहीर युवकने सगाईकी माँग करते हुए डाक्टरके पास पत्र भेजा।

डाक्टर-दम्पति विवाहको एक महत्त्वपूर्ण संस्कार मानते थे; इसलिये इसमें खूब सावधानी रखनी चाहिये, ऐसा समझकर उन्होंने उस लड़केको उत्तर दिया कि 'तुम अङ्कलेश्वर आओ, लड़कीको देखो और तुम्हारा मन माने तथा दोनोंको जँचे तो विवाहकी ग्रन्थिसे दोनोंको जोड़ा जा सकता है।'

अमेरिकासे अहीरके उस लड़केने डाक्टरको पत्रद्वारा सूचित किया कि 'सूरतमें मेरी माँ रहती है। मेरी माँ लड़कीको देखेगी और पसंद कर लेगी तो मेरी भी पसंदगी हो जायगी।' इस पत्रका डाक्टर दम्पतिके ऊपर अच्छा असर पड़ा। उनको ऐसा लगा कि अमेरिकामें पनामा-जैसे शहरमें रहनेपर भी जिसे अपनी माँके प्रति इतना प्रेम है, ऐसी श्रद्धा है, जरूर वह लड़का संस्कारी होगा।

लड़केकी माँ अङ्कलेश्वर आयी और लड़कीको देखते ही ब्याहकी स्वीकृति दे दी। डाक्टर दम्पति विवाहको बहुत ही महत्त्वकी दृष्टिसे देखते थे; इसलिये उन्होंने फिर उस लड़केको अमेरिका पत्र लिखकर उसकी माँकी स्वीकृतिकी सूचना दी और उसे स्वयं आकर देख लेनेके लिये लिखा।

अन्तमें अमेरिकासे वह अहीरका लड़का आया। दोनोंमें बातें हुईं और दोनोंकी सम्मतिसे विवाह हुआ।

डाक्टर दम्पति पागल हरनाथपर अचल श्रद्धा रखते थे। इस कारण धनु भी पागल हरनाथके ऊपर अचल श्रद्धा रखती थी। विवाह हो जानेके बाद धनुको पता लगा कि अमेरिकामें रहनेवाले जिस लड़केके साथ उसका विवाह हुआ, उस लड़केने भी एक रात स्वप्नमें देखा कि पागल हरनाथ प्रकट हुए हैं और कहते हैं कि 'भारतमें रहनेवाली इस लड़कीके साथ ब्याह कर, तेरा वैवाहिक जीवन सफल होगा।'

यह बात सुनकर धनुकी हरनाथके प्रति श्रद्धा और भी बढ़ गयी। पूर्ण शास्त्रोक्त विधिसे विवाह हुआ। डाक्टर नटवरलाल पारीख और श्रीमती शान्ता बहिनने विवाहोत्सव ऐसे समारोहसे किया मानो उनकी अपनी लड़की ब्याही जाती हो। लड़केके तथा लड़कीके माँ-बाप और कुटुम्बके लोग भी बड़ी उमंगसे विवाहमें सम्मिलित हुए। ब्याहके बाद लड़का अमेरिका चला गया और कुछ समय बाद वह लड़की भी अमेरिका गयी।

आज उस अहीरका परिवार सब प्रकारसे सुखी है, धन भी काफी कमाता है। घरमें मोटर है। उनके चार बालक हैं और चारों ही पढ़ रहे हैं। आज भी अमेरिकासे धनुके पत्र डाक्टर नटवरलाल पारीख और शान्ता बहिनके पास आते हैं। धनका सदुपयोग भी धनु खूब करती है। अभी-अभी भरौंचमें पागल हरनाथके मन्दिरका उद्घाटन हुआ है और उसका बहुत-सा खर्च धनुने वहन किया है।

धनु डाक्टर दम्पतिको अपने माता-पिता-जैसे ही मानती है। डाक्टर दम्पति भी धनुको अपनी पुत्री-जैसी मानते हैं।

अङ्कलेश्वरमें डाक्टरके घर बासन माँजती और घरका काम-काज करती हुई एक गड़ेरियाकी लड़की संस्कारके रंगमें रँगकर अमेरिकामें सुखी जीवन बिता रही है।

शान्ता बहिनके ये शब्द मेरे कानमें सदा गूँज रहे हैं कि 'मानव चाहे जिस जातिमें जन्म ले, तथापि उसमें संस्कारका बीजारोपण हो सकता है।'

—'पटेल काका'

(मगनलाल माधवदास पटेल)

(४)

भिखारीकी ईमानदारी

लगभग एक वर्ष पहलेकी बात है। हमारे पड़ोसमें एक मुकुन्द नामका ब्राह्मण रहता था। उसके संतान नहीं थी। वह सुबह-शाम झोली लेकर घर-घर भीख माँगकर अपना गुजारा करता था। घरमें अकेला ही रहता था।

एक दिन वह गाँवसे दूर एक अरहटपर स्नान करने जा रहा था। वापस आते समय उसने देखा—रास्तेमें एक छोटी-सी कपड़ेकी पोटली पड़ी है। उसने उसको उठा लिया और चलते-चलते खोला। उसमें एक हजार रुपये नगद तथा कुछ रेजगारी थी। रुपये देखकर एक बार तो उसे बड़ी खुशी हुई। वह खुशी-खुशी पोटली लिये घर आया। सोचने लगा कि मुझे कितना धन मिला है, अब तो मैं आरामसे अपना जीवन बिताऊँगा। परंतु दूसरे ही क्षण उसकी अन्तरात्माने उसको सावधान किया—जिसका यह पैसा है, उसको ही वापस मिलना चाहिये। उसकी आत्माने उसको एकदम जाग्रत् कर दिया। वह जिस रास्तेसे आया था, उसीसे लौट चला और एक गाँवमें पहुँचा। वहाँ जाकर वह सरपंचसे मिला। उसने सारे गाँवमें यह सूचना करवा दी कि एक बूढ़े व्यक्तिको एक हजार रुपये तथा कुछ रेजगारीकी एक पोटली मिली है। जिस किसीकी हो, वह ईमानदारीसे आकर निशानी बताकर ले जाय। इसी बीचमें एक युवक रोता हुआ आया और बोला—'मेरे रुपये यहाँ गिर गये थे। मैं अपना एक बैल मेलेमें बेचकर आ रहा था। रास्तेमें रुपयोंकी पोटली गिर गयी।' मुकुन्दको दया आ गयी और उसने ईमानदारीसे रुपये उसको दे दिये। वह अत्यन्त आप्यायित हो गया। इसके बदलेमें उसने मुकुन्दको एक सौ रुपये देने चाहे, परंतु उसने साफ इन्कार कर दिया। बहुत आग्रह करनेपर उसके घर भोजन करना स्वीकार किया। घटना बिल्कुल सत्य है।

—श्यामसुन्दर 'जाला'

देवलीकछा—पाली

(५)

दाँत-दाढ़के दर्दकी अनुभूत रामबाण दवा

नियमित रूपसे मंजन न करने, अन्नादिका कुछ अंश अंदर रह जाने, शरीरमें खूनके अंदर 'फासफोरस 'एवं' कैल-शियम'की कमी और अधिकतर गरम-गरम खाद्य पदार्थ खाने-पीनेके तुरंत बाद ठंडा जल पीनेके फलस्वरूप दाँत-दाढ़के मसूढ़ोंमें सूजन पैदा हो जाती है, दाँत सड़ जाते हैं तथा दाढ़में सूराख भी हो जाता है, जिसको 'कानी' होना कहते हैं।

दाढ़का दर्द 'केरिज' (Caries) बड़ा ही भयानक वेदनाजनक होता है। रोगीको चैन नहीं लेने देता। इस दर्दमें रोगी न खा-पी सकता है और न नींद ही ले पाता है।

दवा-प्रयोग—इस दवाका अंग्रेजी नाम है **कैलशियम लेक्टास**। चूने-जैसा सफेद रंगका पाउडर होता है। ऐलोपैथिक चिकित्सा-केन्द्रोंपर एवं अंग्रेजी दवा बेचनेवालोंके यहाँ मिल सकती है। सस्ता भी है। दो तोले ले आइये। ४ माशा करीब एक बारमें लेकर दिनमें ३ बार मंजनकी तरह जहाँ दर्द हो तथा दर्दके इर्द-गिर्द अँगुलीसे मलिये। यदि कानी (केरिज) हो तो ऐसी कोशिश कीजिये जिसमें दवाका कुछ अंश सूराखमें चला जाय। यह मलनेकी क्रिया पाँच मिनट तक करते रहिये। दवासे सना थूक या लार गलेमें न उतारकर बाहर ही थूक देना चाहिये। भूलसे अंदर चला भी जाय तो हानि भी नहीं होती। एक दिनमें ही आराम मिल जायगा, फिर भी दूसरे दिन इस क्रियाको फिर कीजिये। मैंने बहुत-से रोगियोंपर इसका प्रयोग किया है और शतप्रति सफलता पायी है।

कोई सज्जन यह कार्य लोभ-लालचवश न करें। केवल 'पर हित सरिस धरम नहिं भाई'के सिद्धान्तपर ही सेवाके भावसे करें। किसी भाईको यदि दवा कहीं न मिले तो उनके लिखनेपर मैं बिना मूल्य भेज सकूँगा।

—मदनलाल काबरा 'सकल्पपाल' ए० एच०

पो०—छापडेल, त० कोटड़ी निवासी हमीरगढ़के

जिला—भीलवाड़ा (राजस्थान)

बिहारका भयानक अकाल

बिहारके अधिकांशमें अन्न-जलका भयानक अभाव है। मनुष्यों और गौओंकी बड़ी दुर्दशा है। उत्तरप्रदेश तथा राजस्थानमें भी कई स्थानोंमें अकाल है। बिहारमें सरकारने अकाल घोषित कर दिया है, पर मनुष्य और गौकी रक्षाके लिये जैसी व्यवस्था अपेक्षित है, वैसी सरकार अभी नहीं कर पायी है। बिहारमें ईसाई संस्थाएँ इस समय सहायताका बहुत बड़ा कार्य कर रही हैं। स्वाभाविक ही सेवाकार्यके साथ ईसाई-धर्मका भी विस्तार होगा ही। बहुत योग्य, सेवापरायण ईसाई सज्जन वहाँ गये हुए हैं, धनकी प्रचुरता है और सेवा करना जानते हैं। अतएव उनकी सेवा लोगोंको प्रिय भी हो रही है। सरकार, जनता तथा देशवासी पर्याप्त सेवा न कर सकें और उन लोगोंको उनके ईसाई होनेके नाते सेवा करनेसे रोका जाय, यह सम्भव नहीं और उचित भी नहीं। असलमें तो हम भारतीयोंका यह कर्तव्य है कि किसी भी प्रदेशकी पीड़ाको अपनी ही पीड़ा मानकर—सब लोग उस पीड़ाको दूर करनेमें जी-जानसे लग जायँ।

हमारी प्रधान मन्त्री श्रीइन्दिराजी प्रयत्न कर रही हैं, विभिन्न संस्थाओंकी ओरसे भी सराहनीय सेवा-कार्य हो रहा है। सरकार भी कर रही है; परंतु जितना आवश्यक है, उसकी दृष्टिसे अभी बहुत कुछ त्रुटि है। पशुरक्षाका प्रश्न भी बिहारमें बहुत बड़ा है। ऐसा समाचार मिला है—साठ लाख गौएँ बिहारमें सूखा-पीड़ित हैं। वहाँ सहस्रों गौएँ मर गयी हैं। काफी मात्रामें गौओं-का निर्यात हो रहा है, जो सरकारको तुरंत बंद कर देना चाहिये। 'बम्बई जीवदयामण्डल', 'बिहार राज्य-गोशाला-पिंजरापोल संघ', 'महाराष्ट्र राज्य-गोशाला-पिंजरा-पोल संघ', 'केन्द्रीय रिलीफ कमेटी बम्बई' तथा 'बिहार रिलीफ कमेटी' के संरक्षण और तत्त्वावधानमें एक लाख गोवंशकी रक्षाका प्रयत्न किया जा रहा है। प्रसिद्ध पुराने गोसेवक प्राणिमित्र श्रीधर्मलालजी महान् प्रयत्न कर रहे हैं। 'भारत-गो-सेवक-समाज' के मन्त्री श्रीजयन्ती-लालजी मानकर, जिन्होंने जीवनभर अकाल-सेवाका कार्य किया है और जो अत्यन्त सदय-हृदय होनेके साथ ही व्यवस्था करनेमें अत्यन्त निपुण हैं, वहाँ गये हुए हैं। 'गोरक्षा-महाभियान-समिति' के श्रीविश्वम्भरप्रसादजी शर्मा भी वहाँ गये थे और महाभियान-समितिकी ओरसे भी वहाँ चारा-केन्द्र खोलनेपर विचार हो रहा है।

गीताप्रेस-सेवा-दलकी ओरसे भी कुछ सेवा-कार्य हो रहा है। उससे भी लोगोंको यत्किंचित् सहारा मिल रहा है, पर वह अभी नगण्य है। काम बढ़ानेका विचार हो रहा है। हमारे बिना माँगे ही इधर कुछ सहायता बाहरसे आयी है, पर वह अभी बहुत कम है।

बिहारमें मनुष्य और गोवंश दोनोंकी ही बड़ी दयनीय दशा है। हमारे पास जो सहायता आयेगी, उसमें मानव-सेवाका कार्य तो 'गीताप्रेस-सेवादल'के द्वारा होगा और जो गोवंशकी सेवाके लिये सहायता भेजेंगे, वह सेवाकार्य श्रीमानकरजी तथा शर्माजीकी देखरेखमें किया जायगा।

उपासना-अङ्क

'कल्याण' का आगामी विशेषाङ्क

यह निश्चय किया गया है कि निम्नलिखित सूचीके अनुसार तथा और भी उपयोगी सामग्रीका संग्रह हो गया तो 'कल्याण' का आगामी विशेषाङ्क 'उपासना-अङ्क' के नामसे प्रकाशित किया जायगा। इस अङ्कमें उपासनाके महत्त्वपूर्ण विविध विषयोंपर अनुभवी साधकों तथा विद्वान् शास्त्रज्ञ पुरुषोंके लेखोंका तथा अन्यान्य उपयोगी सामग्रीका प्रकाशन होगा। हमारी विनीत प्रार्थना है कि उपासना-तत्त्वके ज्ञाता, अनुभवी तथा साधक पुरुष एवं इन विषयोंके मर्मज्ञ विद्वान् लेख भेजनेकी कृपा करें। लेख शुद्ध स्पष्ट अक्षरोंमें, कागजकी एक पीठपर कुछ हासिया छोड़कर लिखा जाय। संस्कृत मन्त्रों-श्लोकोंका हिंदी अनुवाद भी रहे। हिंदीके अतिरिक्त संस्कृत, बँगला, मराठी, गुजराती और अंगरेजीमें भी लेख भेज सकते हैं। लेख बहुत बड़ा न हो—यथाशक्य पुनरुक्तियोंसे रहित हो। लेख अगस्तके अन्ततक अवश्य कृपा करके भेज दें।

लेखके प्रकाशित होनेका निश्चय लेख देखनेके पश्चात् ही हो सकेगा। विषय-सूची नीचे प्रकाशित है।

विनीत—सम्पादक 'कल्याण'

उपासना-विशेषाङ्ककी प्रस्तावित विषय-सूची

१—वैदिक उपासना।
- (१) उद्गीथविद्या।
- (२) उपकोशलविद्या।
- (३) पञ्चाग्निविद्या।
- (४) संवर्गविद्या।
- (५) मधुविद्या।
- (६) शाण्डिल्यविद्या।
- (७) पर्यङ्कविद्या।
- (८) अग्निविद्या—इत्यादि।

२—आगमके अनुसार वरिवस्या (उपासना)-रहस्य।

३—कामकला-विज्ञान (इस प्रसङ्गमें अग्नितत्त्व, सोमतत्त्व तथा सूर्यतत्त्वका स्वरूप-निरूपण)।

४—कामकला-तत्त्वमें सृष्टि तथा संहारका रहस्य निहित है।

५—हार्ध-कला।

६—अहंग्रह-उपासना।

७—प्रतीक-उपासना।

८—श्रीचक्र-लेखन-प्रक्रिया (बाहरसे भीतरकी ओर और भीतरसे बाहरकी ओर)।

९—श्रीचक्र-उपासना।

१०—श्रीचक्रके अवयव और उनका रहस्य।

११—अन्य देवताओंके चक्र-लेखन-प्रकार।

१२—अङ्क-यन्त्र तथा मन्त्र-यन्त्रका पार्थक्य (उपासनामें)।

१३—मार्ग-भेद—अनुपाय और शाम्भव उपाय, शाक्त उपाय, आणव उपाय।

१४—अधिकार-भेदसे मार्गभेदकी व्यवस्था।

१५—प्रतिमार्गका सविस्तर वर्णन।

१६—ज्ञानकी सप्तभूमियाँ।

१७—अज्ञानकी सप्तभूमियाँ।

१८—अद्वैत-साधनमें उपासना-मार्ग तथा विचार-मार्गका परस्पर भेद।

१९—अमनस्क योग।

२०—समना शक्तिसे उन्मना शक्तिमें प्रवेश।

२१—शाम्भवी अथवा भैरवी मुद्राका स्वरूप और इसकी साधन-प्रणाली।

२२—शाम्भवी मुद्राका उद्देश्य।

२३—चतुर्विध वाक्तत्त्वका स्वरूप-निरूपण और वाक्-साधना।

२४—वैखरी भूमिसे पश्यन्तीपर्यन्त अथवा परापर्यन्त जानेका विवरण।

२५—जप-विज्ञान।

२६—मन्त्रके दोष तथा दोषक्षालन।

२७—अजपा-रहस्य।

२८—आरोप-साधन और इसकी प्रक्रिया।

२९—त्राटकमुद्राका रहस्य।

३०—शुद्ध विद्याका उदय और उसका क्रम-विकास।

३१—शुद्ध विद्यामें ज्ञान तथा क्रियाका परस्पर सम्बन्ध।

३२—अष्टाङ्गयोग-साधना।

३३—षडङ्गयोग-साधना।

३४—बौद्ध-षडङ्गयोग तथा आगम-षडङ्गयोगका भेद।

३५–वौद्ध-योगके प्रकार-भेद और प्रति प्रकारका विवरण ।
३६–वज्रयोगका उद्देश्य ।
३७–प्रातिभ ज्ञान अथवा अनौपदेशिक ज्ञानकी महिमा ।
३८–सहज साधना ।
३९–अनुपाय मार्गकी साधनासे सहज साधनाका भेद ।
४०–ज्ञान तथा अज्ञानके बौद्ध तथा पौरुष भेदका विवरण ।
४१–पौरुष अज्ञान-निवृत्तिका उपाय ।
४२–बौद्ध अज्ञाननिवृत्तिका उपाय ।
४३–जीवन्मुक्तिके लिये बौद्ध-ज्ञानकी आवश्यकता ।
४४–मलत्रयका रहस्य—इस प्रसङ्गमें आणवमल, मायामल तथा कर्ममलका विवेचन ।
४५–आत्म-प्रत्यभिज्ञाका रहस्य ।
४६–युगल अथवा यामल तत्त्वका विवेचन ।
४७–युगनद्ध स्वरूप ।
४८–पूर्णाहंता-रहस्य ।
४९–गायत्री-उपासनाका विज्ञान ।
५०–त्रिपदा गायत्री ।
५१–गायत्रीका चतुर्थ पाद ।
५२–आम्नाय-भेद ।
५३–पूर्वाम्नाय, दक्षिणाम्नाय, पश्चिमाम्नाय तथा उत्तराम्नायका सरल विवेचन ।
५४–दीक्षाका स्वरूप और प्रकार-भेद ।
५५–अभिषेक-तत्त्व—शाक्ताभिषेक, पूर्णाभिषेक आदिका रहस्य ।
५६–आवर्तनका रहस्य—दक्षिणावर्तन तथा वामावर्तनका भेद ।
५७–ऊर्ध्व-आम्नाय-तत्त्व ।
५८–समय-दीक्षा ।
५९–साधक-दीक्षा ।
६०–आचार्य-दीक्षा ।
६१–दीक्षा-प्रवृत्तिका स्वरूप—उसमें पाशक्षय तथा शिवत्व-योजनका तत्त्वनिरूपण ।
६२–विभूति-रहस्य ।
६३–खण्ड-विभूति तथा महाविभूतिका भेद ।
६४–सर्वात्मतारूप महाविभूतिका स्वरूप ।
६५–उपासनाका स्वरूप-निरूपण और अधिकार-भेदसे भेद ।
६६–नाड़ी-विज्ञान—देहस्थ सभी प्रसिद्ध नाड़ियोंके नाम तथा क्रियाओंका विवरण ।
६७–नाड़ीशुद्धि और उसका फल ।
६८–इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना, वज्रिणी, चित्रिणी तथा ब्रह्मनाड़ीका स्वरूप तथा कार्य-विवरण ।
६९–रूप-सेवाका रहस्य ।
७०–गुरुपङ्क्ति तथा ओघत्रय—इसमें दिव्यौघ, सिद्धौघ तथा मानवौघ गुरुओंका विवरण । इस प्रसङ्गमें गुरु, परम गुरु, परमेष्ठी गुरु तथा परात्पर गुरुका स्वरूप-निरूपण ।
७१–विहंगम-मार्ग तथा पिपीलिका-मार्गका भेद ।
७२–श्रीविद्या-तत्त्व ।
७३–कादि, हादि, कहादिके भेद ।
७४–सादि विद्याका रहस्य ।
७५–मधुमती-रहस्य ।
७६–गुरु-पादुका ।
७७–गुरु-पादुकासे उन्मना तथा समना त्रिकोणका सम्बन्ध ।
७८–परम पदका स्वरूप ।
७९–परब्रह्मका स्वरूप ।
८०–भक्ति-साधना ।
८१–नवधा भक्ति ।
८२–साधन-भक्ति तथा फलरूपा भक्ति ।
८३–विधि-मार्गके साधन तथा राग-मार्गके साधनमें भेद—इसी प्रसङ्गमें मर्यादा-भक्ति तथा पुष्टिभक्तिका भेद-निरूपण ।
८४–रागात्मिका भक्ति तथा रागानुगा भक्तिका भेद ।
८५–भक्तिका क्रम-विकास—पराभक्ति, परमाभक्ति आदि ।
८६–भाव-साधना ।
८७–भाव-साधनामें आश्रय तथा विषय आलम्बनका स्वरूप-विचार ।
८८–महाभावका स्वरूप ।
८९–भावसे महाभावका सम्बन्ध ।
९०–रस-तत्त्वका विश्लेषण ।
९१–भावसे रसपर्यन्त प्रगति ।
९२–भगवान्‌की स्वरूपशक्तियोंका विलास—संधिनी, संवित् तथा ह्लादिनीका परस्पर सम्बन्ध ।
९३–कुञ्जलीला एवं निकुञ्जलीलामें भेद ।
९४–तन्त्रदृष्टिसे भाव तथा आचारका सम्बन्ध ।
९५–पशुभाव, वीरभाव तथा दिव्य भावका विचार ।
९६–पशुभावमें स्व-स्वभाव तथा विभावका विचार ।
९७–वीरभावमें विभाव तथा स्व-भावका विचार ।
९८–दिव्य भावका रहस्य—प्रसङ्गतः दक्षिणाचार, वामाचार तथा सिद्धान्ताचारका स्वरूप, अधिकार तथा भेद ।
९९–कुमारी तथा कुमारी-उपासना ।
१००–कलाओंके भेदसे कुमारीका भेद ।

१०१–पञ्चदशी, षोडशी तथा सप्तदशी विद्याका स्वरूप ।
१०२–बिन्दु तथा विसर्ग-तत्त्वका रहस्य ।
१०३–षट्चक्रोंका रहस्य ।
१०४–चक्रभेदका तात्पर्य ।
१०५–गुप्त चक्रोंका विचार ।
१०६–महाशून्य तथा भ्रमरगुहाका रहस्य ।
१०७–हठयोगका यथार्थ स्वरूप-निरूपण ।
१०८–वायुक्रिया तथा चित्तक्रियाका परस्पर सम्बन्ध ।
१०९–प्राणायामके भेद तथा विज्ञान ।
११०–नादानुसंधानका रहस्य ।
१११–अमरोली, वज्रोली तथा सहजोलीका रहस्य ।
११२–बौद्धसाधनमें आनापान-स्मृतिका रहस्य ।
११३–कुण्डलिनी-तत्त्व ।
११४–परा कुण्डलिनी, शक्ति-कुण्डलिनी तथा प्राण-कुण्डलिनी-का तत्त्व ।
११५–ऊर्ध्वकुण्डलिनी तथा अधःकुण्डलिनीका भेद ।
११६–आसनके भेद तथा प्रति आसनका फलगत वैशिष्ट्य ।
११७–चित्तका परिकर्म—मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा ।
११८–बिन्दु, नाद तथा कला-तत्त्व ।
११९–भवाङ्ग-स्रोत तथा वीथिचित्तका विवरण ।
१२०–बौद्ध-साधनमें परिग्रह-निमित्त, उद्ग्रह-निमित्तादि प्रवृत्तियोंका स्वरूप-निरूपण ।
१२१–कुशल-मूलका क्रम-विकास ।
१२२–अग्रधर्म-उत्पत्तिका हेतु ।
१२३–निर्वेधभागीय तथा मोक्षभागीय संस्कारका विचार ।
१२४–स्पन्दविज्ञानका रहस्य ।
१२५–खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी शक्तियोंका स्वरूप तथा कार्य ।
१२६–ब्रह्मचर्यसाधनका रहस्य ।
१२७–बिन्दु-सिद्धिकी प्रक्रिया ।
१२८–ऊर्ध्वरेता होनेका उपाय ।
१२९–कैवल्यगत भेद ।
१३०–विशुद्ध विज्ञान-कैवल्य, अशुद्ध विज्ञान-कैवल्य तथा प्रलय-कैवल्यका भेद ।
१३१–परा-त्रिंशिका-रहस्य ।
१३२–मातृका-तत्त्व तथा मातृका-चक्र ।
१३३–पूर्व कौल तथा उत्तर कौलमें भेद ।
१३४–अन्तर्याग तथा बहिर्याग ।
१३५–पुत्रक-दीक्षा ।
१३६–पाशुपत साधना ।
१३७–न्यासविज्ञान ।
१३८–षोढान्यासकी महिमा ।
१३९–मातृकान्यास तथा मालिनीन्यास ।
१४०–वीरशैव-सम्प्रदायकी साधना ।
१४१–रसेश्वर-सम्प्रदायकी साधना ।
१४२–उन्मीलन-समाधि तथा निमीलन-समाधि ।
१४३–सविकल्प समाधि तथा निर्विकल्प समाधि ।
१४४–सम्प्रज्ञात समाधि तथा असम्प्रज्ञात समाधि ।
१४५–क्रममार्गका विज्ञान ।
१४६–लिङ्गोद्धार-रहस्य ।
१४७–सद्यःसमुत्क्रमण-दीक्षा ।
१४८–ज्ञान-कर्म-समुच्चय—सम समुच्चय तथा विषम समुच्चय ।
१४९–उत्क्रमण-विज्ञान तथा 'दशम द्वार'का रहस्य ।
१५०–काय-साधना—वायुमूलक, मन्त्रमूलक तथा द्रव्यमूलक ।
१५१–'ॐ'का रहस्य ।
१५२–मृतोद्धरण-दीक्षा ।
१५३–एकायन मार्ग, शरणागति तथा प्रपत्ति ।
१५४–दिव्यकरण ।
१५५–'केवल' कुम्भककी महिमा ।
१५६–मानस-पूजा ।
१५७–कालचक्र-रहस्य ।
१५८–कालसंकर्षिणी विद्या ।
१५९–परा-प्रासाद तथा प्रासाद-पराका भेद ।
१६०–शव-साधना ।
१६१–पुरश्चरण-रहस्य ।
१६२–स्वाध्याय और योगका परस्पर सम्बन्ध ।
१६३–मन्त्रार्थविज्ञान तथा मन्त्रचैतन्य ।
१६४–मन्त्रके विभिन्न अर्थोंका विवरण ।
१६५–मन्त्रकी सुषुप्ति तथा जागरण ।
१६६–मन्त्र-साधनामें कुल्लूका सेतु, महासेतु, निर्वाण-प्रवृत्तिका रहस्य ।
१६७–माला-जप ।
१६८–मालाके भेद ।
१६९–वर्णमाला, करमाला इत्यादि ।
१७०–देवता-भेदसे माला-भेदका रहस्य ।
१७१–योनि-मुद्रा-रहस्य ।
१७२–आसन-तत्त्व और आसनके प्रकार-भेद ।
१७३–उपासनामें आवाहन, संस्थापन, संनिधापन, संनिरोध, सम्मुखीकरण, अवगुण्ठन प्रभृतिका रहस्य ।
१७४–सकलीकरण-तत्त्व ।
१७५–परमीकरण ।

१७६–ब्रह्म-उपासनामें सगुण तथा निर्गुणका भेद ।
१७७–हठयोगके षट्कर्म—नेति, धौति, वस्ति, त्राटक, नौलि इत्यादि ।
१७८–कपालभाति ।
१७९–प्रदक्षिण-तत्त्व परिक्रमा-रहस्य ।
१८०–प्राण-प्रतिष्ठा ।
१८१–मन्त्रसंहिताओंमें उपासना-तत्त्व ।
१८२–ब्राह्मणों तथा आरण्यकोंमें उपासना ।
१८३–उपनिषदोंमें उपासना ।
१८४–स्मृतियोंमें उपासना ।
१८५–पुराणोंमें उपासना ।
१८६–वैष्णवतन्त्रोंमें उपासना ।
१८७–शैवतन्त्रोंमें उपासना ।
१८८–शाक्ततन्त्रोंमें उपासना ।
१८९–जैनधर्ममें उपासना ।
१९०–बौद्धधर्ममें उपासना ।
१९१–हीनयानी उपासना ।
१९२–महायानी उपासना ।
१९३–वज्रयानी उपासना ।
१९४–नाथपंथमें उपासना ।
१९५–सिद्धपन्थमें उपासना ।
१९६–उपासनामें योग ।
१९७–उपासना तथा ज्ञानमार्ग ।
१९८–उपासनामें भक्तितत्त्व ।
१९९–कर्मयोग और उपासना ।
२००–उपासनामें मन्त्रोंका उपयोग ।
२०१–उपासनामें अधिकारविचार ।
२०२–उपासनामें शिष्यतत्त्व ।
२०३–उपासनामें गुरुतत्त्व ।
२०४–गुरुका स्वरूप, योग्यता तथा उपयोग ।
२०५–श्रीमद्भागवतमें उपासना-रूप ।
२०६–शैवपुराणोंमें उपासना ।
२०७–देवीभागवतमें उपासना ।
२०८–पद्मपुराणमें वैष्णवी उपासना ।
२०९–वैदिकदर्शनमें उपासना ।
२१०–उपासनाका स्वरूप भिन्न-भिन्न दर्शनोंके संदर्भमें ।
२११–श्रीवैष्णवमतमें उपासना ।
२१२–निम्बार्कमतमें उपासना ।
२१३–मध्वमतमें उपासना ।
२१४–चैतन्यमतमें उपासना ।
२१५–वल्लभमतमें उपासना ।
२१६–पारसीमतमें उपासना ।
२१७–यहूदीमतमें उपासना ।
२१८–ईसाईमतमें उपासना ।
२१९–इस्लाममतमें उपासना ।
२२०–सूफीमतमें उपासना ।
२२१–कुरानमें मान्य उपासना ।
२२२–बाइबलमें मान्य उपासना ।
२२३–उपासना तथा चौरासी सिद्ध ।
२२४–उपासक-सम्प्रदाय ।
(१) वैष्णव-सम्प्रदाय ।
(२) शैव-सम्प्रदाय ।
(३) शाक्त-सम्प्रदाय ।
(४) गाणपत्य-सम्प्रदाय ।
(५) सौर-सम्प्रदाय ।
२२५–पञ्चदेवोपासना ।
२२६–श्रीरामोपासना एवं श्रीकृष्णोपासना ।
२२७–विभिन्न देवी-देवताओंकी उपासना ।
२२८–विभिन्न भगवदवतारोंकी उपासना—नृसिंहोपासना, हयग्रीवोपासना, दत्तात्रेयोपासना आदि ।
२२९–नाना आचार्योंकी उपासना—उनका स्वरूप तथा विवेचन।
२३०–तुलसीदासकी उपासना ।
२३१–सूरदासकी उपासना ।
२३२–निर्गुणमतके संतोंकी उपासना ।
२३३–व्रजभक्तोंकी उपासना ।
२३४–उपासनासे लौकिक लाभ ।
२३५–उपासनासे लाभके सच्चे दृष्टान्त ।
२३६–उपासनासे पारमार्थिक लाभ ।
२३७–ईश्वरोपासना और देवोपासना ।
२३८–नवग्रह-उपासना ।
२३९–उपासनासे सिद्धि ।
२४०–उपासनाकी आवश्यकता ।
२४१–उपास्य देवताओंके ध्यान एवं मन्त्रादि ।
२४२–दिवंगत सिद्ध उपासकोंके उपासना-सम्बन्धी अनुभव तथा चरित्र ।
२४३–तन्त्र, भक्ति तथा उपासनाके नामपर दम्भ-पाखण्डका प्रसार ।

वर्ष ४१] * * * [अङ्क ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,५०,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण २०२४, जुलाई १९६७

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ८.५० विदेशमें १५.६० (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत-चित-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ५० पै० विदेशमें ८० पै० (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

गौरी-शंकर-गणपति

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

अविरतभवभावनातिदूरं भवविमुखैर्मुनिभिः सदैव दृश्यम् ।
भवजलधिसुतारणाङ्घ्रिपोतं शरणमहं रघुनन्दनं प्रपद्ये ॥
रतिपतिशतकोटिसुन्दराङ्गं शतपथगोचरभावनाविदूरम् ।
यतिपतिहृदये सदा विभातं रघुपतिमार्तिहरं प्रभुं प्रपद्ये ॥

वर्ष ४१ } गोरखपुर, सौर श्रावण २०२४, जुलाई १९६७ { संख्या ७
पूर्ण संख्या ४८८

जय शंकर-गौरी-गणपति

जय जय शंकर शूल-डमरुधर, जटा-जूटधर व्याली ।
जय कैलास-निवासी त्रिनयन, जय रुद्राक्ष-सुमाली ॥
जय गौरी जगजननि पार्वती, जयति दुरित-दुखहारी ।
जय गणपति मूषकवाहन, जय विघ्नहरण सुखकारी ॥

याद रक्खो—सर्वत्र प्रभुकी ही सत्ता, शक्ति, विभूति फैली हुई है। सब प्रभुकी ही अभिव्यक्ति है, अतएव ऐसा अनुभव करो कि तुम्हारे अंदर नित्य-निरन्तर प्रभुकी सत्ता, शक्ति और विभूति भरी है। सदा इस सत्यके दर्शन करो।

याद रक्खो—तुम्हारे जीवनमें सदा-सर्वदा निरन्तर प्रभुका अत्यन्त मधुर संगीत बज रहा है, ऐसा अनुभव करनेपर तुम किसी भी स्थितिमें रूक्षता तथा भयका अनुभव नहीं करोगे।

याद रक्खो—प्रभुके साथ नित्य सत्य सम्बन्धकी अनुभूति हो जानेपर अहंता तथा ममताके—'मैं' तथा 'मेरे' के सारे पदार्थ बनें या बिगड़ें, जीयें या मरें, उससे तुम्हारा न कुछ बिगड़ेगा, न तुम्हें सुख-दुःख ही होंगे। तुम नित्य हरहालतमें परमानन्दमें निमग्न रहोगे।

याद रक्खो—यहाँ जो कुछ है और जो कुछ होता है, सब प्रभु हैं और प्रभुकी लीला है। प्रभु स्वयं ही सारी लीला बनकर लीलायमान होते हैं। अतएव लीलामयमें और उनकी लीलामें कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं। वे ही निरन्तर तुम्हारे भीतर-बाहर बसे हुए लीला करते रहते हैं।

याद रक्खो—जो नित्य-निरन्तर बाहर और भीतर केवल उन प्रभुको ही देखता है, वह वास्तवमें उन्हींमें निवास करता है और भगवान् तो उसमें हैं ही। वे सदा हैं, सर्वथा हैं, सर्वत्र हैं। वे ही अत्यन्त दूर हैं और वे ही अत्यन्त समीप हैं। उनके सिवा कुछ भी अन्य है नहीं।

याद रक्खो—मिथ्या मोह तथा भ्रमसे ही प्राकृतिक पदार्थोंमें तुम उनकी सत्ता, शक्ति तथा विभूति मानकर उनका सेवन करते हो और इसीसे बार-बार घोर अशान्तिका अनुभव करते हो। इसी भ्रमके कारण तुम शोक, भय, विषादका अनुभव करते हो और इसी भ्रमसे तुम दिन-रात अहंता-ममता, वासना-कामना, आसक्ति-लोभ तथा क्रोध-हिंसाकी अग्निमें अनवरत जलते रहते हो।

याद रक्खो—एक प्रभुकी सत्ता ही नित्य सत्य है, प्रभु ही सत्यस्वरूप हैं। उन्हींको सदा-सर्वदा देखना तथा उन्हींमें सदा-सर्वदा अपनेको मिलाये रखना चाहिये। उन्हींका सदा आश्रय करना चाहिये। वे ही सारी शान्ति, आनन्द तथा आत्यन्तिक सुखके एकमात्र मूल स्रोत हैं; वे ही निर्मल शान्ति-सुखके अनन्त समुद्र हैं। तुम अपने जीवनमें नित्य उन्हीं आत्यन्तिक शान्ति तथा आत्यन्तिक सुख-स्वरूप भगवान्‌से चिपटे रहो। एक क्षणके लिये भी उनसे विलग होनेकी कल्पनातक मत करो।

याद रक्खो—उन प्रभुको कहींसे आना नहीं है। वे सदा सर्वत्र वर्तमान हैं। ऐसा कोई देश-काल-वस्तु है ही नहीं, जिसमें वे न हों। उन्हींकी सत्तासे सबकी सत्ता है, उन्हींकी शक्तिसे सब शक्तिमान् हैं, उन्हींकी विभूतिसे सबमें विभूति है।

याद रक्खो—प्राकृतिक पदार्थ बनने तथा नष्ट होनेवाले हैं। इनका सृजन-संहार होता रहता है। प्रकृतिकी प्रत्येक वस्तु अनित्य और अपूर्ण है। परंतु भगवान् अनादि, अनन्त, नित्य वर्तमान हैं। वे सदा स्वरूपसे ही परिपूर्ण हैं। तुम उन्हींका आश्रय करो। उन्हींकी सत्तामें अपनी सत्ताको मिला दो।

'शिव'

संतों—महापुरुषोंकी महिमा

(ब्रह्मलीन पूज्यपाद अनन्तश्रीविभूषित श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके वचनामृत)

पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥

पुण्यपुञ्ज यानी पूर्वके महान् शुभ संस्कारोंके संग्रहसे ही महापुरुषोंका सङ्ग मिलता है। ऐसे सत्सङ्गका फल संसारके आवागमनसे यानी जन्म-मरणसे सर्वथा छूट जाना है। महात्माके सङ्गसे जैसा लाभ होता है, वैसा लाभ संसारके किसीके भी सङ्गसे नहीं हो सकता। संसारमें लोग पारसकी प्राप्तिको बड़ा लाभ मानते हैं, परंतु सत्सङ्गका लाभ तो बहुत ही विलक्षण है। कविकी उक्ति है—

> **पारस में अरु संत में बहुत अंतरौ जान।**
> **वह लोहा सोना करै, यह करै आपु समान॥**

पारस और संतमें बहुत भेद है। पारस लोहेको सोना बना सकता है, परंतु पारस नहीं बना सकता; किंतु संत-महात्मा पुरुष तो सङ्ग करनेवालेको अपने समान ही संत-महात्मा बना देते हैं। इसलिये महात्माओंके सङ्गके समान संसारमें और कोई भी लाभ नहीं है। परम दुर्लभ परमात्माकी प्राप्ति महात्माओंके सङ्गसे अनायास ही हो जाती है। उच्चकोटिके अधिकारी महात्मा पुरुषोंके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे भी पापोंका नाश होकर मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिका पात्र बन जाता है। साधारण लाभ तो सङ्ग करनेवाले-मात्रको समान भावसे होता ही है, चाहे उसे महात्माका ज्ञान हो या न हो। महात्माका महत्त्व जान लेनेपर उनमें श्रद्धा होकर विशेष लाभ हो सकता है।

× × ×

जैसे किसी कमरेमें ढकी हुई अग्नि पड़ी है और उसका किसीको ज्ञान नहीं है, तब भी अग्निसे कमरेमें गरमी आ गयी है और शीत निवारण हो रहा है—यह सहज लाभ तो, वहाँ जो लोग हैं, उनको बिना जाने भी मिल रहा है। पर जब अग्निका ज्ञान हो जाता है, तब तो वह मनुष्य उस अग्निसे भोजन बनाकर खा सकता है और दीपक जलाकर उसके प्रकाशसे लाभ उठा सकता है। अग्निमें प्रकाशिका और विदाहिका—ये दो शक्तियाँ स्वाभाविक ही हैं। अग्निका ज्ञान होनेपर ही मनुष्य उसकी दोनों शक्तियोंसे लाभ उठा सकता है और यदि अग्निमें यह भाव हो जाता है कि अग्नि साक्षात् देवता है, तब तो वह उसमें पुत्र, धन, आरोग्य, कीर्ति आदि किसी कामनाकी पूर्तिके लिये श्रद्धा तथा विधिपूर्वक हवन करता है तो वह अपने मनोरथके अनुसार उससे लाभ उठा लेता है और यदि श्रद्धापूर्वक निष्काम भावसे, शास्त्रोक्त विधिसे हवन करता है तो वह पुरुष मुक्तिको भी प्राप्त कर लेता है। निष्कामभावपूर्वक यज्ञ करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाती है और अन्तःकरणकी शुद्धि होनेसे स्वाभाविक ही परमात्माके तत्त्वका ज्ञान हो जाता है तथा तत्त्वज्ञानसे वह जीवन्मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार किसीको महात्मा पुरुष मिलते हैं तो उनका ज्ञान न रहनेपर भी सामान्यभावसे तो लाभ होता ही है। जैसे ढकी हुई अग्निके द्वारा—गरमीके द्वारा—शीत निवारण होता जाता है, वैसे ही महात्माओंके मिलनेपर उनके गुणोंके स्वाभाविक प्रभावसे वातावरणकी शुद्धि होनेके कारण पाप-भावनाका अभाव तथा उनके गुणोंका आभास तो आ ही जाता है। महात्माओंमें उत्तम गुण, उत्तम आचरण और उत्तम भाव होते हैं; उनका ज्ञान भी उच्चकोटिका होता है। उनके सङ्गसे ये सब चीजें किसी-न-किसी अंशमें बिना जाने-पहचाने भी आ ही जाती हैं। यदि पहचान हो जाती है और महात्माके अलौकिक प्रभावका ज्ञान हो जाता है, तब तो वह, जैसा उसका ज्ञान होता है, उसके अनुसार लाभ उठा लेता है। जैसे अग्निकी विदाहिका और प्रकाशिका शक्तिका ज्ञान होनेपर अग्निका अर्थी पुरुष दोनों प्रकारसे

लाभ उठा लेता है—विदाहिकासे भोजन बनानेका और प्रकाशिकासे अन्धकार नाश करके प्रकाश प्राप्त करनेका; वैसे ही महात्मामें जो 'सद्गुण' और 'उत्तम-आचरण'—ये दो वस्तुएँ स्वाभाविक ही हैं, उन दोनोंका ज्ञान होनेपर मनुष्य विशेष लाभ उठा सकता है।

× × ×

महात्माको जान लेनेसे यदि महात्मामें श्रद्धा हो जाती है तथा महात्माके इस प्रभावका भी ज्ञान हो जाता है कि महात्मा जो चाहे सो कर सकते हैं, तो संसारमें जो अल्प-बुद्धि सकामी पुरुष है, वह महात्माके द्वारा अपनी लौकिक इच्छाकी, सांसारिक कामनाओंकी पूर्ति कर लेता है। अवश्य ही यह बहुत नीची चीज है, महात्मा पुरुषोंसे संसारकी चीजें माँगना और सांसारिक भोगेच्छाकी पूर्ति करानेकी इच्छा करना वस्तुतः महात्माके वास्तविक प्रभाव तथा तत्त्वको न समझना और उनका दुरुपयोग करना ही है। किंतु जो महात्माको और उनके असली गुण-प्रभावको श्रद्धापूर्वक तत्त्वतः समझ जाता है, वह तो स्वयं महात्मा ही बन जाता है, यही यथार्थ लाभ है।

× × ×

जैसे भगवान् विना ही कारण सबपर दया और प्रेम करते हैं, इसी प्रकार महापुरुष भी अहैतुक कृपा तथा प्रेम किया करते हैं। जैसे भगवान्‌में क्षमा, दया, शान्ति, संतोष, समता, सरलता, ज्ञान, वैराग्य आदि अनन्त गुण सहज होते हैं, वैसे ही महात्मामें भी होते हैं। जो ज्ञानके द्वारा ब्रह्मको प्राप्त होता है तथा ब्रह्म ही बन जाता है, वह तो परमात्मासे कोई अलग पदार्थ ही नहीं रह जाता। परमात्माका जो दिव्य स्वरूप, प्रभाव और गुण है, वही महात्माका 'महात्मापन' है। महात्माका शरीर तो महात्मा है नहीं और उसमें जो आत्मा है, वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है, परमात्मासे भिन्न रहता नहीं, अतः परमात्माका जो दिव्य स्वरूप, प्रभाव एवं गुण है, वही 'महात्मापन' है।

× × ×

महात्मा पुरुष दिव्य ज्ञानकी एक विलक्षण ज्योति है, वह दिव्य ज्ञानज्योति समस्त पापोंको भस्म कर देती है। महात्मा यदि किसीको स्मरण कर लें या कोई महात्माका स्मरण कर ले तो उसके मनमें उनकी स्मृति हो जानेसे भी पाप नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार महात्माका स्पर्श प्राप्त हो जानेसे भी पाप नष्ट हो जाते हैं—चाहे महात्मा किसीको स्पर्श करें, चाहे महात्माका कोई स्पर्श कर ले। जैसे एक ओर अग्नि पड़ी हुई है और दूसरी ओर एक घासकी ढेरी है। अग्निकी चिनगारी उड़कर घासपर गिरती है तो घास जलकर अग्नि बन जाता है और घास उड़कर अग्निमें गिरती है तो भी घास अग्नि बन जाता है, अग्नि अग्नि ही रहती है। वैसे ही अग्निकी भाँति महात्माओंमें सदा ज्ञानाग्नि प्रज्वलित रहती है। उस ज्ञानाग्निके द्वारा महात्मा पुरुषोंके तो पाप पहले ही नष्ट हो चुके रहते हैं, किंतु जिसका उनके साथ किसी भी प्रकारका संसर्ग हो जाता है, उसके भी पाप नष्ट होते चले जाते हैं। फिर जो महात्माओंके साथ वार्तालाप करके उनके बताये हुए सिद्धान्तोंके अनुसार साधन करता है, उसका संसार-सागरसे उद्धार हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

× × ×

महात्माओंकी महिमा जितनी भी गायी जाय, थोड़ी ही है, जैसे गङ्गाजीकी महिमा जितनी गायी जाय, उतनी थोड़ी है। गङ्गा सारे संसारका उद्धार कर सकती है; किंतु कोई यदि गङ्गामें स्नान करने ही न जाय, गङ्गा-जलपान करे ही नहीं, तो इसमें गङ्गाजीका क्या दोष है। इसी प्रकार कोई महापुरुषसे लाभ नहीं उठाये तो उसमें महापुरुषका कोई दोष नहीं।

× × ×

गङ्गाजीकी भाँति ही महात्मा पुरुष लाखों-करोड़ों पुरुषोंका उद्धार कर सकते हैं। उनके द्वारा सारे संसारके मनुष्योंका उद्धार होना भी कोई असम्भव तो है ही

नहीं, हाँ, कठिन अवश्य है; क्योंकि उनमें श्रद्धा हुए बिना तो कल्याण हो नहीं सकता और श्रद्धा होना कठिन है।

× × ×

वास्तवमें महात्माका आत्मा परमात्मासे अलग नहीं है, पर हम मानते नहीं, उसे परमात्मासे भिन्न समझते हैं; इसलिये हम परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहते हैं। यह समझना भी अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ही होता है।

× × ×

महापुरुषोंका रहस्य वास्तवमें महापुरुष बननेपर ही समझमें आता है। उनका उद्देश्य सर्वथा अलौकिक और अद्भुत होता है। उनका अपना तो कोई काम रहता ही नहीं। संसारमें उनका जो जीवन है यानी शरीरकी स्थिति है, तथा जो उनकी चेष्टा है, वह संसारके हितके लिये ही है। जैसे भगवान्‌का अवतार संसारके उद्धारके लिये ही होता है, वैसे ही महात्मा पुरुषोंका जीवन भी संसारके उद्धारके लिये ही है।

× × ×

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

(संकलनकर्ता—श्रीशालिगराम)

मनन-माला

(लेखक—ब्र० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

[गताङ्क पृष्ठ ९९७ से आगे]

६५—अज्ञानके दूर हुए बिना वासनाका नाश नहीं होता, अज्ञानका पर्दा—मायाका पर्दा दूर करनेके लिये मायापतिकी शरण लेना साधकके लिये बहुत जरूरी है। माया बलवान् है, परमात्माकी शक्ति है। उसको जीव अपनी अल्प शक्तिसे जीतनेमें कभी समर्थ नहीं होता। साधकको तो सर्वतोभावेन परमात्माकी शरणमें जाना चाहिये। जीवात्माका वास्तविक स्वरूप तो परमात्मा ही है। परंतु उसके वास्तविक स्वरूपको पहचाननेके लिये मायाका दूर होना जरूरी है और यह परमात्माके अधीन है। अतएव साधकको चाहिये कि नीचे लिखे गीताके अर्द्ध श्लोकका बारंबार भावपूर्वक उच्चारण करे—

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।

अर्थात् मैं उस आदिपुरुष परमात्माकी ही शरणमें जाता हूँ, जिससे इस संसारकी प्रवृत्ति प्रारम्भ होती है।

परमात्माकी शरण लिये बिना परमात्माकी दया नहीं होती, परमात्माकी दयाके बिना साधक लाखों उपाय करके भी मायाको नहीं जीत सकता, मायासे परे हुए बिना कोटि उपाय करनेपर भी आत्मदर्शन नहीं होता, आत्मदर्शन हुए बिना सारा मोह—अज्ञान कभी दूर नहीं होता, और उसके दूर हुए बिना दुःखमात्रका नाश और परमानन्दकी प्राप्तिरूप मुक्ति मिलती नहीं।

६६—इसलिये साधक अपने शरीरकी प्रकृतिके अनुसार आसक्ति, आग्रह तथा कर्म-फलका त्याग करके प्राप्त कर्मोंको करता रहे और उसका फल अच्छा होता है या बुरा—इसको देखे बिना कर्त्तव्य समझकर करे। जो कुछ करे, कर्तव्य समझकर करे। पूरे उत्साहसे शान्त चित्तसे भलीभाँति करे। हर्ष-शोकरहित होकर करे। यह बात सहज ही सिद्ध नहीं होती, परंतु प्रयत्न करते-करते प्रभुकी कृपासे हो जायगी।

६७—चित्तमेंसे चिन्ता, भय, राग और द्वेष निकालकर जो कुछ करना हो शान्त और समाहित चित्तसे करे। जिसके करनेसे मनमें चिन्ता हो, उद्वेग हो, भय हो, उस कामको कभी न करे।

६८—परमात्मा सबमें है, अतएव जिसके सम्पर्कमें भी आये, उसके भीतर अवस्थित परमात्माकी सेवाके रूपमें उसके साथ बर्ताव करे। जब कोई सम्पर्कमें आये, तब यही एक विचार करे कि प्रभुकी इस वेषमें मुझसे क्या सेवा हो सकती है। इसका विचार करके कर्तव्य समझकर

भगवान्की पूजाके रूपमें क्रिया करे, इसको भगवत्पूजन या आत्म पूजन कहते हैं। यह पूजा स्त्रीके प्रति हो, बालकके प्रति हो, अथवा स्थावर-जङ्गम प्राणिमात्रके प्रति हो। प्राणिमात्रमें भूतमात्रमें भगवान् हैं—आत्मा है, अतएव भूतमात्रके प्रति की जानेवाली पूजा भगवत्पूजा—आत्म-पूजा है। अतएव किसी भी फलकी आकाङ्क्षा न करके यह पूजा करे। इस साधनासे सारे जीवनमें सब समय भगवत्पूजा या आत्मपूजा होगी और ऐसा करते-करते आत्मदर्शन हो जायगा।

६९—जगत्में दो आनन्द हैं—एक विषयानन्द और दूसरा आत्मानन्द। विषयानन्दका अनुभव मन और इन्द्रियोंसे होता है। आत्मानन्दका अनुभव वासनारहित शुद्ध बुद्धिसे होता है। अपने अतिरिक्त अन्य प्राणी-पदार्थसे जो आनन्द अनुभव होता है, वह विषयानन्द कहलाता है। और जिसमें दूसरे प्राणी-पदार्थकी जरूरत नहीं पड़ती, बल्कि स्वतः बिना किसी कारणके आनन्द अनुभव होता है, वह आत्मानन्द कहलाता है। विषयानन्द नाशवान् है, अल्प है और परिणामी है तथा दुःखदायी है। आत्मानन्द महान् है, शाश्वत है और अखण्ड सुखका दाता है। जन्म-मरणके चक्करसे छूटनेके हेतु विषयानन्दकी इच्छा-मात्रका त्याग करके आत्मानन्दका अभिलाषी बने और उसके लिये प्रयत्न करे। अतएव मन और इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग करके मन और इन्द्रियोंको स्वाधीन करके आत्मामें लगा दे।

७०—इसकी साधनाका सहज उपाय यह है कि परमात्माकी कोई दिव्य मनोहर मूर्ति या चित्र लेकर शास्त्रानुसार प्रेमसे, पूर्ण भावपूर्वक उपासना करे और जबतक मन केवल शान्त होकर आत्मानन्दका अनुभव नहीं करे, तबतक इसे चालू रक्खे, छोड़े नहीं, चाहे अपने-आप भले ही छूट जाय। यह उपासना मनको निर्विषय करनेमें बहुत ही सहायक है। बिना उपासनाके, लाखों उपाय करो, मन शान्त और वासनाहीन नहीं बन सकता।

७१—जबतक इच्छामात्रका त्याग नहीं हो जाता, तबतक उपासना करता रहे। लोकहित करनेकी इच्छा भी एक इच्छा है, वैकुण्ठ प्राप्त करने या दिव्य लोककी प्राप्तिकी इच्छा भी एक इच्छा है। मोक्षकी इच्छा भी इच्छा ही है। जबतक इच्छामात्रका त्याग न हो जाय और आत्मानन्दकी लहरोंका अनुभव न हो, तबतक उपासना कभी न छोड़े।

७२—मूर्ति-उपासना सुलभ है। जीवित प्राणीकी, गुरुकी अथवा किसी महापुरुषकी भी उपासना होती है; परंतु उसमें मन सदा स्थिर, एकरस श्रद्धासम्पन्न रहना कठिन है। श्रद्धाके बिना उपासना व्यर्थ है। उपासनाकी नींव ही श्रद्धा है। अतएव सगुण परमात्माकी कोई प्रतिमा या चित्र रखकर उपासना करनेसे शीघ्र लाभ होगा।

७३—मूर्ति या चित्रको एकटक देखा करे। एक अङ्गके ऊपर दृष्टि डाले रखनेपर आँख और मन थके तो दूसरे अङ्गके ऊपर दृष्टि जमाये। वहाँ भी थक जाय तो तीसरे अङ्गके ऊपर दृष्टि जमाये। और वहाँ भी थक जाय तो आँखको मूँद ले और आँख मूँदनेपर जो दीखे, उसे देखता रहे। फिर आँखें खोलकर मूर्ति या चित्रको देखे। इस प्रकार अभ्यास करता रहे। ऐसा करते समय मन अकुलाने लगे तो जप करे। इस प्रकार ध्यान और जप बारी-बारीसे करता रहे। ध्यानसे थके तो जप करे और जपसे थके तो ध्यान करे।

७४—परमात्माके नामका उच्चस्वरसे कीर्तन करनेसे मनोनाश बहुत शीघ्र होता है। सुर और तालके सहित अकेला या कई आदमी एक साथ मिलकर उच्च स्वरसे कीर्तन करें। कीर्तनसे परमात्माका साक्षात्कार बहुत जल्द होता है। यह सब करते समय कोई आशा, इच्छा या अभिमान तो होना ही नहीं चाहिये। भक्ति करते समय माया या कीर्तिकी इच्छा हो तो वे नाशवान् चीजें मिलेंगी और परमात्माकी इच्छा होगी तो उतने ही या उससे कम ही प्रयत्नसे परमात्मा मिल जायँगे।

७५—परमात्मा सदा सर्वत्र हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं; निष्काम भक्तिसे चित्त स्वच्छ होते ही उसमें तुरंत प्रकट होंगे। जबतक प्रकट नहीं होते, तबतक समझे कि मेरे भीतर कोई-न-कोई मायाकी या कीर्तिकी इच्छा वर्तमान है, इसीसे प्रकट नहीं होते। इच्छामात्रके जाते ही भगवान् अवश्य प्रकट होते हैं। केवल सावधानीसे देखे कि मन कोई संकल्प या इच्छा तो नहीं करता; करता हो तो उसे बंद करे।

७६—काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों दुःखके द्वार हैं। इन तीनोंका त्याग करनेवाला भक्त शीघ्र तरता है। काम, क्रोध और लोभका कारण इच्छा है। इच्छाका मूल

है विषयोंमें सुख-बुद्धि। विषयोंमें सुख-बुद्धि आत्माके अज्ञान-से होती है। आत्माके अज्ञानका मूल खोज निकालना सम्भव नहीं, परंतु आत्मज्ञानसे उसका नाश हो जाता है और आत्मज्ञान निष्काम भक्तिसे होता है।

७७–जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा स्थित हो रहा है और अन्तमें जिसमें लयको प्राप्त होता है, वह 'परमात्मा' कहलाता है। वह सर्वत्र व्यापक है, सर्व-शक्तिमान् है, सर्वज्ञ है और सबका सुहृद् है। जहाँ दृढ़ भावना और श्रद्धापूर्वक भक्ति की जाती है, वहाँ वह प्रकट होता है। परमात्मा पिंजरेमें तोतेके समान प्राणिमात्रमें नहीं रहता, परंतु जैसे काष्ठमें अग्नि है, जैसे दूधमें घी व्यापक है, जैसे तरङ्गमें जल है उसी प्रकार परमात्मा सबमें ओतप्रोत है। अतएव जिस किसी मूर्तिमें मन श्रद्धा और प्रेम करता है, उसी मूर्तिकी उपासना करनेसे उस मूर्तिमें जो अमूर्त्त परमात्मा है, वह प्रकट हो जाता है। मूर्ति या चित्र परमात्मा नहीं है, यह सभी जानते हैं; परंतु मूर्त्ति या चित्र अथवा सारे प्राणी-पदार्थोंके शरीरमें अमूर्त्त परमात्मा व्यापक है। अतएव चाहे जिस मूर्तिकी उपासना करनेपर मूर्त्तिके बाह्य स्वरूपको लक्ष्यमें रखकर उपासना न करे; बल्कि मूर्तिमें व्यापक जो अमूर्त्त स्वरूप, जो परमात्म-स्वरूप है, उसको लक्ष्य करके उपासना करे। जैसे मूर्त्ति चाहे गणेश, हनुमान्, शंकर या देवीकी हो, पर उन सबमें व्यापक परमात्मा है ही। मूर्तिकी शक्ति परिमित है, देव और देवीकी शक्ति सीमित है, पर उनमें व्यापक परमात्माकी शक्ति अपार है। इसी कारण सनातनधर्ममें किसी भी आकारकी मूर्ति हो, उसकी स्तुतिमें परमात्मा-वाचक शब्द होते हैं। मूर्त्तिका आकार चाहे जो हो, पर वस्तुतः परमात्मा उस मूर्तिरूपमें स्थित होता है।

७८–काम-क्रोध और लोभको दूर करना आवश्यक है; पर जबतक ये दूर नहीं हों तबतक परमात्माकी भक्ति ही न करे—ऐसी बात नहीं है। वे इस प्रकार दूर हटानेसे नहीं हटते, परमात्माकी निष्काम भक्तिसे ही उन्हें निकाला जा सकता है। अतएव साधकको निष्काम भक्ति करते रहना चाहिये; और जबतक ये तीनों रहें तबतक भक्तिमें लगे रहना चाहिये।

७९–आत्मज्ञान होनेके बाद भी आत्म-स्मरण, परमात्म-स्मरण चालू रखना चाहिये। साधकके लिये दो ही काम करनेके हैं—एक तो शरीरकी सामर्थ्यके अनुसार, कर्त्तव्य जानकर, आसक्ति और फलकी इच्छासे रहित होकर स्वधर्मरूपी कर्म करना और दूसरा हरिस्मरण करना। मनको क्षणभर भी बेकार न रक्खे। या तो स्वधर्म करे या नाम-स्मरण करे।

८०–जैसे हम बोले विना नहीं रह सकते, उसी प्रकार मन विचार किये बिना नहीं रह सकता। इसके लिये बारंबार अभ्यास करना पड़ेगा। एक मिनट, दो मिनट, पाँच मिनट—इस प्रकार अभ्यासको बढ़ाता जाय। मनको विचार-रहित रखनेकी चेष्टा करनेसे अभ्यास बढ़ेगा। सब साधनोंका एक ही फल है और वह है मनको विचार-रहित कर देना। इसको धीरे-धीरे, बिना उतावलीके, शान्ति और धैर्यपूर्वक करे।

८१–जैसे हम बोले बिना नहीं रह सकते, उसी प्रकार हम श्वास लिये बिना भी कुछ क्षणोंसे अधिक नहीं रह सकते। बैठे हों या खड़े हों, चाहे जैसे और चाहे जहाँ हों, यह क्रिया हो सकती है। थोड़ी देर श्वास रोककर बैठिये। कोई नाक दबानेकी जरूरत नहीं। जैसे हो वैसे, शान्तिसे बैठिये और श्वास न लीजिये, न छोड़िये। यह क्रिया बिना किसी आग्रह या उतावलेपनके, बहुत धीरे-धीरे बढ़ाये, इससे मन बहुत जल्दी शान्त हो जायगा। इस प्रकार कुम्भक सिद्ध होगा। कुम्भकमें आत्मदर्शन होता है।

८२–सारी इच्छा-विहीन क्रिया और सारे सत्कर्म तथा सारी निष्काम भक्तिका एक ही फल आत्मज्ञान है। मैं शरीर नहीं हूँ, इन्द्रिय नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ, वरं इन सबसे परे असङ्ग आत्मा हूँ—ऐसा परोक्ष ज्ञान होनेके बाद इसका अभ्यास चालू रखना आवश्यक है। एक क्षण भी आत्म-चिन्तनके विना न रहे। आत्मविचारके बिना कभी मनोनाश नहीं होता और मनोनाशके विना मुक्ति नहीं होती।

८३–आत्मज्ञानका साधक पहले 'मैं आत्मा हूँ'—ऐसा जानकर पीछे, 'यह जो कुछ दीखता है, यह सब आत्म-स्वरूप' है—यह जाने और इसका अभ्यास करे। 'मैं'के साथ-साथ यह सब आत्म-स्वरूप है, इसका सदा अभ्यास करे। इसके लिये शास्त्रों और संतोंने अनेक भावनाएँ बतलायी हैं, जैसे—

ॐ अहं च सर्वं खलु वासुदेवः ।
ॐ अहं ब्रह्मास्मि ।
ॐ सर्वं खलु इदं ब्रह्म ।

यह अभ्यास सतत और सदा करे। यह सब परमात्मस्वरूप है, मैं भी परमात्मस्वरूप हूँ। सब परब्रह्मस्वरूप है और जो कुछ नाम-रूपवाला जगत् दीखता है, वह मिथ्या दीखता है—जैसे जलमें बुद्बुद दीखता है, मरुभूमिमें जल दीखता है, उसी प्रकार। यह भावना नित्य करे।

पुरुषार्थ*

(लेखक—अनन्तश्री स्वामीजी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)

मनुष्य-जीवनमें तीन प्रकारकी इच्छाएँ स्वाभाविक ही रहती हैं—मैं जीवित रहूँ, मैं समझता रहूँ और मैं सुखी रहूँ।

इन तीनों इच्छाओंसे जीवनका यह लक्ष्य सूचित होता है कि मैं सत्—अविनाशी, चित्—सर्वावभासक एवं परमानन्द-स्वरूप हो जाऊँ। इसके साथ ही अपने प्रभाव, यश आदिका विस्तार अर्थात् देशमें व्यापकता, सर्व वस्तुओंपर आधिपत्य, पराधीन न होना अर्थात् स्वातन्त्र्य भी चाहते हैं। अनायास ही हमारा प्रयोजन सिद्ध हो जाय, ऐसी इच्छासे स्वतःसिद्ध वस्तुकी प्राप्ति अभीष्ट है—ऐसा भी निश्चय होता है। अपनी इन इच्छाओंका पिण्डीभूत अर्थ यह है कि हम परमात्मासे एक होना चाहते हैं या परमात्मा होना चाहते हैं। ज्ञानी-अज्ञानी सबके हृदयमें समझे-अनसमझे यह स्वाभाविक इच्छा है।

इन इच्छाओंकी पूर्तिके जो साधन निश्चित किये हुए हैं, उनपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि आत्मानुभूतिसे शून्य बहिर्मुख पुरुष केवल स्थूल वस्तुओंके एकत्रीकरणको एकमात्र अपने जीवनकी सफलता मानते हैं। ऐसे लोगोंको अर्थपरायण कहा जाता है। जो लोग अर्थके साथ-ही-साथ भोगको भी प्रधानता देते हैं, वे कामपरायण कहे जाते हैं; परंतु अर्थ-कामके अनियन्त्रित सेवनसे शरीरमें रोग, इन्द्रिय-दौर्बल्य और समाजमें संघर्ष, वैमनस्य, पराधीनता, युद्ध आदिकी सृष्टि होती है। इसीसे धर्मकी आवश्यकताका अनुभव होता है। क्या अधिक-से-अधिक अर्थभोग और श्रमकी सुविधा हमें ही मिलनी चाहिये, दूसरोंको नहीं? पहले क्या करना, क्या भोगना, क्या इकट्ठा करना आवश्यक है—इसका विवेक तो होना ही चाहिये। समाज या राष्ट्रके लिये विश्वकी दृष्टिसे क्या उपयुक्त है, यह दृष्टिकोण होना भी आवश्यक है। केवल बाह्य वस्तुओंके लिये और उनके शोधन, उत्पादन, प्राप्ति और विनिमयके लिये जो कुछ किया जाता है उसे श्रम कहते हैं,। बाह्यके साथ अन्तरका समन्वयके लिये—हृदयकी शुद्धिके लिये जो कुछ किया जाता है, उसको धर्म कहते हैं। धर्म काम-अर्थकी वासनाको नियन्त्रित करके मनुष्यको वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रिय एवं सर्वप्रकारके अनर्थोंसे रक्षा करता है। धर्मके साथ अभ्युदय एवं निःश्रेयसका होना अनिवार्य है। पूर्वमीमांसाके भाष्यकार धर्मलक्षणके सूत्रकी व्याख्यामें 'विहितत्व'से उपक्रम करके निःश्रेयसकरत्वपर ही उसका उपसंहार करते हैं—कणादका तो धर्मलक्षणसूत्र ही 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः' है।

धर्म अर्थात् बहते हुए मन-इन्द्रिय-प्राणको धारण करके एक मर्यादामें स्थापित करनेकी शक्ति अनुशासनके द्वारा जाग्रत् करनी पड़ती है। इसके बिना मनुष्य और पशुका भेद नहीं हो सकता।

जो मनमें आया, वही कर लिया—भोग लिया या बोल दिया तो मनुष्यमें बुद्धिमान् होनेकी पहचान क्या रही? जीवनमें अर्थ और कामके साथ ही धर्मकी नितान्त आवश्यकता है। उच्छृङ्खल अर्थसंग्रह एवं कामोपभोग व्यक्ति एवं समाजको जर्जर तथा बर्बर बना देते हैं। सम्पूर्ण रोगों, संघर्षोंकी सृष्टि इन्हींसे होती है। ये अन्तरङ्ग

* यह लेख 'चिन्तामणि' नामक मासिक पत्रिकासे उद्धृत किया गया है। उक्त पत्रिका पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी द्वारा स्थापित सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, 'विपुल' २८। १६ रिजरोड, मलाबार हिल, बम्बई ६ से प्रकाशित हो रही है। इसमें सुप्रसिद्ध महात्माओं तथा विद्वानोंके आध्यात्मिक विषयपर बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा प्रेरणादायक निबन्ध प्रकाशित होते हैं। वार्षिक मूल्य ४) है। ग्राहक बननेके इच्छुक उक्त पतेपर पत्र-व्यवहार करें—सम्पादक

रोगके परिणाम हैं, सौमनस्यके विघातक एवं वैमनस्यके जनक हैं। इसलिये कब, कहाँ, किसको, किससे, किसलिये, कितना अर्थ-कामका संग्रह करना चाहिये, इसका एकमात्र नियन्ता धर्म ही है। शासन, पंचायत, कानून, फौज-पुलिस—ये सब थोड़ी देरके लिये बाहर-बाहर नियन्त्रण कर सकते हैं, स्वयं इनकी सुव्यवस्थाके लिये भी धर्मकी आवश्यकता है। कोई भी व्यक्ति, जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त, राष्ट्र धर्मके बिना प्रगति-उन्नति नहीं कर सकता। अन्ताराष्ट्रियता या मानवता भी धर्मके बिना अकिंचित्कर है; क्योंकि भौगोलिक अथवा सामाजिक संत्र आस्था बिना जीवित नहीं रह सकता। आस्था हृदयमें रहती है। दृश्यमान अनेकतामें ऐक्य भावमूलक ही है। वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे जो ऐक्य है, वह तो कुछ मनुष्योंके ही बुद्धिगम्य होता है। इसलिये सामान्य जनताको जीवनके क्षेत्रमें ज्ञान एवं विज्ञानसे उतना लाभ प्राप्त नहीं होता, जितना भावनात्मक धर्मसे होता है। इस धर्मधाराको सूक्ष्म शरीरके साथ अक्षुण्ण एवं नित्य-सम्बद्ध बनाये रखनेमें जन्म-जन्मान्तरका विश्वास भी बहुत सहायक होता है। स्वर्गका लोभ और नरकका भय भी उस विश्वास-को पुष्ट करता है।

हम मानते हैं—जो महान् वैज्ञानिक आविष्कार हो रहे हैं, हुए हैं और होंगे, जो भौतिक विकास एवं समृद्धि विश्वको प्राप्त हो रही है, नवीन-नवीन तथ्योंका उद्घाटन हो रहा है और हम एक सर्वमान्य उन्नतिकी ओर अग्रसर हो रहे हैं, वह आवश्यक है, अनिवार्य है—मानव-समाजके लिये भौतिक उन्नतिके बिना केवल आध्यात्मिक शोधन, आधिदैविक विश्वास अथवा धार्मिक कर्मकाण्ड अधूरा ही रहता है। भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा, चिकित्सा, संचार, आदान-प्रदान, शासन आदिकी उन्नतिके बिना धार्मिक आस्था अनुपयुक्त, शुष्क एवं विघटनकारिणी-सी हो जायगी। अर्थ, धर्म, काम—तीनों पुरुषार्थ परस्पर समन्वित ही होने चाहिये। धर्मानुसार अर्थ-काम हों, अर्थानुसार धर्म-काम हों और कामानुसार धर्म-अर्थ हों। धर्मके बिना अर्थ-काम अनर्थके हेतु हैं, धर्मानुरोधी अर्थ-काम श्रेय-प्रेयके साधन हैं।

किसी-किसीके मनमें शङ्का रहती है कि धर्मके अनुसार आहार-विहार, व्यवहार-व्याहार अथवा आचार-विचार बनानेपर लौकिक उत्थानमें बाधा पड़ती है; क्योंकि आज समाजका काम-काज, लेन-देन ऐसी अवस्थामें पहुँच गया है कि केवल धर्मानुकूल आचरणको लोग एक सनक एवं पागलपन समझते हैं। देखनेमें आता है कि लोक-व्यवहारमें जो अधिक धार्मिक होता है, उसका लोग उपहास करते हैं और उसकी सफलता संदिग्ध रहती है। वर्तमान वातावरण और परिस्थितिमें उपर्युक्त बातें कुछ अंशतक सही हैं। फिर भी धर्मानुष्ठान थोड़े-से तप, कष्टसहिष्णुता और धैर्यकी अपेक्षा रखता है। हमारा यह निश्चित मत है, अनुभव है और लोकव्यवहारमें ऐसा देखा-सुना है कि सच्चे सदाचारी धर्मात्मा पुरुषका उपहास अधिक दिनोंतक नहीं होता। यदि कोई उत्साह, धैर्य और साहससे आसपास रहनेवाले लोगोंकी रहनी-सहनीकी अपेक्षा न रखकर ईमानदारीके साथ व्यवहार करता जाय तो थोड़े ही दिनोंमें अधिकाधिक जनता उसपर विश्वास करने लगती है। व्यवहारके क्षेत्रमें सफलता प्राप्त करनेके लिये इससे उत्तम कोई मार्ग नहीं है कि लोग उसपर विश्वास करें। यदि एक मासमें दस व्यक्ति भी किसीपर विश्वास करने लगें तो वह वर्षोंमें सहस्रोंका विश्वासपात्र बन जाता है। व्यवहारक्षेत्रमें जो बहुतोंका विश्वसनीय हो जाता है, उसे पद-पदपर सफलता वरण करती है—उसका एक-एक कदम सुख-समृद्धिकी ओर बढ़ता है। लोग धर्मवान् अथवा दीन-ईमानसे युक्त पुरुषसे ही व्यवहार करना पसंद करते हैं, स्वयं चाहे जैसे भी हों। मैंने देखा है कि छोटे-छोटे व्यापारी अपनेको जनताका विश्वस्त बनाकर अत्यन्त सम्पन्न और समृद्ध बन गये हैं। ठीक है, आजकल विज्ञापनका युग है; परंतु प्रचारित विज्ञापनपर शङ्का होती है और सहज विज्ञापन स्थायी होता है। यदि हम सहज भावसे सच्चे धर्मात्मा बनें तो देर-सबेर जनसाधारणका ध्यान खिंचेगा ही। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अपना धर्मपालन ध्यान खींचनेके लिये नहीं, हृदयकी पवित्रताके लिये होना चाहिये।

वस्तुओंके उपार्जनके साथ-ही-साथ उनका सदुपयोग और उपभोग होना भी आवश्यक है। यदि केवल वस्तुओंका उत्पादन और उपार्जन ही हो, विनिमय और वितरण ठीक-ठीक न हो तो एकत्र की हुई वस्तु नष्ट हो जाती है, अनभिप्रेत व्यक्तियोंके हाथ लगती है अथवा कर-दण्ड-शुल्क आदिके रूपमें उसका व्यय हो जाता है। अत्यन्त संग्रह अनर्थकी ओर उन्मुख होता है। उपार्जन-शक्तिका विनियोग धर्मकी वृद्धिके लिये, अर्थकी समृद्धिके लिये, उज्ज्वल यशके विस्तारके लिये, स्वजन एवं मानवताकी सेवाके लिये अवश्य ही होना चाहिये। ये सब सम्पत्तिके दायभागी हैं।

इन्हें अपना भाग प्राप्त न हो तो ये क्रुद्ध होकर मलिन भावकी सृष्टि करते हैं। यज्ञावशिष्ट सम्पत्ति ही कल्याणकारिणी होती है।

व्यष्टि-समष्टि-अन्तर्यामी ईश्वरको नैवेद्य अर्पण करनेके अनन्तर भगवत्प्रसादरूप सम्पत्तिका अपने लिये उपभोग मनुष्यके लिये अत्यन्त श्रेयस्कर है। ऐसी कोई वस्तु नहीं होती, जिससे समष्टिके लिये कुछ-न-कुछ प्राप्त न हुआ हो। पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश—सब समष्टिरूपसे हमारे हितकारी हैं। हमारा चलना-फिरना, खाना-पीना, बोलना, साँस लेना सब समष्टिके अनुग्रहपर ही निर्भर करता है। ऐसी परिस्थितिमें ऐसा कोई भी भोग हमारे जीवनमें नहीं होना चाहिये, जिससे समष्टिकी हिंसा होती हो। भोगकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तिसे ही रोगकी उत्पत्ति होती है। धर्मनियन्त्रित भोग भी एक प्रकारका योग ही है। निर्मर्याद भोग केवल दूसरोंको ही दरिद्र-दुखी नहीं बनाता, अपने आपको भी दुखी-दरिद्र बनाता है। बहुत भोग करनेवालोंका भोगसामर्थ्य भी क्षीण हो जाता है। अधिक भोगसे जो शरीरकी पुष्टि, संतानकी सृष्टि आदि चाहते हैं वे भी मूर्ख हैं; क्योंकि विलास उल्लासका साधन नहीं, ह्रासका साधन है। शक्तिक्षय किसी भी पुरुषार्थका साधन नहीं है। भोगका आधिक्य केवल शक्तिका अपव्यय है और शक्तिका अपव्यय हो जानेपर आदमी कहींका नहीं रहता—न घरका न घाटका; न दीनका न दुनियाका।

भोगका अभ्यास जितना अधिक बढ़ता है, उतना ही राग-रोगका विकास और योगका ह्रास होता है। इसलिये भोग उतना ही करना चाहिये, जितना जीवन-निर्वाहके लिये आवश्यक हो, धर्म और अर्थका नाश करनेवाला न हो, मन और इन्द्रियोंके लिये अप्रसन्नताकारक न हो। जिस भोगके अनन्तर वैरस्य, वैमनस्य, ग्लानि, घृणा, असमर्थता, पश्चात्ताप और दुःखकी उत्पत्ति होती हो, ऐसा भोग कभी नहीं करना चाहिये। यह स्मरण रखने योग्य है कि हमें जीवनमें केवल भोग ही नहीं चाहिये, उसके साथ-ही-साथ बाह्य सम्पत्ति, यश, विश्वसनीयता, सामर्थ्य, धर्म, अन्तः-करणकी प्रसन्नता, विवेक और सुख भी चाहिये। केवल अर्थ एवं भोगके साथ बँध जाना जीवनकी पूर्णता नहीं है, चूर्णता है, विस्तीर्णता नहीं संकीर्णता है। जीवन उदीर्ण होना चाहिये।

मनुष्यके सूक्ष्मतम अन्तःप्रदेशमें सच्चिदानन्दकी अव्यक्त अनन्त धारा प्रवाहित हो रही है। मनुष्यके अङ्ग-अङ्गमें—अन्तरङ्ग और बहिरङ्गमें वह अनुस्यूत रहती है। सत्संस्कारोंके द्वारा प्रतिबन्धोंकी निवृत्ति अर्थात् दोषापनयन करके उसको केवल अभिव्यक्ति दी जाती है। मनुष्यमें जो सत् है, वह मनमें 'मैं हूँ' और 'मैं रहना चाहता हूँ'—इन दो भावोंके रूपमें प्रकट होता है। इसका यह परिणाम निकलता है—मैं अपनी या किसी दूसरेकी मृत्युका निमित्त न बनूँ, जीऊँ और जीने दूँ। इसी सत्के आश्रित वस्तु और कर्म होते हैं। हमारे पास वस्तु और कर्म दोनों ही ऐसे होने चाहिये, जो जीने और जिलानेवाले हों। वस्तु ऐसी हो, जिससे दूसरेका हक मारा न जाय; कर्म ऐसा हो, जो किसीकी हिंसा न करे। इसी अवस्थामें हमारी वस्तु और कर्ममें भी सत्का अवतरण हो जाता है, तब हमारी सम्पत्ति सत्सम्पत्ति और कर्म सत्कर्म हो जाता है। इसीको धर्म कहते हैं। मनुष्य अपनी द्रव्यशक्ति एवं क्रियाशक्तिका उपयोग अपने जीवन-निर्वाहके लिये और दूसरोंके जीवनदान-के लिये करें। वस्तुतः धन व्यक्तिगत होता ही नहीं। उसमें सबका अंश रहता है। कोई भी बाह्य एवं आन्तर क्रिया केवल आश्रयको ही प्रभावित नहीं करती, अपने विषयको भी प्रभावित करती है। इसलिये कर्म भी व्यक्तिगत नहीं होता। जब वस्तु और व्यक्ति दोनों ही व्यक्तिके लिये नहीं, समाजके लिये हैं, तब हमारा दृष्टिकोण अपने आप ही समाजवादी हो जाता है। इस समाजको जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त, राष्ट्र आदिके रूपमें संकुचित नहीं करना चाहिये। मानवता भी एक प्रकारकी जातीयता ही है। राष्ट्रियता भी अन्य राष्ट्रके प्रति क्लेश उत्पन्न करती है। पृथिवी भी एक ग्रह है और आगे राकेट आदिके द्वारा गमनागमन-व्यवस्था होनेपर दूसरे ग्रहोंके निवासियोंके साथ भी वैमनस्य, संघर्ष और युद्धकी सम्भावनाएँ हैं। ऐसी अवस्थामें ग्रहीयभाव भी संकीर्ण हो जायगा। अतः अगणित ब्रह्माण्डोंमें एकरस विद्यमान आत्मसत्ताका दर्शन ही सर्वोपरि उदारभाव एवं समाजवादकी (मौलिक) मूलभित्ति (तत्त्व) है। यह भाव रहनेपर ही धर्म और अर्थ अपने शुद्ध स्वरूपमें रहते हैं।

जीवन-निर्वाहके लिये अस्तिभावके पोषक पदार्थोंकी अपेक्षा होती है। बिना भावके पदार्थ और बिना पदार्थके भाव नहीं होते। जीवन एक भाव है। अन्न, वस्त्र,

औषध, निवासस्थान, पूँजी, परिवार—ये सब पदार्थ हैं। ये सब सद्भावके ही स्व और अन्य रूपमें प्रकाश हैं। इनके समन्वयसे ही मनुष्यका जीवन उज्ज्वल होता है। मनुष्यके जीवनमें चिद्भाव स्पष्ट रूपसे प्रकाशित होता है और प्रकाशित करता है। इन्द्रियाँ प्रकाशित करती हैं और विषय प्रकाशित होते हैं। सूर्य, चन्द्रमा आदि इनकी सहायता करते हैं। चित्त संस्कारोंका संग्रह करता है। बुद्धि उचित-अनुचितका विवेक करती है। इस प्रकार ज्ञानसे सम्बद्ध जितनी क्रिया-प्रक्रिया होती है, सब चिद्भावका ही विलास है। यह निश्चित है कि मनमें जितने संकल्प-विकल्प उठते हैं, वे विशेष ज्ञानके अनुरूप ही होते हैं। जिसको हम तुरीय सुख, हित, अनुकूल समझते हैं, उसकी प्राप्तिके लिये और जिसको अप्रयोग दुःख, अहित, प्रतिकूल समझते हैं, उसके परिहारके लिये इच्छाएँ उदय होती हैं। इच्छाके अनुसार प्रयत्न होता है। इच्छाके तारतम्यसे ही प्रयत्नमें तीव्रता तथा मन्दता होती है। इसका अर्थ हुआ कि सम्पूर्ण कर्मकलापके मूलमें विशेष ज्ञान और समझदारी है। इस विशेष ज्ञानका शोध करनेके लिये शिक्षाकी आवश्यकता है। शिक्षाके लिये विद्यालय, पुस्तकालय, सत्सङ्ग, वाचनालय, पुस्तक, पत्रिका, रेडियो—सभी साधनोंकी अपेक्षा है। इसके लिये प्रदर्शनकी भी अपेक्षा होती है। यदि उपर्युक्त रीतिसे शिक्षा न दी जाय और विशेष ज्ञान ठीक-ठीक प्राप्त न हो तो मनुष्य पशुके समान रहता है। इस पशुत्वके निरसारण और निवारणके लिये एक विशेष प्रकारका प्रशिक्षण अभीष्ट है। वह है पहलेसे विकाररूपमें आनेवाले दोषोंका सम्मार्जन और समाजकी समृद्धि, प्रगति, उन्नतिके अनुरूप गुणोंका आधान। संसारमें कई वस्तुएँ देखनेमें आती हैं, जो घिसाई करनेपर चमक जाती हैं; बहुत-सी ऐसी होती हैं, जिनपर बाहरसे रंग-रोगन करना पड़ता है। मनुष्यके मनकी भी यही दशा है। इसीसे शिक्षाका ध्येय मनुष्यके अन्तस्तलमें विद्यमान स्वाभाविक चिद्भावको किसी विघ्न-बाधाके विना विकसित करना है। जब बालकका जन्म होता है, उसके अंदर एक अत्यन्त संकीर्ण देह-पदार्थमें अहंभाव उठता है। शिक्षाके द्वारा उसको परिवार-जाति-सम्प्रदाय, राष्ट्र-विश्व-ब्रह्माण्ड, प्रकृति और परमात्मासे परिचित कराना पड़ता है। यदि शिक्षण प्राप्त करनेपर भी मनुष्यके संकुचित भावका निराकरण नहीं हुआ और अत्यन्त विस्तीर्ण, देश-कालादिके बन्धनोंसे निर्मुक्त परम सत्यके ज्ञानकी ओर वृत्ति उन्मुख नहीं हुई तो वह शिक्षण सफल नहीं हुआ। शिक्षण अर्थात् विकारी और कृत्रिम जीवनसे मुक्ति पाकर सहज-सरल-स्वाभाविक जीवनप्रणालीको हृदयंगम करनेकी कला। अध्याहार्य ज्ञानोंकी परतन्त्रता एवं प्रभावसे मुक्त होकर स्वरूपभूत स्वयंप्रकाश ज्ञानके समुल्लास-विकासकी प्रक्रिया। अपनेको आनन्दित रखनेके लिये वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थानों एवं परिस्थितियोंसे निरपेक्ष रहकर परमानन्दके अन्तरङ्ग उत्सका प्रवाहीकरण। जो शिक्षा हमें वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थानों और परिस्थितियोंके परतन्त्र बना देती है, वह शिक्षण नहीं, शिक्षणाभास है। शिक्षणके द्वारा सुषुप्त-प्रतिभा-जागरण अनिवार्य है।

आनन्दभावके विकासके लिये निश्चित रूपसे कुछ श्रम और कुछ विश्रामका समन्वय करना पड़ता है। स्वास्थ्यके लिये आयुर्वेद, शत्रुओंकी पराजयके लिये शस्त्रास्त्र-विद्या, मनोरञ्जनके लिये संगीत अभिनय-वाद्य, अपनी सुख-सुविधाके लिये मनोऽनुकूल आवास—यह सब अपेक्षित होनेपर भी ये सारी बातें बहिरङ्ग हैं और इनका निरूपण उपवेदोंमें ही किया गया है। वेद सुखी जीवन बितानेके लिये लौकिक, पारलौकिक एवं दोनोंसे विलक्षण किसी अन्य प्रमाणसे अज्ञात उपायोंका निर्देश करता है और उनके शोधन-बोधनके लिये प्रतिभाके प्रयोग-उपयोगकी दिशाका निर्देश करता है। लोक-व्यवहारमें लोग चार प्रकारसे सुखका अनुभव करते दिखायी पड़ते हैं—विषयभोगसे, धन, विद्या, तप, जाति, सम्बन्ध, बुद्धि आदिके अभिमानसे, सुखके मनोरथ एवं आशासे तथा जैसा अभ्यास पड़ जाता है, उसी रीतिसे रहने-सहनेपर। ये चारों प्रकार लौकिक हैं और सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर मनोरथ-सुखके अन्तर्गत लोकमें ही पारलौकिक सुखका संनिवेश हो जाता है। पारमार्थिक सुख साध्य नहीं, सिद्ध है; उसमें न धर्मके समान विरोध है, न योगके समान निरोध है, न उपासनाके समान अनुरोध है, न जिज्ञासाके समान शोध है; वह तो केवल स्वतःसिद्धस्वरूप सुखका बोध-ही-बोध है। उसमें अनुकूल तथा प्रतिकूल विषयोंकी उपस्थिति अथवा अनुपस्थितिका कोई सम्बन्ध नहीं है, केवल बोध-ही-बोध है। शत्रु-मित्रकी विद्यमानता अथवा अविद्यमानता उसमें किसी प्रकारका विरोध उत्पन्न नहीं करती, वह सदा ज्यों-का-त्यों एकरस ही रहता है। जि[illegible] उपलब्धिमें विषय-विषयीभाव अत्यन्त उपेक्षित, तुच्छ ए[illegible] बाधितरूपसे भासते हैं, वह उपलब्धि ही परमानन्द है औ[illegible]

अपना स्वरूप है। वेदान्तका यह परम एवं चरम निर्देश ही उपनिषद् है। इसके द्वारा जन्म-मरण, गमनागमन, संकोच-विस्तार, आवर्तन-परिवर्तन तथा सभी प्रकारकी चिन्ताओंके भार सर्वदाके लिये सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं, उनकी नित्य निवृत्तिका बोध हो जाता है। नेति-नेतिके द्वारा अशेष-विशेषका बोध होनेपर तत्त्वमस्यादि वाक्यके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है और बोध तो नित्यप्राप्त प्राप्त-सा होता है, नित्य निवृत्त दुःख ही निवृत्त-सा होता है। इसीको भारतीय वेद-विद्याने परम पुरुषार्थ बताया है।

महर्षि कृष्णद्वैपायन क्या ब्रह्मसूत्रकर्ता बादरायण हैं ?

(लेखक—श्रीनीरजाकान्त चौधरी देवशर्मा)

चिरकालसे अपने देशमें लोगोंमें यह विश्वास चला आ रहा है कि आजसे प्रायः पाँच हजार वर्ष पूर्व महर्षि कृष्णद्वैपायन 'वेदव्यास'ने द्वापर युगके अन्तमें कुरुक्षेत्रके महायुद्धके कुछ पश्चात् महाभारतकी रचना की थी।

शास्त्रकारोंमें कृष्णद्वैपायनका स्थान यथार्थ ही अग्रगण्य और सर्वोच्च है। उन्होंने विशाल वेदराशिको विभिन्न संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थोंमें सुविभक्त और सुसम्बद्ध किया, अतएव वे 'वेदव्यास' नामसे विख्यात हुए। महाभारत और अष्टादश महापुराणोंकी रचना उन्होंने ही की। संसारके इन बृहत्तम धर्मग्रन्थोंमें सब मिलाकर पाँच लाख श्लोक हैं। उन्होंने ही फिर 'बादरायण' नामसे वेदान्तदर्शन, उत्तरमीमांसा या ब्रह्मसूत्र नामक लघु पुस्तिकाकी रचना की। इसमें कुल लगभग ५५५ संक्षिप्त सूत्र हैं। फिर भी यह महान् ग्रन्थ वेदका सार है और साथ ही अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि ब्रह्मसम्बन्धी विभिन्न दर्शनोंकी सब प्रकारकी दुरूह और गूढ़ आलोचनाका मूल आधार है। इसके आश्रयसे ही ब्रह्मजिज्ञासा और ब्रह्मानुसंधान अधिकारी-भेदसे विभिन्न वादोंके मार्गद्वारा प्रसारित और पल्लवित हुआ है। इसके सिवा महर्षि व्यासने पातञ्जलयोगदर्शनका भाष्य किया है। भगवान् शंकराचार्यने स्वयं इसकी टीका लिखी है। व्यासजीकी स्मृति, चरणव्यूह और शिक्षा भी पायी जाती है। योगवासिष्ठ महारामायण भी व्यासकृत प्रसिद्ध है।

अतएव परम कारुणिक व्यासजीने वेदविभागरूपी विराट् कार्यके सिवा स्त्री-शूद्र और द्विजेतर अनधिकारी जनसाधारणके लिये वेदकी व्याख्या—महाभारत और पुराण, दार्शनिकों और त्यागी पुरुषोंके लिये वेदान्तशास्त्र तथा योगीजनके लिये योगभाष्यकी रचना करके जगत्का महान् उपकार किया है। इस ऋषि-ऋणका परिशोध नहीं हो सकता।

पाश्चात्त्य मत—'व्यास' एक मिथ्या कल्पना

भारतपर अधिकार करनेके बाद कुछ समय बीतनेपर यूरोपीय लोगोंकी दृष्टि संस्कृत-साहित्यके ऊपर पड़ी। १८३२ ई० से आक्सफोर्डमें संस्कृत अध्यापक (Boden Chair)* नियुक्त हुए। कर्नल बोडेन (Boden) ने भारतमें उपार्जित धनराशि देकर जो न्यासपत्र (Trust deed) किया, उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारतमें हिंदू लोगोंको ईसाई बनाना ही उसका मुख्य उद्देश्य था।

विलसन साहब (H. H. Wilson) प्रथम बोडेन अध्यापक बने। वे अंग्रेज थे। उन्होंने १८४१ ई० में विष्णुपुराणके अंग्रेजी अनुवादकी भूमिकामें बतलाया कि महापुराण प्रायः आधुनिक हैं। धूर्त ब्राह्मण पुरोहितोंके दलने सरल विश्वासी लोगोंको ठगनेके लिये इनका जाल (Pious frauds) रचकर व्यासके नामसे चलाया है। कुछ वर्षोंके बाद उन्होंने लिखा कि 'व्यास' शब्दका अर्थ है—'विन्यासक'। इस नामका कोई आदमी कभी था, या बिल्कुल ही नहीं था, यह संदेहजनक है। (Vyasa the arranger, a person of rather questionable chronology and existence' *Introduction to the Rigveda-Sanhitā. xx*)

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री कहते हैं कि विलसनके† मतसे महापुराणोंमें सर्वापेक्षा प्राचीन भी ८०० ई० के पूर्वके लिखे नहीं हैं। निस्संदेह अधिकांश पुराण बहुत बादमें लिखे

* The Boden Chair of Sanskrit was founded "to promote the translation of the Scriptures into Sanskrit" so as to enable his (Col. Boden's) countrymen to proceed in the conversion of the natives of India to the Christian religion." (Monier-Williams Dictionary, ix.)

† Mm. Haraprasada Sastri, Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Asiatic Society of Bengal. Vol. V, 1928

गये हैं। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्ततक यही मत स्थिर रहा और इसपर दृढ़तापूर्वक विश्वास किया जाता था।

वेवर साहब (Mr. Weber) १८६२ ई० में लिखते हैं कि 'व्यास' एक कल्पित व्यक्ति थे, सम्पादनके अर्थमें 'व्यास' शब्द प्रचलित हुआ है, इसके सिवा कुछ नहीं है। ये* जर्मन हैं।

हापकिन्स (Hopkins) साहब इसके लगभग ३० वर्ष बाद महाभारतकी आलोचना करते समय लिखते हैं, 'अर्थात् महाभारतकी रचना एक आदमीकी की हुई नहीं है; जैसे-जैसे समय बीतता गया, सम्पादकके साथ लेखकके नामका गड़बड़झाला करके 'व्यास' नाम देकर एक काल्पनिक लेखक खड़ा कर दिया गया। आधुनिक विद्वद्वर्गने सुविधाके लिये इसको 'अज्ञात' या व्यास नाम प्रदान किया है। महाभारत विभिन्न लेखकोंके परिश्रमका फल है, उनकी लेखनशैली और विचारधारा भी विभिन्न है।' †ये अमेरिकन थे।

मैकडॉनेल साहब (Macdonell) के मतसे (१८९९ ई०)—'महाभारतमें लिखा है कि यह व्यास-प्रणीत है। यहाँ अन्ततः सम्पादककी बातमें विश्वासके सिवा और क्या है ? क्योंकि इस नामका अर्थ है 'विन्यासक'। इस विशाल महाकाव्य और नीतिवादमय विषयवस्तुके स्तूपके लिये ऐतिह्य-परम्पराने स्थूलरूपमें एक काल्पनिक लेखकका नाम उद्भावित किया है, उसकी उपाधि है 'व्यास' (विन्यासक)।'‡ ये स्काटलैंडके निवासी थे।

इसके बाद विन्टरनिट्ज (Winternitz) (जर्मन) तथा कीथ (Keith) साहब (ब्रिटिश) आदि अन्यान्य भारत-तत्त्ववेत्ता इसी प्रकारकी बातें कहते आ रहे हैं।

* "A mythical personage, Vyāsa, who is simply redaction personified." Weber, History of Indian Literature (1851), p. 191

† In other words, there was no one author of the great epic, though, with a not uncommon confusion of editor with author, an author was recognized called Vyāsa......Modern scholarship calls him the unknown, or 'Vyāsa', for convenience. The great epic is the result of the labours of different writers, belonging to different schools of style and thought.—Hopkins, The Great Epic, pp. 58-59.

‡ When the Mahabharata attributes its origin to Vyāsa, it implies a belief in a final redaction, for the name simply means 'Arranger'.

(Macdonell, History of Sanskrit Literature, p. 286)

"For this immense congeries of epic and didactic matter, tradition invented as the name of its author the designation of Vyāsa (arranger)." Macdonell, India's Past, p. 86.

वे एक सुरसे कहते हैं कि 'व्यास' एक मिथ्या, काल्पनिक और अनैतिहासिक नाम है। 'व्यास' नामके किसी व्यक्तिका कभी अस्तित्व ही नहीं था। बहुत दुःखकी बात है कि भारतीय लेखकोंने भी पाश्चात्त्य प्रभुत्वके दबावमें या विजातीय शिक्षा-दीक्षाके प्रभावसे उन्हींके सुरमें सुर मिलाया है।

पाश्चात्त्य गवेषकोंमें प्रायः सभी ग्रीक, रोमन और यहूदी जातिके इतिहास, धर्म और दर्शनसे प्रभावित थे। प्राचीन ग्रीकलोग अपेक्षाकृत असभ्य थे। उनकी कोई लिपि न थी। चारण कवियोंके द्वारा मुँहँमुँह वीर (hero) लोगोंकी कहानियाँ प्रचरित होती थीं। उनको क्रमशः एकत्र करके तथा और भी विषयवस्तु और उपाख्यानोंको जोड़कर अन्तमें इलियड (Iliad) और ओदिसी (Odyssey) नामक दो महाकाव्य रचे गये। इन दोनों काव्योंको किसी एक महाकविने सम्पूर्ण एक कलमसे एक समयमें लिखा हो, ऐसी बात नहीं है। बहुत-से लोगोंका विचार है कि होमेरस् (Homeros) नामक एक ग्रीकने इन दोनों काव्योंका अन्तिम सम्पादन किया था, परंतु वे मूल लेखक न थे।*

पाश्चात्त्य पुरातत्त्वज्ञोंने अपेक्षाकृत असभ्य ग्रीक जातिके इन दोनों काव्योंकी कथा सुदूर सुसभ्य भारतवर्षमें, बहुत प्राचीन कालमें लिखित, परम पवित्र शास्त्र-ग्रन्थ—रामायण और महाभारत, इन दो ऐतिहासिक ग्रन्थोंके ऊपर आरोपित की है। इन दो ग्रीक काव्योंकी उत्पत्तिके समय उस देशमें वर्णमालातक न थी। यहाँतक कि पठन-पाठनके विषयमें कोई उल्लेख भी नहीं प्राप्त होता। इन काव्योंका आकार भी अपेक्षाकृत बहुत छोटा है। दोनों मिलाकर हरिवंशके प्रायः १६००० श्लोकोंके बराबर भी नहीं हैं। रामायण (२४००० श्लोक) और महाभारत (एक लाख श्लोक) आकारमें सुबृहत् होनेके कारण सब प्रकारसे संसारके ग्रन्थोंमें सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर चुके हैं।

* "At that time there was no writing. An early form of the Iliad was probably recited by 1000 B. C., but it was not written." H. G. Wells, The Outline of History, p. 277

"Greek education was almost purely *viva voce* education," *Ibid.*, p. 732

"Throughout the whole of Homer, everything is calculated to be heard, nothing to be read. Homer first undertook to combine into one great unity the scattered and fragmentary poems of earlier bards." Smith, Dictionary of Greek and Roman Biography and Mythology, Vol. 1, p. 506.

होमरस् एक अज्ञात व्यक्ति था, उसने बिखरी हुई चारण-कथाओंको एकत्र करके काव्यरूप प्रदान किया, यह जनश्रुति प्रचलित है। अतएव वह अज्ञात-कुल-शील सम्पादक-मात्र है, काव्यका मूल लेखक नहीं है। अतएव इन पुरातत्त्वज्ञोंने व्यासको भी तदनुसार ही एक अज्ञात काल्पनिक 'सम्पादक' घोषित कर दिया। इनके मतसे आदिकवि वाल्मीकि भी रामायणके मूल रचयिता नहीं हैं। परंतु महर्षि कृष्णद्वैपायन गत पाँच हजार वर्षोंसे इस विशाल उपमहादेशके सारे धर्म और लौकिक साहित्यमें तथा दिन-प्रतिदिनके जीवनमें जिस प्रकार ओतप्रोत हो गये हैं, उसे देखते हुए उनको एक कलमकी नोकसे उड़ा देने या मिटा देनेका अधिकार या क्षमता किसीमें नहीं है, चाहे वे कितने ही बड़े डिग्रीधारी खोज करनेवाले साहब क्यों न हों। वेदव्यास ऐतिहासिक पुरुष थे, काल्पनिक नहीं हैं—इनके बहुत प्रमाण प्राप्त होते हैं।

महर्षि कृष्णद्वैपायन 'वेदव्यास' ऐतिहासिक पुरुष हैं—

हम वेद, वेदाङ्ग, प्राचीन संस्कृतसाहित्य आदिसे संक्षिप्त आलोचना करके दिखलाते हैं कि 'वेदव्यास' मनगढ़ंत व्यक्ति नहीं हैं।

(क) वेद-ब्राह्मण—

वेद स्वतःप्रमाण हैं। ऋग्वेदकी वर्तमान शाकल-संहितामें कृष्णद्वैपायनका कोई मन्त्र नहीं प्राप्त होता, परंतु वे निश्चयपूर्वक मन्त्रद्रष्टा थे। अन्यथा उनकी महर्षि उपाधि न होती। सम्भवतः वे जिन मन्त्रोंके ऋषि हैं, वे किसी दूसरी संहितामें थे, जो इस समय लुप्त है। उनके पूर्वज—प्रपितामह वसिष्ठ, पितामह शक्ति तथा पिता पराशरके द्वारा दृष्ट बहुत-से मन्त्र ऋग्वेदमें हैं। वसिष्ठ और पराशरके बहुत-से शास्त्रग्रन्थ तथा अपरा-विद्याविषयक साहित्यराशि आज भी आदरपूर्वक पढ़ी जाती है।

वेदके ब्राह्मण और आरण्यक भागमें वेदव्यासके कई उल्लेख प्राप्त होते हैं—

(१) स होवाच व्यासः पाराशर्यः। (तै० आरण्यक १।९।२) कृष्णयजुर्वेद।

(२) नारदो विष्वक्सेनाय, विष्वक्सेनो व्यासाय पाराशर्याय, व्यासः पाराशर्यो जैमिनये। (सामविधान ब्रा० ३।९।८) सामवेद।

(३) व्यासः पुरोवाच। (गोपथ ब्रा० १।१।२९) अथर्ववेद।

(ख) वेदाङ्ग (कल्प और व्याकरण)

(४) बौधायन-धर्मसूत्र (२।५।२७) में व्यासका उल्लेख प्राप्त है।

(५) बौधायन-गृह्यसूत्र (३।९।३) एवं

(६) भारद्वाज-गृह्यसूत्र (३।९) में कृष्णद्वैपायनका नाम है।

(७) पाणिनिके अष्टाध्यायी व्याकरणमें, पाराशर्यने भिक्षुसूत्रकी रचना की थी, यह कहा गया है।

'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' (४।३।११०)

बालमनोरमा टीका—"पाराशर्यो व्यासः। भिक्षवः संन्यासिनः, तदधिकारिकं सूत्रं व्यासप्रणीतं प्रसिद्धम्। शिलालिनो नटाः।"

—यहाँ ध्यानमें रखने योग्य बात यह है कि तैत्तिरीय आरण्यक और सामविधान ब्राह्मणमें भी व्यासको पाराशर्य कहा गया है।

जयादित्यने 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४।१।१०५) सूत्रकी काशिकामें कहा है—'व्यासः पाराशर्यः।'

अतएव सबसे प्राचीन संस्कृत-व्याकरणमें, वेदाङ्गमें स्पष्ट कहा गया है कि पराशरके पुत्र (कृष्णद्वैपायन वेदव्यास) ने भिक्षुसूत्र (बादरायणके ब्रह्मसूत्र) की रचना की है। संस्कृतव्याकरणमें नियमोंका बाँधना अति कठोर है। विशेषतः पाणिनिसूत्रमें किसीकी एक मात्रा भी इधर-उधर हेर-फेर करना सम्भव नहीं है। अतएव यहाँ प्रक्षिप्तवादका कोई प्रश्न नहीं उठता। इस वाक्यको उड़ा देनेके लिये कोई उपाय ही नहीं रह जाता।

यह प्रमाणित हो गया कि पराशर-नन्दन व्यासदेव वैदिक पुरुष हैं, वे कभी काल्पनिक नहीं हो सकते।

(ग) महाभारतमें व्यासका नाम—

महाभारतमें द्वैपायनके ये नाम पाये जाते हैं—(१) कृष्ण, (२) कृष्णद्वैपायन (३) द्वैपायन, (४) सत्यवतीसुत, (५) सत्यवत्यात्मज, (६) पाराशर्य, (७) पराशरात्मज, (८) बादरायण, (९) वेदव्यास इत्यादि। कोषग्रन्थमें (१०) माधव, (११) कानीन, (१२) सत्यभारत, (१३) पाराशरि (१४) सत्यव्रत, (१५) सत्यरत, (१६) पाराशर, (१७) वासवेय इत्यादि नाम भी हैं।

यहाँ ऐतिहासिक गवेषणा या प्रतिभाकी कोई आवश्यकता नहीं है। साधारण बुद्धिसे ही समझमें आ जाता है कि जिस व्यक्तिकी इतनी और इतने प्रकारकी नामावली शास्त्रों तथा अमर महाकाव्योंमें ग्रथित हुई है, वह अलीक या काल्पनिक नहीं हो सकता। वे अवश्य ही एक महापुरुष हुए हैं। पुरातत्त्वज्ञोंका अद्भुत मत कदापि ठहर ही नहीं सकता।

(घ) प्राचीन साहित्यमें कृष्णद्वैपायनकी बात।

(१) भास नाटक (पाँचवीं शताब्दी ई० पू०)

'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' नाटकके प्रथम अङ्कमें लिखा है कि व्यासजी उन्मत्त ब्राह्मण-वेषमें कौशाम्बीके राजप्रासादमें प्रकट हुए थे। उनके परित्यक्त वस्त्रादिके द्वारा मन्त्री यौगन्धरायणने वेषपरिवर्तन किया—

'एभिः प्रच्छादितशरीरो भगवान् द्वैपायनः प्राप्तः'

(प्रति० १ । १६)

व्यासजी मार्कण्डेय हनूमान् आदिके समान चिरजीवी पुरुषके रूपमें प्रसिद्ध हैं। यह धारणा पाँचवीं शताब्दी ई० पूर्वमें भी थी। शंकराचार्यके साथ उनका साक्षात्कार और विचार हुआ था, यह कथा शंकरदिग्विजय ग्रन्थमें प्राप्त होती है। कुलदानन्द ब्रह्मचारीके 'श्रीश्री सद्गुरु सङ्ग' ग्रन्थमें वर्णित है कि गत शताब्दीके अन्तिम भागमें महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीने व्यासजीके दर्शन किये थे।

अतएव व्यासजी केवल अपने अमूल्य शास्त्रग्रन्थोंमें ही अमर हों, ऐसी बात नहीं है। वे काल्पनिक और अज्ञात तो नहीं ही हैं बल्कि हिंदुओंका विश्वास है कि वे आज भी सशरीर वर्तमान हैं और कोई-कोई उनका दर्शन भी कर पाते हैं।

(२) कौटल्यका अर्थशास्त्र (ई० पूर्व ४९ शताब्दी) 'वृष्णिसंघश्च द्वैपायनमिति' (अ० शा० १-६, पृ० ३८) इस ग्रन्थमें द्वैपायन और उनके पिता पराशरका उल्लेख है।

(३) अश्वघोष-(ई० प्रथम शताब्दी)

व्यासके सम्बन्धमें 'सौन्दरानन्द' काव्यमें उक्त बौद्ध कवि कहते हैं—

'द्वैपायनो वेदविभागकर्त्ता।' (७-२९) अश्वघोषके काव्यमें व्यास और उनके पूर्वपुरुषोंका भी उल्लेख है।

(४) शंकराचार्य, श्वेताश्वतर-उपनिषद्-भाष्यमें कहते हैं* कि उनके परम गुरु (परात्पर सत्तम) गौडपादाचार्य (माण्डूक्यकारिका-प्रणेता) व्यासके पुत्र शुकदेवके साक्षात् शिष्य थे। शंकर-सम्प्रदायके मङ्गलाचरण श्लोकसे भी यह बात प्रमाणित होती है—

व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं
गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्।

अतएव व्यासजीको शंकराचार्यद्वारा प्रवर्तित संन्यासी-सम्प्रदायका आदिगुरु माने बिना काम नहीं चल सकता।

(५) कुमारिलभट्टने अपने ग्रन्थ और भाष्यादिमें व्यासकृत महाभारतादिसे बहुत-से वचन उद्धृत किये हैं। उनके पहले गौडपादाचार्यने भी 'उत्तरगीताभाष्य' की रचना की है। उत्तरगीता महाभारतका ही एक अंश है। गौडपादने बहुत-से पुराणोंका भी प्रमाणरूपमें उल्लेख किया है। निस्संदेह वे भी व्यासजीको अवतारके रूपमें या अन्ततः महापुरुषके रूपमें स्वीकार करते हैं।

महाभारत तथा सभी महापुराण व्यासप्रणीत हैं, यह बात श्रीशंकराचार्यजी पूर्णतः विश्वास करते थे। उन्होंने व्यासजीका सदा 'भगवान्' उपाधिपूर्वक उल्लेख किया है तथा कई जगह कहा है कि वे स्वयं नारायणके अवतार हैं। शंकराचार्यने महाभारतसे (१) सनत्सुजातीय (उद्योगपर्व), (२) भगवद्गीता (भीष्मपर्व) तथा (३) विष्णुसहस्रनाम (अनुशासनपर्व) का भाष्य किया है। इसके सिवा उन्होंने पातञ्जल-दर्शनके व्यास-भाष्यकी विवरण-टीका† लिखी, इसमें भी कोई संदेहकी बात नहीं है।

सारांश यह है कि भारतके समस्त प्राचीन साहित्यमें व्यासजीका अस्तित्व तथा श्रेष्ठत्व स्वीकार किया गया है।

(६) व्यासवंश वर्तमान है।

इतिहासकी वंशावलीकी ओर देखनेपर भी व्यासजीको 'अज्ञातकुलशील' कहनेका कोई हेतु नहीं मिलता। ब्राह्मणसमाज अनादिकालसे गोत्रप्रवररूपी एक अविच्छिन्न वंशपरम्पराकी शृङ्खलामें सुविन्यस्त है। भारतमें वसिष्ठ, पराशर, पाराशर्य आदि गोत्रके बहुत-से ब्राह्मण आज भी

* तथा च शुकशिष्यो गौडपादाचार्यः।(श्वेता० उप० शांकर भाष्य १।८)

† Madras Government Oriental Series No. XCIV (1952) में शंकराचार्यकृत पातञ्जल-दर्शनके व्यासभाष्यका 'विवरण' प्रकाशित हुआ है।

सशरीर विद्यमान हैं। प्रायः दो हजार वर्ष पूर्व शतपथ ब्राह्मणके भाष्यमें हरिस्वामीने अपनेको 'पाराशर्य' लिखा है।* वह अपनेको पौष्करीयक भी लिखते हैं। आश्चर्यकी बात है कि आज भी पुष्करके अधिकांश ब्राह्मण पाराशर्य-गोत्रीय हैं। वे लोग निस्संदेह व्यासके वंशज हैं।

अतएव हमने देख लिया कि क्या वैदिक शास्त्र, क्या साहित्य, क्या इतिहास—किसी भी दृष्टिसे विचार करनेपर भगवान् वेदव्यासको अनैतिहासिक, अज्ञात, काल्पनिक या मिथ्या कहनेका कोई कारण नहीं मिलता। पाश्चात्त्य पुरातत्त्ववेत्ताओंकी यह चेष्टा अत्यन्त गर्हित और गूढ़ षड्यन्त्रमूलक है, यह कहना अनुचित नहीं है।

कृष्णद्वैपायनने वेदोंका विभाग किया था, इसी कारण उनका नाम 'वेदव्यास' है, संक्षेपमें उन्हें 'व्यास' कहते हैं। महाभारत या पुराणोंको उन्होंने 'व्यस्त' नहीं किया था, ये उनके सम्पादित ग्रन्थ भी नहीं हैं, ये तो उनके द्वारा प्रणीत हैं। पाश्चात्त्य विद्वानोंने 'व्यास' नामको लेकर जो गड़बड़ी की है, उसके लिये वे ही पूर्णतः उत्तरदायी हैं।

कृष्णद्वैपायन ही ब्रह्मसूत्रकर्त्ता बादरायण हैं

वेदोंका ज्ञानकाण्ड उपनिषद् है। उसका सार ब्रह्मसूत्र, वेदान्त अर्थात् वेदोंका—ब्रह्मविद्याका चरम सिद्धान्त है। इस ग्रन्थमें कतिपय संक्षिप्त सूत्रोंमें जगत्के श्रेष्ठ आध्यात्मिक गूढ़ रहस्य विन्यस्त और प्रकाशित किये गये हैं। जैसे वेदके एक ही मन्त्रके विभिन्न अधिकारी और प्रयोजनभेदसे विभिन्न अर्थ होते हैं—जो जैसा चाहता है, उसी रूपमें प्राप्त करता है, ठीक उसी प्रकार उत्तर मीमांसा-दर्शन अधिकारि-भेदसे अनेक रूपोंमें प्रतिभात होता है। गीताप्रेससे केवल एक पृष्ठमें † अति सूक्ष्म अक्षरोंमें छपकर सारा वेदान्त-सूत्र प्रकाशित हुआ है; किंतु उसकी भाष्य, टीका, विवरण, वार्तिक, तात्पर्य, तिलक आदि व्याख्याएँ सहस्रों वर्षोंसे लिखी जा रही हैं, सहस्रों पृष्ठोंमें भी समाप्त नहीं हो पा रही हैं, अभी भी लिखनेका क्रम समाप्त नहीं हुआ है। क्या अद्वैत, क्या विशिष्टाद्वैत, क्या शुद्धाद्वैत, क्या द्वैताद्वैत, क्या अचिन्त्य भेदाभेद—इन सब तथा अन्यान्य वादोंका मुख्य उपजीव्य ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' है, इसके आधार-पर ही सब प्रकारके मतों और वादोंकी रचना हुई है। निम्बार्क, शंकर, रामानुज, मध्व, रामानन्द, वल्लभ आदि सिद्ध महापुरुषोंमें जिन्होंने जिस प्रकार समझा है, उसी प्रकार इस शास्त्रकी व्याख्या की है। उनकी व्याख्याओंमें कोई भी मिथ्या नहीं है। जो जिस स्तरके मनुष्य हैं, ब्रह्म भी उनके लिये इस ब्रह्मसूत्रमें उसी प्रकारका दृष्ट हुआ है।

अतएव वेदान्तदर्शन या ब्रह्मसूत्र भारतका तथा संसारका श्रेष्ठ दार्शनिक ग्रन्थ है। वर्तमान शताब्दीमें पाश्चात्त्य देशोंमें अद्वैतमतका प्रचार होनेके बाद वहाँ इसका परिचय और मूल्य और भी बढ़ा है। बादरायण मुनि इस दर्शनके आचार्य हैं। वे संसारमें सदाके लिये सर्वाग्रगण्य श्रेष्ठ दार्शनिक हो गये हैं, यह बात किसीको अस्वीकार्य नहीं हो सकती—यह कहना अतिरेकमात्र है।

अब प्रश्न यह है कि बादरायण हैं कौन। महर्षि कृष्ण-द्वैपायनके बहुत-से नामोंमें एक बादरायण नाम भी है। वे बदरिकाश्रममें रहते थे, यह बात भी प्रसिद्ध है। भारतमें पण्डितलोग बहुधा विभिन्न ग्रन्थोंके प्रकाशनके समय विभिन्न नामोंका व्यवहार करते हैं, इस देशकी यह एक प्राचीन प्रथा है। उदाहरणार्थ, महामति चाणक्यके आठ* नाम थे। उन्होंने अर्थशास्त्रमें 'कौटल्य' और 'विष्णुगुप्त' नामका व्यवहार किया है। अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थोंमें उनके वात्स्यायन, पक्षिलस्वामी, मल्लनाग आदि नाम पाये जाते हैं। श्रीकृष्णके मन्त्री और परम भक्त उद्धवने 'वातव्याधि' नामसे एक अर्थशास्त्रविषयक ग्रन्थ लिखा था। अतएव यह बात याद रखना असंगत नहीं है कि महर्षि वेदव्यासने ही बादरायण नामसे 'ब्रह्मसूत्र' प्रणयन किया था। यही प्रसिद्धि भारतके मनीषी चिरकालसे आजतक पोषण करते आ रहे हैं।

* नागस्वामि सुतोऽवन्त्यां पाराशर्यो वसन् हरिः।
श्रुत्यर्थं दर्शयामास शक्तितः पौष्करीयकः॥

—हरिस्वामिकृत शतपथ ब्राह्मणभाष्य (वेंकटेश्वर प्रेस)

† 'कल्याण' वेदान्ताङ्क (१९३६) पृष्ठ १२०।

* वात्स्यायनो मल्लनागः कुटिलश्चणकात्मजः।
द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः॥

—हेमचन्द्र—'अभिधानचिन्तामणि' (मर्त्यखण्ड ५१८) वात्स्यायन, मल्लनाग, कौटल्य, चाणक्य, द्रामिल, पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्त तथा अङ्गुल—चाणक्यके ये आठ नाम हैं। उन्होंने वात्स्यायन नामसे न्यायभाष्य और कामसूत्रकी रचना की। (त्रिकाण्डशेष, ब्रह्मवर्ग ५९-६० द्रष्टव्य है।)

परंतु पाश्चात्त्य गवेषकगणने हठात् अनुवादकी सहायतासे सामान्य संस्कृत सीखकर निश्चय कर डाला कि 'बादरायण' पृथक् व्यक्ति थे। उनका दृढ़ सिद्धान्त है कि 'व्यास' मिथ्या और काल्पनिक नाम है। इस विषयमें पहले कहा जा चुका है। अतएव व्यासजी ही 'बादरायण' नामसे ब्रह्मसूत्रके रचयिता हैं या नहीं, इस विषयमें वे लोग किसी प्रकारकी आलोचना ही नहीं करते। वे इस तर्कको व्यर्थ समझकर इधर ध्यान ही नहीं देते। यहाँतक कि कीथ (Keith) आदि लेखकोंने ब्रह्मसूत्रके बादरायणप्रणीत होनेमें भी संदेह प्रकट किया है।*

सबसे दुःखकी बात यह है कि पाश्चात्त्य शिक्षामें दीक्षित भारतीय विद्वद्वर्गने वाग्-मीमांसातक न करके असहाय अबोध शिशुके समान इस सिद्धान्तको भी प्रकारान्तरसे मान लिया है। सत्य स्वयं प्रकाशित होता है। ये लोग यथार्थ बात न जानते हों, ऐसी बात नहीं है। परंतु इनकी रचनामें व्यासका नामतक दुष्प्राप्य है। ब्रह्मसूत्रकी आलोचनाके समय ये सभी प्रायः बादरायणका नाम लेते हैं। किंतु वे बादरायण और वेदव्यास एक ही व्यक्ति हैं या नहीं, इस प्रश्नको चतुराईसे टाल देते हैं।

भारतीय तत्त्वविद्या (Indology) और संस्कृत साहित्यका इतिहास दारुण और मर्मभेदी मिथ्याचारसे पूर्ण हैं। पराधीनताका नागपाश एक निर्भीक, सत्यप्रिय जातिको किस प्रकार पङ्गु, दुर्बल और दास-मनोवृत्तिका बना डालता है, इसका यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

(शेष अगले अङ्कमें)

प्रीति किससे करनी चाहिये ?

प्रीति उसीसे कीजिये, जो ओड़ निभावै।
विना प्रीति के मानवा, कहिं ठौर न पावै॥
नाम सनेही जब मिलै, तब ही सचु पावै।
अजर अमर घर ले चलै, भव-जल नहिं आवै॥
ज्यों पानी दरियाव का, दूजा न कहावै।
हिल मिल एकौ ह्वै रहै, सतगुरु समुझावै॥
दास कबीर विचारि कै, कहि कहि जतलावै।
आपा मिटि साहिब मिलै, तब वह घर पावै॥

—संत कबीर

* केवल विलसन (Wilson) ने व्यास और बादरायणको एक ही व्यक्ति माना है। साधारणतः ब्रह्मसूत्रकी आलोचनाके समय कोई व्यासका नाम भी नहीं लेता। जेकोबि (Jrcobi) के मतसे बौद्ध शून्यवादके प्रादुर्भावके बाद २०० से ४५० ई० के बीच न्यायदर्शन और ब्रह्मसूत्रकी रचना हुई है। उनका कथन है कि पातञ्जल और वैशेषिक दर्शन अपेक्षाकृत कुछ प्राचीन हैं।

किसी-किसी लेखकके मतसे बादरायण एक नहीं, अनेक हो गये हैं। कीथ कहते हैं कि ब्रह्मसूत्र भी अन्यान्य ग्रन्थोंके समान दीर्घकालीन दार्शनिक मतवादकी आलोचनाका फल है। पूर्वमीमांसा या ब्रह्मसूत्र जैमिनि या बादरायणके द्वारा अकेले प्रणीत नहीं हैं, बल्कि उनके अनुवर्ती शिष्य-प्रशिष्योंके द्वारा क्रमसे दोनों ग्रन्थोंके सूत्र ग्रथित हुए हैं। (History of Sanskrit Literature, xxi, 898).

हिंदू दर्शनशास्त्रोंके मूलमें इस प्रकार कुठाराघात करनेके बाद इस प्रख्यात भारतीयतत्त्वज्ञने शंकराचार्यके ज्ञानकी सीमाको मापनेकी चेष्टा की है। वे कहते हैं कि शंकराचार्यकी युक्ति और तर्ककी शक्ति असीम थी, परंतु उन्होंने बादरायणके मतके विपरीत व्याख्या की है। अवश्य ही उनका उपनिषद्भाष्य बहुत-कुछ न्यायसंगत है।

—Keith, History of Sanskrit Literature, p. 899.

भक्ति पञ्चम पुरुषार्थ

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

> **योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।**
> **श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥**
> (गीता)

मन्दराचल पार्थिव पर्वत नहीं है। इस दिव्य गिरिपर सुर भी संकोच एवं श्रद्धाके साथ ही उतरते हैं। काकभुशुण्डिकी अनेक कल्पोंसे यह साधनास्थली—मायाका आच्छन्न करनेवाला प्रभाव इसके समीप नहीं आता। त्रेताके अन्तमें जब मर्यादापुरुषोत्तम अपने दिव्यधाम पधारे, पवनकुमारने भी पृथ्वीकी अपेक्षा इस पर्वतपर ही अधिक रहना प्रारम्भ कर दिया। वे भी इसकी गुफाओंमें, सघन काननोंमें आराध्यका चिन्तन करते नित्य तन्मय रहने लगे। वैसे तो जहाँ-जहाँ धरापर श्रीरामका यशोगान होता है, अपने एक रूपसे वे उपस्थित रहते ही हैं।

दिव्य लता-तरु, पुष्पित-पल्लवित, फलमधुर वन-भूमि और रत्नोज्ज्वल गुफाएँ। अब तो न केवल पशुओंका नाद, पक्षियोंका कलरव, भ्रमरोंका गुञ्जन ही, अपितु निर्झरोंका शब्द भी एक ही स्वर अहर्निश उठाया करता है—

> राम राम राम सीता राम राम राम।
> राम राम राम सीता राम राम राम॥

पुलक-प्रफुल्लित-स्वर्णाङ्ग, अजस्र-स्रवित-लोचन पवनपुत्र आजकल इस क्षीराब्धिधौतचरण उत्तुङ्ग शिखर-को धन्य करते हैं। जैसे उनके अन्तरका आह्लाद पर्वतके कण-कणको रसार्द्र किये दे रहा है! पत्ता-पत्ता आनन्द-नर्तन कर रहा है उनके स्वरके साथ।

गगनसे जैसे मयंक भूमिपर आ जाय, इस प्रकार मन्दरके शिखरपर उतर आया अमितौजा। वह उतर तो आया किंतु उसे स्मरण नहीं कि क्यों आया है वहाँ। उसके पद कब नृत्य करने लगे, कब उसका कण्ठ उस संकीर्तन-ध्वनिका साथ देने लगा—उसे कुछ स्मरण नहीं। वह तो आत्मविस्मृत हो गया क्षणार्धमें।

'तुम्हारा जन्म अयोध्यामें हुआ है।' भगवान् ब्रह्माने उससे कहा था। 'ज्ञानियोंके मुकुटमणि श्रीआञ्जनेय ही तुम्हारे गुरु हो सकते हैं। मन्दराचलपर तुम उनके दर्शन कर सकते हो।'

वह हिमालयके गर्भमें स्थित दिव्यपुरी कलापग्रामसे ब्रह्मलोक गया था और सृष्टिकर्ताने उसे मन्दराचलपर भेज दिया; किंतु वह तो भूल ही गया कि क्यों वह यहाँ आया और उसे क्या करना है। मन्दराचलका वायुमण्डल वैसे भी हृदयको भक्ति-विभोर कर देनेवाला है। काकभुशुण्डिजी-का प्रभाव ही वहाँ एक अद्भुत उन्मद वातावरण बनाये रखता था और जबसे श्रीरामदूत वहाँ आये हैं देवताओं और गन्धर्वोंमें तो यह प्रवाद प्रसारित हो गया है—'स्वर्गमें रहना हो तो मन्दरगिरिका प्रकाश जहाँतक जाता है, उतने क्षेत्रसे दूर रहो। वहाँ जो गया, वह कदाचित् ही लौटकर आयेगा। देवर्षि नारद-जैसे परिव्राजकोंका सम्प्रदाय वह पर्वत बढ़ाने लगा है।'

कलापग्रामका अविचल योगी अमितौजा, वह ब्रह्म-लोकसे चला था तो किसी अप्सराने कहा था—'मुनिवर! यह गाम्भीर्य बनाये रखना हो तो मन्दरका मार्ग मत अपनाना!'

अप्सरा—अपवर्गके साधकोंके पथमें विघ्नके रूपमें ही अमितौजा इस वर्गको जानता है। उसने दृष्टि उठाकर देखातक नहीं कि उसे चेतावनी किसने दी। उसका गाम्भीर्य, उसकी शान्ति, उसकी स्थिरता क्या कृत्रिम है कि उसके भङ्ग होनेका भय हो?

'अप्सराका कार्य ही विघ्न करना है।' अमितौजाको चेतावनी केवल विघ्नका प्रयत्न जान पड़ी थी। लोकस्रष्टाने उसे मन्दराचलपर ही जानेकी आज्ञा दी थी। अब इस अद्भुत गिरिपर पहुँचकर उसे स्वयंका ही पता नहीं तो उसके द्वारा क्या हो रहा है, इसको वह कैसे समझ सकता है।

× × ×

जब मर्यादा-पुरुषोत्तमके आत्मज कुशने अपनी राजधानी अयोध्या बनायी, उस समय उसका जन्म हुआ था। ब्राह्मणका पुत्र बचपनसे ही शान्त और गम्भीर हो, उचित ही था। पाँच वर्षकी अवस्थामें ही उपनयन-संस्कार करके माता-पिताने गुरुकुल भेज दिया उसे। अपनी सेवासे श्रीवशिष्ठनन्दन महर्षि शक्तिको संतुष्ट किया उसने।

महाराज कुशको यज्ञ करना था। गुरुदेव शक्ति यज्ञिय

ऋत्विक् कलापग्रामसे ले आना चाहते थे। स्वयं अपनी योगशक्तिसे तो वे उस दिव्य क्षेत्रमें गये ही, साथमें बालक अमितौजाको भी लेते गये; क्योंकि उसका आग्रह गुरुदेवके साथ युगजीवी उन महापुरुषोंके दर्शन करनेका था।

'इसे तुम यहीं रहने दो!' महायोगी वृद्धश्रुतने आदेश दे दिया अकस्मात्। 'इस बालकमें योगसिद्ध पुरुषके लक्षण हैं। संसारी इसे बनना नहीं है।'

महर्षि शक्तिको उन ज्ञान-वय-तपोवृद्धका आदेश स्वीकार करना पड़ा। बालक अमितौजाको बहुत प्रसन्नता हुई कि वह इस अतिमानव क्षेत्रमें निवासका सुयोग प्राप्त कर सका।

आरम्भके केवल तीन दिन महायोगी वृद्धश्रवाके उसे दर्शन हुए। उसकी खोज-खबर इससे अधिक रखनेकी आवश्यकता नहीं थी। कुछ दिव्यौषधियोंका सेवन कराया गया उसे आवक्ष अलकनन्दाके हिम-प्रवाहमें स्थित करके और कुछ सामान्य आदेश दिये गये।

कलापग्राम दिव्यदेही योगियोंकी भूमि है। स्थूल-वाग्व्यवहार वहाँ चलता नहीं। अमितौजाको जब आवश्यकता हुई, उसे सदा ऐसा लगा कि कोई उसके भीतर ही बैठा उसे समझाता है, उसे आदेश देता है, उसे सम्हालता है। अध्ययन और साधन साथ-साथ चलते रहे; किंतु दैहिक दृष्टिसे अपनी गुफामें वह एकाकी ही था। कालका उसके लिये महत्त्व नहीं रह गया था। क्षुधा-पिपासा, आलस्य-तन्द्रा-निद्रा, रोग-शोकका प्रवेश उस दिव्य क्षेत्रमें नहीं है। देह जहाँ क्षण-क्षण क्षीण होता है, आयुको लेकर ही काल-गणना वहाँ होती है। कलापग्राममें तो काल जैसे स्थिर हो गया है।

'आत्मतत्त्वकी अपरोक्षानुभूति क्या है?' अन्तःकरण निर्मल हुआ, विक्षेप-विरहित हुआ और श्रुति-शास्त्रका सम्यक् अध्ययन हुआ तो जिज्ञासाको जाग्रत् ही होना था। आश्चर्य यह था कि जैसे अन्य सभी प्रश्नोंके उत्तर उसे अपने भीतर मिल जाते थे, जैसे वहाँ अलक्ष्य रहनेवाले महापुरुष संकल्पकी भाषामें अवतक उसके अध्ययन एवं साधनका संचालन करते आ रहे थे, वैसे इस जिज्ञासाका उत्तर उसे नहीं मिला। किसीने उसे उत्तर देनेकी अनुकम्पा नहीं की।

'आत्मा प्रतिशरीर भिन्न है तो कोई सर्वव्यापक सत्य सम्भव कैसे है?' वह चिन्तन करके किसी निश्चयपर पहुँच नहीं पा रहा था। 'आत्मा विभु है, श्रुति कहती तो यही है, किंतु इस तथ्यका अपरोक्ष क्यों नहीं होता?'

लगता था कि उसे यहाँके महापुरुषोंने एकाकी छोड़ दिया है। कलाप-ग्राममें किसीका भी दैहिक अन्वेषण व्यर्थ है, यह वह जानता था। जबतक वे योगसिद्धवपु स्वयं दर्शन देना न चाहें, उनका दर्शन पाया नहीं जा सकता। उसने मानसिकरूपसे आर्त पुकार की; किंतु लगता था कि उसका संकल्प उनमेंसे किसीतक पहुँच नहीं रहा था। सब-के-सब महापुरुष साथ ही समाधिमें स्थित हो गये हों, यह भी असम्भव नहीं था।

'तब श्रुतिके परमोपदेष्टा ही मेरा मार्ग-दर्शन करेंगे।' उसने सीधे ब्रह्माजीके दर्शन करनेकी इच्छा की। दीर्घ-कालीन साधनाने उसे समर्थ बना दिया था। ब्रह्मलोक पहुँचना उसके लिये कोई समस्या नहीं थी।

'मुझसे क्या त्रुटि हुई कि मेरा प्रश्न अनुत्तरित रह गया है?' उसने भगवान् ब्रह्मासे पूछा—'किस अपराधके कारण महात्माओंने मेरा त्याग किया है?'

'कोई त्रुटि—कोई अपराध नहीं।' पितामहने सस्नेह उसकी ओर देखा। 'प्रत्येक साधकका एक अधिकार होता है। साधनके कुल हैं। जो जिस कुलका है, उस कुलका परमाचार्य ही उसका पथ-प्रदर्शक है। तुम कलाप-ग्रामके योगनिष्ठ कुलके नहीं हो। तुम्हारे परिमार्जन—परिशोधन-तककी सहायता ही वहाँसे उपलब्ध हो सकती थी।'

'आप सृष्टिके परमगुरु हैं। समस्त कुलोंके आप कुलपति हैं।' अमितौजाने स्रष्टाकी स्तुति करके प्रार्थना की। 'इस अज्ञ शरणागतपर आप अनुग्रह करें।'

लोकपितामह बहुत व्यस्त रहते हैं। सृष्टिका कर्म सहज नहीं है। अनन्त-अनन्त जीव, उन जीवोंके पृथक्-पृथक् कर्म-संस्कार और फिर उनका परस्पर सम्बन्ध बड़ा जटिल है। किसीको जिसका पुत्र बनाना है, उसके कर्म किसी और-से उलझे हैं। जीवको देह देनेमें भी सृष्टिकर्ता पूरे सावधान रहते हैं। जड यन्त्रका निर्माण सदा एक-सदृश होता है; किंतु स्रष्टा तो चेतन हैं। दो प्राणी—दो मनुष्य सृष्टिके आदिसे अन्ततक एक आकृतिके उन्हें नहीं बनाने हैं। दो व्यक्तियोंके अँगूठेकी रेखाएँतक एक-जैसी नहीं। इस व्यस्ततामें उपदेश देनेका अवकाश कहाँसे निकालें वे? उन्होंने अमितौजाको मन्दराचलपर श्रीहनुमान्‌जीके समीप जानेको कह दिया।

× × ×

'भद्र तुम ?' जहाँ कालकी कला नहीं चलती, वहाँ समय कितना बीता व्यर्थ प्रश्न है । श्रीहनुमान्‌जी स्वयं सावधान न होते, उनकी तन्मयता इतनी प्रबल थी कि अमितौजाको बाह्यसंज्ञा आती नहीं थी ।

'सृष्टिकर्ताने मुझे श्रीचरणोंमें भेजा ।' पद-वन्दनके अनन्तर परिचय देकर अमितौजाने कहा । 'धन्य हो गया यह जन !'

'अनन्तका स्वभाव ही है कि वह स्वयंको भी सम्पूर्ण रूपमें देख नहीं सकता और चेतन होनेसे प्रकाशित करना भी उसका स्वभाव है ।' श्रीरामदूतने समझाया । 'जब अपनेको ही अपूर्णरूपमें वह प्रकाशित करता है, 'अहं-इदं' की भ्रान्ति अवकाश पा जाती है । 'इदं'के रूपमें प्रतीयमान समस्त प्रपञ्च 'अहं'से अभिन्न है ।'

आवरण हो तो निवृत्त हो । अपरोक्षानुभव शब्दसे जिसका संकेत किया जाता है, वह स्थिति अर्थात् अविद्या-निवृत्ति तो तभी हो गयी थी, जब वह इस आश्रमकी सीमामें आया था । दो क्षण मौन बना रहा—जैसे उस शब्दातीत स्थितिमें पुनः तन्मय हो गया हो ।

'यह निर्गुणबोध बहुत कुछ बुद्धिगम्य है ।' अमितौजाने अब नवीन जिज्ञासा प्रकट की । 'किंतु स्वयं सृष्टिकर्ता जिन्हें ज्ञानियोंके मुकुटमणि कहते हैं, उनका यह भक्ति-तन्मयभाव बुद्धिगम्य नहीं हो रहा है ।'

'भद्र ! तुम स्वयं प्रमाण हो इस सम्बन्धमें ।' श्रीरामदूतने कोई व्याख्या नहीं की ।

'अपरोक्षानुभव शब्दातीत स्थिति है ।' अमितौजा गम्भीर हो रहा था । 'किंतु आपके सांनिध्यमें आकर जिस उच्छलित आनन्दका—जिस तन्मयताका अनुभव हुआ, यह अपूर्व है, अचिन्त्य है । इसकी किसी कलाकी भी तुलना नहीं । यह क्या है प्रभु ? कैसे प्राप्त हो यह अवस्था ?'

'यही भक्ति है, भद्र !' गद्‌गद स्वर हुआ वायुनन्दनका । 'भक्ति की नहीं जाती । जो की जाती है, वह तो साधना है । भक्तिके लिये और साधना भी क्या ? भक्ति साधन-साध्या नहीं है । वह स्वयं फलरूपा है । वे करुणा-वरुणालय श्रीराघवेन्द्र प्रदान करें तो उनके चरणोंमें भक्ति होती है । भक्तिकी साधना—कुछ तो करना ही है मनुष्यको; अतः उनके नाम, रूप, लीला, अर्चा-विग्रहादिका सेवन करता है वह । उसका यह प्रयास—शिशुका प्रयास उसके अनुसार ही तो होगा । वे तो अनन्त कृपासिन्धु हैं । भक्ति तो उनका प्रसाद है ।'

'यह सगुण तत्त्व—सगुण परमेश्वरमें ही भक्ति सम्भव है; किंतु' अमितौजा कहते हुए भी स्वयं संकुचित हो रहा था । 'विचार करनेपर सगुणकी उपलब्धि बहुत कठिन लगती है ।'

'तुम संकोच कर रहे हो, वत्स !' स्नेहसे हनुमान्‌जीने समझाया । 'बुद्धिके द्वारा परमतत्त्वके रूपमें सगुणकी उपलब्धि नहीं होती, यह तुम्हारा मन्तव्य उचित है । निर्गुण बोधगम्य है, अतः उसमें बुद्धिका प्रवेश है । सगुण बोधगम्य नहीं है, श्रद्धैकगम्य है और श्रुति-शास्त्र उसमें प्रमाण हैं । सगुण-निर्गुण—उभय-अभिन्नरूप एक अद्वितीय सच्चिदानन्द परमतत्त्व है । सत्‌के रूपमें उसकी उपलब्धिसे तुम परिचित हो । चित्‌के रूपमें उपलब्धिका अर्थ है अपरोक्षानुभव—ज्ञानमें अवस्थिति; किंतु आनन्दके रूपमें उपलब्धि तो श्रद्धाके माध्यमसे ही सम्भव है ।'

'आनन्द ही तो प्राणिमात्रका परमप्राप्तव्य है ।' अचानक अमितौजा चौंका । उसे अर्थ, धर्म और काम कभी पुरुषार्थ जान नहीं पड़े थे । पुरुषका अर्थ—प्राप्तव्य धन नहीं हो सकता । धन धर्मके लिये या भोगके लिये । भोग विषयी, पामर, पशुओंका—अज्ञानियोंका प्राप्तव्य होता है । भोगका फल दुःख है । दुःख किसीका प्राप्तव्य नहीं है । धर्मका फल धन या भोग—व्यर्थ बात । धर्मका फल अन्तःकरणकी शुद्धि और इस शुद्धिका फल आत्मज्ञान-मोक्ष । मोक्ष ही एकमात्र मनुष्यका पुरुषार्थ है—प्राप्तव्य है, अबतक वह यही मानता आया है । लेकिन मोक्ष—परमशान्ति ही क्या जीव चाहता है ? जीव तो चाहता है आनन्द—उच्छलित, अभङ्ग, अखण्ड आनन्द ।

'पुरुषार्थ—पुरुषके श्रमसे-साधनसे जो प्राप्त हो सके, वह परमाभीष्ट मोक्ष ही है ।' श्रीहनुमान्‌जीने उसके प्रश्नकी अपेक्षा नहीं की । अतः लौकिक दृष्टिसे शास्त्र चार ही पुरुषार्थ कहता है । अपने व्यक्तित्वको उन कृपामयके चरणोंपर उत्सर्ग करके उनके प्रसादरूपसे प्राप्त होनेवाली भक्ति पुरुषके प्रयत्नसे साध्य नहीं है । इतना होनेपर भी परमाभीष्ट होनेसे भक्ति ही पञ्चम एवं परम पुरुषार्थ है ।'

रस (प्रेम)-साधनकी विलक्षणता

(गीताभवनमें हनुमानप्रसाद पोद्दारके एक प्रवचनके आधारपर)

स्वरूपतः तत्त्व एक होनेपर भी रस-रूप भगवान् और रसकी साधना—प्रेम-साधना कुछ विलक्षण होती है। रस-साधनामें एक विलक्षणता यह है कि उसमें आदिसे ही केवल माधुर्य-ही-माधुर्य है। जगत्‌में दुःख-दोष देखकर जगत्‌का परित्याग करना, भोगोंमें विपत्ति जानकर भोगोंको छोड़ना, संसारको असार समझकर इससे मनको हटाना—ये सभी अच्छी बातें हैं, बड़े सुन्दर साधन हैं, होने भी चाहिये। पर रसकी साधनामें कहींपर भी खारापन नहीं रहता। इसलिये किसी वस्तुको वस्तुके नाते त्याग करनेकी इसमें आवश्यकता नहीं रहती। प्रेमकी—रसकी साधना स्वाभाविक चलती है रागको लेकर। रस ही राग है, राग ही रस है। अतः भगवान्‌में अनुरागको लेकर रसकी साधनाका प्रारम्भ होता है। एकमात्र भगवान्‌में अनन्य राग, तो अन्यान्य वस्तुओंमें रागका स्वाभाविक ही अभाव हो जाता है। इसलिये किसी वस्तुका न तो स्वरूपतः त्याग करनेकी आवश्यकता होती और न किसी वस्तुमें दोष-दुःख देखकर उसे त्याग करनेकी प्रवृत्ति होती है। उन वस्तुओंमेंसे राग निकल जानेके कारण कहीं द्वेष भी नहीं रहता। ये राग-द्वेष द्वन्द्व हैं। जहाँ राग है, वहाँ द्वेष है। जहाँ द्वेष है, वहाँ राग भी है। द्वन्द्वकी वस्तु अकेली नहीं होती। इसीलिये उसका नाम 'द्वन्द्व' है। सो या तो ज्ञानी विचारके द्वारा द्वन्द्वातीत होते हैं या ये रसिक लोग—प्रेमीजन द्वन्द्वोंसे अपने लिये अपना कोई सम्पर्क नहीं रखकर उन द्वन्द्वोंके द्वारा ये अपने प्रियतम भगवान्‌को सुख पहुँचाते हैं और प्रियतमको सुख पहुँचानेके जो भी साधन हैं, उनमेंसे कोई-सा साधन भी त्याज्य नहीं, कोई-सी वस्तु भी हेय नहीं। एवं उन वस्तुओंमें कहीं आसक्ति है नहीं कि जो मनको खींच सके। इसलिये रसकी साधनामें कहींपर कड़वापन नहीं है। उसका आरम्भ ही होता है माधुर्यको लेकर, भगवान्‌में रागको लेकर। राग बड़ा मीठा होता है। रागका स्वभाव ही है मधुरता। जिसमें हमारा राग हो जाय, जिसमें हमारा प्रेम हो जाय, उसका प्रत्येक पदार्थ, उससे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु सुखप्रदायिनी हो जाती है, सुखमयी बन जाती है। यह रागका—प्रेमका स्वभाव है। वह राग जहाँपर भी है, जिस किसी वस्तुमें है, वही वस्तु सुखाकर हो जाती है और यह रस-साधना शुरू होती है रागसे ही। इस साधनाकी बड़ी सुन्दर ये सब चीजें हैं समझनेकी, सोचनेकी, पढ़नेकी और वास्तवमें साधना करनेकी।

इस रसकी साधनामें सबसे पहला साधन होता है पूर्वराग। यह प्रियतम भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके, भगवान् श्रीराघवेन्द्रके, किसीके भी प्रेमास्पदके गुणको सुनकर, उनके नामको सुनकर, उनके सौन्दर्य-माधुर्यकी बात सुनकर, उन्हें स्वप्नमें देखकर, उनकी मुरलीध्वनि या नूपुरध्वनि सुनकर, उनकी चर्चा सुनकर, कहीं दूरसे उन्हें देखकर, उनकी लीलास्थलीको देखकर मनमें जो एक आकर्षण पैदा होता है, मिलनेच्छाका उदय होता है, उसे पूर्वराग कहते हैं। पूर्वरागका जहाँ उदय हुआ, वहीं जिसके प्रति रागका उदय हुआ, उसको प्राप्त करनेके लिये, उसको पुनः-पुनः देखनेके लिये, उसके बार-बार गुण सुननेके लिये, उसकी चर्चा करनेके लिये, उसकी निवासस्थली देखनेके लिये सारी इन्द्रियाँ, सारा मन व्याकुल हो उठता है। जहाँ भोगोंके लिये होनेवाली व्याकुलता निरन्तर दुःखदायिनी होती है, वहाँ यह भगवान्‌के लिये होनेवाली व्याकुलता अत्यन्त दुःख-दायिनी होनेपर भी परम सुख-स्वरूपा होती है। भगवान्‌के अतिरिक्त जितने भी विषय हैं, जितने भी

भोग हैं, सभी दुःखयोनि हैं, दुःखप्रद हैं, कोई भी वस्तुतः सुखस्वरूप नहीं है, इनमें तो सुखकी मिथ्या कल्पना की जाती है। ये भगवान् सर्वथा सर्वदा अपरिमित अनन्त सुखस्वरूप हैं। यही बड़ा भेद है। जितने भी इस लोकके, परलोकके, जगत्के भोग हैं, कोई भी सुखस्वरूप नहीं है, आनन्दस्वरूप नहीं है। उनमें अनुकूलता होनेपर सुखकी कल्पना होती है, सुखका मिथ्या आभास होता है। उनमें सुखकी सत्ता नहीं है। भगवान् हैं अनन्त सुख-सागर। आनन्द भगवान्का स्वरूप है। आनन्द भगवान्में है, सो नहीं। आनन्द भगवान्का स्वरूप ही है। वह आनन्द नित्य है, अखण्ड है, अतुलनीय है और अनन्त है। वह आनन्द साक्षात् सच्चिन्मय भगवद्रूप है। इसलिये उन आनन्दस्वरूप भगवान्में जिसका राग होता है, उसको आरम्भसे ही आनन्दकी ही स्फूर्ति होती है, अतः प्रारम्भसे ही उसे सच्चित्-आनन्दके दर्शन होते हैं, आनन्दका ही सतत सङ्ग, निरन्तर आस्वाद मिलता है। इस रसकी साधनामें आरम्भसे ही भगवान् सुखस्वरूपमें पूर्वराग होता है। सुखस्वरूप भगवान्में राग जो होता है, वह भगवान्की मिलनेच्छा उत्पन्न करता है और वह वियोग अत्यन्त दुःखदायी होता है। भगवान्के विरहमें जो अपरिसीम पीड़ा होती है, उसके सम्बन्धमें कहते हैं कि वह कालकूट विषसे भी अधिक ज्वालामयी होती है। वह महान् पीड़ा नवीन कालकूट विषकी कटुताके गर्वको दूर कर देती है—

पीडाभिर्नवकालकूटकटुतागर्वस्य निर्वासनः।

पर उस विषम वियोग-विषमें उस विषके साथ एक बड़ी विलक्षण अनुपम वस्तु लगी रहती है—भगवान्की मधुरातिमधुर अमृतस्वरूप चिन्मयी स्मृति। भगवान्की यह स्मृति नित्यानन्तसुखस्वरूप भगवान्को अंदरमें ला देती है। फिर वह विष विष नहीं रह जाता। भयानक विष होते हुए भी वह देवलोकातीत भागवत-मधुर विलक्षण अमृतका आस्वादन कराता है। इसलिये भगवान्के मिलनकी आकाङ्क्षाके समय भगवान्के जिस अमिलन-जनित तापमें जो परमानन्द है, वह परमानन्द किसी दूसरे विषयके अमिलनपर उसके मिलनेकी आकाङ्क्षामें नहीं। इस तापमें परमानन्द हुए बिना रह नहीं सकता; क्योंकि भगवान् परमानन्दस्वरूप हैं। भोग-वस्तुएँ सुखस्वरूप नहीं हैं। इसलिये उनका अमिलन कभी सुखदायी नहीं हो सकता, वह दुःखप्रद ही रहेगा। अतएव इस रसकी साधनामें, प्रेमकी साधनामें प्रारम्भसे ही भगवान्का सुखस्वरूप साधकके रागका विषय होता है। भगवान्का कण-कण आनन्दमय है, रसमय है। वहाँ उस रसमयताके अतिरिक्त, उस रसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुकी कोई भी सत्ता नहीं है, भाव नहीं है, अस्तित्व नहीं है, होनापन नहीं है। वहाँ प्रत्येक रोम-रोममें केवल भगवत्स्वरूपता भरी है और भगवत्स्वरूपताका परमानन्द उसका स्वाभाविक सहज रूप है। वस्तुतः जहाँ-जहाँ भगवान्की स्मृति है, वहाँ-वहाँ भगवद्रसका समुद्र लहरा रहा है। अतएव आनन्दमय भगवान्को प्राप्त करनेके लिये, रसरूप भगवान्को प्राप्त करनेके लिये, प्रेमके द्वारा प्रेमास्पद भगवान्को प्राप्त करनेके लिये, भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये जिस प्रेम-साधनकी—रस-साधनकी निष्ठा होती है, आरम्भसे ही उसमें वह परम सुखका—परम माधुर्यका आस्वादन मिलता है। तो फिर भगवान्के विरहमें दुःखका होना क्यों माना गया है? विष क्यों बताया गया है? उसमें कालकूटसे भी अधिक विषकी कटुता क्यों कही गयी है? इसका उत्तर यह है कि वह भगवान्के मिलनकी आकाङ्क्षा संसारके भोगोंको प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षासे अत्यन्त विलक्षण होती है। यहाँ जो संसारका, संसारकी वस्तुओंका, प्राकृत पदार्थोंका प्राप्त होना है, वह यह अर्थ नहीं रखता कि वही वस्तु प्राप्त होनी चाहिये। एक वस्तुकी प्राप्ति न हो तो, दूसरी वस्तुसे संतोष हो सकता है। यहाँ तो विनिमय चलता है। एक वस्तु न मिली तो वैसी ही

दूसरी वस्तुसे काम चल गया। एक खिलौना न मिला तो बच्चेको दूसरा देखनेको मिल गया। पर वहाँ भगवान्‌के प्रेममें उस प्रेमके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुके मिलनेकी आकाङ्क्षा कदापि नहीं होती; क्योंकि अन्य कोई भी वस्तु उसकी पूर्ति कर ही नहीं सकती। किसी दूसरी वस्तुसे उस कामनाकी तृप्ति नहीं हो सकती। इसलिये भगवान्‌के मिलनके मनोरथमें जो संताप होता है, वह संताप इतना तीव्र होता है कि दूसरी किसी वस्तुसे, किसी भी परिस्थितिसे वह मिट ही नहीं सकता। इसीलिये वह अत्यन्त तीव्र होता है। उसकी तीव्रता जबतक भगवान् नहीं मिलते, उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है।

यह अवश्य ही बड़ी मनोहर बात है कि भगवान्‌में परस्पर विरोधी गुण–धर्म युगपत् रहते हैं, जो भगवान्‌की भगवत्ताका एक लक्षण माना जाता है और यह कहा जाता है कि जिसमें परस्पर विरोधी गुण-धर्म एक साथ, एक समयमें रहें, वह भगवान् है। जहाँ गरमी है, वहाँ सर्दी नहीं है; जहाँ दुःख है, वहाँ सुख नहीं है, जहाँ मिलन है, वहाँ अमिलन नहीं है और जहाँ भाव है, वहाँ अभाव नहीं है। इस प्रकार दो विरोधी वस्तु जगत्‌में एक साथ एक समय नहीं रहतीं। यह नियम है। परंतु भगवान् ऐसे विलक्षण हैं—

अणोरणीयान् महतो महीयान्।
(कठ० १। २। २०)

वे अणु-से-अणु भी हैं और उसी समय वे महान्-से-महान् भी हैं।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
(ईश० ५)

'वे चलते हैं और नहीं भी चलते, वे दूर हैं और पास भी हैं।' वे एक ही समय निर्गुण भी हैं, उसी समय वे सगुण भी हैं। वे निराकार हैं, उसी समय वे साकार भी हैं। उनमें युगपत्—एक साथ परस्पर-विरोधी गुण-धर्म रहते हैं। और जिस प्रकार भगवान्‌में परस्पर-विरोधी गुण-धर्म एक साथ निवास करते हैं, उसी प्रकारसे वे परस्पर-विरोधी गुण-धर्म भगवत्प्रेममें,- भगवत्प्रेमकी साधनामें भी एक साथ रहते हैं। वहाँ प्रेम-साधनामें और प्रेमोदयके पश्चात् भी हँसनेमें रोना और रोनेमें हँसना चलता है। रोना विरह-विकलताजनित पीड़ाका और हँसना मधुरस्मृतिजनित आनन्दका। दोनों साथ-साथ चलते हैं। क्यों साथ चलते हैं? यह बिल्कुल युक्तिसंगत बात है। जिसके लिये वे रोते हैं, उसकी स्मृति है; स्मृति न हो तो किसके लिये रोना और स्मृति है तो उसके सांनिध्यका आनन्द साथ है। अतः रोना और हँसना—ये दोनों इस रसके साधनमें साथ-साथ चलते हैं। वस्तुतः वह रोना भी हँसना ही है। वह रोना भी मधुर है, मधुरतर है। फिर एक बात—ये मिलन और वियोग प्रेमके दो समान स्तर हैं। इन दोनोंमें ही प्रेमीजनोंकी भावनामें, प्रेमीजनोंकी अनुभूतिमें समान 'रति' है। तथापि यदि कोई उनसे पूछे कि 'तुम दोनोंमेंसे कौन-सा लेना चाहते हो, एक ही मिलेगा—संयोग या वियोग?' यह बड़ा विलक्षण प्रश्न है। जो प्राणाराम है, जो प्राणप्रियतम है, जो प्राणाधार है, जिसका क्षणभरका विछोह भी अत्यन्त असह्य है, जिसके बिना प्राण नहीं रह सकते, वह मिले या उसका वियोग रहे? हमसे पूछा जाय कि 'तुम दोनोंमेंसे कौन-सा चाहते हो' तो स्वाभाविक हम यही कहेंगे—'हम मिलन चाहेंगे, संयोग चाहेंगे, वियोग कदापि नहीं।' पर इन प्रेमियोंकी कुछ विलक्षण—अनोखी रीति है। वे कहते हैं कि इनमेंसे यदि एक मिले तो हम वियोग चाहते हैं, संयोग नहीं चाहते। भाई, क्यों नहीं चाहते? बड़ी विलक्षण बात है। तो कहते हैं कि वियोगमें संयोगका अभाव नहीं है; यद्यपि वियोगमें बाहरसे दर्शन नहीं है, बाहरी मिलन नहीं है, तथापि अभ्यन्तरमें, अंदरमें मधुर मिलन हो रहा है। मिलनका अभाव तो

है ही नहीं । और असली मिलन होता भी है मनका; हमारे सामने कोई वस्तु रहे भी और हमारी खुली आँखें भी हैं, पर मनकी वृत्ति उस आँखके साथ नहीं है तो सामनेवाली वस्तु आँखोंके सामने रहनेपर भी दीखेगी नहीं । योग-साधनमें तो ऐसा एक स्तर भी होता है कि जहाँपर, कहते हैं कि आँखें खुली हैं, पर कुछ दीखता नहीं है । यह क्यों होता है ? इसलिये कि आँखोंमें जो देखनेवाला है, जो देखनेकी वृत्ति है, वह नहीं रहती । अतः आँख खुली रहनेपर भी नहीं दिखायी पड़ता । इसी प्रकारसे वियोगमें नित्य संयोग रहता है, प्रियतम भगवान् सर्वथा मिले रहते हैं और वहाँ निर्बाध लीला चलती है । यों बाह्य वियोगमें आभ्यन्तरिक मिलन तो है ही, उसमें एक विलक्षणता भी है । वियोगके संयोगमें और संयोगके संयोगमें क्या विलक्षणता है ? संयोगका मिलन बाहरका मिलन है । उसमें समय, स्थान, लोकमर्यादा आदिके बन्धन हैं । यह बिल्कुल स्वाभाविक बात है, सब समझ सकते हैं । बोले—भाई ! आज आपसे मिलनेका समय हमने निश्चित किया है, दिनमें तीन बजे । उसके बाद दूसरा काम करना है, फिर तीसरा काम करना है । और अमुक स्थानपर मिलना है । इस प्रकार यह मिलन स्थान-सापेक्ष है, यह मिलन समय-सापेक्ष है । फिर वह बाहरका मिलन कैसा है ? जैसे राजदरबारमें राजपुत्र भी जाकर दरबारके नियमानुसार राजासे मिलता है, वह सीधा जाकर गोदमें नहीं बैठता । सबके अलग-अलग स्थान निश्चित रहते और तदनुसार ही आसन लगे होते हैं । राजदरबारमें एक मर्यादा है, तदनुसार ही अलग-अलग आसन है । यह नहीं कि महलमें जैसे राजकुमार पिताकी छातीपर बैठकर उनकी दाढ़ी नोचने लगे, वैसे ही दरबारमें भी करे । अलग-अलग मर्यादा होती है मिलनकी स्थानके अनुसार । अतः संयोगके मिलनमें स्थान निर्बाध नहीं, मिलनमें समय निर्बाध नहीं, मिलनमें व्यवहार निर्बाध नहीं । और वियोगके मिलनमें जो अंदर मिलन होता है, वह कितनी देर होता है ? कोई देर-सवेरकी अपेक्षा नहीं । लगातार दिनभर होता रहे, कौन रोकता है ? और कहाँ होता है ? जहाँ भी वह अंदर प्रकट हो जाय, वहीं होता है—जंगलमें, वनमें, घरमें, बाहर, बाजारमें—कहींपर भी । वह स्थानकी अपेक्षा नहीं रखता कि अमुक स्थानमें मिलन होगा । फिर मिलनमें व्यवहार कैसा होगा ? वहाँ न राजदरबार है न महल है । जैसा मनमें आये, वैसा ही निर्बाध स्वच्छन्द व्यवहार । इस प्रकार व्यवहारका स्वातन्त्र्य, समयका स्वातन्त्र्य और स्थानका स्वातन्त्र्य जैसा अन्तरात्मासे अभ्यन्तर मिलनमें है वैसा बाह्य मिलनमें नहीं है । अवश्य ही अन्तरात्माके मिलनमें, अभ्यन्तरके मिलनमें यदि वास्तविक मिलन न होता, तब तो यह वियोग बहुत बुरी चीज थी; क्योंकि भगवान्‌का, प्रियतमका वियोग तो सदा जलानेवाला ही है । पर यह प्रियतम श्रीभगवान्‌का वियोग है, संसारी वस्तुका नहीं है; इसलिये यह वियोग विलक्षण—परम सुखमय होता है । संसारकी किसी प्रिय वस्तुका वियोग हो जाता है, तब वह बार-बार याद आती है, पर मिलती नहीं । इससे वह उसकी स्मृति भी दुःखदायिनी होती है । हमारे एक मित्र हैं, बड़े अच्छे पुरुष हैं, बड़े विचारशील हैं, बड़े विद्वान् हैं, बड़े देशभक्त हैं, बड़े धार्मिक हैं—सब गुण हैं उनमें । उनके सुयोग्य पुत्रका कुछ वर्षों पूर्व देहावसान हो गया था । अतः वे जब-जब मिलते हैं, तब-तब कहते हैं, 'भाईजी ! मैं उसको भुला नहीं सकता ।' विचारशील हैं, वे समझते हैं कि जिस पुत्रका देहान्त हो गया, वह मिलेगा नहीं । वे दूसरोंको उपदेश कर सकते हैं, करते हैं; पर जब-जब एकान्तमें मिलते हैं, तब वही दशा देखी जाती है । वह वियोग क्यों दुःखदायी है ? इसीलिये कि उसमें स्मृति तो है, पर स्मृतिमें मिलन नहीं है । मिलनकी सम्भावना ही नहीं है । भगवान् तो स्मृतिमें स्वयं प्रकट

होकर सुखदान करने लगते हैं । पर जगत्‌की प्रत्येक वस्तुका वियोग केवल दुःखदायी ही होता है; क्योंकि उसमें मिलन है ही नहीं । प्रियतम भगवान्‌की बात इसीसे विलक्षण है । उसमें जहाँ बाहरका अमिलन हुआ, वहीं भीतरका मिलन प्रारम्भ हो गया । जरा-सी देरका भी वियोग प्रेमीको सहन होता नहीं—वियोग रहता भी नहीं । वियोगकी जो असहिष्णुता है, वियोगका जो महान् संताप है, वह तुरंत प्रियतमकी स्मृतिको मनमें उदित कर देता है बड़े विलक्षण रूपसे और वह स्मृति प्रियतमकी सुखस्वरूपा केवल स्मृति होकर नहीं रहती, वह प्रियतम भगवान्‌के साक्षात् मिलनका अनुभव कराती है । अतः जिस वियोगमें ऐसे मिलनका अनुभव हो, जिसमें समयकी, स्थानकी और मिलनके व्यवहारकी सर्वथा स्वतन्त्रता हो, वह अच्छा या वह परतन्त्र स्थान, परतन्त्र समय और परतन्त्र व्यवहारवाला थोड़े कालका मिलन अच्छा ? इन दोनोंको देखकर ही प्रेमी कहता है कि संयोग-वियोग दोनोंमेंसे किसी एककी बात आप पूछें तो हम कहेंगे कि 'हमें वियोग दीजिये, संयोग नहीं ।' वियोगमें मिलनका अभाव नहीं है और संयोगमें वियोगकी सम्भावना है । इसलिये उसमें वियोगका दुःख भी रहता है—भावी वियोगका दुःख होता है कि कहीं मिली हुई चीज चली न जाय । अतः इस रसकी साधनामें प्रारम्भसे ही, जहाँ वियोग है—जहाँ मिलन नहीं हुआ है, वहाँ पूर्वराग प्राप्त होता है और उस पूर्वरागके कारणसे प्रियतमकी अपने प्रेष्ठ भगवान्‌की जो नित्य मधुर स्मृति रहती है, वह स्मृति सुखस्वरूपा होनेके कारण मार्गका प्रारम्भ होते ही माधुर्यका आस्वादन आने लगता है । इसीलिये यह रसका मार्ग—सर्वथा मधुर मार्ग है, मधुर मार्ग ।

दूसरी बात है—इस वियोगमें, इस मधुर मार्गपर चलनेमें जो आराध्य प्रियतम भगवान् हैं, एकमात्र उन्हीं प्रियतमकी अनन्य आकाङ्क्षा रहती है, दूसरी आकाङ्क्षा रहती ही नहीं । भगवान्‌को छोड़कर, जगत्‌का स्वरूप तमोमय है, अन्धकारमय है और भगवान् हैं प्रकाशमय । उनमें प्रकाश-ही-प्रकाश है । मनमें भगवान्‌को प्राप्त करनेकी जो वृत्ति उत्पन्न होती है, वह वृत्ति सात्त्विक होती है । सात्त्विक वृत्ति प्रकाशरूपा होती है । भगवान् तो परम प्रकाशरूप हैं ही, इसलिये इस रसकी साधनामें निरन्तर और निरन्तर एकमात्र परम प्रकाशरूप भगवान् सामने रहते हैं । इसीलिये इसका नाम है—'उज्ज्वल रस' । मधुर रस और उज्ज्वल रस एक ही चीज हैं । 'काम अन्ध तम, प्रेम निर्मल भास्कर' । इसमें कामनालेश न होनेके कारण कहींपर भी अन्धकारके लिये कोई कल्पना ही नहीं है, दुःखके लिये कोई कल्पना ही नहीं है । इस रसकी साधनामें आरम्भसे ही भगवान्‌का स्वरूप, भगवान्‌का शब्द, भगवान्‌का स्पर्श, भगवान्‌का गन्ध और भगवान्‌का रस—ये सब साथ रहते हैं । जहाँ शुरूसे भगवद्रस साथ हो, वही रसकी साधना है । यह परम प्रियतम भगवान्‌की साधना है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँचों भोगरूप विषय जहाँ इन्द्रिय-चरितार्थताके लिये हैं, जहाँ ये प्राकृतिक विषय हैं, वहाँ ये बड़े गंदे, सर्वथा हेय और त्याज्य हैं तथा जहाँ इनको लेकर भगवान्‌के श्रीविग्रहका अप्रतिम सौन्दर्य नित्य नूतन रूपमें बढ़ता रहता है और जहाँ ये भगवान्‌की सुषमा-सामग्रीके रूपमें हैं, वहाँ ये रसस्वरूप हैं, वहाँ ये पवित्र हैं, परम पावन हैं । केवल पवित्र ही नहीं हैं, पवित्र करनेवाले हैं । इस साधनामें कहीं भगवान्‌की सुरीली मुरली-ध्वनि सुनायी पड़ती है, कहीं भगवान्‌के इस स्वरूपकी मनोहारिणी झाँकी होती है, कहीं भगवान्‌का मधुर प्रसाद प्राप्त होता है, कहीं भगवान्‌के चरणोंका कल्याण-सुखमय स्पर्श होता है और कहीं भगवान्‌का दिव्य अङ्ग-सुगन्ध प्राप्त होता है । इसलिये ये जितने भी मधुरतम पदार्थ हैं, जितने भी भगवान्‌के रसस्वरूप पदार्थ हैं—

ये आरम्भसे ही साधनाके अङ्गरूपमें साथ रहते हैं; क्योंकि इन्हींको साथ लेकर साधक रसमार्गपर अग्रसर होता है, इनका त्याग नहीं करता। जहाँ ज्ञानका साधक वैराग्यकी भावनासे विषयोंका त्याग करता हुआ, जगत्को देख-देखकर उससे घबराता हुआ, उसको छोड़ता हुआ, उसे बलात् हटाता हुआ आगे बढ़ता है (और वह सर्वथा उचित तथा युक्तियुक्त ही है), वहाँ इस रस—प्रेमका साधक इनको हटाता नहीं, दूर नहीं करता, मारता नहीं, वह तो बड़े चावसे इन सबको भगवान्की सुखसामग्री मानकर साथ लेता चलता है। वह भगवान्के शब्दको, भगवान्के रसको, भगवान्के रूपको, भगवान्की अङ्ग-सुगन्धको, भगवान्के संस्पर्शको सदा साथ रखता है; क्योंकि यही स्मरण करता है न वह। यही उसकी साधना है और इस प्रकारसे वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन विषयोंको भगवान्के सौन्दर्यका पोषक देखकर ही इनका तथा भगवान्का सतत स्मरण करता है। वह विषय-जगत्का और उन विषयोंके त्यागका स्मरण नहीं करता। वह इनके भगवान्के द्वारा ग्रहण किये जानेका स्मरण करता है। इसमें यह बड़ा अन्तर है। जगत्को दुःखमय जानकर विरक्त होना, उसे छोड़ना—यह दुःखका स्मरण कराता है, भयका स्मरण कराता है। इसमें रहेंगे तो बड़ा भय होगा, बड़ी दुर्दशा होगी, बड़ा विषाद-शोक प्राप्त होगा, बड़ी हानि होगी, यह बड़ा ही दुःखद है, बड़ा भयानक है—इस प्रकारकी धारणा होती है और उस साधनामें यह आवश्यक और उचित भी है। उस साधनाका यह एक स्वरूप है। विषयोंमें वैराग्य होना ही चाहिये। परंतु यह रागकी साधना वैराग्यकी साधना नहीं है। इसीलिये इसका नाम रागात्मिका, रागानुगा या प्रेमाभक्ति है। इस रागकी साधनामें जगत्की, जगत्के दुःखोंकी, उनके त्यागकी स्मृति करनेकी आवश्यकता नहीं है। एकमात्र भगवान्की स्मृतिमें जगत्की आत्यन्तिक विस्मृति हो जाती है। वह केवल भगवान्की स्मृतिको साथ रखकर चलता है। उसे निरन्तर भगवान्के इन पाँचों दिव्य विषयोंका अनुभव होता रहता है। कभी वह भगवान्का मधुर-मनोहर स्वर सुनता है, भगवान् कैसे मीठे बोलते हैं, नन्दबाबासे बोल रहे हैं, यशोदा मैयासे मचल रहे हैं, कौशल्या मैयासे हँस-हँसकर बोल रहे हैं, कितने मीठे हैं। इनके शब्दोंमें कैसा माधुर्य है, ये स्वर कितने—कितने आकर्षक हैं। बेचारे कवियोंने स्वर-माधुरी, रूप-माधुरी, गति-माधुरी, वर्ण-माधुरी आदिमें भगवान्के अङ्गोंकी पशु-पक्षियोंसे उपमा दी। पर वास्तवमें भगवान्का सौन्दर्य कभी पशुओं-पक्षियोंकी तुलनामें थोड़े ही आता है। वह तो सर्वविलक्षण है। रसमार्गके साधक पहले भावनासे अपने इच्छानुसार मनमाने रूपमें उनकी धारणा करते हैं, यों भगवान् पहले उनकी भावनामें आते हैं। फिर भगवान् उनमें उस भोगके स्थानमें अपने सच्चे शब्दको, सच्चे रसको, सच्चे स्पर्शको, सच्चे रूपको और सच्चे गन्धको प्रकट कर देते हैं। तात्पर्य यह कि इस रसका साधक चलता है इन्हींको लेकर, इनमें रागको लेकर। भगवान्में रागको लेकर चलना और जगत्में विरागको लेकर चलना—ये साधनके दो बिभिन्न स्वरूप होते हैं। दोनों ही अच्छे हैं, दोनोंका फल भी तत्त्वकी दृष्टिसे एक ही तत्त्वकी प्राप्ति है। फलमें तात्त्विक भेद नहीं है, पर भेद इस मानेमें है कि इस रसमें कहीं दुःखका गन्ध नहीं है, दुःखका भय नहीं है, दुःखजनित विषाद नहीं है और कहीं किसी वस्तुके त्यागकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ केवल सुख-ही-सुख है, केवल मधुरता-ही-मधुरता है, केवल आनन्द-ही-आनन्द है। सारी वस्तुएँ भगवान्की पूजाकी सामग्री होनेके कारण किसीके त्यागकी आवश्यकता नहीं है। इस रसका साधक प्रारम्भसे ही—पहलेसे ही भगवान्के

रागको साथ लेकर चलता है। पूर्वरागके जो लक्षण हैं, उससे यह विदित हो जाता है कि कहीं तो भगवान्‌की मुरली-ध्वनि सुनकर वह मोहित हुआ, तो उस मुरली-ध्वनिका ध्यान होने लगा। कहीं किसीके द्वारा भगवान्‌के गुणोंकी चर्चा सुनी तो उससे उन गुणोंका चिन्तन होने लगा। कहीं किसी सखीके द्वारा भगवान्‌की मधुर लीलाओंका वर्णन सुना, किसी दूत या दूतीके द्वारा, किसी भगवद्भक्तके द्वारा उनकी प्रेम-पराधीनताका वर्णन सुना तो उन लीलाओंका स्मरण होने लगा। कहीं भगवान्‌के अङ्ग-सुगन्धकी चर्चा सुनी—कहीं जा रहे थे, दूरसे सुगन्ध आ गयी, अब वह सुगन्ध तो नहीं रही, पर उसका स्मरण होने लगा। कहीं स्वप्नमें भगवान्‌के दर्शन हो गये तो वहाँ भगवद्रूपके स्वप्नके दर्शनका स्मरण करता हुआ साधनमें लग गया। अभिप्राय यह कि उसकी साधनामें प्रत्येक भगवान्‌के विषयमें ही राग रहता है। वह सतत भगवद्विषयोंका अनुरागी होकर चलता है और जितने भी भगवद्विषय हैं, सब-के-सब परम मधुर हैं, सब परम उज्ज्वल हैं, सब परम सुखस्वरूप हैं, सब परम आनन्दमय हैं। अतः रागकी साधनामें आनन्द-ही-आनन्द है।

अवश्य ही इसमें एक डर है। वह डर है कि कहीं विषयोंमें—भोगोंमें वह भगवान्‌की चीजको न मान ले। भोगोंके त्यागकी तो आवश्यकता नहीं होती। भोग कहीं पड़े रहते हैं या वे भगवान्‌के भोग्य बन जाते हैं। उसको तो भगवान्‌की आवश्यकता है। वह भगवान्‌को साथ लेकर चलता है; पर कहीं भोगोंमें आसक्ति बनी रहे और भगवान्‌के नामपर कहीं उसका भोगोंमें प्रवेश हो जाय और भोग उसके जीवनपर छा जायँ तो बड़ी भारी दुर्दशा हो सकती है। इसलिये रसकी साधना जहाँ बड़ी मधुर, बड़ी आनन्ददायिनी है, वहाँ उसमें यह एक बड़ा खतरा है। किंतु वैराग्यकी साधनामें, जहाँ पहलेसे ही विवेकके द्वारा भोग-वैराग्य प्राप्त है, यह खतरा नहीं है। पर उसमें खतरा नहीं है तो वह आनन्द भी नहीं है। हमारे साथ-साथ भगवान् चलें और भगवान्‌के साथ-साथ हम चलें। हम भगवान्‌को देखते चलें, सुनते चलें, सूँघते चलें, चलते चलें और उनको छूते चलें। कितना बड़ा आनन्द है। चाहे जब भगवान्‌को चख लें, उनका रसास्वादन कर लें, भगवान्‌का स्पर्श प्राप्त कर लें, भगवान्‌के स्वर सुन लें, भगवान्‌की हम सुगन्धको सूँघें, भगवान्‌के सुन्दर मधुर रूपको देखें। कितनी बढ़िया चीज है। इन चीजोंका रस लेते हुए चलें। रसके साधककी यह विशेषता है कि वह इन चीजोंका रस लेता हुआ चलता है और यदि ये सब चीजें भगवान्‌को लेकर हैं तो वहाँ भोग आते ही नहीं। क्यों नहीं आते? इसीलिये कि वहाँ वे रह नहीं सकते—वैसे ही, जैसे सूर्यके सामने अन्धकार नहीं टिक सकता। वास्तवमें यह पवित्र रससाधन ही ऐसा है, जिसमें इन्द्रियदमन तथा विषयत्यागकी आवश्यकता नहीं होती, वरं समस्त इन्द्रियाँ और सम्पूर्ण विषय सच्चिदानन्दमय भगवान्‌का नित्य संस्पर्श प्राप्त करके धन्य हो जाते हैं। पर वस्तुतः मूलमें ही भूल रहती है। प्रारम्भमें ही मामला गड़बड़ रहता है। भगवान्‌के रसका नाम लेते हैं और होती है भोगलिप्सा। शुरुआतमें—आरम्भमें जब गलती रहती है, तब उसका फल भी वैसा ही होगा। किंतु वास्तवमें जो रसके मार्गपर चलनेवाले हैं, उनके पास भोग आ नहीं सकते। वे तो सदा भगवान्‌के रागमें संलग्न रहते हैं—वहाँ ये भगवद्विषयक रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श होते हैं। इनके स्थानपर संसारके रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श नहीं आ सकते। इनका प्रवेश उसमें वैसे ही नहीं होता, जैसे बर्फमें गरमी नहीं आती, जैसे अमृतके साथ विष नहीं मिलता। यदि कहीं विष आकर अमृतमें मिले तो अमृत उस विषको खा जायगा, विष भी अमृत बन जायगा। अमृतमें जो शक्ति है, वह शक्ति विषमें नहीं है। अमृत विषमें मिलकर विष

नहीं होगा, किंतु विषको अमृत बना लेगा । इसी प्रकारसे संसारके भोग भी भगवद्-रसको कभी दूषित नहीं बना सकते। ये स्वयं वहाँ जाकर पवित्र बन जाते हैं। जो भी संसारका भोग भगवान्‌के साथ समर्पित हो जाता है, वह पवित्र बन जाता है। रूप देखना इन्द्रियतृप्तिकर भोगके लिये और रूप देखना भगवान्‌के पवित्र सौन्दर्य-सुखका आस्वादन करनेके लिये—दोनोंमें बड़ा अन्तर होता है। अतः भगवान्‌के साथ सम्बन्धित होनेपर जितने भी दोष हैं,—भले ही उनके नाम काम, क्रोध, लोभ ही रहें,—वे पवित्र प्रेमके ही अङ्ग बन जाते हैं। कहा गया है—'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम् ।' गोपाङ्गनाओंके 'प्रेम' को 'काम' कहते हैं। पर वह हम लोगोंवाला सद्वृत्तिनाशक दूषित काम थोड़े ही है। 'काम' शब्दसे चिढ़ नहीं होनी चाहिये। **'सोऽकामयत्'** भगवान्‌ने कामना की,—**'एकोऽहं बहु स्याम्'**—मैं एकसे ही बहुत हो जाऊँ।' और हो गये।

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।'

भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—

'अर्जुन! प्राणियोंमें धर्मसे अविरुद्ध काम मैं हूँ, धर्मसे अविरुद्ध काम मेरा स्वरूप है।' अतः 'काम' शब्दसे डरनेकी जरूरत नहीं। काम यदि भगवद्रस-काम हो,—भगवान्‌के गुणानुवादकी कामना खूब जगे, भगवान्‌के मिलनकी कामना खूब बढ़े, भगवान्‌के गुण-श्रवणकी कामना कभी मिटे ही नहीं। ये सब भी काम ही हैं, पर ये काम वह दूषित काम नहीं है। भगवत्काम 'प्रेम' है और विषय-प्रेम 'काम' है। वैसे विषय-प्रेम भी काम है और भगवत्प्रेम भी काम है; पर दोनोंमें बड़ा अन्तर है। भगवान्‌के रसके मार्गमें ये भोग बाधक नहीं हो सकते। ये बाधक वहीं होते हैं, जहाँ मूलमें भूल होती है। इस रसके मार्गमें पहली चीज है भगवान्‌में पूर्वराग होना—केवल भगवान्‌में। जीवनमें ऐसा मौका लगता रहे, जिसमें बाहरी ज्ञान-विज्ञानकी चर्चा न हो, चर्चा हो केवल और केवल अपने श्यामसुन्दरकी, अपने भगवान्‌के सौन्दर्य-माधुर्यकी—उनके रसकी, उनके स्वरूपकी, उनके रूप-तत्त्वकी। किसीकी बात सुनें, किसीकी बात कहें, किसीकी बात सोचें तो क्या होता है? उसमें पूर्वराग पैदा होता है। वह यदि भोगोंमें हो गया तो आसक्ति, कामना, क्रोधके क्रमसे सर्वनाशका कारण होगा और वह यदि भगवत्स्वरूपमें हो गया तो वह क्रमशः प्रेमके मार्गमें आगे बढ़ता हुआ महाभावके उच्चस्तरपर ले जायगा। भगवत्स्वरूपमें रागका मार्ग आगे बढ़ेगा सदा निरापदरूपमें। इसमें बाधा नहीं आयेगी। क्यों नहीं बाधा आयेगी? यह एक बड़ी विलक्षण बात है। भगवान्‌को किसी वस्तुकी चाह नहीं है, उनको किसी वस्तुकी क्षुधा-पिपासा नहीं है; परंतु यह भगवान्‌का स्वभाव है कि वे प्रेमरसके भूखे-प्यासे बने रहते हैं। भगवान्‌को प्रेमकी क्षुधा-पिपासा लगी रहती है, जब कि प्रेमस्वरूप भगवान् ही हैं। जहाँपर भगवान्‌को विशुद्ध प्रेम-रस मिलता है, वहाँ भगवान् उस रसका आस्वादन करनेके लिये मनका निर्माण कर लेते हैं। महारास-रात्रिमें भगवान्‌ने मनका निर्माण कर लिया रमणके लिये—**'रन्तुं मनश्चक्रे ।'** वह रमण क्या भोग-रमण था या क्या वह योगियोंका आत्मरमण था? दोनों ही नहीं, दोनोंकी ही भगवान्‌को आवश्यकता नहीं। दोनोंसे परे भगवान्। यह तो भगवान्‌का स्वरूप-वितरण था, भगवान्‌का रसास्वादन था, रस-वितरण था। रस-वितरणमें सुखमय भगवान्‌को सुख मिलता है। यह बड़ी विलक्षण बात है। जो नित्य निष्काम हैं, उनमें कामना

उत्पन्न हो जाती है इस प्रेमसे। तो जहाँ प्रेमीजनको भगवान् देखते, हैं वहाँ वे उससे मिलनेको स्वयं आतुर हो जाते हैं और जहाँ भगवान् मिलनेको आतुर हुए, वहीं उसके मार्गके सारे विघ्न—सारी बाधाएँ अपने-आप हट जाती हैं। यह बड़े सुभीतेकी बात है। रसके मार्गमें, यदि यह ठीक रसके मार्गमें चल रहा है तो, वे रसिकशेखर भगवान् स्वयं रस-पानके लिये—रसास्वादनके लिये उसको शीघ्र-से-शीघ्र अपनी संनिधिमें बुला लेंगे। मार्गकी दूरीको, मार्गके व्यवधानोंको, मार्गके विघ्नोंको वे स्वयं सहज ही हटा देंगे—अपने-आप; क्योंकि वहाँपर वह भक्त ही नहीं, अपितु स्वयं भगवान् भी भक्तकी भाँति इच्छुक हो जाते हैं रस—मधुर दिव्य रसका पान करनेके लिये। भगवान्में इच्छा पैदा नहीं होती, वे स्वयं ही इच्छा बन जाते हैं। भगवान् सर्वसमर्थ हैं। वे स्वयं इच्छारूप हो जाते हैं। इसलिये यह रसका मार्ग बड़ा विलक्षण है। यह परम पवित्र है—इसलिये कि इसमें प्रारम्भसे ही भोगोंकी आसक्तिका अभाव रहता है। तभी तो भगवान्में राग होता है। जिसमें भोगासक्तिका अभाव है, जहाँ भोगासक्ति नहीं, वहाँ दुःख नहीं; जहाँ भोगासक्ति नहीं, वहाँ विषाद नहीं और जहाँ भोगासक्ति नहीं, वहाँ भय नहीं। जगत्में तो दो ही चीजें हैं। हजारों-हजारों 'भय'के स्थान हैं, हजारों-हजारों 'शोक' के स्थान हैं—'**भयस्थानसहस्राणि शोकस्थानशतानि च।**' जो प्रिय वस्तु, जो ममताकी वस्तु हमें प्राप्त है, वह कहीं चली न जाय—यह 'भय' हम सबको लगा होता है; और वह वस्तु चली गयी तो फिर रोना है—शोक है, विषाद है। ये भय और शोक हैं और इन्हींमें सारा संसार डूबा हुआ है। कौन संसार? जो विषयासक्त है—भोगासक्त है। भोगासक्तिके साथ भय, विषाद, शोक रहेंगे ही। इनसे वह कभी मुक्त नहीं हो सकता। किंतु जहाँ भगवान्का राग जगता है, वहाँ भोगासक्ति नहीं होती और वह भगवदनुराग बढ़ते-बढ़ते अत्यन्त विशाल भावका—प्रेमका समुद्र बन जाता है। फिर भी उसका बढ़ना बंद नहीं होता; क्योंकि यह उसका सहज स्वभाव है। उस नित्यवर्धनशील महान् रस-सागरमें भक्त-भगवान्—प्रेमी-प्रेमास्पद—दोनों लीला करते हैं। ये लीलामें नित्य दो होकर नित्य एक हैं और नित्य एक होकर नित्य दो हैं। भगवान्का यह विलक्षण रस-साम्राज्य है। वस्तुतः यह रस-साम्राज्य भगवान्से भिन्न नहीं है तथापि सर्वथा भिन्न है। इस रस-साम्राज्यमें जो रसिक नहीं हैं, उनका प्रवेश नहीं होता—वे चाहे महाज्ञानी हों। याज्ञवल्क्य रसके सागरमें नहीं आ सकते, नारद आ सकते हैं, शुकदेव आ सकते हैं। शुकदेव परम ज्ञानी होते हुए भी इस रस-सागरमें डुबकी लगाया करते हैं। इसलिये यह रस-सागर बड़ा अनुपम, अतुल, विलक्षण है। इसमें प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद वस्तुतः एक भगवान् ही होते हैं, पर सदा ही तीन बनकर रसास्वादन करते-कराते रहते हैं। यह अनादिकालीन है, अनन्तकालीन है, इसमें कभी विराम नहीं, कभी इसमें रुकावट नहीं, कभी इसका बंद होना नहीं, कभी इसका ह्रास नहीं; कभी इसका विनाश नहीं। यह नित्य नव रूपमें प्रतिक्षण बढ़ता हुआ वर्तमान रहता है।

अखण्ड आनन्दकी उपलब्धि

(लेखक—डा० श्रीनरेन्द्रकुमारजी सेठी, एम्० ए०, पी-एच् डी०, संचालक, भारतकेन्द्र, न्यूयार्क, १९६६)

आनन्द जीवनका सनातन तत्त्व है। यह एक आत्मिक सौन्दर्य है, जिसके माध्यमसे अखण्ड ब्रह्माण्डकी चरम शक्तिसे हमारा पुनीत सम्बन्ध स्थापित होता है। यह एक असीम मानस उपलब्धि है, जो हमें हमारे भौतिक धरातलसे उठाकर ऊर्ध्वगामी सत्यकी ओर उन्मुख करती है। निस्संदेह आनन्द एक निराली आध्यात्मिक व्यञ्जना है, जिसके बिना हम 'पूर्णत्व' तक पहुँचनेमें असमर्थ हैं।

आनन्द एक आस्था है। ब्रह्मके सार्वभौम अस्तित्वका एक अनुपमेय उदाहरण है। प्रकृतिके नैसर्गिक सौन्दर्यका एक मनोरम प्रतीक है। आत्माके कल्याणकारी स्वरूपका एक चिरंतन बिम्ब है।

आनन्द एक विश्वास है। परम 'शिव' की सार्वकालिक व्यञ्जनाका सजीव आग्रह है। आन्तरिक 'सत्यम्' एवं बाह्य 'सुन्दरम्' का जाग्रत् अन्तर्मिलन है।

आनन्द एक अनुभूति है। इसमें लोक-परलोकका द्वन्द्व समीभूत होकर एक शाश्वत तत्त्वमें विलीन हो जाता है। यहाँ एकत्व है—सम्मिलन है—समाहार है।

हमारी सांस्कृतिक परम्परा भी आनन्दको एक शाश्वत जीवनोद्देश्य स्वीकार करती है। भारतीय अध्यात्म एवं दर्शनमें 'आनन्द-तत्त्व' की महत्त्वपूर्ण व्याख्या की गयी है। आनन्द-रसको आत्माका चरम उत्कर्षमय स्वरूप माना गया है।

आनन्दकी भौतिक व्यञ्जना करनेवाले पाश्चात्य दार्शनिकोंका मानसिक परिवेश अत्यन्त सीमित है। जो सुख केवल शारीरिक या ऐन्द्रियिक धरातलपर मिलता है, वह न स्थायी है और न नैसर्गिक। उसमें केवल क्षणिक उच्छ्वास है, जो अन्तमें माया तथा परिग्रहके वशमें आकर दुःखमें परिवर्तित हो जाता है। ऐन्द्रियिक स्तरसे परे, मानसिक एवं आत्मिक स्तरपर जो आनन्द प्राप्त होता है, उसमें स्थायित्व है और नैसर्गिक शक्ति है, जिसे न माया परास्त कर सकती है और न परिग्रह ही। वास्तवमें यही सच्ची जीवन-शक्ति है।

आनन्दतत्त्व और सौन्दर्यमें अपूर्व सम्मिलन है। यह सौन्दर्य विश्वमें सर्वत्र व्याप्त है; परंतु इसे ऐन्द्रियिक स्तरपर न तो देखा जा सकता है और न इसकी अनुभूति ही सम्भव है। इसे देखनेके लिये एक सुनियमित (disciplined) आत्म-चक्षुकी आवश्यकता है। यह चक्षु उसे ही प्राप्त होता है, जिसको आनन्दकी सम्पूर्ण व्यञ्जना मिल चुकी है।

यह आनन्द जीवनका उत्कर्ष है, जीवनका त्याग नहीं। इसमें जिजीविषा है, ग्लानि नहीं। इसमें उत्साह और औदार्य हैं, पराजय या वैराग्य नहीं। इसमें भुलावा या छलना नहीं है, आस्था और एकाग्र निष्ठा हैं। अतः रस—आनन्दकी उपलब्धिके लिये पलायन नहीं, उत्सर्गकी आवश्यकता है। गम्भीर मनन और चिन्तनके पश्चात् जब हमारी दृष्टि भौतिक धरातलसे ऊपर उठकर सर्वत्र उन्मुख होती है और जब हमारा अन्तश्चक्षु इतना विकसित हो जाता है कि प्रकृतिमें लीन होनेवाले ब्रह्मतत्त्वके अस्तित्वका हमें आभास होने लगता है, तब इस परम पुनीत आनन्दतत्त्वकी ओर हमारा लक्ष्य जा सकता है, अन्यथा नहीं।

इस अखण्ड आनन्दमें ही मानव-जीवनकी पूर्ण सार्थकता है।

ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती

'कल्याण'-पाठकोंके सुपरिचित वयोवृद्ध ज्ञानवृद्ध महात्मा स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज गत ६ अप्रैलको प्रातःकाल सिहोर स्थानमें नश्वर भौतिक देहका परित्याग करके ब्रह्मलीन हो गये। पूज्यपाद स्वामीजी-का जन्म आचार-विचार और पवित्रताके सिद्धान्तोंका दृढ़तापूर्वक पालन करनेवाली ब्राह्मणजातिमें हुआ था। वे ब्रह्मनिष्ठ महात्मा थे। उनके लेख बहुत ही विचारपूर्ण तथा शास्त्रसम्मत होते थे। 'कल्याण' के पाठकोंने महात्माजीके लेखोंसे बहुत लाभ उठाया है, हमलोगोंपर उनका बड़ा ही स्नेह था। मैं 'कल्याण' परिवार, 'कल्याण' के सहस्रों-लाखों पाठक-पाठिकागणकी तथा अपनी ओरसे उनको भक्तिपूर्ण हृदयसे श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता हूँ। 'कल्याण' के पाठकोंसे मेरा निवेदन है कि वे समय-समयपर 'कल्याण'में प्रकाशित उनके लेखोंको सुविधानुसार पुनः पढ़कर एवं तदनुसार जीवन बनाकर लाभ उठायें।

महात्माजीके सम्बन्धमें उनके सेवक श्रीनटवरलालजी म० वोराने कुछ संस्मरण लिखकर भेजे हैं, उनमेंसे कुछ अंश नीचे दिया जाता है।

—सम्पादक

अन्तेवासी श्रीनटवरलालजी लिखते हैं—

परम पूज्य स्वामीजीके सिहोरमें निवास करते समय, वैसे तो लगभग आठ वर्षोंसे मैं उनके सांनिध्यमें था और मुझसे बन सकने योग्य सेवा करनेका सुअवसर पूज्य स्वामीजी कृपा करके मुझे प्रदान किया करते थे। प्रसङ्ग प्राप्त होनेपर हरएक मौकेपर कहते थे कि शरीरकी सेवा मैंने एक ही व्यक्तिको दी है और एकको ही यह दी जा सकती है। पूज्य स्वामीजीकी सहजावस्थाके विषयमें या ब्रह्मभावके विषयमें तो शब्दोंमें क्या लिखा जा सकता है ?

पू० स्वामीजीके शरीरमें अन्तिम ढाई वर्षोंके बीच एक ऐसा लक्षण प्रकट हुआ, जो उनकी परमोच्च आध्यात्मिक अवस्थाका प्रमाणस्वरूप तथा सूचक है।

इधर कुछ समयसे वे लघुशङ्का करनेके लिये उठ-बैठ नहीं सकते थे। इसलिये डिशमें मूत्रत्याग करते थे। आश्चर्यकी बात यह थी कि पेशाबमेंसे दुर्गन्ध आनेके बदले, डिशमें चार-छः घंटे पेशाब पड़े रहनेपर भी उसमेंसे चन्दनकी सुवास निकला करती थी। गत वर्ष एक विद्वान् संन्यासी काशीसे यहाँ आये थे। उन्होंने गौण उपनिषदों (Minor Upanishads) के विषयमें चर्चा करते हुए एक स्थलकी व्याख्या संस्कृतमें सुनायी और समझायी। उसमें लिखा था कि ज्ञान होनेके बाद जब निष्ठाकी चरमावस्था आती है और अमुक प्रकारकी परमोच्च अवस्था प्रकट होती है, तब मल-मूत्रसे चन्दनकी सुवास प्रकटित होती है। समागत पूज्य स्वामीजीने जब उपनिषद्के इस प्रमाणकी बात कही, तब सबको संतोष हो गया और तब कोई संशय नहीं रहा।

अन्तिम दिनोंमें पूज्य स्वामीजीकी मानसिक स्थितिमें किसी भी प्रकारका कोई अन्तर नहीं आया। केवल उनके मुँहसे यह उद्गार कई बार निकलता था कि अब शरीर छूट जाय तो अच्छा हो। उनका ता० ५ अप्रैलका कार्यक्रम सदाकी भाँति चल रहा था। उस दिन उनकी कमजोर तबीयतका समाचार जिनको मिला, वे उनके दर्शनके लिये राततक आते रहे। इससे विशेष शारीरिक श्रम तो पड़ा होगा, परंतु सबके साथ उन्होंने प्रसन्नता-पूर्वक बातें कीं।

ता० १८ जनवरी १९६७ के दिन पूज्य स्वामी-जीको मूर्छा आ गयी थी। उस दिनसे मैं (नटवरलाल) उनको शौच-स्नान आदि करानेके लिये उनके पास जहाँतक सम्भव था तैयार रहता और रातको पास ही सोता भी था। ५ तारीखको भी रातको रोजकी तरह उनके समीप ही बिस्तरपर सोया था। सबेरे ४ बजकर ३५ मिनटपर मैं उठा। पूज्य स्वामीजीके साथ थोड़ी बातचीत भी हुई। उस समय भी पू० स्वामीजी सदाकी तरह स्वस्थचित्तसे बातें करते रहे और मुझको शौचादिके निमित्त जानेके लिये कहा। रोजकी तरह मैं बाहर दन्तधावन-शौचादिके लिये गया। फिर पूज्य स्वामीजीके

लिये चाय लेकर मैंने कमरेमें प्रवेश किया तो देखा कि खाटपर पूज्य स्वामीजीका शरीर शान्त हो गया है।

इस प्रकार पूरी सावधानीसे और पूर्ण मानसिक स्वस्थतामें पूज्य स्वामीजीने शरीरत्याग किया। ऐसी मानसिक स्वस्थता अन्ततक रहनेका कारण कुण्डलिनीका प्रभाव था, ऐसा अनुमान होता है। भगवान्‌की असीम कृपाका इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है ?

अन्तमें पूज्य स्वामीजीने अहैतुकी कृपाकी महान् किरण बिखेरकर मेरे-जैसे सामान्य मानवको जिस प्रकार धन्य बना दिया, उसका उल्लेख करते समय इस महान् विभूतिके चरणोंमें हृदय बारंबार वन्दना करता है। जैसा मैंने ऊपर कहा है कि पूज्य श्रीने मुझे शौचादिके लिये जानेकी आज्ञा दी। जब मैं उनके चरणोंमें प्रणाम करके जाने लगा, तब पूज्य श्रीने, जो कभी किसीको स्पर्श नहीं करते थे, मेरे मस्तकको अपने दोनों हाथोंसे स्पर्श करके आशीर्वाद दिया—'जाओ, विजयी बनो।' उस समय तो कुछ समझमें न आया। परंतु दूसरे ही दिनसे मेरी आन्तरिक अवस्थामें कुछ और ही अद्भुत अनुभव होने लगा। आज विचार करनेपर यह प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि यह, पूज्य स्वामीजीकी मेरे ऊपर जो महान कृपा हुई, उसीका फल था। परम कृपालु परमात्मासे यह प्रार्थना करता रहता हूँ कि मेरी यह स्थिति निरन्तर बनी रहे।

पूज्य स्वामीजीने आज्ञा दी थी कि उनके शरीरका दाह-संस्कार तो किया जाय, पर षोडशी आदि कोई कर्म करनेकी जरूरत नहीं। उनके आज्ञानुसार उनके शरीरका अग्निदाह किया गया, पर पीछे कोई भी विधि नहीं की गयी।

सर्वत्र सबमें भगवान्

किसमें पाप-दोष देखूँ मैं ? किसमें अब देखूँ शैतान।
कैसे किसे पराया समझूँ, जब कि भरे सबमें भगवान॥
भू-जल-अनल-अनिल-नभ हैं, नक्षत्र सभी उनके ही नाम।
मनुज-दनुज, सुर-पितर, चराचर उनकी ही अभिव्यक्ति तमाम॥
कर्म-अकर्म-विकर्म, सत्-असत्—सब केवल उनके ही रूप।
वे ही प्रलय-सृष्टि-पालन, लीलामय लीलानिरत अनूप॥
नहीं मोह-मायाकी सत्ता, वे ही सब कुछ बनते आप।
देश-काल सब ही उनमें, वे नित्य सनातन अमित अमाप॥
मेरे लिये कभी, कुछ भी, अब रही न कहीं अन्य सत्ता।
हैं सर्वत्र एक मेरे वे श्याम, उन्हींकी भगवत्ता॥
एक बचा, मैं उनकी सेवा करने, करने नित्य प्रणाम।
सदा सर्वथा उनकी पूजा—एकमात्र मेरा यह काम॥
अपने प्रति संकल्प-कार्यसे मैं उनकी पूजा करता।
देख विचित्र रूप अगणित अति मैं नित नये मोद भरता॥
देख देख उनको, उनकी अपनी स्वरूपभूता लीला।
सच्चिन्मय आनन्द-सुधा-सरिता बहती वर्धनशीला॥

'क्लैब्यं मा स्म गमः'

(लेखक—डॉ० गणेश खरे, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्० डी०)

एक शताब्दीसे भी अधिक कालतक तपस्यामें तपी कुंदन-सी देह, चेहरेपर शालीनता, सौम्य और आत्मकान्तिसे प्रदीप्त, गरिमासे सम्पन्न एक ऋषिवर प्रवचन कर रहे थे। उनके नयनोंमें तैर रहे थे बदरीनाथकी हिमधवल शैल-शिखर, प्रोज्ज्वल आभा और स्निग्ध शीतलता; मन श्रद्धासे झुका, माथा नवा और हृदय आशीर्वादके लिये उत्सुक हो उठा। एक सजग कुतूहल, वयके आश्चर्यकी सीमा-सी, न जाने उस क्षण मेरे मानसमें कितनी लहरें उन्मथित हो उठीं। एक दीर्घकालीन तपस्याके पुण्य-फलसे साक्षात्कारके वे मात्र पंद्रह मिनिट आह्लाद और जीवनकी सार्थकताके प्रथम सोपान बनकर अडिग हो गये। एक सुन्दर-सा सपना देखा और आज उसकी स्मृतिमें सुख पा रहा हूँ।

उनकी बातें सर्वथा नयी नहीं थीं; ऐसी भी नहीं, जिन्हें सामान्य जनता न समझ सके। पर उनमें आत्म-चेतना और एकान्त साधनाका योग था; वे कर्मनिष्ठा, अभयता, निश्छलता और सीधे ही हृदयपर प्रभाव डालनेकी अपूर्व शक्तिसे युक्त थे। न्याय और नियमकी विवेचनाका प्रसङ्ग चल रहा था। वे कह रहे थे, न्याय और नियमके सम्मुख अपवाद नहीं होने चाहिये। वे तो सभी कालोंमें सब व्यक्तियोंके लिये समानरूपसे क्रियाशील होते हैं। न्यूनाधिकताकी भावना विषमताओं-को जन्म देती है, दुःख और विकारोंकी वृद्धि करके मनुष्यके जीवनको अशान्त कर देती है। मनुष्य अच्छे कार्योंकी ओर कठिनाईसे ध्यान लगा पाता है; किंतु बुरे कार्य उसे सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं और एक बारकी शिथिलता बार-बार व्यक्तिको विचलित करती रहती है। इसीका नाम है सांसारिक माया और मोह। इनसे निर्लिप्त रहना जीवनका धर्म है, शान्ति और संतोषका पथ है, जीवनकी साकार मुक्ति है। इसके लिये आवश्यकता यह है कि हम संयमित रहें, इन्द्रिय-निग्रही बनें।

महाभारतमें एक प्रकरण आता है, जहाँ दुःशासन-को बार-बार समझाया जाता है कि अर्जुन आदि तुम्हारे बन्धु हैं, तुम्हें उनके साथ शत्रुतापूर्ण व्यवहार नहीं करना चाहिये। उत्तरमें दुःशासन कहता है कि अर्जुनादि मेरे बन्धु हैं, आत्मीय हैं—यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ; किंतु मेरी अन्तरात्मा तो नहीं मानती। जब-जब मैं उन्हें देखता हूँ तो यही लगता है कि उनका गला घोंट दूँ। मानवकी यही प्रवृत्ति—हिंसा, स्वार्थ, घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, जलन—इसे चाहे जिस नामसे पुकारिये, उसकी शान्ति और संतोषमें बाधक है। इसीपर विजय प्राप्त करना उसका इष्ट कर्तव्य है। विवेक और संयमकी परीक्षा ऐसी ही परिस्थितियोंमें होती है।

सामान्यतः मनुष्य यदि किसी कार्यमें एक बार असफल हो जाता है तो फिर वह उससे निराश हो जाता है। कभी-कभी वह उद्योगहीन होकर उससे विमुख भी हो जाता है। यही निराशा, उद्योगहीनता और विमुखता मनुष्यके जीवनकी सबसे बड़ी दुर्बलता है। जीवनके अन्तिम साँसतक उसे हिम्मत और आशा नहीं छोड़नी चाहिये। आशा उसके जीवनकी सफलताका मर्म है, निराशा मृत्यु।

महात्माजीने अपने इसी कथनकी पुष्टिमें एक उदाहरण भी प्रस्तुत किया। कहने लगे—देखिये, चींटी कितना छोटा जीव है। इस अत्यल्प एवं तुच्छ प्राणीकी व्यवस्थित क्रियाशीलता एवं उद्योगपरता देखकर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है। घनघोर जंगलोंमें भी इसके

दर्शन हो जायँगे; खेतों, खलियानों और मकानोंमें भी इसके दर्शन किये जा सकते हैं। सरायसे लेकर राजभवनों तथा जमीनके अंदरसे लेकर पचासों मंजिलोंके ऊपरी फर्शपर भी इसे आसानीसे देखा जा सकता है। हिमाच्छादित पहाड़ों, कन्दराओं और गुफाओंके बीच भी यह प्राणी चलता-फिरता दिखायी देता हैं। फिर उसकी सामाजिक भावना और राजकीय व्यवस्थाको देखकर तो दंग होना पड़ता है। है संसारका छोटा-सा उपेक्षित जीव, किंतु उसकी क्षमाशीलता एवं नियम-निष्ठता अनुकरणीय है। उसकी तुलनामें मनुष्यके पास किस चीजका अभाव है; किंतु फिर भी यह विडम्बना कि आज मनुष्यका अपने ही ऊपर अधिकार नहीं। शायद एक विवेकशील प्राणीका इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है? वह स्वयं अपनी मौतको निमन्त्रण दे रहा है। वह स्वयं अपनी हत्या धीरे-धीरे करता रहता है। दुर्गुणोंके चक्करमें फँसकर वह करणीय और अकरणीयका भेद भूल, भोग-विलास और इन्द्रिय-सुखोंकी क्षणिक तृप्तिके पीछे पागल हो जाता है। अपने इन क्रिया-व्यवहारोंके द्वारा वह एक ऐसे अजीबो-गरीब प्राणीकी कोटिमें पहुँचनेकी चेष्टा करता है, जिसकी तुलना करनेके लिये इस संसारमें कदाचित् कोई भी पशु-पक्षी विद्यमान न मिले! मनुष्य जानकर अनजान बनता है, जीवनसे खेल करता है, अपने हाथों अपने हाथ-पैर काटता है और फिर चीखता-चिल्लाता है। वह अपना भाग्य-विधायक बनकर भी स्वयं अपने जीवनका विध्वंसक बन जाता है।

थोड़ी देर रुककर महात्माजीने स्वयं एक प्रश्न किया—"तब मनुष्य क्या करे? आखिर मन मन है, चञ्चल है; धीरे-धीरे अभ्याससे उसे अधिकारमें किया जा सकता है। भोगोंसे भागते-भागते ही लोग उससे भाग पाते हैं।' फिर स्वयं इन प्रश्नोंका उत्तर देने लगे—इन्द्रिय-निग्रहके सम्बन्धमें मनुष्य इस प्रकारकी और न जाने कितनी कमजोर बातें कहते-सुनते हैं। पर मेरी समझमें नहीं आता कि 'भागते-भागते' या 'धीरे-धीरे करते-करते' का क्या अर्थ होता है। यह तो एक बहुत लंबी झंझट है—धीरे-धीरे इन्द्रिय-निग्रह कीजिये अर्थात् दुष्प्रवृत्तियोंको एक साथ अमृत भी दीजिये, विष भी दीजिये; उनकी अतृप्तिमें तड़पिये भी और तृप्तिमें मुस्कराइये भी; और यह कार्य धीरे-धीरे करते रहिये। इस धीरे-धीरेवाली पद्धतिसे कभी संयम और दम प्राप्त करना सम्भव नहीं; मनुष्यको जो कुछ करना है, उसे तत्क्षण ही कर लेना चाहिये। उसे योद्धाकी भाँति जीवनक्षेत्रमें कूद पड़ना चाहिये, शत्रुओंकी भाँति अपनी दुर्बलताओं और दुष्प्रवृत्तियोंको तोड़-मरोड़कर सदा-सदाके लिये नष्ट कर देना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्णने गीताके द्वितीय अध्यायमें इस प्रसङ्गको दो श्लोकोंमें ही स्पष्ट कर दिया है—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता २। २-३)

अर्थात् 'अर्जुन! तुमको इस विषमस्थलमें यह अज्ञान किस हेतुसे प्राप्त हुआ? क्योंकि यह न तो श्रेष्ठ पुरुषोंसे आचरण किया गया है, न स्वर्गको देनेवाला है, न कीर्तिको करनेवाला है। इसलिये हे अर्जुन! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, यह तुम्हारे योग्य नहीं है। हे परंतप! तुच्छ हृदयकी दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़े हो।'

यह तो ठीक है कि व्यक्ति अपने सम्पूर्ण पौरुषके साथ जीवन-युद्धमें लग जाय और अन्तिम विजय प्राप्त करके लौटे या रणक्षेत्रमें ही अमर गति प्राप्त करे। पर आजके युगमें वह करे क्या? मेरे मनके इस संदेहको जैसे उन्होंने अपने अन्तर्ज्ञानसे समझ लिया और स्वयं इसकी भी व्याख्या करने लगे—'आजके युगमें

क्या करना चाहिये, यह कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं है। इसे तो किसी बच्चेसे भी पूछिये, वह भी बता देगा। महत्त्व कार्य और उसकी दिशाको जाननेका नहीं, उसे क्रियारूपमें परिणत करनेका है।

'और यह कार्य करनेकी प्रेरणा कौन देगा ? ईश्वर अन्तरात्मा ! विशाल हृदय और विकारहीन चित्त। क्या यह सहसा उत्पन्न होगी या क्रमशः ? फिर क्रमशः यह क्या होता है ? माथेपर डंडेकी चोट लगते ही तत्क्षण क्रियात्मक चेतना जाग्रत् हो जाती है ? जो कुछ करना है, उसमें विलम्ब क्यों ? धीरे-धीरे किसलिये ? कल और परसोंके वायदोंसे लाभ ? आज और अभी किस कारण नहीं ?' कहते हुए तपस्वीने मौन साध लिया। उनकी वाणी अन्धकारमें एक तीव्र आलोकका प्रसार करती हुई आज भी मेरे अन्तर्मनमें जैसे झंकृत हो रही है। इस घटनाको वर्षों बीत गये; पर लगता है जैसे यह आजकी ही बात हो और अभी-अभीकी।

भारतीय संस्कृतिका एक आवश्यक अङ्ग—गोरक्षा

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

मानव एक चिन्तनशील प्राणी है। वैसे तो पशु-पक्षी भी अपने उपकारीके प्रति श्रद्धा रखते हैं और हिंसक होते हुए भी अपने पालक, पोषक एवं रक्षक प्राणीकी हत्या नहीं करते। मानव जो प्रकृतिकी श्रेष्ठ कृति माना जाता है, उसके लिये तो केवल उपकारीका रक्षण करना ही आवश्यक नहीं होता, बल्कि उसे अधिकाधिक सुख-सुविधा देकर उपकारका बदला चुकाना भी आवश्यक हो जाता है। माता-पिता एवं गुरुजनोंकी सेवा-भक्ति पशु-पक्षियोंमें लंबे समयतक और उतने परिमाणमें नहीं होती, जितनी मनुष्यमें होती है; क्योंकि वह किसीके थोड़े-से उपकार भी अधिक समयतक स्मरण रख सकता है और दूसरेके उपकार-को ऋण समझकर, उसका बदला चुकाकर उससे उऋण होना अपना कर्तव्य समझता है। पशु-पक्षियोंका ज्ञान और व्यवहार इस लोकतक ही सीमित है, पर मानव तो परलोक-की भी सोचता है। वह मानता है कि इस लोकमें, इस जीवनमें किसीका ऋण चुकाया न जा सका तो भावी जन्म-जन्मान्तरोंमें उसे चुकाना ही पड़ेगा, ऋणको बिना चुकाये छुटकारा या मुक्ति नहीं मिलेगी। अब हमें सोचना यह है कि 'गौ'का हमपर कितना उपकार है और उसके प्रति हमारा क्या कर्तव्य है।

बाल्यकालसे ही हमारे ऊपर गौका उपकार या ऋण चालू हो जाता है। माँका दूध क्रमशः घटता जाता है और बच्चेकी भूख क्रमशः बढ़ती जाती है। स्थिति यहाँतक चली जाती है कि केवल माताके दूधसे उसकी क्षुधा-निवृत्ति नहीं हो पाती। दूध उसके शरीरको पुष्ट करनेवाला और शक्ति देनेवाला होनेसे उसकी आवश्यकता तो बड़े होनेपर भी बनी रहती है; पर बच्चेके लिये तो वही आरम्भसे अभ्यस्त आहार है तथा जहाँतक दाँतोंसे चबानेकी शक्ति नहीं मिल जाती, वहाँतक अन्न उसके स्वास्थ्यके अनुकूल नहीं होता। इसलिये जब माताके दूधसे उसका पेट पूरा नहीं भरता तो गायका दूध उस कमीकी पूर्ति कर देता है। अतएव बाल्यजीवनसे ही 'गौ' का स्थान 'माता'के समान ही उपकारी बन जाता है।

युवावस्थामें बल-वीर्यकी वृद्धिके लिये, गौका दूध और दूधसे निष्पन्न दही, मक्खन, घृत, छाछ आदिका उपयोग अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होता है और फिर इनमेंसे एक-एक पदार्थसे अनेक प्रकारके खाद्य और पेय बनते हैं। रोगी और वृद्धके लिये गौ-दूधका सेवन आवश्यक है ही, घीकी उपयोगिता और विशेषतः राजस्थान आदि प्रदेशोंमें शाकाहारियोंके लिये तो उसका और भी अधिक महत्त्व है। इस सम्बन्धमें मैं एक स्वतन्त्र लेख प्रकाशित कर चुका हूँ।

वास्तवमें मांसाहारी लोग भी इस बातको स्वीकार करते हैं कि दूध और घी उचित परिमाणमें मिलता रहे तो मांसाहारकी आवश्यकता और उपयोगिता ही नहीं रहती। गायका केवल दूध ही उपकारी नहीं है, उसके शरीरसे निकलनेवाले साधारणतया अपवित्र एवं अस्पृश्य माने जानेवाले मूत्र और विष्ठा (जिसे गोबर कहते हैं) भी बहुत उपयोगी हैं। गो-मूत्र और गोबर—इन दोनोंको

हिंदू धर्मशास्त्रोंमें पवित्र माना गया है। अपवित्र भूमिपर गोबर लीप देनेसे वह पवित्र बन जाती है। वैसे गोबरसे उपले-थेपड़ी आदि बनते हैं, जो अग्नि उत्पन्न करने-जलानेके लिये बहुत काममें आते हैं। उससे काष्ठ और लकड़ियोंकी बचत हो जाती है। अतः उन काष्ठोंका उपयोग मकान, फर्नीचर आदिमें कर सकनेकी सुविधा मिल जाती है। यदि गोबरकी बनी हुई थेपड़ी आदिका उपयोग रसोई बनाने आदिमें न किया जाता, तो उसके बदलेमें न जाने कितना काष्ठ अन्य आवश्यकताओंमें उपयुक्त होता। वैसे गोबरका उपयोग खेतोंमें खादके रूपमें उपयोगी है ही; गो-मूत्र अनेक रोगोंका नाशक है, इसलिये औषधके रूपमें भी उसका विविध प्रकारसे उपयोग किया जाता रहा है। गायके मर जानेपर भी उसकी हड्डी और चमड़ी भी कितनी काम आती है, यह सर्वविदित ही है। गो-पुत्र बछड़े या बैलका भी हमारे ऊपर बड़ा उपकार है। भारतमें कृषिके लिये तो बैल आधार है ही, पर वाहन और माल ढोनेके रूपमें भी बैलोंकी बहुत अधिक उपयोगिता है। कितने लंबे कालसे वे हमारी अनेक रूपोंमें सेवा करते आ रहे हैं—इसपर भी गम्भीरतासे विचार करें तो गो-वंशके उपकारका बहुत बड़ा ऋण हम सबपर दिखायी देगा। अब हमें यह विचारना है कि इतने बड़े उपकारी प्राणीके प्रति हमारा क्या कर्तव्य होना चाहिये; क्योंकि 'कृतघ्नता' महान् पाप माना गया है। किसीके किये हुए उपकारको भूलकर हम अपनेको मानव कैसे कह सकते हैं।

हमारे पूर्वजोंने गो-वंशके इन महान् उपकारोंको ध्यानमें रखते हुए ही गौको इतना अधिक महत्त्व दिया है कि ३३ करोड़ देवता उसके शरीरमें निवास करते हैं—ऐसा मान लिया गया है। इतना विशिष्ट पद या सम्मान और किसी भी प्राणीको प्राप्त करनेका सौभाग्य नहीं मिला। एक गौकी पूजा करनेसे ३३ कोटि देवताओंकी पूजा स्वयं हो जाती है। यह कोई साधारण बात नहीं। प्राचीन कालमें बड़े यत्नसे गौका पालन-पोषण, रक्षण किया गया है; तभी तो गोवंशकी इतनी वृद्धि हुई कि दो-चार या दस-बीस ही नहीं, चालीस, साठ और अस्सी हजारका गो-कुल रखनेवाले जैन श्रावकों-का उल्लेख 'उपासक दशांग' नामक सातवें अंग-सूत्रमें पाया जाता है। इधर वेदों-पुराणोंमें भी ऋषि-मुनियोंको हजारों गौओंका दान राजालोग किया करते थे, इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। गो-दानको इतना महत्त्व दिया गया कि विवाहके समय माता-पिता और कुटुम्बीजनोंकी ओरसे कन्यादानके साथ गोदान करना भी आवश्यक माना गया है। मरते समय भी प्राचीन संस्कृतिमें पले हुए हिंदूके दिलमें यह भावना बड़े गहरे रूपमें बैठी हुई थी कि वह एक गौका दान ब्राह्मणको अवश्य ही करे। इस भावनाका महत्त्व हमें सुप्रसिद्ध उपन्यास-लेखक श्रीप्रेमचन्दका 'गो-दान' पढ़नेसे भलीभाँति विदित हो जाता है।

मुसल्मानोंके आगमन एवं विस्तारसे पहले भारतमें गायोंकी संख्या बहुत अधिक थी। यह महाकवि कालिदास-के 'रघुवंश'से स्पष्ट है। गो-सेवाको इतना अधिक धार्मिक महत्त्व दिया गया कि गोरक्षणके लिये दिलीप अपने प्राणोंका बलिदान करनेके लिये तत्पर हो गये। मुसल्मानोंने हिंदुओंकी इस गो-भक्ति या धार्मिक भावनाका अनुचित लाभ उठाया। जहाँ और किसी भी तरह युद्धमें विजय प्राप्त करना सम्भव नहीं रहा, वहाँ उन्होंने गायोंको सामने खड़ा कर दिया। गो-रक्तको तालाब आदि जलाशयोंमें डाल दिया, जिससे गौ न मारी जाय—इस धार्मिक भावनाके कारण हिंदू-योद्धा शत्रुओंको मारनेके लिये आगे न बढ़ें और जलाशयोंमें गो-रक्तके छींटे देखकर उसका जल अपेय मान बैठें। चूँकि जलके बिना जीवन टिक नहीं सकता, इसलिये हजारों हिंदू-वीरोंको मरनेके लिये बाध्य होना पड़ा। राजस्थानके इतिहासमें ऐसी एक नहीं, अनेक घटनाएँ मिलती हैं कि गो-रक्षणके लिये अनेक वीरोंने अपने प्राणोंकी आहुति दे दी। उनमेंसे पाबूजी, गोगाजी, तेजाजी आदि तो लोक-देवताके रूपमें पूजे जाते हैं। अभी-अभी मैंने अलाउद्दीनके समयकी घटना जो सिवाणा-के सातलकी बात और 'कान्हड़ दे प्रबन्ध' में पढ़ी तो रोमाञ्च हो आया। अलाउद्दीन सात वर्षोंतक सिवाणा दुर्ग-पर घेरा डाले रहा, पर विजय प्राप्त नहीं कर सका। अन्तमें उसने कुबुद्धिसे गायोंको मारकर गढ़के सरोवरमें उनके अङ्गोपाङ्ग और रक्त डाल दिये, जिससे पानी भ्रष्ट हो गया और जलाभावसे मरना ही होगा, यह सोचकर रानियोंने जौहर किया और वीरोंने केशरिया पहना। इस तरह हजारों

हिंदू नर-नारियोंको मरनेको बाध्य होना पड़ा और उनके मरनेपर ही अलाउद्दीन सिवाणेके गढ़में प्रवेश कर सका।

हिंदुओंकी धार्मिक भावनाओंपर आघात पहुँचाना मुसल्मानोंका धर्म मान लिया गया। फलतः सैकड़ों तीर्थ-स्थान, मन्दिर एवं मूर्तियोंका विध्वंस हुआ और लाखों गायें कतल कर दी गयीं। हिंदुओंको मुसल्मान बननेको बाध्य किया गया। इस तरह गो-वंशपर महान् अत्याचारका आरम्भ भारतमें मुसल्मान-साम्राज्यमें हुआ और आश्चर्य है कि अब पाकिस्तान अलग हो जानेपर भी भारतमें गो-हत्याका सिलसिला जारी है। करोड़ों व्यक्तियोंकी माँगको सरकार ठुकरा रही है और गोहत्या-निषेध कानून अभीतक नहीं बन पाया तथा अहिंसाप्रधान भारतमें हिंसाको बढ़ावा मिल रहा है। अंग्रेजी शासनके समय वृद्ध और दूध न देनेवाली गायोंकी जब दुर्दशा होने लगी, तब दया-धर्मशील व्यक्तियोंने अनेक स्थानोंपर पिंजरापोल, गोशालाएँ स्थापित कीं। पर आज उनकी भी स्थिति शोचनीय हो गयी है, क्योंकि घास आदिकी मँहगाई बहुत बढ़ गयी है। गोचर-भूमिकी तथा साथ ही धार्मिक भावनाकी भी कमी हो गयी है, जिससे गोशालाओंका खर्च निभ नहीं पाता। लोग बहुत स्वार्थी हो गये हैं, गौओंका कष्ट बहुत बढ़ गया है। इस विषम परिस्थितिमें गोरक्षण प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य हो जाता है। हमें तत्परतासे गोहत्या और गौके कष्टके निवारणमें प्रयत्नशील होना चाहिये। अन्यथा भारतीय संस्कृतिका एक अङ्ग विलुप्त हो जायगा।

महात्मा गान्धीने एक फरवरी सन् १९४२ के एक लेखमें लिखा था—'आज तो गाय मृत्युके किनारे खड़ी है और मुझे भी यकीन नहीं है कि अन्तमें हमारे प्रयत्न इसे बचा सकेंगे। लेकिन यह नष्ट हो गयी तो उसके साथ ही हम भी यानी हमारी सभ्यता और संस्कृति भी नष्ट हो जायगी।'

पण्डित उदयवीर शास्त्रीने 'भारतका सांस्कृतिक प्रतीक—गौ' शीर्षक लेखमें लिखा है—'अध्यात्ममूलक भारतीय संस्कृतिका प्रथम द्वार है—वैदिक कर्मकाण्ड और यज्ञादिका अनुष्ठान। इन अनुष्ठानोंका मुख्य आधार-द्रव्य है—गो-घृत और गो-दुग्ध। भारतीय संस्कृतिका वैदिक अनुष्ठान गव्यके बिना सम्पन्न नहीं हो पाता। पर आज हम गौको माता तो कहते हैं, पर उसका एक बूँद दूध खींच लेनेके लिये हम अपनेको कठोर और नीरस बना लेते हैं। अनेक अवस्थाओंमें उसे भूखों मारकर हम उसे हाड़-पिंजर बना देते हैं। उसके बछड़ोंकी हम कैसी दुर्दशा करते हैं! उसे पूरा खानेतकको नहीं देते, बैलपर हम कैसे-कैसे जुल्म ढाते हैं, उसे बधिया बनाते हैं, डंडे, चाबुक आदिसे पीटते हैं।' हमें अब अपनी इस कृतघ्नता और निर्दयतासे बाज आना चाहिये।

सम्राट् अकबरके समय गो-हत्या बंद कर दी गयी थी। उसमें कई हिंदू जैन-मुनि-महात्माओं तथा विद्वानोंका बड़ा योग रहा है। अकबरकालीन अनेक शिलालेखों एवं ग्रन्थ प्रशस्तियोंमें इसका स्पष्ट उल्लेख है कि अकबरने गो-रक्षणके फरमान जारी किये। एक मुसल्मान सम्राट्ने जो कार्य किया, वह भी हमारी अपनी सरकार न कर सके—यह बहुत ही लज्जा एवं दुःखकी बात है।

कहनेके लिये राज्य जनताका है। पर जनताकी आवाज सुनी नहीं जाती। करोड़ों व्यक्तियोंकी भावनाको ठेस पहुँचायी जाती है। यह देखकर बहुत ही आश्चर्य होता है। भारतके हिंदू ही नहीं, मुसल्मान भी बहुत-से इसके पक्षमें हैं।

गो-वर्धनके नामसे लाखों रुपये सरकार खर्च भी करती है, पर गौकी हत्या बंद करनेके कानून बनानेमें हिचकती है। यह किसी भी तरह शोभनीय नहीं।

गौका विधिवत् पालन-संरक्षण किया जाय तो राष्ट्रीय स्वास्थ्य एवं सम्पत्ति दोनोंकी अतिवृद्धि होगी। जिस भारतमें दूध-दहीकी नदियाँ बहती कही जाती हैं, वहाँ आज शुद्ध दूध एक-दो सेर भी नहीं मिल पाता। यह गो-वंशकी कमीके ही कारण है। विदेशोंसे दूधके पाउडर डिब्बे आते हैं, बच्चोंको वे उसका दूध पीनेको फ्री भेजते हैं और भारतसे आपके लिये दूध मिलना कठिन हो रहा है। यह स्थिति किसी भी तरह निभाने योग्य नहीं! सरकार गम्भीरतासे सोचे और जनताकी आवाजका आदर करे।

दक्षिण भारतकी तीर्थयात्रा

(ले क—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसादजी श्रीवास्तव)

[गताङ्क पृष्ठ १००४ से आगे]

भय-विसर्जनके साथ ही स्वामी विवेकानन्द विश्वास और शक्तिके साधक थे। वे इन दोनोंको ही जीवनका आधार मानते थे। विश्वास और आस्थाके अभावमें अनुराग, शक्ति और भक्तिका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। विश्वास जाग्रत् होते ही शक्ति और भक्तिका जन्म अपने-आप हो जाता है। इस प्रकार विश्वासकी—जो हमारा आत्मबल होता है—आराधना, उसकी उपासना पहले करनी पड़ती है; इसकी उपासनासे शक्तिकी साधना अपने आप होने लग जाती है। स्वामी विवेकानन्द पहले भारतीय संन्यासी थे, जिन्होंने वेदान्तकी जटिलताको सर्व-साधारणके लिये सुलभ बना दिया। उन्होंने हमें बताया कि शक्ति ही सम्पूर्ण जगत्की आत्मा है। शक्ति ही चेतन और अचेतन जगत्का कारण है। शक्ति मनुष्यकी सर्वोपरि पूँजी है, जिसके बिना उसका जीवन व्यर्थ और असमर्थ हो जाता है। पर यह शक्ति उसी साधकको मिलती है, जो उसके सिद्धान्तोंका अनुवर्तन करता है, उससे प्रेम करता है, उसे वरण करता है और उसे सुरक्षित रखनेका प्रण करता है और जो ऐसी शक्तिकी—उसके सिद्धान्तोंकी साधना करता है। ऐसा साधक विश्वरूप—विश्वात्मा हो जाता है।

गर्वोन्नत यूरोपीय देशोंका मस्तक भारतीय ज्ञानकी गुरुताके समक्ष झुकानेवाले सर्वप्रथम भारतीय स्वामी विवेकानन्दने शिकागोके सर्व-धर्म-सम्मेलनमें भारतीय वेदान्तकी उदात्त कल्पनाका जो स्वरूप चित्रित किया, वह अमेरिकाकी सुशिक्षित जनताके हृदय-पटलपर सदा-सर्वदाके लिये अङ्कित हो गया। स्वामी विवेकानन्द दीन-दरिद्रोंकी सेवाको ही भगवान्की सेवा समझते थे। वे सभीसे कहा भी करते थे—'भाइयो! कहो, भूखा-नंगा, अनपढ़ और अछूत भारतीय मेरा भाई है। भारतके लिये जो कल्याणकारी है, वही मेरे लिये भी है। दिन-रात यही प्रार्थना करो हे महाशक्ति! मेरी दुर्बलता दूर करो, मुझे नर-वीर बनाओ।' और वास्तवमें स्वामी विवेकानन्द ऐसे ही नर-वीर महापुरुष थे। शक्तिकी साधना और देशोद्धारके लिये वेदान्तकी व्यावहारिक मीमांसाका महत्त्व इसी युवक संन्यासीने सर्वप्रथम अनुभव किया था। इतना ही नहीं, वे पहले संन्यासी थे, जिन्होंने वेदान्तको पुस्तकोंकी शुष्क सिद्धान्त-चर्चासे ऊपर उठाकर उसे सामाजिक जीवनका अङ्ग—उसकी सुव्यवस्थाका स्रोत बनाया। वे आत्मविश्वासी, सिद्ध पुरुष और भविष्य-द्रष्टा थे। यह उनके सन् १८९० में कहे इस कथनसे कि स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके पश्चात् यदि भारत शक्तिशाली नहीं बना तो चीनकी ओरसे उसपर आक्रमण होनेका खतरा रहेगा, प्रमाणित है। उनके आत्मविश्वासके अनुसार भारतने स्वाधीनता प्राप्त की, किंतु उनकी आशङ्का भी निर्मूल नहीं निकली। भारत वास्तविक शक्ति-संचयमें अपनेको स्वावलम्बी नहीं बना पाया और चीनका उसपर आक्रमण हो गया। इस प्रकार उनकी भविष्यवाणी सर्वथा सत्य सिद्ध हो चुकी है।

आज इस सिद्ध पुरुषके बोल हमारे कानोंमें गूँज रहे हैं। देशकी परतन्त्रताके दिनोंमें उस महापुरुषने राष्ट्रको आह्वान किया था शक्ति-संचय—बल-संचयके लिये। उसने पुकारकर कहा था, राष्ट्रके युवकोंसे—"मेरे साहसी युवको! यह विश्वास रक्खो कि तुम्हीं सब कुछ हो—महान् कार्य करनेके लिये इस धरतीपर आये हो। गीदड़-घुड़कियोंसे भयभीत न हो जाना—नहीं; चाहे वज्र भी गिरे, तो भी निडर हो खड़े हो जाना और कार्यमें लग जाना। तुम्हारे देशको वीरोंकी आवश्यकता है, अतः वीर बनो। पर्वतकी भाँति अडिग रहो। 'सत्यमेव जयते'—सत्यकी ही सदैव विजय होती है। भारत चाहता है एक नयी विद्युत्-शक्ति, जो राष्ट्रकी नस-नसमें नया जीवन संचार कर दे। साहसी बनो, साहसी बनो; मनुष्य तो एक बार ही मरता है। मेरे शिष्य कायर न हों। मुझे कायरतासे घृणा है। गम्भीर-से-गम्भीर कठिनाइयोंमें भी अपना मानसिक संतुलन बनाये रखो; क्षुद्र अबोध जीव तुम्हारे विरुद्ध क्या कहते हैं, इसकी तनिक भी परवा न करो। उपेक्षा! उपेक्षा! उपेक्षा! ध्यान रक्खो—आँखें दो हैं, पर मुँह केवल एक है। पर्वतकाय विघ्न-बाधाओंमेंसे होते हुए ही सारे महान् कार्य सम्पन्न होते हैं। अपना पुरुषार्थ प्रकट करो। काम और काञ्चनमें जकड़े हुए मोहान्ध व्यक्ति उपेक्षाकी ही दृष्टिसे देखे जाने योग्य हैं।

"तुम क्यों रोते हो, बन्धु ! तुम्हींमें तो सारी शक्ति निहित है। ऐ महान् ! अपनी सर्वशक्तिमान् प्रकृतिको उद्‌बुद्ध करो; देखोगे, यह सारी दुनिया तुम्हारे पैरोंपर लोटने लगेगी। एकमात्र आत्मा ही शासन करती है, जड पदार्थ क्या शासन करेगा ? अपनेको शरीरसे अभिन्न समझनेवाले मूर्ख व्यक्ति ही करुण स्वरसे चिल्लाते हैं—'हम दुर्बल हैं, हम दुर्बल हैं।' आज देशको आवश्यकता है साहस और वैज्ञानिक प्रतिभाकी। हम चाहते हैं—प्रबल साहस, प्रचण्ड शक्ति और अदम्य उत्साह। स्त्रियोचित व्यवहारसे काम नहीं बननेका। भाग्यलक्ष्मी उसीके पास आती है, जो पुरुषार्थी है, जिसके सिंहका हृदय है। पीछे देखनेका काम ही नहीं। आगे! आगे! बढ़े चलो! हम चाहते हैं—अनन्त शक्ति, असीम उत्साह, अनन्त साहस और अनन्त धैर्य। तभी महान् कार्य सम्पन्न होंगे।

"वेदान्त 'पाप' की बात नहीं मानता, यह केवल 'भूल' की बात स्वीकार करता है; और उसके मतसे तुम सबसे बड़ी भूल तो तब करते हो, जब तुम कहते हो—'मैं कमजोर हूँ, मैं पापी हूँ, एक दुखी जीव हूँ; मुझमें कुछ भी शक्ति नहीं—मुझमें कुछ भी करनेकी ताकत नहीं।'

"प्राचीन धर्मोंने कहा, 'वह नास्तिक है, जो ईश्वरमें विश्वास नहीं करता।' नया धर्म कहता है—'नास्तिक वह है, जो स्वयंमें विश्वास नहीं करता।'

'बल ही जीवन है और दुर्बलता मृत्यु। बल ही परम आनन्द है, शाश्वत और अमर जीवन है। दुर्बलता निरन्तर भारस्वरूप है, दुःखस्वरूप है। दुर्बलता ही मृत्यु है। बचपनसे ही तुम्हारे मस्तिष्कमें यह रचनात्मक, बलप्रद और सहायक विचार प्रवेश करे।

"दुःखभोगका एकमात्र कारण है, दुर्बलता। हम दुखी हो जाते हैं, क्योंकि हम दुर्बल हैं। हम झूठ बोलते हैं, चोरी करते हैं, हत्या करते हैं, तरह-तरहके अपराध करते हैं—क्यों ? इसलिये कि हम दुर्बल हैं। हम दुःख भोगते हैं, क्योंकि हम दुर्बल हैं। हम मर जाते हैं, क्योंकि हम दुर्बल हैं। जहाँ हमें दुर्बल कर देनेवाली कोई चीज नहीं, वहाँ न मृत्यु है, न दुःख।

"खड़े होओ, साहसी बनो, शक्तिमान् बनो। सारा उत्तरदायित्व अपने कंधोंपर लो और जान लो कि तुम्हीं अपने भाग्यके विधाता हो। तुम्हें जो कुछ बल और सहायता चाहिये, सब तुम्हारे ही भीतर है। अतएव अपना भविष्य तुम स्वयं गढ़ो।"

इस प्रकार अभय, विश्वास और शक्तिकी अवतारणाका न केवल उपदेश वरं उसका व्यावहारिक और क्रियात्मक उदाहरण हमें महात्मा गांधीके जीवनसे मिलता है। महात्मा गांधीके रूपमें आधुनिक युगको एक ऐसी उपलब्धि हमें प्राप्त हुई, जिसके सम्मुख आज कार्यसिद्धियाँ ही नहीं, विश्वशक्तियाँ नत-मस्तक हैं।

हमलोगोंने स्वामी विवेकानन्दकी ध्यानभूमि, पूजाभूमिको नमस्कार करके उस महापुरुषको अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की, जिसने भारतीय पराधीनताके समयमें अध्यात्म, संस्कृति और स्वाधीनताके लिये जागरण-मन्त्र दिया।

कन्याकुमारी-मन्दिर धार्मिक क्षेत्रका एक प्रधान आकर्षण है, प्रधानतया जिसके दर्शनके लिये ही हमने अपनी यात्रामें कन्याकुमारीका कार्यक्रम सम्मिलित किया। मन्दिर दक्षिणके अन्य मन्दिरोंकी तरह दीर्घाकार क्षेत्रमें फैला हुआ है। अतः मन्दिरकी विशेषताकी दृष्टिसे हमारे सामने दक्षिणके अन्य अनेक स्थानोंके मन्दिर देख चुकनेके कारण कोई नया आकर्षण और नयी बात न थी। हाँ, समुद्रतटपर इसके निर्माणके कारण इसकी शोभावृद्धि अवश्य हुई है। मन्दिरमें देवी कुमारीकी प्रतिमाके दर्शन करके हमें कुछ हर्ष, कुछ आश्चर्य अवश्य हुआ। प्रतिमा श्यामवर्णकी न होकर गौरवर्णकी है, जो दक्षिणके अन्य सभी देवालयोंकी मूर्तियोंके सर्वथा विपरीत है। हमें आरम्भसे ही इस बातपर कुछ आश्चर्य था कि विष्णुकी तो श्याम प्रतिमा होना स्वाभाविक है, परंतु शंकर, पार्वती, लक्ष्मी आदिकी प्रतिमाएँ भी दक्षिणमें श्याम क्यों हैं; क्योंकि पुराणोंमें इनके रूप-स्वरूपके जो वर्णन मिलते हैं, उनमें ये सब देवी-देवता गौरवर्णके कहे गये हैं। इसलिये कन्याकुमारीकी यह गौर प्रतिमा देख हमारा हर्षित होना कदाचित् स्वाभाविक था। परंतु बादमें हमें ज्ञात हुआ कि दक्षिणकी प्रथाके अनुसार कन्याकुमारीकी मूर्ति भी श्याम ही है; गौर तो वह हमें इसलिये दृष्टिगोचर हुई कि सारी प्रतिमापर श्वेत चन्दनका लेप था। कन्याकुमारीकी यह मूर्ति, जैसा कि पौराणिक आख्यानमें उनकी सुन्दरताका वर्णन हमें मिलता है, बहुत ही आकर्षक और दिव्य है। श्वेत चन्दनके आलेपसे तथा वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत देवी कुमारीके जब उनकी आरती और अभिषेकके समय दर्शन खुलते हैं, उनकी मनोहारिणी

दिव्य छटा देखते ही बनती है। दर्शक मन्त्रमुग्ध-सा देवी कुमारीके इस दिव्य स्वरूपसे उनके साकाररूपकी परिकल्पनामें सहज ही खो जाता है। हम सबने अन्य देवस्थानोंकी भाँति यहाँ भी दान-पुण्य-पूजनादि किया। देवदर्शन और दान-पुण्यादिकी व्यवस्थाके लिये यहाँ एक देवस्थानम् कमेटी है, जो सुचारु और सुव्यवस्थितरूपसे यात्रीसे ब्राह्मण-भोजन, कन्या-भोजन, अपंग-भोजन तथा अन्य विधि-विधान विधिवत् करा दर्शकोंके दर्शनलाभमें सहायक होती है।

कन्याकुमारीके निकट एक और देवस्थान 'शुचीन्द्रम्' प्रसिद्ध है। हमलोग कन्याकुमारीसे चलनेवाली नियमित बसद्वारा शुचीन्द्रम् पहुँचे और बसद्वारा ही वापस लौटे। प्रायः धार्मिक भावनासे आनेवाले प्रत्येक यात्रीके लिये शुचीन्द्रम् जाना आवश्यक माना जाता है।

प्रत्येक देवस्थानके सदृश ही शुचीन्द्रम्के नामकरण और इसकी प्रतिष्ठाके पीछे एक रोचक उपाख्यान मिलता है। कहा जाता है, इन्द्र गौतम मुनिकी पतिव्रता पत्नी अहल्यापर मुग्ध होकर उसे पानेकी इच्छासे मुनिकी अनुपस्थितिमें मुनिका ही वेष धारणकर अहल्यासे जा मिला तो नदीके तटपर ध्यानावस्थित गौतमको ज्ञानदृष्टिसे इसका आभास हो गया। वे तुरंत लौटकर आश्रम आये और अपराधी इन्द्रको उन्होंने शाप दे दिया। इस शापसे मुक्ति पानेके लिये इन्द्रने ज्ञानारण्यम् (वर्तमान शुचीन्द्रम्) में दीर्घकालतक तप किया। अन्तमें शिवजीके आशीर्वादसे उसकी आत्मा शुद्ध हो गयी और वह शापके प्रभावसे मुक्त हो गया। इस प्रकार इस स्थानका नाम शुचीन्द्रम् पड़ गया। 'शुचीन्द्रम्' दो शब्दोंके योगसे बना है—शुचि, इन्द्रम्। अतः शुचीन्द्रम्का अर्थ हुआ इन्द्रकी शुद्धिका स्थान।

शुचीन्द्रम्की धार्मिक महिमासे सम्बन्धित एक पौराणिक आख्यान भी उल्लेखनीय है। कहा जाता है एक बार अत्रि मुनिने अपनी पत्नी अनसूयासहित ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनोंके दर्शनके लिये तप किया। नारदजीके परामर्शके अनुसार तीनों देवताओंने अनसूयाके पातिव्रत्यकी परीक्षा लेनेका निश्चय किया। उन्होंने तीन मुनियोंका रूप धारण किया और अनसूयाके पतिकी अनुपस्थितिमें आश्रमके द्वारपर आ पहुँचे। अनसूयाने उनका स्वागत किया। स्वागतोपरान्त मुनियोंने भोजनकी कामना प्रकट की। अनसूयाने आदरपूर्वक उनको भोजन परसा; किंतु मुनियोंने इच्छा प्रकट की कि उन्हें बिना वस्त्र धारण किये भोजन परोसना चाहिये। अनसूया अतिथि-सत्कारके नाते उनकी बात नहीं टाल सकती थी। उसने अपने पातिव्रत्यके प्रभावसे तुरंत उन तीनोंको दूध-पीते बच्चोंके रूपमें बदल दिया और सस्नेह उनको भोजन कराने लगी।

नारदजीने यह दृश्य देखकर तीनों देवताओंकी पत्नियोंको सूचित किया। तीनों देव-पत्नियाँ अपने पतियोंकी खोज करते-करते वहाँ पहुँचीं और अनसूयासे माङ्गल्य-भिक्षा माँगी। अनसूयाने अपने पातिव्रत्यके प्रभावसे पुनः उन तीनोंको उनके वास्तविक रूपमें परिवर्तित कर दिया। इतनेमें अत्रि-ऋषि भी वापस आ पहुँचे और उन्होंने सपत्नीक तीनों देव-देवियोंके दर्शन किये।

बताया जाता है जिस स्थानपर उन्होंने दर्शन किये, वहीं वर्तमान मन्दिर बना है, जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनोंकी पूजा होती है। इसीको आजकल 'शुचीन्द्रममन्दिर' कहते हैं। इसके निकट जहाँ अत्रि मुनि और अनसूयाका आश्रम था, उसका नाम आज भी आश्रायम है। पौराणिक मान्यताके अनुसार इन्द्रने शिवकी इसी मन्दिरमें पूजा की थी और कहा जाता है आज भी हर रात्रिमें इन्द्र पूजन करने आते हैं।

शुचीन्द्रम् एक छोटा कस्बा है, जो हरे-भरे खेतों और नारियल एवं केलेके उद्यानोंसे घिरा हुआ होने तथा इस मन्दिरके कारण एक मनोरम देवस्थान बन गया है।

हमारा कार्यक्रम यद्यपि १९ सितम्बरके प्रातःकाल ही कन्याकुमारी छोड़ देनेका था, कन्याकुमारीके मनोरम प्राकृतिक दृश्योंने हमें आकर्षित किया और कभी न बदलनेवाले अपने कार्यक्रमको हमने स्थगितकर एक दिन बाद यानी २० सितम्बरको कन्याकुमारीसे बिदा ली। कन्याकुमारीसे टिनेवलीके लिये हम दो टैक्सी मोटरोंसे रवाना हुए। यद्यपि इस मार्गमें मोटर बसकी भी व्यवस्थाएँ हैं, फिर भी चूँकि मार्गमें हमें छोटे नारायण, लंबे नारायण और तोताद्रि आदि देवस्थानोंके दर्शन करने थे; अतः सुविधाकी दृष्टिसे मोटर टैक्सीद्वारा ही यात्रा करना हमें अधिक उपयुक्त जान पड़ा।

मार्गमें मिले इन देवमन्दिरोंमें श्रद्धा-भक्तिसहित दर्शन एवं कुछ मनौती-चढ़ोतरी करके आगे बढ़ जाते। छोटे नारायण और लंबे नारायणके पृथक्-पृथक् दर्शन करके भी हमें इन दो देवमन्दिरों और इन मन्दिरोंके दो देवोंमें कोई पृथक्ता अथवा कोई बड़ाई-छोटाई दृष्टिगोचर नहीं हुई। स्थानीय पुजारियोंसे भी हमने पूछ-ताछ की, पर छोटे नारायण और लंबे नारायणके इस नामकरणका रहस्य हमारी समझमें नहीं आया। 'नारायण' क्या छोटे, क्या बड़े ? अर्थ, भाव और भक्तिकी दृष्टिसे भी ये नाम दोषपूर्ण हैं। अतः इन मन्दिरोंके नाम एकदम परिवर्तित होने चाहिये।

छोटे नारायण और लंबे नारायणके दर्शनोपरान्त हमलोग जब तोताद्रि पहुँचे, लगभग एक बज रहा था। तोताद्रि-मन्दिरके पट बारह बजे बंद हो जाते हैं। अतः हमारे तोताद्रि पहुँचते ही मन्दिरके अधिकारियोंने प्रथम तो हमें पट बंद होनेकी खबर दी। बादमें हमलोगोंपर विशेष कृपा करके पट खोल दिये, जिससे हमलोगोंने देव-दर्शनका लाभ उठा लिया। दर्शनके उपरान्त हमने मन्दिरमें अपनी भेंट-पूजा अर्पित की और मन्दिरके पिछवाड़े एक विशाल कुण्डके किनारे चबूतरेपर बैठ हम सबने दोपहरका भोजन किया, जो कन्याकुमारीसे ही हम अपने साथ लाये थे। भोजनोपरान्त हम टिनेवलीके लिये चल पड़े। तोताद्रिमें कुछ देरसे पहुँचनेपर मन्दिरके पट बंद मिलने और हमारे लिये पुनः खोले जानेकी बातपर हमलोग आपसमें चर्चा करते रहे। सिद्धान्ततः यह एक गलत बात हुई। नियम-भङ्ग एक दोष ही माना जाना चाहिये। भले ही यह बात हमारे हितके अनुकूल क्यों न हुई हो, किंतु मन्दिरकी प्रतिष्ठा, देव-दर्शनकी मर्यादा और अन्यान्य यात्रियोंकी दृष्टिसे इस प्रकार यदा-कदा नियम-भङ्ग होना न मन्दिरकी प्रतिष्ठाके अनुकूल ही है और न यात्रियोंकी श्रद्धा-भक्तिके। अतः इस सम्बन्धमें एक ही नियम और एक ही समयकी पाबंदी सदा की जानी चाहिये—चाहे दर्शन करनेवाला यात्री साधारण कोटिका हो अथवा कोई अमीर। अन्यथा मन्दिरके माहात्म्य और प्रतिष्ठापर इसका प्रतिकूल असर पड़े बिना नहीं रहेगा।

लगभग चार बजे हमलोग टिनेवली पहुँचे और संध्याको पाँच बजे रेलद्वारा रवाना होकर रात्रिके साढ़े ग्यारह बजे मदुरा पहुँच गये। मदुरा स्टेशनपर रात्रि-विश्राम करके प्रातः स्टेशनके निकट ही बनी धर्मशालामें हमने अपना पड़ाव डाल दिया।

मदुरा गोविन्ददास तो कई बार आ चुके थे और उनकी पत्नी भी सन् १९१६ में गोविन्ददासके माता-पिताके साथ आ चुकी थीं; किंतु शेष लोगोंके लिये मदुरा-आगमनका यह प्रथम अवसर था। अतः उत्सुकताभरी दृष्टिसे सभी लोग मदुरा-दर्शनके लिये, विशेषकर यहाँके मीनाक्षी-मन्दिरके लिये भोर होते ही लालायित हो उठे।

मदुरा तमिळनाड प्रदेशका ही नहीं, अपितु समस्त दक्षिण भारतका कदाचित् सबसे पुराना नगर है। फिर सांस्कृतिक दृष्टिसे यह नगर दक्षिण भारतका सबसे प्रधान नगर रहा है। आधुनिक कालमें भी दक्षिण भारतमें मद्रासके बाद मदुराका स्थान आता है और सांस्कृतिक दृष्टिसे तो आज भी इसका मद्राससे ऊँचा स्थान है।

मदुराकी महत्ताके बारेमें एक बात सर्वसम्मत है और वह यह कि मदुरा भारतके प्राचीनतम नगरोंमेंसे एक है। गत ढाई हजार वर्षोंसे यह दक्षिण भारतमें द्राविड़ संस्कृति एवं सभ्यताका प्रधान केन्द्र रहा है। यूरोपियन विद्वानोंने मदुराको दक्षिण भारतका 'एथेन्स' बताया है। उनका कथन अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है। वस्तुतः मदुराका इतिहास दक्षिण भारतका इतिहास है। दक्षिण भारतकी सांस्कृतिक गरिमाके दर्शन यदि आप किसी एक स्थानपर करना चाहें तो मदुराका "तमिळ-संगम" और "मीनाक्षी-मन्दिर" पर्याप्त होंगे।

मदुराका शाब्दिक अर्थ माधुर्य अथवा सुरम्यता है। मदुरा वास्तवमें एक सुरम्य स्थल है। अन्य प्राचीन तमिळ नगरोंकी भाँति यह सरिता-तटपर बसा है और हरे-भरे वृक्षों एवं उद्यानोंसे घिरा है। विदेशी-पर्यटक प्रतिवर्ष भारी संख्यामें इस ओर आकृष्ट होते हैं, जिसका श्रेय मदुराकी ऐतिहासिकताके साथ-साथ इसकी सुरम्यताको भी है।

मदुराके नामकरणकी एक बड़ी विचित्र कहानी है, जो दक्षिण भारतके अन्य अनेक धार्मिक स्थलोंकी भाँति पौराणिक मान्यतापर आधारित है। कहते हैं देवराज इन्द्रने एक बार यहाँ तप करते हुए एक स्थानपर लिङ्गके दर्शन किये और वहाँपर एक मन्दिर बनवा दिया। तदनन्तर इस मन्दिरके चारों ओर एक नगर बस गया। बादमें यहाँ पाण्ड्य राजाओंका एक राज्य स्थापित हो गया।

जब राजा कुलशेखरने इस नगरका नामकरण करना चाहा, तब कहते हैं भगवान् शिव प्रकट हो गये। उसी समय पृथ्वीपर अमृतकी कुछ बूँदें गिर पड़ीं और तबसे इस नगरको मधुरनगर और फिर "मदुरा" कहने लगे।

मदुराकी ऐतिहासिक महत्ताका संकेत प्रारम्भमें दिया जा चुका है। यह ढाई हजार वर्षसे द्राविड़ और तमिळ संस्कृतिका केन्द्र रहा है और दक्षिण भारतका इतिहास प्रधानतया मदुरासे सम्बद्ध है। अबतक उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणोंके आधारपर मदुरापर सर्वप्रथम पाण्ड्य राजाओंका आधिपत्य था। ५०० ईस्वीमें श्रीलंकापर विजयका राज्य था और उसे तत्कालीन पाण्ड्य राजाका दामाद बताया गया है। उस कालके ग्रीक और रोमन ग्रन्थोंमें भी मदुरा और पाण्ड्यवंशका उल्लेख मिलता है। उस युगके प्रसिद्ध यात्री मार्को पोलोने मदुराको संसारका सुन्दरतम और भव्यतम नगर बताया है।

अनेक प्रसङ्गोंसे, जैसा कि हम आगे भी लिख चुके हैं, सिद्ध है कि पाण्ड्य राजा कला और शिक्षाके बड़े प्रेमी थे। मदुराके तमिळ-संगमकी स्थापना उन्होंने ही की थी। सन् १३१०में अलाउद्दीनके एक सेनापति मलिक काफूरने मदुरापर आक्रमण कर दिया और लगभग आधी शताब्दीतक यह मुगलोंके अधीन रहा भी। इसके बाद विजयनगरके हिंदू राजाओंने यहाँ मुस्लिम साम्राज्यका अन्त करके पाण्ड्य राजाओंकी पुरानी सांस्कृतिक एवं धार्मिक परम्पराको पुनः प्रारम्भ कर दिया। अपने दो शताब्दियोंके शासनकालमें उन्होंने मदुरामें शान्ति बनाये रखने और इसे समृद्धिके शिखरपर पहुँचानेमें कोई प्रयत्न उठा नहीं रक्खा। विजयनगरके राजाओंको "नायकवंश"का बताया जाता है। नायकवंशका सर्वप्रथम और महानतम राजा विश्वनाथ नायक माना गया है। थिरुमल नायक इतिहासमें अपने प्रसिद्ध महल और पुदुमण्डपम्के कारण प्रसिद्ध है, जो अब भी वहाँ विद्यमान हैं। मंगम्मल नायक वंशकी उल्लेखनीय रानी रही है। मंगम्मलने अपने समयमें सड़कें बनवानेकी ओर विशेष ध्यान दिया और उनके दोनों ओर सघन छायावाले वृक्ष लगवाये। दक्षिण भारतकी बहुत-सी सड़कें आज भी मंगम्मलके नामपर प्रसिद्ध हैं। साररूपमें विजयनगरम्के इन नायक राजाओंका २०० वर्षका शासनकाल मदुराके इतिहासका स्वर्णकाल है।

सन् १७८१ से मदुरा ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनीके प्रभावक्षेत्रमें आने लगा और सन् १८४० तक यह पूर्णतया अंग्रेजोंके अधिकारमें चला गया। १८६६ में यहाँ प्रथम नगरपालिका स्थापित हुई। उस समयसे भारतकी स्वाधीनता तक मदुरापर अंग्रेजोंका शासन रहा और इसी बीच इस नगरका आधुनिकरूप विकसित हुआ।

क्षेत्रफलकी दृष्टिसे मदुरा मद्रासके बाद दूसरा सबसे बड़ा नगर है। इसकी जनसंख्या ५ लाख तथा कुल क्षेत्रफल लगभग ९ वर्गमील है। यहाँकी नगरपालिकाकी वार्षिक आय लगभग एक करोड़ एवं व्यय लगभग ८० लाख है। उद्योग-व्यापार तथा शिक्षाकी दृष्टिसे भी अब यह दक्षिण भारतका प्रमुख केन्द्र होता जा रहा है। मदुराकी विविध विशेषताएँ, जिनका वर्णन प्रारम्भमें किया गया है, अब भी न केवल भारतीय वरं विदेशी पर्यटकोंको सहस्रोंकी संख्यामें प्रतिवर्ष अपनी ओर आकर्षित करती है। देवी मीनाक्षी इस नगरकी प्रमुख आराध्य देवी हैं और मीनाक्षीका मन्दिर यहाँका ही नहीं, वरं दक्षिण भारतका सबसे बड़ा आकर्षण है। मदुरामें बारहों मास पर्व मनाये जाते हैं, इसलिये इसे 'त्योहारोंका नगर' कहा गया है।

मदुराका मीनाक्षी-मन्दिर

यद्यपि हमारे लिये प्रधानतया यहाँका मीनाक्षी-मन्दिर ही प्रधान आकर्षण था, तथापि मीनाक्षी और मदुरा, मदुरा और मीनाक्षी—ये दोनों एक दूसरेके प्रतीक बन चुके हैं। मीनाक्षीके दर्शन तबतक नहीं किये जा सकते, जबतक मदुरा न जाया जाय और मदुराकी यात्रा तबतक पूर्ण नहीं हो सकती, जबतक मीनाक्षी देवीके मन्दिरके दर्शन न किये जायँ। इस दृष्टिसे यद्यपि हमारे सामने मदुराका भी महत्त्व कम न था, फिर भी हम मदुराके इस महत्त्वके मूल स्रोत जिस मीनाक्षी-मन्दिर और उस मन्दिरकी अधिष्ठात्री मीनाक्षी देवीके दर्शनके लिये गत निशामें मदुरा स्टेशनपर उतरते ही आतुर थे, प्रातः होते ही झटपट नित्यनियमसे निवृत्त हो, स्नानादि करके उस मन्दिरमें पहुँच गये।

मीनाक्षी देवीका मन्दिर मदुराके बीचो-बीच स्थित है। इस आयताकार मन्दिरकी दीवारें क्रमशः ८४७ फुट और ७९२ फुट हैं। नगरकी समस्त सड़कें इन दीवारोंके समानान्तर चलती हैं। अनुमानतः यह मन्दिर एक करोड़ बीस लाखकी लागतसे लगभग १२० वर्षमें बनकर तैयार हुआ था। सुन्दरेश्वर (शिव) इस मन्दिरके आराध्यदेव और मीनाक्षी आराध्यदेवी हैं। बताया जाता है, मीनाक्षी एक पाण्ड्य

राजाकी पुत्री थी और वह तीन वक्षके साथ उत्पन्न हुई थी। एक परीने राजाको बताया था कि उसका विवाह होनेपर तीसरा वक्ष अन्तर्धान हो जायगा और आगे चलकर भगवान् शिवसे उसका विवाह होनेपर ऐसा ही हुआ। कहते हैं कि इस अवसरपर अपने भक्तोंको प्रसन्न करनेके लिये भगवान् शिवने नगरमें ६४ चमत्कार दिखाये और सब जातिके नर-नारियोंके अतिरिक्त पशु-पक्षियोंने भी इसका रस लिया। इस प्रकारके चमत्कारोंके अनेक दृश्य मीनाक्षी-मन्दिरकी दीवारोंपर खुदे हुए हैं और स्थलपुराणमें इनका विस्तारसे वर्णन है।

मन्दिरमें कुल ९ गोपुर हैं, जिनमें बाह्य गोपुरोंका विशेष महत्त्व है। ये बाह्य गोपुर मन्दिरके चारों बाहरी कोनोंपर स्थित हैं। इनमेंसे दक्षिणी गोपुर सबसे ऊँचा माना जाता है। यह १५२ फुट ऊँचा है और इसपर चढ़कर समस्त नगरको एक सरसरी निगाहसे देखा जा सकता है। पूर्वी गोपुर सबसे अधिक पुराना है और इसके साथ अनेक घटनाएँ जुड़ी हैं। नायक राजाओंके शासनकालमें एक अन्यायपूर्ण सरकारी आदेशका विरोध करनेके लिये मन्दिरके एक कर्मचारीने इसपरसे कूदकर आत्महत्या कर ली थी। तबसे न तो कोई इस गोपुरकी पूजा करता है और न इसके अंदर ही जाता है। पश्चिमी गोपुरपर पौराणिक कथाओंसे सम्बन्धित अनेक दृश्य अङ्कित हैं। उत्तरी गोपुर द्राविड़ शिल्पकलाकी अनेक विशेषताओंका प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार इन चारों गोपुरोंका अपना-अपना महत्त्व है। नगरमें प्रवेश करते ही पर्यटककी दृष्टि उक्त चारों विशालकाय गोपुरोंपर पड़ती है और मीनाक्षी-मन्दिरके दर्शनके लिये उसकी लालसा प्रबल हो उठती है। वह 'अम्मन सन्निधि' नामक मुख्य द्वारसे मन्दिरमें प्रवेश करता है। यह द्वार पूर्व दिशामें स्थित है। मुख्य द्वारसे प्रविष्ट होनेपर सामने अष्टशक्ति-मण्डप दिखायी देता है। इसमें आठ शक्तियोंकी प्रतिमाएँ स्थापित हैं। इसकी छतपर कुछ चित्रोंमें मीनाक्षी देवीके जन्म, बचपन और युवावस्थाके चित्र अङ्कित हैं। इसके बाद मीनाक्षीमण्डप आता है, जो १७ वीं शताब्दीके शासक थिरुमल नायकके एक मन्त्री मीनाक्षी नायकद्वारा बनाया गया था। पहले यह मण्डप मन्दिरके हाथियोंके लिये प्रयुक्त होता था। आजकल इसमें फूलों तथा खिलौनोंका बाजार है। इसके बाहरके मार्गमें १००८ छोटे तेलके दीपक हैं जो नित्य जलाये जाते हैं। इसके बाद एक अन्धकार-मण्डप (Dark Mandapam) आता है, जिसे मुदालियर पिल्लई मण्डपम् कहते हैं। इसके स्तम्भोंपर अत्यन्त कौशलके साथ कुछ पौराणिक चित्र अङ्कित हैं। इस मण्डपसे गुजरनेपर एक स्वर्णकमल सरोवर आता है। इसकी चारों ओरकी दीवारोंका धार्मिक तथा कलात्मक दृष्टिसे विशेष महत्त्व है। उत्तरी एवं दक्षिणी दीवारोंपर भगवान् शिवकी ६४ चमत्कारपूर्ण लीलामुद्राएँ अङ्कित हैं। पूर्वी दिशासे दो स्वर्णिम गोपुर दिखायी पड़ते हैं। दक्षिणी दीवारके सफेद संगमर्मरपर प्रसिद्ध संत थिरुवल्लुवारका चित्र है। पश्चिम दिशामें रानी मंगम्मल-द्वारा निर्मित एक छज्जा है। इसपर रानी मंगम्मलकी आकृति एवं रामायणसे सम्बन्धित कुछ चित्र अङ्कित हैं। इन चारों दिशाओंके मध्य एक सरोवर है, जिसके साथ अनेक कथाएँ एवं जनश्रुतियाँ सम्बद्ध हैं। कहते हैं इन्द्रने एक बार अपने पाप दूर करनेके लिये इस सरोवरमें स्नान किया था और इसमें उगे स्वर्णिम पुष्पोंके साथ भगवान् सुन्दरेश्वर (शिवजी) की पूजा की थी। यह भी कहा जाता है कि एक बार भगवान् शिवने वर दिया था कि इस सरोवरका जल कभी मछलीसे दूषित नहीं होगा और तबसे यह सरोवर सदैव मछलियोंसे रहित रहा है। आज भी इसमें स्नान बहुत पुण्यकारी माना जाता है।

सरोवरसे निकलकर एक किलिकट्टू मण्डपके दर्शन होते हैं, जिसमें तोतोंको पिंजड़ेमें रक्खा जाता है। तोता पवित्र पक्षी माना जाता है और यह अनेक देवी-देवताओंके साथ रहा है। मीनाक्षी देवीका इसके प्रति विशेष आकर्षण था। इस मण्डपमें पाँच पाण्डवों एवं द्रौपदीकी प्रतिमाएँ भी हैं। इस मण्डपके उत्तरी द्वारसे सुन्दरेश्वर अर्थात् शिवलिङ्गकी ओर जानेका मार्ग है। पश्चिमी द्वारसे मीनाक्षी देवीकी प्रतिमाको मार्ग जाता है। इस मार्गपर दो पहरेदार नियुक्त रहते हैं। प्रतिमा तकके मार्गमें अनेक महत्त्वपूर्ण कलाकृतियाँ हैं, जो पर्यटकका ध्यान बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं। दीवारोंपर भारतीय नाट्यशास्त्रमें वर्णित नृत्यकी कुछ मुद्राएँ भी अङ्कित हैं।

तदनन्तर मीनाक्षीकी प्रतिमा आती है, जो तीन मण्डपोंसे घिरी है। अर्धमण्डपसे मीनाक्षीकी प्रतिमाके स्पष्ट दर्शन होते हैं। मीनाक्षीका अर्थ है—मीन (मछली)-जैसे नयनोंवाली। मीनाक्षी देवीकी प्रतिमाके नेत्रोंमें भी आश्चर्य-जनक आकर्षण और सजीवता है, जिसके कारण पर्यटक टकटकी लगाकर देखता रह जाता है।

मीनाक्षीकी महत्ताका एक और पक्ष भी है। यह द्राविड़ और आर्य सभ्यताके समन्वयकी प्रतीक है। भारतमें पुरातन-

कालसे न जाने कितने झुंड, कितने कबीले और कितनी जातियाँ आयीं; किंतु वे सब जलके अगणित सोतों, स्रोतोंऔर सरिताओं-सी विस्तीर्ण और गम्भीर समुद्ररूपी इस महान् देशमें समा गयीं। इस महान् देशकी महान् संस्कृतिने आक्रमणकारियों-तकको पचा लिया। भारतीय संस्कृति अनादिकालसे युद्धके स्थानपर अहिंसाका और वैरके स्थानपर प्रीतिका पाठ पढ़ाती रही है और इसीलिये यह समन्वयकी प्रतीक बन गयी है। भारतीय संस्कृतिकी यह समन्वयात्मक प्रवृत्ति इस मन्दिरके पाषाणोंसे, उनकी कलाकृतियों और मूर्तियोंसे मुखरित हुई है। मन्दिरके साथ द्राविड़ और आर्य दोनों परम्पराएँ जुड़ी हैं और मन्दिरकी निर्माणकला दक्षिणमें द्रविड सभ्यताके विकासका सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती है। इन दोनों संस्कृतियोंके सहअस्तित्वका इतना सजीव उदाहरण भारतमें शायद ही दूसरा हो।

भारतवर्षके कोणार्क, जगदीशपुरी और खजुराहो आदिके मन्दिरोंके सदृश इस मन्दिरके, विशेषकर दीर्घाकार सहस्र-स्तम्भवाले मण्डपमें भी कुछ अश्लील मूर्तियाँ हैं, जिन्हें यहाँके लोग 'मिथुन' प्रतिमाएँ कहते हैं। देवस्थानोंमें इस प्रकारकी प्रतिमाओंका होना हमारी दृष्टिसे एक दोष ही है। अबतक इस सम्बन्धमें कोई ऐसी बात नहीं कही गयी है, जिससे इन प्रतिमाओंकी ऐसे स्थलोंपर आवश्यकता और इनका औचित्य प्रतिपादित किया जा सके।

मन्दिरमें कुछ भग्न मूर्तियाँ भी हमें देखनेको मिलीं। मूर्तियोंके अङ्ग-भङ्गके साथ कुछ अन्य कलाकृतियोंको भी खण्डित रूपमें हमने देखा। कलाकी सुरक्षाकी दृष्टिसे इनकी मरम्मत और पुनर्निर्माण नितान्त आवश्यक हैं। इस सम्बन्धमें मरम्मतके लिये निधि-संग्रहके हेतु मन्दिरमें कुछ सूचना-पट भी हमने देखे, जिनमें पर्यटकों, दर्शकोंसे द्रव्य-सहायताकी प्रार्थना करते हुए बीस लाख रुपयेकी आवश्यकता बतायी गयी है। इस सम्बन्धमें शासनको अविलम्ब कदम उठाना चाहिये और एक निश्चित अनुदान प्रतिवर्ष देकर मन्दिरके गौरव और उसकी सांस्कृतिक एवं कलात्मक निधिकी सुरक्षाके दायित्वको निबाहना चाहिये।

इस प्रकार मीनाक्षी-मन्दिर दक्षिण भारतका एक ऐतिहासिक एवं प्रतिनिधि मन्दिर तो है ही, इसका सबसे बड़ा आकर्षण वस्तुतः इसकी कलात्मक भव्यता ही है। इतना विशाल, इतना भव्य और इतना कलात्मक मन्दिर, जिसे देखते ही दाँतों तले अंगुली आ जाती है, भारतीय मन्दिर-जगत्का एक ऐसा उदाहरण है, जिसमें न केवल भारतीय जीवनका धार्मिक पक्ष वरं भारतीय संस्कृति, भारतीय कला और भारतीय साहित्य पूरी तरह प्रतिबिम्बित हुआ है। इसके गोपुर, इसके स्तम्भ, इसके विभिन्न मण्डप, उनकी विशालता, उनकी कारीगरी, उस कारीगरीमें विशेषतः मूर्तियाँ मनुष्यको चकित कर देती हैं। जिस समय क्रेन आदिके सदृश यन्त्रोंका आविष्कार नहीं हुआ था, उस समय ऐसा मन्दिर कैसे निर्मित किया गया, यह कम कौतूहल और आश्चर्यकी बात नहीं। कोई देशी पर्यटक हो या विदेशी, आस्तिक हो अथवा नास्तिक, मीनाक्षी-मन्दिरका कला-कौशल उसके हृदयपर एक अमिट छाप छोड़ देता है। यही नहीं, मानवकी इस कृतिका कौतूहल हर विचारशील व्यक्ति-को यह विचार करनेके लिये बाध्य करता है कि किन प्रेरणाओं और प्रयत्नोंका महाप्रसाद मीनाक्षीदेवीका यह महामन्दिर अतीतकालमें निर्मित होकर आज भी हमें किस प्रेरणा और प्रयत्नकी ओर इङ्गित कर रहा है। मानवके अदम्य साहस, उसके शौर्य, उसकी संस्कृति, उसकी निष्ठा और उसके देव और देशभक्तिके प्रतीक इस मीनाक्षी-मन्दिर-का निरीक्षण करते समय सहसा हमें आगराके ताजमहल, जो विश्वकी सात आश्चर्यजनक और अनुपम कृतियोंमेंसे एक है, का ध्यान आये बिना नहीं रहता। ताजमहल कलाकी दृष्टिसे एक अनुपम कृति है। इतना ही नहीं, वह एकपत्नी-परायण पतिकी अथवा एक ऐसे सहृदय पतिके पत्नी-प्रेमकी निशानी भी है जो अपने प्रेमको अमरत्व प्रदान करनेके लिये ताजमहल-जैसी एक ऐसी यादगार बनाता है, जिसमें दुनियाँ ताजमहलके रूपमें मुमताज महलके पति शाहजहाँका दिल और उस दिलमें मुमताजका दहकता प्रेम भी देख सके। यह सब होनेके बावजूद इस कृतिमें एक वासना है, जिससे हम इनकार नहीं कर सकते। दो प्रेमियोंकी यादगारके अतिरिक्त ताजमहल हमें कोई ठोस प्रेरणा देता हो, ऐसा हम नहीं मानते। प्रेमियोंकी गाथाओं, उनकी कहानियों और कथाओंके रूपमें तो न केवल शाहजहाँ और मुमताज महलका प्रेम हमारे सामने है, वरं इससे भी कहीं अधिक व्यापक रूपमें हम शीरीं-फरियाद, लैला-मजनूँ आदिके नाम और उनकी कथाएँ लोगोंकी जबानपर सुनते हैं। किंतु आदर्शकी दृष्टिसे ऐसा प्रेम, जो आसक्तिके आवरणमें केन्द्रित हो अमर्यादित रूपसे समाज और देशके सामने वासनाके उग्र रूपमें ही प्रकट होता है, हमारा आदर्श नहीं हो सकता। आदर्श प्रेमकी दृष्टिसे जो स्वयंको बलिदान करके अपने प्रेमीको जीवित रक्खे, वही प्रेम और ऐसा ही प्रेमी हमारा आदर्श हो सकता है। इस दृष्टिसे नारी पात्रोंमें सीता-सावित्री एक ओर हमारे आदर्श हैं तो पुरुष पात्रोंमें राम हमारे आदर्श

हैं, जिन्होंने कष्ट सहनकर सामाजिक मर्यादाओं और नैतिक दायित्वोंका निर्वाह करते हुए कठोर कष्ट उठाकर एक ओर अपने प्रेम-व्रतका रक्षण किया तो दूसरी ओर जीवनके लक्ष्योंको भी पूरा किया। इन सभी दृष्टियोंसे जब हम वासनाके वितानसे मुक्त हो प्रेमके शुद्ध, सात्त्विक स्वरूप-की ओर देखते हैं, तब हमारे मनमें हमारी संस्कृतिका प्रधान गुण—परमानन्दका बोध करनेवाला, शुद्ध चित्त बुद्धिवाला प्रेम आप-से-आप पनप उठता है। यही प्रेम जिसमें वासनाका कालुष्य नहीं, अपितु जो परार्थ और पुरुषार्थका प्रतीक है, युग-युगोंसे हमारा आदर्श भी रहा है। इस आदर्शके प्रसार-प्रचारके लिये ही हमारे पूर्वजोंने ताजमहलके सदृश जन-शून्य नहीं, अपितु जनरवसे भरे, जनमानसकी भावभक्तिके जीते जागते ये देवमन्दिर देशके कोने-कोनेमें प्रतिष्ठित किये, जिनका हेतु किसी प्रेम-प्रकरणकी कोई नाममात्रकी प्रेरणा और प्रसङ्ग न होकर देशकी संस्कृति, उसका शौर्य, उसका साहित्य, उसका इतिहास, उसकी कला, उसका अध्यात्म और उसके अधिभूतके आधारभूत सभी प्रमाण हों। फिर ऐसे अधिष्ठानोंमें ही न केवल युग-युगोंसे वरं आज भी हम भारत और उसकी सार्वभौमिक एकता और अखण्डताके दर्शन कर रहे हैं। यह हमारे लिये इन देव-मन्दिरोंकी एक ऐसी देन है, जिसपर हमारा सारा भविष्य निर्भर है।

निरे आश्चर्य ही नहीं, वास्तविकताकी दृष्टिसे भी आस्तिक और नास्तिक—सभीके सामने मदुराका मीनाक्षी देवीका मन्दिर आगराके ताजमहलसे कहीं अधिक प्रभावी, प्रेरणादायी और पावन कृतिके रूपमें भारत और भारतीयताकी, उसकी संस्कृति और सार्वभौमिकताकी एक ऐसी निशानी है, जिसपर न केवल भारतीय जन ही गर्व करते हैं, वरं विदेशी आगन्तुक भी आश्चर्यचकित हो इसे स्वीकार करते हैं। मन्दिरके गगनचुम्बी गोपुरों, स्वर्णमण्डित विशाल गरुड़स्तम्भ, आकर्षक प्रतिमाओं और वास्तुकलाकी भव्यता, जो भारतके अतीतके गौरवमय पक्ष-की एक उज्ज्वल निशानी है, को देखकर हर पर्यटक, चाहे वह भारतीय हो अथवा विदेशी, इसी निष्कर्षपर पहुँचनेको बाध्य होगा कि संसारका सातवाँ आश्चर्य ताजमहल नहीं, मदुराका मीनाक्षी देवीका मन्दिर है। (क्रमशः)

धर्म और विश्वशान्ति

(लेखक—श्रीबिरधीलालजी सेठी)

संसारमें आज सर्वत्र संघर्ष और अशान्ति व्याप्त है। सुख-सामग्री कम है, परंतु भोगनेकी इच्छा रखनेवाले अधिक हैं; और तृष्णा तो और भी अधिक है तथा यही इस अशान्तिका एक मुख्य कारण है। यदि मनुष्योंकी भौतिक सुख-साधन बढ़ानेकी इच्छा यहींतक सीमित रहती कि संसारमें जो भी सुख-साधन उपलब्ध हों, उन्हें सबके साथ एक कुटुम्बके समान बाँट-बाँटकर लेते रहें, तब तो यह अशान्ति पैदा ही नहीं होती; परंतु ऐसा है नहीं। अधिकांश मनुष्य अपने सुखको दूसरोंके सुखसे अधिक महत्त्व देते हैं। दूसरोंके सुखका उन्हें कुछ ध्यान भी रहता है तो उन थोड़े-से व्यक्तियोंका कि जिन्हें वे अपना समझते हैं। फिर उनकी तृष्णाका भी कोई अन्त नहीं है, वे अपने ही या अपने छोटेसे घेरेके व्यक्तियोंके ही सुख-साधन अधिक-से-अधिक बढ़ाना चाहते हैं, चाहे दूसरोंके हिस्सेमें कुछ भी न आये, दूसरोंको खानेको भी न मिले। संसारमें जो विषमता, संघर्ष और अशान्ति है, उसका कारण मनुष्यकी यह सीमित स्वार्थी वृत्ति ही है और इसी स्वार्थी वृत्तिपर अङ्कुश रखनेके लिये समाजमें एक ओर धर्म और दूसरी ओर राज्यसत्ता पैदा हुई। धर्मका उद्देश्य है मनुष्यमें कर्तव्य-भावना पैदा करना कि वह बिना किसीके दबावके स्वयं ही इस प्रकार जीवन-यापन करे कि जिससे वह स्वयं सुखी रहे और दूसरोंके सुखमें भी बाधक न बने, प्रत्युत अपने सुखके साथ दूसरोंके सुखका भी वर्धन करे। इस प्रकारकी कर्तव्यभावना पैदा करनेवाली विचारधारा समाजके लिये आवश्यक है—चाहे हम उसे धर्म कहें, अध्यात्मवाद कहें या कुछ और। परंतु कितना भी कर्तव्य सिखाया जाय, बिना किसी भयके सब व्यक्ति अपने-आप अपनी-अपनी शक्ति और योग्यतानुसार काम करते रहें और अपने स्वार्थको इतना ही सीमित रक्खें कि जो उत्पादन हो, उसे एक कुटुम्बकी तरह बाँट-बाँटकर उपयोग कर लें, ऐसा सम्भव नहीं हो पा रहा है और न भविष्यमें ही इसकी सम्भावना है। इसलिये राज्यसत्ताकी भी आवश्यकता हुई, ताकि वह ऐसे स्वार्थी व्यक्तियोंपर अङ्कुश रख सके। इस प्रकार धर्म और राज्यसत्ता दोनों ही समाजके लिये आवश्यक हैं और उनमें भी धर्मकी प्रथम आवश्यकता है; क्योंकि जहाँ व्यक्ति समाज या राज्यसत्ताके भयसे किसी प्रकारका आचरण करता है, न कि कर्तव्य-भावनासे, वहाँ वह अपने आपको दुखी अनुभव करता रहता है और अपनी तृष्णाको पूरा करनेके लिये चोरी-छिपे समाजहित-विरोधी आचरण करनेके अवसर ढूँढ़ता रहता है। अतः

जबतक समाजके अधिकांश व्यक्ति इस प्रकारकी कर्तव्य-भावनावाले नहीं होंगे, तबतक समाजमें सुख-शान्ति नहीं रह सकेगी तथा जबतक राज्यसत्ता निःस्वार्थ और समष्टिगत कर्तव्यभावनावाले व्यक्तियोंके हाथोंमें नहीं जायगी, तबतक प्रभाववाले व्यक्ति अपने सीमित स्वार्थोंकी पूर्तिके लिये राष्ट्र, जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त, भाषा, व्यवसाय आदिके नामपर लोगोंको गुमराह करके और विरोधी स्वार्थोंवाले गुट बनाकर अशान्ति पैदा करते रहेंगे। बहुमतवाला वर्ग राज्यसत्तापर अधिकार करके अल्पमतवाले वर्गोंका शोषक बन जायगा और यही कारण है कि राज्यसत्ता भी अपने उद्देश्यको पूरा नहीं कर पा रही है। जहाँ-जहाँ भी अशान्ति और संघर्ष है, उसका यही कारण है।

अब यदि संसारके मुख्य धर्मोंपर दृष्टि डालें और उनके प्रवर्तकों एवं आर्ष ग्रन्थोंके उपदेशोंका विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि उन सबने धर्मकी अभिव्यक्ति सदाचारमें मानी है, किसी क्रियाकाण्डमें नहीं और सदाचारके मुख्य तत्त्व हैं—

(१) मनुष्य मात्रके प्रति भ्रातृभावका व्यवहार—

धर्म कहता है कि मनुष्य मात्रको अपना कुटुम्ब मानो। इसके बिना संसारकी अशान्ति दूर नहीं हो सकती। भारतीय धर्मोंने तो चराचर समस्त जीव-जन्तु अर्थात् प्राणिमात्रको इस घेरेमें शामिल किया है। इसीको निषेधात्मक दृष्टिकोणसे 'अहिंसा' कहा गया है।

(२) संयम और अपरिग्रह

धर्म कहता है कि यदि सुखी रहना चाहते हो तो अपने जीवन-निर्वाहके लिये कम-से-कम आवश्यकताएँ रक्खो, सादा जीवन रक्खो और भोगोपभोगकी वस्तुओं और धनका संग्रह मत करो। इसके बिना मनुष्यमात्रमें भाई-चारेका व्यवहार कार्यान्वित नहीं हो सकता। जबतक संयमकी भावनाद्वारा भोगोंकी तृष्णाको और संग्रहकी वृत्तिको नियन्त्रित नहीं करोगे, तबतक कामोपभोगकी वस्तुओंका उत्पादन कितना भी बढ़ा दिया जाय, वह सब मनुष्योंको सम्मिलित तृष्णाकी कुछ अंशोंमें भी पूर्ति नहीं कर सकेगा। परिणामस्वरूप समाजमें अशान्ति रहेगी और वर्ग-संघर्ष बना रहेगा।

उपर्युक्त विवेचनसे प्रकट है कि संसारसे विषमता और अशान्ति दूर करनेके लिये सबके प्रति भ्रातृ-भावका व्यवहार और संयमी तथा अल्प-परिग्रही जीवन आवश्यक है। और धर्मका उद्देश्य है मनुष्यमें बिना किसीके भय या दबावके इस प्रकारका जीवन व्यतीत करनेकी कर्तव्य-भावना पैदा करना। परंतु मनुष्य इस प्रकारकी कर्तव्य-भावनामें दृढ़ रहे, इसके लिये अधिकांश धर्मोंने एक दार्शनिक (तात्त्विक) आधार (विश्वास) की भी आवश्यकता समझी कि जिसे आध्यात्मिकता कहा जाता है; क्योंकि आज भी हम देखते हैं कि ऐसे विश्वासके अभावमें या उसपर ध्यान न रहनेपर मनुष्य समष्टिगत भावनाको छोड़कर अपने सीमित स्वार्थकी ओर झुक जाता है तथा अल्पकालीन सुखको महत्त्व देने लग जाता है। आज संयुक्त राष्ट्रसंघ संसारमें शान्ति बनाये रखनेमें क्यों असफल हो रहा है? एक ही मार्क्सवादी विचार-धारावाले होते हुए भी चीन और रूस क्यों एक दूसरेके शत्रु बन गये हैं? प्रत्येक देशके अंदर भी क्यों अशान्ति है? इसका कारण यही है कि मनुष्य यह समझे हुए है कि जितनी अधिक और अच्छी कामोपभोगकी वस्तुओंका उपयोग करूँगा, उतना ही अधिक सुखी होऊँगा और इसके लिये वह अधिक-से-अधिक धन संग्रह करना चाहता है एवं सत्ता प्राप्त करना चाहता है। जिनके हाथमें सत्ता है या संगठनकी शक्ति है, वे कानूनद्वारा या आन्दोलन और हड़तालोंद्वारा अपने और अपने पोषकोंके वेतन या आय बढ़वा लेते हैं और जिनके हाथमें शक्ति नहीं है वे (कर्तव्य-भावनावाले व्यक्तियों-को छोड़कर) चोरी, ब्लैकमार्केट, रिश्वत आदिके तरीके अपनाते हैं। अमेरिका आदि देशोंमें भी कि जहाँ कामोपभोग-की वस्तुओंका उत्पादन प्रचुर मात्रामें है, धन भी बहुत है, भौतिक वस्तुओंसे सुख प्राप्त करनेकी लोगोंकी तृष्णाका अन्त न होनेसे अशान्ति है। वहाँ भी डाकाजनी, चोरी, रिश्वत, टैक्सचोरी आदि अपराध प्रचुर मात्रामें होते रहते हैं। कुछ समय पूर्व संयुक्तराष्ट्र अमेरिकाके जाँचके संघीय कार्यालयके संचालक श्री जे० एडगर हूवरने अपनी रिपोर्टमें कहा था कि वहाँ जिस तेजीसे जनसंख्या बढ़ रही है, उससे चौगुनी गतिसे अपराध बढ़ रहे हैं। इससे प्रकट होता है कि मनुष्य सबके सुखमें सुख समझनेका, देशसेवाका, समाजसेवा-का दिखावा करता है; परंतु वास्तवमें उसके हृदयमें सीमित स्वार्थ है, अपने सब कार्योंका मूल्याङ्कन वह अपने वर्तमान शरीरके सुख-दुःखकी दृष्टिसे करता है और सीमित स्वार्थकी भावनाको निकालकर समष्टिगत कर्तव्यकी भावना तथा सुखके सार्वत्रिक एवं सार्वकालिक दृष्टिकोणको स्थायित्व देनेके लिये उसके हृदयमें आध्यात्मिकताका दार्शनिक आधार नहीं है।

धर्म कहता है कि पहले तुम अपने आपको जानो (Know thyself)—यह समझो कि तुम्हारा 'मैं' इस हाड़-मांसके नश्वर शरीरसे भिन्न एक अविनाशी और शाश्वत तत्त्व है, जो तुम्हारे इस शरीरके नष्ट हो जानेके बाद किसी भी देशमें, किसी भी प्रान्तमें, किसी भी कुलमें और किसी भी योनिमें जन्म धारण कर सकता है। अतः अपने इस वर्तमान शरीरकी दृष्टिमें ही नहीं, प्रत्युत अपने 'मैं' की सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टिसे सबको अपना कुटुम्बी मानकर सबके सुखमें अपना सुख मानो और ऐसा कोई कार्य न करो, जो विश्वहितका विरोधी हो। धर्म यह भी कहता है कि सुखके तत्त्वको समझो, तभी सुखी हो सकोगे। सुख तुम्हारे 'मैं'के अधीन है, पराश्रित नहीं है, कहीं बाहरसे नहीं आता। उसे इन्द्रियोंके विषयभोगोंद्वारा प्राप्त करनेका प्रयत्न मत करो; क्योंकि ऐसा सुख क्षणिक और परिणाममें दुःखदायी होता है। शरीरको और अपने 'मैं'को एक मानकर शरीरकी प्राकृतिक आवश्यकताओंसे अधिक भौतिक सुख-साधन उसे उपलब्ध करानेकी तृष्णा ही तुम्हारे इस दुःखका तथा संसारमें व्याप्त इस संघर्ष और अशान्तिका एक मुख्य कारण है; अतः संयमसे रहो और अति संग्रह मत करो। यहाँ यह भी बताना उचित है कि धर्मने ही नहीं, आचार-शास्त्रके आधुनिक महान् विद्वान् कान्टने भी इस प्रकारके दार्शनिक विश्वासको नैतिकताकी आधारभूत शिला माना है।

सार यह है कि संसारसे विषमता और अशान्ति मिटानेके लिये धर्म आवश्यक है, चाहे हम उसे आध्यात्मिकता कहें या कुछ और। धर्मकी अभिव्यक्ति है सदाचार अर्थात् प्राणिमात्रके प्रति समभाव, अहिंसा, संयमी जीवन तथा संग्रह-वृत्तिके निरोध आदिमें। इसके लिये न किसी आडम्बरकी आवश्यकता है, न किसी बाहरी क्रियाकाण्डकी और न इसके लिये पैसा खर्च करनेकी। किंतु यह भी सही है कि धर्म-प्रवर्तकोंका सदाचार (नैतिकता)-सम्बन्धी मूल उपदेश ऊपर लिखे अनुसार एक-सा होते हुए भी उसमें आडम्बर प्रधानरूपसे आ गया, जिससे विभिन्न धर्मोंमें प्रेम नहीं रहा। यह भी सत्य है कि धर्मके नामपर अनैतिकता और अत्याचार हुए। खूनकी नदियाँ बहायी गयीं। इसका एक मुख्य कारण यह है कि स्वार्थी और अविवेकी लोगोंने साधु या धर्मगुरुका भेष धारणकर लोगोंको आडम्बरकी भूलभुलैयामें फँसाकर वास्तविक धर्मके सम्बन्धमें इतना गुमराह कर दिया कि वे धन कमाने और भौतिक सुख-साधन बढ़ानेकी अति तृष्णा रखते हुए और हिंसा तथा शोषणद्वारा धन कमाते हुए भी धर्मके नामपर विभिन्न प्रकारसे धन खर्च करके ही अपने आपको धार्मिक समझने लगे। परंतु क्या इस कारण मनुष्य उस धर्मको जिसका उद्देश्य राष्ट्र, जाति, भाषा आदिके भेदभावके बिना सबके प्रति भ्रातृभाव रखने और सदाचारी जीवन व्यतीत करनेकी कर्तव्य-भावना जाग्रत् करनेका हो और जिसके प्रवर्तकोंका जीवन एवं उपदेश आज भी हमें असत्यसे सत्यकी ओर बढ़नेके लिये प्रेरणा देता है, समाप्त कर दें? क्या नृशंसतापूर्ण अत्याचार साम्यवादके नामपर नहीं हुए? क्या विभिन्न देशोंमें देश एवं राज्यके नामपर सत्ताधीशोंद्वारा समय-समयपर होनेवाले अत्याचार एवं शोषणकी तुलनामें धर्मसंस्थाओंके द्वारा हुई हानि नगण्य नहीं है? अस्तु, अबतक राज्यसत्ताकी कोई भी प्रणाली मनुष्यकी स्वार्थी वृत्तिपर अङ्कुश नहीं रख सकी, इस कारण यदि राज्यसत्ताको ही समाप्त कर दिया जाय तो क्या परिणाम होगा? और भी अधिक उच्छृङ्खलता और विनाश। ठीक यही बात धर्मके लिये भी लागू होती है; क्योंकि धर्मकी भावनाको मनुष्यमेंसे समाप्त करनेका परिणाम होगा मनुष्यको और भी अधिक निरङ्कुश और चरित्रहीन बना देना। आवश्यकता तो इस बातकी है कि धर्मके सम्बन्धमें लोगोंका विवेक जाग्रत् किया जाय और स्वार्थी तथा अविवेकी लोग धर्मके नामपर जो ढोंग और आडम्बर फैलाकर लोगोंको गुमराह करते हैं, उसके विरुद्ध प्रचार करके, सर्वसाधारणको और नयी पीढ़ीके युवकोंको धर्मके मौलिक सिद्धान्त हृदयंगम कराकर सदाचारी जीवन व्यतीत करनेकी प्रेरणा दी जाय। यह कार्य धार्मिक लोगोंद्वारा तो किया जाना उचित है ही; परंतु वह प्रभावशाली तभी होगा जब राज्यसत्ता भी सर्वधर्मसमभावी और समन्वयात्मक मानव-धर्मपर दृष्टि रखते हुए इसे अपना उद्देश्य बनाकर कार्यान्वित करेगी और सत्तारूढ़ पुरुष अपने नैतिक, संयमी और अल्पपरिग्रही जीवनद्वारा सबका मार्गदर्शन करेंगे। इसके बिना लोकतान्त्रिक प्रणाली अपने उद्देश्यको कभी पूरा नहीं कर सकेगी।
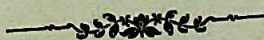
प्राचीन भारतकी लोकतान्त्रिक व्यवस्था

(लेखक—श्रीगोवर्धनलालजी पुरोहित, एम्० ए०)

प्राचीन भारतने आध्यात्मिक, साहित्यिक एवं दार्शनिक विषयोंमें तो प्रगति की ही थी, उसने राजनीतिक क्षेत्रमें भी आशातीत प्रगति कर ली थी । कौटल्यके अर्थशास्त्रके प्रकाशनके बाद संसारके विचारशील एवं मनस्वी सज्जनोंने मान लिया कि प्राचीन भारतमें जनमतका बड़ा आदर था। अनेक भारतीय विद्वानोंने भी प्राचीन भारतके राजनीतिक विकासपर अनेक अन्वेषणात्मक ग्रन्थ लिखे । इनमें सुप्रसिद्ध इतिहास-लेखक श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल, श्रीघोषाल महोदय, श्रीविनयकुमार सरकार, श्रीप्रेमनाथ बनर्जी, श्रीनगेन्द्रनाथ गुप्त आदि उल्लेखनीय हैं । इन सभीने यह सिद्ध किया है कि प्राचीन भारतने उस समयकी परिस्थितिके अनुसार जनतन्त्रके क्षेत्रमें बड़ी प्रगति कर ली थी । सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्रीकाशीप्रसाद जायसवालने खोजपूर्ण ग्रन्थ 'हिंदू-पॉलिटी'में यह दर्शाया है कि कौटल्यके अर्थशास्त्रके पहले भी अनेक ग्रन्थोंमें भारतीय जानतान्त्रिक विकासका समुचित वर्णन है ।

वेदोंके गम्भीर अध्ययनसे यह विदित होता है कि वैदिक युगके प्रारम्भमें चुने हुए राजाओंद्वारा शासन चलाया जाता था और इसके बाद तो शुद्ध रूपसे चुनी हुई प्रतिनिधि सरकार गणराज्यके रूपमें शासन करती थी । सुप्रसिद्ध प्रवासी इतिहास-लेखक—'मेगास्थनीज' ने भी इसे स्वीकार किया है । प्रजातन्त्र-शासनके प्रमाण परवर्ती वैदिक साहित्य, ऋग्वेदके ब्राह्मणभाग तथा यजुर्वेद और अन्य ग्रन्थोंमें मिलते हैं । जातक-कथाओंमें भी अनेक स्थानोंपर गण-राज्योंका वर्णन किया गया है। जैन-साहित्यमें भी गणराज्यका वर्णन है। सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनिने अपने विख्यात ग्रन्थ अष्टाध्यायीमें हिंदू प्रजातन्त्रोंका महत्त्वपूर्ण वर्णन किया है । इन सबके आधारपर यह निर्विवाद रूपसे कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतमें लौकतान्त्रिक व्यवस्था प्रचुर मात्रामें थी ।

वैदिक कालकी जनतन्त्रीय संस्थाएँ

यूरोपके अनेक विद्वानोंने पर्याप्त अन्वेषणके बाद यह स्वीकार किया है कि ऋग्वेद संसारके उपलब्ध ग्रन्थोंमें सबसे प्राचीन है। लोकमान्य तिलकने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ओरायन'में ऋग्वेदको ईसासे आठ हजार वर्ष प्राचीन माना है। इन खोज-कर्ताओंने वेदोंके आधारपर सिद्ध किया है कि शासनकी नीति निर्धारण करनेमें जनताका बहुत बड़ा हाथ था। अविनाशचन्द्र दासने अपने ग्रन्थ 'Rigvedic culture' में 'सभा' और 'समिति' नामक दो राजनीतिक संस्थाओंपर प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं कि 'वैदिक आर्योंमें जनतन्त्रीय प्रवृत्तियाँ थीं। वे अपने दलगत (ट्राइबल) हितोंके लिये तत्पर रहते थे। सार्वजनिक तथा अपने ग्राम-सम्बन्धी शासन-कार्योंपर विचार करनेके लिये सभाओंमें एकत्रित होते थे और सम्बन्धित विषयोंपर खुले दिलसे विचार करते थे। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण गाँवमें एक स्थायी संस्था थी, जिसका नाम सभा था। (ऋग्वेद, अध्याय ६, पृ० २९६; अध्याय ८, पृ० ४) इस सभाका स्वतन्त्र भवन होता था, जिसमें ब्राह्मण तथा सम्माननीय सज्जन ग्रामशासनसम्बन्धी विषयोंपर विचार-विमर्श करते थे । ऋग्वेदमें एक-दो स्थानोंपर (१६७,३) ऐसा उल्लेख मिलता है कि स्त्रियाँ भी सभामें भाग लेती थीं। उपनिषत्कालमें तो इस प्रकारकी लोक-सभाओंमें स्त्रियोंके भाग लेनेके स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं।

कौटल्यके अर्थशास्त्रके आविष्कारक डा० शामशास्त्री अपने 'The Evolution of Indiat polity'में लिखते हैं—'इन सभाओंमें या परिषदोंकी सदस्यताके सम्बन्धमें यह दिखायी देता है कि इसमें जानेके लिये किसी भी प्रकारकी रोक-टोक नहीं थी। वृद्ध और युवक, शिक्षित और अशिक्षित—सभी इनमें स्वतन्त्रताके साथ सहयोग देते थे। इसमें कोरमका कोई सवाल नहीं था । सभाको पूर्णरूपसे अधिकारयुक्त बनानेके लिये प्रत्येक वयस्क ग्रामवासीका उपस्थित होना अनिवार्य था। कृष्णयजुर्वेद नामक ग्रन्थसे पता चलता है कि सभाएँ बहुत बड़े पैमानेपर होती थीं और किसीको भी अपने विचार रखनेसे रोका नहीं जाता था। इन सभाओंमें पुरोहित लोग शिक्षित लोगोंका और सामन्तगण कृषक तथा व्यापारी वर्गका प्रतिनिधित्व करते थे। इन सभाओंमें राजाओंके निर्वाचनके प्रश्न, उनको राज्यच्युत करने या सिंहासनपर पुनः अधिष्ठित करने आदि विषयोंपर खुली चर्चा होती थी। यह बात संदेहास्पद है कि राजा लोग इस सभामें उपस्थित होते थे या नहीं। यदि वे उपस्थित होते तो सभाध्यक्षके रूपमें उपस्थित होते थे। परंतु जब किसी राजाके चुनावके लिये लोकसभामें विचार होता था, तब वह राजा नियमानुसार उसमें उपस्थित नहीं होता था।'

ऋग्वेदमें 'सभा' एवं 'समिति' का उल्लेख कई स्थानोंपर आया है । सुप्रसिद्ध लेखक Hillevradat का कथन है कि ये दोनों संस्थाएँ

एक थीं। परंतु सुप्रसिद्ध जर्मन इतिहास-लेखक लुडविगने अपने ऋग्वेदके अनुवादमें यह दिखानेका प्रयत्न किया है कि 'समिति' एक विशुद्ध लोकसभा होती थी, जिसमें सब लोग सहयोग दे सकते थे। इसमें राजा, अमीर, उमराव भी शामिल हो सकते थे। झीमर महोदयका कथन है कि समितियोंमें राजाका चुनाव होता था। इनकी बैठकें बड़े नगरोंमें होती थीं। (ऋग्वेद, १०, १७३)

प्रजाद्वारा राजाका चुनाव

वैदिक कालमें राजाओंको प्रजाद्वारा चुने जानेके अनेक उदाहरण मिलते हैं। झीमर महोदयने 'Rigvedic India' में लिखा है—'राजा प्रजाद्वारा चुना जाता था। लोक या उनके प्रतिनिधि सभा या समितिमें एकत्रित होते थे।' (ऋग्वेद-मन्त्र १००–१३४। ८)

अविनाशचन्द्र दासने अपनी पुस्तक 'Rigvedic Culture' में बताया है कि 'राजाका चुनाव उसकी योग्यताके अनुसार होता था। उसे अपने पदकी रक्षाके लिये जनताकी सदिच्छापर रहना पड़ता था। राजाके शासनमें प्रसन्न रहनेपर ही प्रजा उसे कर देती थी। ज्यों ही शासनमें अन्याय-अत्याचार दिखायी देता, वह कर देना बंद कर देती थी। राजा जनताकी अवहेलना नहीं कर सकता था। जनताको अपने स्वत्व तथा अधिकारोंका पूरा ज्ञान था।' ऋग्वेदसे अथर्ववेदकी रचना उत्तरकालीन है। उसमें ऐसे अनेक मन्त्र हैं, जिनमें राजाके जनताद्वारा चुने जानेका स्पष्ट उल्लेख है। कुछ मन्त्र यहाँ दिये जाते हैं—

'इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि संह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः।
स त्वायमह्वत् स्वे सधस्थे स देवानयक्षत् स उ कल्पयाद् विशः॥
(३, ४, ६)

अर्थात् 'हे राजन्! आप जनताके सामने आइये, आप अपने निर्वाचन करनेवालेके अनुकूल हों। इस पुरुष (पुरोहित) ने आपको आपके योग्य 'स्थान' पर यह कहकर बुलाया है कि आप इस देशकी स्तुति होने दें और जाति (विशः) को भी सुमार्गपर चलने दें।' एक अन्य मन्त्रमें कहा गया है—

त्वां विशो वृणुतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवी।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि॥
अच्छा त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दूतो अजिरः संचरातै।
जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं प्रति पश्यामा उग्रः॥

अर्थात् 'हे राजन्! राज्य-कार्य चलानेके लिये प्रजा तुझे निर्वाचित करे। इन पाँचों प्रकाशयुक्त दिशाओंमें प्रजा तुझे निर्वाचित करे। राजाके श्रेष्ठ सिंहासनका आश्रय लेकर तू हमलोगोंमें उग्र होते हुए भी धनको बाँट दिया कर। तेरे अपने देशके निवासी ही तुझे बुलाते हुए तेरे पास आयें। तेरे पास चतुर तेजयुक्त एक देव हो। राष्ट्रमें जितनी भी स्त्रियाँ तथा उनके पुत्र हों, वे तेरी ओर मित्र-भावसे देखें। तब ही तू उग्र होकर बहुबलि ग्रहण करेगा।' इस प्रकारके कितने ही मन्त्र अथर्ववेदमें भी आते हैं। इन मन्त्रोंसे यह विदित होता है कि राजा राष्ट्र-पतिके रूपमें काम करता था। अपनी योग्यतासे ही वह यह पद प्राप्त करता था। पुरोहितद्वारा राजाको अपने कर्तव्यपालनके लिये शपथ दिलायी जाती थी। वेदोंमें इसका वर्णन है। 'मैं नियमानुसार शासन करूँगा। यदि नहीं करूँ तो तुम मुझे सभी प्रकारके दण्ड दे सकते हो। तुम मुझे पदच्युत कर सकते हो। इतना ही नहीं, मुझे बंदीगृहमें भी रख सकते हो।'

राजाके लिये दण्ड-विधि

प्रतिज्ञाका पालन न करनेपर शुक्राचार्यके शब्दोंमें उसे निम्नलिखित ढंगसे दण्ड दिया जाता था—

गुणनीतिबलद्वेषी कुलभूतोऽप्यधार्मिकः।
नृपो यदि भवेत् तं तु त्यजेद्राष्ट्रविनाशकम्॥
तत्पदे तस्य कुलजं गुणयुक्तं पुरोहितः।
प्रकृत्यनुमतं कृत्वा स्थापयेद्राज्यगुप्तये॥

अर्थात् 'जो राजा गुण, नीति और सेनाका शत्रु हो गया है, जो राजवंशका होकर भी अधार्मिक हो गया हो, उस राष्ट्र-विनाशकको राज्यसे हटा देना चाहिये। उसके स्थानपर राजपुरोहित राज-कर्मचारियोंका मत लेकर उसके कुलमें उत्पन्न हुए किंतु गुणयुक्त उसके सम्बन्धीको अधिष्ठित करे।' मनुस्मृतिमें भी ऐसा ही कहा गया है—

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः॥

अर्थात् 'जो राजा मूर्खता अथवा मोहवश होकर अपनी प्रजाको सताता है, वह राज्यच्युत किया जाता है और बन्धुओंसहित मृत्युदण्डको प्राप्त होता है।' इस तरह राजाको दण्ड देनेके कितने ही विधि-विधान हमारे प्राचीन शास्त्रोंमें मिलते हैं। आधुनिक यूरोपीय देशोंके अधिपतियोंसे कई क्षेत्रोंमें हमारे

राजाओंके अधिकार अधिक मर्यादित थे । अपराध करनेपर साधारण व्यक्तिकी अपेक्षा उसको कठोर दण्ड देनेकी व्यवस्था थी—

कार्षापणं भवेद्दण्डयं सहस्रमिति धारणा ।
अष्टापद्यंतु शूद्रस्य स्तेयं भवति किल्बिषम् ॥

अर्थात् जिस अपराधमें साधारण मनुष्यपर एक पैसा दण्ड हो, उसी अपराधमें राजाको सहस्र पैसे दण्ड होने चाहिये । इन सबसे यह स्पष्ट विदित होता है कि जनताको राजाको चुनने, हटाने तथा दण्ड देनेका अधिकार था ।

रामायण-महाभारतमें जनमतका आदर

रामायणमें स्पष्ट लिखा है कि जब महाराजा दशरथने अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको राजसिंहासन देना चाहा, तब उन्होंने इस कार्यके लिये अपनी प्रजासे अनुमति ली थी ।

जौ पाँचहि मत लागै नीका ।
करहु हरषि हियँ रामहि टीका ॥

वाल्मीकि-रामायणमें यह उल्लेख है कि राजा दशरथ अकेले राज्य नहीं करते थे, वरं विद्वान् तथा योग्य मन्त्रियोंकी सहायतासे राज्य करते थे । महाभारतमें राजा पृथुका प्रजाद्वारा चुने जानेका स्पष्ट उल्लेख है ।

प्राचीन भारतके गण-राज्य

गौतमबुद्धके समय भारतमें कितने ही गण-राज्य थे । स्वयं उनका निवासस्थान भी गणतन्त्रीय राज्य था । ये गण-राज्य पूर्वमें कोसल और कौशाम्बीसे लेकर पश्चिममें अङ्ग राज्यतक विस्तृत थे । अर्थात् इनका विस्तार गोरखपुर जिले और बलिया जिलेसे लेकर मगधके उत्तरमें हिमालयके दक्षिणतक फैला था । इतिहासवेत्ता श्रीकाशीप्रसाद जायसवालने इन गणतन्त्रोंका उल्लेख इस प्रकार किया है—

(१) शाक्योंका गण-राज्य

इसकी राजधानी गोरखपुर जिलेमें कपिलवस्तु नामक नगरमें थी । इसमें इसके सीमावर्ती राज्य भी शामिल थे ।

(२) कोलियोंका राम-ग्राम

(३) लिच्छिवियोंका राज्य

इसकी राजधानी वैसालीमें थी, जिसे आजकल बसाढ़ कहते हैं और जो मुजफ्फरपुर जिलेमें है ।

(४) विदेहोंका गण-राज्य

इसकी राजधानी मिथिला (जिला दरभंगा) में थी । ये दोनों अन्तिम मिलकर 'वृजी' अथवा 'वज्जी' कहलाते थे ।

(५) मल्लोंका राज्य

यह बहुत दूरतक फैला हुआ था । वह दक्षिणमें शाक्यों तथा वृजियोंके राज्यतक चला गया था अर्थात् आधुनिक गोरखपुर जिलेसे पटनेतक विस्तृत था । यह राज्य दो भागोंमें विभक्त था । इनमेंसे एकके राज्यकी राजधानी 'कुशीनगर' (कुसीनारा) तथा दूसरेकी राजधानी 'पावाँ' में थी । इस प्रकार बौद्ध युगमें अनेक गणराज्य थे ।

कौटल्यने अपने ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में भी गण-राज्योंका परिचय दिया है । इसमें दस गण-राज्योंका उल्लेख है—(१) लिच्छिविक, (२) वृजिक, (३) मल्लक, (४) कुकुर, (५) कुरु, (६) पाञ्चाल, (७) काम्भोज, (८) सुराद्रि, (९) क्षत्रिय, (१०) श्रेणी । इनके अतिरिक्त उस समय क्षुद्रकों तथा मालवोंके भी प्रजातन्त्र राज्य थे, जिनका वर्णन कौटल्यके ग्रन्थमें नहीं है । यूनानी इतिहासकार मेगास्थनीजने भी अपने प्रवास-वर्णनमें कुछ प्रजातन्त्र राज्योंका उल्लेख किया है । वह लिखता है—'वे लोग जहाँ राजा होते हैं, वहाँ सब बातोंकी सूचना राजाको देते हैं और जहाँ स्वाधीन होते हैं, अथवा शासन आप करते हैं, वहाँ मजिस्ट्रेटों, स्थानीय अधिकारियोंको सूचना देते हैं ।' अन्य यूनानी इतिहासलेखक 'मैकक्रिंडल' अपने ग्रन्थ 'Invasion of India by Alexander' में लिखते हैं—'भारतवर्षके प्रत्येक गाँवको यूनानियोंने स्वतन्त्र प्रजातन्त्र समझा था ।' यूनानके एक अन्य लेखक एरियनने भी अपने ग्रन्थमें व्यासनदीतटके गणराज्योंका वर्णन किया है ।

कहनेका सारांश यह है कि भारतमें राजतन्त्रके साथ-साथ कई स्थानोंपर प्रजातन्त्र-प्रणालीसे शासन होता था । यह कहना अनुचित है कि प्राचीन भारतमें गणतन्त्र-प्रणालीका अभाव था और यह यूरोपकी देन है ।

भारतमें गणतन्त्रके विकासके सम्बन्धमें अब भी बहुत कुछ शोध करनी है । ऐसा हो जानेके बाद हमारा यह संदेह पूर्णतः समाप्त हो जायगा कि भारतमें गणतन्त्र केवल आधुनिक वस्तु है ।

श्रीगोपाङ्गनाओंका विशुद्ध प्रेम

[राष्ट्रीय कवि स्व० घासीराम व्यासका भक्ति-साहित्य]

(लेखक—श्रीरामचरणजी हयारण 'मित्र', साहित्यशिरोमणि)

बुंदेलखण्डको इतिहासवेत्ताओंने वीर और कवि-प्रसूतिभूमिकी मान्यता देकर सराहना की है। कवीन्द्र केशवदास, देव, विहारी, पद्माकर, मतिराम प्रभृति व्रजभाषा-भक्ति-साहित्यके शीर्षण्य कवि इसी बुंदेल-वसुंधराकी देन हैं और यही शृङ्खला उस प्राचीन कालसे इस आधुनिक काल-तक चली आ रही है।

स्वतन्त्रता-संग्रामके भीषण संघर्ष-कालमें भी यहाँके स्व० कवीन्द्र नाथूराम माहौर, स्व० आचार्य घनश्यामदास पाण्डेय, राष्ट्रीय कवि स्व० घासीराम व्यास प्रभृतिने जहाँ राष्ट्रको प्रबल चेतना प्रदान की है, वहाँ इन कवियोंने व्रज-भाषामें भक्ति-साहित्यका सृजन करके सरस्वतीके अपार भंडारको भी भरा है।

इस संदर्भमें हम यहाँ केवल व्यासजीके व्रजभाषामें निर्मित भक्ति-साहित्यपर ही किंचित् प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे। व्यासजीका जन्म वि० संवत् १९६० अनन्त-चतुर्दशीको सुखनई सरिताके तटपर बसी हुई मधुपुरी (मऊरानीपुर) के ब्राह्मण-कुलमें हुआ था और मृत्यु राष्ट्रीय आन्दोलनमें वि० संवत् १९९९ वैशाख शुक्ल प्रतिपदाको झाँसी डि० जेलसे मुक्त होनेपर।

व्यासजीके व्रजभाषा-भक्ति-साहित्यकी प्रशस्तिमें राष्ट्रकवि डा० श्रीमैथिलीशरण गुप्तने लिखा है कि 'रत्नाकर'जी-की वाणीमें विभुता है और 'व्यास'जीकी वाणीमें विनम्रता। एकमें बाँकपन दर्शनीय है, दूसरेमें भोलापन और सम्पादका-चार्य पं० बनारसीदास चतुर्वेदी तो व्यासजीके भक्ति-साहित्य-की सराहना करते हुए आत्मविभोर हो जाते हैं।

व्यासजीने खड़ी बोली और व्रजभाषामें १५ पुस्तकोंका सृजन किया। इन पुस्तकोंमें कुछ प्रकाशित हैं और कुछ अप्रकाशित रूपमें उपलब्ध हैं।

यहाँ हम उनके व्रजभाषा-काव्य 'श्याम-संदेश'के कुछ भावात्मक छन्द प्रस्तुत कर रहे हैं।

श्रीकृष्ण जब व्रजकी व्रजाङ्गनाओं, सखाओं और अपनी प्यारी गौओं, जिनसे उनको अत्यधिक हार्दिक स्नेह था, त्यागकर मथुरा चले आते हैं, तब वे उनके अनन्य प्रेमका स्मरण करके विह्वल हो उठते हैं—

व्रज तज आये जबहिं तैं व्रजपति स्याम सुजान।
नेह-नीर नैनन भरें व्रजके करत बखान॥

जब-जब आवत सुरति गोठ-गौवन की,
गोपिन की, ग्वारुन की, गोकुल-गलीन की।
कलित करीलन के कुंजन, कदंबन की,
कूलन, कछारन कलिंदजा कनीन की।
'व्यास' कहैं औचक अचक चकाराने चित्त,
चितवन स्याम दसा दीसत अधीन की।
छीन तन-बदन, मलीन द्युति दीन होत,
फनि मनि हीन की, ज्यों जल बिन मीन की।

राधिका-राधिका टेरैं, हँसैं, कबौं—
मौन रहैं, कबौं आँसू बहावैं।
'व्यास' कहैं इमि दीन दयालु की
ऊधव देखि दसा दुख पावैं।
बात कह्यौ चित चाहैं कछू,
पर बैन नहीं मुख तें कहि आवैं।
बुद्धि विवेक वढ़ावैं अयान-से
सोचैं, सुनैं, सकुचैं रहि जावैं।

श्रीश्यामसुन्दरकी यह दशा जब उनके प्रिय सखा उद्धव देखते हैं, तब वे चकित होकर अधीर हो पूछते हैं—

देखि दसा घनस्याम की ऊधव ग्यान-गँभीर।
होंहि अचित, चिंतित, चकित दुखित अमित मति-धीर॥

सादर सोच-सँकोच सौं पूँछहिं,
बात कहा, बिसरावत बान हौ।
संमृनि-मोह में मोहत मोहन,
मानस-मोद-मनोग्य महान हौ॥
'व्यास' अमीत हौ, द्वंद्व-अतीत हौ,
विस्व-प्रतीत हौ पुण्य-प्रमान हौ।
जानि कैं होत अजान कहा हरि!
ग्यान-सिरोमनि स्याम-सुजान हौ॥

ज्ञानी सखा उद्धवके इन गम्भीर वचनोंको श्रवणकर श्रीकृष्ण हर्षित होकर कहते हैं—

सुनि ऊधव के बैन ग्यान जुत हरि बोले मुसकाई।
सुचि सनेह-सागर अथाह की थाह कौन कछु पाई॥

सत्य सखा ! तुम ग्यानी-गुनी, गुन
गावरे देखि सबै ही सिहावैं।
'व्यास' कहैं, अति नीकी कही, हर
भाँतिन सौं हमहूँ यह चावैं॥
छूटै सनेह परयौ कहूँ क्यों ? कोऊ
प्रेम करै, हम नेम भुलावैं।
कैसहूँ वे जो न ध्यावैं हमें, हिय-
सौं, तो उन्हें हमहूँ बिसरावैं॥

श्रीकृष्णके इन स्नेहभरे वचनोंको श्रवणकर ज्ञानी उद्धव अति विचारमग्न हो श्यामसुन्दरसे व्रज जानेकी इच्छा प्रकट करते हैं और आज्ञा प्राप्तकर अपना रथ सजाकर व्रज गमन करते हैं—

आयसु पाय, तुरत रथ सजि कैं मंगल मोद मनाये।
करि प्रनाम प्रभु कौं सनेह सौं, व्रज की ओर सिधाये॥

लोचन लालसा तें उमहे कवौं—
देखैं धरा व्रज की सुख-रासी।
सोचत जात चले मग ऊधव,
कैसे सुभाग भरे व्रजवासी॥
कैसे करील के कुंज कदंब हैं,
कैसे कलिंदजा-कूल-सुपासी ?
स्याम उपासी बने जिनके रहैं,
कैसीं वे गोपिका स्याम-उपासी।

इधर व्रजाङ्गनाएँ कलिन्दजाके कूलपर बैठी हुई श्यामसुन्दरके स्नेहमें विह्वल हो अतीतकी बातोंका स्मरण कर रही हैं—

कूल कलिंदजा के सुख-मूल वे,
फूल-सी चैत की चाँदनी रातैं।
कुंजन की मन-मोद-मयी
अभिराम घनी घनस्याम की घातैं॥
'व्यास' न भूलत गोरस कौ रस,
जो रसना तें लह्यौ रस-नातें।
हाय हियौ दहिबे कौं रहीं,
कहिबे कौं रहीं वे सनेह की बातें॥

ऐसी मनःस्थितिमें अनायास गोपिकाओंको यह संदेश प्राप्त होता है कि एक रथ व्रजकी ओर आ रहा है। शायद श्रीकृष्णका हो ? सब गोपिकाएँ चावसे आनन्दनिमग्न हो दौड़ पड़ती हैं—

बैठीं बिसूर कलिंदजा-तीरन,
गोप-कुमारी सनेह निमाए।
'व्यास' कहैं इतने में कोऊ तहाँ
आन कहे कछु बैन सुहाए॥
चौंकीं सबै रथ दूरि तें देखि कैं,
दौरि परीं कहैं मोद मनाए।
औचक ही 'हरि आये हहा'
'हरि आये हहा' हियरे हरषाए॥

गोपिकाओंने अति उल्लसित हो रथको चारों ओरसे घेर लिया; परंतु उसमें श्याम नहीं, श्याम-सखा उद्धव थे। इसमें ही सबको हर्ष हुआ और वे श्रीकृष्णकी कुशल-क्षेम जाननेको आतुर हो उद्धवसे पूछती हुई आत्मविभोर हो गयीं और सबने श्याम-सखा-उद्धवका श्यामसुन्दरसे भी सौगुना स्वागत किया।

ज्ञानी उद्धवने कुशल-क्षेम कहते हुए जब गोपिकाओंसे अपनी योग-युक्तिकी बात श्रीकृष्णके संदेशरूपमें प्रकट की—

पूछ परसपर कुसल-छेम तब ऊधव हाल सुनायौ।
स्याम-सँदेसौ कह्यौ, सुनत गोपिन बिसवास न आयो॥

ऐसी मनःस्थितिमें गोपिकाएँ श्याम-सखा उद्धवसे स्नेह-पूर्ण व्यंग-वाणीमें उत्तर देती हैं—

हम जोग कुजोग कौं जानैं कहा,
रसना-रस-रास-रसालिनी हैं।
गुन-हीन गँवारिनी ग्वारिनी हैं,
पर प्रीति-प्रतीति की पालिनी हैं।
द्विज 'व्यास' कहैं, तुम ऊधौ सुनौ,
सदा सीध सुचालु सुचालिनी हैं।
भले भूखी रहैं कि चुगैं मुकता,
हम मानस-राज-मरालिनी हैं।
द्विज 'व्यास' रुचै किहि नीरस ग्यान,
सनेह-सुधा-सर बोरिनी हैं।
तुम ऊधौ ! भ्रमौ, भरमौ न इते,
चित-चोरहू की चित-चोरिनी हैं।
घनस्याम-घटा अभिराम की त्यों,
मदमाती सुमंजुल मोरिनी हैं।
पद-पद्म की प्रेमिका भौंरिनी हैं,
नख-चंद की चारु चकोरिनी हैं।

तदुपरान्त ज्ञानी उद्धवकी भाव-भरे शब्दोंमें आलोचना और उपहास करती हुई व्रजाङ्गनाएँ कहती हैं—

हैं दुखिया व्रजबाल सबै तिन्नमें,
मुखिया मनु होवन आये।
'व्यास' कहैं भले भावन सों घने,
घावन लौन सों धोवन आये।
सत्य सनेह के सागर में गुन-
ग्यान कौ नीर निचोवन आये।
पावन प्रेम की बाटिका में तुम
ऊधौ! बबूरन बोवन आये।

इसके उपरान्त व्रजनन्दनके सम्बन्धमें, जो व्रजाङ्गनाओं-के हृदयमें सदैव निवास करते थे, उलाहना देती हुई वे अपने विमल भावोंको व्यक्त करने लगीं—

जोग कौ सोच न सोच वियोग कौ,
सोच न भोग बिभोग भुलानी।
चिंता कहा, भई दूबरी देह,
कहा दुबिधा, भई कूबरी रानी।
'व्यास' न प्रीति-प्रतीति की मीति,
पै स्याम की देखि दसा ये दिवानी।
दाह दहै हियरे में यही,
हियरे बसि कैं हियरे की न जानी।

इसके पश्चात् उनकी जो श्यामसुन्दरके प्रति प्रेमकी अनन्य निष्ठा थी, उसका साहसके साथ वे वर्णन करती हैं—

जानत है जग—काँच सो काँच,
अमोलक हीर-कनी सो कनी है।
'व्यास' गुनी उन प्रीति भली,
हम औगुन रीति गनी सो गनी है।
मोहन-तान तनी सो तनी,
हमहू हिय ठान ठनी सो ठनी है।
है उनकी हम सौं न बनी,
हमरी उनसों जो बनी सो बनी है।

इसके अनन्तर वे फिर अत्यन्त कोमल भावात्मक ढंगसे उद्धवजीसे अपने व्यथित हृदयकी दशाका और श्रीकृष्णके द्वारा भेजे हुए योगकी चर्चा करती हैं—

फिरि-फिरि, फेरि-फिरि, हरि-मग हेरि-हेरि—
हारीं जिय, सूखिगौ बियोग जरि नैन-नीर।
प्रेम की पियासी इन ग्वारिन गँवारिन कौं,
जोग उपदेसन पठायौ भलौ बलवीर॥

ऊधव जू! कैसें कैं दिखावैं उर चीर तुम्हैं,
तब तुम जानत हमारी ये बिथा अधीर।
हमरौ-सौ हीय होतौ, हीय में जु नैंन होते,
नैंनन कैं होतो हीय, हीय में जु होती पीर॥

श्यामसुन्दरके प्रति व्रजाङ्गनाओंका यह अतुलनीय स्नेह देख ज्ञानी उद्धवकी जो दशा हुई, उसका 'व्यास' जीने अत्यन्त कोमलभाव-व्यञ्जनापूर्ण रोचक वर्णन इस प्रकार किया है—

काह कहैं, कछु सोच न पावत,
भावन भाव भए जनु बौरे।
ग्यान-गुमान के दुर्ग ढहे दृढ़,
लागत ऊधव और के औरे॥
'व्यास' कहैं, मन मोद भरे कल
कूल कलिंदजा कुंज के कौरे।
गोपिन की अनपायन पायन की
रज सीस लगावन दौरे॥

ज्ञानी उद्धव जब प्रेम-रसमें विभोर हो व्रजाङ्गनाओंके चरण-स्पर्श करनेको दौड़ते हैं, तब गोपिकाएँ उद्धवजीसे अति विनम्र निवेदन करती हैं—

हाँ-हाँ हमें जनि पाप में ठेलहु,
काह करौ यह ? ग्यान बिसारे।
'व्यास' कहैं, ब्रज-बाल गरीबिनी
बैठीं पुनीत प्रतीत सहारे॥
संग रहौ उनके निसि-बासर,
ऊधव जू! यह भाग तुम्हारे।
जैसे सखा सुचि स्याम के हौ तुम,
तैसे ही पावन पूज्य हमारे॥

उद्धवजी श्रीकृष्णके प्रति व्रजाङ्गनाओंके इस स्वाभाविक विशुद्ध तथा अनन्य प्रेमको देखकर विह्वल हो उठे। उनके विमल युगल लोचनोंसे पवित्र स्नेहकी सरिता प्रवाहित होने लगी—

उत्तर देत बन्यौ न कछू,
रहिगे, मन एक न ठकि सुझानी।
'व्यास' कहैं, दृढ़ ग्यान-गुमान के
बाँध बँधी हुती मोद-प्रदानी॥

गोपिन की ध्रुव-धारना नेम-
उपासना-बाढ़ बढ़ी रससानी ।
ऊधव की उर-नेह-नदी नव
नैनन के मग है उमगानी ॥

उद्धवजी जब गोपिकाओंसे विदा माँग, क्षमा याचना करके मथुरा गमन करने लगे, तब व्रजाङ्गनाएँ अपने प्यारे मदन-मोहनके लिये उद्धवजीसे अत्यन्त कोमल-मधुर वाणीसे विनती करने लगीं—

भूलि न जावैं पै राधा की यह जल-भींजी पलकैं ।
कह दीजौ, ब्रज-बाल लाल की दरस-लालसा ललकैं ॥
मोद-विनोद करैं भावन वह सुखी रहैं, नित-नीके ।
सुनि-सुनि सुजस सुखी हमहूँ सब साँचहुँ सुख उनहीं के ॥
हाँथ जोर बहु मन-मोहन सौं कह दीजौ यह विनती ।
किये रहैं दासिन की दासिन की दासिन में गिनती ॥

श्रीउद्धव और व्रजकी व्रजाङ्गनाओंके इस वृत्तान्तमें 'व्यास' जीने जो अनन्य-प्रेमकी पावन पूर्ण निष्ठाका भावात्मक उल्लेख अपनी मधुर वाणीसे व्रजभाषामें छन्दोबद्ध सूक्तियोंद्वारा प्रस्तुत किया है, उसको व्रजभाषा-साहित्यकी अमूल्य निधि कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी ।

स्वप्नकी परिणति

(लेखक—श्रीरामपुनीतजी श्रीवास्तव, एम्० ए०)

उस दिन मेरे सभी सुहृद्-मित्र, सखा-सहेली मेरे पास आये और सबने अपने-अपने सुन्दर सपने मेरे पास रख दिये । सबके सपनोंमें निरालापन था, रंगीनी थी, सौन्दर्य था और ····। सबके सपनोंमें बटोरकर मैंने एक सोनेकी मञ्जूषामें रख दिया और साथ ही अपने सपनेको भी उसीमें डाल दिया ।

रात आयी, चाँद आया । चाँदके साथ ही मैं मञ्जूषा लेकर यमुनाके किनारे पहुँचा । मञ्जूषाको रख दिया । चाँदने मञ्जूषाका पट खोल दिया, सब सपने चमकने लगे, मन्द मधुर वायुके झकोरेसे हिलने लगे । चाँद कोई मन्त्र भुनभुनाता हुआ अपने करोंसे सबको निरखने-परखने लगा। फिर सब सपनोंको एकमें मिलाकर उसने एक लाल डोरेमें बाँध दिया और पटको बंद कर दिया ।

मन्त्रोच्चारण जारी रहा। इस बार जब मञ्जूषाका पट खोला गया तो आश्चर्यसे देखा, सबके सपनोंका विलय हो गया है और सबके सपनोंके स्थानपर दो कमल—नील और पीत—झलक रहे हैं । पर यह क्या ? देखते-देखते उन कमलोंमें दो-दो नील स्निग्ध आँखें झाँकने लगीं । आँखोंके बाद सिर, मुख, गर्दन, छाती, उदर और बाहु आदि सभी अङ्ग प्रकट हो गये । नील कमल एक भव्य श्यामल तरुणके रूपमें बदल गया तथा पीत कमल एक कमनीय गौर तरुणीके रूपमें परिणत हो गया । उनके मुख-मण्डलकी कान्ति और कमनीयता, नेत्रोंकी दीप्ति और सरसता, प्रत्येक अङ्गका गठन अद्भुत था—अलौकिक था । जैसे सारी शोभा और निकाई, समस्त माधुर्य और लुनाई उनके अङ्गोंमें समाहित हो गयी हो !

प्रकृति सज उठी, बाँसुरी बज उठी, पायल झनक उठे, स्नेहका सौरभ गमक उठा । और फिर········तो क्या सबके स्वप्नोंकी परिणति दो फूल—राधा और कृष्णमें होती है ?
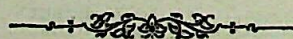
कामके पत्र

(१)

भोग प्रारब्धानुसार ही प्राप्त होते हैं

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। यह सत्य है कि मानवको आर्थिक लाभ-हानि या मान-सम्मानकी प्राप्ति-अप्राप्ति—यथार्थमें सब फलरूप भोग प्रारब्धसे ही मिलते हैं। प्रारब्ध उन कर्मोंका नाम है, जिनका फल मिलना प्रारम्भ हो गया और इस जन्मके लिये पहलेसे निश्चित कर दिये गये। अतएव यह मानना कि हम प्रयत्न करके किसीका अनिष्ट कर देंगे, सर्वथा भ्रम है। अनिष्ट करनेकी इच्छा और चेष्टा करनेपर भविष्यमें अपना अनिष्ट अवश्य होगा; पर उसका अनिष्ट तो तभी होगा, जब उसके प्रारब्धके अनुसार होना होगा। इसी प्रकार हम किसी अवैध कर्मका—झूठ, छल, चोरी, धोखा आदिका आश्रय लेकर अधिक धन कमा लेंगे और अधिक सम्पन्न बन जायँगे—यह सोचना भी भ्रम ही है। अन्तमें तलपटमें उतना ही घाटा-नफा रहेगा, जितना रहना है। बुरे कर्म यदि किये जायँगे तो अपने पल्ले अवश्य बँधेंगे और उनका फल भविष्यमें अवश्य ही भोगना होगा। इसलिये न तो किसीका कभी बुरा करनेकी बात सोचनी चाहिये और न स्वयं ही किसी बुरे कर्मका आश्रय लेना चाहिये।

एक बात और। दूसरोंके द्वारा अपना कहीं बुरा होता दिखायी पड़े या अपना अनिष्ट दूसरोंके हाथ दिखायी दे तो यह समझना चाहिये कि यह वास्तवमें हमारे ही पूर्वके किये हुए बुरे कर्मका फल है। वे तो इसमें निमित्त बने हैं, जिससे उनको बुरा फल भोगना पड़ेगा; अतएव उनके लिये भगवान्से क्षमा चाहनी चाहिये, न कि उनपर क्रोध करना या उनसे बदला लेनेकी भावना रखनी चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(२)

संन्यासी त्यागमूर्ति होता है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंका उत्तर निम्नलिखित है—भगवान् श्रीरामके दर्शन रामकी कृपासे ही हो सकते हैं और उसके लिये अनन्य और तीव्र आकाङ्क्षा होनी चाहिये। भगवान्को प्राप्त करनेकी अनन्य लालसा उत्पन्न होनेपर राग-द्वेष और काम-क्रोध आदि दोष अपने-आप नष्ट हो जाते हैं।

आप रामायण और सत्यनारायणकी कथा कहते हैं, यह अच्छी बात है। दूसरी आजीविका न हो तो कथापर चढ़े हुए पैसे और वस्त्र आदि लेनेमें आपत्ति नहीं।

मन्दिरमें भगवान्के श्रीविग्रहपर चढ़ा हुआ पैसा या वस्त्र-फल आदि आप मन्दिरके पुजारी हैं और आपको उसे लेनेका अधिकार है तो आप ले सकते हैं।

दृढ़ वैराग्य होनेपर संन्यास ग्रहण करनेमें आपत्ति नहीं, पर केवल वेष बदलनेके लिये ही दण्ड धारण करना अनुचित है। माताजी जीवित हों तो उनकी सेवाके लिये संन्यास न धारण करके घरमें रहना लाभदायक है। संन्यासीके लिये स्त्री, धन, मान और संग्रह सर्वथा वर्जित हैं। जो करते हैं, वे संन्यास-धर्मका छेदन करते हैं। संन्यासी सर्वथा त्यागमूर्ति होता है।

ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्यके यहाँ तो कच्चा भोजन कर सकता है बशर्ते कि वह क्षत्रिय अथवा वैश्य उपनीत हो तथा भोजन शुद्धतासे बनाया गया हो। शेष भगवत्कृपा।

(३)

गर्भपातको वैध बनाना भयानक पाप है

सम्मान्य ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। जब बुद्धि तमसाच्छन्न हो जाती है, तब बुद्धिके सभी निश्चय विपरीत होते हैं। इस समय हमारा यही हाल हो रहा है। चाहते हैं विकास, प्रकाश, उन्नति, शान्ति, सुख; पर बुद्धिकी तामसिकताके कारण करते हैं

उन कार्योंको जिनका अवश्यम्भावी परिणाम है—विनाश, अन्धकार, अधोगति, अशान्ति और दुःख ही। नीयत बुरी नहीं भी है, पर बुद्धि विकृत है। इसी कारण हमारी आज ऐसी-ऐसी योजनाएँ बनती हैं, जिनसे हमारा पतन—विनाश सहज ही हो सकता है।

इन्हीं योजनाओंमें 'परिवारनियोजन' एक है—जिसके परिणामस्वरूप व्यभिचारकी मात्रा बहुत अधिक बढ़ गयी है। अब उससे भी आगे, जनसंख्या न बढ़े, इस उद्देश्यसे गर्भपातको वैध बनानेका प्रयत्न चल रहा है। यह माना कि कहीं-कहीं वैध न होनेके कारण कानून तथा समाजके भयसे गर्भपात कराया जाता है; परंतु उसकी संख्या नगण्य है। ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे गर्भपात न हो, किंतु यह न करके गर्भपातको कानूनी तौरपर वैध बना देना तो वैसा ही है, जैसा हत्या (खून) को वैध बना देना। बड़े मनुष्यकी हत्या भी हत्या है और भ्रूणहत्या भी हत्या ही है। भ्रूणहत्या धार्मिक दृष्टिसे भी बड़ा पाप है। हम अपनेको धर्मनिरपेक्ष कहते हैं, फिर भ्रूणहत्याको कानूनी बनाकर हम धर्मपर प्रत्यक्ष कुठाराघात करने जा रहे हैं—यह निश्चित है।

इसके अतिरिक्त गर्भपात वैध होनेपर व्यभिचार एक साधारण चीज बन जायगी। हमारी देवियोंका गौरवमय सतीत्व और पुरुषोंका संयम—नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। गर्भपातसे स्त्रियोंमें नाना प्रकारके रोग फैल जायँगे। इस प्रकार गर्भपातको वैध बनाना सदाचार, धर्म, नीति, स्वास्थ्य—सभी दृष्टियोंसे सर्वथा हानिकर है।

अतएव मैं इसका समर्थन तो कर ही नहीं सकता, घोर विरोध करता हूँ। आप भी सिर्फ आवेशमें न पड़कर गम्भीरतासे सोचिये—इसमें बुराई-ही-बुराई है। और इसका पक्ष न लेकर स्वयं विरोध कीजिये तथा जनतासे भी विरोध करवाइये, जिससे ऐसा पापपूर्ण तथा पापयोनि कानून न बनने पाये। शेष भगवत्कृपा।

(४)

वैरभावका सर्वथा त्याग कीजिये

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। जहाँतक मेरी समझ है, मैंने शास्त्रोंका जो अभिप्राय समझा है, उसके अनुसार मैं यह बलपूर्वक कह सकता हूँ कि किसी भी प्राणीके प्रति मनमें वैरभाव रखना अपने ही विनाश और पतनका एक प्रधान हेतु है। कोई आपसे वैरभाव रखता हो तो आपको चाहिये कि प्रेम, सेवा तथा सद्व्यवहारके द्वारा उसके वैरभावका नाश करके उसे मित्र बना लें। ऐसा होना सम्भव न समझें तो कम-से-कम अपने मनमें वैरभावका लेशतक न रहने दें। सबमें भगवान् हैं, सभी आपके आत्मा हैं—किससे वैर करेंगे—किसका विनाश चाहेंगे? इस प्रमादका त्याग कीजिये और शीघ्र त्याग कीजिये। मृत्युसे बहुत पहले ही मनसे सारे वैरभावको निकाल दीजिये। मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि जो मनुष्य किसीसे मनमें वैर रखकर मरता है, वह मृत्युके अनन्तर घोर नारकीय पीड़ा भोगनेको बाध्य होता है—उसकी बड़ी दुर्गति होती है। वह जीवनभर यहाँ वैरकी अग्निसे जलता रहता है, मृत्युके अनन्तर नरककी भीषण अग्निमें उसे जलना पड़ता है। अतएव अपने भविष्यका विचार करके ही वैरभावका त्याग कर दीजिये।

आपका न किसीने बुरा किया है न कोई कर सकता है। आपका यदि कहीं बुरा हुआ है या आगे होगा तो वह आपके अपने किये हुए कर्मके फलस्वरूप ही होगा; वह दूसरा तो उसमें निमित्त बना है—और इस प्रकार उसने अपना ही बुरा किया है। वह दयाका पात्र है, वैरका नहीं। आप इस विषयपर गम्भीरतासे विचार कीजिये और इस पापके खेतरूप वैरभावको तुरंत मनसे निकाल फेंकिये। भगवान् आपका कल्याण करेंगे। शेष भगवत्कृपा।

पवित्र अन्तःकरण ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है

(प्रेषक—श्रीगोवर्धननाथजी कक्कड़)

शुद्ध और पवित्र अन्तःकरण ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है। जिसने अपने अन्तःकरणको दोषमुक्त कर निर्मल बना लिया है, प्रभु-प्रेमका सच्चा अधिकारी वही बन सकता है। शुद्ध अन्तःकरणमें ही दिव्य चेतना और विशुद्ध प्रेमकी अभिव्यक्ति हो सकती है। अन्तःकरणकी शुद्धि किये बिना आध्यात्मिक साधनाके सारे प्रयास बेकार हैं; क्योंकि वही उसका मूलाधार है। अन्तःकरणकी शुद्धिका अर्थ है—अपने आन्तरिक और बाह्य दोषोंसे निवृत्ति पा लेना। किसी भी प्राणीके दोष जन्मजात नहीं होते। भौतिक अनात्म वस्तुओंसे सुख-प्राप्तिकी कामनाओंके संकल्प उसे दोषमय बना देते हैं। वह दोषोंको दोष न मानकर गुण मानता है और उनमें रस लेता है। दोषोंमें रस लेनेके कारण वह निरन्तर उनसे सहयोग करता रहता है। फल यह होता है कि वे जीवनसे कभी भी जा नहीं पाते। सांसारिक अनात्म वस्तुओंसे सुख-प्राप्तिकी चाह जीवनमें निरन्तर बढ़ती जाती है और उन्हीं विषयोंका चिन्तन होते रहनेके कारण मन सदैव अशुद्ध बना रहता है। इस अशुद्ध मन और अपवित्र अन्तःकरणसे इस भौतिक जगत्के कार्य भले ही चल जायँ, किंतु आध्यात्मिक जगत्में एक पग भी चलना असम्भव है। इस अशुद्ध मनको साथ लेकर भौतिक समस्याओंसे त्रस्त आजका मानव सुख और शान्ति प्राप्त करनेके लिये नाना प्रकारके जप, तप, व्रत, उपवास, यज्ञ, अनुष्ठान और हजारों मीलकी तीर्थ-यात्रापर यहाँसे वहाँ जाता है; किंतु उसे शान्ति नहीं मिलती। शान्ति मिले भी तो कैसे? मूलमें अन्तःकरण तो विषयोंके निरन्तर सङ्ग-दोषके कारण अशुद्ध बना हुआ है। चूँकि सांसारिक विषय अपनेमें अपूर्ण हैं, असत् हैं, इसलिये वे प्राणीको दुःख और अशान्ति ही दे सकते हैं। मूलमें अशान्तिका भंडार रखकर वह बाह्य उपकरणोंसे शान्तिकी आशा लगाता है, जो मात्र दुराशा होती है।

इसलिये आवश्यकता है कि साधनाके प्रयासको केन्द्रीभूतकर सारी शक्ति अन्तःकरणकी शुद्धिमें ही लगायी जाय। साधनाके पथमें बस, इतना ही करना है। इसके बाद तो करनेकी बात समाप्त हो जाती है और साधनाका पथ स्वयं ही प्रशस्त होता जाता है। विषयोंका चिन्तन छूटते ही भगवत्-चिन्तन आरम्भ हो जाता है और जीवन विशुद्ध प्रेम और आनन्दसे परिपूर्ण होने लगता है।

अब प्रश्न यह है कि अन्तःकरण शुद्ध कैसे हो। अन्तःकरणकी अशुद्धिका मूल कारण है—देह-भाव। देह-भावसे भावित होकर प्राणी संसारकी सत्ता स्वीकार करता है और भ्रमवश असत्में सत्की प्रतीति कर लेता है। इस प्रतीतिके कारण ही वह सांसारिक अनात्म वस्तुओंसे अपना सम्बन्ध जोड़ बैठता है। चूँकि वे वस्तुएँ अनात्म और नश्वर होती हैं, इसलिये वे उसे सुख नहीं दे सकतीं और वह उनसे ही सुख-प्राप्तिकी आशामें अंधा होकर जीवनभर उन्हींके पीछे भागता फिरता है। उन वस्तुओंमें उसकी आसक्ति हो जाती है और वह अहर्निश उन्हींका चिन्तन करता रहता है। उनका चिन्तन करते रहनेके कारण उसका अन्तःकरण सदा अशुद्ध बना रहता है। अशुद्ध अन्तःकरणमें भगवद्भक्तिका बीज जम नहीं सकता। तो अब आवश्यकता है कि अशुद्धिके मूल अपने देह-भावको ही नष्ट कर दिया जाय। देह-भावके नष्ट होते ही असत्में सत्की प्रतीति समाप्त हो जायगी। संसारकी वास्तविकताका ज्ञान होते ही सांसारिक पदार्थोंमें आसक्ति भी न रहेगी। पदार्थों और विषयोंकी आसक्तिके अभावमें उनके चिन्तनका प्रश्न भी न उठेगा और मन सर्वथा शुद्ध और निर्मल बना रहेगा। निर्मल मन ही भगवद्-भक्तिका धरातल बनेगा। रामायणमें स्पष्ट कहा है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।

इसलिये सदा-सर्वदा अपने मूलपर ध्यान रक्खो। मूल है अन्तःकरणकी शुद्धि। हृदयमें नाना प्रकारके कुत्सित विचारों, राग-द्वेष, काम, क्रोध, घृणा और वैरके रहते हुए आनन्दमय प्रभुको प्राप्त करनेकी चाह बालूपर भीत बनानेके समान है। वह परमपावन कल्याणमय प्रभु धोखा-धड़ी और नाना प्रकारके प्रपञ्चोंसे प्राप्त किया जानेवाला नहीं है। उसके लिये दर-दर भटकनेकी भी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है तो, बस, इतनी ही कि उसके अवतरण-स्थल—अपने अन्तःकरणको उसके अनुरूप बना दो, फिर वह समस्त विघ्न-बाधाओं-को समाप्तकर तुम्हारे पास चला आयेगा।

यहाँपर मेरा तात्पर्य जप, तप, व्रत, तीर्थ आदिकी अवहेलना करना नहीं है, वरं उनकी वास्तविकता बताना है। ये जप, तप, व्रत, तीर्थ—सब अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये हैं। स्मरण रक्खो—यदि इनसे अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होती तो ये बेकार हैं; क्योंकि आध्यात्मिक जीवनमें इनका अन्य कोई उपयोग नहीं है। भगवान्ने गीतामें स्पष्ट घोषणा की है—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।

मैं वेद, दान, तप और यज्ञसे नहीं जाना जाता।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

केवल अनन्य-भक्तिसे मुझे जाना जा सकता है, मुझे देखा जा सकता है तथा मुझमें समाविष्ट हुआ जा सकता है।

यह तो हुई तत्त्वकी बात; किंतु मुख्य प्रश्न यह है कि यह अनन्य-भक्ति होगी कैसे। नाना प्रकारके राग-द्वेष और मानसिक हलचलोंके होते हुए अनन्य-भाव उत्पन्न कैसे होगा? देह-भावसे भावित होकर बुद्धि जब विषमताकी स्थितिमें रहेगी, विषयोंमें आसक्ति रहनेके कारण मनमें उनका चिन्तन होता रहेगा, देहकी मान्यताके कारण भोगकी रुचि और भोक्ता-भाव बना रहेगा, ऐसे जीवनमें अनन्य-भावका प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

अनन्य-भावकी प्राप्ति ही प्राणिमात्रका अन्तिम लक्ष्य है। यह अनन्य-भाव है क्या? भक्ति-योगकी दृष्टिसे रामायणमें इसका निरूपण इस प्रकार किया गया है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

परंतु जीवनमें यह अनन्य-भाव तभी आयेगा, जब जीवनमें पूरी तरह निर्दोषता आ जायगी। जीवनमें निर्दोषता आते ही सांसारिक विषय लुप्त हो जायँगे। सांसारिक विषयोंके हटते ही मनसे उनका चिन्तन भी समाप्त हो जायगा। चिन्तन समाप्त होते ही बुद्धिसे विषमता दूर होकर समता आ जायगी और जीवनमें समता आते ही योग अपनी पूर्णावस्थापर पहुँच जायगा। योगकी पूर्णावस्थामें मन समस्त कामनाओं और संकल्पोंसे निवृत्त होकर निर्मल हो जायगा। मनके निर्मल और पवित्र होते ही उसमें विशुद्ध प्रेमकी अभिव्यक्ति हो जायगी। यह विशुद्ध प्रेम ही समस्त असत् मान्यताओंको समाप्तकर अनन्य-भाव उत्पन्न कर देगा।

इसीलिये शुद्ध और पवित्र अन्तःकरणको ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थ कहा है, जो विशुद्ध प्रेम और अनन्य-भक्तिका आधार है।

'शुद्ध और पवित्र अन्तःकरण ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है, ज्ञानाग्निमें अपने समस्त विकारोंको स्वाहा कर डालना ही सर्वोपरि यज्ञ है; अन्तःकरणकी पवित्रताके हेतु जो प्रयास किया जाता है, वही वास्तविक धार्मिक अनुष्ठान है; निःस्वार्थ प्रेमकी पवित्र जलधारामें डुबकी लगाना ही सच्चा गङ्गा-स्नान तथा घट-घटमें विराजमान रामरूपी आत्माको पहचानकर अपने सहज-स्वरूपको प्राप्त कर लेना जीवनकी सर्वोत्तम उपलब्धि है।'

—पूज्य स्वामी योगिराजजी महाराज द्वाराधीश्वर

पढ़ो, समझो और करो

(१)

ईमानदारकी पेठ

बात उन दिनोंकी है, जब सबसे अच्छा व्यवसाय जवाहरातका समझा जाता था। दोपहरको १२ बजेके बाद बाजार नियमित चालू होता था और शामको ४-५ बजे-तक सेठ-साहूकार तफरीके लिये निकल जाते थे। आजकल तो जवाहरात तो क्या, सोने-चाँदीके सराफी धंधेको भी लोग अच्छा नहीं मानते। सरकारी नियन्त्रण और विशानी सोनेकी धोखा-धड़ीमें कई सराफ पिट गये तो श्रमयुक्त व्यवसायको, चाहे वह कैसा भी हो, अब लोग अच्छी नजरसे देखने लगे। जवाहरात बेचना और खरीदना अब कोई खास महत्त्व नहीं रखता। पर उन दिनों राजे-रजवाड़ोंके साथ-साथ विदेशी मेहमान भी हीरे-पन्नोंकी खरीदीका शौक रखते थे तथा इस प्रकारके व्यवसायमें साहूकारोंको मुनाफा भी खासा मिलता था।

दूकानें खुल चुकी थीं; पर अधिकांश दूकानोंपर अभी सेठ लोग नहीं आये थे। एक अमेरिकन ग्राहक एक दूकान-पर गया तथा हीरेके लिये माँग की। मुनीमजीने तिजोरीमेंसे निकालकर छोटे-बड़े कई नग दिखाये तथा कीमतें बतलायीं। अमेरिकनने एक हीरा पसंद किया तथा उसकी जोड़का एक और नग माँगा। मुनीमजीने असमर्थता प्रकट की तो मुनीमजीके कहे अनुसार उस हीरेकी कीमत ३८००) देकर बहीमें नाम-पता लिखाकर अमेरिकन चला गया।

सेठ दूकानपर आये तो मुनीमने हीरा बेचनेकी बात सुनायी। ३८००) में बेचनेकी बात सुनकर सेठ उदास हो गये, उन्होंने अमेरिकनका नाम-पता देखा तथा वे उससे मिलनेके लिये रवाना हो गये।

मुनीमको यह अच्छी तरह ज्ञात था कि इस सौदेमें पेढ़ीको पूरा-पूरा मुनाफा मिला है; फिर भी सेठके इस प्रकार अचानक चले जानेपर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ।

सेठ उस होटलमें पहुँचे, जहाँ वह अमेरिकन ठहरा था तथा अपना नाम-पता लिखकर चिट कमरेमें भिजवाया। अमेरिकनने मिलनेसे इसलिये इनकार कर दिया कि शायद वह सेठ हीरा वापस लेनेके लिये आया है। सेठने वापस एक चिटपर लिखकर भेजा कि 'न तो मैं हीरा वापस लेने आया हूँ, न मैं उस हीरेकी कोई अधिक कीमत लेनेकी नीयतसे ही आया हूँ। पर मैं आपसे मिलना अवश्य चाहता हूँ।' इसपर अमेरिकनने सेठजीको कमरेमें बुलवा लिया।

'आइये, बैठिये'—अमेरिकनने सेठजीको कुरसीकी ओर इशारा करते हुए कहा।

सेठजी बैठ गये तब अमेरिकन बोला—'वापस करना तो दूर, यदि आप वह हीरा दिखानेके लिये भी मुझे कहें तो मैं आपको वह हीरा नहीं दिखाऊँगा। हाँ, और कोई सेवा हो तो कहिये। या वैसा ही एक और हीरा ला देनेकी हाँ करते हों तो पूरी रकम एडवांस ले जाइये।'

'मैं अपनी बात कहने आया हूँ।' सेठजीने कहा। 'आप तो अपनी बात सुना रहे हैं; मैंने वह हीरा १८४०) में खरीदा था। मैंने २५ प्रतिशतसे अधिक मुनाफा न लेनेकी प्रतिज्ञा ले रक्खी है। अतः उस हीरेके बेचनेकी कीमत २३००) है। मुनीमजीने गलतीसे ३८००) ले लिये। मैं ये १५००) वापस करनेके लिये आया हूँ।'

अमेरिकन यह सब सुनकर स्तब्ध रह गया। वह तो सोचता था कि यह हीरा अधिक कीमतका है, पर यह सच्चा ईमानदार व्यापारी तो कम कीमत बताकर १५००) वापस करने आया है। अमेरिकनने उस व्यापारीसे कहा कि ये रुपये आपको मैं आपकी ईमानदारीके बदले देता हूँ। पर सेठने एक नहीं सुनी तथा रुपये अमेरिकनको दे दिये। उस विदेशीने अपने क्षेत्रमें इस भारतीय ईमानदार व्यापारीकी खूब प्रशंसा की। नतीजा यह हुआ कि आगामी वर्ष उस व्यापारीके पास इतने आर्डर आये, जो साधारणतया शायद उसे आगामी दस वर्षमें भी न मिलते एवं इस प्रकार उसकी पेढ़ी उस बाजारमें जवाहरातकी एक प्रमुख पेढ़ी बन गयी।

—मोतीलाल सुराना

(२)

मित्रका ऋण

उनका नाम भरतदास था। लोग उनको 'बाबा' या

'महाराज' कहकर पुकारते थे। वे स्वयं रामदासी साधु थे। कब और कहाँ साधु बने, यह कोई नहीं जानता था।

लगभग तीस वर्ष पूर्व वे गुजरातके एक छोटे-से गाँवमें आये। वे अपने ढंगसे हिंदी-गुजराती मिली-जुली भाषा बोलकर अपना काम चलाते थे।

पूरे पाँच हाथकी काया थी, कसा हुआ मांसल शरीर था, नोकीली नाक थी, लंबी रेखाओंसे सुशोभित कपाल था। सिरपर चोटी-जैसी बँधी अच्छी जटा थी और आँखें चमकीली थीं। इस समस्त डील-डौलसे उनके व्यक्तित्वका अद्भुत प्रभाव पड़ता था।

छोटे-से गाँवमें मिट्टीकी मँढैयामें एक नन्हा-सा राममन्दिर था, गाँवके मुखिया और पिछड़ी जातिके लोगोंके डेढ़ सौ घरोंमें इस मन्दिरके सिवा अन्य किसी देवस्थानके चलानेकी क्षमता न थी। श्रद्धालु लोग प्रेमपूर्वक राममन्दिरमें जाते थे और अपनी धर्मनिष्ठाकी रक्षा करते थे। गाँवके प्रौढ़ लोगोंके लिये वह मन्दिर ही मिलने-जुलनेका स्थान था। किसी समय धर्मकी, तो किसी समय जाति-पाँतिकी बातको लेकर वहाँ जमावड़ा लगता था।

उस गाँवमें सप्ताहमें दो दिन डाक बाँटनेके लिये एक ब्राह्मण डाकिया (पोस्टमैन) आने लगा। वह सरल बहुत था और पढ़ा-लिखा थोड़ा ही था; परंतु ब्राह्मण होनेके कारण दो-चार गलत-सही श्लोक बोलना जानता था और नियमित रूपसे पूजा-पाठ करता था। गाँवमें कोई ब्राह्मण न था। इसलिये गाँवके लोगोंने उसको पुरोहितके रूपमें गाँवमें बस जानेके लिये आग्रह किया। भरतदासके साथ उसका प्रेम-भाव था, इसलिये गाँववालोंके आग्रहको सिर चढ़ाकर वह उसी गाँवमें रहने लगा और जब नौकरीसे अवकाश प्राप्त हो गया तो वहाँ ही बस गया। नाम था उसका रविशंकर, परन्तु गाँवके लोग उसको *रवा गोर कहकर पुकारते थे।

समय बीतते-बीतते भरतदास और 'रवा गोर' की मैत्री प्रगाढ़ होती गयी। इस प्रकार पाँच वर्षके लगभग बीत गये। भरतदास टाइफाइड ज्वरसे आक्रान्त हो गये। उस समय रवा गोरने मित्र-प्रेमकी पराकाष्ठा कर दिखायी। चौबीसों घंटे बाबा भरतदासके पास एक पैरपर खड़ा रहता। वैद-हकीमके कहे अनुसार जो समझमें आती, वह दवा देता। उसकी भूख और नींद मानो छूमंतर हो गयी!

एक महीनेमें भरतदास नीरोग हो गये। दूसरे ही महीने उनकी पहले-जैसी तन्दुरुस्ती और ताजगी अङ्ग-अङ्गमें चमक उठी। जो कोई आता, उसके सामने रवा गोरकी प्रशंसा करते महाराज भरतदास थकते नहीं। सारा गाँव भी रवा गोरकी प्रशंसा करने लगा; सब कहते रवा गोर देवता है, आदमी नहीं।

दूसरे वर्ष गाँवपर नयी आफत टूट पड़ी। घर-घर लोग कालके ग्रास बनने लगे। महामारीके प्रकोपको रोकनेका कोई उपाय सूझ नहीं पड़ता था। लाचार होकर सब लोग इस डरसे काँप रहे थे कि कब यमदूत आयेगा और किसको धर दबोचेगा।

रवा गोरके परिवारमें उसकी माँ, पत्नी, एक ढाई वर्षकी लड़की, छः महीनेका लड़का और स्वयं—कुल पाँच प्राणी थे। वह और भरतदास घर-घर घूमते थे; जहाँतक जानकारी होती, लोगोंकी दवा करते और लोगोंको भगवान्पर भरोसा रखनेके लिये समझाते थे।

परंतु अब रविशंकरकी बारी आयी। पहले दिन माँ और दूसरे दिन पत्नी चल बसी। तीसरे दिन गोरकी अन्तिम घड़ी आ गयी। भरतदास बगलमें बैठे-बैठे डबडबायी आँखोंसे देख रहे थे। गोरने अपने सामने और बगलमें बैठे अपने असहाय बालकोंकी ओर दुःखभरी दृष्टिसे देखा। भरतदास रवा गोरके मनकी व्यथाको समझ गये और गद्गद कण्ठसे बोले—"रवा गोर! मैं हूँ न? मत घबराओ। मैं तुम्हारे बालकोंका बाप और माँ—दोनों बनूँगा। रामजीकी दयासे इनको कोई भी कमी न रहेगी।" बाबा भरतदास अधिक बोल न सके। अन्ततः रविशंकरके प्राण-पखेरू उड़ गये।

भरतदासने लड़कोंकी देख-रेखमें कोई कसर न की। जब समय आया, तब दोनों लड़के-लड़कीका बड़े धूम-धामसे विवाह किया। लड़कीको अपने माँ-बापसे सामान्यतः जो मिलता, उसकी अपेक्षा कईगुना अधिक प्राप्त हुआ। लड़केके रहनेके लिये अच्छा घर बनवा दिया और जमीन खरीद कर दी। अपनी शक्तिके अनुसार उसे पढ़ाया-लिखाया।

* रवा गोरका अर्थ है रविपुरोहित।

बाबा भरतदासके दिवंगत हुए आज बीस वर्ष हो गये। उनकी स्मृति अब भी लोगोंमें बनी हुई है। उनके पाले-पोसे पुत्र-पुत्री तथा उनके जीवन-सौरभका अनुभव करनेवाले कृतज्ञभावसे आँसुओंके पुष्प चढ़ाते हैं। (अखण्ड आनन्द)

—भाई शंकर पुरोहित

(३)

दूधका बदला

आजसे प्रायः बीस वर्ष पूर्वकी बात लिख रहा हूँ। असम प्रदेशके ग्वालपाड़ामें व्यापार करनेके लिये पश्चिम प्रदेशके निवासी बहुत-से हिंदू और मुसल्मान सपरिवार निवास कर रहे थे। उन दिनों मुसल्मानोंमें मजहबी पागलपन बहुत ही कम था, इससे आपसमें बहुत प्रेम रहता था।

एक दिनकी बात है, नीरू नामक एक मुसल्मानकी स्त्रीको बच्चा पैदा हुआ, किंतु कुछ ही देर बाद दैवयोगसे वह स्त्री मर गयी। नीरू भाई अधीर होकर रोने लगा। कारण यह था कि नीरूके घरमें देख-रेख करनेवाला उस जगह अपना और कोई नहीं था। पाटके व्यापारमें अत्यधिक घाटा पड़ जानेके कारण उसकी आर्थिक स्थिति भी खराब हो चुकी थी। डाक्टर, वैद्य या अन्य किसी उपायसे भी मातृहीन उस तुरंतके जनमे हुए शिशुको बचा लेना उसके लिये परम दुष्कर था। उसको अधीर होकर रोते देखकर बाजारके बहुत-से हिंदू-मुसल्मान स्त्री-पुरुष वहाँ इकट्ठे हो गये और नीरूको समझाने-बुझाने लगे, किंतु नीरूको शान्ति नहीं मिली और उसका रोना बंद नहीं हुआ।

नीरूके घरके समीप ही एक ब्रजवासी ग्वालाका घर था। ग्वाला उस समय कहीं बाहर गया हुआ था, उसकी पत्नी घरपर ही थी। उसे भी पाँच दिन पहले प्रथम-प्रथम एक पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई थी। नीरू भाईका रोना सुनकर वह बहुत दुखी हो रही थी, किंतु तुरंतकी प्रसूता होनेके कारण घरसे बाहर जानेमें असमर्थ थी। अन्तमें उसने अपनी दाईसे कहा कि 'तुम जाकर नीरू भाईसे कहो—घबरायें नहीं, उस लड़केको दूध पिलाने तथा उसकी सारी देख-रेख करनेका कुल भार मुझपर है। उस बच्चेको किसी तरह लाकर मेरे समीप रख दो; मैं समझूँगी कि मुझे एक नहीं, दो बच्चे साथ हुए हैं।'

दाईके मुँहसे उस दयावती नवयुवतीका सद्विचार सुनकर उपस्थित सभी लोग धन्य-धन्य कहने लगे। नीरूने मनमें विलक्षण शान्ति और सान्त्वनाका अनुभव किया। उसका रोना बंद हो गया और कुछ देरके बाद उसने कहा—'देखिये, यहाँ कितने हिंदू और मुसल्मान बाल-बच्चेवाले सज्जन उपस्थित हैं; किंतु किसीमें ऐसा साहस नहीं हुआ जो मेरी इस असह्य वेदनाको दूर करे। इस बहिनने तो इस समय बड़े ही आश्चर्यका महत्त्वपूर्ण काम किया है। अब मैं तो यही समझता हूँ कि भगवान्की कृपासे मुझे ऐसी दयावती नारीके समीपमें वास मिला है।'

तदनन्तर उस दाईने नीरूके बच्चेको ले जाकर उस ग्वालिनके पास सुला दिया। ग्वालिन उस नवजात शिशुको अपने पुत्रके साथ-साथ बड़े स्नेहसे दूध पिलाने और देख-रेख करने लगी। ग्वालिनका स्वामी भी बड़े सद्विचारका आदमी था। वह इससे अपनी स्त्रीपर अप्रसन्न न होकर परम प्रसन्न हुआ। नीरू कभी कुछ वस्तु देनेकी इच्छा करता तो ग्वालिन बिगड़ बैठती और कहती 'क्या आपने मुझे इस लड़केकी धाय समझ लिया है?' नीरू कहता, 'देवी! धाय नहीं किंतु आपको मैं पूर्वजन्मकी इस लड़केकी माय तो अवश्य समझता हूँ। आप दोनों प्राणियोंके इस अयाचित महान् उपकारका बदला मैं हजारों जन्मोंमें भी नहीं चुका सकता।'

समय जाते देर नहीं लगती। नीरूका लड़का अब चलने-फिरने लगा और दूध पीना छोड़कर अन्न खाने लगा। पर व्यवसाय मन्द पड़ जानेके कारण इच्छा न रहनेपर भी नीरूको अपने देश चला जाना पड़ा। घर आनेके समय ग्वाला तथा ग्वालिन और अपने पुत्रसमेत नीरूको रोते देखकर लोग आश्चर्यचकित होकर कहने लगे—'जान पड़ता है ये पाँचों पूर्वजन्ममें एक ही परिवारके थे, किसी कारणवश इन्हें पृथक् हो जाना पड़ा था और अब संयोगसे फिर सब एकत्र हो गये हैं।'

बड़ी कठिनतासे उन लोगोंसे विदा लेकर नीरू अपने घर चला आया, किंतु घर आ जानेपर भी उसका मन उन ग्वाला-दम्पति (ग्वाला और ग्वालिन) से किसी क्षण अलग नहीं होता था। समय-समयपर अपने पुत्रको उन दोनोंके द्वारा पाले-पोसे जानेकी मधुर कथा गद्गद होकर सुनाया

करता और कहता—'बेटा ! तेरी माता तो तेरे जन्म लेते ही मर गयी और मैं तेरा नामका ही पिता हूँ; क्योंकि मुझमें स्वार्थ भरा है। तेरे सच्चे माता और पिता तो वे दोनों ग्वाले और ग्वालिन ही हैं। तू कभी सपनेमें भी उन दोनोंको मत भूलना और अपने बाल-बच्चोंको भी इन दोनोंके उपकारकी बात बराबर सुनाते रहना। देख तो, तुझपर उस ग्वालिनकी कैसी दया थी—वह पहले तुझे पिलाकर तब अपने बच्चेको दूध पिलाती थी और जब तू अन्न खाने लगा तब पहले या अपने पुत्रके साथ ही तुझे खिलाती थी। अपने पुत्रसे पीछे तुझे कभी नहीं खाने दिया। आश्चर्य तो यह है कि हजारों उपाय करके मैं थक गया, किंतु उसने एक पैसा या एक मुट्ठी अन्नतक भी मेरा ग्रहण नहीं किया।

अब यहाँ गतवर्ष १९६६ ई० अप्रैल मासकी बात लिखी जा रही है। उस दयावती ग्वालिनकी छातीमें घाव हो गया। कितने ही डाक्टरोंकी दवा हुई, किंतु घाव अच्छा न होकर उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। हारकर वह ग्वाला दूकान बंद करके हवा-पानी बदलनेके विचारसे अपने देश चला आया और अपने गाँवके समीप सदर अस्पताल मथुरापुरीमें अपनी स्त्रीका घाव दिखाने ले गया। डाक्टरने घाव देखकर कहा कि 'इसके शरीरमें रक्त नहीं रहा। अतः कम-से-कम एक सेर रक्त चढ़ानेकी आवश्यकता है।' इसपर ग्वालाने कहा—'मैं अपना रक्त दे सकता हूँ।' इसपर डाक्टरने कहा—'नहीं जी, किसी नवयुवक अथवा नवयुवतीका रक्त चाहिये और वह भी ऐसा हो, जो इसके रक्तके साथ पूरा मेल खाता हो।'

फिर डाक्टरने उस ग्वालिनसे पूछा, 'अच्छा, यह तो बताओ, तुमने कभी और किसी डाक्टरकी दवा की है या नहीं ?' इसपर ग्वालिनने कहा, 'डाक्टरसाहब ! इस देशमें तो नहीं, पर ग्वालपाड़ा (असम) में मैंने एक-दो नहीं, कई डाक्टरोंकी दवाएँ की थीं; पर किसीसे कुछ भी लाभ न हुआ।' डाक्टर बोले, 'अच्छा, यह तो कहो—तुम्हारे प्रथम पुत्रके जन्मके समय दूधके स्थानपर किसी प्रकारकी कोई खराबी—(जैसे घाव हो जाना, दूध सूख जाना, बार-बार दूध निकलते रहना आदि) हुई थी क्या ?' ग्वालिन बोली—'जी नहीं; पर एक बात मुझे याद है कि हम जिस मुहल्लेमें रहते थे, उसीमें हमारे घरके समीप ही नीरू नामक एक मुसल्मान सज्जनकी स्त्रीको एक बच्चा पैदा हुआ था और कुछ ही देर बाद वह स्त्री मर गयी थी। उससे पाँच दिन पहले मेरे भी एक लड़केने जन्म लिया था। नीरूको अधीर होकर रोते देखकर मैंने उस बच्चेको अपने यहाँ मँगवा लिया और अपने बच्चेके साथ-साथ उस बच्चेको भी दूध पिलाती रही। वर्षोंतक वे दोनों मेरा दूध पीते रहे। पर दो-दो लड़कोंको दूध पिलानेके कारण कभी-कभी मुझे बड़ी बेचैनी हो जाया करती थी। परंतु घाव कभी नहीं हुआ।' यह सुनकर डाक्टरने कहा, 'अच्छा ठीक है, मैं सब समझ गया; परंतु रक्त बिना चढ़ाये तुम्हारा घाव अच्छा होना सम्भव नहीं।'

'पर डाक्टर साहेब ! क्या रक्त देनेवालेको दुःख नहीं होगा ? भला, अपने शरीरसे जो एक सेर रक्त दे देगा, वह बचेगा कैसे ?' यों कहकर वह ग्वालिन रोने लगी। इसपर डाक्टरने कहा—'नहीं रक्त देनेवालेको कोई दुःख नहीं होता और न वह मरता ही है। दुर्बलता अवश्य आती है और आवश्यकता होनेपर उसे कुछ दवा भी देनी पड़ सकती है।' डाक्टरकी बात सुनकर ग्वालिनके पति उस ग्वालेने कहा—'पर कोई रक्त देना स्वीकार करे तब तो ?' इस प्रकार इन लोगोंकी बातें सुनकर वहाँके कम्पाउन्डरने कहा—'हुजूर ! मैं तैयार हूँ, पर इसके लिये मैं कम-से-कम दो सौ रुपये लूँगा।' इसपर डाक्टरने कम्पाउन्डरसे कहा—'क्या तुम मजाक करने चले हो ?' कम्पाउन्डरने कहा—'जी नहीं, मैं सच कहता हूँ—मुझे दो सौ रुपयोंकी अत्यन्त आवश्यकता है। इससे मैं मर जाऊँगा थोड़े ही, मेरे शरीरमें पूरा खून है।' अब डाक्टर साहबने ग्वालेसे कहा 'क्योंजी ?' 'डाक्टर साहेब ! मैं तैयार हूँ'—कहकर उस ग्वालेने दो सौ रुपये तुरंत कम्पाउन्डर साहबको दे दिये। चिकित्सा प्रारम्भ हो गयी, रक्त चढ़ाया गया। दवा होने लगी। कुछ ही दिनोंमें घाव अच्छा हो गया। ग्वालेने प्रसन्न होकर अस्पतालके कर्मचारियोंको इनाम दिया और फिर वह अपने घर चला आया। तदनन्तर भाई-बन्धुओंसे मिलकर कुछ दिनोंके बाद वह अपने कामपर ग्वालपाड़ा चला गया। ग्वालपाड़ा पहुँचनेके दस दिनके बाद ही ग्वालाके नामसे एक हजारकी एक बीमा आयी, साथ ही एक पत्र मिला। पत्रमें लिखा था—

'परम पूज्य पिताजी तथा परम पूजनीया श्रीमाताजी !

चरणोंमें भक्तिपूर्ण प्रणाम। आगे आपके लिये रक्त देनेवाला नीरूका लड़का मैं आपका पाला-पोसा हुआ पूत हूँ, मैं ही कम्पाउन्डरका काम करता हूँ। रुपये लेकर खून देनेका कारण यह था कि बिना पैसेके मुफ्त आप खून नहीं लेते और मेरा पूर्ण परिचय प्राप्त करना चाहते। सम्भव था, परिचय प्राप्त हो जानेपर स्नेहवश आप रक्त ले ही न सकते और दूसरा इतना रक्त देता कौन? अतः आपका घाव नहीं अच्छा होता। इसीलिये रुपये लेकर मैंने उस समय कोई परिचय नहीं दिया। अब मैं जो ये एक हजार रुपये भेज रहा हूँ, इसका ब्यौरा इस प्रकार है—दो सौ रुपये तो आपके हैं ही, शेष आठ सौ मेरी माँके संयमपूर्वक पथ्य-भोजनादिके लिये हैं। ध्यान रहे कि आपने यदि किसी बहानेसे रुपये लौटाये तो आपका यह पालित पूत निश्चय ही प्राण परित्याग कर देगा। एक बात और आप याद रखेंगे कि वृन्दावनके समीपवर्ती होनेके कारण आपके घरमें तो मैं अपवित्र वस्तुओंके खान-पान-व्यवहारसे सर्वथा अछूता रहा ही, बादमें यहाँ आनेपर मैंने विचार किया कि आप दोनोंके द्वारा प्रतिपालित शुद्ध दूध तथा पवित्र अन्नसे मेरे शरीरमें जो शुद्ध रक्त है, वह कहीं गंदा—अपवित्र न हो जाय; इसलिये मैंने मांस, मछली, लहसुन, प्याज, शराब, ताड़ी आदि निषिद्ध वस्तुओंका खान-पान तो दूर रहा—उनका देखना तक भी छोड़ दिया। लिखनेका अभिप्राय यह है कि मैंने जो रक्त आपके शरीरमें प्रवेश करानेके लिये दिया है, वह शुद्ध रक्त है। उसमें कहीं अपवित्रता नहीं है। आपके यहाँ सीखकर आया हुआ मैं प्रतिदिन गीताका पाठ करता हूँ; मेरे तन-मनमें, भला, मल कैसे रहेगा? आगे भगवान्की जैसी कृपा हो।

आपका प्यारा पुत्र,
अहमद, कम्पाउन्डर

पत्र पढ़कर दम्पति (ग्वाला पति-पत्नी) अवाक् रह गये, उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। तदनन्तर ग्वालेने निम्नलिखित उत्तर लिखा—

प्रिय पुत्र अहमद,

शुभाशीर्वाद।

आगे हमलोग सकुशल हैं। तुम्हारी कुशलताके लिये प्रतिपल परमेश्वरसे प्रार्थना करते हैं। तुम्हारे भेजे हुए पत्र तथा एक हजार रुपये प्राप्त हुए। प्रिय पुत्र! यह तुमने ठीक ही लिखा है कि मुफ्त रक्त हम नहीं लेते। यदि लेते भी तो तुम्हारा परिचय प्राप्त करनेकी इच्छा हम अवश्य करते और परिचय प्राप्त हो जानेपर हम किसी स्थितिमें भी तुम्हारा रक्त नहीं ले सकते। पुत्र! तुम्हारा सात्त्विक स्वभाव और श्रीभगवान्के चरणोंमें स्नेह सुनकर तो हमारा हृदय आनन्दसे परिपूर्ण हो गया। होटलोंमें जाकर मांस और मद्य खानेवाले तथा ताड़ीकी दूकानपर चिखना करनेवाले नामधारी धर्मात्माओंसे तुम लाखोंगुने पवित्र हो। प्यारे पुत्र! तुम-सा विचारवान् पुत्र पाकर हम दोनोंका जन्म सफल हो गया। हमें अभी रुपयोंकी आवश्यकता नहीं थी, किंतु हम तुम्हारा दिल दुखाना नहीं चाहते। अतः रुपये हमने रख लिये हैं। प्यारे पुत्र! लोग कहा करते हैं कि माताके दूधका बदला पुत्रके द्वारा हजारों जन्मोंमें नहीं चुकाया जा सकता; किंतु तुमने तो कमाल कर दिया। इसी जन्ममें दूधका विलक्षण बदला चुका दिया। इत्यलम्।

तुम्हारे द्वारा हितचिन्तक माता और पिता, ब्रजवासी—

पं० रामविलास मिश्र, मनियारी

(४)

प्रेरणामयी प्रवृत्ति

वड-नगरमें सर्वोदय-कार्यकर्ता डा० श्रीद्वारकादास जोशीकी देखरेखमें एक नागरिक मण्डल हास्पिटल चलता है।

इस गाँवका एक परिवार विलेपालेंमें रहता है। उस परिवारमें जन्मदिन मनानेकी एक विचित्र निराली पद्धति है।

उस परिवारके बालकोंके जन्म-दिवसके अवसरपर ११) २१) या ५१) रुपये मनीआर्डरसे इस संस्थाके पास आते हैं। मनीआर्डरके कूपनमें लिखा होता है कि "बहुत-बहुत इच्छा होती है, परंतु मर्यादाके ख्यालसे मन सकुचा जाता है। समीरके जन्म-दिवसके उपलक्ष्यमें यह रकम गरीब रोगियोंकी सेवामें लगायें।" इस प्रकारके अनेक मनीआर्डर वहाँसे आते हैं। परंतु जब उस परिवारके मालिकका एकसठवाँ जन्म-दिवस आया, तब एक अन्तर्देशीय पत्र मिला, जिसमें लिखा था—

"साठ वर्ष पूरे हो गये। बहुत कुछ करनेकी इच्छा होती है; यह स्वाभाविक ही है। परंतु बहुत अड़चनें हैं। मेरी एक इच्छा है, मेरे साठ वर्ष पूरे हो गये हैं तो मेरी ओरसे साठ रोगियोंकी आँखका आपरेशन बिल्कुल मुफ्त करवा दें; और इसका जो कुछ खर्च होगा, वह मैं तीन सप्ताहमें भेज दूँगा।"

इस प्रकार उन्होंने आपरेशनका खर्चा आठ सौ रुपये भेज दिया। जब मैं बम्बई जाता हूँ, तब वे भोजन करनेके लिये आमन्त्रित करते हैं। भोजनके बाद इक्यावन या एक सौ एक रुपयेकी 'दक्षिणा' देते हैं। गरीब परिवारोंको अन्नकी सहायता भेजते हैं। रोगियोंके लिये कम्बल आदि भेजते हैं अपने ही मनकी स्फुरणासे। कभी कोई इसके लिये उनसे कहने नहीं गया।

जन्म-दिवसके अवसरपर दूसरोंकी, समाजकी सेवाका विचार करना——यह कोई बहुत नया या क्रान्तिकारी कदम नहीं है; तथापि यह बहुत उपयोगी है। सबके लिये आचरणमें लाने योग्य यह प्रवृत्ति इस मध्यम श्रेणीके परिवारने बना ली है और यह सबको प्रेरणा देनेवाली है। 'अखण्ड आनन्द'

—डा० वसन्त पारीख

(५)

ईमानदारी

बम्बईमें चालीस वर्ष पहले 'रमा चौधरी एण्ड कम्पनी' नामक एक काफी बड़ी फर्म थी। सन् १९२५-२६ में उस फर्मपर दूसरी फर्मोंके कुछ रुपये रह गये, जिनका उस समय चौथाई (२५%) चुकाया गया। पर रुपये नहीं थे, इसलिये फर्म बंद हो गयी। रुपये पानेवालोंको अपने शेष रुपये मिलनेकी आशा तो क्या, कल्पना भी नहीं रह गयी थी। पर चौधरीने जिनके रुपये देने थे, उनके रुपयोंकी सूची संख्या-समेत रख ली थी। कुछ वर्षों बाद इस फर्मका परिवार कई भागोंमें बँट गया और उसके अलग-अलग कई परिवार हो गये। इनमें एक परिवारकी हालत आगे चलकर कुछ ठीक हुई तो उसने अपने हिस्सेके रुपये चुका दिये। इधर व्यवसाय अच्छा चला तो उसी एक परिवारने फिर (पुराने रमा चौधरी फर्मके) सारे रुपये अभी कुछ ही महीनों पहले चुका दिये। रुपयोंकी संख्या एक लाखसे भी कुछ ऊपर होगी। फर्मको बंद हुए लगभग चालीस साल हो चुके थे। इस अवधिमें रुपये पानेवाले कितने ही फर्म उठ गये, कोई कहीं चला गया। ऐसे लोगोंको पता लगा-लगाकर अब भी रुपये देना चालू है। घरवालोंने कई बार पूछा; पर जिन भाईने रुपये चुकाये, पूरी बात नहीं बतायी। न वे इस घटनाको प्रकाशित ही करवाना चाहते थे। इसीसे उनका नाम नहीं लिखा गया है। पर इस ईमानदार परिवारका यह काम निश्चय ही आदर्श, अनुकरणीय तथा प्रशंसनीय है—कम-से-कम आजके इस बेईमानीके भयानक युगमें।

—सुरेन्द्रकुमार जैन 'टोहानवी'

रसभरी राधिका

जय श्रीराधिका रसभरी।
रसिक सुंदर साँवरे की प्रानजीवनि-जरी॥
गौर अंग-अनंग अद्भुत सुरहि रंगन ररी।
सहज-अंग अभंग-जोरी सुभग साँचे ढरी॥
परम-प्रेम-प्रकास-पूरन पर-पयोनिधि परी।
हितू 'श्रीहरिप्रिया' निरखति निकट निज सहचरी॥

—श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी

'कल्याण'का 'उपासना-अङ्क'

(लेखक महानुभावोंसे निवेदन)

आगामी विशेषाङ्क 'उपासना-अङ्क'की विषय-सूची गताङ्कमें प्रकाशित हो चुकी है। लेख भी आने लगे हैं, इसके लिये लेखक महोदयोंके हम कृतज्ञ हैं। पर हमारी यह विनीत प्रार्थना है कि इस अङ्कके लिये ऐसे ही लेख भेजने चाहिये, जो किसी विषयका पूर्णतया प्रतिपादन करते हों, शास्त्रसम्मत हों और अनुभवसे युक्त हों तो सर्वोत्तम है। जैसे-तैसे लेख लिखनेके लिये ही लिखकर भेजनेसे उनका प्रकाशित होना सम्भव न होगा और लेखक महोदयोंको कष्ट होगा। इसीलिये यह निवेदन किया गया है। अतएव उपासनातत्त्वके ज्ञाता, अनुभवी तथा साधक पुरुष एवं अपने-अपने विषयके मर्मज्ञ विद्वान् महोदय लेख शीघ्र भेजनेकी कृपा करें। लेख स्पष्ट अक्षरोंमें कागजकी एक पीठपर कुछ हासिया छोड़कर लिखा जाय। हिंदीके अतिरिक्त संस्कृत, बँगला, गुजराती, मराठी और अँगरेजीमें भी लेख भेज सकते हैं। लेख बहुत बड़ा न हो।

विनीत—सम्पादक 'कल्याण'

ठगोंसे सावधान

श्रीसाधुबेला उदासीन आश्रम, बम्बईमें दो-तीन मास पहले अपना नाम श्रीधर्मेन्द्र मुन्दा बतानेवाले एक व्यक्तिने जाकर कहा कि "गीताप्रेस 'भारतके आध्यात्मिक पीठ' नामक पत्र शीघ्र निकालनेवाला है, जिसके लिये लेख आदि एकत्र किये जा रहे हैं। ब्लाक आदिका व्यय जिस संस्थाका लेख होगा, उसे वहन करना पड़ेगा।" यों कहकर एक लेख और ब्लाकके लिये वह २००) नगद ले गया।

देशका कितना पतन हो गया है—ठगी-बेईमानीके नये-नये तरीके निकल रहे हैं। वस्तुतः न तो गीताप्रेससे ऐसा कोई पत्र ही निकलनेवाला है, न हमारी ओरसे कोई व्यक्ति लेख एकत्र करने ही गये हैं और न धर्मेन्द्र मुन्दा नामक किसी व्यक्तिको हमलोग जानते हैं। यह सारी जालसाजी है।

'कल्याण'में कई बार यह निवेदन किया जा चुका है कि हमसे बिना पत्र-व्यवहार किये कोई सज्जन किसीको रुपये न दें। ये धर्मेन्द्र और भी किन्हींसे रुपये ठगकर लाये हों तो कृपया सूचना दें तथा भविष्यमें ऐसे किसी आदमीको गीताप्रेसके नामपर रुपये न दें।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीगीता-रामायणकी आगामी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक-शिक्षाका प्रसार करनेके लिये परीक्षाओंकी व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको योग्यतानुसार पुरस्कार भी दिया जाता है। परीक्षाओं-के स्थान-स्थानपर लगभग ५०० केन्द्र भी स्थापित हैं तथा और भी नियमानुसार स्थापन किये जा सकते हैं। आगामी गीता-परीक्षाएँ दिनाङ्क १९ एवं २० नवम्बर १९६७ को तथा श्रीरामायणकी परीक्षाएँ दिनाङ्क ७ एवं ८ जनवरी १९६८ को होनेवाली हैं।

केन्द्र-व्यवस्थापकोंसे निवेदन है कि सभी परीक्षाओंके लिये आवेदनपत्र एवं नवीन केन्द्रोंके लिये प्रार्थनापत्र दिनाङ्क ३० अगस्त १९६७ तक भेज देनेकी कृपा करें।

विशेष जानकारीके लिये पत्र लिखकर नियमावली मँगा सकते हैं।

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, पो० स्वर्गाश्रम (देहरादून)